निखिलमनुजचित्तं ज्ञानसूत्रैर्नवैर्यः
स्रजमिव कुसुमानां कालरन्ध्रैर्विधत्ते ।
स लघुमपि ममैतं प्राच्यविज्ञानतन्तुं
उपहृतमतिभक्त्या मोदतां मे गृहीत्वा ॥

जो मनुष्य मात्र के हृदयो को समयरूपी छिद्रों में होकर पुष्प माल
पिरोये हुए नये नये ज्ञान-ततुओं द्वारा निवद्ध करता है, वह परम शक्ति मेरे
पूर्वक अर्पित पूर्वीय ज्ञान राशि का यह सूत्र तुच्छ होते हुए भी ग्रहण करने
करे ।

भारतीय दर्शन का इतिहास

भाग-एक

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय
ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित ।

प्रथम अनूदित संस्करण : 1978
द्वितीय संस्करण : 1988

मूल्य : चालीस रुपये मात्र

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए–26/2, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर–302 004

मुद्रक : राजस्थान प्रिन्टिंग वर्क्स, किशनपोल बाजार, जयपुर-1
फोन नं० : 73203, 66500

भूमिका

भारत की प्राचीन सभ्यता—कला, स्थापत्य, साहित्य, धर्म, नीति तथा विज्ञान—जितना कि वह तब तक विकसित हो पाया था—इन सबका एक समन्वित मूर्त रूप था। किन्तु भारत की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वैचारिक उपलब्धि थी दर्शन। यही समस्त मूर्धन्य व्यावहारिक एव सैद्धान्तिक गतिविधियो का चरम लक्ष्य माना जाता था तथा विविध प्रकार की जातियों वाले इस विशाल भूभाग की सामाजिक सस्कृति मे जो विविधता है—उसमे एकता तथा तादात्म्य स्थापित करने वाला यही एक बिन्दु था। यदि भारत की इस एकता को ढूंढना है तो वह आपको न तो विदेशी आक्रमणों के इतिहास मे प्रतिबिम्बित मिलेगी न समय-समय पर हुए विभिन्न राज्यों के उद्भव में, न किसी भी महान् सम्राट् के साम्राज्य-विस्तार में। वास्तव मे यह एकता हमारी प्राचीन संस्कृति की एक आत्मिक आकांक्षा का फल थी, उन आध्यात्मिक सिद्धान्तों के महत्त्वबोध का फल थी—जो अन्य सभी मूल्यो की बजाय कही अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते थे—और यह भावना विभिन्न राजनीतिक परिवर्तनो के युगों की लम्बी यात्रा के बाद आज भी यो की यो जीवन्त है।

जिन आक्रमणकारियों ने इस भूमि पर कब्जा किया और जनता पर शासन किया चाहे वे यूनानी हो, हूण हो, शक हों, पठान हों, या मुगल हो वे यहाँ के जनमानस पर शासन नहीं कर पाये। ये राजनीतिक उथल-पुथलें इसी तरह आती और जाती रही जैसे तूफान आता और जाता है, मौसम आते और जाते हैं—एक सामान्य प्राकृतिक या भौतिक घटना के रूप में, जिसका प्रभाव हिन्दू सस्कृति की आध्यात्मिक एकता पर, कभी नही पड़ा। यदि आज कुछ शताब्दियो की निष्क्रियता के बाद भारत में पुन एक चेतना आ रही है तो वह उसकी अपनी मूलभूत एकता, प्रगति और सभ्यता की अपनी थातियों के बल पर है न कि किन्हीं ऐसे मूल्यो की वजह से जो उसने किसी अन्य देश से उधार लिये हो। इसीलिए जो कोई भारतीय संस्कृति की महत्ता तथा क्षमताओं का सही अध्ययन करना चाहता हो उसके लिए यह अनिवार्य सा हो जाता है कि वह भारतीय विचार दर्शन के इतिहास का सही अर्थों में अध्ययन करे क्योंकि वही एक धुरी है जिसके चारो ओर भारत के उन मूल्यो का विकास होता रहा है जो यहाँ की सर्वोत्तम उपलब्धि कही जा सकती है। इस प्रकार की भ्रान्त धारणाओं के प्रचार ने पहले ही बहुत बड़ी हानि कर रखी है कि भारत की सस्कृति और भारत का दर्शन स्वप्निल और अमूर्त है। इसलिए यह अत्यावश्यक है कि भारत के लोग तथा बाहर के लोग भारतीय वैचारिक इतिहास के वास्तविक स्वरूप से अधिकाधिक अवगत हों तथा इसके विशेष तत्त्वो का सही मूल्यांकन कर पाएँ। किन्तु भारत का सही अर्थों मे तात्पर्य समझने के लिए या भारत के विचारो के इतिहास के अभिलेख के रूप में भारतीय दर्शन का अध्ययन आवश्यक हो केवल यही बात नही है—दरअसल आधुनिक युग में जिन समस्याओ पर आज भी दार्शनिक विचार-मंथन होता रहता है उनमे से अधिकांश

ऐसी हैं जिन पर किसी न किसी रूप में प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने भी विचार किया है। उन विचारकों के विमर्शों, कठिनाइयों तथा निष्कर्षों पर यदि हम आज की आधुनिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में दृष्टि डालें तो आधुनिक विचारों के भावी इतिहास पर बहुत महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ सकता है। भारतीय दार्शनिक चिन्तन के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का पुनः प्रकाश मे लाना और उनके महत्त्व और संदर्भों की व्याख्या आधुनिक दर्शन के क्षेत्र मे उतने ही महत्त्व की युगान्तरकारी घटना सिद्ध हो सकती है जितनी संस्कृत भाषा की खोज आधुनिक भाषाशास्त्रीय अनुसंधान के क्षेत्र में सिद्ध हुई है। यह खेद की बात है कि अब तक भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों के पुनर्निर्वचन और पुनर्मूल्यांकन का कार्य व्यापक पैमाने पर प्रारम्भ ही नहीं हो पाया है। कुछ अपवादों को छोड़कर संस्कृत पण्डितों ने भी इस महत्त्वपूर्ण पक्ष की उपेक्षा ही की है क्योंकि अधिकांश पण्डितों की रुचि दर्शनों की अपेक्षा पुराणों मे, भाषाशास्त्र में या इतिहास मे अधिक रही है। वैसे बहुत बड़ी संख्या में महत्त्वपूर्ण मूल ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है और उनमे से कुछ का अनुवाद भी हुआ है। इस प्रकार कुछ काम तो हुआ है किन्तु संस्कृत के दार्शनिक वाङ्मय मे उच्च स्तर की शास्त्रीय सञ्ज्ञाओं का प्रयोग होने के कारण, जो अनुवादों मे भी प्रयुक्त हुई हैं, इन अनुवादों में से अधिकांश उन पाठकों के लिए दुर्बोध हैं जो इन शास्त्रीय सञ्ज्ञाओं से परिचित नहीं हैं।

इस दृष्टि से प्रमुख दर्शन शाखाओं का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए भारतीय दर्शन का एक समूचा सामान्य विवेचन उन पाठकों के लिए आवश्यक हो जाता है जो किसी एक दर्शन शाखा का और अधिक गहन अध्ययन करना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त दर्शन में रुचि लेने वाले सामान्य पाठकों के लिए एवं पाश्चात्य दर्शन के अध्येताओं के लिए भी जिनको किसी विशेष भारतीय दर्शन-शाखा का विशिष्ट अध्ययन करने की इच्छा या समय नही है किन्तु जो भारतीय दर्शन के बारे में कुछ ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, ऐसी पुस्तक आवश्यक हो जाती है। 'द स्टडी ऑफ पतंजलि' तथा 'योग फिलोसफी इन रिलेशन टू अदर इण्डियन सिस्टम्स आफ थाट' नामक मेरी दो पुस्तकों में मैंने सांख्य और योग दर्शनों का विवेचन, उनके अपने सिद्धान्तों तथा अन्य दर्शनों से उनके सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए, करने का प्रयत्न किया है। अब यह प्रस्तुत ग्रन्थ इन दर्शनों के तथा अन्य समस्त दर्शनों के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के विवेचन तथा उनके पारस्परिक तुलनात्मक अध्ययन विशेषकर उनके विकास के इतिहास के परिप्रेक्ष्य मे उनकी समीक्षा करने का प्रयत्न है। मैंने जितना सम्भव हो सका, मूल ग्रन्थों के ही पदांकों पर चलने का प्रयत्न किया है तथा संस्कृत और पाली की उन संज्ञाओं को भी उन अध्येताओं की सुविधा के लिए दे दिया है जो इस ग्रन्थ के मार्गदर्शन में आगे और अध्ययन करना चाहते हैं। इन संज्ञाओं का प्रारम्भिक ज्ञान तो अध्येता के लिए निश्चय ही आवश्यक है ताकि वह दार्शनिक सिद्धान्तों के आधारभूत तत्वों को सही तरह से समझ सके।

संस्कृत ग्रन्थों मे प्रतिपादन-शैली तथा विभिन्न विषयों के विवेचन की पद्धति किसी भी आधुनिक दर्शन ग्रन्थ की शैली से बिल्कुल भिन्न प्रकार की पाई जाती है। इसलिए पहले मुझे प्रत्येक दर्शन शाखा के विभिन्न ग्रंथों से सामग्री संकलित करनी पड़ी और फिर मैंने उन

सबके आधार पर पूरी दर्शन शाखा का एक ऐसा स्वरूप उपस्थित करने का प्रयत्न किया जो सस्कृत ग्रन्थों की शैली से अपरिचित पाठक के लिए भी सुविधा से बोधगम्य हो सके।

इसके बावजूद भी मैंने उस स्थिति को बिल्कुल अवांछनीय समझा है कि भारतीय चिन्तन को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाये कि वह योरपीय ही लगने लगे। यदि किसी योरपीय पाठक को इस पुस्तक में कुछ स्थल कठिन या विचित्र लगें तो उसका प्रमुख कारण यही है। किन्तु भारतीय चिन्तकों के सिद्धान्तो और अभिव्यक्तियो को सही रूप मे प्रस्तुत करते हुए मैंने उन्हें इस प्रकार की व्यवस्थावद्ध पद्धति मे समन्वित करने का प्रयत्न भी किया है जो उनके सकेतो और आशयो के अनुरूप प्रतीत हुई। ऐसा बहुत कम हुआ है जबकि किसी भारतीय सज्ञा को पाश्चात्य दर्शन की सज्ञा से अनूदित किया गया हो। ऐसा तभी किया गया जबकि वे पाश्चात्य सज्ञाएँ भारतीय सज्ञाओ के आशय के निकटतम जान पडी। अन्य सभी स्थानो पर मैंने अनुवाद के रूप में उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है जो किसी विशिष्ट तकनीकी अर्थो में रूढ़ नही हुए हैं और निरापद हैं। यह काम कठिन होता है क्योंकि जो शब्द दर्शन में काम आते हैं वे कोई न कोई पारिभाषिक अर्थ अवश्य ले लेते हैं। इसलिए पाठको से निवेदन है कि उन शब्दो को वे उनके अतकनीकी और अप्रतिवद्ध अर्थों मे ही लें तथा जिन सदर्भों में वे प्रयुक्त हुए हैं उनके अनुरूप ही उन्हें समझें। किसी अध्याय मे यदि कोई बात अस्पष्ट और दुरूह लगे तो उसका समाधान ध्यानपूर्वक पुन पढ़ने से हो सकता है ऐसी मेरी आशा है, क्योंकि कई बार-अपरिचय भी सही अवबोध के मार्ग मे बाधा बन जाता है। यह अवश्य हो सकता है कि कई जगह जहाँ सक्षेप अनिवार्य हो गया हो, पूर्ण व्याख्यात्मक विवेचन नही हो पाया हो। इन दर्शनो मे भी कभी-कभी ऐसी कठिनाइयां आती हैं क्योंकि कोई भी दर्शन शाखा कठिन और दुरुह स्थलो से मुक्त नहीं रह पाती।

यद्यपि मैंने वेदो और ब्राह्मणो के युग से ही आरम्भ किया है किन्तु उसका विवेचन सक्षिप्त ही है। वैसे भी दार्शनिक चिन्तन के विकास का प्रारम्भ यद्यपि परवर्ती वैदिक सूत्रो मे प्रतिबिम्बित मिलता है तथापि उस समय वह इतना सुव्यवस्थित नही था।

ब्राह्मण ग्रन्थों मे यद्यपि अधिक सामग्री है किन्तु उस युग के चिन्तन के बिखरे सूत्रो को अधिक विस्तार देना मैंने उपयुक्त नहीं समझा। उपनिषद्-काल पर मैं अधिक विस्तार से लिख सकता था किन्तु उस विषय पर योरप में अनेक पुस्तकें पहले ही प्रकाशित हो चुकी हैं और जो लोग विस्तार में जाना चाहते हैं वे उन्हें अवश्य देखेंगे। इसलिए मैंने अपने आपको पूर्ववर्ती उपनिषदों की प्रमुख धाराओ तक ही सीमित रखा है। अन्य चिन्तन-धाराओ का विवेचन दूसरे भाग में अन्य दर्शन-शाखाओ की व्याख्या करते समय किया जाएगा जिनसे वे अधिक सम्बद्ध हैं। यह स्पष्ट होगा कि प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन के विवेचन में कुछ स्थलो पर मैंने सर्वांगपूर्ण व्याख्या नही की है। उसका प्रमुख कारण यह है कि तत्सम्बन्धी ग्रन्थो की प्रकृति सर्वांगपूर्ण नही रही है क्योंकि वे बुद्ध के बहुत समय बाद संवादो के रूप मे लेखबद्ध किये गये थे जिनमें दर्शनोचित सुसम्बद्धता और शास्त्रीयता आवश्यक नहीं समझी गई थी। यही कारण है कि प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन की समस्याओ के निर्वचन के बारे मे आधुनिक बौद्ध विद्वानो मे अनेक मत उद्भूत हो गये हैं जो निष्पक्ष रहते हुए

उनमें से किसी भी एक को अन्तिम सत्य नही कहा जा सकता। वैसे भी इस ग्रन्थ का उद्देश्य भी यह नही है कि ग्रन्थों के ऐसे मत-मतान्तरों का अधिक विस्तृत विवेचन किया जाये, तथापि अनेक जगह मैंने स्वयं अपने मत भी प्रतिपादित किये है। वे सही हैं या गलत इसका निर्धारण मैं विद्वानों पर ही छोड़ता हूँ। किसी मत पर वाद-विवाद या शास्त्रार्थ करने का अवकाश इस ग्रन्थ मे नही था किन्तु आप यह अवश्य पाएँगे कि दर्शन शाखाओ के मेरे निर्वचन कुछ स्थलों पर योरपीय विद्वानों द्वारा किए गए उनके निर्वचनो से विभेद रखते हैं, यह बात मैं उस विषय के विशेषज्ञों पर छोड़ता हूँ कि हममें से कौन अधिक सही है। बंगाल के नव्यन्याय पर मैंने अधिक नही लिखा है जिसका कारण स्पष्ट है। नव्यन्याय का मुख्य स्वरूप यही है कि पारिभाषिक अभिव्यक्तियों में लक्षणों को ऐसे यथार्थ और तकनीकी शब्दों में परिभाषित किया जाए कि तार्किक निर्वचन और शास्त्रार्थ मे वही कसावट बनी रहे। इनकी शब्दावली का अंग्रेजी में अनुवाद करना लगभग असंभव ही है। फिर भी मैंने दार्शनिक दृष्टि से इसमें जो भी महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ पाईं उन सबको शामिल कर लिया है। विशुद्ध तकनीकी स्वरूप के शास्त्रार्थों की इस प्रकार के ग्रन्थ में कोई सार्थकता भी नही थी। अन्तिम छः अध्यायों मे विभिन्न दर्शन-शाखा की जो पुस्तक सूची दी गई है वह स्वतः पूर्ण नही है, केवल उन ग्रन्थों की सूची है जिनका वस्तुतः अध्ययन किया गया था उन अध्यायों के लिखने मे जिनसे सहायता ली गई। उन स्थितियों में ग्रन्थों की पृष्ठ संख्या का भी हवाला सामान्यतः दे दिया गया है जिनमे निर्वचन में मतभेद सम्भावित है या जहाँ यह प्रत्याशित है कि मूल ग्रन्थ के सन्दर्भ लेने से विषय और स्पष्ट होगा या जहाँ आधुनिक लेखकों के मतो को भी शामिल किया गया है।

यहाँ मुझे माननीय महाराजा सर महेन्द्र चन्द्र नन्दी के. सी. आई. ई. कासिम बाजार बंगाल के प्रति विनीत कृतज्ञता ज्ञापित करने मे बहुत प्रसन्नता हो रही है जिन्होंने कृपापूर्वक इस ग्रन्थ के दोनों खण्डों के प्रकाशन के सम्पूर्ण व्ययभार को वहन करने की सहर्ष स्वीकृति दी है।

इन महाराजा ने शैक्षणिक और अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों का अपनी उदार दानशीलता द्वारा जो उपकार किया है वह इतना महान् है कि इस गरिमामय व्यक्ति का नाम आज बंगाल के घर-घर मे आदर के साथ लिया जाता है। अब तक वे 3 लाख पौण्ड दान कर चुके हैं जिनमे से 2 लाख पौण्ड शिक्षा के लिए ही हैं। इनका व्यक्तित्व इन दान कार्यों की अपेक्षा भी कही अधिक महान् है। इनका उदात्त चरित्र, विश्वजनीन बन्धुत्व भावना, उदारता, सहृदयता, सबने उन्हें सच्चे अर्थों मे बोधिसत्व ही बना दिया है। मैंने ऐसे उदात्त व्यक्तित्व बहुत कम देखे हैं। बंगाल के अन्य अनेक विद्वानों की भाँति मुझ पर भी उनका उपकार-भार है क्योकि उन्होंने मेरे अध्ययन, शोध आदि को जितना प्रोत्साहन दिया है उसके लिए मैं किन शब्दों मे उनका आभार और कृतज्ञता व्यक्त करूँ, नहीं जानता।

इस पुस्तक के प्रूफ पढ़ने में मेरे आदरणीय मित्र डा. ई. जे. टामस (केम्ब्रिज विद्यालय पुस्तकालय) तथा श्री डगलस ऐनसली ने भी जो श्रम किया है और मेरी अंग्रेजी में भी कई जगह सुधार किया है उसके प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूं। डा. टामस ने

अध्याय–4

भारतीय दर्शन प्रणाली का सामान्य विवेचन

अध्याय–5

वौद्ध दर्शन

विषय-सूची

अध्याय–1

प्रारंभिक

अध्याय–2

वेद, ब्राह्मण और इनका दर्शन

अध्याय–3

प्रारम्भिक उपनिषदें

अध्याय–4

भारतीय दर्शन प्रणाली का सामान्य विवेचन

अध्याय–5

बौद्ध दर्शन

अध्याय–6

जैन दर्शन

अध्याय–7

कपिल एवं पातंजल सांख्य (योग)

अध्याय–8

न्याय-वैशेषिक दर्शन

अध्याय–9

मीमांसा दर्शन

अध्याय–10

शंकर का वेदान्त दर्शन

अध्याय १

प्रारंभिक

दर्शन के क्षेत्र मे प्राचीन भारतीय विचारको की उपलब्धियो के वारे मे समूचे विश्व मे आज जितनी सी जानकारी है यह नितान्त अपूर्ण है और यह दुर्भाग्य की वात है कि स्वयं भारत मे स्थिति कोई वहुत अच्छी नही है। ऐसे हिन्दू पंडित तथा एकान्त में कहीं शान्त जीवन विता रहे सन्यासी विद्वान् वहुत थोडे से होगे जो इस विषय के अधिकारी विद्वान् हैं पर उन्हें भी अंग्रेजी नही आती तथा आधुनिक विचार-प्रक्रिया से भी वे अवगत नही हैं। उन्हें यह भी पसन्द नही कि वे दर्शन का ज्ञान सर्वसाधारण तक पहुँचाने हेतु जनभाषाओ मे कितावें लिखें। योरप एव भारत की विभिन्न विद्वत्सस्थाओं, विद्वात्परिवारो और विद्वानों के प्रयत्नो के फलस्वरूप सस्कृत तथा पाली के अनेक दार्शनिक ग्रन्थो का प्रकाशन हुआ है, उनमे से कुछ का अनुवाद भी हुआ है किन्तु उनके अध्ययन तथा सही मूल्याकन की दिशा मे विद्वानो द्वारा अव तक कोई उल्लेखनीय प्रयत्न नहीं किया गया। भारतीय दर्शन की प्रत्येक प्रणाली पर सैंकडो संस्कृत ग्रन्थ उपलब्ध हैं पर उनके शतांश का भी अनुवाद नहीं हो पाया है। योरपीय विचार-धारा से हमारे भारतीय दर्शन की अभिव्यंजना शैली जिसमें कठिन दार्शनिक सज्ञाएँ वहुत आती हैं, इतनी भिन्न हैं कि पाश्चात्य भाषाओं मे उनका विल्कुल सही अनुवाद हो पाना अत्यन्त कठिन है। इसलिए सस्कृत से अनभिज्ञ किसी भी व्यक्ति के लिए केवल अनुवाद से उस दार्शनिक विचार सरणि को सही सही मायनों मे पकड पाना असम्भव सा ही है। पाली सस्कृत की अपेक्षा सरल है पर पाली केवल वौद्ध दर्शन के उन प्रारम्भिक मतो की जानकारी मे ही सहायक हो सकती है जो उस समय अर्द्ध-दर्शन की सी प्रारभिक अवस्था में थे। सस्कृत सामान्यत' एक कठिन भाषा ही समझी जाती है किन्तु जिसे वैदिक सस्कृत या सामान्य सस्कृत भाषा का ही परिज्ञान हो उसे दार्शनिक ग्रन्थो मे प्रयुक्त तार्किक एव जटिल सस्कृत शब्दशैली का कोई अन्दाजा नही हो सकता। चाहे वेदो, उपनिषदो, पुराणो, धर्मशास्त्रो तथा काव्यो का किसी को पर्याप्त ज्ञान हो, साथ ही योरपीय दर्शनशास्त्र का भी पूर्ण ज्ञान हो फिर भी उसके लिए गूढ तर्कशास्त्र के, ऊँचे ग्रन्थ के या द्वैतवेदान्त के किसी ग्रन्थ के एक वाक्य का समझना भी पूर्णत असम्भव होगा। इसके दो कारण हैं—एक तो वहुत सक्षिप्त सूत्रात्मक पारिभाषिक सज्ञाओं का प्रयोग तथा अन्य प्रणालियों के पारिभाषिक सिद्धान्तों के उनमे छिपे सदर्भ। यद्यपि सस्कृत दर्शन की यह एक विशिष्ट प्रवृत्ति रही है कि दार्शनिक समस्याओं को स्पष्ट तथा निश्चितार्थ-वोधक शब्दावली द्वारा अभिव्यक्त किया जाए किन्तु नवी शताब्दी के वाद से स्पष्ट, निश्चितार्थ वोधक तथा अतिसक्षिप्त अभिव्यक्तियो का प्रयोग करने की प्रवृत्ति वहुत अधिक वढती गई जिसके फलस्वरूप वडी मात्रा में दार्शनिक पारिभाषिक सज्ञाएँ उद्भूत होती गई। इन सज्ञाओं की अलग से कोई व्याख्या भी नही की गई, यह माना

जाता रहा कि जो पाठक दर्शन ग्रन्थों को पढ़ता है वह इनका अर्थ जानता ही होगा। प्राचीन काल में जिस किसी को भी इन ग्रन्थों का अध्ययन प्रारम्भ करना होता, वह किसी गुरू की सहायता लेता जो उसे इन पारिभाषिक संज्ञाओं का अर्थ समझाता। गुरू को यह ज्ञान अपने गुरू से मिला होता था और उसे फिर अपने गुरू से। दर्शन के ज्ञान को जन साधारण तक पहुँचाने की कोई प्रवृत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती थी क्योंकि यह धारणा उन दिनों आम थी कि दर्शन के अध्ययन के अधिकारी कुछ चुने हुए लोग ही हो सकते हैं जो अन्य सभी तरह से अपने आपको इसके लिए योग्य सिद्ध कर किसी गुरू से यह शास्त्र सीखें। जिनके पास ऐसी कुव्वत तथा उदार नैतिक शक्ति होती थी कि वे अपना समस्त जीवन दर्शन के सही अध्ययन मनन के लिए निछावर कर सके तथा उसके तथ्यों को अपने जीवन में उतार सकें—वे ही इसके अध्ययन के पात्र समझे जाते थे।

एक अन्य कठिनाई जो प्रारम्भिक अध्येताओं को आती है वह यह है कि कई बार एक ही पारिभाषिक संज्ञा विभिन्न दर्शन शाखाओं में नितान्त विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त की जाती है। इसलिए दर्शन शास्त्र के विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक दर्शन में प्रत्येक दर्शन के प्रसंगानुसार पारिभाषिक शब्दों के विशेष रूपों और अर्थों से परिचित हो जिसके लिए उसे किसी शब्दकोश से प्रकाश प्राप्त नहीं हो सकता। विभिन्न प्रयोगों के अनुसार इन शब्दो के अर्थ दर्शनशास्त्र में जैसे-जैसे गति होती है, बोधगम्य होते जाते हैं। विद्वान एव पडित पाठकों को भी दर्शनशास्त्र की जटिल मीमांसा, वाद-विवाद एवं अन्य दर्शनो के दृष्टांतों एवं संकेतों को समझने में कठिनाई एवं मति-भ्रम हो जाता हैं। क्योंकि किसी भी व्यक्ति से यह आशा नही की जा सकती कि वह सभी दर्शनों के अन्य सिद्धान्तों का अध्ययन किए विना ही जानता हो, अतः इन व्याख्याओं एवं मीमांसाओं के प्रश्नोत्तरों को समझने में अत्यन्त कठिनाई प्रतीत होती है। संस्कृत साहित्य में भारतीय दर्शन के मुख्य अंगो का संक्षिप्त वर्णन दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में पाया जाता है। सर्वदर्शन संग्रह तथा हरिभद्र द्वारा रचित षड्दर्शन समुच्च जिस पर गुणरत्न की टीका है, इनमे से प्रथम ग्रन्थ साधारण कोटि का है और किसी भी दर्शन की जीव विकास विज्ञान अथवा भौतिक ज्ञान मीमांसा सम्बन्धी विचारधाराओं को समझने मे विशेष सहायक सिद्ध नही होता। कॉवेल और गफ महोदय ने इस ग्रन्थ का अनुवाद किया है परन्तु सम्भवतः यह अनुवाद आसानी से समझ में नहीं आ सकती। गुणरत्न द्वारा लिखित टीका जैन तत्त्वों पर वड़े सुन्दर ढंग से प्रकाश डालती है और कभी-कभी अन्य दर्शन सम्बन्धी एवं तत्कालीन पुस्तक सामग्री के सम्बन्ध में भी टिप्पणियों एवं सूचनाओं के लिए महत्त्वपूर्ण है परन्तु सिद्धान्तों एवं मतों की मीमांसा अथवा व्याख्या से सम्बन्धित विशिष्ट प्रकाश नहीं डालती जो भारतीय दर्शन के विशिष्ट अंगों को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अत किसी ऐसी पुस्तक के अभाव में जो भारतीय विचारकों की मनोवैज्ञानिक तथा शास्त्रीय अववारणाओं और सिद्धान्तों को स्पष्ट कर सके, एक संस्कृत के विद्वान् पंडित के लिए भी जिसको दर्शनशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का परिचय हो, उच्च दर्शन शास्त्रीय साहित्य को समझना कठिन है। भारतीय दर्शन के अध्ययन में उपरोक्त कठिनाइयों के होते हुए भी यदि कोई व्यक्ति पारिभाषिक शब्दों का परिचय प्राप्त कर लेता है और विभिन्न भारतीय विचारकों की मुख्य स्थापना एवं प्रति-

पादन के ढग को समझ लेता है तो प्रयत्न करने पर उसे कोई विशेष कठिनाई का अनुभव नही होगा। प्रारभिक अध्ययन मे जो पारिभाषिक शब्द कठिन प्रतीत होते हैं वे कुछ समय पश्चात् लेखक के सही मन्तव्य और तात्पर्य को समझने मे अत्यन्त मूल्यवान् सिद्ध होते हैं, साथ ही लेखक के अभिमत के विषय मे किसी प्रकार की भ्रान्ति या सदेह होने की सम्भावना नही रहती। यह सर्वविदित ही है कि पारिभाषिक शब्दो का सम्यक् प्रयोग न होने पर दार्शनिक ग्रन्थ शब्दजाल परिपूर्ण एव जटिल लगने लगते हैं, साथ ही अर्थ भ्रम की सम्भावना भी नही रहती है। सुगम एव सुबोध लेखन एक ऐसा गुण है जो बहुत कम पाया जाता है और प्रत्येक दार्शनिक से इसकी आशा भी नही की जा सकती परन्तु जब पारिभाषिक शब्द एव शास्त्रीय कथोपकथन की पद्धति निर्धारित कर दी जाती हैं तो साधारण लेखक भी सरलता से अपने विचारो को सही सही समझ सकता है। इस पुस्तक मे भी ऐसे पारिभाषिक शब्द हैं जो विभिन्न स्थलो पर अनेक अर्थो पर प्रयुक्त हुए हैं और जिनके कारण ठीक प्रकार से सही अर्थों को समझने मे कठिनाई होती है।

प्रश्न यह है कि क्या भारतीय दर्शन के इतिहास को लिखने की कोई आवश्यकता है? कुछ लोगो का मत है कि सही अर्थ मे भारतीय दर्शन नाम की कोई वस्तु नही है। क्योकि भारतीय दर्शन केवल साधारण निष्ठा और विश्वासो पर ही आधारित है और वह साधारण सीमा से ऊपर नही उठ सका है। कोर्नेल विश्वविद्यालय के प्रोफेसर फ्रैंक थिली ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑव फिलासफी' (दर्शन के इतिहास)* में कहा है—'विश्व दर्शन का इतिहास सभी जातियो के विचार दर्शन का इतिहास होना चाहिए। परन्तु सभी राष्ट्रों मे क्रमबद्ध वास्तविक विचार दर्शन नही पाया जाता और बहुत कम ऐसे देश हैं जिनके वैचारिक विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मिलती है। बहुत से ऐसे हैं जो पौराणिक गाथाओं के स्तर से ऊपर नही उठ पाये हैं। यहाँ तक कि पौर्वात्य राष्ट्रो की जैसे हिन्दू, मिस्री, चीनी सस्कृतियो के दर्शन भी गाथाओं और आचार नियमो के सिद्धान्तों तक ही पहुँच पाए हैं। इन सस्कृतियों में पूर्ण विकसित, क्रमबद्ध तर्कमय विचारदर्शन नही पाया जाता। उनका आधार केवल काव्यात्मकता एव श्रद्धा है अत हम केवल पाश्चात्य दर्शन दर्शन के अध्ययन का प्रयास करेंगे और सर्वप्रथम प्राचीन यूनानी दर्शन का अध्ययन प्रारम्भ करेंगे जिस पर हमारी सस्कृति कुछ अशों तक आधारित है।' सम्भवत ऐसे और भी व्यक्ति हैं जो भारतीय दर्शन के सम्बन्ध मे अनभिज्ञ हैं एव इस प्रकार के तथ्यहीन तथा भ्रामक विचारो से पीडित हैं। इस प्रकार ऐसे भ्रमपूर्ण विचारो के निवारण की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती क्योंकि इस पुस्तक मे जो कुछ लिखा गया है स्वत. ही उनकी शकाओ का समाधान हो जाएगा। यदि वे सतुष्ट नहीं हो पाते हैं और भारतीय दर्शन के अगों-पागों के विषय मे और अधिक जानना चाहते हैं तो उन्हें पुस्तक की अनुक्रमणिका मे दिए ग्रन्थो का मूल रूप मे अध्ययन करना पडेगा।

एक ऐसा मत भी है कि अभी भारतीय दर्शन के इतिहास को लिखने का उपयुक्त समय नहीं है इस पर दो विभिन्न दृष्टिकोणो से दो प्रकार से तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं। ऐसा

---

* न्यू यॉर्क, 1914, पृ० 3

कहा जाता है कि भारतीय दर्शन का क्षेत्र इतना विशाल है और इतना विशुद्ध साहित्य प्रत्येक दर्शन के सम्बन्ध में उपलब्ध है कि किसी भी व्यक्ति के लिए मूल स्रोतों से यह सारी सामग्री एकत्रित करना तब तक असम्भव है जब तक विशेषज्ञों द्वारा प्रत्येक दार्शनिक धारा का अलग से समूचा साहित्य सूचीबद्ध न कर लिया जाए। यह कथन कुछ अंशों तक सत्य है। दर्शन के कुछ महत्त्वपूर्ण अंगों के ऊपर जो साहित्य उपलब्ध है वह अत्यन्त विशाल है परन्तु उनमे अधिकांश ग्रन्थों में एक से ही विषय का पुनः पुनरनुशीलन है। प्रत्येक शाखा के 20-30 महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ऐसे छाँटे जा सकते हैं जो इस विषय में या उस दर्शन के तात्पर्य को पूर्णतः समझने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। मैंने सदैव सर्वश्रेष्ठ मूल ग्रन्थों का आधार लेकर लिखने का प्रयत्न किया है। स्थान की न्यूनता के कारण केवल महत्त्वपूर्ण प्रसंगों को ही चुना गया है। कई कठिन तत्त्वों की व्याख्या को छोडने के लिए बाध्य होना पड़ा है। अनेक रोचक मीमांसाओं को भी स्थानाभाव के कारण छोड़ देना पड़ा है। इस बात के लिए मैं क्षमा का भी पात्र हूँ कि दर्शन का कोई भी इतिहास सम्पूर्णता का दावा नही कर सकता। इस इतिहास में कई प्रकार की त्रुटियाँ रह गई है जो मुझसे अधिक विद्वान् लेखक के लिखने पर नही हो सकती थी। मैं यह आशा लेकर चलता हूँ। सम्भवतः इस पुस्तक की त्रुटियों से अन्य विद्वानों को अधिक विद्वत्तापूर्वक पुस्तक लिखने की प्रेरणा प्राप्त होगी। त्रुटियों एवं कठिनाइयो के होने के कारण इस प्रकार का प्रयास करना असम्भव ही मान लिया जाए यह तो उपयुक्त न होगा।

दूसरे, ऐसा कहा जाता है कि शुद्ध ऐतिहासिक अभिलेख और जीवन वृत्तांतों के भारत मे उपलब्ध न होने के कारण भारतीय दर्शन का इतिहास लिखना एक असम्भव कार्य है। इस कठिनाई में भी कुछ अंशों तक सत्यता है लेकिन इससे भी कोई विशेष अन्तर नही पड़ता। प्रारंभिक काल में यद्यपि बहुत सी तिथियों का पता नही चल पाता है परन्तु कुछ काल पश्चात् तिथियों का आधार स्पष्ट होने लगता है और हम विभिन्न विचारधाराओं के पूर्ववर्ती होने की महत्त्वपूर्ण मीमांसा या कुछ के परवर्ती होने की सत्य परीक्षा कर सकते हैं। चूँकि दर्शन के अधिकांश अंग एक साथ ही विकसित हुए और अनेक शताब्दियों में उनके पारस्परिक सम्बन्ध एवं आधार भी विकसित हुए, अतः उनका सरलता से अध्ययन किया जा सकता है। इस प्रकार के विकास की विशिष्टता का दिग्दर्शन इस पुस्तक के चतुर्थ अध्याय में किया गया है। अधिकाश दर्शन धाराएँ बहुत प्राचीन हैं। वे प्रारम्भ में साथ-साथ ही अनेक शताब्दियो में परम्परागत क्रमिक रूप से विकसित होती रही। इसलिए यह सम्भव नही है कि एक दर्शन प्रणाली विशेष को लेकर किसी निश्चित काल और समय मे उसकी व्याख्या आसानी से की जा सकती हो ओर फिर उसका तुलनात्मक अध्ययन किसी दूसरे काल मे उस प्रणाली के विकास को लेकर किया जा सकता हो। क्योंकि किसी भी उत्तरकालीन अवस्था में पुरानी या पूर्वकाल में विकसित दर्शन परम्परा का लोप नही हुआ केवल इतना ही हुआ कि उत्तर काल में वह दार्शनिक प्रणाली अधिक समन्वित एवं तर्कसंगत हो गई। वह मूल दर्शन के सत्य स्वरूप के निकट तो रही, परन्तु उसका दार्शनिक पक्ष अधिक सुनिश्चित हो गया। पाश्चात्य देशों में ऐतिहासिक विकास के साथ-साथ ही दर्शनशास्त्र की विभिन्न धाराओं में अधिक बौद्धिक एवं तर्कसंगत विकास परिलक्षित होता है परन्तु भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक विकास की परम्परा ऐसी रही है कि उसमें यद्यपि

दार्शनिक प्रणालियो की विचारधारा मे कोई अन्तर नहीं आया किन्तु कालक्रम से इन विचारधाराओं की प्रणालियाँ सुनिर्धारित होती गई और उन्हें एक निश्चित दिशा प्राप्त होती गई। प्रारभिक अवस्थाओ मे भी उन प्रणालियो का अधिकाश स्वरूप उसी प्रकार विद्यमान था परन्तु वह उस स्वरूपहीन अवस्था मे था जहाँ उसका विभेदीकरण कठिन था परन्तु विभिन्न मतो की आलोचना प्रत्यालोचना एव विचार सघर्ष के कारण इनका स्वरूप निरन्तर सुस्पष्ट, सुनिश्चित एव सु-समन्वित होता गया। कुछ अवस्थाओ मे यह विकास स्पष्टत दृष्टिगोचर भी नही होता और कुछ प्रणालियों के प्रारभिक स्वरूप या तो लुप्तप्राय हो गए हैं या उनका कोई स्पष्ट विवेचन उपलब्ध न होने से उनके स्वरूप के बारे मे कोई निश्चित धारणा नही बनायी जा सकती। जहाँ भी इस प्रकार के विश्लेपण का अवसर प्राप्त हुआ है वहाँ दार्शनिक पक्ष को प्रमुख रखते हुए उनका विश्लेपण करने का प्रयत्न मैंने किया है। दार्शनिक पक्ष को ध्यान मे रखते हुए कालक्रम निर्धारणात्मक पक्ष का विश्लेपण भी किया गया है परन्तु दार्शनिक पक्ष को ऐतिहासिक पक्ष की अपेक्षा गौण नही माना गया अर्थात् कालक्रम स्पष्ट न होने मे दार्शनिक स्थापना का निरूपण न करना उचित नही समझा गया है। इसमे कोई सदेह नही है कि यदि दर्शन साहित्य के विकास के सम्बन्ध मे कालक्रम के अनुसार ऐतिहासिक सूचना प्राप्त हो सकती तो बहुत सुन्दर होता परन्तु मेरी निश्चित राय यह है कि जो भी ऐतिहासिक आधार हमारे पास हैं उनके द्वारा दर्शनशास्त्र की विभिन्न प्रणालियो की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध मे तुलनात्मक एव पारस्परिक अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री मिल जाती है और उससे हमे काफी सहायता भी मिलती है। भारत मे यदि दर्शनशास्त्र के विकास की अवस्था ऐसी होती जैसीकि योरपीय देशो मे है तो हमारे लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता। जब एक दार्शनिक मत लुप्त होकर दूसरे दार्शनिक मत को स्थान देता है तब यह आवश्यक हो जाता है कि हम इस बात की जानकारी करें कि कौन-सा मत किस मत से पहले प्रादुर्भूत हुआ और कौन पीछे। परन्तु जब दर्शन की विभिन्न प्रणालियाँ एक साथ ही विकसित हो रही हो और जब वे समय पाकर और अधिक समृद्ध और परिष्कृत रूप धारण करती जा रही हों तब उनके विकास का कालक्रम के माध्यम से अध्ययन करना केवल ऐतिहासिक रुचि का ही परिचायक होगा। मैंने दर्शन के विभिन्न अगो के प्रारभिक विकास की साधारण विवेचना ही की है जिससे उसके सम्बन्ध में साधारण ज्ञान हो सके। यद्यपि इस पुस्तक मे उसकी विस्तृत रूपरेखा देना सम्भव नहीं हुआ परन्तु इससे मेरा विवेचन अपूर्ण सिद्ध नहीं होगा। इसके अतिरिक्त यदि हम विभिन्न विचारको के कार्यकाल की तिथियो का विवेचन करें तो भी कोई लाभ नही होगा क्योकि दर्शन विशेप के प्रत्येक विचारक ने किसी नए मत का निरूपण न कर उसी प्रणाली की व्याख्या करते हुए अपने मत की पुष्टि की है और उसे एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया है। यह प्रणाली पाश्चात्य प्रणाली से निश्चित रूप से भिन्न है।

भारत मे वैदिक साहित्य से प्राचीन और कोई साहित्य उपलब्ध नही है। अग्नि, वायु आदि प्रकृति के देवताओं की स्तुति में लिखे मत्र ही इस साहित्य मे पाए जाते हैं और हमारे दृष्टिकोण से इनमे कोई विशेप दर्शन प्राप्त नहीं होता। लेकिन परवर्ती वैदिक

वाङ्मय के कुछ सूक्तों में जो सम्भवतः ई० पू० 1000 वर्ष के आसपास लिखे गए होंगे, दर्शनशास्त्र के कई ब्रह्मांड विषयक रोचक प्रश्न, काव्यात्मकता और कल्पना से संपुटित, प्राप्त होते है। उत्तरवैदिककालीन ग्रन्थ ब्राह्मण एवं आरण्यक हैं। ये ग्रन्थ मुख्यतया गद्य में हैं। इन ग्रन्थों मे दो विशिष्ट धाराएँ पायी जाती हैं। पहली में पूजा या कर्म-काण्ड की विधि जो चमत्कारात्मक अधिक थी, सम्मिलित है और दूसरी मे कल्पनात्मक ढंग पर कुछ विचारणीय तथ्यों का वहुत साधारणीकरण करते हुए चिन्तन के धरातल पर विचार-विमर्श करने का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि चिन्तनात्मक पक्ष वहुत कम है, कर्मकाण्डीय ही अधिक है और यह भी स्पष्ट लगता है कि वैदिक वाङ्मय के परवर्ती भाग में जिन थोड़े दार्शनिक विचारों का परिचय मिलता है उस पर वह अधिकांश वाङ्मय जो कर्मकाण्ड की विधियो के ऊपर विशेप वल देता है, हावी हो गया है और अन्त तक कर्मकाण्ड की मरु-भूमि में इस धारा का लोप ही हो गया है। इसके पश्चात् गद्य और पद्य में लिखे उपनिपद् नाम के दर्शन ग्रन्थ प्राप्त होते हैं जिनमे एकात्मवादी अथवा अद्वैतवादी विविध दार्शनिक विवेचन पाया जाता है। साथ ही द्वैतवाद एव वहुलवादी (अनेकेश्वरवादी) विचारधाराओं का भी उल्लेख पाया जाता है। इन विपयों का कोई तर्कसंगत प्रतिपादन नहीं किया गया वरन् इसमें स्थान-स्थान पर उन सत्यों की स्थापना की गई है जिनको शाश्वत सत्यों के रूप में दैवी अनुभूति की भाँति मनीपियों द्वारा देखा गया है और जिनके प्रामाण्य के सम्वन्ध मे किसी प्रकार का सदेह नही है। इनकी भापा वड़ी शक्तिशाली, ओजमय एवं हृदयग्राहिणी है। यह सम्भव है कि इस साहित्य का प्रारंभिक भाग ईसा से 500 वर्ष पूर्व से 700 वर्ष पूर्व तक लिखा गया है। वौद्ध दर्शन बुद्ध के प्रादुर्भाव के साथ ईसा से 500 वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। यह विश्वसनीय ढग से कहा जा सकता है कि वौद्ध दर्शन 10वी अथवा 11वी शताब्दी तक किसी न किसी स्वरूप में विकसित होता रहा। बुद्ध काल और ईसामसीह से 200 वर्ष पूर्व के समय के वीच अन्य भारतीय दार्शनिक विचारधाराओ का भी प्रादुर्भाव हुआ होगा, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है। जैनदर्शन सम्भवतः वौद्ध दर्शन से पहले उद्भूत हुआ। जैन दर्शन अन्य हिन्दू दार्शनिक विचारधाराओं से कभी निकट सम्पर्क में आया हो ऐसा नही लगता, यद्यपि प्रारंभिक काल में वौद्ध दर्शन के साथ इसका कुछ सघर्ष रहा था। उत्तरकालीन वैष्णव दर्शन की कुछ धाराओं को छोड़कर, जैन दर्शन का हिन्दू अथवा वौद्ध दार्शनिक ग्रन्थकारों ने कही भी उल्लेख नही किया। यद्यपि हरिभद्र और गुणरत्नादि कुछ जैन लेखको ने वौद्ध एवं हिन्दू धर्म का खडन करने का प्रयत्न किया था। जैन धर्म के अहिंसात्मक रुझान एवं आदर्श के कारण वह स्थिति वन गई हो सकती है किन्तु जैन दर्शन का संघर्प किसी और दर्शन से नही हुआ। इसके निश्चित रूप से क्या कारण थे इसका सही अनुमान लगाना कठिन है। यद्यपि जैन धर्म मे आन्तरिक सैद्धान्तिक मतभेद और अनेक पन्थ रहे हैं फिर भी वौद्ध दर्शन की भाँति जैन दर्शन अनेक विपरीत दार्शनिक विचारधाराओ एवं शाखाओ मे विभक्त नही हुआ है।

इस ग्रन्थ के प्रथम भाग मे वौद्ध और जैन दर्शन एवं भारतीय विचारधारा के दर्शनों का विवेचन किया जाएगा। हिन्दू धर्म की पुरातन दार्शनिक विचारधारा की छ प्रणालियाँ इस प्रकार हैं—सांख्य, योग, न्याय, वैशेपिक, मीमांसा (जो पूर्व मीमासा के नाम

से प्रख्यात है) और वेदात (जिसे उत्तर मीमामा कहा जाता है)। इनमे से जिनको सांख्य और योग की सज्ञाएँ दी जाती है वे वस्तुत एक ही दर्शन की दो विभिन्न शाखाएँ हैं। उत्तरकाल में वैशेपिक और न्याय भी इतने समीप आकर घुल-मिल गए कि यद्यपि प्रारभिक काल मे वैशेपिक को न्याय की अपेक्षा मीमासा के समरूप माना जाता था परन्तु उत्तर काल मे वैशेपिक और न्याय लगभग एक ही प्रणाली के रूप मे लिखे जाने लगे। अत न्याय और वैशेपिक की एक साथ ही विवेचना की गई है। इनके अतिरिक्त 9वी शताब्दी मे ईश्वरवादी आस्तिक प्रणालियो का भी प्रादुर्भाव होने लगा था। इसका प्रारम्भ सम्भवत उपनिपद् काल मे ही हो गया होगा लेकिन उस समय शायद इन मतो का विशेप वल आचार विचार और धार्मिक समस्याओ पर रहा होगा। यह असम्भव नही कि तत्त्व-मीमासात्मक चिन्तन और सिद्धान्तो से भी इनका सम्पर्क रहा हो लेकिन ऐसी कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं है जिसमे इनका प्रामाणिक ढग से विश्लेपण किया गया हो। इस सम्वन्ध मे सवसे प्रारभिक ग्रन्थ भगवद्गीता मिलता है। इस पुस्तक को सही ही, हिन्दू चिन्तन की सर्वोत्तम कृति माना जाता है। यह श्लोकवद्ध है और धार्मिक, नैतिक एव आत्मिक समस्याओ के ऊपर व्यापक एव स्वतत्र ढग से विचार-विमर्श करती है। इसकी विशेपता विचार की किसी विशेप प्रणाली से सवद्ध न होना है। इससे इसकी पद्धति उपनिषदो के काव्यात्मक विवेचन के अधिक निकट लगती है। सैद्धान्तिक मीमासा की जटिल तार्किक शैली में निवद्ध हिन्दू दर्शन की विवेचना पद्धति से परे हटकर काव्यमय सौन्दर्य से यह सभी के हृदयो को अभिभूत कर देती है। 9वी शताब्दी के पश्चात् इस वात का प्रयत्न किया जाने लगा कि विखरे हुए सभी ईश्वरवादी सिद्धान्तो को जो धार्मिक निष्ठाओ के अन्तरग आधार-सूत्र थे, निश्चित दार्शनिक सज्ञाओ एव तत्त्व-मीमासात्मक सिद्धान्तो मे निहित किया जाय। आस्तिकवाद, द्वैतवादी और वहुलवादी (अनेकेश्वरवादी) है और ऐसा ही उन सव दर्शनो की प्रणालियो के वारे मे कहा जा सकता है जो वैष्णव दर्शन के विभिन्न मतो के नाम से जाने जाते हैं। अधिकाश वैष्णव विद्वान् इस वात की पुष्टि करना चाहते हैं कि उनकी प्रणाली अथवा उनका मत उपनिपदो के द्वारा समर्थित है अथवा उन मतों का स्रोत अत्यन्त प्राचीन उपनिपदो मे पाया जाता है। अपने मत की पुष्टि मे उन्होंने उपनिपदों की अनेक टीकाएँ लिखी और साथ ही उपनिपदो की दार्शनिक विचारधारा के आधार पर लिखे हुए महत्त्वपूर्ण आकारग्रन्थ ब्रह्मसूत्र के ऊपर भी टीकाएँ लिखने का प्रयत्न किया। इन वैष्णव विद्वानों के ग्रन्थो के अतिरिक्त और भी कई प्रकार के आस्तिकवादी ग्रन्थ लिखे गए जो अधिकाशतया ढग के थे। इनका प्रारम्भ भी उपनिपद् काल मे ही हुआ माना जाता है। यह शैव और तत्र प्रणाली के नाम से जाने जाते हैं और इनका वर्णन इस ग्रन्थ के दूसरे भाग मे किया गया है।

इस प्रकार हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि हिन्दू विचारधारा की प्रणालियो का प्रादुर्भाव ईसा मसीह से 600 वर्प पूर्व से लेकर 200 अथवा 100 वर्प पूर्व तक हुआ। इन प्रणालियो का पौर्वापर्य निर्धारण अर्थात् ऐतिहासिक दृष्टि से कौन-सा दर्शन पहले प्रारम्भ हुआ और कौन-सा वाद मे यह वताना कठिन है। इस विपय पर अनुमानत प्रकाश

डालने का प्रयत्न इस ग्रन्थ में किया गया है परन्तु यह कहाँ तक सही हो सका है यह पाठक ही निश्चय कर सकते हैं। किसी भी दर्शन प्रणाली की प्रारंभिक अवस्था में उसके मोटे-मोटे सूत्र ही मिल पाते हैं। समय के साथ-साथ इन प्रणालियां अथवा तन्त्रों का समानान्तर विकास होने लगा। गुरु-शिष्य परम्परा की अविच्छिन्न मर्यादाओं में प्रारंभिक काल से 17वी शताब्दी तक इन मत-मतान्तरो का ज्ञान अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होता रहा। आज भी प्रत्येक हिन्दू दर्शन की प्रणाली के अपने-अपने नैष्ठिक मतावलंबी हैं परन्तु इनमें से बहुत कम ऐसे हैं जो इन प्रणालियों के सम्बन्ध में कोई ग्रन्थ लिखें। हिन्दू विचारधारा की दर्शन प्रणालियों के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि भूतकाल में जैसे-जैसे नयी जिज्ञासाओं का प्रादुर्भाव हुआ वैसे ही प्रत्येक प्रणाली ने अपने मत की परिपुष्टि के लिए अपने सिद्धान्तों की मर्यादाओं में उनके समाधान का प्रयत्न किया। जिस क्रम में हमने विभिन्न दर्शनो की विवेचना इस ग्रन्थ मे की है वह ऐतिहासिक कालक्रम के आधार पर नहीं बनाया गया है। उदाहरणार्थ, यह सम्भव है कि सांख्य, योग, मीमांसा दर्शन के प्रारम्भिक स्रोत बौद्ध और जैन धर्म के पहले प्रादुर्भूत हो चुके हों परन्तु हमने इनकी विवेचना बौद्ध और जैन धर्म के पश्चात् की है क्योंकि इनकी मुख्य स्थापना करने वाले ग्रन्थ बौद्ध ग्रन्थों के पश्चात् लिखे गए हैं। मेरी राय में वैशेषिक दर्शन भी सम्भवत: बुद्ध काल से पूर्व का है परन्तु इसका भी वर्णन बाद में किया गया है। इसका एक कारण तो यह है कि इसका सम्बन्ध कुछ न्याय दर्शन के साथ है और दूसरा कारण यह है कि इसकी टीकाएँ बाद में लिखी गई हैं। मुझे यह निश्चित सा लगता है कि प्राचीन दर्शन वाङ्मय का बहुत बड़ा अंश अब विलुप्त हो चुका है और यदि उसका हस्तगत करना सम्भव होता तो हिन्दू दर्शन के विभिन्न दर्शन अंगो और उपांगों के पारस्परिक आधार, प्रादुर्भाव के समय के वाङ्मय एवं विकास के ऊपर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला जा सकता। परन्तु यह साहित्य अब उपलब्ध नहीं है इसलिए जो कुछ अवशिष्ट है अब उसी से संतुष्ट होना पड़ता है। प्रत्येक दर्शन की व्याख्या करने से पूर्व जिन मूल स्रोतों से मैंने सामग्री प्राप्त की है उनका विवरण साथ ही में दे दिया गया है।

मैंने यह प्रयत्न किया है कि मेरी विवेचना में मूल ग्रन्थों का अनुसरण जितनी अधिक शुद्धता के साथ हो सके किया जाए। इसके कारण कहीं-कहीं अभिव्यक्ति का ढंग विचित्र एवं पुरातन सा हो गया है परन्तु हिन्दू दर्शन की व्याख्या में मैंने यह उचित समझा है कि पाश्चात्य ढंग की अभिव्यक्ति के अपनाने के स्थान पर भारतीय विचारो के उपयुक्त ही शब्दो का चयन किया जाए। इस सबके होते हुए भी अनेक स्थलों पर आधुनिक दार्शनिक सिद्धान्तों से प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों का साम्य दिखाई देगा। इससे यह सिद्ध होता है कि मानवीय मस्तिष्क एक प्रकार की ही बुद्धिसंगत विचारधाराओं से आंदोलित होता है। मैंने किसी भी भारतीय विचारधारा के साथ पाश्चात्य विचारधारा की तुलना करने का प्रयत्न नहीं किया है क्योंकि यह मेरे लेखन क्षेत्र के बाहर की वस्तु है परन्तु मुझे अपनी धारणाओं को प्रकट करने की अनुमति दी जाय तो मैं यह कहूंगा कि पाश्चात्य दार्शनिक सिद्धान्तों में से बहुत अधिक या अधिकांश सिद्धान्त ऐसे हैं जो भारतीय दर्शन मे शाश्वत

रूप से पाए जाते हैं। मुख्य रूप से केवल दृष्टिकोण की ही विभिन्नता है जिसके कारण एक सी ही समस्याएँ दोनो देशो मे विभिन्न स्वरूपो मे प्रकट हुई हैं। भारतीय दर्शन के विकास के मूल्याकन के सम्बन्ध मे मेरे विचार, इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग के अन्तिम अध्याय मे निहित हैं।

□□□

अध्याय 2

वेद, ब्राह्मण और इनका दर्शन

वेद और उनकी प्राचीनता

भारतवर्ष के पवित्र ग्रन्थ वेदों के सम्बन्ध मे ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह इण्डो यूरोपियन अर्थात् आर्य जाति का सबसे प्राचीन लिखित साहित्य है। यह कहना कठिन है कि इन सहिताओं के प्रारम्भिक भागों का किस काल में उद्भव हुआ। इस सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की तर्क पूर्ण कल्पनाएँ की जाती हैं परन्तु इनमे से किसी को भी निश्चित रूप से सत्य नही माना जा सकता। मैक्समूलर के मत से इनका काल 1200 ई० पू०, हॉग के मत से 2400 वर्ष पूर्व और बाल गंगाधर तिलक के मत से 4000 वर्ष पूर्व माना जाता है। प्राचीन भारतीय मनीषी अपने साहित्य का—धार्मिक अथवा राजनैतिक कृतियो का—किसी प्रकार का ऐतिहासिक लेखा नही रखा करते थे। अत्यन्त प्राचीन समय से गुरु अपने शिष्यों को इन संहिताओं को कंठस्थ करा दिया करते थे और इस प्रकार गुरु-शिष्य पर-म्परा से अलिखित रूप से यह साहित्य अनादिकाल से चला आ रहा है। साधारणतया हिन्दुओं का यह विश्वास है कि वेद, अपौरुषेय साहित्य है अर्थात् यह साहित्य किसी मनुष्य के द्वारा रचित नही है। अतः साधारणतया यह मान्यता रही है कि ये शास्त्र स्वयं भगवान् ने ऋषियो को ज्ञान के रूप मे प्रदान किए अथवा मंत्रदृष्टा के रूप मे इन ऋषियो ने स्वय ही अन्तर्दृष्टि द्वारा इनका अभिव्यंजन किया। इस प्रकार वेदों के सृजन के कुछ समय पश्चात् जन साधारण की यह धारणा हो गई कि ये शास्त्र प्राचीन ही नही अनादि भी हैं और सृष्टि के प्रारम्भ मे अज्ञात समय से ऋषियों ने अन्तः प्रेरणा से प्रभु-प्रदत्त रूप में (इल्हाम के तौर पर) प्राप्त किया।

हिन्दू मान्यताओं में वेदों का स्थान

जिस समय वेदो का सृजन हुआ उस समय भारत मे सम्भवतः कोई लेखन प्रणाली प्रचलित नही हुई थी लेकिन ब्राह्मणों के अदम्य उत्साह के कारण अपने गुरुओं से मन्त्रों को श्रवण कर कंठस्थ किया हुआ यह सारा साहित्य कम से कम लगभग पिछले 3000 वर्षों से विना किसी परिवर्तन या क्षेपकों के शुद्ध रूप से ज्यों का त्यों विद्यमान है। भारतीय धार्मिक इतिहास मे अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए परन्तु सभी हिन्दू वर्गों की वैदिक साहित्य मे ऐसी श्रद्धा और विश्वास है कि वेद सभी कालों मे उच्चतम शास्त्र के रूप में मान्यता प्राप्त करते आए है। आज भी हिन्दुओं के जन्म, विवाह, मृत्यु आदि के सारे संस्-कार वेद विहित कर्म-काण्ड के अनुसार सम्पन्न किये जाते हैं। जिन मंत्रों के द्वारा ब्राह्मण

आज भी दिन मे तीनो समय प्रार्थना करते हैं वे वही वैदिक मन्त्र हैं जो आज से 2000 या 3000 वर्ष पूर्व प्रचलित थे। साधारण हिन्दू जीवन की थोडी सूक्ष्म समीक्षा करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मूर्ति पूजा का जो विधान उसके जीवन मे वाद मे प्रवेश कर गया उसकी भी सारी विधि और कर्मकाण्ड प्राचीन वैदिक प्रणाली के अनुसार ही सम्पन्न किया जाता है। अत एक कट्टर ब्राह्मण इच्छानुसार मूर्ति पूजा का परित्याग कर सकता है परन्तु वैदिक प्रार्थना अथवा उसके द्वारा वेदविहित उपासना आदि को नही छोड सकता। आज भी अनेक व्यक्ति हैं जो वैदिक यज्ञादि सस्कारो के कराने और वेद शास्त्र के अध्ययन के लिए प्रभूत धन का व्यय करते हैं। वेदो के पश्चात् जितना सस्कृत साहित्य प्रचलित हुआ उन्होने अपने सत्य की पुष्टि के लिए वेदो का आश्रय लिया और उन्ही के प्रमाण को मान्यता दे दी। हिन्दू दर्शन की सभी प्रणालियाँ वेदो को आधार मानकर उन्हें विशिष्ट सम्मान देती हैं। यहाँ तक कि प्रत्येक दर्शन प्रणाली के अनुयायी आपस में इस बात पर वाद-विवाद और सघर्ष करते रहे हैं कि उनकी प्रणाली ही वेद सम्मत है और वेदो के दृष्टिकोण को यथार्थ रूप में स्पष्ट करती है और इसलिए वह दूसरी प्रणालियो मे अधिक मान्य है। प्राचीन वेदो के प्रमाणो के अनुसार लिखी हुई स्मृतियो के द्वारा निहित हिन्दुओ के सामाजिक, वैधानिक, पारिवारिक और धार्मिक नियमो का आज भी पालन किया जाता है और यह आवश्यक समझा जाता है कि ये सब नियम वेद विहित ही माने जाते हैं। ब्रिटिश प्रशासन के काल में भी सारे वैधानिक मामलो में, जैसे-पैतृक सम्पत्ति का उत्तराधिकार, दत्तक की प्रथा आदि मे जिस हिन्दू सहिता का पालन किया जाता है उसका आधार वेद ही माने जाते रहे हैं। इसकी और अधिक विस्तृत व्याख्या करना आवश्यक ही होगा। केवल इतना ही कहना काफी होगा कि वेदों को प्राचीन मृत साहित्य न मानकर आज भी काव्य और नाटकादि साहित्य को छोडकर सारे हिन्दू वाङ्मय का स्रोत माना जाता है। सक्षेप मे हम यह कह सकते हैं कि अनेक परिवर्तनों के होते हुए भी परम्परानिष्ठ हिन्दू जीवन आज भी उसी वैदिक जीवन का प्रतिविम्ब है जो उसे शाश्वत प्रकाश देता रहा है।

वैदिक वाङ्मय का वर्गीकरण

वैदिक काल के बाद के सस्कृत वाङ्मय का अध्ययन करने वाला किसी भी जिज्ञासु का प्रारम्भिक अवस्था मे अनेक शकाओं से विचलित हो उठना स्वाभाविक है जब उसे ऐसे अनेक शास्त्रों का अध्ययन करना पडता है जो सभी वेद या श्रुति की सज्ञा से पुकारे जाते हैं और जिनका विषय और अर्थ भिन्न-भिन्न है। व्यापक अर्थ में वेद किसी एक पुस्तक का नाम नही है। उस सारे साहित्य विशेष को इस सज्ञा मे पुकारा जाता है जो लगभग 2000 वर्ष तक की कालावधि मे प्रणीत होता रहा है। चूँकि इस साहित्य मे दीर्घ अवधि तक विभिन्न दिशाओं से भारतीयो की उपलब्धियाँ निहित हैं अत यह स्वाभाविक ही है कि इनके अनेक स्वरूप पाए जाएँ। अगर हम इस सारे वाङ्मय को भाषा, काल और विषय की दृष्टि से वर्गीकृत करें तो हम इनको चार भागों में बाँट सकते हैं—सहिता अथवा मन्त्रों का सग्रह, ब्राह्मण, आरण्यक (वन मे लिखे हुए ग्रथ) एव उपनिषद्। यह सारा साहित्य जो गद्य और पद्य में है इनको लिखना प्राचीन काल में लगभग पाप माना जाता था अत ब्राह्मण

लोग इसको अपने गुरुओं के मुख से प्राप्त कर हृदयङ्गम किया करते थे। इसीलिए इस साहित्य का नाम श्रुति पड़ा अर्थात् सुना हुआ वाङ्मय।

संहिताएँ

वैदिक मंत्रों के संग्रह अथवा संहिताएँ ४ हैं—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद। इन सबमें ऋग्वेद प्राचीनतम है। सामवेद का अपना कोई स्वतंत्र रूप नहीं है क्योंकि इसके ७५ मंत्रों को छोड़कर शेष सभी ऋग्वेद से लिए हुए हैं। ये सारे छंद विशेष स्वर और लय के साथ गा कर पढ़े जाने के लिए एकत्रित किए गए हैं और इसलिए हम सामवेद को गेय ग्रंथ कह सकते हैं। यजुर्वेद में ऋग्वेद के मंत्रों के अतिरिक्त कोई मौलिक गद्य भाग है। सामवेद के मंत्र, सोमयज्ञ की विधि और अनुष्ठानों के उद्देश्य से संकलित हैं। यजुर्वेद के मंत्र विभिन्न धार्मिक यज्ञों के कर्म-काण्ड के दृष्टिकोण से संकलित हैं। अतः इसको यजुर्वेद अर्थात् यज्ञीय प्रार्थनाओं का वेद कहा जाता है। इसके विपरीत ऋग्वेद के श्लोक विभिन्न देवताओ की स्तुति के क्रम में लिखे गए हैं। उदाहरणार्थ, सर्वप्रथम अग्नि की स्तुति में लिखे हुए श्लोक ऋग्वेद में सूक्त के रूप में संकलित पाए जाते हैं और इसके पश्चात् इन्द्र की स्तुति के मंत्र पाए जाते हैं। अथर्ववेद नाम की चतुर्थ संहिता से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद से काफी समय पश्चात् अथर्व संहिता प्रचलित हुई। प्रो० मैक्डुनल महोदय का कथन है कि "यह संहिता ऋग्वेद से पूर्णतः भिन्न तो है ही इसकी विचारधारा असाधारण रूप से आदिमकालीन सी भी लगती है। ऋग्वेद में एक सभ्य सुसंस्कृत समाज के याज्ञिक अनुष्ठानों के उच्च देवताओं की स्तुति संबंधी श्लोक हैं। परन्तु अथर्ववेद में मुख्यतया जनसाधारण के निम्न वर्ग पर प्रभाव डालने वाले प्रेत-माया, जादू-टोने एवं असुरों की तुष्टि हेतु लिखे मंत्र-तंत्र हैं। इस प्रकार अथर्ववेद और ऋग्वेद वर्ण्यविषय की दृष्टि से एक दूसरे की पूर्ति करने वाले दो अत्यन्त मुख्य ग्रन्थ हैं।"[1]

ब्राह्मण ग्रन्थ[2]

संहिताओं के पश्चात् उन ब्राह्मण ग्रन्थों का सृजन हुआ जो निश्चित रूप से एक विभिन्न साहित्यिक वर्ग के है। ये गद्य में लिखे गए है और इनमें उन विभिन्न अनुष्ठानों का

---

1 ए० ए० मेक्डुनल, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० 31

2. वेबर हिस्ट्री आफ इन्डियन लिटरेचर में पृ० 99 पर लिखते हैं कि ब्राह्मण शब्द का अर्थ है—वह जो ब्रह्म की स्तुति संबंधी विषय पर लिखा गया है। मैक्समूलर का कथन है (सेक्रेड बुक्स आव द इस्ट भाग १ पृ० 66) ब्राह्मण का अर्थ है मूल रूप में जो ब्राह्मणों का उपदेश हो चाहे वह साधारण पुरोहितों द्वारा दिए हुए उपदेश हों अथवा ब्राह्मण पुरोहितों द्वारा। एगलिंग कहते हैं कि"—इन ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण इसलिए था कि वे ब्राह्मणों के मार्गदर्शन और शिक्षा के लिए थे अथवा वे उन ब्राह्मणों के शास्त्रोपदेश थे जो वैदिक ज्ञान और कर्मकाण्ड के न केवल विशेष वेत्ता थे परन्तु यज्ञ के ब्रह्मा अथवा पौरोहित्य कर्म करने के अधिकारी थे। परन्तु क्योंकि ऐसी मान्यता है कि ब्राह्मण ग्रंथ भी वेदों की भाँति ही अपौरुषेय हैं अतः वेबर का कथन अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

महत्त्व वर्णित हुआ है जिनसे इस सम्बन्ध मे न जानने वाले व्यक्तियो को ज्ञान प्राप्त होता है। प्रो० मैक्डुनल के मतानुसार—'यह उस काल की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जबकि सारे बौद्धिक क्रिया-कलाप, यज्ञ के महत्त्व, कर्म-काण्ड और आध्यात्मिकता से प्रेरित हुआ करते थे।' यज्ञ के अनुष्ठानो से सबद्ध विधानों, कट्टरपथी स्थापनाओ और कल्पनात्मक प्रतीक योजनाओ से ये ग्रथ भरे पड़े हैं। जब प्रारम्भिक अवस्थाओ मे वैदिक मन्त्रो का उदय हुआ होगा तब सम्भवत यज्ञ का कर्म-काण्ड इतना कठिन नही होगा जितना कि इस काल मे पाया जाता है। परन्तु इन श्लोको के परम्परा द्वारा इस काल तक पहुँचते-पहुँचते अनुष्ठान सम्पादन की क्रिया अत्यन्त जटिल हो गई। अत यह आवश्यक प्रतीक होने लगा कि यज्ञ की क्रियाओं को ब्राह्मणो अथवा विशेषज्ञ के वर्गो में विभक्त कर दिया जाए। हम यह मान कर चल सकते हैं कि इस काल मे वर्ण व्यवस्था का उदय हो रहा था और धार्मिक व विद्वान पुरुषो के लिए यज्ञ एव उसके जटिल कर्मकाण्ड ही ऐसे विषय थे जो उनको कार्यरत रख सकते थे। कल्पनात्मक एव मननात्मक क्षेत्र यज्ञ के कर्मकाण्ड की अपेक्षा गौण हो गया था। उसका फल यह हुआ कि इस काल मे प्रतीकवादी अद्भुत याज्ञिक क्रियाओ का सूत्रपात हुआ जो सम्भवत विश्व मे प्रज्ञानवादियो (नॉस्टिक्स) के अतिरिक्त कही नही पाया जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ब्राह्मण काल ईसा से ५०० वर्ष पूर्व तक रहा है।

आरण्यक ग्रन्थ

ब्राह्मण ग्रन्थों के विकास के क्रम मे आरण्यक ग्रथ प्राप्त होते है जिसका अर्थ है वन में लिखे हुए शास्त्र। ये ग्रथ सभवत वयोवृद्ध ऋषियों के लिए लिखे गए थे जो जीवन के अन्य कार्यों से उपरत होकर वन में निवास करने लगते थे और जिसके लिए आवश्यक साधन और सामग्री के अभाव में जटिल कर्मकाण्ड-विधियुक्त अनुष्ठानादि करना सम्भव नही था। इन ग्रन्थो मे विशिष्ट प्रतीकों या सकेतों पर ध्यान और मनन को अधिक महत्त्वपूर्ण समझा गया है और शनै शनै ध्यान योग, यज्ञ के स्थान पर, अधिक उच्च स्तर का समझा जाने लगा। मेधावी एव विद्वान व्यक्तियों के उच्च समुदाय ने कर्मकाण्ड को निम्न कोटि का समझते हुए सत्य की खोज मे दार्शनिक मनन एव अध्ययन को अपनाना आरम्भ कर दिया। उदाहरण के तौर पर वृहदारण्यक के प्रारम्भ के भाग मे ऐसा उल्लेख आता है कि अश्वमेध यज्ञ मे अश्व की वलि के स्थान पर अश्व के विराट् रूप को देखना और उसका प्रतीक के रूप मे मनन करना चाहिए, जिसमे उषा को अश्व का सिर, सूर्य को नेत्र और वायु को उसकी प्राणवायु के रूप मे मनन करने का उल्लेख है। यज्ञ के जटिल कर्मकाण्ड की क्रियाओ के ऊपर यह निश्चित रूप से ध्यान और धारणा की विशिष्टता को मान्यता प्रदान करता है। इस प्रकार मानसिक चिन्तन एव ज्ञान को जीवन के लिए परम श्रेय समझा जाना बौद्धिक विकास के क्रम मे एक नया अध्याय था, जिसमे वैदिक यज्ञानुष्ठान के स्थान पर आत्मज्ञान, ध्यान एव दार्शनिक मनन को जीवन का 'एक चरम लक्ष्य

समझा जाने लगा। आरण्यक में विचार स्वातंत्र्य के कारण कर्मकाण्ड की वे शृंखलाएँ जिन्होंने जीवन को आवद्ध कर रखा था, शनै. शनै: छिन्न-भिन्न होने लगी। इस प्रकार आरण्यकों ने उपनिपदों के विकास के लिए उचित पृष्ठभूमि भी तैयार कर दी, साथ ही वेदों के दार्शनिक मनन का सूत्रपात भी किया जिसके कारण हिन्दू उपनिपद् हिन्दू विचार दर्शन के महान् स्रोत के रूप मे विकसित हो पाए।

ऋग्वेद एवं तत्कालीन संस्कृति

ऋग्वेद के मंत्र किसी एक व्यक्ति के द्वारा लिखे अथवा किसी एक युग मे रचे हुए प्रतीत नही होते। सम्भवत: इनका सृजन विभिन्न कालों मे अनेक ऋपियों द्वारा हुआ है और यह भी असम्भव नही है कि आर्यो द्वारा भारतीय भूमि मे प्रवेश करने से पहले इनकी रचना की गई हो। ये श्लोक मुख शास्त्र के रूप मे गुरु-शिष्यों की परम्पराओं द्वारा हस्तान्तरित किए जाते रहे और पीढ़ी दर पीढ़ी मनीषी कवियो द्वारा इनमें वृद्धि होती गई। इस संग्रह के अत्यंत विशाल हो जाने के पश्चात् सम्भवत: इसको वह स्वरूप दिया गया जो आज उपलब्ध है अथवा किसी ऐसे स्वरूप में इनको सुव्यवस्थित किया गया होगा जिससे आजकल पाए जाने वाले स्वरूप का विकास हुआ। भारत में आने से पूर्व तक इसके पश्चात् भी आर्यो की अनेक कालों की सभ्यता एव प्राच्य संस्कृति का दिग्दर्शन इस साहित्य से होता है। यह अद्भुत ग्रन्थ जो अत्यन्त प्राचीन लुप्त सभ्यता का प्रतीक है, अद्भुत सौन्दर्य कला एवं काव्य की अमूल्य निधि है। यह आर्य जाति की प्राचीनतम पुस्तक है और इससे आदिकालीन सभ्यता एवं समाज का परिचय प्राप्त होता है। जीवन निर्वाह के साधनों मे से मुख्य उस समय पशुपालन एवं कृपि थे। कृपि के लिए उत्तम हल, गेंती, कुदाल आदि औजारों का प्रयोग ही नही किया जाता था वरन् सिंचाई के लिए नहरों आदि का प्रयोग भी होता था। कायगी का कथन है कि—"आर्यों का मुख्य भोजन रोटी के साथ दूव की वनाई विभिन्न वस्तुएँ, मक्खन रोटी, सब्जियाँ और फल था। सामिप भोजन का प्रयोग वहुत कम था और सम्भवत. विशेप पर्वों अथवा पारिवारिक उत्सवों पर ही वह प्राप्त होता था। पान सम्भवत: भोजन से अधिक महत्त्व रखता था।" काष्ठकार, युद्ध के रथ और शकट वनाया करते थे। साथ ही अत्यन्त कलात्मक प्याले, एवं अन्य मूल्यवान वस्तुओं का भी निर्माण कलाकार करते थे। कुम्भकारों, लोहकारों एवं अन्य धातु-कर्मियों व शिल्प-कर्मियों का व्यवसाय विशेप रूप से प्रचलित था। स्त्रियाँ सिलाई, वुनाई एवं चटाई आदि वनाने के कार्यो में कुशल थी। भेड़ की ऊन से मनुष्यों के लिए वस्त्र एवं पशुओं के लिए झूल, आवरण आदि बनाए जाते थे। एक ही जाति के व्यक्तियों के समुदाय अथवा गण उच्चतम राजनैतिक संस्था थी। एक ही वंश के परिवार जिनसे जाति विशेप वनती थी, उस परिवार के मुखिया द्वारा अधिशासित होते थे। राजा लोग वंश परम्परा से वनाए जाते थे परन्तु कही-कहीं चुनाव के द्वारा भी राजा वनाने का प्रचलन था। राजाओं की शक्ति सर्वोपरि एवं निरंकुश नही थी वरन् जनता के मतानुसार सीमित थी। इस देश में न्याय, अधिकार एवं विधि के सम्वन्ध में वड़े उन्नत विचार प्रचलित थे। कायगी कहते हैं कि "वैदिक श्लोकों और मन्त्रों से यह सिद्ध होता है कि

जनता के प्रमुख बुद्धिजीवी व्यक्तियो मे यह विश्वास जम गया था कि विश्व के अधिपतियों के शाश्वत नियम उतने ही सत्य हैं जितने कि सत्य के पहले आचार एव नैतिक ऋपियों में उतने ही सत्य जितने प्रकृति के नियम—उनको किसी प्रकार से भग नही किया जा सकता। प्रत्येक अनैतिक कर्म के लिए चाहे वह अनजाने मे ही हुआ हो, दण्ड अवश्यभावी है एव कुछ दण्ड के बिना पाप का शमन नही हो सकता।" अत यह विश्वास करना ठीक ही है कि आर्यों की सस्कृति उस समय अत्यन्त उच्च अवस्था तक पहुँच गयी थी लेकिन इस उच्चतम सस्कृति का सबसे अधिक प्रकाश उनके कर्म में पाया जाता है जो थोडे से श्लोको को छोडकर लगभग सभी श्लोंको की मुख्य विपय वस्तु है। कायगी के मतानुसार—[1]"ऋग्वेद का अधिकतम महत्त्व इस अर्थ में है कि यह आर्य धर्म का व्यापक इतिहास है जो प्राचीनतम आदिकाल से लेकर चले आ रहे धार्मिक विश्वासो के जो आदिकालीन धार्मिक चेतनाओं से लेकर पुरुप और परमात्मा सम्बन्धी गहनतम श्रद्धा एव विश्वासो के रूप मे विकसित हुए क्रमबद्ध विकास का परिचय देता है।[2]

वैदिक देवता

ऋग्वेद के सभी मन्त्र देवताओ की स्तुति निमित्त लिखे गए हैं। अन्य सामाजिक विपय अत्यन्त गौण है—क्योकि ये भी यदा-कदा देवताओं की भक्ति एव स्तुति के प्रसग में प्रयुक्त किए गए हैं। ये देवता प्रकृति के अनेक स्वरूपो और शक्तियों के अधिपति के रूप में वर्णित हैं अथवा उन शक्तियो को आत्मसात् करने वाले महान् शक्ति-प्रतीक हैं। अत ग्रीक देवताओ के समान उनका कोई निश्चित स्वरूप अथवा चरित्र नहीं है जैसाकि परवर्ती, भारतीय पौराणिक काल के ग्रन्थो मे पाया जाता है। प्रकृति की विभिन्न शक्तियाँ जैसे वर्षा, आँधी एव मेघ गर्जन आदि आपस में निकट रूप से सम्बद्ध हैं और उनके देवता भी समान रूप वाले हैं। विभिन्न देवताओं के लिए एक ही प्रकार के विशेपणो का प्रयोग किया गया है और केवल कुछ विशिष्ट गुणो मे ही वे एक दूसरे से भिन्न पाए जाते हैं। उत्तरकालीन पौराणिक गाथाओ मे देवताओं की इन उद्भावित प्राकृतिक शक्तियो के प्रतीकत्व का लोप हो जाता है और एक विशेप व्यक्तित्व एव मानवीय चरित्र का जन्म होता है जो साधारण मानवो के समान दुःख और सुख की कथाओं के नायक हैं। वैदिक देवता उनसे इस बात से भिन्न हैं कि उनका कोई विशेप व्यक्तित्व नही है, वे केवल प्रकृति की शक्तियो के परिचायक हैं।

उदाहरण के तौर पर कायगी महोदय के कथनानुसार अग्नि के सम्बन्ध में ऐसा वर्णन आता है—"अग्नि कोमल काष्ठ में ऐसे सुपुप्त रहती है जैसे किसी प्रकोष्ठ मे कोई व्यक्ति। जब तक कि प्रात काल काष्ठ खडो के सघर्षों से उसका आह्वान नहीं किया जाता तब तक वह सहसा अपने तेजोमय स्वरूप मे जागृत नहीं होती। तब यज्ञकर्ता उसे लेकर

---

[1] ऋग्वेद 1886 सस्करण, कायगी पृ० स० 13

[2] ऋग्वेद 1886 सस्करण, कायगी पृ० स० 18

समिधा में अग्न्याधान करता है। जब पुरोहित घृताहुति देते हैं तब वह अश्व के समान हिनहिनाती हुई तीव्र गति से आकाश की ओर अग्रसर हो उठती है—इसको ऊँचा उठता हुआ देखकर मनुष्य ऐसे ही प्रसन्न हो उठते है जैसे अपनी समृद्धि को देखकर प्रसन्न हो उठते है।" वे उसको देखकर आश्चर्यान्वित हो उठते हैं जब वह विविधवर्णा एवं सुसज्जित होकर चारों दिशाओं को अपने सुन्दर स्वरूप से अतिरंजित कर देती है। ऋग्वेद के मंत्र का अर्थ इस प्रकार है—

अग्नि की तेजोमय प्रकाशयुक्त किरणें सर्वभेदी है। उसका सुन्दर मुख और नेत्र सारे मुखों और नेत्रों से अधिक मनोरम है। जिस प्रकार जल पर प्रतिविम्व रूप में अतिरंजित होते हुए प्रकाशपुंज तैरते हैं उसी प्रकार अग्नि की किरणे तेजोमय प्रतीत होती हैं और वे शाश्वत रूप से प्रकाशित होती रहती हैं।[1]

—ऋग्वेद 1, 143, 3।

वे वायु (वात) का वर्णन करते हुए उसकी स्तुति मे कहते है—यह कहाँ उत्पन्न हुआ, कहाँ से इसका आगमन हुआ? यह परमात्माओं का जीवन प्राण है। वसुधा का महान् पुत्र है, ये वायु देव स्वेच्छा से जहाँ चाहते है विचरण करते है। इधर-उधर विचरण करते हुए उनकी पगध्वनि हमको सुनाई देती है परन्तु उनका कैसा स्वरूप है वह कोई नहीं जानता।[2]

—ऋग्वेद 168, 3, 4।

वैदिक कवियों की कल्पना और निष्ठा पृथ्वी एवं आकाश अथवा आकाश से परे स्वर्ग में प्रकृति की अनेक शक्तियों और उसके स्वरूपो को देखकर जागृत हो चुकी थी। इस प्रकार कुछ निराकार देवताओं को छोड़कर जिनका हम आगे चलकर वर्णन करेंगे, हम इन देवताओं को 3 श्रेणियों में बाँट सकते हैं—जैसे पृथ्वी मे स्थित देवता, स्वर्ग के देवता एवं अंतरिक्ष के देवता।

बहुदेववाद, एकैकाधिदेववाद एवं एकेश्वरवाद

वैदिक देवताओं के अनेक स्वरूप एवं वर्णनों को देखकर साधारण जिज्ञासुओं की यह धारणा हो सकती है कि वैदिक काल के व्यक्ति बहुदेववादी थे परन्तु तीक्ष्णबुद्धि पाठक सरलता से इस बात को समझ सकेगा कि इस काल मे न एकेश्वरवाद था न बहुदेववाद वरन् श्रद्धा और विश्वास का एक ऐसा स्वरूप था जिससे इन दोनों की उद्भूति हुई होगी। बहुदेववाद मे जिस प्रकार प्रत्येक देवता की अपनी पृथक् निष्ठा निर्धारित होती है वह स्थिति वहाँ नहीं है। भावनाओं एवं श्रद्धा के प्रवाह के कारण कभी जिस देवता की स्तुति प्रारम्भ होने लगती है वह देवता अन्य सभी पर व्याप्त हो जाता है और अन्य सभी पृष्ठभूमि

1. 'ऋग्वेद' कायगी पृ० 35।
2. वही पृ० 38

चले जाते हैं और नगण्य हो उठते हैं। वैदिक कवि प्रकृति का सच्चा पुत्र था। प्रत्येक रूप उसके लिए अद्भुत था जिससे उनकी श्रद्धा और प्रेम जागृत हो उठता था। कवि आश्चर्य-चकित हो उठता है जब वह देखता है कि "साधारण अरुण कपिल धेनु श्वेत मधुर दुग्ध देती है।" सूर्य का उदय एव अस्त वैदिक ऋषि के उद्‌गारो को झकझोर देता है। उसका मन सूर्य के अस्त को देखकर आनन्द-मग्न हो उठता है और आश्चर्यचकित-होकर वह यह वर्णन करता है .

"विना किसी वधन के नीचे जाकर भी, अधोमुख होते हुए भी कैसे आश्चर्य की वात है कि सूर्य नीचे नही गिरता, उसके उदीयमान मार्ग के दिग्दर्शक को किसने देखा है।"
—ऋग्वेद, 4, 13, 5।

ऋषियों को महान् आश्चर्य होता है और वे कहते हैं—"अनन्त काल से नदियों का प्रकाश से खेलता हुआ जल समुद्र मे प्रवाहित हो रहा है फिर भी आश्चर्य की वात है कि समुद्र कभी नही भरा।" वैदिक काल के व्यक्तियों का मन और बुद्धि दोनो निश्छल, सरल एव कोमल थी। यह काल इतना परिपक्व नही था कि वे इन सव देवताओ का एक सुनिश्चित स्वरूप स्थापित करते अथवा इन सव देवताओ के स्वरूपो को एकात्मक करते हुए एकेश्वरवाद की स्थापना करते। प्रकृति की जो भी शक्ति, अपने वरदान एव सौन्दर्य से उनके हृदय को अभिभूत कर देती थी एव जिसके प्रति वे कृतज्ञता से भर उठते थे उसके प्रति ही अन्तर्मन से उनके हृदय मे श्रद्धा एव स्तुति जागृत हो उठती थी और उसे वह देवत्व प्रदान कर देती थी। एक विशेप काल मे जो देवता उसके मन और हृदय को भक्ति एव श्रद्धा से आन्दोलित करता था वही उस समय सवसे उच्चतम देवता के रूप मे पूजित हो उठता था। वैदिक मन्त्रों की इस विशिष्टता को मैक्समूलर ने एकैकाधिदेववाद (हेनो-थिज्म) या कैथेनोथिजम के न ˙से वर्णित किया है जिसका अर्थ है एकाकी देवता मे विश्वास जिसमे प्रत्येक समय-सभ ग उच्चतम स्थान रखता है और इस प्रकार क्योकि प्रत्येक देवता अपने विशिष्ट क्षेत्र का\ ग्ष्ठाता है वैदिक पाठकर्ता अथवा कवि मनोकामना पूर्ति हेतु उन देवताओ का आह्वान करते हैं जिससे उन्हें वरदान मिलने की आशा होती है अथवा यह कहा जा सकता है कि जिनके विभाग में उनकी इच्छापूर्ति होने की सम्भावना है। सूक्तकार उस काल मे उस एक ही देवता के प्रति श्रद्धावनत होता है और अन्य सव देवता उस समय उसके अन्तर्मन से दूर हो जाते हैं परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि वह अन्य देवताओ की अवहेलना अथवा तिरस्कार कर रह है। सभी देवता उसके लिए समान रूप से मान्य हैं परन्तु उसकी भक्ति का विपय उसकी आस्था और मनोकामना के अनुसार एक विशिष्ट देवता मात्र है।"[1] मेक्डुनल ने अपनी पुस्तक "वैदिक माइथोलोजी"[2] मे यह धारणा व्यक्त की है जो उचित प्रतीत होती है, कि इस सिद्धान्त के विपरीत किसी भी धर्म मे देवताओ के पारस्परिक अन्त सम्वन्ध का वर्णन इतना नहीं किया गया है जितना वैदिक

---

1 ऋग्वेद, कायगी पृ० स० 27

2 वही, पृ० 33। (हेनोथिइज्म के वारे में एरोस्मीथ की टिप्पणी देखिए)।

देवताओं मे। वैदिक देवता अलग थलग या स्वतंत्र नहीं हैं। वेदों के परम शक्तिशाली देवता भी अन्य देवताओं पर निर्भर है अथवा उनके अधीन है। जैसे वरुण और सूर्य इन्द्र कें वशवर्ती वताये गये है (1-101)। वरुण एवं अश्विनी विष्णु की शक्ति से प्रेरित होते हैं (1-156)। किसी भी देवता की स्तुति जब सर्वोपरि अथवा "एकः" (एकमात्र शक्ति-शाली देव) के रूप मे की जाती है जैसा कि स्तुतियों में स्वाभाविक भी है तो ऐसे वर्णनों मे निहित क्षणिक एकेश्वरवाद उसी मंत्र में अथवा प्रसंगानुसार दूसरे मंत्रो में अन्य देवताओं की मान्यता की पृष्ठभूमि पर आकर रूपान्तरित हो जाता है और संतुलित हो जाता है।[1] मेक्डुनल महोदय कहते है, "हेनोथीइज्म एक काल्पनिक स्वरूप मात्र है, उनमें कोई वास्त-विकता नही है। यह आभास अनिश्चित एवं अविकसित मानवत्वारोपो के कारण है। ग्रीक देवताओं की भाँति वैदिक देवताओं मे कोई भी अन्य समस्त देवताओ के सम्मुख मुख्य अधि-ष्ठाता के रूप मे प्रमुख स्थान धारण नही कर पाता जिस प्रकार ग्रीक जीयुस करता है। इसलिए वैदिक पुरोहितों एवं स्तुति कर्ताओं की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है कि वे एक विशेप देवता की असाधारण भक्ति एवं प्रशसापूर्ण स्तुति करते है उसके माहात्म्य के सम्मुख वे उस समय किसी भी दूसरे देवताओं का कोई ध्यान नही रखते। उनका यह विश्वास भी है कि उनके मन मे अन्ततोगत्वा सभी देवता एक है (देखिये 3 35 सूक्त का आवर्ती वाक्य) और उनमे से प्रत्येक विशिष्ट देवताओं के एकीभूत प्रतीक के रूप मे माना जा सकता है।"[2] लेकिन चाहे हम इससे हेनोथीइज्म के नाम से पुकारें अथवा देवता-विशेष की शक्तियो की क्षणिक अतिशयोक्तिमय स्तुति समझें, यह स्पप्ट है कि इस स्थिति को न हम बहुदेववाद के नाम से पुकार सकते है और न एकेश्वरवाद के नाम से। यह एक ऐसी स्थिति है कि जिसमे दोनो की ओर झुकाव पाया जाता है लेकिन कोई भी स्थिति इतनी सुस्पष्ट नही हो पाई है कि हम उसको कोई भी संज्ञा दे सकें। अतिशयोक्ति के कारण प्रत्येक देवता की स्तुति मे बीज रूप से एकेश्वरवाद के प्रति प्रवृत्ति मानी जा सकती है और दूसरी ओर प्रत्येक देवता की स्वतन्त्र स्थिति के होते हुए भी उन सबकी साथ-साथ रहने की अवस्था को हम बहुदेववाद का बीज सूत्र भी मान सकते हैं।

एकेश्वरवाद की प्रवृत्ति—प्रजापति, विश्वकर्मा

किसी भी देवता की विशेष प्रशसा, स्तुति एवं उच्चतम महत्त्व दर्शित करने की ओर झुकाव के कारण धीरे-धीरे इस भावना का जन्म हुआ कि विश्व के सारे प्राणियो का एक प्रभु है जिसको कि प्रजापति के नाम से पुकारा जाने लगा। यह मस्तिप्क के विकास के क्रम की एक विशेष उच्च अवस्था का सूचक था जिसमे एक ऐसे देवता के प्रति निष्ठा प्रकट की गई थी जो सारी नैतिक व भौतिक शक्तियों का स्रोत एवं अधिष्ठाता था, यद्यपि उसका साक्षात् स्वरूप देखना (अविर्भाव, अवतार) सम्भव नही था।

---

1. मेक्डुनल, 'वैदिक माइथोलोजी', पृ० 16, 17।
2. वही पृ० 17।

इस प्रकार प्रजापति अर्थात् सारे प्राणियों का स्वामी जो एक विशेषण था, एक नए देवता के रूप में उद्भूत हुआ यद्यपि यह विशेषण अन्य देवताओं के लिए भी प्रयुक्त हो चुका था, वह अब एक ऐसे देवता के लिए प्रयोग में आने लगा जो सर्वोपरि देव या देवाधिदेव है। ऋग्वेद के 10वें मंडल के 121वें में सूक्त में ऐसा कहा है।[1]

'सृष्टि के प्रारम्भ में हिरण्यगर्भ प्रभु का जन्म हुआ जो सभी सृष्टि का स्वामी है जिसने इस पृथ्वी को अवस्थित किया और स्वर्ग की स्थापना की। हम किस देवता की हवि (बलि या नैवेद्य) द्वारा स्तुति करें? ऐसा कौन है जो हमें प्राण देता है, शक्ति देता है और सभी जीव जिसकी आज्ञा का पालन करते हैं। प्रकाशमय देवता भी जिसकी आज्ञा का पालन करते हैं, जिसकी छाया में ही मृत्यु होती है और जिसकी जीवनमय छाया अमरत्व देने वाली है ऐसे किस देवता को हविष्य द्वारा स्तुति करें जो अपनी शक्ति से सारी सृष्टि का प्रजापति है? उन सबका प्राण धारण करता है जो सोते और जागते हैं। मनुष्य और पशुओं का जो अनन्य स्वामी है ऐसे किस देवता के प्रति हम बलि (नैवेद्य) समर्पित करें? अपनी श्रद्धा को अर्पित करें जिसकी महान् शक्ति और गौरव को हिमाच्छादित शृंग वाले भूधर, उदधि एवं दूर-दूर सुविस्तृत जल प्रवाह से युक्त नदियाँ तथा नद प्रदर्शित करते हैं। दिशाएँ जिसकी सुदीर्घ भुजाएँ हैं ऐसे किस देवता के प्रति हम हविष्य द्वारा श्रद्धांजलि दें। जिसने अंतरिक्ष को दीप्तिमान किया, पृथ्वी को धारण करने योग्य बनाया जिसने आकाश और स्वर्ग की रचना की, जिसने आकाश में वायु की रचना की ऐसे किस देवता को हम भक्ति और स्नेह से हविष्य (बलि) द्वारा श्रद्धांजलि दें?"

ऐसे ही गुणों द्वारा विश्वकर्मा (सबको उत्पन्न करने वाला)[2] देवता को भी संबोधित किया गया है। यह सारी सृष्टि का जनन (उत्पत्ति) कर्ता कहा गया है। यद्यपि वह स्वयं अजन्मा है। उसने आदि सृष्टि में जल की रचना की, उसके सम्बन्ध में ऋषि कहते हैं—

'यह हमारा पिता है हम सबको उत्पन्न करने वाला है और हमारा सृजन करता है। वह प्रत्येक स्थान पर निवास करता है एवं अन्तर्यामी है, प्राणि मात्र को जानने वाला है। इसके द्वारा देवता लोग अपनी संज्ञा प्राप्त करते हैं और संसार के प्राणि मात्र वरदान के लिए उसकी पूजा करते हैं।"

ऋग्वेद 82 3।

ब्रह्म

वेदान्त दर्शन के उत्तरकाल में ब्रह्म के जिस महान् स्वरूप की कल्पना की गई है उसका ऋग्वेद में याज्ञिक कर्मकाण्ड के प्रभाव एवं सम्पर्क के कारण पूर्णतः सूत्रपात नहीं

---

1. ऋग्वेद कायगी, पृ० 88, 98।
2 वही पृ० 89, और म्योर रचित संस्कृत टेक्स्ट्स भाग 4, पृ० 5-11।
3 कायगी कृत अनुवाद।

हो पाया था। वेदों के श्रेष्ठ भाष्यकार सायणाचार्य ने यज्ञ शब्द के [illegible] किए हैं जिनको हॉग ने इस प्रकार संकलित किया है—(अ) देवों का [illegible] गान (इ) तन्त्र और तन्त्र विद्या (ई) [illegible] याज्ञिक अनुष्ठान (उ) [illegible] आहुतियाँ (ऊ) होता द्वारा मंत्र पाठ (ऋ) महान्। [illegible] के अनुसार इस शब्द का अर्थ यह भी है—ब्रह्मानंद की प्राप्ति हेतु आन्तरिक प्रेरणा एवं [illegible] आह्लाद। परन्तु केवल शतपथ ब्राह्मण ने ब्रह्म की कल्पना को वह महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है [illegible] पर 'ब्रह्म' की अवधारणा प्रतिष्ठित है। वह एक महान् शक्ति के रूप में [illegible] जो सारे देवताओं की प्रेरक शक्ति है। शतपथ के अनुसार "आदिकाल में यह सारा विश्व (प्रकृति) ब्रह्म के रूप में था।" इस ब्रह्म ने देवताओं का सृजन किया और तत्पश्चात् उनको विश्व में आरूढ़ किया, अग्नि को पृथ्वी पर स्थापित किया, वायु को वातावरण में, और सूर्य को अन्तरिक्ष में स्थान दिया तब स्वयं ब्रह्म दूसरे लोक में गया। परलोक में स्थापित होकर ब्रह्म ने विचार किया कि मैं ब्रह्मांड में किस प्रकार पुनः प्रवेश कर सकता हूँ? तब फिर उसने इस विश्व में इन दो स्वरूपों में प्रवेश किया—नाम व रूप। जिस किसी वस्तु की संज्ञा है वह नाम है और जो संज्ञाहीन है वह रूप। इन नामों और रूपों में ही यह सारा संसार अवस्थित है और जो ब्रह्म की इन दो शक्तियों को पहचानता है वह स्वयं महाशक्तिमान् अथवा ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।[1] दूसरे स्थान पर ब्रह्म को विश्व में अद्वितीय चरम शक्ति के रूप में माना गया है और उसको प्रजापति, पुरुष एवं प्राण कहकर सम्बोधित किया गया है। एक अन्य स्थान पर ब्रह्मा को स्वयम्भू कहा गया है अर्थात् जो स्वयं उत्पन्न होता है, जो तपस्वी है एवं जो सारे प्राणियों में स्थित है और इस प्रकार वह सारे प्राणियों का आधार उनका स्वामी है तथा उन पर शासन करता है। ऋग्वेद जिस पुरुष (महापुरुष) की कल्पना की गई है वह इस विश्व में केवल अपने चतुर्थांश से स्थित है। उसके तीन अंश अन्य लोकों में व्याप्त है। वह भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों है।

यज्ञ—कर्मवाद की प्रारंभिक स्थापना

यह कल्पना करना उचित नहीं होगा कि एकेश्वरवाद की ये धाराएँ बहुदेववादी यज्ञानुष्ठानों का स्थान ग्रहण कर रही थी। यथार्थ में यज्ञादि का कर्मकाण्ड एवं विधि-विधान विशेष रूप से विस्तृत एवं जटिल होते जा रहे थे। इसका सीधा प्रभाव तो यह हुआ कि देवताओं का महत्त्व अपेक्षाकृत कम होने लगा। मनोकामना की पूर्ति के लिए यज्ञानुष्ठान का चमत्कारपूर्ण विधान एक परम्परा का स्थान ग्रहण कर रहा था। यज्ञों में बलिऔर आहुति उस प्रकार की भक्ति और निष्ठा से प्रेरित नहीं होती थी जिस प्रकार की भक्ति वैष्णव और ईसाई धर्म में पाई जाती है। हॉग के मतानुसार यज्ञ एक प्रकार का स्वतः सम्पूर्ण तंत्र था जिसका सम्पूर्ण विधान एक दूसरे से गहरा जुड़ा हुआ और सुसमन्वित था। इसके एक भाग में थोड़ी-सी त्रुटि के कारण भी, जैसे ठीक प्रकार घृताहुति देना, अग्न्याधान में पात्रों

---

1. इगलिंग कृत शतपथ ब्राह्मण का अनुवाद, देखिए, भाग 1, पृ० 2

का संस्थापन अथवा समिधा या दर्भ को सही स्थान पर रखना, इनमे से किसी मे भी थोडी त्रुटि रह जाने से समस्त यज्ञ के असफल एव भग होने की पूर्ण सम्भावना थी चाहे वह कितनी ही निष्ठा-भाव से सम्पन्न किया हो। मत्र के शब्दो के अशुद्धोच्चारण मात्र से अर्थ का अनर्थ होने का भय रहता था। जब त्वष्टा ने अपने शत्रु इन्द्र के विनाश करने वाले असुर की उत्पत्ति के लिए यज्ञ किया तब एक शब्द के अशुद्ध प्रयोग से उस दैत्य ने स्वय यज्ञ कर्ता त्वष्टा का सहार कर दिया। परन्तु यज्ञ के विधिपूर्वक शुद्धरूपेण सम्पन्न हो जाने पर कोई ऐसी शक्ति नही थी जो उसके फल और प्रभाव को नष्ट कर सके। इस प्रकार यज्ञ का साफल्य देवताओ की कृपा पर न निर्भर होकर यज्ञ के विधिपूर्वक करने मे निहित था। इन अनुष्ठानो के चमत्कार से मनोवांछा की पूर्ति उसी प्रकार अवश्यम्भावी थी जैसे कि प्रकृति के नियम अटल एव अवश्यम्भावी होते हैं। वेदो के समान ही यज्ञ भी अत्यन्त प्राचीन एव अनादि कहे जाते है। इस सारी सृष्टि की उत्पत्ति ही ब्रह्मा के द्वारा किये हुए महान् यज्ञ का फल है। हॉग के अनुसार—"यह सृष्टि अमूर्त और अदृष्ट रूप से सदैव विद्यमान् है, जैसे विद्युत् सदैव विद्यमान् है, केवल उसका रूप किसी सयत्र के प्रचालन से प्रकाशित हो जाता है।" यज्ञ मे दी हुई बलि एव आहुति केवल देवताओ को प्रसन्न करने के लिए अथवा उनसे विश्व का कल्याण अथवा स्वर्ग मे आनन्द प्राप्त करने के लिए नही दी जाती। यह सब तो यज्ञ करने मात्र से स्वयमेव सम्भव है, यदि यज्ञ सस्कार विधि-विहित नैष्ठिक क्रियाओ द्वारा सम्पन्न किया जाता है जो यज्ञ की सम्पूर्णता के लिए परमावश्यक है। प्रत्येक यज्ञ मे विशिष्ट देवताओ का आह्वान किया जाता है और यद्यपि उनको बलि दी जाती है तथापि ये देवता यज्ञ की धार्मिक क्रियाओ की पूर्ति मे साधन मात्र हैं। अत यज्ञ अपनी रहस्यमय शक्तियो के कारण देवताओ से भी विशिष्ट माना गया है और यहाँ तक कहा गया है कि यज्ञ के चमत्कार से मनुष्यो ने अनेक बार देवत्व प्राप्त किया। यज्ञ करना और कराना मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य माना जाने लगा और इसको कर्म अथवा क्रिया के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा और ऐसा समझा जाने लगा कि इस कर्म का फल नियमानुसार श्रेय अथवा अश्रेय के रूप मे निश्चित एव अटल रूप से फलित होगा। अश्रेय के लिए इसलिए कि कई बार अनेक अनुष्ठान शत्रुओ के विनाश करने के लिए और सासारिक शक्ति एव समृद्धि के लिये भी किये जाते थे। प्रकृति के महान् नियमो अथवा ब्रह्माण्ड के स्थिति क्रम की कल्पना भी इस समय प्रारम्भ हुई जिसके अनुसार परमात्मा की सत्ता के अन्तर्गत प्रकृति अपना कार्य सपादन करती है। ये प्रकृति के नियम अटल एव अटूट हैं। इस महान् अनुशासन अथवा नियम को ऋत शब्द से सम्बोधित किया गया है जिसका अर्थ है जो कुछ हो रहा है वह इसी के कारण ब्रह्माड को या प्रकृति का प्रवाह को धारण किये हुए है। जैसे मेक्डुनल कहते हैं—"यह सत्ता ईश्वरीय नैतिक जगत् मे सत्य और धार्मिक जगत् मे विधान अथवा यज्ञ की अवधारणा के रूप में समझी जा सकती है।"[1] प्रत्येक कर्म का फल तदनुसार प्राप्त होगा यह भी इस सत्ता का अटल नियम है। भारतीय विचारधारा पर आज तक

---

1. मेकडुनल, वैदिक माईथोलोजी, पृ० 11।

जिस कर्मवाद का महान् प्रभाव है उस वाद का सूत्रपात इसी काल में हुआ। यह एक अत्यन्त रोचक विषय है। इस प्रकार हमें एक ओर सरल विश्वास और श्रद्धा द्योतित करने वाली वैदिक धारणाओं की अपेक्षा यज्ञ के जटिल कर्मकाण्ड के महत्त्व के प्रख्यापन की प्रवृत्ति परिलक्षित होती हैं, दूसरी ओर परमात्मा को सार्वभौम सत्ता के रूप में स्वीकार करने की दार्शनिक एकेश्वरवादी विचारधारा से भी सम्पर्क होता है।

सृष्टि-रचना—पौराणिक एवं दार्शनिक आधार पर

ऋग्वेद मे वर्णित मृष्टि रचना पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है—पौराणिक आधार पर, (२) दार्शनिकता के आधार पर। पौराणिक आधार की दो मुख्य धाराएँ हैं। जैसाकि प्रो० मेक्डुनल कहते हैं—"एक विचारधारा विश्व को एक यान्त्रिक रचना के रूप मे देखती है जो किसी काष्ठकर्मी अथवा शिल्पी की प्रतिभा के फल के समान है और दूसरी धारा इसको एक स्वाभाविक प्राकृतिक विकास[1] के रूप में देखती है।" ऋग्वेद मे कवि एक स्थान पर कहता है—"कौन से वृक्ष और कौन से काष्ठ के द्वारा स्वर्ग और पृथ्वी की रचना की गई।"[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसका उत्तर है–"ब्रह्म ही वह काष्ठ है और ब्रह्म ही वह वृक्ष है[3] जिससे इस पृथ्वी और स्वर्ग का निर्माण हुआ।" स्वर्ग और पृथ्वी को कही-कही ऐसा प्रदर्शित किया है जैसे वह स्तम्भो पर आधारित हो।[4] कहीं-कही इन दोनों को विश्व के जनक और जननी के रूप मे वर्णित किया गया है और कहीं अदिति एवं दक्ष को जगत् के माता व जगत् के पिता के रूप में वर्णित किया गया है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से कुछ-कुछ बहुदेवात्मक पुरुष सूक्त[5] हमारे ध्यान को आकर्षित करता है। यह सारा विश्व आदि पुरुष के रूप में देखा गया है। जो भी वर्तमान में है और भविष्य में होगा वह चर और अचर जगत् मे सर्वत्र व्याप्त है, वह अमर है एवं सारे प्राणियों की उत्पत्ति का कारण है। उसके चरणों से प्रकृति की रचना हुई, उनकी नाभि प्रदेश से वायुमंडल का सृजन हुआ, उसके सिर से आकाश की रचना हुई और उसके श्रोत्र से चारो दिशायें उत्पन्न हुईं। अन्य ऋचाओ में सूर्य को समस्त चर और अचर जगत्[6] में प्राण (आत्मा) के रूप मे प्रदर्शित किया है। ऐसा भी उल्लेख है कि परमात्मा एक है यद्यपि उस एक ही सत्य को ऋषियों[7] द्वारा अनेक नामों से पुकारा जाता है। परमात्मा को कई स्थानों पर विश्व के महान् स्वामी के रूप मे पुकारा जाता है जिस विश्व को हिरण्यगर्भ[8] के नाम

---

1. वही पृ० 11।
2. ऋग्वेद, 10, 81, 4।
3. तैत्तिरीय ब्राह्मण, 2, 8, 9, 6।
4. मेक्डुनल, वैदिक माइथोलोजी, पृ० 11। ऋग्वेद 11, 15, 4, 56।
5. ऋग्वेद 10, 90।
6. ऋग्वेद 1.115।
7. ऋग्वेद 10.164.46।
8. ऋग्वेद 10.121.6।

से सम्बोधित किया गया है। कहीं-कहीं पर कहा गया है "ब्रह्मणस्पति ने विश्व में, लौह-कर्मी द्वारा फूँक कर निकाले हुए लौह पदार्थों के समान, जीवन का सचार किया। देवताओं के प्रारम्भिक काल मे अमूर्त से मूर्त की उत्पत्ति हुई, तत्पश्चात् लोको की रचना हुई और फिर उत्तानपाद[1] द्वारा विश्व रचा गया।" सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और सुन्दर सूक्त जिसमे कि विश्व रचना के रहस्य की दार्शनिक दृष्टि से समीक्षा और विचारण की गई है, वह ऋग्वेद के 10वें मण्डल के 129वें सूक्त के रूप मे पाया जाता है।

(1) इस जगत् के उत्पन्न होने के पूर्व न असत् था और न सत् था। उस समय न लोक थे और न परम आकाश था। जो आकाश से परे है वह भी न था। उस समय ऐसा कौनसा पदार्थ था जो सबको चारो ओर से व्याप्त किये हुए था ? और यदि था तो कहाँ था और किसके आश्रय मे था ? तो फिर कोई ऐसा गहन पदार्थ था जिसमे किसी वस्तु का प्रवेश न हो सके अथवा जिसका कोई आर-पार न लग सके या जिसकी अगाधता का पता न लग सके। तब क्या कोई व्यापक भासमान 'अप्' तत्व विद्यमान था ?

(2) उस समय न मृत्यु थी न और न उस समय अमृत था अर्थात् जीवन की सत्ता और जीवन के लोप नही थे। रात्रि और दिन का उस समय विभेद अथवा कोई ज्ञान नही था। जो तत्व विद्यमान था प्राण शक्ति के रूप मे था परन्तु यह बात अर्थात् स्थूल वायु वाला न था। वह अपनी ही शक्ति से सारे ससार को धारण करने वाली शक्ति से व्याप्त था परन्तु उस अत्यन्त सूक्ष्म व्याप्त शक्ति से परे और कुछ भी न था।

(3) सृष्टि के होने से पूर्व तमस अर्थात् अन्धकार था, जो स्वय गहन अन्धकार से आवृत्त था। वह ऐसा था जो ज्ञान से परे था वह व्यापक, गतिमान, प्रवाहमान तत्त्व (सलिल) से व्याप्त था, जो कुछ था वह सूक्ष्म रूप से एक विशाल शून्य मे मिला हुआ था। वह तप की महान् सामर्थ्य से प्रकट हुआ।

(4) सृष्टि के पूर्व मे सर्वप्रथम मन से उत्पन्न होने वाली एक कामना का उदय हुआ जो इस जगत् की प्रारम्भिक बीज थी। ऋषि, तत्वज्ञानी पुरुष, हृदय मे पुन पुन विचार कर असत् में से सत् शक्ति को, अस्तित्व को बाधने वाले चेतन स्वरूप के रूप मे देखते हैं।

\+ + + +

(6) इस सत्य को कौन ठीक-ठीक जान सकता है, इस विषय मे कौन उत्तम रूप से प्रवचन कर सकता है, यह सृष्टि कहाँ मे प्रकट हुई और इसका मूल कारण क्या है ? क्या समस्त देवता प्रकाशमान, तेजमान सूर्य, चन्द्र आदि लोक इस जगत् को रचने वाले मूल

---

1 ऋग्वेद का म्योर द्वारा अनुवाद 10, 72 म्योर की सस्कृत टेक्ट्स, भाग 5 पृ० 48।

कारण के पश्चात् ही उत्पन्न हुए ? तो फिर कौन इस तत्त्व को जानता है जिससे यह जगत् चारों ओर प्रकट हुआ ?

(7) यह सृष्टि जिस मूल तत्त्व से प्रकट हुई है अथवा जो इस संसार का सृजन कर रहा है अथवा जो विसृजन कर रहा है, वह इसका अन्तर्यामी प्रभु, परमलोक से अर्थात् उच्चतम लोक मे विद्यमान है। केवल वह इस सब तत्त्व को जानता है यद्यपि और कोई चाहे न जाने।[1]

इसका प्राचीनतम भाष्य शतपथ ब्राह्मण के एक संदर्भ मे मिलता है (10.5.3.1) जिसमे उल्लेख है—"आदि काल मे यह विश्व न सत् था न असत्, प्रारम्भ मे यह विश्व अस्थिति मे होते हुए भी नही था एवं नहीं होते हुए भी स्थित था। उस समय केवल एक अव्यक्त चेतन था। अत ऋषियों ने यह वर्णन किया है न 'सत्' था न 'असत्' केवल एक अव्याप्त व्याप्त चेतन शक्ति थी। इस चेतन की उत्पत्ति के पश्चात् जब इसने प्रकट होने की इच्छा की तो अधिक स्थूल और निश्छल रूप से प्रकट होना चाहा, शरीर धारण किया और फिर तपस्या मे लीन होकर सत्[2] के रूप मे प्रकट हुआ। अथर्ववेद में भी ऐसा उल्लेख है कि स्कम्भ देवता मे विश्व के सारे रूप निहित हैं अथवा स्कम्भ देवता से विश्व के सभी अगो की उत्पत्ति हुई।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक काल में एक प्रकार की दार्शनिक जिज्ञासा की उत्पत्ति हुई, कम से कम ऐसे अनेक व्यक्तियो के मन मे यह प्रश्न उठता है कि वास्तव मे इस विश्व की उत्पत्ति हुई अथवा नही। तब वे इस सृष्टि के उद्भव के सम्बन्ध मे ऐसी कल्पना करने लगे कि विश्व में सृष्टि की उत्पत्ति का रहस्य सत् और असत् के अन्तर मे छिपा हुआ है, अर्थात् सृष्टि से पहले कुछ था या नही इस सम्बन्ध में कल्पना की जाने लगी। इस जिज्ञासा के परिणामस्वरूप यह कल्पना जागृत हुई कि आदिकाल में एक अनादि चेतन था जिसके चेतन की अभिव्यक्ति सृष्टि की उत्पत्ति करने की आन्तरिक इच्छा के कारण हुई और जिससे कालान्तर में शनै. शनै विश्व के समस्त भौतिक स्वरूप का प्रादुर्भाव हुआ। ब्राह्मणों मे सृष्टि रचना के सम्बन्ध मे एक दूसरे प्रकार का उल्लेख आता है जिसमें सृष्टि-कर्ता की अनिवार्य रूप से उपस्थिति की कल्पना की गई है यद्यपि सदैव वह सृष्टि के आदिकारण के रूप मे नहीं माना जाता। सृष्टि के स्वत. विकास और सृष्टि के किसी कर्ता द्वारा उत्पन्न किये जाने के मतो को एक साथ मिला दिया गया है जिसके कारण कई स्थलो पर प्रजापति को सृष्टि-कर्ता की संज्ञा दी गई है और अन्य स्थानो पर सृष्टि-कर्ता को आदि जल मे प्रवाहमान एक अण्डे के रूप में अथवा बीज शक्ति के रूप मे तैरते हुए बतलाया है।

1. ऋग्वेद, 10, 129 कायगी पृ० 90।
2. एगलिंग का अनुवाद, शतपथ ब्राह्मण, भाग 43, पृ० 374-375।
3. अथर्ववेद 10.7 10।

परलोकविद्या : आत्मा का सिद्धान्त

वेदो मे इस प्रकार का विश्वास प्रकट किया जाता है कि अचेतन अवस्था मे आत्मा शरीर से अलग हो सकती है और मृत्यु के पश्चात् आत्मा का अलग अस्तित्व होता है। लेकिन हमको इस सिद्धांत का कोई विकसित स्वरूप प्राप्त नही होता कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा एक शरीर मे दूसरे शरीर मे प्रवेश कर जाती है। शतपथ ब्राह्मण मे इस प्रकार का उल्लेख आता है कि जो सम्यक् ज्ञान के साथ उचित कर्म नही करते हैं वे मृत्यु के पश्चात् पुन जन्म लेते हैं और पुन मृत्यु को प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद के एक सूक्त (10-58) के मत्र के अनुसार "मनुष्य की आत्मा का अथवा मन का जो सभवत अचेतन है, पुन आह्वान सूर्य, आकाश एव वनस्पतियो से किया गया है। अनेक सूक्तो मे अन्य लोको की कल्पना भी की गई है जिनके सम्बन्ध मे यह विश्वास किया गया है कि जो मनुष्य यज्ञादि कर्मकाण्ड भक्तिपूर्वक करते हैं उन लोगो को सारे भौतिक एव आत्मिक सुख प्राप्त होते हैं और अन्धकारमय नरक की कल्पना भी की गई जहाँ पापियो को उनके पापो का दण्ड प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जो मृत्यु को प्राप्त हो गए हैं उनको दो अग्नियो को बीच से पार करना पडता है, जो पापियों को जला देती है और पुण्यात्मा को किसी प्रकार का कष्ट नही देती है।"[1] ऐसा भी उल्लेख है कि मृत्यु के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति को फिर जन्म धारण करना पडता है और उसके पूर्वजन्म के कृत्यो की मीमासा की जाती है अथवा उसको तोला जाता है और तदनुसार उसके शुभ व अशुभ कर्मों के लिए यथाविधि दण्ड अथवा पुरस्कार दिया जाता है। इस प्रकार यह अध्ययन करना सरल है कि इन बिखरे हुए विचारो मे शुभ अशुभ कर्मों के फलाफल के उस दर्शन का प्रारम्भिक सूत्रपात इस काल से होता है जिसको हम पुनर्जन्मवाद के नाम से पुकारते हैं। यह कल्पना कि मनुष्य अनेक कर्मों के अनुसार दूसरे ससार अथवा इसी ससार मे पुनर्जन्म के द्वारा सुख अथवा दुख प्राप्त करता है, नैतिक अथवा धार्मिक सिद्धान्त के रूप मे प्रथम बार सामने आती है। यद्यपि ब्राह्मणो के युग मे 'शुभ कर्म का तात्पर्य मुख्यत यज्ञादि क्रियाओ के करने के सम्बन्ध मे प्रयुक्त होता था तथा अन्य श्रेयस्कर कर्म अथवा भलाई के कार्य करने की अवधारणा उस समय विकसित नही थी। मनुष्य के मानवीय सुख और दुख के अशुभ कर्मों के साथ सभावित सम्बन्ध की कल्पना और विश्व का सचालन करने वाला अटल नियम और व्यवस्था ऋत नाम की महान् शक्ति की अवधारणा के साथ उद्भूत होती गई, इन दोनो भावनाओ से कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धात का विकास इस काल मे हुआ। ऋग्वेद मे 'आत्मा' के तात्पर्य मे मनस्, आत्मा एव असु शब्दो का प्रयोग हुआ है। आगे चलकर भारतीय विचारधारा मे 'आत्मा' शब्द सुप्रचलित हो गया। इसका अर्थ वेदो मे जीवन देने वाली प्राण-शक्ति से है। मन भावनाओ और विचारों का उद्गम स्थान है और सभवत जैसा मेक्डुनल कहते हैं—इसका स्थान हृदय माना गया है।[2] यह समझना कठिन है कि आत्मा अर्थात् प्राण वायु जो एक

---

1 देखें, शतपथ ब्राह्मण 1, 9, 3 तथा मेक्डुनल, कृत 'वैदिक माइथौलोजी', पृ० 166-167।

2 मेक्डुनल, 'वैदिक माइथौलोजी', पृ० 166, और ऋग्वेद 8, 89।

अलग होने वाले अंग के समान मृतक के शरीर को छोड़ देती है, मनुष्य और विश्व में एक मात्र व्याप्त महान् शक्ति के रूप मे किस प्रकार मानी जाने लगी। ऋग्वेद में एक स्थल है जहाँ कवि ने अन्तरतम रहस्य मे प्रवेश करते हुए क्रमशः गहराई में जाकर पहले 'असु' फिर रक्त तक पहुँचना बताया, तदनन्तर 'आत्मा' को सबसे सूक्ष्म, गहनतम तत्त्व बताया। उसे विश्व की अन्तरतम चेतन शक्ति के रूप मे देखा। "सर्वप्रथम जन्म प्राप्त करने वाला अस्थि सहित शरीर किस प्रकार अस्थिरहित से जन्मा, यह किसने देखा और अनुभव किया (अर्थात् स्वरूपरहित प्रकृति मे से सशरीर पदार्थों को जन्म लेते हुए किसने देखा ?) प्राण, रक्तमय शरीर और आत्मा कहाँ थी और कहाँ से उत्पन्न हुई ? इस विषय को जानने के लिए कौन उस विद्वान् के पास जाएगा जो इसको जानता है।"[3] यद्यपि तैत्तिरीय आरण्यक मे प्रथम अध्याय के 23वे मन्त्र मे ऐसा कथन है कि प्रजापति ने पहले अपने आप में से विश्व को प्रकृति के रूप मे जन्म दिया और फिर उसकी आत्मा के रूप मे स्वयं उसमे प्रवेश किया। तैत्तिरीय ब्राह्मण ने आत्मा को सर्वव्यापक माना है और यह कहा है "जो इस आत्मा को जानता है वह पाप मे लिप्त नही होता।" इन शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रागुपनिषदिक वैदिक साहित्य में आत्मा को मनुष्य के प्राण वायु के रूप मे, फिर विश्व की चेतन शक्ति के रूप में, तत्पश्चात् मनुष्य की चेतन शक्ति के रूप मे माना गया है। इस अन्तिम स्थिति से ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य की आत्मा को ही क्रमशः विश्व में सर्वव्यापक महान् शक्ति के रूप मे देखा गया है जिसके ज्ञान से मनुष्य पाप-रहित एवं निर्मल हो जाता है।

उपसंहार

ऋग्वेद दर्शन के क्रमिक उद्‌विकास की विवेचना मे ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम विचारों का एक ऐसा क्रम विकसित हुआ जिसमे सारे ब्रह्मांड को विभिन्न अंगों के समन्वय के रूप मे अथवा विभिन्न अंगो से बनी हुई एक कृति के रूप में देखा गया। किन्तु इसका सृजन एक ऐसी शक्ति के द्वारा हुआ माना गया जो विश्व में ओत-प्रोत है फिर भी इस विश्व के ऊपर है, उससे महान् है और उससे परे। जिज्ञासा और शकालुता की भावना जो दर्शनशास्त्र की जननी है और कभी-कभी इतनी प्रबल हो उठती है कि सृष्टि के आधारभूत विषय पर भी प्रश्न करना प्रारम्भ कर देती है—"यह कौन जानता है कि इस विश्व की कभी रचना भी की गई अथवा नही ?" दूसरी ओर यज्ञादि के कर्मकाण्ड के विकास के साथ-साथ एक अटल और विशिष्ट नियम की धारणा भी स्थापित हुई। वह यह थी कि यज्ञादि कर्म का प्रभाव और फल निश्चित रूप से मिलेगा। इस कारण देवताओं के इस विश्व के अनन्य स्वामी होने की धारणा और उनका महत्त्व कम होने लगा और इस प्रकार क्रमश [illegible] व दे भावनाओं से होकर अद्वैतवादी धाराओं का प्रचलन होने लगा।
[illegible] ौर जन्मा जो आत्मा सम्बन्धी था। मनुष्य की आत्मा को ऐसी

[illegible] का लेख 'आत्मा' पर, (एनसाइक्लोपिडिया आव

शक्ति के रूप मे माना गया जो अपने मानवीय शरीर से अलग है और दूसरे लोक मे भी अपने अच्छे और बुरे कर्मो के अनुसार सुख और दु ख प्राप्त करती है। यह सिद्धात कि मनुष्य की आत्मा वृक्षादि एव मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणियो मे भी प्रवेश कर सकती है अनेक स्थलो पर सकेतित मिलता है। इस प्रकार उत्तरकालीन पुनर्जन्म के सिद्धांत का सूत्र-पात इस काल मे हो जाता है। आत्मा को एक स्थान पर विश्व की चेतन शक्ति के रूप मे बताया गया है और जब हम इनकी कल्पना को ब्राह्मणो मे और आरण्यको तक आकर देखते हैं तो प्रकट होता है कि वहाँ आते-आते आत्मा की धारणा विश्व और मनुष्य दोनो मे व्याप्त महान् चेतन शक्ति के रूप मे विकसित हो गई। इस प्रकार उपनिषदो मे महान् आत्मा का जो सिद्धात है उसका प्रारम्भिक स्वरूप इस काल मे ही परिलक्षित हो जाता है।

अध्याय 3

प्रारम्भिक उपनिषदें[1]
(700 ई० पू० से 600 वर्ष ई० पू०)

वैदिक साहित्य में उपनिषदों का स्थान

साधारणतया ऐसा माना जाता है कि उपनिषद् आरण्यकों के परिशिष्ट के रूप मे है और आरण्यक ब्राह्मणों के उपग्रन्थ है। लेकिन यह कहना ठीक नही होगा कि ब्राह्मणो, आरण्यको और उपनिषदो को सदैव मूलत· भिन्न शास्त्रो के रूप में ही माना गया। कई स्थानो के जिस विषय के सम्बन्ध मे हम यह आशा करते है कि वह ब्राह्मणों में वर्णित होना चाहिए वह आरण्यकों में उपलब्ध होता है और आरण्यको की सामग्री को उपनिषदों की शिक्षाओं मे समाविष्ट कर दिया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ये तीनों साहित्य एक ही विकास श्रृंखला की कड़ियाँ हैं और एक ही साहित्य के रूप मे इनको स्वीकार किया गया है, यद्यपि उनके वर्ण्य-विषय विभिन्न है। ड्यूसन के अनुसार—"इनके विभाजन का सिद्धांत इस प्रकार है: ब्राह्मण ग्रन्थ गृहस्थियों के लिए ही लिखे गए। आरण्यक वानप्रस्थों के वृद्धावस्था में गार्हस्थ्य जीवन के उपरान्त प्रयोग हेतु वनाए गए और उपनिषद् विश्व-वंधन का परित्याग करने वाले मुमुक्षु सन्यासियों के लिए निर्दिष्ट किए गए हैं।" इस

---

1. **टिप्पणी :**

उपनिषदों की संख्या 112 वतायी जाती है। जिन उपनिषदो को निर्णय सागर प्रेस ने 1917 मे प्रकाशित किया है वे उपनिषद् इस प्रकार हैं—

(1) ईश (2) केन (3) कठ (4) प्रश्न (5) मुंडक (6) माडूक्य (7) तैत्तिरीय (8) एतरेय (9) छान्दोग्य (10) वृहदारण्यक (11) श्वेताश्वतर (12) कौपीतकि (13) मैत्रेयी (14) कैवल्य (15) जावाल (16) ब्रह्म विन्दु (17) हंस (18) आरूणिके (19) गर्भ (20) नारायण (21) नारायण (22) परम हंस (22) ब्रह्म (24) अमृतनाद (25) अथर्वशिरस (26) अथर्वशिखा (27) मैत्रायणी (28) वृहज्जावाल (29) नृसिहपूर्वतापिनी (30) नृसिहोत्तरतापिनी (31) कालाग्निरुद्र (32) सुवाल (33) क्षुरिका (34) यन्त्रिका (35) सर्वसार (36)निरालम्व (37) शुकरहस्य (38) वज्र सूचिका (39) तेजो बिन्दु (40) नाद विन्दु (41) ध्यान विन्दु (42) ब्रह्म विद्या (43) योग तत्त्व (44) आत्मवोध (45) नारद परिव्राजक (46) त्रिशिखि ब्राह्मण (47) सीता (48) योग कुमुदिनी (49) निर्वाण (50) मंडल ब्राह्मण (51)

साहित्यिक वर्गीकरण की बात को छोड दिया जाए तो यह कहा जा सकता है कि उपनिषदो को प्राचीन भारतीय दार्शनिको ने वैदिक साहित्य के रूप मे स्वीकार किया जिसमे ज्ञान-माग की चर्चा है जबकि वेदो का विषय कर्मकाण्ड है। पौराणिक हिन्दू मतानुसार वेद शास्त्रो मे जो कुछ लिखा गया है वह धार्मिक कर्तव्यो के विधि के रूप मे अर्थात् उन कर्तव्यो के विधान के रूप में है जिनको करना चाहिए, और उन कार्यो के निषेध के रूप मे हैं जिनको निषिद्ध कर्म की सज्ञा दी गई है। कथा अथवा दृष्टांतो के रूप मे जो कुछ कहा गया है वह भी इस हेतु से है कि उनसे मनुष्य धार्मिक कर्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करे और जो नही किये जाने वाले निषिद्ध कर्म हैं उनके द्वारा मिलने वाले कष्ट के फल को दृष्टि मे रखते हुए शिक्षा प्राप्त करें। किसी व्यक्ति को वैदिक निर्देशो के ऊपर शका करने का अधिकार नही है क्योंकि वेद तर्का मे परे हैं और क्योकि बुद्धि वैदिक विधि-विधान और ज्ञान को समझने मे समर्थ नही है, अत वेद ईश्वरीय आदेश और निषेध के रूप मे प्रकट किये गये हैं जिसमे कि

दक्षिणमूर्ति (52) शरभ (53) स्कन्द (54) त्रिपाद् विभूति महानारायण (55) अद्वयतारक (56) राम रहस्य (57) राम पूर्व तापिनी (58) रामोत्तर तापिनी (59) वसुदेव (60) मुद्गल (61) शाडिल्य (62) पिंगल (63) भिक्षुक (64) महा (65) शारीरक (66) योग शिखा (67) तुरीयातीत (68) सन्यास (69) परम हस परिव्राजक (70) अक्षमाला (71) अव्यक्त (72) एकाक्षर (73) अन्नपूर्णा (74) सूर्य (75) अक्षि (76) अध्यात्म (77) कुंडिक (78) सावित्री (79) आत्मा (80) पाशुपत ब्रह्म (81) पर ब्रह्म (82) अवधूत (83) त्रिपुर तापिनी (84) देवी (85) त्रिपुरा (86) कठरुद्र (87) भावना (88) रुद्र हृदय (89) योग कुडली (90) भस्म जावाल (91) रुद्राक्ष जावाल (92) गणपति (93) जावाल दर्शन (94) तार सार (95) महावाक्य (96) पञ्च ब्रह्म (97) प्राणाग्निहोत्र (98) गोपाल पूर्व तापिनी (99) गोपालोत्तर तापिनी (100) कृष्ण (101) याज्ञवल्क्य (102) वाराह (103) शाट्यायनीय (104) हयग्रीव (105) दत्तात्रेय (106) गरुड (107) कलिसतरण (108) जावालि (109) सौभाग्यलक्ष्मी (110) सरस्वती रहस्य (111) वहवृच (112) मुक्तिक।

औरगजेब के भाई दाराशिकोह द्वारा अनूदित उपनिषदो के सग्रह मे 50 उपनिषद् हैं। मुक्तिक उपनिषद् मे 108 उपनिषदो की सूची दी हुई है। प्रथम 13 उपनिषदो को छोडकर बाकी सभी उपनिषद् उत्तरकालीन हैं। इस अध्याय मे जिन उपनिषदो का वर्णन है वे सब प्रारम्भिक उपनिषद् हैं। उत्तरकालीन उपनिषदों मे कुछ ऐसी हैं जो इन प्रारम्भिक उपनिषदो की विषय-वस्तु को ही दोहराते या उद्धृत करते हैं और कुछ ऐसे हैं जो शैव तत्र योग और वैष्णव सिद्धातो का निरूपण करते हैं। इन उपनिषदो का सदर्भ-निरूपण उन सिद्धातो के विवेचन के साथ इस ग्रन्थ के भाग दो मे किया जाएगा। वे उत्तरकालीन उपनिषद् जो उन उपनिषदों की विषय-वस्तु की पुनरावृत्ति करती हैं जिनका कि इस अध्याय मे वर्णन किया गया है, उसका पुन विस्तृत उल्लेख आवश्यक नही समझा गया है। उत्तरकालीन उपनिषदों में से कुछ ऐसी भी हैं जो 14वी अथवा 15वी शताब्दी मे लिखी गयी हैं।

मनुष्य मात्र आनन्द का सत्य मार्ग धारण कर सके। अत: वैदिक शिक्षा कर्म मार्ग की ओर अग्रसर करती है और वैदिक यज्ञ कर्मकाण्ड आदि के करने की प्रेरणा देती है। दूसरी ओर उपनिषद् किसी कर्मकांड का विधान नही करती वरन् शाश्वत सत्य एवं यथार्थ का निरूपण करती हैं जिसके ज्ञान से मनुष्य बन्धनों से मुक्त हो जाता है। हिन्दू दर्शन के ज्ञाता इस बात से भलीभाँति अवगत है कि वेदों के अनुयायी और वेदान्ती अर्थात् उपनिषद् मतावलंबी व्यक्तियों में सदैव से तीव्र विवाद रहता आया है। वैदिक शास्त्री अनेक स्थलों के आधार पर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि उपनिषद् वेदों से भिन्न कोई वस्तु नही है और उनका मत यह नही है कि कर्मकाण्ड नही करना चाहिए। इनके अनुसार उपनिषदों में कर्मकांड के अनेक महत्त्वों को वर्णित किया गया है जबकि वेदान्तियो का मत है कि उपनिषद् वेद शास्त्रों से परे है और कर्मकाण्ड को स्थान न देते हुए सुपात्र जिज्ञासुओं को ज्ञान के मार्ग के द्वारा शाश्वत सत्य की अनुभूति का आनन्द प्रदान करती है। उपनिषदो के महान् भाष्यकार श्री शंकराचार्य कहते है कि उपनिषद् उन ज्ञानियो के लिए है जो सांसारिक एवं भौतिक सुखों से उपरत हो गए हैं और जिनके लिए वैदिक कर्मकाण्ड का कोई विशेष प्रयोजन नही रहा है। ऐसे सुपात्र व्यक्ति कही भी हों, चाहे वे विद्यार्थी हों, गृहस्थ हो अथवा संन्यासी, उनके अन्तिमत: मोक्ष के लिए उपनिषद् सत्य ज्ञान का प्रकाश देती हैं। जो वैदिक कर्मकाण्ड अनुष्ठानादि करते है वे निम्न स्तर पर हैं। परन्तु जिनके हृदय मे कोई अभिलाषा और कामना नही रह गयी है और जो निष्काम भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करना चाहते है उपनिषद् का अध्ययन करने के लिए वे ही सुयोग्य पात्र हैं।[1]

उपनिषदों के नाम : ब्राह्मणेतर प्रभाव

उपनिषदों को वेदान्त के नाम से पुकारा जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि वे वेद के अन्तिम भाग है। अत: उपनिषदों का दर्शन वेदान्त दर्शन के नाम से प्रचलित है। उपनिषदों की भाषा शास्त्रीय संस्कृत है और उनके उद्देश्यो से भी ज्ञात होता है कि उस युग मे महानतम बौद्धिक दर्शन के सत्य प्रतीक उपनिषद् ही है। क्योकि ये वेदो के उपसंहार के रूप मे लिखे गये थे अत: वेद की जिस शाखा के अन्तर्गत किसी दर्शन विशेष का अध्ययन किया गया था उस शाखा के वैदिक शब्दों व नामावली का प्रयोग भी उस दर्शन विशेष में पाया जाता है।[2] इस प्रकार जो उपनिषद् ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मणो

---

1. अधिकार भेद के सम्बन्ध में ऐसा कहा गया है कि जो अनुष्ठान आदि करते हैं वे उपनिषदों को सुनने के योग्य पात्र नही होते हैं और जो उपनिषदो का श्रवण एवं मनन करते है उनको यज्ञादि करने की आवश्यकता नही।
2. संहिताओं के पाठ निश्चित हो जाने के पश्चात् देश के विभिन्न भागों मे इन्हें कंठस्थ कर लिया गया और शिष्यों ने अपने गुरुओं से इस ज्ञान को प्राप्त किया। इसके साथ ही गुरुओं द्वारा यज्ञ, कर्मकाण्ड आदि के सम्बन्ध में विशेष विवरणों को गद्य मे लिखा गया जिनको ब्राह्मण नाम से पुकारा जाने लगा। इस ब्राह्मणीय गद्य साहित्य मे स्थान-स्थान पर विभिन्न वेदपाठियों के आवश्यकतानुसार अनेक परिवर्तन होते रहे

मे सम्बद्ध हैं उन्हें ऐतरेय और कौषीतकि उपनिषद् के नाम से पुकारा जाता है। सामवेद के तलवकार एव ताड्य ब्राह्मणो से सम्बन्धित उपनिषद् तलवकार (केन) एव छान्दोग्योपनिषद नामो से जाने जाते है। यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से तैत्तिरीय और महानारायण उपनिषद्, कठ शाखा से काठक उपनिषद् और मैत्रायणी शाखा मे मैत्रायणी उपनिषद् का प्रादुर्भाव माना जाता है। शतपथ ब्राह्मण की वाजसनेयी शाखा से बृहदारण्यक उपनिषद् की उत्पत्ति मानी जाती है। ईशोपनिषद् भी शतपथ ब्राह्मण से सबद्ध मानी जाती हैं। लेकिन श्वेताश्वतर उपनिषद् किस शाखा से सबन्धित है यह नही जाना जा सका है। हो सकता है वह शाखा लुप्त हो गई हो। इन उपनिषदो के बारे मे ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये शाखा विशेष के दार्शनिक चिन्तन का प्रतिनिधित्व करती हैं। उत्तरकालीन उपनिषदो मे से अधिकाश अथर्ववेद से अपनी ज्ञान धाराओ का प्रकाश प्राप्त कर सकती है और इनमे से अधिकतर वैदिक शाखा के नाम की सज्ञा ग्रहण न कर किसी विशेष विषय का अध्ययन करती हैं। उन्ही के अनुसार उनके नाम रखे गये हैं।[2]

यहाँ यह उल्लेख अप्रासगिक नही होगा कि उपनिषदो मे स्थान-स्थान पर ऐसे स्थल आए हैं, जिनके अनुसार कई बार ब्राह्मण क्षत्रियो से उच्चतम दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए गये और पाली ग्रन्थो मे ऐसे प्रसग भी मिलते हैं जिनमे जनसाधारण की दार्शनिक जिज्ञासा का अनुमान लगाया जा सकता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि क्षत्रियो मे उस समय दार्शनिक ज्ञान प्राप्त करने की उत्कट जिज्ञासा थी और ऐसा भी लगता है कि उपनिषदो के निर्माण मे जिज्ञासा और उत्कठा ने अच्छा प्रभाव डाला है। साधारणतया उपनिषदो की शिक्षा ब्राह्मण ग्रन्थों की शिक्षा से एकदम अलग नहीं मानी जाती तथापि इस अनुमान मे सत्यता का अश हो सकता है कि यद्यपि उपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थो की परम्परा के अनुसार हैं फिर भी उनके विकास मे ब्राह्मणेतर चिन्तन का भी पर्याप्त प्रभाव रहा है और सम्भवत या तो उपनिषद् के सिद्धान्तो का सूत्रपात इस विचारधारा के कारण ही हुआ हो, अथवा उनकी ज्ञान परम्परा के परिपक्व होने मे उसने पर्याप्त योगदान दिया हो। वैसे इन्हे अन्तिमत सुललित ज्ञानमय रूप ब्राह्मणों के हाथों ही मिला।

ब्राह्मण और प्रारंभिक उपनिषद्

दर्शन साहित्य के इतिहास मे भारतीय चेतना का ब्राह्मणों के युग मे उपनिषद् युग मे प्रवेश करना एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। हम यह जानते हैं कि वैदिक सूक्तो मे एकेश्वरवाद की अत्यन्त सुन्दर भावना का विकास पाया जाता है परन्तु इनका स्वरूप

जिसके कारण उन ब्राह्मण ग्रन्थो के पाठो मे भी अनेक प्रकार के विभेद पाये जाते हैं जो एक ही वेद शाखा से सम्बन्धित हैं। ये विभिन्न मत उन विशेष शाखाओ के नाम से पुकारे जाते थे जैसे ऐतरेय अथवा कौषीतकि जिनसे इन ब्राह्मण ग्रन्थों का सबध था। इसी प्रकार ब्राह्मणो की विभिन्न शाखाओ के मतानुसार उपनिषदो के आकार मे भी अन्तर पाया जाता है।

2 गर्भोपनिषद्, आत्मोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद् आदि इसके उदाहरण हैं। इसके कुछ अपवाद भी हैं—जैसे माण्डूक्य, जाबाल, पैंगल, शौनक आदि।

उपनिषद् के कट्टर अद्वैतवाद से उसी प्रकार भिन्न है जैसे टालमीय सिद्धान्त एवं कोपरनिकस की ज्योतिष प्रणालियाँ अलग-अलग है। विश्वकर्मा और हिरण्यगर्भ की उपनिषद् के आत्म और ब्रह्मा से समानता अथवा तुलना करना कठिन प्रतीत होता है परन्तु मैं यह मानने के लिए तैयार हूँ कि आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त के विकास के होने के पश्चात् उसका वैदिक सिद्धान्तों के इन देवताओं के स्थान पर एक मात्र तत्त्व की अवधारणा के रूप में छा जाना सम्भव है। किसी भी प्रारम्भिक उपनिषद् मे विश्वकर्मा हिरण्यगर्भ या ब्रह्मणस्पति का कोई एक उल्लेख नही पाया जाता न ऐसा कोई प्रसंग पाया जाता है कि उन्हें उपनिषदों की अवधारणाओं के साथ जोडा जा सकता हो।[1] उपनिषद् में पुरुष शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों में आता है परन्तु उसका अर्थ और व्याख्या ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त मे प्रयुक्त पुरुष शब्द के अर्थ से एक दम भिन्न है।

ऋग्वेद मे विश्वकर्मा का वर्णन ऐसे सृष्टिकर्ता के रूप मे आता है जो चल अचल जगत की घटनाओं का कारण है और जिसकी उपासना भौतिक सुखों को प्राप्त करने के लिए की जाती है। 'सब कुछ जानने वाले अन्तर्यामी विश्वकर्मा ने अपनी महान् शक्ति से किस स्थिति, किस कारण और किस सिद्धान्त से इस पृथ्वी और आकाश को जन्म दिया। उस एक देव ने जिसके अनेक मुख है और प्रत्येक दिशा में जिसकी भुजाएँ और जिसके चरण स्थित है, उसने इस आकाश और पृथ्वी को उत्पन्न करते समय अपने बाहुओं तथा पैरों से विशेष स्वरूप दिया। हे विश्वकर्मन् आप अपने आराधकों को अपने वे उत्तम लोक दीजिए जो सर्वोच्च हैं अथवा जो आकाश और पृथ्वी पर स्थित हैं, आप हमे उदारचेता पुत्र दीजिए।,'[2] ऋग्वेद के 10 वें मण्डल के 82 वे सूक्त मे पुनः उल्लेख आता है—"विश्व-कर्मा ज्ञानमय, शक्तिमय, सृष्टिकर्ता, विधाता और इन्द्रियातीत है, वह हमारा पिता, कर्त्ता एवं भाग्यविधाता है जो सारे लोकों को और उनमे बसने वाले सारे प्राणियों को जानता है जो प्रकाशमान देवो को उनकी संज्ञा देता है, उस परमात्मा का ज्ञान के लिए सभी प्राणी अवलम्ब ग्रहण करते हैं।"[3] ऋग्वेद के प्रथम मंण्डल के 129 वें सूक्त में हिरण्यगर्भ के संबंध मे ऐसा प्रसग आया है "आदिकाल मे हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति हुई। वह स्वय ही सभी सत् पदार्थों का स्वामी था। उसने पृथ्वी और आकाश की स्थापना की। हम किस देवता को बलि या हविष्य दे। वह हमारी रक्षा करे जो इस पृथ्वी की उत्पत्ति करता है और जिसने निश्चित सिद्धातो के अनुसार राज्य करते हुए स्वर्ग और दीप्तिमान जल को उत्पन्न किया।

---

1. विश्वकर्मा का नाम श्वेताश्वतर 4,17 मे पाया जाता है। इसी ग्रन्थ मे (3 4 और 4 12 हिरण्यगर्भ का प्रयोग सर्व प्रथम जिसको रचा गया हो ऐसे अर्थ मे आता है। सर्वाहंमानी हिरण्यगर्भ शब्द जिसका उल्लेख डियूसन महोदय करते हैं—नृसिंह उपनिषद् 9 में पाया जाता है। ब्रह्मणस्पति शब्द उपनिषदों में किसी भी स्थान पर नही पाया जाता।
2. म्योर की सस्कृत टेक्स्ट भाग 4 पृ० 6,7।
3. वही पृ० 6,7।

हम ऐसे किस देवता को हविष्य अर्पित करें। हे प्रजापति, इस ससार के चर अचर जगत् के आप स्वामी हैं। हम उन वाछित वस्तुओ को प्राप्त करें जिसके लिए हम आपका आह्वान करते हैं। हम समृद्धि को प्राप्त करें।[1] पुरुष के सम्बन्ध मे ऋग्वेद ऐसा उल्लेख करता है—"पुरुष के सहस्त्रो सिर, नेत्र एव सहस्त्रों चरण इस पृथ्वी के चारो और परि-व्याप्त हैं और वह दश अगुलि के आकार से ऊपर को भी उठा। उसने आकाशगामी पक्षियो की एव पालतू पशुओ की भी सृष्टि की" आदि आदि।[2] इसके अन्तिम भाग मे कहा गया है, इस सृष्टि का निर्माण किस मूल तत्त्व और कारण से हुआ अथवा यह सृष्टि उत्पन्न हुई अथवा नहीं हुई, इस तत्त्व को केवल इस सृष्टि का अध्यक्ष जो परलोक मे विद्यमान है वही जानता है अन्य कोई नही।

उपनिषद् की स्थिति इस सम्बन्ध में भिन्न है और इनमें जिज्ञासा का केन्द्र सृष्टि-कर्ता न होकर आत्मा है। वेदो के एकेश्वरवाद का विकास स्वाभाविक रूप से आस्तिकवाद का कोई स्वरूप होना चाहिए न कि यह सिद्धान्त कि आत्मा ही एक मात्र यथार्थ है और यह सर्वोपरि है। यहाँ न तो किसी आराध्य देवता एव आराधक का प्रसग है, न कोई स्तुतियाँ उसकी की गई हैं। केवल महान् सत्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया है और विश्व में सबसे बडे यथार्थ के रूप मे मनुष्य में स्थित आत्मा का उल्लेख किया गया है। दार्शनिक स्थापना मे यह परिवर्तन बडा रोचक एव महत्त्वपूर्ण है। वस्तुवादी चेतना का आत्मवादी चेतना मे किस प्रकार परिवर्तन हुआ उसके सम्बन्ध मे कोई वाद-विवाद, युक्ति तर्क आदि उपनिषदो मे नहीं पाये जाते। मस्तिष्क का अथवा तत् सम्बन्धी बुद्धि का विश्ले-ष और अन्वेषण भी प्राप्त नहीं होता है। इस चेतना को स्पष्ट अन्तर्ज्ञान के रूप मे देखा गया है और जिस गहन विश्वास के साथ इस सत्य को आँका गया है उससे पाठक प्रभावित हुए बिना नही रह सकते। ब्राह्मणो की अर्थहीन कल्पनाओ और अनुमानो से यह सिद्धान्त प्रकट हुआ होगा इस बात पर साधारणतया विश्वास नही होता।

बालाकि गार्ग्य एव अजातशत्रु (बृहदा० 2,1) श्वेतकेतु एव प्रवाहण जैवलि (छान्दोग्य 5,3 एव बृहदा० 6,2) और आरुणि एव अश्वपति कैकेय (छा० 5/11) इन छन्दो के आधार पर गार्बे महोदय का विचार है कि "इस बात को सिद्ध किया जा सकता है कि ब्राह्मणों के ज्ञान की पराकाष्ठा तक पहुँचाने वाला 'एक ब्रह्म' का सिद्धान्त जिसका प्रभाव आधुनिक जीवन धारा तक मे पाया जाता है, केवल ब्राह्मणो के समाज द्वारा प्रति-पादित नही किया गया।"[3] सम्भवत "इस सिद्धान्त की उत्पत्ति क्षत्रिय समाज मे हुई।"[4] यदि यह कथन सत्य है तो फिर ऐसा मानना पडेगा कि उपनिषद्, वेद, ब्राह्मण और

1 वही, पृ० 16-17।

2 म्योर का सस्कृत टेक्स्ट भाग 5 पृ० 368,369। ऋग्वेद (10/129) का वह प्रसिद्ध सूक्त भी उल्लेखनीय है जो इस प्रकार प्रारभ होता है—"सृष्टि के आदि मे न सत् था न असत् न आकाश था और न पृथ्वी।"

3 गार्बे का लेख "हिन्दू मोनिज्म" पृ० 68।

4. वही पृ० 78

ास को प्राप्त हुई लेकिन तथ्यों के आधार पर यह बात कहाँ तक
षण करना पडेगा। गार्बे महोदय ने जिन उक्तियों और प्रमाणों को
उनकी छानबीन करना आवश्यक है। बालाकि गार्ग्य एक आत्म-
ला अभिमानी व्यक्ति है जो क्षत्रिय अजातशत्रु को वास्तविक ब्राह्मण ग्रन्थों का
ज्ञा., चाहता है लेकिन इस विषय में असफल रहता है तो वह उससे शिक्षा लेना चाहता है। इस पर अजातशत्रु उत्तर देता है जो स्वयं गार्बे महोदय के अनुसार निम्न प्रकार है— "यह साधारण परम्परा की विधि है कि एक ब्राह्मण क्षत्रिय से शिक्षा प्राप्त करे और क्षत्रिय उसको ब्रह्म विद्या की दीक्षा दे।"[4] इससे यह स्पष्ट है कि स्वाभाविक परम्परा के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थो की दीक्षा ब्राह्मणो द्वारा क्षत्रियों को दी जाती थी और किसी ब्राह्मण का किसी क्षत्रिय के पास शिक्षा ग्रहण करने जाना असाधारण था। वार्तालाप के प्रारम्भ मे अजातशत्रु ने बालाकि को एक सहस्र स्वर्ण मुद्रा देने का संकल्प किया था यदि वह उसे ब्रह्म-ज्ञान की दीक्षा दे सके क्योंकि साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्म विद्या[2] के सम्बन्ध मे वार्तालाप करने के लिए जनक के पास जाया करता था। दूसरे आख्यान श्वेतकेतु एव प्रवाहण जैवलि से ऐसा स्पष्ट होता है कि आत्मा के पुनर्जन्मवाद के देवयान एवं पितृयान सिद्धान्तो का क्षत्रियो में उद्गम रहा होगा। परन्तु उस उच्च ज्ञान से इसका कोई सम्बन्ध नही है जिसके अन्तर्गत अन्तरात्मा को ब्रह्म के शाश्वत के रूप मे जाना गया है।

आरुणि एव अश्वपति कैकेय (तीसरा अध्याय छान्दोग्य 5) भी अधिक विश्वसनीय नही है। पाँच ब्राह्मण आत्मा एवं ब्रह्म की जिज्ञासा को लेकर उद्दालक आरुणि के पास जाते हैं। पर उसको पूर्ण ज्ञान न होने के कारण वह इन लोगों को लेकर क्षत्रिय नरेश, अश्वपति कैकेय के पास जाता है जो इस विषय का अध्ययन कर रहा था। लेकिन अश्वपति उनको वैश्वानराग्नि के सम्बन्ध मे थोडी बहुत शिक्षा देता है और इसको किए हुए यज्ञो के महत्त्व को बताता है। "यह ब्रह्म ही सत्यात्मा है" इस सम्बन्ध में वह कुछ नही कहता। हमको इस बात पर भी विार करना चाहिए कि बहुत थोडे से ऐसे प्रसंग आते हैं जहाँ क्षत्रिय राजा ब्राह्मणों को शिक्षा देते है परन्तु अधिकांश प्रसंगों मे यही पाया जाता है कि ब्राह्मण ही आत्म ज्ञान के सम्बन्ध में वार्ता एवं उपदेश दिया करते थे। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि गार्बे मोहदय ब्राह्मणो के प्रति कटुता के कारण पूर्ण मनन किए बिना जल्दबाजी में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्रह्म-विद्या क्षत्रिय-प्रणीत थी। विंटरनीज भी कुछ अंश तक गार्बे महोदय से सहमत हैं और उन्होंने भी उपनिषद् के इन्ही दृष्टान्तों का प्रयोग किया है।[3] परन्तु सत्य यह है कि कुछ क्षत्रियों ने और कुछ स्त्रियों ने उपनिषदो में वर्णित धर्म और दर्शन की सत्य सम्बन्धी जिज्ञासा मे रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया था। ये जिज्ञासु इतने उत्सुक थे कि ब्राह्मणो से शिक्षा ग्रहण करने में अथवा जो शिक्षा उन्होने प्राप्त की

---

1. वही, पृ० 75।
2. बृहदा० 4/3 पुनः देखिए याज्ञवल्क्य द्वारा जनक को ब्रह्म ज्ञान का उपदेश।
3. विंटरनीज गेशिष्टे डर इनडीसेन लिटरेचर 1, पृ० 197।

है उस शिक्षा को दूसरों को देने में उन्होंने जाति, लिंग भेद आदि की चिन्ता नही की ।[1] इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नही मिलता कि उपनिषदो का दर्शन क्षत्रिय मे उत्पन्न हुआ अथवा इन उपनिषदो का विकास आरण्यक और ब्राह्मण ग्रन्थो मे नही पाया जा सकता जिनको कि ब्राह्मणो ने लिखा था ।

ब्राह्मण विचारधारा का आरण्यक विचारधारा मे परिवर्तन होना मूल्यो के परिवर्तन का एक दूसरा चरण है । विभिन्न भौतिक सुखो की प्राप्ति के लिए तपस्याचरण एव यज्ञानुष्ठान की बजाय उसके प्रतीक स्वरूप ध्यानोपासनादि पर अधिक बल दिया जाना इस परिवर्तन का स्वरूप है । बृहदारण्यक उपनिषद् (1, 1) मे हम देखते हैं कि अश्वमेध यज्ञ के स्थान पर इस सारे विश्व को अश्व के रूप मे मानकर उसका ध्यान योग द्वारा यज्ञ का निर्देश है । ऊषा अश्व का शिर है, सूर्य उसके नेत्र हैं, वायु उसका प्राण है, अग्नि उसका मुख और वर्ष उसकी आत्मा है और उसी प्रकार अन्य उपमाओ मे एक विराट् रूप का वर्णन किया गया है । कहा है, क्षेत्रो मे चरने वाला अश्व कौन-सा है और उसकी बलि से क्या लाभ है ? उत्तर है, यह प्रवहमान विश्व ही अश्व है जो बुद्धि को चमत्कृत करने वाला है और इस गतिमान प्रकृति का ध्यान ही वास्तविक अश्वमेध यज्ञ है । ध्यान के रूप में विचारों की क्रिया ने यज्ञ के बाह्य स्वरूप और पूजन का स्थान ले लिया । विधि-विहित यज्ञानुष्ठान एव यज्ञ सामग्री आदि का महत्त्व इस युग मे समाप्तप्राय हो गया और उसका स्थान योग, ध्यान आदि ने ग्रहण कर लिया । इसके साथ ही ब्राह्मण वर्ग के यज्ञ अनुष्ठान आदि के साथ-साथ ही प्रतीकात्मक ध्यान-योग प्रणाली का प्रचलन हो उठा था जिसको यज्ञ की पार्थिव क्रिया और कर्मकाण्ड से उच्च समझा जाने लगा था । ये प्रतीक केवल सूर्य, वायु आदि के रूप मे बाह्य विश्व से ही नही लिए गए थे अपितु मनुष्य के शरीर और शरीर के अन्य जीवन तत्त्वो को भी इनके प्रतीक के रूप मे देखा गया । इसके अतिरिक्त कुछ कुछ विशेष अक्षरो को भी प्रतीक रूप मे स्वीकार कर लिया गया और यह विश्वास किया जाने लगा कि इन अक्षर रूपी बीज मत्रो का भी ध्यान और विचार विशेष रूप से श्रेयस्कर है । इस प्रकार यज्ञानुष्ठानो का महत्त्व धीरे-धीरे कम हो रहा था और उनके स्थान पर अनेक रहस्यमय विभिन्न क्रियाएँ अर्थपूर्ण एव कल्याणकारी समझी जाने लगी थीं ।[2] ऋग्वेद मे उल्लिखित एक उक्थ को ऐतरेय आरण्यक ग्रन्थ मे प्राण के रूप में देखा गया है ।[3] सामवेद मे प्रयुक्त उद्गीथ को ओम्, प्राण, सूर्य और नेत्र का रूप माना गया है । छान्दोग्य के दूसरे अध्याय मे साम को ओम्, वर्षा, सलिल, ऋतु, प्राण आदि के रूप मे माना गया है। छान्दोग्य (3 अध्याय 16, 17) में मनुष्य को एक यज्ञ के रूप में वर्णित किया है । उसके जीवन मे भूख, प्यास और दु खो से इस यज्ञ का सस्कार प्रारम्भ होता है । उसकी जीवन-

---

1 याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी की कथा (ब्राह्मण 2,4) और जाबाला के पुत्र सत्यकाम और उसके गुरु की कथा (अध्याय 4/4) ।

2 छान्दोग्य 5/11 ।

3 ऐतरेय आरण्यक 5/11 ।

चर्या में हँसना, बोलना और भोजन ग्रहण करना यही मंत्रों का उच्चारण है। सत्य, अहिंसा, श्रद्धा, दानशीलता एवं साधुवृत्ति इस यज्ञ की दक्षिणा है। सुसंस्कृत, वैदिक भारतीय का मस्तिष्क उर्वर और सुसमृद्ध था और वे चाहते थे कि वह किसी एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच जाए परन्तु विचारों में और चिन्तन में युक्ति-संगत तार्किक प्रणाली का विकास नही हुआ था और उसके फलस्वरूप हमे आरण्यकों में बडे अद्भुत एवं काल्पनिक रूपक और संयोजन मिलते हैं जिनका वास्तव मे एक दूसरे से कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। किसी भी कार्य के लिए किमी भी प्रकार की कारणता प्रस्तुत करना निश्चित तादात्म्य के रूप में माना जाता था। ऐतरेय आरण्यक (2, 1-3) मे एक एक सन्दर्भ मिलता है जिसमें कहा गया है "तत्पश्चात् भोज्य पदार्थो के उद्गम का विपय आता है।" देवताओं से प्रजापति की उत्पत्ति हुई। वर्पा से देवता की उत्पत्ति हुई, वनस्पति से वर्पा उत्पन्न हुई। अन्न से वनस्पति वनी। अन्न का उत्पादक बीज है। और प्राणियों से अन्न की उत्पत्ति हुई। प्राणियो का मूल हृदय है। हृदय का मूल मन है। "मन का मूल वाक् है। वाक् का मूल कर्म है। कर्म का मूल मनुष्य है जो ब्रह्म का निवास है।"[1]

भाष्यकार सायण के अनुमार 'ब्रह्म' के इतने अर्थ है—मंत्र, यज्ञ अथवा अनुष्ठान, होता, पुरोहित एव महान्। हिलेब्रांत वताते हैं कि ऋग्वेद मे ब्रह्म के सम्बन्ध मे कहा गया है कि वह अभूतपूर्व है एव पितरो द्वारा उत्पन्न माना गया है। इसका उद्गम ऋत से है, यज्ञ की ध्वनि के साथ यह उत्पन्न होता है। मन्त्रोच्चार के द्वारा सवन पर्व मनाने के अवसर पर सोम रस की उत्पत्ति के साथ ब्रह्म प्रकट होता है। देवताओं की सहायता से अनेक युद्धों में सोम द्वारा रक्षित एवं स्थिर रहता है। इन मन्त्रों के आधार पर हिलेब्रांत, हॉग महोदय के इस अनुमान की सत्यता पुष्ट करते है कि ब्रह्म एक रहस्यमय शक्ति है जिसका आह्वान अनेक प्रकार के अनुष्ठानो के द्वारा किया जा सकता है और उनकी परिभापा के अनुसार ब्रह्म वह विचित्र शक्ति है जो विधिपूर्वक उच्चारित मंत्र श्लोकादि एवं यज्ञाहुतियों द्वारा आह्वान की जाती है अथवा उनसे प्रकट होती है।[2] मेरे विचार से यह अर्थ आरण्यक उपनिपदो मे आए हुए अनेक सदर्भों के अर्थ से साम्य रखता है। इन संदर्भो मे जो अर्थ आया है उसके अनुसार इसको रहस्यमय विचित्र शक्ति और महान् शक्ति के रूप मे देखा गया है। इन दोनों अर्थो मे परिवर्तन हो जाना कठिन नही है अर्थात् रहस्यमय शक्ति को महान् शक्ति के रूप मे माना जा सकता है। यज्ञो का महत्त्व कम होने के पश्चात् भी जिनका स्थान मनन और ध्यान ने ग्रहण कर लिया था, यज्ञ की शक्तियो के वारे मे विश्वास लुप्त नही हुआ था। इसके फलस्वरूप उपनिपदो मे अनेक स्थलों में वर्णन आया है कि इस महान् शक्ति ब्रह्म का अनेक व्यक्ति ध्यान, चिन्तन और मनन करते हैं। इस ब्रह्म को अनेक प्रतीको के रूप मे देखा जाता है जिसमें मानवीय शरीर के कार्यकलाप एवं प्राकृतिक वस्तुओं को सम्मिलित किया गया है।

---

1. ऐतरेय आरण्यक का कीथ कृत अनुवाद।
2 ब्रह्म पर हिलेब्रांत का लेख (ई०आर०ई०)।

यज्ञ क्रियाओं से रुचि हटकर जब ध्यान और चिन्तन मे विशेष रूप से निहित होने लगी तब यज्ञो की विशिष्ट क्रियाओ को शारीरिक क्रियाओं के साथ नियोजित करते हुए ब्रह्म को इन क्रियाओ के द्वारा समझने का प्रयत्न किया जाने लगा। इन क्रियाओं के सम्यक् ज्ञान के बिना ब्रह्म को समझना और प्राप्त करना कठिन है। पचाग्नि विद्या के अर्थो, प्रयोगो एव शरीर क्रियाओं द्वारा किए जाने वाले यज्ञो के रूपक मे पुन पुन उल्लेख किए जाने से यह सिद्ध होता है कि बहुत से लोग ऐसा सोचने लगे थे कि ध्यान के बिना कोई यज्ञ अथवा अनुष्ठान सफल नहीं हो सकता। ऋषियो ने जब इस महान् सत्य का दर्शन किया कि वह मनुष्य ज्ञान-रहित है जो देवताओं के अस्तित्व को मनुष्य के अस्तित्व मे भिन्न देखता है। जिस प्रकार मनुष्य अनेक पशुओं से पोषण प्राप्त करता है उसी प्रकार देवता भी मनुष्यो से पोषण प्राप्त करते हैं और जिस प्रकार यह मनुष्य को अरुचिकर होता है कि उसके पशुओं का हरण कर लिया जाए, उसी प्रकार देवताओ को यह अरुचिकर है कि मनुष्य इस महान् सत्य को पहचाने।[1]

केन उपनिषद् मे यह बतलाया गया है कि देवताओ की सारी शक्ति ब्रह्म पर निर्भर है जैसे अग्नि की दाहक शक्ति, वायु की बहने की शक्ति। ब्रह्म के द्वारा ही सारे देवता और मनुष्य विभिन्न क्रियाकलापो मे सलग्न होते हैं। उपनिषदो का सारा विचारक्रम यह प्रकट करता है कि यज्ञ के द्वारा उत्पन्न रहस्यमय शक्ति जो ऋत के साथ सबधित है वह विश्व की सर्वोपरि शक्ति है। उपनिषदो मे अनेक कथाएँ आती है जिनके द्वारा ब्रह्म नाम की महान् शक्ति की खोज मे अनेक लोगो ने इसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। जिसको प्रारम्भ मे पूर्णरूपेण बहुत कम लोग ठीक रूप से समझ सके थे। इन लोगो ने ब्रह्म को एक आश्चर्यजनक प्रभावकारी शक्ति के रूप मे देखा। सूर्य, चन्द्र एव मनुष्य की चेतना शक्ति के रूप मे, अनेक प्रतीको के रूप मे इस ब्रह्म शक्ति को उन लोगो ने समझने का प्रयत्न किया और सम्भवत कुछ समय तक उनको यह सतोष रहा कि उनका ज्ञान कुछ सीमा तक पर्याप्त है। परन्तु शनै शनै अनुभव करने लगे कि यह ज्ञान अपूर्ण है और अन्त मे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ब्रह्म मनुष्य की अन्तरतम चेतना मे निवास करता है।

उपनिषद् शब्द का अर्थ

उपनिषद् शब्द 'सद्' धातु से बना है जिसमे 'नि' प्रत्यय लगा हुआ है। मेक्समूलर के अनुसार इसका प्रारंभिक अर्थ गुरु के समीप उपदेश सुनने के लिए श्रद्धापूर्वक बैठना है। उपनिषद् की भूमिका मे उन्होंने कहा है—सस्कृत भाषा के इतिहास और सस्कृति के अनुसार यह निश्चित ही है कि उपनिषद् का प्रारंभिक अर्थ एक ऐसी गोष्ठी से था जिसमे शिष्य गुरु के चारो ओर आदर और श्रद्धा के साथ एकत्रित होते थे।[2] ड्यूसन महोदय

---

1 बृहदा० 1/4/10।

2 मेक्समूलर कृत "ट्रांसलेशन ऑव दि उपनिषद्स" (सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट) खड 1, पृ० 81।

अपने ग्रन्थ उपनिपदो के दर्शन मे कहते है कि इस शब्द का रहस्य अथवा रहस्यमय उपदेशक के रूप में था और यह अर्थ उपनिपदों के अनेक सदर्भों से सिद्ध होता है । मेक्समूलर महोदय भी ड्यूसन के अर्थ की पुष्टि करते है ।[1] उपनिपदों मे इस प्रकार का आदेश है कि व्रह्म ज्ञान के रहस्य को प्रकट करना उचित नही, यह ज्ञान ऐसे पात्र को देना चाहिए जिसने यम, नियम और संयम के द्वारा अपने आपको योग्य पात्र के रूप मे सिद्ध किया हो । उपनिपदो के महान् भारतीय भाष्यकार शकराचार्य ने उपनिपद् शव्द को 'सद्' धातु से लिया है जिसका अर्थ किया है—जो नष्ट करता है । उन्होने कहा है कि उपनिपद् भ्रम और अज्ञान को नष्ट करती है और सत्य ज्ञान के दर्शन से मोक्ष की प्राप्ति मे सहायता करती है परन्तु यदि हम अपनी उपनिपदो में आए हुए उपनिपद् शव्द का मनन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ड्यूसन महोदय का अर्थ ही उचित एव मान्य है ।[2]

विभिन्न उपनिषदों का निर्माण एवं विकास

प्राचीनतम उपनिपद् गद्य मे लिखी हुई है । इनके पश्चात् हमे वे उपनिपद् मिलती है जो लौकिक संस्कृत श्लोकों से मिलते हुए श्लोकों में लिखी हुई हैं । जैसाकि स्पष्ट है जो उपनिपदे जितनी पुरानी है उतनी ही उनकी भापा पुराने ढंग की है । प्रारंभिक उपनिपदो की भापा वडी प्रभावशाली, रहस्यमयी तथा शक्तिशाली है और भारतीयों के हृदय को प्रभावित कर देती है । इनकी अभिव्यक्ति अत्यन्त सरल और हृदय को प्रभावित करने वाली है । अनेक वार पढने के पश्चात् भी इसमे तृप्ति नही होती । इन पक्तियो का भी एक अपना रोचक सौन्दर्य है , उनका अर्थ तो गरिमामय है ही । जैसाकि हमने पूर्व पक्तियों में विवेचन किया है उपनिपद् शव्द का प्रयोग रहस्यमय सिद्धान्त एवं उद्देश्य के अर्थो मे किया जाता था । अत इनका उद्देश्य भी केवल ऐसे जिज्ञासुओं को इस ज्ञान का वितरण था जो मोक्ष की आकांक्षा से सयम और नियमो का पालन करते थे और जिनका चरित्र उच्च था और जिन्होने अपने आप को इस योग्य वना लिया था । उन्ही को गुरु द्वारा इस रहस्य की दीक्षा दी जाती थी । अत: धार्मिक जिज्ञासुओ के लिए उपनिषदों के शव्दों और काव्यात्मक अभिव्यक्ति शैली मे एक अद्भुत चमत्कार दृष्टिगोचर होने लगा था । इसका फल यह हुआ कि यद्यपि संस्कृत भापा में गद्य और पद्य मे नवीन प्रचलित स्वरूप भी ग्रहण होने लगे, उपनिपदो की रचना के ढंग मे कोई अवसान या परिवर्तन नही आया । अत यद्यपि प्रारम्भिक उपनिपदें ईसा से 500 वर्ष पूर्व लिखी गयी थी, नवीन उपनिपदे भी मुस्लिम काल के प्रारम्भ होने के पश्चात् भी उसी प्रकार लिखी जाती रही । इन उपनिपदों मे सवसे प्रमुख और प्रारंभिक उपनिपदे वे है जिनकी टीका शकराचार्य ने की है

1. से. बु. ऑ ई खड 1, पृ० 83 ।
2. ड्यूसन कृत "फिलासफी ऑव दि उपनिपद्स" (पृ० 10-15) ।

जैमे बृहदारण्यक, छान्दोग्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक एव माण्डूक्य ।[1] ध्यान देने की बात यह है कि विभिन्न उपनिपदें अपनी विगय-वस्तु एव व्याख्या में एक दूसरे से भिन्न हैं। इस प्रकार उनमें मे कुछ जहाँ आत्मा के एकतत्त्ववाद के ऊपर विशेप वल देती है वहाँ कुछ दूसरी उपनिपदें योग, तप, शैव एव वैष्णव दर्शन अथवा शरीर विज्ञान के ऊपर विशेप प्रकाश डालती हैं। इन उपनिपदो को इसी कारण योगोपनिपद, शैवोपनिपद्, विष्णूपनिपद् एव शारीर उपनिपद् नाम दिए गए हैं। ये सारी उपनिपदे मिलाकर सख्या मे लगभग 108 है।

आधुनिक समय में उपनिपदो के अध्ययन की पुनर्जागृति

यूरोप मे उपनिपदो का परिचय किस प्रकार हुआ इसकी कहानी अत्यन्त रोचक है। 1640 मे शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह जब काश्मीर मे ठहरा हुआ था तब उसने उपनिपदों के बारे में कुछ वार्तालाप सुने। तत्पश्चात् उसने बनारस से कितने ही पडितो को देहली बुलाया और उपनिपदो का फारसी भाषा मे अनुवाद करवाने का कार्य प्रारम्भ करवाया। शुजाउद्दौला के दरबार में फैजावाद मे फ्रांसिसी राजदूत श्री ली जैन्टील रहा करते थे। इनके एक मित्र थे जिनका नाम एकेतील दुपरो था जिन्होंने जेन्द अवेस्ता की खोज की थी। सन् 1775 मे ली जैन्टील महोदय ने उन्हे उपनिपदो के इस फारसी अनुवाद की एक पाण्डुलिपि भेंट की। एकेतील महोदय ने इनका लेटिन भाषा मे अनुवाद किया जो 1801-1802 मे प्रकाशित हुआ। यद्यपि यह अनुवाद अत्यन्त क्लिप्ट एव दुरूह था तब भी शोपनेहॉर ने इसको बडे उत्साह के साथ पढा। शोपनेहॉर यह स्वीकार करते हैं कि इनके दार्शनिक विचारो पर उनका बडा प्रभाव पडा। उन्होने एक पुस्तक लिखी थी जिसका नाम—"वैल्ट अल्स विल एण्ड वास्टेलग" है। इसकी भूमिका मे लेखक ने लिखा है,[2] "इस नवीन शताब्दी मे सबसे महत्त्वपूर्ण लाभ यह हुआ है कि उपनिपदो के अनुवाद ने वेदो के अपरिमेय ज्ञान का मार्ग खोल दिया है। मेरा यह विश्वास है कि सस्कृत साहित्य का प्रभाव उतना ही गम्भीर और व्यापक होगा जितना कि 15वी शताब्दी मे ग्रीक साहित्य का पुनरुत्थान काल मे हुआ था। मेरी यह मान्यता है कि यदि किसी व्यक्ति ने प्राचीन

---

1 ड्यूसन का मत है कि कौपीतकी उपनिपद् भी प्रारम्भिक उपनिपदो में से एक है। मेक्समूलर और श्रोदर का मत है कि मैत्रायणी उपनिपद् भी प्रारम्भिक उपनिपदो मे से एक है परन्तु ड्यूसन के मतानुसार यह परवर्ती है। विटरनीज उपनिपदो को चार कालो मे विभक्त करते हैं। पहले काल मे उनके अनुसार बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौपीतकी एव केन उपनिपदें आती हैं। दूसरे काल मे काठक, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक और महानारायण आती हैं। तीसरे काल मे प्रश्न, मैत्रायणी एव माण्डूक्य-उपनिपदें सम्मिलित की गयी हैं। शेप उपनिपद् चतुर्थकाल की हैं।

2 हाल्डेन एव केम्प कृत अनुवाद, खड 1 पृ० 12, 13।

भारतीय पवित्र दर्शन का ज्ञान प्राप्त किया है और उसको समझा है तो उसको जो कुछ मैं कहना चाहता हूँ वह और भी अधिक आसानी से स्पष्ट हो जाएगा। उपनिषदों में वर्णित अनेक सूत्र जो अपना अलग-अलग अस्तित्व रखते हैं एवं अनेक संदर्भ जो क्लिष्ट हैं सम्भवतः उनसे मेरे वर्णन को सरलता एवं सुबोधता के साथ समझ सकेगा परन्तु साथ ही यह सत्य नहीं है कि मेरा यह वर्णन उपनिषदों मे पाया जायगा।" दूसरे स्थान पर शोपनेहॉर फिर लिखते हैं—"उपनिषदों की प्रत्येक पंक्ति का अर्थ कितना निश्चित, सुस्पष्ट एवं मधुर है। प्रत्येक वाक्य गभीर (गहरा), मौलिक एवं प्रौढ़ विचारों से युक्त, सारा ग्रन्थ पवित्र एव उच्च विचारो से आप्लावित है। यह सत्य की जिज्ञासा से ओत-प्रोत है। सारे विश्व मे उपनिषदों के समान कल्याणकारी एवं श्रेयस्कर कोई भी अन्य विद्या नहीं है। यह मेरे जीवन मे एक विचित्र आत्मिक आनन्द देती रही है और मृत्यु-पर्यन्त मेरे लिए शान्ति एव धैर्य का कारण होंगी।"[1] शोपनेहॉर के माध्यम से जर्मनी मे उपनिषदों की ओर अनेक व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित हुआ। सस्कृत के अध्ययन के प्रति रुचि बढने के साथ-साथ ये ग्रन्थ यूरोप के अन्य भागो मे भी प्रचलित हो गए। राजा राममोहन राय के प्रयत्नों से बंगाल में उपनिषदो के अध्ययन को विशेष प्रोत्साहन मिला। इन्होंने उपनिषदों का हिन्दी, अंग्रेजी व बंगाली भाषा मे अनुवाद किया तथा अपने ही खर्चे से प्रकाशित किया। श्री राय ने साथ ही बंगाल मे ब्रह्म समाज की स्थापना की जिसके मुख्य सिद्धान्त उपनिषदों से लिए हुए हैं।

उपनिषद् और उनकी व्याख्या

प्राचीन भारतीय विद्वानों ने उपनिषदों के विभिन्न अर्थ किए है और अनेक प्रकार से व्याख्याएँ की है। ये व्याख्याएँ एक दूसरे से इतनी भिन्न हैं कि जिसके कारण उपनिषदो के सम्बन्ध मे अनेक मतभेद हो गए है। इनके दर्शन के सम्बन्ध मे कोई भी विवेचन करने से पहले यह आवश्यक है कि इन मतभेदो की पृष्ठभूमि की जानकारी की जाय। उपनिषदो को वेदान्त के नाम से पुकारा गया है क्योंकि वे वैदिक साहित्य के उपसंहार के रूप मे लिखे गए थे। हिन्दुओं में यह विश्वास रहा है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है एवं उच्चतम सत्य तथा ज्ञान इन्ही के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। तर्क को इस धारा के अनुसार गौण स्थान दिया गया है। इसका प्रयोग केवल वेदों के द्वारा दिए हुए ज्ञान को सम्यक् रूप से निर्वचन करने में ही किया जाना उचित समझा गया है। शाश्वत सत्य और यथार्थ का

1. उपनिषदो की अपनी भूमिका मे मेक्समूलर ने कहा है (से. बु. ऑ. ई. पृ० 62, तथा देखे पृ० 60-61) कि शोपनेहॉर द्वारा उपनिषदों को "उच्चतम मनीषा की उपज" बतलाया जाना, तथा इसके साथ यह तथ्य कि उपनिषदों के बहुदेववाद को उसने ब्रूनो मेलब्रांश, स्पिनोजा और स्काटस एरिजेना के बहुदेववाद से कहीं ऊँचा बतलाया है, इस महान् ज्ञान भाण्डागारों को उच्चतम स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त है। मैं इनके पक्ष में कुछ कहूँ उससे कहीं अधिक सुबल ये प्रमाण हैं।

दर्शन केवल उपनिषदो मे ही हो सकता है ऐसी मान्यता रही है। तर्क केवल अनुभव के आलोक मे उसी शाश्वत सत्य और यथार्थ का उद्घाटन मात्र कर सकता है। आधुनिक युग की यह मान्यता है कि तर्क और अनुभूति से प्रतिदिन नए तथ्यो की खोज होती है और पुराने तथ्य प्रतिदिन अपना स्वरूप वदलते रहते हैं। किसी भी सत्य सिद्धान्त के वारे मे यह नही कहा जा सकता कि यह अन्तिम सत्य है और इसमे कोई परिवर्तन नही हो सकता है। अत हमे हमारी बुद्धि और अनुभव के अनुसार जिस सत्य की प्राप्ति होती है उसी से सतुष्ट होना पडता है। हिन्दू दर्शन के जिज्ञासुओ को यह वात विशेष रूप मे ध्यान मे रखनी चाहिए कि जहाँ तक धार्मिक सत्यो का सम्बन्ध है उसके सम्वन्ध मे यह मान्यता थी कि वेद और उपनिषदो मे अवस्था सभी कालो के लिए जिस शाश्वत सत्य की स्थापना की है वह एक ऐसा सत्य है जिसमे कभी भी परिवर्तन नही हो सकता। यदि कोई व्यक्ति अपने सीमित दृष्टिकोण व अनुभव के द्वारा किसी नवीन सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का दुःसाहस करता था तो चाहे वह कितना विद्वान् हो, दुःसाहसी मात्र माना जाता था। उसके लिए यह आवश्यक था कि वह सिद्ध करे कि उसकी स्थापना और मन्तव्य वेद और उपनिषद् के द्वारा मान्य हैं। अत हिन्दू दर्शन की सभी शाखाओ ने अपने मत की पुष्टि मे उपनिषदो की व्याख्या विभिन्न रूप से की। इन व्याख्याओं के द्वारा इन शाखाओ ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि उनका मत ही वेद सम्मत है अन्य वाद भ्रान्तिमय है। अत जिस किसी व्यक्ति ने शाखा-विशेष का अनुसरण किया उसने साथ-साथ यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि वह वेदान्तवादी है और उसकी शाखा वेदान्त द्वारा मान्य है।

उपनिषदो मे अनेक प्रकार के विचार वीजरूपेण अनेक स्थलो पर पाए जाते हैं जो किसी एक विशेष विचारधारा के क्रम मे नही हैं अत किसी भी एक व्याख्या को उपनिषद् की सही व्याख्या के रूप मे समझाना और भी कठिन हो जाता है। अत प्रत्येक टीकाकार उपनिषदो के उन अर्थो को प्रकाश में लाने का प्रयत्न करता है जिनसे उनके मत की पुष्टि होती है। जो सूत्र अथवा स्थल उनके मत के अनुरूप नहीं होते उन्हें वह स्वभावत छोड देता है। उपनिषदो की विभिन्न व्याख्याओ का अध्ययन करने से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि शकराचार्य ने जो उपनिषदो की व्याख्या की है वह अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण है और प्राचीन उपनिषदों के मन्तव्य को सही रूप से प्रकट करती है। अत प्राय शंकराचार्य के द्वारा की गई व्याख्या के अनुसार ही वेदान्त दर्शन का निरूपण किया जाता है। इसीलिए शकराचार्य के द्वारा प्रतिपादित दर्शन को ही मुख्य वेदान्त दर्शन कहकर पुकारा जाता है यद्यपि ऐसी वहुत सी दूसरी शाखाएँ भी हैं जो वेदान्ती सिद्धान्तो को अपने मतानुसार विभिन्न स्वरूप देती हैं परन्तु इन सवकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जा सकता।

इस प्रकार हम उपनिषदो को केवल एक विशिष्ट विचारधारा मात्र का प्रतिनिधित्व करने वाले ग्रन्थ नही कह सकते। इनका दर्शन वडा समृद्ध एव विशाल है। यह कहा जा सकता है कि यह महान् दर्शन उनके आधार पर प्रचलित अनेक दर्शनों का उद्गम स्रोत रहा है। अनेक धाराएँ इनसे विभिन्न दिशाओ में प्रवाहित हुई हैं परन्तु विशेष रूप से हम यह कह सकते हैं कि सभी प्राचीन उपनिषदो मे शकराचार्य के अद्वैतवाद की विचारधारा

प्रमुख रूप से पायी जाती है। आधुनिक अध्येता के लिए यह आवश्यक है कि वह सारे उपनिषदों को एक ही प्रकार के परस्पर सम्बद्ध दर्शन की शृंखला न मानकर प्रत्येक उपनिषद् के कथनों का पृथक्-पृथक् अध्ययन करें और उनके अर्थों का मनन करने का प्रयत्न करे। साथ ही यह भी जानने का प्रयत्न करे कि कौन से मन्त्र, कौन से श्लोक किस सन्दर्भ मे कहे गए है। इस प्रकार हम उपनिषदों मे सारे भारतीय दर्शन के स्वरूपो को सूत्र रूप से देखने मे समर्थ हो सकेंगे और तब हम यह मालूम कर सकेंगे कि किस प्रकार विभिन्न धाराओ के आदि स्रोत हैं।

ब्रह्म की जिज्ञासा--उसकी खोज के प्रयत्न एवं असफलताएँ

सभी प्रारभिक उपनिषदों मे एक आधारभूत मूल सिद्धांत पाया जाता है। उस सिद्धान्त के अनुसार विश्व का बाह्य स्वरूप परिवर्तनशील है। परन्तु इस बाह्य प्रकृति के अन्तर मे जो चेतन शक्ति निहित है वह शाश्वत यथार्थ है। वह इस प्राकृतिक शरीर की आत्मा है। वही आत्मा मानवीय शरीर को चेतन शक्ति प्रदान करती है। यदि हम पारमिनीडीस अथवा प्लेटो के ग्रीक दर्शन का अध्ययन करें अथवा कान्ट के आधुनिक दर्शन को पढे तो दोनो मे हमे इसी प्रकार की भावना मिलती है जिसमे एक अवर्णनीय अस्तित्व को भव्य रूप देते हुए एक महान् यथार्थ के रूप में मान्यता दी गई है। उपनिषदों के सम्बन्ध मे मैं पहले यह लिख चुका हूँ कि यह किसी एक व्यक्ति के द्वारा लिखा गया कोई क्रमबद्ध दर्शन विशेष का प्रतिपादन नही है। इन ग्रन्थों में अनेक विद्वानो के उपदेश, वार्तालाप, आख्यान एवं दृष्टान्त दिए हुए हैं। स्थान-स्थान पर साधारण वाद-विवाद भी इनमें पाया जाता है। परन्तु इनमे कही भी पाण्डित्य अथवा तर्क की जटिल उलट-फेर दिखाने का प्रयत्न नही किया गया। साधारण से साधारण पाठक भी इनकी सरलता और सौन्दर्य से अभिभूत हुए बिना नही रह सकता। ये ऋषियों के अदम्य उत्साह की परिचायक हैं। इनमे एक ही जिज्ञासा से प्रेरित होकर उसके शमन के लिए यत्र-तत्र-सर्वत्र एक ही खोज का उल्लेख है कि उसको ऐसा गुरु मिले जो उनको यह बता सके कि ब्रह्म क्या है, यह कहाँ पर स्थित है, उसका स्वरूप क्या है, उसकी प्रकृति किस प्रकार की है ?

संहिताओ के अन्तिम काल मे यह धारणा अनेकत्र बद्धमूल हो उठी थी कि इस जगत् का सृष्टिकर्ता एवं पालन-कर्ता एक ही देवता है जिसको प्रजापति, विश्वकर्मा, पुरुष, ब्रह्मणस्पति, ब्रह्म आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है लेकिन यह दैविक शक्ति इस समय तक केवल एक देवता के रूप मे ही देखी जाती थी। इसके सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा नही बन पाई थी। इसके स्वरूप, इसकी प्रकृति और इसकी अवस्थिति के बारे में उपनिषद् काल में दार्शनिक जिज्ञासा का विशेष रूप से प्रारम्भ हुआ। प्रकृति के बहुत से दृश्यमान पदार्थ जैसे सूर्य, चन्द्र, वायु आदि के रूप में इसे देखने का प्रयत्न किया गया, अनेक मानसिक क्रियाकलापों के साथ इस महान् शक्ति का साम्य करने का प्रयत्न किया गया किन्तु जिस भव्य रूप की कल्पना की गई थी उसके बारे में इन पार्थिव पदार्थों के साथ तुलना करने पर किसी प्रकार का परितोष प्राप्त नही हो सका। उपनिषद् काल मे

ऋषियो ने यह कल्पना की थी कि सृष्टि का नियन्त्रण करने वाला, मानवीय भाग्य एव विश्व चक्र का विधायक एक महान् आत्मा है जिसको परमात्मा की सज्ञा दी जा सकती है लेकिन इसकी प्रकृति और रूप के बारे मे बडी जिज्ञासा थी। प्रश्न यह था कि प्रकृति के अन्य देवताओ के समान यह कोई शक्ति थी अथवा कोई नवीन देवता था अथवा इस प्रकार कोई देवता था ही नही। इस ब्रह्म जिज्ञासा के इतिहास और इसके फलस्वरूप जो ज्ञान प्राप्त हुआ उसका विशद वर्णन उपनिषद् करती है।

लेकिन यदि हम केवल इस जिज्ञासा मात्र का विश्लेषण करें तो ऐसा लगता है कि आरण्यको की कल्पना से परे इसका कोई विशेष समाधान प्रकट नही हो पाया था। वही प्रतीकवाद भी वहाँ दृष्टिगोचर होता है। मनुष्य के जीवन मे प्राणशक्ति को विशेष महत्त्व दिया गया था। प्राण को नाक, कान, मुख आदि अन्य अवयवो से ऊपर महत्त्व दिया गया था। सारा शरीर का व्यापार प्राण के द्वारा ही सम्पादित होता है ऐसा माना गया था। प्राण के इस महत्त्व के कारण आत्मा को सर्वोच्च शक्ति मान कर आत्मा मे ध्यान को नियोजित कर ब्रह्म अथवा परमात्मा को प्राप्त करने की प्रेरणा की गई थी। आकाश को अनन्त एव व्यापक मानकर इसमे भी ब्रह्म के स्वरूप को देखने का प्रयत्न किया गया था। मन तथा आदित्य (सूर्य) को भी ब्रह्म के रूप मे ध्यान करने योग्य माना गया था। जहाँ ब्रह्म को सूर्य, वायु, प्राण, आकाश आदि के साथ समन्वित करते हुए एक विशेष शक्ति के रूप मे देखा जाने लगा वहाँ यज्ञ और कर्मकाण्ड का स्थान, ध्यान और धारणा ने ले लिया, इससे यह स्पष्ट है। इस प्रकार ब्रह्म की खोज मे इस काल मे एक उत्कृष्ट जागृति उत्पन्न हो गई थी। इस समय एक विशेष विचारधारा ऐसी भी प्रचलित हो गई थी कि ऋषि लोग व्यर्थ ही यज्ञादि कर्मकाण्ड की भ्रांति मे पडे हुए हैं। यज्ञादि का स्थान ध्यान ने ले लिया था किन्तु केवल ध्यान ही सर्वोच्च ब्रह्म को प्राप्त करने मे समर्थ नहीं, यह धारणा भी पाई जाने लगी थी।

ध्यान द्वारा भी ब्रह्म की प्राप्ति न होने पर ऋषि मुनियो ने ब्रह्म का सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वरुण, वायु, यज्ञ आदि की शक्ति के साथ समन्वित करते हुए जानने का प्रयत्न किया लेकिन उनकी यह भव्य कल्पना इनसे भी सन्तोष प्राप्त नही कर सकी जो उन्होंने ब्रह्म के सम्बन्ध मे निश्चित की थी। इन सारे उदाहरणो को दोहराने की आवश्यकता नही है क्योंकि उनका दोहराना केवल यहीं उबा देने वाला लगेगा सो बात नहीं है, मूल उपनिषदो मे भी यह सारा वर्णन बडा थका देने वाला है। इससे केवल यही ज्ञात होता है कि ब्रह्म के स्वरूप को पहचानने के लिए पहले अनेक प्रयास किए गए। दार्शनिक मनन, चिन्तन, ध्यान इत्यादि करते हुए ऋषि मुनियो ने ब्रह्म की खोज मे अपना बहुत सा समय बिताना प्रारम्भ कर दिया और इस प्रकार अनुष्ठान यज्ञादि कर्मकाण्ड मे शनैः शनैः जो कमी हुई उसके पीछे भी लम्बा सघर्ष रहा। इस काल का उपनिषदीय इतिहास यह बताता है कि ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए ऋषियो को कितना सघर्ष करना पडा और इस मार्ग मे कितनी कठिनाइयाँ उठानी पडी।

ब्रह्म का अविदित रूप और उसके जानने का निषेधात्मक प्रकार

यह वात सत्य है कि प्रारम्भ में कुछ समय तक ब्रह्म का पूजन प्रतीक के रूप में अर्थात् यज्ञादि के फल प्रदायक देवों के लगभग समान रूप में होता रहा और ब्रह्म को जन-साधारण देवता के रूप मे मानने लगा। वैदिक कवि वड़े लम्वे समय से ऐसे देवताओं की पूजा करते आए थे जिनकी वाह्य शक्तियों का चमत्कार अत्यन्त प्रभावशाली था। अतः ब्रह्म की कल्पना को भी वे उसी प्रकार के निश्चित स्वरूप एवं निश्चित आकार प्रकार से अवि-शिष्ठत करना चाहते थे। इसके लिए उन्होने ब्रह्म का अनेक प्रकार के गुणों से और प्रकृति की दिव्य शक्तियों से तादात्म्य करने का प्रयत्न किया। लेकिन इससे उनको वास्तविक संतोष प्राप्त नही हुआ। उनकी आत्मा के अन्तरतम तल में ब्रह्म के वारे मे एक अनिश्चित सी धारणा एवं दिव्य भावना थी। परन्तु वे नहीं जानते थे कि इसका वास्तविक रूप क्या है। इस भव्य स्वप्निल कल्पना को वे मूर्त रूप देने में असमर्थ थे लेकिन यह कल्पना उनको एक विशेष लक्ष्य की ओर प्रेरित कर रही थी। अव वे महान् एवं उच्चतम परमात्मा के स्वरूप के पास ही थे। किसी भी छोटी मोटी पार्थिव कल्पना से सतुष्ट होने वाले वे नही थे।

ब्रह्म को जिसे उन्होने अन्तिम एवं शाश्वत सत्य के रूप मे देखा था वे परिभाषित नही कर पा रहे थे, उसे कोई भी निश्चयात्मक आकार नही दे पा रहे थे। यद्यपि उन्होंने इस दिशा मे अनेक प्रयत्न किए परन्तु उसके लिए कोई भी निश्चित परिभाषा असम्भव प्रतीत हुई। जव उनके लिए ब्रह्म की निश्चयात्मक परिभाषा करना कठिन हो गया तव उन्होंने अवर्णनीय तथ्य को प्रकट करने के लिए निषेधात्मक शब्दावली का प्रयोग करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार यह कहा गया कि परमात्मा हमारे अनुभव में आए हुए सभी वस्तुओं से भिन्न है। याज्ञवल्क्य ने कहा है "वह परमात्मा न यह है न वह है (नेति नेति)। वह कल्पनातीत है क्योकि उसके स्वरूप की कोई कल्पना नही की जा सकती। वह परि-वर्तनशील नही है क्योकि उसमे कोई परिवर्तन नही होता है, उसको छुआ नही जा सकता, वह शस्त्र के विद्ध नही होता, वह अक्षत है अर्थात् उसे किसी प्रकार की क्षति नहीं हो सकती, उसे किसी प्रकार की चोट नही लग सकती।"[1] वह असत् है अर्थात् वह अस्तित्व-हीन है क्योकि ब्रह्म का जो अस्तित्व है वह साधारण बुद्धि एवं अनुभव से परे है। फिर भी उसका अस्तित्व है क्योकि विश्व में केवल उसका ही यथार्थ अस्तित्व है और यह विश्व उस महान् आत्मा के आधार पर स्थित है। हम सव स्वय ब्रह्म हैं परन्तु हम यह नही जानते कि ब्रह्म क्या है। हमारा अनुभव ज्ञान और अभिव्यक्ति सीमित है परन्तु वह असीम (सीमा रहित) और इस जगत् का आधार है। "वह परमात्मा शरीरहीन, निराकार है, अविनाशी है। वह गन्धहीन एवं रसहीन है। वह अजर, अमर है, शाश्वत है और महान्

---

1. बृहदा॰ 4, 5, 15। ड्यूसन, मेक्समूलर और रोअर ने इस सन्दर्भ का अर्थ ठीक रूप में नही किया। असितो शब्द का निर्वचन विशेषण के रूप में किया गया है यद्यपि इस वात का कोई भी प्रमाण प्राप्त नही होता। यह असि शब्द का रूप है जिसका अर्थ है तलवार।

से भी महान् है, वह स्थिर है जो इसे जानता है वह मृत्यु से छुटकारा पा जाता है।"[1] वह स्थान, काल और क्षणभंगुरता के बंधन मे बंधा हुआ नही है क्योंकि वह उनका आधार है और साथ ही उनसे परे है। वह अनन्त है, विशाल है और साथ ही लघु से भी लघु है। छोटी से छोटी वस्तु से भी छोटा है। वह यहाँ भी है और वहाँ भी है। वहाँ इसी प्रकार स्थित है जैसे यहाँ पर है जैसे यत्र, तत्र, सर्वत्र है, उसका कोई निश्चित स्वरूप वर्णित करना असम्भव है। उसके बारे मे केवल यही कहा जा सकता है कि वह निर्गुण है, वर्णनातीत है। किसी भी प्रकार की परिभाषा अथवा सम्बन्ध से परे है। इस पार्थिव विश्व के जितने भी भौतिक उपादान हैं जो कार्य-कारण के नियम से संचालित हैं उन सब नियमों से वह स्वतंत्र है। स्थान, काल और कारणों के बन्धन से मुक्त है। वाष्कलि ने एक बार बाह्व से ब्रह्म के स्वरूप मे जिज्ञासा प्रकट की। तब उस प्रश्न के उत्तर मे बाह्व मौन धारण कर शान्त हो गए। "महर्षि, मुझे ब्रह्म के ज्ञान का उपदेश दो," वाष्कलि ने कहा किन्तु बाह्व फिर भी मौन रहे। परन्तु जब वाष्कलि ने दो तीन बार यह प्रश्न पूछा तब बाह्व ने उत्तर दिया कि, "मैं ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप की ही तो शिक्षा दे रहा हूँ। परन्तु तुम समझ नहीं पा रहे हो। उसकी सर्वोत्तम परिभाषा मौन है क्योंकि शब्दो मे उसका बोध नही हो सकता।" उसके वर्णन का एक ही मार्ग है। नेति नेति (नही नहीं) के द्वारा ही हम उसके बारे मे कह सकते है। क्योंकि कोई भी परिभाषा हमारी कल्पना और विचारधारा से सीमित होती है अत उस असीम की कोई परिभाषा नहीं की जा सकती।

आत्म सिद्धान्त

उपनिषदो की सारी शिक्षाओ का सार इसको सिद्ध करने मे निहित है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं। हम यह देख चुके हैं कि ऋग्वेद मे आत्मा को कभी विश्व की आधार-भूत चेतन शक्ति के रूप मे और कभी मनुष्य के प्राण रूप मे देखा गया है। फिर उप-निषदो मे ऐसा वर्णन आता है कि विश्व में व्याप्त चेतन शक्ति ब्रह्म है और मनुष्य मे जो चेतन शक्ति व्याप्त है वह आत्मा है। उपनिषद् इस बात पर पुन पुन बल देते हैं कि ये दोनों चेतन शक्तियाँ एक ही है। इस स्थान पर प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य का आधार तत्त्व क्या है ? मनुष्य के आत्म तत्त्व के बारे मे एक अनिश्चयात्मक भावना है अर्थात इसका स्वरूप अस्पष्ट सा है। अन्न मे निर्मित मनुष्य के भौतिक शरीर को अन्नमय कोष कहा गया है लेकिन इस अन्नमय कोष के अन्दर जो मनुष्य की प्राणदायिनी शक्ति है उसको प्राणमय आत्मा के रूप मे वर्णित किया है अथवा प्राणमय कोष कहा गया है। इस प्राणमय कोष मे भी सूक्ष्म मनन शक्ति को मनोमय आत्मा के रूप में पुकारा गया है। मन से सूक्ष्म मनोमय कोष के अन्तर्गत जो चेतन तत्त्व है उसे विज्ञानमय आत्मा अथवा विज्ञान कोष के रूप मे वर्णित किया है। इस विज्ञानमय कोष के अन्तर मे निहित सूक्ष्मात्म कोष आनन्दमय आत्मा अथवा आनन्दमय कोष है जो आत्म तत्त्व का अन्तिम आधार है और जो दिव्य विशुद्धानन्द का स्थान है। शास्त्रो मे कहा गया है, "वह आनन्दमय हो जाता है जिसको

---

1 कठ, 3-15।

इस आनन्द की प्राप्ति होती है। वह दिव्यामृत का पान करता है। यदि यह आकाश आनन्दमय नही होता तो कौन इस विश्व मे जीवित रह सकता और कौन प्राण धारण कर सकता ? जो आनन्द का व्यवहार करता है वह आनन्दस्वरूप हो जाता है। जिस किसी को उस वर्णनातीत, अदृश्य, अवर्ण्य, अनाधार, विश्वातीत की प्राप्ति हो जाती है वह निर्भय हो जाता है, परन्तु जहाँ आत्मा और परमात्मा में भेद की अनुभूति है वहाँ संसार के सारे भय उनको सताते है।"[1]

एक दूसरे स्थान पर प्रजापति ने कहा है, "जो आत्मा पाप से मुक्त है, अजर और अमर है, भूख प्यास आदि के वंधों से परे है जो सद्विचार सदिच्छाओं से युक्त है ऐसी आत्मा की खोज आवश्यक है। ऐसे आत्म तत्त्व का चिन्तन और मनन करने से और इस आत्मा के स्वरूप को सम्यक् रूप से जानने पर सारी जिज्ञासाओं की तृप्ति और पूर्ति हो जाती है।"[2] देवता और दैत्यो ने प्रजापति से ऐसा सुनकर इन्द्र और विरोचन को अपने-अपने प्रतिनिधि के रूप में प्रजापति से आत्म तत्त्व के वारे में ज्ञान ग्रहण करने के लिए भेजा। प्रजापति ने उनको शिक्षा देना स्वीकार कर लिया। एक पात्र मे जल भरकर उन्होंने दोनों शिष्यो को आज्ञा दी कि वे उसमे अपना स्वरूप देखें और वतावें कि वे उसमे अपने आपको कितना देख पाते हैं। इस पर उन दोनों ने उत्तर दिया कि 'हम पूर्णरूपेण अपने आप को इसमें देख सकते है यहाँ तक कि हमारे नख और वाल भी उसमे दिखाई दे रहे है।' तव प्रजापति ने कहा 'जो तुम देखते हो वही आत्मा है वह भय से रहित, मृत्यु से मुक्त, आत्म तत्त्व है, वही व्रह्म है।' इस पर वे दोनों प्रसन्न होकर चले गए लेकिन प्रजापति ने सोचा कि ये दोनो आत्म तत्त्व का अनुभव किए विना ही, उसको विना समझे ही, चले जा रहे है। विरोचन इस विश्वास को लेकर वापस लौट आया और कहा कि यह शरीर ही आत्मा है। परन्तु इन्द्र देवताओ के पास न जाकर वापिस प्रजापति के पास लौट आए। उनके मन में अनेक संशय ओर जिज्ञासाएँ थी। उन्होंने प्रजापति से कहा कि यदि यह वाह्य स्वरूप ही आत्म तत्त्व है तो शरीर के सुन्दर वस्त्र धारण करने पर सुसज्जित और स्वच्छ होने पर यह भी स्वच्छ एवं अलंकृत हो जाएगा और उसी प्रकार शरीर के नेत्रहीन अथवा एकाक्ष होने पर यह आत्मा भी अन्धा अथवा काणा हो जाएगा। उसी प्रकार यदि यह शरीर क्षत-विक्षत होता है तो आत्मा भी पंगु हो जाएगी और यह शरीर नष्ट होता है तो आत्मा भी नष्ट हो जाएगी। अत: आपके वताए इस सिद्धान्त से मुझे सतोष नही होता। यह सिद्धात सुन्दर प्रतीत नही होता। प्रजापति ने तत्पश्चात् उसे पुनः उपदेश दिया कि जो स्वप्न को देखता है वह आत्मा है। वह मृत्यु और भय से परे है अतः वह व्रह्म है। इन्द्र ऐसा सुनकर चल दिए लेकिन फिर उन्हें संशय हुआ और उन्होने फिर वापिस आकर कहा कि यद्यपि यह सत्य है कि जो (मनस्तत्त्व) कल्पना और स्वप्न को देखता है वह शरीर के नष्ट होने पर नष्ट नही होता, शरीर के साथ अन्धा अथवा काणा

---

1 तैत्तिरीय 2, 7।
2. छान्दोग्य 8, 7, 1।

नही होता, क्षत-विक्षत भी नही होता परन्तु यह कष्टो से और दु:खो से व्याप्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह इनसे प्रभावित होता रहता है, रोता रहता है। अत यह सिद्धात भी मुझे मान्य नही है। प्रजापति ने तब उसको और अधिक उच्च स्तर की शिक्षा दी और कहा "जब कोई मनुष्य पूर्ण तुष्टि के साथ प्रगाढ़ निद्रा मे सोया रहता है और जब उसको कोई स्वप्न दिखाई नही देता तब मृत्यु और भय से रहित जो चेतना है वही आत्मा है, वही ब्रह्म है।" इन्द्र देव पुन विदा लेकर चल दिए परन्तु थोडी देर पश्चात् उनके मन मे फिर से अनेक शकाऐं उत्पन्न होने लगीं और वे वापिस लौट आए। उन्होंने प्रजापति से कहा निद्रा अवस्था मे आत्मा अपने आप को नही जानती न उसको किसी बाह्य वस्तु का ज्ञान रहता है। एक प्रकार से वह आत्मा उस काल मे लुप्त और विनष्ट हो जाती है। मुझे इस सिद्धांत मे भी औचित्य नही दिखाई देता। जब प्रजापति ने यह देखा कि इन्द्र को क्रमिक रूप मे जो उच्च स्तर की शिक्षा दी उससे सतोष नही हुआ और वह प्रत्येक बार अपनी योग्यता के कारण दी हुई शिक्षाओ के अधिकाधिक गहनतल तक पहुँचकर सत्य को खोजने मे समर्थ रहा तब उन्होंने अन्तिम और उच्चतम शिक्षा दी और आत्मा के सम्बन्ध मे सत्य का निर्देश किया। "यह शरीर अमर एव अपार्थिव आत्मा का आधार है। शरीर धारण करने के पश्चात् आत्मा को आनन्द, सुख व दु ख होता है। जब तक आत्मा और शरीर का सम्बन्ध है तब तक सुख और दु ख से आत्मा मुक्त नही हो सकती परन्तु शरीर के बधन से मुक्त होने पर आत्मा को सुख और दु ख प्रभावित नही कर सकते।"[1]

जैसा इस दृष्टान्त से विदित है कि उस समय के दार्शनिक मनीषी ऐसे अपरिवर्तनशील और ऐसे तत्व की खोज मे थे जो किसी प्रकार के परिवर्तन की सीमाओ से परे था। इस आन्तरिक सत्य को कभी-कभी एक चेतना के रूप मे वर्णित किया गया है जो भौतिक पार्थिव जगत् के परे है जो वास्तविक यथार्थ है अर्थात् जो सत्य है जो आनन्दमय शिव है। यह दृश्यमान जगत् को देखने वाला है, श्रव्य जगत् का सुनने वाला है एव जो कुछ ज्ञातव्य है उसको जानने वाला है। यह सब कुछ देखते हुए दिखाई नही देता। सब कुछ सुनता है परन्तु स्वय सुनाई नहीं देता। यह सब कुछ जानता है लेकिन स्वय अज्ञेय है। यह सब दीप्तिमान वस्तुओ की दीप्ति है। यह एक लवण खड के समान है जिसका आभ्यन्तर और बाह्य भिन्न नही है परन्तु जो सारा का सारा लावण्यमय है। इसी प्रकार आत्मा का न कोई आभ्यन्तर है न कोई बाह्य है। लेकिन यह सारा आत्मा ज्ञानमय है। आनन्द इसका गुण नही है परन्तु यह आनन्दमय है। ब्रह्म की स्थिति की तुरीयावस्था (स्वप्नहीन निद्रा, ज्ञानमय निद्रा) से तुलना की गई है। जो इस आनन्द को प्राप्त कर लेता है उसको किसी प्रकार का भय नही रहता। तब यह आत्मा पुत्र, भ्राता, पति-पत्नी, धन और समृद्धि इन सबसे अधिक प्रिय लगता है। इसके द्वारा और इसके कारण ये समस्त वस्तुएँ उनको प्रिय एव महत्वपूर्ण लगती हैं। यह अन्तरतम मे निहित आत्मा समस्त वस्तुओ से भी अधिक प्रिय

---

1. छान्दोग्य, अध्याय 8, 7, 12।

है। जितने सासारिक वन्धन हैं वे दुःख के कारण है। अनन्त असीम ब्रह्म ही उच्चतम आनन्द का द्योतक है। जव मनुष्य को इस महान् आनन्द की प्राप्ति होती है तव वह ब्रह्मानंद मे लीन हो जाता है क्योकि यदि यह आकाश इस आनंदमय अमृत तत्त्व से आच्छन्दित नही होता तो ऐसा कौन मनुष्य है जो एक क्षण के लिए भी श्वास ले सकता अथवा जीवित रह सकता? वह ब्रह्म ही आनन्दमय है। जव मनुष्य को शान्ति प्राप्त होती है जब उसे अवर्णनीय इन्द्रियातीत तत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो जाता है तभी उसे वास्तविक शान्ति प्राप्त होती है।

उपनिषदों मे ब्रह्म का स्थान

मनुष्य के शरीर में ही केवल आत्मा नही है अपितु विश्व के सभी पदार्थों मे जैसे सूर्य, चन्द्र एवं पार्थिव जगत् मे भी एक चेतन तत्त्व व्याप्त है, इस विश्व मे व्याप्त वही चेतन आत्मा ब्रह्म है। इस आत्मा मे परे और कुछ भी नही है अतः इसके परे और कोई तत्त्व विद्यमान नहीं है। जिस प्रकार मिट्टी के खंड को जानने के पश्चात् जो कुछ उससे वना हुआ है उसको आसानी से जाना जा सकता है; जैसे काले लोहे के खंड को जान लेने के पश्चात् जो कुछ उस धातु से वना हुआ है उसको पहिचाना जा सकता है, इसी प्रकार इस आत्मा रूपी ब्रह्म को जानने के पश्चात् सव कुछ जान लिया जाता है। मनुष्य में और विश्व में जो चेतन तत्त्व है वह एक ही ब्रह्म का रूप है।

अव प्रश्न यह उठता है कि रंग, रूप, गन्ध, ध्वनि एवं रस युक्त जो यह विश्व है और जो विश्व के भौतिक व्यापार है उनको किस रूप मे जाना जाए। लेकिन हमें यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि उपनिपदों में दर्शन की किसी तर्कयुक्त प्रणाली अथवा मत वाद का शास्त्रीय संविधान नही किया गया है, उपनिषद् तो उन द्रष्टाओं और मनीषी ऋषियों के स्वप्नों को वाणी देती है जो इस ब्रह्म की प्रेरणा से ओतप्रोत थे। वे ब्रह्म की एकरूपता और प्रकृति की अनेकरूपता के विरोधाभास को नही देखती। अनेकरूपी प्रकृति की वास्तविकता को देखकर वे इसे स्वीकार करती हैं फिर भी साथ ही यह घोषित करती है कि ये सव ब्रह्म ही है। यह सव प्रकृति ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई है और ब्रह्म में ही लीन हो जाएगी। इस ब्रह्म ने उस प्रकृति को अपने आप से ही प्रकट किया है फिर वह स्वयं अंतर्यामी के रूप मे इस प्रकृति के कण कण में व्याप्त है। इस प्रकार यहाँ एक प्रकृति और ब्रह्म के द्वैतवादी रूप का संकेत स्पष्ट ही मिलता है जिसमें ब्रह्म प्रकृति को नियन्त्रित करता है। यद्यपि दूसरे स्थानों पर वड़े विश्वस्त रूप से ऐसा कहा गया है कि ये केवल नामों और रूपों मात्र का ही भेद है। जव ब्रह्म को जान लिया तो और सव कुछ जान लिया। इन दोनो सिद्धान्तो का समन्वय करने का कोई प्रयत्न नहीं किया है जैसाकि वेदान्त के महान् आचार्य शंकर ने इन दो अर्थ वाले सदर्भो को समझाने का प्रयत्न किया है। इस विश्व को सत्य के रूप मे माना गया है परन्तु इसमें जो कुछ यथार्थ है वह केवल ब्रह्म है। ब्रह्म के कारण ही अग्नि जलती है और वायु प्रवाहित होता है। इस सकल विश्व में ब्रह्म ही सक्रिय तत्त्व है और फिर भी वह सवसे अधिक शांत व अचल है। यह विश्व ही उसका शरीर है

और वह स्वय इसके अन्तर मे निवास करने वाली आत्मा है। "वह सृष्टि कर्ता है। उसकी इच्छा के अनुसार ही सारे कार्य सम्पन्न होते हैं। वह रस और गन्ध का स्वामी है, सर्व व्यापक है, शात है और शाश्वत है जो किसी वस्तु से प्रभावित नहीं होता।"[1] वह ऊपर नीचे, पीछे और सामने, दक्षिण व उत्तर सभी दिशाओ में अवस्थित है। वह यह सब है।[2] "पूर्व व पश्चिम से प्रवाहित होने वाली जिन नदियो का समुद्र से ही उद्गम है वे पुन समुद्र में विलीन होकर समुद्र बन जाती हैं यद्यपि वे इसको नही जानती। इसी प्रकार प्राणी मात्र उस महान् आत्मा से उत्पन्न होकर उसी में विलीन हो जाते हैं और ये नही जानते कि वे उस महान् चेतन तत्त्व के ही अश हैं। विश्व में जो सूक्ष्मतम तत्त्व है वह आत्मा है और वह सब यथार्थ सत्य है। हे श्वेतकेतु तुम वही आत्मा हो।"[3] जैसे ड्यूसन महोदय कहते हैं—ब्रह्म काल के पूर्व कारण रूप में विद्यमान् था और यह प्रकृति इस महान् कारण से कार्य रूप मे उत्पन्न हुई। यह विश्व आन्तरिक रूप से ब्रह्म के ऊपर निर्भर है। वास्तव में ब्रह्म का ही स्वरूप है। इसके सम्बन्ध मे कहा गया है कि ब्रह्म ने इस प्रकृति को स्वयमेव उत्पन्न किया है। इसी प्रकार मु डक उपनिषद् के पहले अध्याय 1, 7 श्लोक मे भी कहा है—

"जिस प्रकार मकडी अपने जाल के तन्तुओं को स्वय में से उत्पन्न करती है और फिर समेट लेती है, जिस प्रकार पृथ्वी मे से वृक्षादि उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार मनुष्य के सिर पर और जीवित शरीर पर केश उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म से प्रकृति उत्पन्न होती है। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से उसी के प्रतिरूप सहस्रों की सख्या में स्फुलिंग उत्पन्न होते हैं इसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म से अनेक जीवधारी प्राणी उत्पन्न होकर पुन उसी मे समा जाते हैं।"[4]

यह विश्व-सिद्धांत सबसे अधिक प्रिय है और उपनिषद् की उच्चतम शिक्षा है। "वह तुम ही हो (तत्त्वमसि)।"

इस सिद्धात के विकास के साथ कि ब्रह्म इस विश्व को सचालित करता है, वही अन्तर्यामी है और प्रकृति की सभी शक्ति में और कण कण मे वह विद्यमान है, प्राणी मात्र की आत्मा, ससार के सारे कार्य उसकी इच्छा से सम्पादित होते हैं और उसकी आज्ञा का कोई उल्लघन नही कर सकता, इन सबसे एक अन्य आस्तिकवादी विचारधारा का जन्म हुआ जिसमे ब्रह्म एक ऐसे परमात्मा के रूप में माना जाने लगा जो सबसे अलग और साथ ही सारे विश्व को सचालित करने वाली अतिमानुष शक्ति के रूप में देखा जाने लगा। ऐसा कहा गया है कि सूर्य और चन्द्र, पृथ्वी और आकाश परमात्मा की इच्छा के अनुसार अपने

---

1 छान्दोग्य, अध्याय 3। 14, 4।

2 वही, 7। 25, 1 तथा मुण्डक, 2-2-11।

3 छान्दोग्य, अध्याय 6, 10।

4 ड्यूसन द्वारा रचित, फिलासफी ऑव द उपनिषद्स, पृ० 164।

स्थान पर स्थित हैं।[1] श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रसिद्ध श्लोक में आत्मा और परमात्मा का भेद बतलाते हुए कहा है—

"दो दिव्य पंखों वाले अभिन्न हृदय मित्र एक ही वृक्ष के चारों ओर उड़ रहे हैं। उनमें से एक उस वृक्ष के मीठे फलों का रसास्वादन करता है और दूसरा बिना कुछ खाये केवल नीचे देखता रहता है।"[2]

लेकिन इस आस्तिकवादी धारा के होते हुए भी और अनेक स्थानों पर ईश अथवा ईशान शब्द के प्रयोग के बावजूद भी इसमें कोई संदेह नहीं दिखाई देता कि आस्तिकवाद इसके वास्तविक अर्थ मे कभी भी प्रमुख नही रहा। विश्व के महान् स्वामी के रूप मे उसे मानने की अवधारणा भी इस कारण है कि आत्मा का एक महान् सक्रिय तत्त्व के रूप मे इस विश्व मे कौषीतकि उपनिषद् में तृतीय अध्याय के 9वें श्लोक मे कहा है—वह शुभ कर्मों से न महान् होता है और न दुष्ट कर्मों से उसके गौरव में किसी प्रकार की कमी आती है परन्तु जिसे वह उत्थान की ओर ले जाना चाहता है उसे वह पुनः शुभ कर्मों की प्रेरणा देता है और जिस पर उसकी कृपा नही होती है वह अशुभ कर्मों के करने के लिए उद्यत हो जाता है। वह विश्व का संरक्षक है, विश्व का अधिष्ठाता एवं स्वामी है, वही मेरी आत्मा है।" इस प्रकार परमात्मा अपनी महानता के बावजूद आत्मा के रूप मे देखा गया है। दूसरे अन्य संदर्भों मे कई स्थानो पर ब्रह्म को विश्वव्यापी एवं सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। इस प्रकार ब्रह्म को एक शाश्वत सत्तावान् वृक्ष कहा गया है। वह एक ऐसा अमर वृक्ष है जिसकी जड़ें ऊपर उत्पन्न होती हैं और जिसकी शाखायें नीचे होती हैं। सारी सृष्टियाँ उस पर आधारित हैं और कोई उसके परे नही है। यह वह है—"जिसके भय से अग्नि जलती है, सूर्य चमकता है, जिसके भय से इन्द्र और वायु संचालित होते हैं तथा पाँचवाँ मृत्यु भी जिसके भय से ही सचालित है।"[3]

यदि हम उपनिषदो के छोटे-छोटे उप-मतों की चिन्ता न करें और उनकी प्रमुख विचारधाराओं पर ही ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जाता कि इस दर्शन के अनुसार इस ससार में ब्रह्म को ही यथार्थ सत्य के रूप मे माना गया है। ब्रह्म अथवा परमात्मा के अनन्तर और जो कुछ है, वह सब असत्य है, अर्थहीन है। दूसरी प्रमुख विचारधारा जो अधिकाश उपनिषद् शास्त्रो मे पाई जाती है वह बहुदेववादी विचारधारा है जिसमें आत्मा अथवा ब्रह्म को व्यापक विश्व के रूप में माना गया है अथवा जिसमें प्रकृति और परमात्मा में कोई भेद नही माना गया है। तीसरी विचारधारा वह ईश्वरवादी मत है जिसके अनुसार ब्रह्म को इस सकल विश्व का महान् संचालक एवं अधिष्ठाता के रूप में स्वीकार किया गया है। यह

1. बृहदा०, अध्याय 3, 8, 1।
2. श्वेतावश्तर 4/6 तथा मुंडक 3/1/1, साथ ही ड्यूसन कृत "फिलासफी ऑव द उपनिषद्स, मे इसका अनुवाद (पृ० 177)।
3. कठ 2/6/1 और 3।

सारी विचारधारा अनिश्चित रूप मे थी । और किसी एक विशेष विचारधारा का क्रमवद्ध, ठोस विकास नहीं हुआ था । अत उत्तरकाल में वेदान्त के महान् आचार्य शकर और रामानुज इनके विभिन्न अर्थो पर सदैव विवाद करते रहे क्योंकि वे चाहते थे कि इस दर्शन में तर्कयुक्त क्रमवद्ध वैदान्तिक दर्शन प्रणाली को वे सिद्ध कर सकें । इस प्रकार माया का यह सिद्धान्त जिसका थोडा वर्णन वृहदा० मे मिलता है और 3 वार श्वेताश्वतर उपनिषद् मे भी पाया जाता है, शकर के वेदान्त दर्शन का मुख्य आधार वन जाता है । इस दर्शन के अनुसार विश्व मे केवल ब्रह्म ही सत्य है, और दूसरी कोई वस्तु नही है, ब्रह्म के अतिरिक्त और सव माया है ।[1]

विश्व या संसार

हम यह देख चुके हैं कि प्रकृति रूप समस्त विश्व ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म ही उसमें चेतन तत्त्व है । यह विश्व ब्रह्म मे ही उत्पन्न होकर ब्रह्म मे ही लीन हो जाता है । हम यह मानते हुए भी कि प्रकृति और ब्रह्म एक ही तत्त्व हैं उस ससार को नही नकार सकते जिसका हमें इन्द्रियो द्वारा अनुभव एव साक्षात् होता है । शकर के मतानुसार वाह्य प्रकृति को उपनिषदो मे जान-बूझकर इसलिए मान्यता दी गई है कि ब्रह्म की वास्तविकता और सत्य को जान लेने के पश्चात् सृष्टि स्वयमेव असत्य दिखाई देने लगेगी और इस प्रकार प्रकृति को यथार्थ आपेक्षिक सत्य कहा जा सकेगा । परन्तु शकराचार्य के इस मत को हम इस यत्किंचित् रूपान्तरण के साथ स्वीकार कर सकते हैं कि उपनिषद्कार ऋषि मुनियो ने किसी उद्देश्य विशेष से दृढतापूर्वक इस वात की धारणा प्रतिपादित नही की है कि दृश्य जगत् एक आपेक्षिक सत्य है । वे यद्यपि ब्रह्म को परम तत्त्व के रूप मे मानते हैं तथा ब्रह्म के भीतर सभी वस्तुओ को असत्य मानते हैं तव भी वे इस पार्थिव प्रकृति की सत्ता को अस्वीकार नहीं कर सकते थे इसलिए उनके दर्शन मे इसकी सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक हो गया था । अत इस पार्थिक प्रकृति की भौतिक सत्ता के साथ ब्रह्म की अन्तिम एव वास्तविक सत्य होने की स्थिति के विरोधाभास को मिटाने के लिए उन्होंने यह स्वीकार किया कि प्रकृति ब्रह्म से भिन्न नही है । प्रकृति ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई है । यह उसी की सत्ता से सचालित है एव उसी मे विलीन हो जायेगी ।

इस प्रकृति के दो स्वरूप विशेष रूप से वर्णित किए गए हैं । (1) चेतन प्रकृति (2) अचेतन (जड) प्रकृति । जो भी चेतन वस्तुएँ हैं अथवा जीवधारी पदार्थ हैं, वनस्पति, पशु अथवा मनुष्य सभी प्राणियो में आत्मा है ।[2] ब्रह्म ने अनेक रूपों मे प्रकट होने की इच्छा की और अग्नि (तेजस्व), जल (अप) और पृथ्वी (क्षिति) को उत्पन्न किया । तव स्वयभू ब्रह्म ने इन तीनो में प्रवेश किया और इनके विनियोग से ससार के अन्य सव पदार्थ उत्पन्न हुए ।[3] इस प्रकार विश्व मे सव पदार्थ इन तीनो तत्त्वों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुए । इन

---

1 वृहदारण्यक 2, 5, 9 । श्वेताश्वतर 1/10, 4/9, 10 ।

2 छान्दोग्य, 6, 2 ।

3 छान्दोग्य, अ० 6 । 2, 3, 4 ।

आदिम तत्त्वों के त्रिगुणात्मक विभाजन में सांख्य दर्शन की उस विचारधारा का सूत्रपात होता है जिसमें शुद्ध सूक्ष्म तत्त्व (तन्मात्रा) और भौतिक तत्त्वों का विभेद किया गया है। इस दर्शन के अनुसार प्रत्येक भौतिक अथवा मिश्रित तत्त्व आदि तत्त्वों के कणों से बना हुआ माना गया है। प्रश्नोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के 8वें श्लोक में कहा गया है कि मिश्रित भौतिक तत्त्व उनके सूक्ष्म तत्त्व से भिन्न है जैसे पृथ्वी का सूक्ष्म तत्त्व और पृथ्वी मात्रा भिन्न है। तैत्तिरीय उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के प्रथम श्लोक में आकाश तत्त्व को ब्रह्म से उत्पन्न माना है और अन्य तत्त्व वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी के बारे में कहा है कि इनमें से प्रत्येक की उत्पत्ति उस सूक्ष्म तत्त्व से हुई है, जो इनसे पूर्व इनके सूक्ष्म तत्त्वों के रूप में विद्यमान थे।

विश्वात्मा

जिस प्रकार मनुष्य के शरीर से उसकी आत्मा का सम्बन्ध है उसी प्रकार विश्व के भौतिक शरीर का एक चेतन आत्मा से सम्बन्ध है। इसकी व्याख्या सर्वप्रथम ऋग्वेद के 10वें मण्डल के 121वें सूक्त के प्रथम मंत्र में आती है। इसके अनुसार आदिम जल से सर्वप्रथम इस आत्मा की उत्पत्ति हुई। श्वेताश्वतर उपनिषद् के तीसरे अध्याय, चतुर्थ श्लोक, चतुर्थ अध्याय के 12वें श्लोक में दो बार ऐसा प्रसंग आता है। परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि इसके पूर्व किसी उपनिषद् मे आत्मा का उल्लेख नही पाया जाता। दो संदर्भों में जहाँ इस आत्मा का वर्णन आया है वहाँ इसका पौराणिक स्वरूप स्पष्ट है। इस ब्रह्मांड की उत्पत्ति के क्रम में यह तत्त्व सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ ऐसा माना जाता है परन्तु ब्रह्म अथवा आत्मा सम्बन्धी दर्शन के विकास में इसका कोई स्थान अथवा महत्त्व नहीं है। उपनिषदों के प्रारम्भिक विकास में पुरुष, विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ आदि का कोई मुख्य उल्लेख न होने से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद की एकेश्वरवादी विचारधाराओं से उपनिषदों का सीधा सम्बन्ध नही माना जा सकता। श्वेताश्वतर में आए हुए इस प्रसंग से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद के 121वे सूक्त के 10वें मण्डल में जो हिरण्यगर्भ को महत्त्व एवं प्रमुख स्थान दिया गया है उसकी उपेक्षा उपनिषदों मे कर दी गई है तथा उसको साधारणतया अन्य उत्पन्न वस्तुओ के समानान्तर रख दिया गया है। हिरण्यगर्भ सिद्धांत के दार्शनिक महत्त्व को समझाते हुए ड्यूसन महोदय कहते हैं "सारी भौतिक प्रकृति का आधार ज्ञानमय सक्रिय चेतन तत्त्व है।" भौतिक प्रकृति का आधार यह सक्रिय चेतन तत्त्व प्रत्येक पदार्थ में पाया जाता है परन्तु यह उससे अभिन्न नहीं है। भौतिक पदार्थ काल गति से नष्ट हो जाते हैं परन्तु प्रकृति विनष्ट नही होती एवं उन भौतिक पदार्थों के नष्ट हो जाने पर भी प्रकृति उसी प्रकार स्थित रहती है। अतः अनन्त सक्रिय चेतन तत्त्व प्रकृति का आधार है जिसे हिरण्यगर्भ कह सकते हैं। इस चेतन तत्त्व में आकाश और काल निहित है और इसी से इनकी उत्पत्ति होती है, अत. यह स्वयं काल और आकाश से परे हैं और तदनुसार आनुभविक दृष्टिकोण से इसकी कोई 'स्थिति' नहीं है, यह अभूत है, यह यथार्थ सत्य न होकर

दार्शनिक सत्य है।[1] मेरे मत के अनुसार यह तर्कसगत नही दिखाई देता क्योकि हिरण्यगर्भ के सिद्धात का उपनिपदो मे कोई दार्शनिक महत्त्व नही है।

कारण सिद्धांत

कारण सिद्धात की उपनिपदो मे कोई सर्क-सगत व्याख्या नही मिलती। वेदान्त दर्शन के अन्तिम आचार्य शकर ने सदैव इस वात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उपनिपदो मे कारण सिद्धात को केवल परिवर्तन का आधार माना गया है क्योकि कारण प्रकृति मे स्वय कोई परिवर्तन नहीं होता, केवल परिवर्तन का आभास प्रतीत होता है। इस वात को शकराचार्य ने छान्दोग्य उपनिषद् (6 अध्याय, पहला श्लोक) से कई उदाहरण लेते हुए बताया है। भौतिक पदार्थो से निर्मित वस्तुऍ जैसे मिट्‌टी का जल पात्र, अपने आकार, जैसे घडा, मे परिवर्तन होने के उपरांत भी वास्तविक तत्त्व रूप मे मिट्टी का खण्ड ही है, यद्यपि इसके स्वरूप मे अनेकरूपता एव विभिन्नता है परन्तु घडा, थाली, पात्र आदि केवल नाम मात्र से ही अलग-अलग दिखाई देते हैं। रूप अथवा नाम के वाह्य आवरण को छोडकर देखने पर सबके मूल तत्त्व मे मिट्टी ही छिपी हुई है। इसी प्रकार आदि कारण अपरिवर्तन-शील ब्रह्म ही शाश्वत ध्रुव सत्य है। वाह्य रूप से प्रकृति का अनेक रूपों में परिवर्तन होते हुए यद्यपि हमे ऐसा आभास होता है कि यह भौतिक प्रकृति सत्य है परन्तु यह भौतिक जगत् आभास मात्र है, उसी ब्रह्म की माया है जो मृग-मरीचिका की भाँति सत्य दृष्टि-गोचर होते हुए भी सत्य नही है। ब्रह्म ही इस विश्व मे एकमात्र सत्य है। केवल उसी की स्थिति यथार्थ स्थिति है।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह दृष्टिकोण उपनिपदो मे अत्यन्त साधारण एव अपूर्ण ढग से कही-कहीं पर प्रस्तुत किया गया है परन्तु इसके साथ ही एक दूसरा दृष्टिकोण भी दिया गया है। जिसमे प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति विभिन्न स्थितियो मे अनेक शक्तियो की पारस्परिक क्रिया से कारण, विशेप द्वारा सम्पादित हुआ माना गया है। सरल शब्दों मे यह कहा जा सकता है कि कारण के विना किसी कार्य की स्थिति नही है। प्रकृति के प्रत्येक व्यापार के पीछे की पृष्ठभूमि मे वास्तविक कारण निहित है। इस प्रकार जहाँ प्रकृति के विभिन्न पदार्थो के स्वरूप का वर्णन एक स्थान पर आया है वहाँ उनको त्रिभूत अग्नि, जल एव पृथ्वी के सयोग से उत्पन्न माना गया है जो उनके सयोग का वास्तविक विशिष्ट फल है। इस विचारधारा मे हम साख्य दर्शन के कारण सिद्धात के परिणामवाद का सूत्रपात देखते हैं जिसका स्पष्टीकरण वाद मे हम करेंगे।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त

वैदिक काल के मनुष्य शरीर का दाह सस्कार देखते थे, उनके मन मे यह धारणा रहती थी कि मनुष्य की दृष्टि सूर्य मे विलीन हो जाती है। उसके श्वास, वायु मे विलीन हो जाते हैं, उसकी वाणी अग्नि मे समा जाती है एव उनके विभिन्न अवयव विश्व के विभिन्न अवयवो में मिल जाते हैं। उनका यही विश्वास था कि पुण्य-कर्मो का एव अशुभ कर्मों का फल

---

1 ड्यूसन कृत "फिलासफी ऑव द उपनिषद्स", पृ० 201।

दूसरे लोक में प्राप्त होता है और यद्यपि ऐसे अनेक स्थल आते हैं जहाँ मनुष्य की आत्मा के वृक्षादि मे प्रवेश का वर्णन हैं परन्तु पुनर्जन्म अथवा आत्मा का दूसरे शरीर में प्रवेश करने के सिद्धात का प्रचलन इस समय नही हुआ था।

लेकिन उपनिषदों मे इस दिशा मे विशेप रूप से इस ओर प्रगति दो चरणों मे दृष्टिगोचर होती है। प्रथम चरण मे वैदिक कर्म फल के सिद्धान्त के साथ पुनर्जन्म के सिद्धात को जोड़कर देखा जाता है और दूसरे चरण मे अन्य लोक में कर्म फल प्राप्ति के सिद्धांत को छोडकर केवल पुनर्जन्म के सिद्धात पर विशेप वल दिया गया है। ऐसा कहा गया है कि जो लोग पुण्य-कर्म करते हैं एव लोक कल्याण की भावना से कुए आदि वनाने का शुभ कार्य करते है उनकी आत्माएँ मृत्यु के पश्चात् पितृयान अर्थात् पितरों के मार्ग का अनुसरण करती हुई चन्द्रलोक को प्राप्त करती है। मृत्यु के पश्चात् ये आत्माएँ पहले धूम मे प्रवेश करती हैं फिर रात्रि मे प्रवेश करती है, रात्रि से कृष्ण पक्ष में और कृष्ण पक्ष से चन्द्र लोक मे पहुँचती है। जव तक उस आत्मा के पुण्य कर्म समाप्त नही होते तव तक वे चन्द्र लोक मे आनन्द से समय व्यतीत करती हैं तत्पश्चात् वे आकाश, वायु, धूम, धुन्ध, मेघ, वर्षा, वनस्पति, अन्न एव वीज से होती हुई भोजन तत्त्व के द्वारा मनुष्य में प्रवेश पाकर माँ के गर्भ में प्रविष्ट होती है और तत्पश्चात् जन्म लेती हैं। इस प्रकार हम देखते है कि ये आत्माएँ न केवल पुण्यकर्मों का फल प्राप्त करती है अपितु इस विश्व मे पुनर्जन्म लेती हैं।[1]

दूसरा मार्ग देवयान है अर्थात् देवताओ का मार्ग है। यह उनको प्राप्त होता है जो श्रद्धा और तप की साधना करते है। ये आत्माएँ मृत्यु के उपरान्त अग्नि, दिवस, शुक्ल पक्ष, सूर्य, चन्द्र, विद्युत् एवं वर्ष के शुक्लार्ध मे होती हुई अन्त में ब्रह्म में प्रविष्ट होती हैं जहाँ वे पुनर्जन्म के वन्धन से मुक्त हो जाती है। ड्यूसन महोदय कहते है कि इसका अर्थ यह है पुण्य आत्मा शुभ कर्म करने पर मृत्यु के उपरान्त शनैः शनै प्रकाश की ओर वढ़ती है और इस प्रकार उस प्रकाशमय ब्रह्म को प्राप्त करती है जिसमे विश्व मे जो कुछ प्रकाशमान् उज्ज्वल एवं सुन्दर है वह निहित है और जो "ज्योतिषाम् ज्योति" है।

दूसरी विचारधारा दूसरे लोको मे जाने के मार्गो के अथवा पितृयान या देवयान के द्वारा कर्मवाद के फल प्राप्ति वाले सिद्धात के साथ जोड़े विना पुनर्जन्म के सिद्धात की व्याख्या करती है। याज्ञवल्क्य कहते हैं, "जवकि आत्मा निर्वल हो जाती है (शरीर की निर्वलता के साथ वाह्य निर्वलता) और जव यह मूर्छित हो जाती है तव मनुष्य के इन्द्रिय तत्त्व इसकी ओर आकर्पित होते है और ये उनको अपने मे समेट लेती है। यह आत्मा इन प्रकाश के परमाणुओ को अपने मे समेटकर हृदय मे केन्द्रीभूत हो जाती है। इस प्रकार जव दृष्टि-पुरुप आत्मा में विलीन हो जाता है तव आत्मा रंग रूप नही देख पाती। क्योकि ये सभी इन्द्रियाँ आत्मा से तादात्म्य स्थापित कर लेती हैं और तव जन साधारण उसके लिए कहते हैं कि वह देख नही सकता, क्योकि उसकी इन्द्रियाँ उस मनुष्य के साथ उस चेतन तत्त्व मे विलीन हो जाती हैं, वह गन्ध नही ले सकता, क्योकि उसकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो

1. छान्दोग्य, अध्याय 5, श्लोक 10वा।

जाती हैं। वह रसास्वादन नही कर सकता, समझ नही सकता, सुन नही सकता, स्पर्श नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं। उसके हृदय का एक कोना दिव्य प्रकाश से भर जाता है और इस मार्ग से फिर आत्मा शरीर का त्याग कर देती है। जब कभी भी यह आत्मा नेत्र, सिर अथवा शरीर के किसी भाग से बाहर जाती है तब प्राण उसका अनुसरण करते हैं और अन्य सारी इन्द्रियाँ प्राणो का अनुसरण कर प्राणो का त्याग कर देती हैं तब वह मनुष्य एक सूक्ष्म निश्चित चेतना के रूप मे स्थिर हो बाहर आ जाता है। तत्पश्चात् ज्ञान अथवा प्रज्ञा, कर्म और पूर्व अनुभव के साथ बाहर आ जाते हैं। जिस प्रकार इल्ली पत्ते की नोक तक पहुँचकर अपने आप को पुन सिकोड लेती है उसी प्रकार यह आत्मा शरीर को विनष्ट कर, अज्ञान का निवारण कर, एक विशेष गति से अपने आपको सिकोड लेती है। जिस प्रकार स्वर्णकार स्वर्ण खड को लेकर उसको एक नया एव सुन्दर स्वरूप प्रदान करता है उसी प्रकार आत्मा एक शरीर को नष्ट कर, अज्ञान को मिटाकर, नवीन एव अधिक सुन्दर स्वरूप को धारण करती है जो पितृयोनि, गन्धर्वयोनि, देवयोनि, प्रजापति अथवा ब्रह्म अथवा और किसी दिव्ययोनि के अनुरूप होता है। जैसे वह कर्म और व्यवहार करती है वैसी ही वह पुण्य कर्मों से पुण्यात्मा अथवा दुष्ट कर्मो से दुष्टात्मा बन जाती है। सुन्दर कर्मों से पुण्यात्मा और पाप कर्मों से वह पापी कहलाती है। मनुष्य कामनाओ से परिपूर्ण है वह कामनाओ के अनुसार सकल्प करता है। जैसा वह सकल्प करता है वैसा ही वह कार्य करता है और जैसा वह कर्म करता है वैसा ही कर्म क्रियान्वित होता है। कर्म फल के अनुसार पूर्ण भोग करने के पश्चात् वह वापस इस विश्व मे आता है और पुन कर्म मे प्रवृत्त हो जाता है।[1] ऐसा उन लोगो के साथ होता है जिनके हृदय मे अनेक कामनाएँ हैं। जो निष्काम हैं, जिनको कोई कामना नही है, जो सांसारिक कामनाओ से मुक्त हो गए हैं, जो अपने आप मे सतुष्ट हैं, उनकी बुद्धि विकृत नहीं होती, उनकी चेतना नष्ट नही होती। वे कर्म के स्वरूप को आत्मसात् कर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति करते हैं। यह शास्त्रो का वचन है, हृदय की समस्त कामनाओं से मुक्त होकर मर्त्य अमर हो जाते हैं और फिर ब्रह्मत्व को प्राप्त होते हैं।[2]

इस सन्दर्भ की सूक्ष्म समीक्षा से यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान जीवन की समाप्ति पर आत्मा स्वय शरीर को नष्ट कर अपने लिए एक नवीन एव अधिक सुन्दर ढाँचे या आवास का निर्माण अपने ही क्रियाकलापो द्वारा करती है। मृत्यु के समय आत्मा सारी इन्द्रियों और मन को अन्तर्मुखी कर लेती है और मृत्यु के पश्चात् ज्ञान एव अनुभव आत्मसात् होकर सस्कार आत्मा मे निहित हो जाते हैं। मृत्यु के समय शरीर का विनाश, नवीन शरीर धारण के लिए ही होता है। आत्मा इस लोक मे अथवा अन्य लोकों में नवीन शरीर धारण करती है। यह आत्मा जो इस प्रकार पुनर्जन्म लेती है अनेक सस्कारो को जो इसके

---

1 ऐसा सम्भव है कि यहाँ पर स्पष्ट रूप से वह सिद्धात सकेतित हो कि हमारे कर्मों का फल हमको दूसरे लोको मे मिलता है।

2 बृहदारण्यक, चतुर्थ अध्याय, भाग 4, 1, 7।

पूर्व जन्मों में अर्जित होते है, अपने मे समाविष्ट रखती है। ऐसा कहा गया है कि "उसमे ज्ञान, जीवन, दृष्टि, श्रुति और पंचभूतों के सूक्ष्मतम तत्त्व अन्तर्निहित रहते हैं। (जिनके द्वारा आवश्यकतानुसार पार्थिव शरीर का निर्माण हो सकता है)। इस आत्मा मे कामना, संयम, क्रोध, अक्रोध, धर्म, अधर्म और उन सब वस्तुओं के संस्कार जो प्रकट है अथवा जो अप्रकट हैं समाविष्ट रहते हैं।"[1] इस प्रकार वह आत्मा जिसका पुनर्जन्म होता है न केवल मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक संस्कारो का समन्वय है वरन् वे सारे तत्त्व जिनसे यह भौतिक प्रकृति वनी है उसमें सूक्ष्म रूप से विद्यमान माने गए हैं। परिवर्तन का यह सारा क्रम उसके इस स्वभाव के कारण ही होता है क्योकि जो कुछ वह कामना करता है उसी के अनुसार निश्चय करता है, तदनुसार कार्य करता है और उस कर्म के अनुसार उसे फल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार कर्म और कर्म फल की उत्पत्ति का कारण उसके आन्तरिक संस्कारो के रूप मे उसी मे निहित होते हैं क्योंकि वह नैतिक एव मनोवैज्ञानिक स्वभाव तथा साथ ही प्रकृति के तत्त्वो का एक समन्वित रूप है।

वह आत्मा जिसका पुनर्जन्म होता है और जो अनेक प्रकार के प्राकृतिक, नैतिक और मनोवैज्ञानिक सस्कारो से आविष्ट है तथा भौतिक तत्त्वों से उसमें परिवर्तन का स्वरूप वीज रूप मे विद्यमान रहता है। इस सवका मूल आत्मा की कामना और उस कामना की पूर्ति के लिए किए हुए कर्म और उसके फल मे निहित है। जव मनुष्य की आत्मा कामना में वँधकर कर्म करती है तव उसका उसे फल प्राप्त होता है, तव उस फल का भोग करने के लिए पुनः संसार मे आती है और पुनः कर्म वन्धन मे लिप्त होती हैं। यह संसार कर्म क्षेत्र माना जाता है जहाँ पर मनुष्य इच्छानुसार कर्म करता है जवकि कर्म फलों के भोग के वारे में यह समझा जाता है कि यह दूसरे लोको में प्राप्त होता है जहाँ पर मनुष्य देवयोनि मे जन्म लेता है। परन्तु उपनिषदो में इस सिद्धान्त के ऊपर विशेष वल नही दिया गया है। पितृयान सिद्धान्त का यहाँ एक दम परित्याग नही किया गया है परन्तु यह सिद्धान्त उस सिद्धान्त का एक भाग है जिसमे दूसरे लोकों में अथवा इस लोक में पुनर्जन्म का सारा क्रम आत्मा पर निर्भर वतलाया गया है जो कामनाओं से वँधी हुई अनेक प्रकार के कर्म करती है। परन्तु यदि यह कामनाओ का परित्याग कर देती है और निष्काम कर्म करती है तो पुनर्जन्म के वंधन से मुक्त होकर अमर हो जाती है। इस मत का सवसे विशिष्ट लक्षण यह है कि यह कामनाओं को ही पुनर्जन्म का कारण मानता है, कर्म को नही। कर्म, कामनाओ एवं पुनर्जन्म के वीच की एक कडी है क्योकि ऐसा कहा गया है कि मनुष्य जैसी इच्छा करता है वैसा ही निश्चय करता है और जैसा निश्चय करता है वैसा ही कर्म करता है।

एक दूसरे स्थल पर ऐसा कहा गया है कि "मनुष्य जानवूझ कर जैसी इच्छा करता है, जैसी कामना करता है उसी के अनुरूप पुनर्जन्म लेकर उन इच्छाओ की पूर्ति के लिए उन स्थानों पर जाता है, जहाँ उनकी इच्छाओं की पूर्ति हो सकती है। परन्तु जिनकी सब

---

1. वृहदारण्यक, अध्याय 4, 4, 5।

इच्छाएँ पूर्ण हो गयी हैं, जिन्होंने आत्मानुभव किया है उनकी सब कामनाएँ विलुप्त हो जाती हैं" (मुंडक, अध्याय 3, पृ० 2, 2)। आत्मा के पूर्ण ज्ञान-से कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं। "जो अपने आप को जानता है, अर्थात् जो यह पहचानता है कि आत्मा ही मैं हूँ, मैं वह व्यक्ति हूँ, वह अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए शरीर को क्यों कष्ट देना चाहेगा और यहाँ इस लोक में होते हुए भी यदि हम यह जानते हैं तो ठीक है। अन्यथा अज्ञान के कारण कितना विनाश होता है' (वृहदारण्यक 4, 4, 12 और 14)।" प्राचीन काल में बुद्धिमान् व्यक्ति पुत्रों की कामना नहीं करते थे। यह विचारकर कि हम पुत्रों का क्या करेंगे जबकि हमारी आत्मा ही ब्रह्माड है। उपनिषदों में कर्म सिद्धान्त की वे वारीकियाँ नहीं पाई जातीं जो हिन्दू धर्म के उत्तर-कालीन कर्मवाद के दर्शन में मिलती हैं। यह सम्पूर्ण प्रणाली काम के सिद्धान्त को लेकर स्थापित की है और कर्म, काम एवं उस काम के कारण मनुष्य द्वारा किए हुए कर्म के बीच की कड़ी है।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि उपनिषदों में बारम्बार काम द्वारा ही पुनर्जन्म होता है। इस मत के अनुरूप ही कुछ उपनिषदों में यह मत मिलता है कि स्त्री के गर्भ में कामना के कारण वीर्यपात को मनुष्य का प्रथम जन्म माना है। वास्तविक रूप में पुत्र की उत्पत्ति को दूसरा जन्म और मृत्यु के पश्चात् किसी और लोक में जन्म को तीसरा जन्म माना है। इस प्रकार यह कहा गया है कि "मनुष्य में सर्वप्रथम जीवाणु का जन्म होता है जो वास्तव में शरीर के सत्व वीर्य के रूप में स्थित है जो स्वयं में आविष्ट है और जब वह गर्भ में प्रवेश करता है तब यह उसका प्रथम जन्म है। यह भ्रूण उस स्त्री के शरीर के साथ आत्मसात् हो जाता है तब यह उसको हानि नहीं पहुँचाता है। वह इस भ्रूण की रक्षा करती है और अपने गर्भ में उसका विकास करती है जिस प्रकार यह इस भ्रूण की रक्षा करती है उसी प्रकार उस (स्त्री) की रक्षा करना भी आवश्यक है। जन्म के पूर्व स्त्री गर्भ को धारण करती है परन्तु जन्म के पश्चात् पिता पुत्र की चिन्ता करता है और इस प्रकार वह अपनी ही रक्षा करता है, क्योंकि पुत्रों के द्वारा ही वंश-रक्षा होती है, यह उसका दूसरा जन्म है। मनुष्य अपनी आत्मा के इस स्वरूप को अपने प्रतिनिधि के रूप में सारे शुभ कर्म करने के लिए निर्दिष्ट करता है। परन्तु उसका दूसरा स्वरूप अथवा आत्मा आत्म-सिद्धि प्राप्त कर स्वयं पूर्णावस्था प्राप्त कर संसार का परित्याग करता है और इस प्रकार जाकर वह पुनर्जन्म लेता है और यह इसका तीसरा जन्म है। (ऐतरेय, अध्याय 2, 1, 40)।[1] उपनिषदों में कामवासना अथवा पुत्र की कामना के ऊपर कोई विशेष बल नहीं दिया गया है। सभी प्रकार की इच्छाएँ काम शब्द से निर्दिष्ट की गई हैं। इस प्रकार पुत्र की इच्छा ऐसी ही है जैसी धन की इच्छा। धन की इच्छा इसी प्रकार की है जैसे अन्य कोई सांसारिक काम (वृहदारण्यक, अध्याय 4, 22वाँ श्लोक)। इस प्रकार कामवासना उसी स्तर पर आँकी गई है जैसे अन्य कोई साधारण इच्छा।

---

1 कौषीतकि भी देखें, 2/15।

मोक्ष या मुक्ति

दूसरा सिद्धान्त जो विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है वह मुक्ति का है। देवयान के सिद्धान्त में हम यह देख चुके हैं कि वे व्यक्ति जो श्रद्धा और भक्ति के साथ तप आदि धर्म कार्य में प्रवृत्त होते हैं, देवयोनि को प्राप्त होकर पुनर्जन्म के कष्ट से मुक्त हो जाते हैं। इसके विपरीत पितृयान अर्थात् पितरों के मार्ग का जो अनुसरण करते हैं वे दूसरे लोकों में कुछ समय तक अपने सुन्दर कर्मों का सुख भोग करते हुए पुण्यों के क्षीण होने के पश्चात् पुनः इस पृथ्वी पर जन्म लेते हैं। इस प्रकार जो श्रद्धा के मार्ग को अपना कर भक्ति करते हैं उनका गन्तव्य स्थान एवं लक्ष्य उनसे भिन्न है जो साधारण शुभ कर्मों मे प्रवृत्त होते हैं, यह भेद मोक्ष प्राप्ति के सिद्धान्त के आधार पर पूर्ण-रूपेण समझा जा सकता है। उपनिपदों के अनुसार मुक्ति मनुष्य की वह अपार्थिव अवस्था है जब वह अपनी आत्मा का शुद्ध ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्म लोक को जाता है। पुनर्जन्म की शृंखला उन लोगों के लिए है जो ज्ञानी नहीं हैं। जो ज्ञानवान् पुरुप हैं वे सांसारिक कामनाओं से उपरत होकर निष्काम, शुद्ध ब्रह्म रूप प्राप्त करते हैं और कर्म के वन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

> "वे ज्ञानी पुरुप जो परमात्मा का उच्चतम एव गहनतम या गूढ़तम ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं उनके हृदय के वन्धन खुल जाते हैं। वे निःसंशय होकर कर्मफल से मुक्त हो जाते हैं और इस प्रकार कर्म करते हुए भी कर्म में लिप्त नही होते।"[1]

आत्मा का पूर्ण ज्ञान होने पर यह अनुभव हो जाता है कि हृदय की सारी वासनाएँ और विकार, इन्द्रियजन्य ज्ञान की सीमाएँ, हृदय की शुद्धता, अनुदारता और जीवन की क्षणभगुरता, ये सव मिथ्या हैं। हम यद्यपि जानते नही हैं, फिर भी हम हैं पूर्ण ज्ञान स्वरूप। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाले ज्ञान की परिधि से ऊपर उठकर हम स्वयं पूर्ण ज्ञानी हो जाते हैं। वह ज्ञान जो शुद्ध है, इन्द्रियातीत है, हमारा स्वरूप है। अनन्त एवं असीम होकर हम वन्धन से मुक्त हो जाते हैं। अमर होकर मृत्यु के त्रास से मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार मुक्ति किसी नयी अवस्था की प्राप्ति नही है किसी कर्म का फल अथवा प्रभाव से परे है। हमारी आन्तरिक प्रकृति का यह शाश्वत सत्य है, यह किसी वस्तु से उत्पन्न नही होती। स्वयं आत्मा मे स्थित है। हम सदैव मुक्त एवं स्वच्छन्द है। कठिनाई केवल यह है कि हम अपनी आत्मा के स्वरूप को नहीं पहचानते और इसीलिए पुनर्जन्म आदि अनेक कष्टों को भोगते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि आत्मा का सत्य ज्ञान मोक्ष को देने वाला नहीं है वरन् यह ज्ञान ही मोक्ष है। कष्ट एवं वन्धन तव तक ही सत्य प्रतीत होते हैं जब तक कि हम अपने सत्य स्वरूप को नही पहचानते। मोक्ष ही मनुष्य का एक मात्र स्वाभाविक लक्ष्य है क्योकि मनुष्य का सत्य स्वरूप इसी में निहित है। हम अपनी वास्तविक प्रकृति और स्वभाव का पूर्णरूपेण अनुभव करते हैं तो यह अनुभूति ही मुक्ति है क्योंकि वास्तविक रूप मे हम सभी मुक्त जीव है। हमे इसका ज्ञान आवश्यक है कि हम मुक्त हैं,

---

1. ड्यूसन फिलासफी ऑव उपनिपद्स, पृ० 352।

इस ज्ञान के बिना अकारण ही बन्धन के चक्र मे ग्रसित रहते हैं। अत आत्म ज्ञान ही वह वस्तु है जिसके कारण हम मिथ्या ज्ञान एव जन्म मरण की माया से मुक्त हो सकते हैं। कठोपनिषद् मे ऐसी कथा आती है कि मृत्यु के देवता यम ने गौतम के पुत्र नचिकेता की इच्छा-नुसार तीन वर माँगने की उसे आज्ञा दी। नचिकेता ने यह जानकर कि उसके पिता गौतम उससे रुष्ट हैं, पहला वरदान माँगा कि हे यम ! मुझसे मेरे पिता गौतम प्रसन्न हो जावें और मेरे प्रति उनका क्रोध समाप्त हो जाय। इस वर की प्राप्ति के पश्चात् नचिकेता ने दूसरा वर माँगा कि स्वर्ग मे जो अग्नि स्थापित है जिससे स्वर्ण प्राप्त होता है, अर्थात् वैश्वानर नामक अग्नि उसका मुझे ज्ञान दें। यम ने इस वर की भी स्वीकारोक्ति दी। तब नचिकेता ने तीसरा वर माँगा—"मैं आपसे यह ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा का क्या स्वरूप होता है ? कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा नष्ट हो जाती है और कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा जीवित रहती है। आप इस विषय मे मुझे पूर्ण ज्ञान दीजिए। यह मेरा तीसरा वर है।" यम ने उसको कहा कि यह अत्यन्त प्राचीन जिज्ञासा है। देवता लोग भी इसको जानने मे प्रयत्नशील हैं। इसको समझना अत्यन्त कठिन है। तुम इसके स्थान पर कोई दूसरा वर माँगो। क्योंकि यह प्रश्न अत्यन्त दुरुह है, मुझे इसका उत्तर देने के लिए बाध्य मत करो। नचिकेता ने तब उत्तर दिया कि हे यम ! तुम कहते थे कि देवता भी इस ज्ञान को प्राप्त करना चाहते हैं और यदि यह विषय अत्यन्त दुरुह है तब तो इसके उत्तर देने में आपके अतिरिक्त और किसी की सामर्थ्य नही है, न इससे अच्छा और कोई आप वरदान दे सकते हैं, अत मैं आपसे पुन प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे यही वरदान दें। यम ने फिर कहा—"शतायु वाले पुत्र पौत्रों का वर माँगो। हाथी, घोडे, स्वर्ण और पशुधन की आकांक्षा करो। इस विशाल पृथ्वी की आकांक्षा करो। और जब तक इच्छा हो तब तक जीने का वर माँगो और यदि कोई इससे भी अच्छा वरदान चाहते हो तो धन और दीर्घ जीवन के साथ उसकी माँग करो। इस अखिल पृथ्वी के सम्राट् बनो, मैं तुम्हारी मनोकामना की पूर्ति का वर दूँगा। तुम उन सब दुर्लभ आकाक्षाओ की पूर्ति का वर माँगो जो मनुष्य लोक मे प्राप्त नहीं होती हैं। तुम स्वर्ग की सगीतमय उन अप्सराओ का वर माँगो जो मनुष्यो को अप्राप्य हैं। मैं यह सब तुमको देने को तैयार हूँ परन्तु मृत्यु के विषय मे यह जिज्ञासा मत करो।" नचिकेता ने यह कहा कि यह जीवन क्षणिक है, मृत्यु के साथ ही सगीत और नृत्य समाप्त हो जाते हैं। मनुष्य समृद्धि से और धन से सतुष्ट नही होता। यह सिद्धि तब तक ही है जब तक मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। हम उतनी ही देर तक जीवित रहते हैं तब तक तुम इच्छा करते हो। जिस वर को मैं चाहता था वह मैंने निवेदन कर दिया। यम ने तब कहा, एक वस्तु श्रेयस्कर है और दूसरी आनन्दमय। वह मनुष्य धन्य है जो श्रेयस्कर वस्तु को चुनते हैं क्योंकि जो आनन्दमय वस्तुओ को चुनते हैं वे अपने निर्दिष्ट मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं। परन्तु तुमने अपनी कामनाओ की पूर्ति के लिए लक्ष्य की असलियत समझ ली है और सासारिक कामनाओ पर बिलकुल ध्यान नही दिया है। ये दोनो वस्तुऐं अर्थात् अज्ञान जिससे क्षणिक आनन्द प्राप्त होता है और ज्ञान जिससे श्रेय की प्राप्ति होती है, एक दूसरे से भिन्न हैं और दोनो का लक्ष्य अलग-अलग है। जो यह विश्वास करते हैं कि यह ससार ही सत्य है और कोई दूसरे दुःख नही हैं वे चेतना-रहित युवक मेरे (मृत्यु) त्रास से

चिन्तित रहते हैं। जो ज्ञान तुम चाहते हो वह तर्क से प्राप्त नही होता। मैं यह जानता हूँ कि सांसारिक सुख क्षणभंगुर है क्योंकि जो स्वयं अस्थिर और क्षणिक है उसके आधार पर स्थायी सुख को प्राप्त नहीं किया जा सकता। विद्वान् पुरुष आत्मज्ञान का मनन करते हुए और उसको जानते हुए जिसका दर्शन कठिन है, सुख और दुःख दोनों को त्याग देता है। हे नचिकेता तुम ऐसे गृह के समान हो जिसका द्वार ब्रह्म के लिए खुला है। ब्रह्म मृत्युहीन है, अमर है। जो उसका ज्ञान प्राप्त कर लेता है उसकी समस्त इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं। ज्ञानी पुरुष न जन्म लेते हैं न मृत्यु को प्राप्त होते हैं। उनकी उत्पत्ति कहीं नही होती। जिसका जन्म नही होता जो अनन्त एवं अमर है उस आत्मा को कोई नहीं मार सकता, यद्यपि शरीर को नष्ट किया जा सकता है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, महान् से भी महान् है। दूर जाते हुए भी बैठा है और एक स्थान पर लेटा हुआ ही वह सभी स्थानों मे व्याप्त है। आत्मा को पार्थिव वस्तुओं मे व्याप्त अपार्थिव तत्त्व समझकर क्षणिक प्रकृति मे स्थायी समझकर ज्ञानी अपने कष्टों से मुक्त हो सकते हैं। इस आत्मा को प्रवचन से, मेधा से या बहुश्रुतता से नही जाना जा सकता। जिसको वह यह ज्ञान देना चाहती है उसी को वह अपने सत्य स्वरूप का दर्शन देती है। जब तक यह आत्मा काम से मुक्त नही होती तब तक इच्छा करती है। तब तक इच्छा और कर्म के चक्र में फँसकर इस जन्म से और अगले जन्म में कर्मफल का भोग करती रहती है। परन्तु जब यह अपने सम्बन्ध मे उच्चतम सत्य का ज्ञान प्राप्त करती है जब इसे यह ज्ञान होता है कि इस विश्व की उच्चतम चेतन तत्त्व और परम ब्रह्मानद, अमर एव असीम परम आत्मा का यह अंश है तब सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं और निष्काम बुद्धि से शाश्वत सत्य का दर्शन कर अपरिमित अमृत तत्त्व को प्राप्त होती है। मनुष्य इस विश्व की उच्चतम कृति है और सुन्दरतम तत्त्वो से विरचित है। शरीर के अन्नमय कोष, जीवन के प्राणमय कोष, इच्छा और कामनाओ के मनोमय कोष, विचार और ज्ञान के ज्ञानमय कोष से मनुष्य का स्वरूप निर्मित हुआ है। जब तक वह अपने आपको इन कोषों में सीमित रखता है वह अनेक वर्तमान जीवन एव भविष्य के अनेक जीवनो की अनेक अनुभूतियो को प्राप्त करता हुआ संचरण करता रहता है। ये अनुभव उनकी स्वय की इच्छा के अनुसार होते हैं और इस प्रकार उसी के द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। वह सुख, दुःख, रोग और मृत्यु के दुःखो से सतापित होता रहता है। परन्तु यदि वह इन सबसे उपरत हो जाता है और अपनी अविनाशी आत्मा को पहचान लेता है तो वहाँ वह आनन्दात्मक अनुभव से एकाकार हो जाता है और ऐसी स्थिति मे पहुँच जाता है जहाँ कोई परिवर्तन या विचलन नही होता। इस स्थिति के सम्बन्ध मे यही कहा जा सकता है कि यह साधारण अनुभूतियों से परे है और इन्द्रियों का विषय नही है। इसके बारे मे यही कहा जा सकता है कि न यह है, न वह है, (नेति, नेति)। इस अनन्त सत्य स्वरूप में किसी प्रकार का द्वन्द, अन्तर, संघर्ष नही है। यह एक विशाल समुद्र की तरह है जिसमे भौतिक जीवन इसी प्रकार घुल जाएगा जैसे समुद्र के जल मे लवण। "हे मैत्रेयी, जिस प्रकार जल में डाली हुई नमक की डली घुलकर लुप्त हो जाती है और उसको अलग से प्राप्त नही किया जा सकता परन्तु जल के जिस भाग को भी पीया जाए वह खारा लगता है उसी प्रकार यह महान् अनन्त सर्वव्यापक सत्यपूर्ण ज्ञान के रूप मे इन सम्पूर्ण भौतिक प्राणियों में

प्रकट होता है, उन्ही मे लुप्त हो जाता है और तब इसका ज्ञान इन्द्रियो द्वारा नही हो पाता।" (बृहदा० 2/4/12) वास्तविक सत्य भौतिक जीवन की सभी क्रियाओ में दृष्टि-गत होता है परन्तु जब यह अपने आप मे निहित हो जाता है तब इस भौतिक जीवन की क्रियाओ मे इसको देखना असम्भव हो जाता है। पूर्ण ज्ञान की अनन्तावस्था, शुद्धतम स्वरूप एव ब्रह्मानन्द ही महानतम स्थिति है।

अध्याय 4

भारतीय दर्शन प्रणाली का सामान्य विवेचन

भारतीय दर्शन का इतिहास किस अर्थ में संभव है ?

पाश्चात्य दर्शन का इतिहास जिस ढंग से लिखा गया है उस ढंग से भारतीय दर्शन का इतिहास लिखना कठिन हो गया है । यूरोप मे प्रारभिक काल में विभिन्न दार्शनिक एक युग के पश्चात् दूसरे युग में उत्पन्न हुए और उन्होंने दर्शन-शास्त्र मे अपनी स्वतंत्र विवेचना प्रस्तुत की। आधुनिक इतिहासकार की भूमिका केवल इतनी सी रह जाती है कि इन सिद्धान्तों को क्रमानुसार व्यवस्थित कर इनके पारस्परिक प्रभाव एव समय-समय पर मतों के परिवर्तनों की विवेचनात्मक व्याख्या कर दी जाय । परन्तु भारत में मुख्य दार्शनिक प्रणालियों का प्रादुर्भाव ऐसे युग मे हुआ जिसका इतिहास साधारणतया उपलब्ध नही है अत. ठीक-ठीक प्रकार से यह कहना कठिन है कि वे किस युग मे प्रारम्भ हुए । विभिन्न प्रणालियों का अर्थात् एक दर्शन पर दूसरी दर्शन प्रणाली का कब-कब और कैसे प्रभाव पड़ा उसका भी उचित रूप से निरूपण नही किया जा सकता । संभवतया ये सारी शाखाएँ प्रारभिक उपनिषदो के थोडे समय पश्चात् से ही उद्भूत होने लगी थी, ऐसा प्रतीत होता है ।

उस काल मे गुरु एवं लघु सूत्रों के द्वारा अनेक दर्शनों पर उत्तम शास्त्रों की रचना की गई परन्तु इनमे विषय-विशेष की पूर्ण व्याख्या न होकर पाठकों के लिए सूत्ररूपेण उन व्याख्याओ को अंकित किया गया था जिनसे वह दर्शनकार परिचित था । यह ग्रन्थ स्मृति लाभ हेतु ही लिखे गए थे । जिन्होने गुरु मुख से इन विषयों पर पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर ली थी, उनके लाभ हेतु संकेत रूप में ये शास्त्र लिखे गए थे । इन सूत्रों से दर्शन की किसी प्रणाली विशेष के पूर्ण महत्त्व की कल्पना करना कठिन है । साथ ही यह भी पता लगाना कठिन है कि वास्तव मे जिन व्याख्याओ एव वाद-विवादों को इन सूत्रों ने जन्म दिया वे कहाँ तक मूल दर्शन के सिद्धान्तों पर आधारित थे । सम्भव है कि उस दर्शन के आचार्य का मत मूलतः भिन्न रहा हो । वेदान्त दर्शन के सूत्रों का उदाहरण लीजिए । इन सूत्रों का शारीरिक सूत्र अथवा बादरायण के ब्रह्म-सूत्र के नाम से जाना जाता है । इनका स्वरूप ऐसा दुरूह एवं अस्पष्ट है कि इन सूत्रो के लगभग 5-6 भाष्य मिलते हैं और इनमें से प्रत्येक भाष्य के संबंध में कहा जाता है कि यही वास्तव मे वेदान्त दर्शन है । इन सूत्रों का

स्थान और महत्त्व इतना उच्च था कि उत्तरकाल के प्रत्येक दर्शन-शास्त्री ने प्रयत्न किया कि वह अपनी दर्शन प्रणाली को इन सूत्रो के आधार पर सिद्ध कर पाये। प्रत्येक ने अपने मत की पुष्टि में यह घोषणा की कि उनका मत ही इन सूत्रों के आधार पर सत्य मत है। साथ ही इन दर्शन प्रणालियों का ऐसा महत्त्व था कि प्रत्येक दार्शनिक अपने आप को इन दर्शन-प्रणालियो मे से एक का अनुयायी अवश्य मानता था। उनके शिष्य भी स्वाभाविक रूप से अपने गुरुओ से किसी दर्शन शाखा विशेष का अध्ययन कर ज्ञान प्राप्त करते थे। अत उनके लिए विचार स्वातत्र्य सम्भव नही था। वे जिस शाखा का अध्ययन करते थे उस शाखा की मत की पुष्टि करना ही उनका कर्त्तव्य एव धर्म था। इस प्रकार भारत मे स्वच्छद विचारको के लिए वातावरण अनुकूल नहीं था। प्रत्येक शाखा के शिष्यगण यह प्रयत्न करते थे कि उनकी विशिष्ट शाखा के परम्परागत मत को वे सरक्षण दें और उसकी ही पुष्टि करने मे अपने ज्ञान और समय का उपयोग करें। अपने विषय की स्थापना और उसका प्रतिपादन करते हुए ये लोग दूसरे मतों पर प्रहार करते थे और अपने मत की रक्षा करने का प्रयत्न करते रहते थे। उदाहरण के तौर पर दर्शन की न्याय शाखा के सूत्र गौतम द्वारा रचित माने जाते हैं जिनको अक्षपाद के नाम मे भी पुकारा जाता है। इन सूत्रो के ऊपर प्रारम्भिक टीका वात्स्यायन ने लिखी थी जिसको वात्स्यायन-भाष्य के नाम से पुकारते थे। इस भाष्य की बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग ने कडी आलोचना की। इस आलोचना का उत्तर देने के लिए उद्योतकर ने इस टीका पर एक और टीका लिखी जिसका नाम है भाष्य वार्तिक। समय की गति के साथ इस ग्रन्थ का महत्त्व कम हो गया और इस शाखा के गौरव को अक्षुण्ण रखने मे यह समर्थ न हो सका। तब वाचस्पति मिश्र ने द्वितीय टीका के ऊपर एक और टीका लिखी जिसका नाम वार्तिक तात्पर्य टीका है जिसमे उसने न्याय दर्शन के ऊपर जितने भी अन्य शाखाओ के द्वारा, विशेषकर बौद्धो के द्वारा, आक्षेप किए गए थे उन सबका उत्तर देने का प्रयत्न किया है। इस टीका पर, जिसे न्याय तात्पर्य टीका के नाम से पुकारतें हैं, एक और टीका लिखी गई जिसका नाम है "न्याय तात्पर्य टीका-परिशुद्धि" जिसको महान् विद्वान् उदयन ने लिखा था। इस टीका के ऊपर एक और दूसरी टीका मिलती है जिसको "न्याय निबन्ध प्रकाश" कहते हैं जो सुप्रथित गङ्गेश के पुत्र वर्धमान ने लिखा था। इस पर पुन वर्धमानेन्दु नाम की पद्मनाभ मिश्र द्वारा एक और टीका लिखी गई और इस टीका पर श्री शकर मिश्र ने न्याय तात्पर्य मडन नाम की टीका लिखी। वात्स्यायन, वाचस्पति और उदयन बडे प्रसिद्ध एव महान् व्यक्तियों मे से हैं परन्तु ये लोग भी अपनी शाखा विशेष की टीका लिखकर ही सतुष्ट हो गए और उन्होंने किसी नए मत एव शाखा को प्रारम्भ करना उचित नही समझा। भारत में बुद्ध के पश्चात् हुए सबसे महान् धर्माचार्य शकर ने भी अपने जीवन को ब्रह्म सूत्र, उपनिषद् एव भगवद् गीता की व्याख्या करने मे ही व्यतीत कर दिया।

जैसे-जैसे समय बीतता गया और दर्शन की एक प्रणाली स्थापित होती गई वैसे-वैसे प्रत्येक दर्शन शाखा को बडी कडी आलोचनाओ एव विरोधियो का सामना करना पडा। इन सब आलोचना-प्रत्यालोचनाओ के लिए ये शाखायें तैयार नहीं थीं, अत. प्रत्येक शाखा

के अनुयायियों को इस बात का विशेष रूप से प्रयत्न करना पड़ा कि इन विरोधी तत्त्वों के तर्कों का उचित रूप से उत्तर दिया जाए, अपने मत की पुष्टि की जाए एवं दूसरे मत का खंडन किया जाय। जिस समय एक मत-विशेष प्रारम्भ मे स्थापित किया गया था और सूत्रों द्वारा वर्णित किया गया था उस समय उस शाखा के लिए कोई विशेष कठिनाई नही थी परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों विरोधियों का उत्तर देने के लिए अनेक ऐसी समस्याओं का निदान करना पड़ा जो यद्यपि उस विषय से संबंधित थी, फिर भी प्रारंभिक शाखा के समय उनका कोई स्थान विशेष नहीं था और उन पर कोई ध्यान नही दिया गया था। इस प्रकार प्रत्येक शाखा एक के बाद एक आने वाले टीकाकारों के कहने से अधिक परिपुष्ट होती गई और सब प्रकार के तर्कों और विरोधों का सामना करने के योग्य हो गई। सूत्रों में वर्णित दर्शन शाखा अस्पष्ट एवं नवजात शिशु के समान दुर्बल थी परन्तु 17वीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते पूर्ण विकसित मनुष्य की भाँति परिपुष्ट हो गई है। अतः भारतीय दर्शन के क्रमिक विकास के इतिहास को लिखना कठिन है परन्तु यह आवश्यक है कि प्रत्येक शाखा का स्वतन्त्र रूप से विचार किया जाए और इसके विकास को समझने का प्रयत्न किया जाय।[1] भारतीय दर्शन के इतिहास में ऐसा सम्भव नहीं है कि एक विशेष दर्शन प्रणाली का एक युग विशेष के साथ ही अध्ययन किया जाए जैसे पाश्चात्य दर्शन प्रणालियों में है-क्योंकि जब तक वे जीवित रहीं तब तक ही उनको महत्त्वपूर्ण समझा गया उसके बाद वे आलोचना का विषय रह गईं। इसके विपरीत भारतीय दर्शन की प्रत्येक शाखा इनके अनुयायियों द्वारा इतिहास के विभिन्न कालों में अधिकाधिक पुष्ट एवं परिवर्तित की जाती रही और इस विकास का इतिहास उस मत के संघर्षों का ही इतिहास है। प्रत्येक दर्शन शास्त्र के भक्त, भाष्यकार, टीकाकार आदि शास्त्रियों के द्वारा अपने-अपने मत का मण्डन और प्रतिपादन ऐसे विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया जाता रहा है कि जब तक इन सबका अध्ययन न किया जाय तब तक किसी भी दर्शन प्रणाली के ग्रन्थों का पूर्ण ज्ञान नही हो सकता।

दार्शनिक वाङ्मय का विकास

यह कहना कठिन है कि प्रारंभिक काल में दार्शनिक शाखाएँ किस प्रकार उत्पन्न हुईं तथा किन प्रभावों के अन्तर्गत इनका विकास हुआ। प्रारम्भ में उपनिषद् काल मे दार्शनिक जिज्ञासा की भावना का आरम्भ हो गया था यह हम पहले ही देख चुके है। इस जिज्ञासा का आधार यह था कि आत्मा ही वह सत्य है जिसकी खोज करना आवश्यक है और जब तक हम इसके वास्तविक स्वरूप को नही जान पाते तब तक इतने से ही संतोष करना पड़ेगा कि इसका स्वरूप ऐसा नही है जैसा हम किसी अन्य दृश्य वस्तु का पाते हैं

---

1. एक दो प्रणालियों के संबंध में प्रारभिक अवस्थाओ की व्याख्या करना आसान है परन्तु इन प्रणालियों को पूर्णरूपेण समझने के लिए यह आवश्यक है कि इन शाखाओं पर उत्तरकाल मे जो विशेष व्याख्याएँ की गईं उनसे उनको सही रूप से समझा जाए।

अर्थात् उसे यो समझाना पडेगा कि वह यह नही है। उसी को नेति नेति के रूप मे समझाया गया है। लेकिन उपनिषदों के अलावा भी और दिशाओ में दार्शनिक खोज हो रही थी। इस प्रकार उपनिषद् काल के तुरन्त पश्चात् ही बुद्ध ने 62 प्रकार के पाखडो या अधर्मो की गणना की थी[1] जिसका वर्णन उपनिषदो में उपलब्ध नही है। इसी काल मे जैन जिज्ञासा का भी उदय हुआ परन्तु उपनिषदो मे इसका कही प्रसग नहीं आया है। इस प्रकार हम यह कल्पना कर सकते हैं कि उपनिषदो के प्रणेता ऋषियो के अतिरिक्त भी अन्य क्षेत्रो मे विभिन्न प्रकार की दार्शनिक जिज्ञासा का उदय हो चुका था। परन्तु इसके सम्बन्ध मे प्रामाणिक वृत्त प्राप्त नहीं है। यह सम्भव है कि हिन्दू दर्शन जिन ऋषियो के द्वारा प्रतिपादित किया गया वे यद्यपि उपनिषदीय विचारधारा को मानते थे तो भी विरोधी विचारधाराओ से एव अन्य नास्तिक सिद्धान्तो से परिचित थे। इन ऋषियो एव उनके शिष्यो की सगोष्ठियों मे नास्तिक एव विरोधी विचारधाराओ के ऊपर वाद-विवाद हुआ करते थे और अनेक युक्तियो से इन विरोधी सिद्धान्तो का खडन करना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। यह क्रम कुछ काल तक इसी प्रकार चलता रहा जब तक कि गौतम अथवा कणाद जैसे ऋषि मनीषियो ने इन सारे वाद-विवादो को एक क्रम में व्यवस्थित कर दार्शनिक शाखाओ को मूर्त रूप नहीं दे दिया और युक्तिमंगत ढग से इन्हें व्यवस्थित कर उन पर अनेक सूत्रो की रचना नही की। इन सूत्रो से दर्शन शास्त्र की विभिन्न शाखाओ का ज्ञान होता है जिनके वर्गीकरण एव क्रमबद्ध व्यवस्था का श्रेय इन यशस्वी मुनियो को है। ये सूत्र उन लोगो के लिए लिखे गए थे जो अनेक मौखिक शास्त्रार्थो में भाग ले चुके थे और सकेत मात्र से ही इनके पूर्ण प्रसग को समझने में समर्थ थे। इस प्रकार विरोधी पक्षो के मतो का स्थान-स्थान पर इनमें उद्धरण प्राप्त होता है और साथ ही इनसे यह भी ज्ञान होता है कि किस प्रकार इन विरोधी पक्षो का खण्डन किया जा सकता है। इस प्रकार भाष्यकार गुरु-शिष्य की अविच्छिन्न परम्परा से प्राप्त वाद-विवादो के अर्थ समझने में किसी कठिनाई का अनुभव नहीं करते थे और इस प्रकार विभिन्न विचारधाराओ से पूर्णरूपेण परिचित रहते थे। परन्तु उनको इन परम्परागत व्याख्याओ के ऊपर अपने विचार प्रकट करने की पूर्णरूपेण स्वतन्त्रता थी। अपनी इच्छानुसार वे इन युक्तियों को अपने तर्क के द्वारा और अधिक पुष्ट कर सकते थे एव इच्छानुसार इनमें सशोधन अथवा परिवर्तन भी कर सकते थे। यदि उनको ऐसी कठिनाई प्रतीत होती कि एक व्याख्या विशेष को किसी कारणवश यो की यो स्वीकार नहीं किया जा सकता तो भी वे उसमे इच्छानुसार कुछ परिवर्तन भी कर दिया करते थे। विपक्षी शाखाओं के मेधावी पडितो के विरोध के कारण उन्हें ऐसे नवीन तथ्यो के ऊपर विचार करना पड़ता था जिसका उन्होंने पहले कोई विचार नहीं किया होता था और इस प्रकार सपूर्ण शाखा की एकरसता को अक्षुण्ण रखने के लिए नए सशोधनों की आवश्यकता प्रतीत होती रहती थी और इसमे वे बिल्कुल नही हिचकिचाते थे। इन सशोधनों अथवा व्याख्याओ के होते हुए भी परम्परागत शास्त्रीय प्रणाली मे कोई विशेष अन्तर नही आया। क्योकि नवीन भाष्यकारो ने कभी भी मूल सिद्धान्तो का विरोध नहीं किया वरन् वे उन्हें पुष्ट करने का ही प्रयत्न करते रहे। वे इन शास्त्रो को अपने

1. ब्रह्म जाल सूत्र, दीघा 1, पृ० 12 से।

मतानुसार सुरुचिपूर्ण व्याख्या किया करते थे अथवा जिन विषयों पर प्राचीन गुरुओं ने कुछ नही कहा है उन्ही के सम्बन्ध में नवीन युक्तियाँ प्रस्तुत करते थे। इस प्रकार किसी भी दार्शनिक शाखा के विकास का अध्ययन किसी भी भाष्यकार के व्यक्तिगत विचारों के अध्ययन से नही किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने पर अनावश्यक पुनरावृत्ति हो जाएगी। केवल उन्ही स्थलों पर जहाँ कही नवीन विचारधारा का विकास हुआ है प्राचीन शास्त्र में नई युक्तियों का भाष्यकारो या भाष्यकारो के नवीन विचारों का मनन किया जाए अन्यथा उस शाखा के भाष्यकारो के मतों को एक समन्वित रूप में ही देखा जाना चाहिए जिससे उस शाखा के दर्शन का उचित रूप से निरूपण हो सके।

विपक्षी मतों के निरंतर संघर्ष के कारण भारतीय दर्शनशास्त्रियों को ऐसा अभ्यास हो गया था कि वे अपने सभी ग्रन्थों को शास्त्रार्थ खंडन-मंडन या पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष के रूप मे ही लिखा करते थे। लेखक यह अनुमान करता था कि जो वह कुछ कहेगा उसके संबंध में विपक्षी मतावलंबी अवश्य कोई प्रश्न उठाएँगे। प्रत्येक चरण पर या प्रत्येक स्तर पर लेखक यह कल्पना करता है कि उसके विरोध मे ये प्रश्न किए जाएँगे। उन प्रश्नों की पहले से ही कल्पना कर लेखक इनका युक्ति युक्त उत्तर प्रस्तुत करते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि जो शंकाएँ इस सम्बन्ध मे की गई है वे निराधार हैं। इस प्रकार लेखक अनेक प्रकार की शंकाओ, विवादों आदि के मनन से अपना मार्ग निश्चित करता है और घुमावदार मार्ग से अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचता है। अनेक स्थानों पर विपक्षियों की शंकाओं का इतना संक्षेप मे प्रसंग दिया जाता है कि वही व्यक्ति इसको समझ सकते हैं जो विपक्षियों के मत से अवगत हैं। इन कठिनाइयों के साथ-साथ ही साधारण संस्कृत की अपेक्षा अधिकांश टीकाओं की संस्कृत शैली इतनी कठिन एवं संक्षिप्त है, साथ ही विभिन्न दर्शन शाखाओं के पारिभाषिक शब्दो से वह इतनी दुरूह हो गई है कि अच्छे गुरु की सहायता के विना इनको समझना असंभव सा हो जाता है। इस प्रकार जिन्होने सारे दर्शन शाखाओं का भलीभाँति अध्ययन नही कर लिया है वे सरलता से शाखा विशेष के विचार क्रम को नही समझ सकते। विशेषतया कोई दार्शनिक मत दूसरे मतों के प्रसंगों के विना दिए हुए स्थापित नही किया जा सकता था। अपने-अपने युग में प्रत्येक दर्शन की विरोधी विचारधाराओं के बीच ऐसा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया कि किसी भी शाखा की न तो उपेक्षा की जा सकती है और न दूसरी शाखा एवं विरोधी मतो का गहन अध्ययन किए विना उनको समझा जा सकता है। अत: यह आवश्यक है कि इन सभी दर्शनो का, एक साथ, उनके पारस्परिक पक्ष विपक्षों का ध्यान रखते हुए एकरूपता के दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाए। इस कार्य के लिए यह प्रस्तुत ग्रन्थ भूमिका का कार्य करेगा।

इन सूत्रो और इनकी टीकाओं के अतिरिक्त प्रत्येक प्रणाली के छोटे-छोटे स्वतन्त्र ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं जो श्लोकों मे लिखे गए है। इन्हें 'कारिकाओं' के नाम से पुकारा जाता है। इन कारिकाओं में महत्त्वपूर्ण विषयों को काव्य रूप में संक्षिप्त ढंग से वर्णित किया गया है। इस प्रकार के एक ग्रन्थ 'सांख्यकारिका' का उदाहरण दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रणाली पर भाष्य, टीकाएँ और शास्त्रार्थ आदि उपलब्ध होते हैं

जिन्हें पद्यों में लिखा गया है और जिनको वार्तिक के नाम से पुकारा जाता है। कुमारिल का 'श्लोक-वार्तिक' अथवा सुरेश्वर का 'वार्तिक' इसके उदाहरण के रूप में देखे जा सकते हैं। इन सब वार्तिको और कारिकाओ के ऊपर इनको स्पष्ट करने के लिए टीकाएँ उपलब्ध होती हैं। इनके अतिरिक्त इन शाखाओं के ऊपर विशिष्ट शास्त्रीय ग्रन्थ भी मिलते हैं जिनको गद्य मे लिखा गया है जिनमे लेखक ने किसी विशेष सूत्र का अनुसरण किया है अथवा स्वतन्त्र रूप से अपने विचार प्रकट किए हैं। पहले प्रकार के उदाहरण के रूप मे जयन्त की 'न्याय मजरी' का उल्लेख किया जा सकता है और दूसरे प्रकार के उदाहरण मे प्रशस्त-पाद भाष्य, मधुसूदन सरस्वती द्वारा रचित अद्वैत सिद्धि अथवा धर्मराजाध्वरीन्द्र द्वारा लिखित वेदान्त परिभाषा का उल्लेख किया जा सकता है। ऐसे शास्त्रो मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वे ग्रन्थ हैं जिनमे लेखको ने उस मत की स्थापना की जिसका वे अनुसरण करते हैं। इन शास्त्रार्थ ग्रन्थो में लेखको ने अपनी उच्चतम बौद्धिक (तार्किक) शक्तियो एव अकाट्य युक्तियो का परिचय दिया है। इन ग्रन्थों पर भी उनको सरल करने के लिए टीकाएँ उपलब्ध हैं। लेखक के मतानुसार भारतीय दार्शनिक साहित्य के विकास का प्रारम्भ ईसा से 500 वर्ष पूर्व हो गया था जबकि बुद्ध मत का उदय हुआ और 17वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे यह युग समाप्त हो गया। यद्यपि आधुनिक युग में भी कई छोटे-छोटे ग्रन्थ इन पर प्रकाशित होते रहते हैं।

भारतीय दर्शनशास्त्र की प्रणालियाँ

हिन्दू मतानुसार दर्शन की प्रणालियो को दो मुख्य वर्गों मे विभाजित किया जाता है अर्थात् नास्तिक दर्शन और आस्तिक दर्शन। नास्तिकवादी विचारधारा के अनुसार वेद, साधारण ग्रन्थ के रूप मे माने जाते हैं, स्वत प्रमाण नहीं माने जाते और यह आवश्यक नही समझा जाता कि सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए केवल वेदों को ही आधार माना जाय। ये नास्तिक दर्शन मुख्यतया 3 हैं—बौद्ध, जैन एव चार्वाक। आस्तिक दर्शन जो सनातन धारा के अनुयायी हैं षड्ग के रूप में प्रचलित हैं एव ये निम्न 6 शाखाओ मे विभाजित हैं, साख्य, योग, वेदान्त, मीमासा, न्याय एव वैशेषिक। ये साधारणतया षड् दर्शन[1] के नाम से प्रचलित हैं।

---

1 'दर्शन' शब्द सर्वप्रथम दार्शनिक पारिभाषिक संज्ञा के रूप मे कणाद ऋषि द्वारा रचित वैशेषिक सूत्र मे पाया जाता है (देखिए अध्याय 9, द्वितीय खड 13वां सूत्र)। यह ग्रन्थ बौद्ध काल के पूर्व लिखा गया था। बौद्ध पिटकों ने (400 ई० पू०) विरोधी विचारो को 'दिट्ठि' सज्ञा से पुकारा है (इसका सस्कृत दृष्टि है। दोनों की मूल धातु (दृश्) है। इसी से दर्शन शब्द बना है)। हरिभद्र (5वीं शताब्दी) दर्शन शब्द का प्रयोग दार्शनिक प्रणाली के अर्थ में करते हैं। "सर्व-दर्शन वाच्योऽर्थ" (षड्दर्शन समुच्चय भाग 1)। दसवी शताब्दी के अन्त मे रत्नकीर्ति ने भी इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया है। "यदि नाम दर्शने दर्शने नाना-प्रकार सत्व लक्षणम् उक्तमस्ति" (क्षणभगसिद्धि "सिक्स बुद्धिस्ट न्याय टैक्ट्स" पृ० 20)

सांख्य के प्रणेता पुराण प्रसिद्ध कपिलमुनि माने जाते हैं परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः इस विषय पर लिखे आदि ग्रन्थ विलुप्त हो गए हैं। पतजलि ऋषि के द्वारा योग दर्शन लिखा गया है ऐसी मान्यता है और इस दर्शन के आदि सूत्रों को पातंजल योग सूत्र के नाम से पुकारा जाता है। साधारणतया इन दोनों दर्शनों में आत्मा प्रकृति सृष्टि रचना एवं अन्तिम लक्ष्य मोक्षादि के सम्बन्ध मे एकसी विचारधाराएँ पाई जाती हैं। इन दोनों में केवल इतना अन्तर है कि यौगिक प्रणाली मे ईश्वर को मान्यता दी जाती है (आत्मा के अलावा ईश्वर को भी मान्यता दी जाती है) और कुछ रहस्यमय क्रियाओ के ऊपर विशेष बल दिया जाता है जिन्हे यौगिक क्रियाओं के नाम से पुकारा जाता है। ऐसी मान्यता है कि योग द्वारा मुक्ति प्राप्त हो सकती है दूसरी ओर सांख्य दर्शन मे ईश्वर के अस्तित्व को नही माना गया है। वहाँ ईश्वर के दर्शन को कोई महत्त्व नही दिया जाता। श्रद्धापूर्वक सत्ता को ग्रहण करने एवं उत्तम संस्कारों को जीवन में अपनाने मात्र से वहाँ मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। ऐसा सम्भव है कि सांख्य दर्शन जो कपिल द्वारा प्रणीत एवं योग दर्शन जो पतंजलि द्वारा प्रणीत माना जाता है, दोनों प्रारम्भ में एक ही रहे हों अर्थात् दोनों उस एक ही सांख्य दर्शन की दो भिन्न-भिन्न धाराएँ हो, जिसका प्रसंग हमे यत्र-तत्र मिलता है। ये दोनों दर्शन यद्यपि साधारणतया अलग अलग माने जाते हैं परन्तु वास्तविक रूप मे इन्हे सांख्य प्रणाली की ही दो भिन्न-भिन्न धाराओं के रूप मे मानना चाहिए। हम इनमे से एक को कपिल सांख्य और दूसरे को पतजलि सांख्य के नाम से पुकार सकते हैं।

पूर्व मीमासा (मीमांसा शब्द मन धातु से बना है जिसका अर्थ है विचार करना—अर्थात् तर्क संगत विचार) को हम वास्तविक अर्थो मे दार्शनिक प्रणाली के रूप मे मान्यता नही दे सकते। यह वेद शास्त्रो की यज्ञादि क्रियाओं को समझने के लिए कुछ सिद्धान्तों का केवल क्रमबद्ध रूप से संग्रह हैं जिससे वैदिक मन्त्रो का अर्थ सुलभ हो जाए। यज्ञादि क्रियाओ के लिए मंत्रोच्चारण के सम्बन्ध में अनेक बार शब्दों के वास्तविक सम्बन्ध और वाक्यों मे उनकी स्थिति अथवा महत्त्व के ऊपर यज्ञ कर्ताओं मे विवाद हो जाया करता था। वैदिक मन्त्रों के सम्बन्ध में अनेक बार वाक्य खंडों के अर्थों के सम्बन्ध में अथवा उनके मंत्र रूप के प्रयोग आदि की दृष्टि से भिन्न-भिन्न मत विवाद का कारण बन जाते थे। अतः मीमांसा ने कुछ ऐसे सिद्धान्तों की स्थापना की जिनके द्वारा इन सब कठिनाइयों का सम्यक् फल

माधव ने सन् 1331 में अपने दर्शन प्रणान्नियों के महान् समुच्चय ग्रन्थ का नाम "सर्व-दर्शन-संग्रह" रखा था। दूसरी प्रणालियो के विचारो का उद्धरण देते हुए 'मत' शब्द का भी अनेक बार प्रयोग किया गया है। परन्तु दार्शनिकों का बोध कराने के लिए किसी विशेष शब्द का प्रयोग नही दिखाई देता। बौद्ध लोग अन्य मतावलंबियों को "तैर्थिक" नाम से पुकारा करते थे। सिद्ध एवं ज्ञानी शब्द आधुनिक दार्शनिक शब्द के अर्थों में प्रयुक्त नही होते थे। इनका अर्थ उस समय ऋषि एवं परमहंस (जिसने सारी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हो) के अर्थ में लिया जाता था।

प्राप्त हो सके। इन सिद्धान्तो की रचनाओं के पूर्व इन मीमासाओ के अन्तर्गत आत्मा, प्रकृति, तर्क, ऐन्द्रिय ज्ञान एवं वेद शास्त्रो की मान्यता आदि पर विचार-विमर्श किया गया है क्योंकि वेद शास्त्रो के अनुसार यज्ञादि कर्म करने के पहले यह आवश्यक है कि सृष्टि क्रम और उसमे मनुष्य के जीवन का महत्त्व, वैदिक शास्त्र का मनुष्य जीवन आदि से सम्बन्ध के बारे मे विशिष्ट मान्यताओ को भलीभाँति समझ लिया जाए। यद्यपि मीमासा मे सृष्टि, जीवन आदि से सम्बद्ध ये विचार-विमर्श गौण स्थान रखते हैं परन्तु मन्त्र शास्त्र और उनके मनुष्यो के लिए व्यावहारिक लाभ के महत्त्व को स्थापित करने की दृष्टि से सक्षेप मे तत् सम्बन्धी दर्शन का थोडा सा ज्ञान कराया गया है। अत मीमासा को इस सक्षिप्त विचार-विमर्श की दृष्टि से दर्शन के रूप मे पुकारा जा सकता है। वैदिक शब्दो एव वाक्य खडो के निर्वाचन के लिए मीमासा के सिद्धान्तो की आज भी उतनी ही मान्यता है जितनी उस समय थी। मीमासा सूत्र जैमिनि ऋषि द्वारा लिखे हुए माने जाते हैं और शवर ने इस मीमांसा सूत्र पर एक भाष्य लिखा है। मीमासा साहित्य मे जैमिनि और शवर के पश्चात् कुमारिल भट्ट एव उसके शिष्य प्रभाकर का नाम प्रसिद्ध है जिसने अपने गुरु के मत की ऐसी कठिन आलोचना की है कि कुमारिल भट्ट अपने शिष्य को व्यग्य मे गुरु के नाम से पुकारा करते थे। आज भी प्रभाकर के मत को गुरु मत के रूप मे पुकारा जाता है और कुमारिल भट्ट के मत को भाट्ट मत के नाम से जाना जाता है।[1]

वेदान्त सूत्र जिसे उत्तर मीमांसा भी कहते हैं वादरायण द्वारा लिखा गया है। इसको ब्रह्म सूत्र के नाम से भी पुकारते हैं और यह वेदान्त के ऊपर उपलब्ध प्रथम अधिकृत ग्रन्थ है। वेदान्त शब्द का अर्थ है वेद का अन्त जिससे उपनिषद् और वेदान्त सूत्र अभिहित किए जाते हैं। इस प्रकार उपनिषदों के उपदेशो का सक्षिप्त वर्णन इसमे मिलता है। यह ग्रन्थ चार अध्यायो मे विभाजित है और इन अध्यायों मे से प्रत्येक के चार पाद हैं। इन

---

1 इस सम्बन्ध में ऐसी कथा है कि एक वार कुमारिल एक सस्कृत वाक्य का अर्थ ठीक रूप से नही समझ सके। यह वाक्य है "अत्र तुनोक्तम् तत्रापि नोक्तम् इति पौन-रुक्त्यम्" (अत दो वार कहा गया)। तुनोक्तम् पद के दो सधि-विच्छेद हो सकते है "तु + न + उक्तम्" (भी नहीं कहा गया) दूसरा सधि-विच्छेद "तुना + उक्तम्" (यहाँ तु के द्वारा कहा गया) और दूसरे वाक्य खड 'तत्रापिनोक्तम्' के दो सधि-विच्छेद हो सकते हैं। तत्र + अपि + न + उक्तम् (वहाँ भी नही कहा गया) तत्र + अपिना + उक्तम् (वहाँ अपि के द्वारा ऐसा कहा गया है)। पहले सधि-विच्छेद के प्रसंग के प्रयोग से इस वाक्य का अर्थ होगा "यहाँ भी नही कहा गया और वहाँ भी नही कहा गया इसलिए दो वार कहा गया है।" इस अर्थ मे कुमारिल भट्ट कठिनाई मे पड़ गए तव प्रभाकर ने इससे सधि-विच्छेद को लेकर उनको यह अर्थ समझाया कि "यहाँ पर 'तु' शब्द से समझाया गया है और वहाँ पर 'अपि' शब्द से। अत इसका दो वार सकेत आया है।" कुमारिल इस घटना से अति प्रसन्न हुए और अपने शिष्य को गुरु की उपाधि से अलकृत किया।

सांख्य के प्रणेता पुराण प्रसिद्ध कपिलमुनि माने जाते हैं परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवत इस विषय पर लिखे आदि ग्रन्थ विलुप्त हो गए है। पतंजलि ऋषि के द्वारा योग दर्शन लिखा गया है ऐसी मान्यता है और इस दर्शन के आदि सूत्रों को पातंजल योग सूत्र के नाम से पुकारा जाता है। साधारणतया इन दोनों दर्शनों मे आत्मा प्रकृति सृष्टि रचना एवं अन्तिम लक्ष्य मोक्षादि के सम्बन्ध में एकसी विचारधाराएँ पाई जाती हैं। इन दोनों में केवल इतना अन्तर है कि यौगिक प्रणाली में ईश्वर को मान्यता दी जाती है (आत्मा के अलावा ईश्वर को भी मान्यता दी जाती है) और कुछ रहस्यमय क्रियाओ के ऊपर विशेष वल दिया जाता है जिन्हें यौगिक क्रियाओ के नाम से पुकारा जाता है। ऐसी मान्यता है कि योग द्वारा मुक्ति प्राप्त हो सकती है दूसरी ओर सांख्य दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को नहीं माना गया है। वहाँ ईश्वर के दर्शन को कोई महत्त्व नही दिया जाता। श्रद्धापूर्वक सत्ता को ग्रहण करने एवं उत्तम संस्कारों को जीवन मे अपनाने मात्र से वहाँ मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। ऐसा सम्भव है कि सांख्य दर्शन जो कपिल द्वारा प्रणीत एवं योग दर्शन जो पतंजलि द्वारा प्रणीत माना जाता है, दोनों प्रारम्भ मे एक ही रहे हों अर्थात् दोनो उस एक ही सांख्य दर्शन की दो भिन्न-भिन्न धाराएँ हो, जिसका प्रसंग हमें यत्र-तत्र मिलता है। ये दोनों दर्शन यद्यपि साधारणतया अलग अलग माने जाते हैं परन्तु वास्तविक रूप मे इन्हें सांख्य प्रणाली की ही दो भिन्न-भिन्न धाराओ के रूप में मानना चाहिए। हम इनमे से एक को कपिल सांख्य और दूसरे को पतंजलि सांख्य के नाम से पुकार सकते हैं।

पूर्व मीमांसा (मीमांसा शब्द मन धातु से वना है जिसका अर्थ है विचार करना—अर्थात् तर्क संगत विचार) को हम वास्तविक अर्थो में दार्शनिक प्रणाली के रूप मे मान्यता नही दे सकते। यह वेद शास्त्रो की यज्ञादि क्रियाओं को समझने के लिए कुछ सिद्धान्तों का केवल क्रमवद्ध रूप से संग्रह हैं जिससे वैदिक मंत्रो का अर्थ सुलभ हो जाए। यज्ञादि क्रियाओं के लिए मंत्रोच्चारण के सम्बन्ध मे अनेक वार शब्दों के वास्तविक सम्बन्ध और वाक्यो मे उनकी स्थिति अथवा महत्त्व के ऊपर यज्ञ कर्ताओं मे विवाद हो जाया करता था। वैदिक मंत्रों के सम्बन्ध मे अनेक वार वाक्य खंडों के अर्थो के सम्बन्ध मे अथवा उनके मंत्र रूप के प्रयोग आदि की दृष्टि से भिन्न-भिन्न मत विवाद का कारण वन जाते थे। अतः मीमांसा ने कुछ ऐसे सिद्धान्तों की स्थापना की जिनके द्वारा इन सव कठिनाइयों का सम्यक् फल

माधव ने सन् 1331 में अपने दर्शन प्रणालियों के महान् समुच्चय ग्रन्थ का नाम "सर्व-दर्शन-संग्रह" रखा था। दूसरी प्रणालियो के विचारो का उद्धरण देते हुए 'मत' शब्द का भी अनेक वार प्रयोग किया गया है। परन्तु दार्शनिकों का वोध कराने के लिए किसी विशेष शब्द का प्रयोग नही दिखाई देता। वौद्ध लोग अन्य मतावलंवियों को "तैथिक" नाम से पुकारा करते थे। सिद्ध एवं ज्ञानी शब्द आधुनिक दार्शनिक शब्द के अर्थों में प्रयुक्त नही होते थे। इनका अर्थ उस समय ऋषि एवं परमहंस (जिसने सारी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हों) के अर्थ मे लिया जाता था।

सांख्य दर्शनो की उपशाखाओ के रूप मे कह सकते हैं यद्यपि तंत्र दर्शन का अपना स्वतन्त्र ज्ञान भी ध्यान देने योग्य है।

विभिन्न दर्शनों में समान धारणाएँ

(1) कर्मवाद :

इन सभी दर्शनो मे विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि चार्वाक के दर्शन को छोडकर ये सब आधारभूत सिद्धान्तो पर एक सा मत रखते हैं। भारतीय दर्शन की यह विशेषता है कि यह केवल मानसिक चमत्कार और उत्तेजन की प्रतिक्रिया के रूप मे उत्पन्न नही हुआ। इस पद्धति से जो विचारधाराएँ उत्पन्न होती है वे अधिकाश अस्पष्ट कल्पनाओ के द्वारा अमूर्त भावनाओ को जन्म देती हैं जिनकी पृष्ठभूमि का कोई आधार नही होता। परन्तु भारतीय दर्शन के मूल मे जीवन के धार्मिक लक्ष्य की प्राप्ति एव सत्य की खोज की उत्कट अभिलाषा सदैव मे रही है। यह आश्चर्य की बात है कि विभिन्न मत और प्रणालियो में एक सा ही लक्ष्य एव प्रतिपादन का ढग पाया जाता है। उनके मतो की विभिन्नता होने के पश्चात् भी जो जीवन का अन्तिम लक्ष्य था उस विषय में सभी दर्शन प्रणालियाँ एक मत थी। इस स्थान पर इनमे से कुछ विषयो पर विचार-विमर्श रोचक सिद्ध होगा।

इनमे सबसे प्रथम कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को ले सकते हैं। सभी भारतीय दर्शन इस बात पर एक मत हैं कि मनुष्य या व्यक्ति जो कर्म करता है उस कर्म का फल सुख अथवा दु ख कर्म के क्रमश शुभ एव अशुभ होने के फलस्वरूप मनुष्य को प्राप्त होता है। जब इन कर्मों का फल आधुनिक जीवन में प्राप्त नही किया जा सकता अथवा मनुष्य योनि मे नही प्राप्त किया जा सकता तब उसे मनुष्य योनि मे अथवा और किसी योनि मे उस भोग को पूरा करने के लिए जन्म लेना पडता है।

यह वैदिक विश्वास कि सम्पूर्ण सस्कारो के साथ यज्ञ मे शुद्ध उच्चारण से किए हुए मत्र पाठ से जो वेद विहित ढग से किया जाता है और जिसमे किसी प्रकार की त्रुटि नही होती, तत्काल मनोवाछित फल की प्राप्ति होती है, सभवत कर्मवाद का प्रारभिक स्वरूप होना चाहिए। यह विश्वास अन्तर्मन की इस धारणा पर आधारित है कि कुछ रहस्यमय अथवा धार्मिक क्रियाएँ ऐसी हैं जो किसी निकट भविष्य मे ऐसा फल दे सकती हैं जो साधारण भौतिक कार्य-कारण सिद्धान्त की परिधि से परे हैं अर्थात् साधारण ज्ञान से यह सम्भव नही है कि इन धार्मिक कृतियो के द्वारा किए हुए कर्म फल को सरलता से जाना जा सके। यज्ञ को सम्पूर्ण करने के पश्चात् उस कर्म से ऐसे रहस्यमय गुण की प्राप्ति होती है जिसे अदृष्ट या अपूर्व कहते हैं, जिसके द्वारा मनोवाछित फल की रहस्यमय ढग से पूर्ति हो जाती है, यद्यपि इस अपूर्व अथवा अदृष्ट द्वारा फल साधन किस प्रकार होता है इसका जानना कठिन है। सहिताओ में ऐसा विचार भी आता है कि जो इस लोक मे दुष्ट कर्म करते हैं ये दूसरे लोकों में अपने पाप का फल भोगते हैं और जो शुभ कर्म करते हैं वे पार्थिव व अपार्थिव आनन्द का सुख भोग करते हैं। यह भावना सम्भवत 'ऋत' की कल्पना से नि सृत हैं जिसका अर्थ है कि इस विश्व में जो क्रम स्थापित है वह कभी भग नही होता। इस

प्रकार संभवतः इन तत्त्वों से कर्म सिद्धान्त का प्रादुर्भाव हुआ जिसका वर्णन हम उपनिषदों में पूर्ण रूपेण पाते है परन्तु जिस पर वहाँ बहुत अधिक बल नहीं दिया गया है वहाँ यह भी कथन पाया जाता है कि मनुष्य अपने शुभ अथवा अशुभ कर्मो के अनुसार अच्छी व बुरी योनियों में उत्पन्न होते हैं।

कर्म सिद्धान्त के कुछ अन्य मुख्य तत्त्व इस प्रकार हैं—आस्तिक दर्शन के अनुसार कर्मवाद में कर्म करने के कुछ समय पश्चात् अदृष्ट प्राप्त होता है। चाहे उस कर्म का सुख हो अथवा दु.ख। ये कर्म फल एकत्रित होते जाते हैं और इस प्रकार कर्म करने वाले के अन्य जन्म में सुख और दुःख भोग का विधान निश्चित करते हैं। केवल उन कर्मो के फल ही जो अत्यन्त पुण्यमय अथवा अत्यन्त दुष्टतापूर्ण होते हैं कभी-कभी इस जन्म में प्राप्त होते हैं। दूसरे जन्म मे जो योनि प्राप्त होती है वह इस जीवन के शुभ अथवा अशुभ कर्मानुसार होती है जिससे एकत्रित फलानुसार उत्तम या निकृष्ट योनि प्राप्त होती है और उस योनि मे भी सुख व दु.ख पूर्व जन्म के कर्मानुसार मिलता है। यदि उसके कर्म ऐसे हैं जिसका भोग प्राप्त करने के लिए बकरे का जन्म लेना पड़ेगा तो मनुष्य मरने के पश्चात् बकरे की योनि मे जन्म लेगा। जिस प्रकार वह प्रकृति का प्रभाव अनादि है उसी प्रकार मनुष्य के जन्म और मरण का प्रभाव भी अनादि है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य ने किस समय से कर्म प्रारंभ किए। मनुष्य ने अनेक योनियों मे अनेक बार जन्म लिया है और उसमें प्रत्येक जीवन के संस्कार प्रसुप्तावस्था में विद्यमान हैं जब वह किसी भी योनि में मनुष्य अथवा पशु की भाँति जन्म लेता है तब ये अन्तर्धाराएँ वातावरण के अनुसार संस्कार के रूप में स्थिर हो उठती हैं जिनको पारिभाषिक भाषा में वासना कहा जा सकता है। इन वासनाओं के अनुसार मनुष्य कर्म करते हुए आनन्दमय अथवा दुःखमय अनुभूतियों के बीच मे जीवन व्यतीत करता है। जीवन की अवधि भी पूर्व जन्म में किए हुए कार्यो के द्वारा और भोग के अनुरूप अवधि के अनुसार सुनिश्चित होती हैं जिसमें कोई परिवर्तन नही हो सकता। किए हुए कर्म जब परिपक्व हो जाते हैं तो उनका फल एवं तत्सम्बन्धी अनुभूतियाँ भोगनी ही पड़ती है परन्तु यदि कर्म अपूर्ण है एवं फल देने के लिए परिपक्व नही हुए, तब ऐसे कर्म सत्य ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं और इनका फल भोगना नही पड़ता। परन्तु शुभ कर्म करने वाले मुक्त पुरुष भी सुख व दु.ख के बन्धन से छुटकारा नही पा सकते जो उनके पूर्वजन्म मे अथवा अदृष्ट मे लिखे हुए रहते हैं। कर्म चार प्रकार के हैं। (1) श्वेत अथवा शुक्ल अर्थात् उत्तम कर्म (2) कृष्ण अथवा दुष्ट कर्म (3) शुक्ल-कृष्ण अर्थात् कुछ धार्मिक एवं कुछ अधार्मिक कृत्य (4) अशुक्ल अकृष्ण ऐसे कर्म जिनमें फल की कोई कामना नहीं है, जहाँ सांसारिक कामनाओं का परित्याग कर दिया गया है अर्थात् निष्काम कर्म। जब कोई मनुष्य संयम द्वारा अपने जीवन को ऐसा बना लेता है जिसमें किसी प्रकार की वासना अथवा कामना नहीं है तब वह निष्काम कर्म करता हुआ कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। उस स्थिति मे उसे केवल पूर्व जन्म के कर्मो का ही फल भोगना पड़ता है। अगर इस अवधि में वह सत्य ज्ञान को प्राप्त कर लेता है तो इसके साथ ही पूर्व-कर्म-फल-भोग भी नष्ट हो जाता है अर्थात् पहले जन्म में किए हुए कर्मों का फल उसे इसलिए प्राप्त

नहीं होता कि शुभ कर्मो के द्वारा वो इनके भोग बधन से छुटकारा पा गया है। इस प्रकार, क्योकि उसके नवीन कर्म और अशुक्ल और अकृष्ट कर्म हैं अत उन कर्मो का कोई फल नही होता, और शनै शनै वह पूर्व जन्म मे किए हुए कर्मों के फलो का भोग पूरा कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

जैन लोगो का मत है कि मनुष्य के मन, शरीर एव वाणी के क्रियाकलापो से एक सूक्ष्म तत्त्व की उत्पत्ति होती है जिसको कर्म नाम से पुकारा जा सकता है। मनुष्य की वासनाएँ एक ऐसे चुम्बकीय तत्त्व के समान हैं जो इस कर्म द्रव्य को आकर्पित करती हैं और यह कर्मद्रव्य इस प्रकार आत्मा मे प्रवेश कर वहाँ चिपक जाता है, स्थापित हो जाता है। यह सूक्ष्म तत्त्व जो आत्मा को आच्छादित कर लेता है कर्म शरीर कहा जाता है। आत्मा को आविष्टित किए हुए यह कर्मद्रव्य परिपक्व होने लगता है और इसका ह्रास और परि-वृद्धि मनुष्य के लिए नियत फलो के सुख अथवा दु खमय भोग के अनुसार होती रहती है। जहाँ कर्मद्रव्य का व्यय होता रहता है वहाँ अन्य कर्मो के द्वारा सूक्ष्म तत्व पुन एकत्रित भी होता जाता है। इस प्रकार यह कर्म तत्व मनुष्य को सुख व दु ख प्राप्ति की क्रिया मे सदैव सलग्न रखता है। यह कर्मद्रव्य आत्मा के साथ सलग्न होकर एक प्रकार के वर्ण की उत्पत्ति करता है जिसको लेश्या कहते हैं। लेश्या श्वेत या कृष्ण आदि वर्ण की हो सकती है। ये आत्मा के स्वरूप और चरित्र का निर्धारण करती हैं। योग दर्शन के शुक्ल व कृष्ण कर्मों के वर्गीकरण का आधार सम्भवत यह जैन दृष्टिकोण ही रहा होगा। जब मनुष्य वासनाओ से मुक्त हो जाता है और जब धर्मानुसार आचरण मे प्रवृत्त होता है तब उसके कर्मो से जिस कर्म की उत्पत्ति होती है वह क्षणिक होमा है और तत्काल नष्ट हो जाता है। ऐसे मनुष्य जो कर्म पहले सचित कर चुके हैं उनके फलभोग की सीमाएँ पूर्व निर्धारित रहती हैं और उनका फल अवश्य मिलता है तत्पश्चात् अर्थात् फल भोग के पश्चात् ही वह कर्म नष्ट होता है। परन्तु जब ध्यान एवं पाँच व्रतों के कठिन पालन से नए कर्म की सृष्टि नही होत तब पूर्व कर्म का ह्रास होकर मनुष्य का भौतिक अस्तित्व बहुत शीघ्रता से समाप्त होने लगता है। तब ध्यान की अन्तिम अवस्था में सारे कर्म समाप्त हो जाते हैं, आत्मा शरीरी को छोड देती है और ब्रह्माड के ऊपर एक उच्च लोक मे प्रवेश करती है जहाँ पर ऐसी आत्माएँ शाश्वत रूप मे निवास करती हैं।

बौद्ध-दर्शन मे कर्म-सिद्धान्त के कुछ नवीन तत्त्व पाए जाते हैं परन्तु वे उनके दर्शन से ही विशेप् रूप से सबद्ध हैं अत वे उस समय स्पष्ट किए जाएँगे जबकि बौद्ध दर्शन का विवेचन किया जाएगा।

(2) मुक्ति का सिद्धान्त :

भारतीय दर्शन प्रणालियाँ विभिन्न मनुष्यो के सुख व दु ख के भोग के अन्तर को स्वीकार करती हैं और साथ ही यह भी स्वीकार करती हैं कि जन्म और पुनर्जन्म का क्रम आदि काल से मनुष्य के कर्म के आधार पर चला आ रहा है। सुख व दु ख का भोग जीवन मे कर्मानुसार मिलता है और इसी प्रकार जन्म और पुनर्जन्म की व्यवस्था मनुष्य के किए

हुए कर्म के आधार पर अवस्थित है। परन्तु साथ ही जन्म, मृत्यु एवं पुनर्जन्म का यह क्रम यदि कभी प्रारम्भ हुआ तो इसका कही अन्त भी होना चाहिए। यह अन्त किसी सुदूर काल मे अथवा किसी सुदूर राज्य मे न होकर अपने ही भीतर कहीं होना आवश्यक है। कर्म के द्वारा हम इस अनन्त जन्म मरण के चक्र मे फँसते है और यदि हम सारे सन्तापों को विचारों और कामनाओ का परित्याग कर दें जिनके द्वारा कार्य की प्रेरणा होती है तो हमारी निष्काम आत्मा सुख व दु:ख दोनों से मुक्त हो जाएगी। न यह कोई कर्म करेगी न पुनर्जन्म होगा। सासारिक जीवन के द्वन्द्वों मे फँसकर जब भारतीय लोग इससे ऊब गए तब उन्होंने किसी शान्तिमय लक्ष्य को प्राप्त करने की इच्छा की और इस शांति को उस शांति का मूल आधार उन्होंने अपनी मूल आत्मा मे देखा। मनुष्य का यह विश्वास है कि किसी स्तर पर ऐसा सम्भव हो सकता है कि आत्मा कर्म और बन्धन की इच्छा से मुक्त हो जाए। इस विचार ने इस भावना को जन्म दिया कि सांसारिक द्वन्द्व काल्पनिक हैं, बाह्य हैं एवं माया के कारण है। आत्मा अपने वास्तविक रूप मे साधारण जीवन की अपवित्रता से प्रभावित नही होती लेकिन हम अपने अज्ञान और वासनाओं के कारण जो कि हमें पूर्व-जन्मो के कर्म संस्कारो के फलस्वरूप मिली होती है आत्मा को इन सब तत्त्वो से अशुद्ध हुई मानने लगते है। अनन्त जन्म एवं पुनर्जन्म का चक्र जो कर्म के द्वारा संचालित होता है उसका एक मात्र लक्ष्य यह है कि हम आत्मा के विशुद्ध परात्पर रूप को पहचानें। बौद्धों ने आत्मा के अस्तित्व को नही माना है परन्तु कर्म का अन्तिम लक्ष्य कर्म के बन्धन से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करना है ऐसा स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में इस पुस्तक के अगले पृष्ठो पर विमर्श किया जाएगा।

(3) आत्मा का सिद्धान्त :

बौद्ध दर्शन के अतिरिक्त सभी भारतीय शाखाएँ एक शाश्वत अस्तित्व को स्वीकार करती हैं जिसको अपने अलग-अलग नामो से पुकारते हैं। आत्मा, पुरुष और जीव की संज्ञा देते हैं। इस आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध मे अवश्य अनेक मतभेद हैं। न्याय-दर्शन आत्मा को निर्गुण एवं निराकार, वर्णनातीत एवं अनिर्धारित स्वरूप वाली स्वीकार करता है और सांख्य दर्शन इस आत्मा को विशुद्ध चेतना के रूप मे मानता है। वेदान्त दर्शन के अनुसार यह वह आधारभूत तत्व है जो तीनो तत्त्वो का अन्तर्निहित समन्वय है शुद्ध चित्त (पूर्ण चेतना) आनन्द अर्थात् शुद्ध आनन्द एवं सत (पूर्ण सत्य अर्थात् अस्तित्व)। लेकिन इस बात पर सब एक मत हैं कि आत्मा विशुद्ध है और स्वयं में अविकल्प है अर्थात् उसमे किसी प्रकार की विकृति नही होती। वासना अथवा कर्म की विकृतियाँ आत्मा के वास्तविक रूप से परे हैं। जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि जीवन की सारी विकृतियो और संस्कारो को दूर कर परम शुद्ध निर्मल आत्मा के रूप को हृदयंगम किया जाए और बाह्य सासारिक माया से उपरत हो जाए।

संसार की ओर निराशावादी भाव और अन्त में आशावादी श्रद्धा

यद्यपि सभी दर्शन प्रणालियो मे प्रमुख रूप से ऐसा नही कहा गया है कि यह संसार

दु खमय है परन्तु अधिकाशत संसार के प्रति कुछ ऐसी ही धारणा सभी ने प्रकट की है। साख्य, योग एव बौद्ध दर्शन मे सासारिक दु खो पर विशेष रूप से विवेचन किया गया है। सुख व दु खो का अनन्त बन्धन साधारणतया छूटने वाला नही है परन्तु वह हमे कर्म, पुनर्जन्म एव तत्स्वरूप दु खो के चक्र मे फँसाता है, ऐसी मान्यता थी। जो कुछ सुख के रूप मे हमारे सामने आता है वह सब दु ख का ही हेतु है। अर्थात् कोई भी सासारिक सुख स्थायी आनन्द नही दे सकता। सुख की प्राप्ति मे भी दु ख है और सुख के त्याग मे भी दु ख होता है क्योकि इस आनन्द की कामना की पूर्ति के लिए मनुष्य को कष्ट उठाना पडता है और यह क्षणिक आनन्द अन्त मे मनुष्य को दु ख ही देता है अर्थात् सासारिक आनन्द क्षणिक एव दु खदायी है। तब यह निश्चित है कि सुख भी दु ख के साथ इतने अधिक सलग्न होते हैं, अत सुख स्वय दु ख का ही कारण है। हम प्रमादवश इन क्षणिक सुखो को खोजते हैं और उसका अन्त दु ख मे होता है। ससार की हमारी जितनी अनुभूतियाँ हैं वे दु खमय हैं और उनसे और अधिक दु ख उत्पन्न होता है। विश्व की सारी क्रियाएँ दु खमय हैं। साधारण मनुष्यो को ही यह क्षणिक सुख आनन्दमय प्रतीत होता है। विद्वान् योगी पुरुषों को उनके निर्मल दृष्टिकोणो के कारण वह कष्टमय दिखाई देता है। मनुष्य के ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ ही सांसारिक अनुभूतियो के दु खो का ज्ञान भी बढता जाता है। योगी लोग नेत्र की पुतली के समान हैं। जिस प्रकार नेत्र मे थोडी-सी भी किरकिराहट से अपार कष्ट होता है उसी प्रकार योगी लोग भी थोडे-से सासारिक बन्धन से भी दु खी हो जाते हैं। सासारिक दु खो का कोई निदान नही है क्योकि एक दु ख के पश्चात् दूसरा दु ख चलता रहता है। यह आलस्य से अथवा आत्म हत्या से दूर नहीं हो सकता, क्योकि मनुष्य का स्वभाव इसको कर्म करने के लिए प्रेरित करता है और आत्म-हत्या से मनुष्य के सुख-दु ख का चक्र समाप्त न[illegible]ता क्योकि आत्म-हत्या के पश्चात् दु ख भोग पूर्ण करने के लिए पुन जन्म लेन[illegible]ा है। इस बन्धन से मुक्त होने का एक ही मार्ग है और वह यह है कि सच्चे ज्ञान को प्राप्त कर परमहस पद प्राप्त किया जाए। हमारे अज्ञान के कारण ही हम सुख व दु ख की अनुभूति करते हैं। हमारे मन की विकृति से कामनाओ और वासनाओ को जन्म देते हैं जिससे हम ऐसे कर्म करते हैं जो हमे दु ख की ओर ले जाते है। जीवन मे उच्चतम नैतिक उत्थान कर मनुष्य सासारिक अनुभूतियो मे ऊपर उठकर निष्काम भावना से शरीर, मन और वाणी से सासारिक सम्बन्धो से मुक्त हो सकता है। जब मन शुद्ध हो जाता है तो आत्मा प्रकाशमय हो सकती है। तब इसका सत्य स्वरूप पहिचान लिया जाता है। फिर आत्मा कभी अज्ञान के चक्र मे नहीं फसती। इस स्तर पर चित्तवृत्ति निरोध द्वारा आत्मा मुक्त होकर सांसारिक दु खो पर विजय प्राप्त करती है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुक्ति ससार के कर्मो के प्रति उदासीनता धारण करने पर नहीं होती जैसाकि कभी-कभी एक निराश मनुष्य किया करता है। परन्तु यह इस बात के महत्त्व को समझने से होती है कि मुक्ति ही दिव्य आनन्दमय तत्त्व है। प्रत्येक दर्शन प्रणाली की निराशावादी धारा उस शाखा की तर्कसगत विचारधारा के अनुसार उत्पन्न हुई है। जीवन के कर्मो के प्रति उपेक्षा की भावना अथवा अपने कर्त्तव्यो के न करने की भावना को कभी स्वीकार नही

किया गया है। परन्तु निर्मल बुद्धि से पुण्य कर्म करते हुए जीवन के इन छोटे द्वन्द्वों से ऊपर उठने की भावना ही मुख्य है। जब मनुष्य उच्चतम आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है तो वह यह समझ जाता है कि सारे सांसारिक सुख व दुःख, यहाँ तक कि स्वर्ग के सुख भी, आत्मानुभूति के सामने नगण्य हैं। यही नही वरन् वे सब दुःखमय और घृणाजनक दिखाई देने लगते हैं। इस प्रकार जब मनुष्य का मस्तिष्क सारे साधारण सुखों की ओर से उदासीन हो जाता है तब वह अपने लक्ष्य, मुक्ति की ओर अग्रसर हो जाता है। वास्तव मे भारत मे एक बड़ी गहन धार्मिक अभिलाषा रही है कि मनुष्य परम मोक्ष को प्राप्त करे और आत्मानुभूति का आनन्द उठाए। इसी भावना से भारतीय दर्शन का जन्म हुआ है। हमारे लिए इस सांसारिक दुःखमय बंधन का कोई भय नही होगा यदि हम यह स्मरण रखें कि हम मूलतः विशुद्ध, आनन्दस्वरूप एवं दुःख से रहित हैं। निराशावादी दृष्टिकोण का सारा भय अन्त मे समाप्त हो जाता है क्योकि भारतीय दर्शन के अनुसार मोक्ष का लक्ष्य सदैव सामने रहता है और उसके कारण उसके अन्तिम भविष्य और आनन्द के बारे मे आत्म विश्वास बना रहता है।

भारतीय साधनों की एकवाक्यता
(दार्शनिक, धार्मिक एवं नैतिक प्रत्यय)

भारतीय दर्शन प्रणाली मोक्ष की प्राप्ति के हेतु नैतिक आचरण के मूल सिद्धान्तों पर एकमत है। वासनाओ पर नियंत्रण कर संयमपूर्ण जीवन, अहिंसा और सासारिक विषय भोगो की ओर से उदासीनता, यह सिद्धान्त सभी दर्शन स्वीकार करते हैं। मनुष्य के जीवन मे जब नैतिक आचरण के कारण सात्विक वृत्ति का उदय होता है तब वह चित्त शुद्धि एवं एक धार्मिक ज्ञान की एकाग्रता के कारण से अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए योग्य पात्र बन जाता है। सारी भारतीय दर्शन शाखाएँ इस पात्रता को प्राप्त करने के साधनो पर अथवा यम नियमो के पालन करने के सम्बन्ध मे एक मत हैं। नामादि की तफसील मे या अन्य विवरण मे कही-कही अन्तर अवश्य दिखाई देता है परन्तु मूल रूप से सभी दर्शन योग दर्शन द्वारा प्रतिपादित विधि को आत्म सिद्धि के लिए मान्य समझते हैं। केवल उत्तरकाल मे वैष्णव दर्शन के प्रभाव मे भक्ति को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा। इस प्रकार यद्यपि विभिन्न शाखाओ मे अनेक प्रकार के मतमतान्तर विभिन्न रूप से मिलते हैं परन्तु जहाँ तक मोक्ष प्राप्ति एवं तत्संबंधी साधन, जीवन का लक्ष्य और संसार के प्रति जीवन में व्यवहार आदि का प्रश्न है, इन सब पर सभी दर्शन एक मत हैं। भारत के सभी भागो मे धर्म के लिए अपार श्रद्धा एवं जिज्ञासा रही है और साधनो की एकता के कारण भारतीय विचार-दर्शन में एक प्रकार की एकरसता पाई जाती है।

□□□

अध्याय 5

बौद्ध दर्शन

अनेक विद्वानों का ऐसा मत है कि साख्य और योग भारतीय दर्शन की प्रमुख प्रारम्भिक धाराएँ हैं। यह भी कहा जाता है कि बौद्ध दर्शन मे साख्य एव योग दर्शन से ही अधिकांश प्रेरणा प्राप्त हुई है। इस दृष्टिकोण में काफी सत्य भी हो सकता है परन्तु यह भी सत्य है कि सांख्य एव योग दर्शन के जो क्रमबद्ध शास्त्र हमको मिलते हैं वे बौद्ध धर्म के उदय के पश्चात् लिखे गये थे। हिन्दू दर्शन के अध्येता यह भलीभाँति जानते हैं कि बौद्ध धर्म के सघर्ष के कारण हिन्दू दर्शन के विभिन्न क्षेत्रो में दार्शनिक जिज्ञासा का जागरण अधिक तेजी से हुआ, अधिकाश दार्शनिक ग्रन्थ इस काल में लिखे गये। अत विभिन्न हिन्दू दर्शनो के पूर्ण-रूपेण अध्ययन करने के लिए बौद्ध दर्शन का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है ताकि हम बौद्ध दर्शन के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन कर सकें। अत सर्वप्रथम बौद्ध दर्शन से मैं इस विषय को प्रारम्भ करना उचित समझता हूँ।

बुद्ध से पूर्व भारत में दर्शन की स्थिति

बौद्ध धर्म के उद्भव से पूर्व भारत में जो दार्शनिक अवधारणाएँ प्रचलित थीं उनका निश्चित स्वरूप वर्णन करना कठिन है। उपनिषदों के सिद्धान्त सर्वविदित हैं और उनका पहले भी वर्णन किया जा चुका है। परन्तु केवल यही सिद्धान्त प्रचलित नही था। इनके अतिरिक्त कई प्रकार के मत मतान्तर, धार्मिक विचार प्रचलित थे जिनका प्रसग उपनिषदो में भी प्राप्त होता है, विशेषकर नास्तिक मतों का।[1] सृष्टि की उत्पत्ति और उनकी क्रियाओ के बारे मे अनेक शास्त्रार्थ हुआ करते थे। कुछ लोगो का मत था कि काल ही केवल सृष्टि की उत्पत्ति और नाश का कारण है। दूसरा मत था कि प्रकृति किसी कारण विशेष से उत्पन्न न होकर स्वयमेव अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होती है। कुछ लोगो के मत से प्रकृति अथवा सृष्टि एक अटल प्रारब्ध से उत्पन्न होती है अथवा अनेक कारणो के सन्निपात से, सहसा, एक अतर्कित घटना-क्रम में सृष्टि की उत्पत्ति हुई है अथवा प्रकृति पचभूतों के मेल से (सम्मिश्रण से) उत्पन्न हुई है अर्थात् इसकी उत्पत्ति भौतिक तत्त्वो द्वारा हुई है। अनेक प्रकार के धर्म विरोधी सिद्धान्तों का वर्णन बौद्ध ग्रन्थों मे मिलता है लेकिन इन सिद्धान्तों पर विस्तृत विवरण नही मिलता। उपनिषदों मे वर्णित वस्तुवाद के समान दर्शन के दो अग चार्वाक दर्शन में पाये जाते हैं। इन्हें धूर्त एव सुशिक्षित की सज्ञा दी गई है। इनका उल्लेख उत्तरकालीन साहित्य में प्राप्त होता है परन्तु ये मत ठीक-ठीक किस काल में प्रचलित रहे इसका निश्चय करना कठिन है।

---

1 श्वेताश्वतर 1 अ० श्लोक 2

"काल स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि पुरुष इति चिन्त्यम्।"

परन्तु ऐसा लगता है कि उपनिषदों में जिस वस्तुवादी दर्शन का प्रसंग आया है वह चार्वाक अथवा उसी प्रकार के अन्य दर्शनो की ओर संकेत करता है। चार्वाक वेदों को अथवा अन्य धार्मिक शास्त्रों को मान्य नही समझते थे। उनके अनुसार आत्मा का कोई अस्तित्व नही है जीवन एवं चेतना के भौतिक तत्त्वों के आमिश्रण से उत्पन्न होते हैं जैसे श्वेत और पीत रंग को मिलाने से लाल रंग उत्पन्न होता है अथवा जैसे राब में नशे का तत्त्व मद्यमार (मदशक्ति) अपने आप पैदा हो जाता है। इस जीवन के पश्चात् और कोई दूसरा जीवन नही है और कर्मों का अच्छा या बुरा फल नही होता क्योंकि पाप और पुण्य इन दोनो का ही अस्तित्व नहीं है। जीवन आनन्द के लिए है। जब तक जीवन है तब तक किसी और वस्तु के बारे में सोचना व्यर्थ है। मृत्यु के साथ जीवन और शरीर समाप्त हो जाता है क्योकि मृत्यु के पश्चात् जब शरीर को जला दिया जाता है तब शरीर राख बन जाता है अत. मनुष्य के पुनर्जन्म का कोई प्रश्न ही नही उठता। अनुमान में उनकी कोई आस्था नही है। जो प्रमाण प्रत्यक्ष है वह सत्य है क्योंकि किसी निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए जिस हेतु को महत्त्व दिया जाता है वह फल उसका हेतु न होकर यह भी सम्भव है कि वह फल किसी और हेतु से हुआ हो और इसमे वास्तविक हेतु का सम्भ्रम हो गया हो। अतः जिस हेतु के आधार पर जिस अनुमान को मान्य समझा गया है उसका आधार भ्रमपूर्ण होने से जिस नतीजे पर पहुँचते हैं वह स्वयं अमान्य है। यदि किसी प्रकार यह मान भी लिया जाय कि कुछ अवस्थाओ मे घटनावश (संयोगवश) कोई अनुमान सत्य निकल आए तो भी यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि यह संयोगवश हुआ है अथवा किसी निश्चित कारण से हुआ है। इन लोगों को चार्वाक इसलिए कहा जाता था कि वे किसी प्रकार की धार्मिक व नैतिक जिम्मेवारी स्वीकार नही करते थे और खाने-पीने में विश्वास करते थे। इस शब्द की उत्पत्ति 'चर्व' धातु से है जिसका अर्थ है खाना, चर्वण करना। धूर्त चार्वाक मतानुसार यह संसार चार तत्त्वों से अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु एवं अग्नि के द्वारा बना हुआ है और यह शरीर अणु के मेल से बना हुआ है। संसार मे न कोई आत्मा है, न कोई स्वीय तत्त्व है, और न पाप है, न पुण्य। सुशिक्षित चार्वाक यह मानते थे कि शरीर के अतिरिक्त आत्मा भी है परन्तु शरीर के विनाश के साथ-साथ आत्मा भी नष्ट हो जाती है। चार्वाकों का आदि ग्रन्थ सम्भवत. बृहस्पति ने सूत्र रूप मे लिखा था। जयन्त एवं गुणरत्न ने इस ग्रंथ से दो सूत्रों का उद्धरण दिया है। इस मत का साधारण वर्णन जयन्त रचित न्याय-मंजरी मे, माधव रचित सर्व दर्शन संग्रह और गुण रत्न रचित तर्क रहस्य दीपिका में पाया जाता है। महाभारत में एक आख्यान आता है जिसमे युधिष्ठर से चार्वाक नाम का एक व्यक्ति मिलता है।

वस्तुवादी चार्वाक दर्शन के साथ-साथ ही हमें आजीवक का ध्यान भी आता है। मक्खलि गोशाल जो सम्भवत. जैन मुनि महावीर के शिष्यों मे से एक थे और जो बुद्ध और महावीर के समकालीन थे, इस मत के प्रमुख नेता थे। इस मत के अनुसार मनुष्य धर्म करने में स्वतंत्र नहीं है। उसके सारे कर्म पूर्व निश्चित क्रम के अनुसार अथवा एक निश्चित अटल प्रारब्ध के अनुसार होते हैं। इस प्रकार शुभ अथवा अशुभ कर्म करने में न वह स्वतंत्र

है और न वह उन कर्मों के लिए उत्तरदायी है। मक्खलि के मत का मूल तत्त्व है कि "मनुष्य के पापी अथवा पुण्यात्मा होने के लिए तात्कालिक अथवा दूरस्थ कोई कारण नही है। विना किसी कारण के वे अच्छे या बुरे हो सकते हैं। अपने स्वय के प्रयत्न पर कोई वस्तु निर्भर नही कर सकती न किसी दूसरे के प्रयत्न से अच्छा या बुरा कर्म हो सकता है। सक्षेप मे मनुष्य का प्रयत्न अर्थहीन है। मनुष्य शक्तिहीन है और वह स्वय कुछ नही कर सकता। मनुष्य की विभिन्न अवस्थाएँ एक अटल भाग्य के कारण हैं अथवा वातावरण और प्राकृतिक अवस्था के अनुसार हैं।[1]

अजित केशकवली एक दूसरे मत के अधिष्ठाता थे। उनकी शिक्षा के अनुसार अच्छे अथवा बुरे कर्मों का कोई फल नही है। दूसरा कोई लोक नही है न यह लोक ही सत्य है। इस जीवन का माता-पिता के या किसी और जीवन से सम्बन्ध नहीं है। हम कुछ भी करें जीवन के पश्चात् मृत्यु अवश्यभावी है और मृत्यु के पश्चात् सब कुछ समाप्त हो जाता है।[2]

इस प्रकार तीन विशिष्ट विचारधाराएँ प्रचलित थी। प्रथम यह कि आन्तरिक क्रियाओं द्वारा यज्ञादि कर्म से कोई भी मनुष्य मनोवाछित फल प्राप्त कर सकता था। दूसरी उपनिषद् की शिक्षा जिसके अनुसार ब्रह्म जो आत्मा से अभिन्न है, वही वास्तविक सत्य है और उसी का वास्तविक अस्तित्व है। इसके अतिरिक्त जो कुछ है वह केवल नाम और रूप मात्र है, अर्थात् जो माया है वह क्षणभगुर है और जो शाश्वत तत्त्व है वह ही सत्य एव यथार्थ है, वह आत्मा है। तीसरी शून्यवादी (निहिलिस्टिक) विचारधारा जिसके अनुसार न कोई नियम है न कोई शाश्वत सत्य है, जिसके अनुसार अनेक सवृत्तियो या घटनाओं के मेल से वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और नष्ट हो जाती हैं अथवा ये किसी ऐसे प्रारब्ध से होती हैं जिसके बारे मे मनुष्य द्वारा कुछ भी किया जाना समव नही है। इन तीनो मतो से दर्शन के विचारमथन की गति अवरुद्ध हो गई। इस देश मे उस समय यौगिक क्रियाएँ भी प्रचलित थीं जो परम्परा के अनुसार भी मान्य थीं एव जिनका सम्मान इस कारण से भी था कि इन क्रियाओ को करने वाले व्यक्ति अद्भुत शारीरिक, बौद्धिक एव आत्मिक शक्तियाँ इन क्रियाओं द्वारा प्राप्त किया करते थे। परन्तु कोई युक्तिसगत आधार इन क्रियाओ की पृष्ठभूमि में नहीं था जिसके आधार पर वे इनका दार्शनिक विवेचन कर सकें। इसी समय कुछ अनिर्धारित दार्शनिक सिद्धान्तो पर आधृत साख्य दर्शन का प्रादुर्भाव हो रहा था। सम्भवत योग दर्शन उसी समय से अपने आप को साख्य सिद्धान्तो के साथ नियोजित कर दार्शनिक रूप पाने का उपक्रम कर रहा था। ठीक इसी समय बुद्ध ने दर्शन के एक मौलिक एव नवीन, भव्य, स्वरूप को जन्म दिया जिसने आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए दर्शन का एक नया मार्ग प्रस्तुत किया। यदि उपनिषदो का ब्रह्म जो एकमात्र एव महान् तत्त्व माना गया है वही एकमात्र सत्य है तब अन्य किसी तत्त्व या सिद्धान्त पर

---

1 सामञ्जफलसुत्त, दीघ, खड 1, पक्ति 20।
हॉरनली द्वारा लिखित आजीवको पर लेख (ई० आर० ई०)।

2 सामञ्ञफलसुत्त 11, 2, 3।

दार्शनिक विमर्श करने की सम्भावना ही नहीं है क्योंकि उस ब्रह्म के अनन्तर सब कुछ असत्य एवं अयथार्थ है। दूसरी ओर यदि वस्तुवादियों के अनुसार संसार में होने वाले व्यापार केवल असाधारण घटनावश है जिनका कोई युक्ति-संगत आधार नही है तब उस मत में फिर दर्शन के लिए किसी युक्ति अथवा तर्क से किसी भी विचारधारा की संगति करना असंभव है क्योंकि तर्कहीन दर्शन की उत्पत्ति का प्रश्न ही नही पैदा होता है। तीसरी ओर तान्त्रिक जादू टोने अथवा रहस्यमय शक्ति के सम्बन्ध में भी किसी दर्शन के विकास का प्रश्न कठिन सा ही था। इस प्रकार यदि युद्ध के पूर्व भारतीय दर्शन एवं संस्कृति की दशा का विश्लेषण करें तब हम ठीक-ठीक समझ सकेंगे कि बुद्ध की दार्शनिक देन कितनी महत्त्वपूर्ण है।

बुद्ध और उनका जीवन

गौतम बुद्ध कपिल-वस्तु के निकट लुम्बिनी कुंज में जहाँ अब नेपाल की घनी-तराई है ई०पू० 560 के आस-पास पैदा हुए थे। उनके पिता शुद्धोदन शाक्य वंश के राजा थे, उनकी माँ का नाम रानी महामाया था। गाथाओं के अनुसार उनके सम्बन्ध में ऐसी भविष्यवाणी की गई थी कि जिस दिन बुद्ध एक अपाहिज रुग्ण मनुष्य या मरे हुए आदमी को देखेंगे उस दिन संन्यास ग्रहण कर लेंगे। उनके पिता ने उनको इन सब दृश्यों से दूर रखने का प्रयत्न किया और उनको विलास की सामग्री से घेरकर उनका विवाह भी कर दिया। परन्तु जब वे महल से बाहर निकले तब एक-एक करके उन्हें बुढापा, मृत्यु, बीमारी आदि के दृश्य दिखाई दिये जिससे उनका हृदय दुःख और आश्चर्य से भर गया। यह सब देखकर उनके हृदय ने अनुभव किया कि सभी सांसारिक वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं अतः उन्होंने गृह-त्याग का निश्चय किया और मनुष्य के दुःखों को मिटाने हेतु अमरत्व की प्राप्ति के लिए उचित मार्ग खोजने का निश्चय किया। जब वे 29 वर्ष के थे तब उन्होंने अपने पितृगृह से महाभिनिष्क्रमण कर घर छोड़ दिया और राजगृह तक वे पैदल ही चलते गए और वहाँ से उरूवेला गए जहाँ वे अन्य पाँच साधुओं के साथ आत्म संयम एवं कठोर साधना में लीन हो गए। कठिन तपस्या के कारण वे मृतप्राय हो गए और एक दिन बेहोश होकर गिर पड़े और लोगो ने उन्हे मरा हुआ समझा। 6 वर्ष तक कठिन तपस्या करने के पश्चात् उन्होंने यह अनुभव किया कि केवल कठोर तपस्या से सत्य के दर्शन नही हो सकते और तत्पश्चात् साधारण ढंग से साधना करते रहे। अन्त में उन्होंने महान् सत्य के दर्शन किए और आत्म-ज्ञान का प्रकाश प्राप्त किया। तत्पश्चात् बुद्ध 45 वर्ष तक एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहे और अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। जब वे 80 वर्ष के हो गए तब उन्होंने अनुभव किया कि अब जीवन त्याग करने का समय आ गया है। तब वे ध्यान में बैठ गए और ध्यान योग की उच्चतम क्रियाओं को करते रहे और निर्वाण को प्राप्त हुए। इस महान् उपदेशक के दर्शन मे जिस प्रकार के विशद परिवर्तन एवं विकास हुए हैं उनका इस देश में अथवा अन्य देशो में पूर्ण एवं गहन अध्ययन अभी तक नही हो पाया है और सम्भवतः अभी इसके अध्ययन सम्बन्धी समस्त सामग्री के एकत्रित होने मे अनेक वर्ष लगेंगे। परन्तु जो कुछ सामग्री उपलब्ध है उससे यह प्रामाणिक ढग से सिद्ध किया जा सकता है कि यह मानवीय

बुद्धि की महत्तम देनो मे से एक है, आश्चर्यजनक, सुन्दर एव रहस्यमय दर्शन है। भारतीय दर्शन, संस्कृति एव सभ्यता अनेक शताब्दियो तक निरन्तर होते रहने वाले इसके गहनतम प्रभाव के सदैव ऋणी हैं।

प्रारंभिक बौद्ध साहित्य

बौद्ध धर्म के पाली ग्रन्थो के तीन प्रकार के सग्रह मिलते हैं—सुत्त (सिद्धान्त सबधी सूत्र), विनय (भिक्षुओं की चर्या एव अनुशासन सम्बन्धी लेख), अभिधम्म (सूत्रो में वर्णित साधारण विषयो पर विशद एव विद्वत्तापूर्ण धार्मिक व्याख्या)। बौद्ध-धर्म के विद्वान् इन ग्रथो के निर्माण अथवा इन सूत्रो के सग्रह आदि का निश्चित समय निर्धारित करने मे अभी तक सफल नही हो पाए हैं लेकिन सुत्त अभिधम्म से पहले लिखे गए हैं और ऐसा सम्भव है कि ये सारे धर्मादेश सम्बन्धी ग्रथ 241 ई० पू० तक पूरे लिख लिए गए होंगे जबकि अशोक के राज्यकाल मे तीसरी महासभा की बैठक हुई थी। सुत्त मुख्यतया बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो का निरूपण करते हैं तथा विनय ग्रथ भिक्षुओ के अनुशासन सम्बन्धी नियमो का। अभिधम्म का विषय वही है जो सुत्तों का विषय है अर्थात् धर्म की व्याख्या। बुद्धघोष लिखित अत्थ-सालिनी टीका धम्म-सगणि की टीका है। उसकी भूमिका मे बुद्धघोष कहते हैं कि अभिधम्म नाम इन्हें इसलिए दिया गया क्योकि ये सुत्तो मे वर्णित धम्म की विशेष रूप से व्याख्या (धर्मातिरेक) करते हैं जिसके लिए वे धर्मातिरेक एव 'धम्मविशेषत्तेन' विवेचना की सज्ञा दे सकते हैं। अभिधम्म मे ऐसा कोई नया सिद्धान्त नही पाया जाता जो सुत्तो मे न हो। वे सुत्तों मे वर्णित सिद्धान्तो की विस्तृत व्याख्या ही करते हैं। बुद्धघोष सुत्तों एव अभिधम्म मे अन्तर बताते हुए लिखते है कि सुत्तो के मनन मे ध्यान की एकाग्रता (समाधि) का लक्ष्य प्राप्त होता है जबकि अभिधम्म के अध्ययन से ज्ञान और बुद्धि प्राप्त होती है (पञ्ञा-सम्पादम्)। इस उक्ति के पीछे सम्भवत यह तथ्य है कि सुत्तो के अध्ययन से मन और बुद्धि परिष्कृत होते हैं और उस परिष्कार से ध्यान और समाधि की ओर रुचि होती है जिससे दुःखप्रद बन्धन से मुक्ति मिलती है। अभिधम्म के अध्ययन से युक्ति, तर्क एव प्रमाणो से धर्म सम्बन्धी विस्तृत व्याख्या की एव उसके प्रतिपादन की अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। सरल शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि सुत्त शुद्ध भक्ति, ध्यान, धारणा आदि की ओर मन को अग्रसर करते हैं और अभिधम्म, धर्म-सम्बन्धी तार्किक वाद-विवाद एव वाह्य दार्शनिक विवेचन मे गति प्रदान करते है। कथावत्थु नाम के अभिधम्म ग्रन्थ अन्य अभिधम्म ग्रन्थो से भिन्न है क्योंकि ये उन मतो को, जो धर्म सम्मत नहीं है, प्रश्नोत्तर की प्रणाली से, विपक्षियो के उत्तरो मे विरोधाभास वताते हुए, मूर्खतापूर्ण सिद्ध करते हैं।

सुत्त-ग्रन्थो के पाँच सग्रह उपलब्ध हैं जिनको निकाय कहते हैं (1) दीघनिकाय—इसे सुत्तो की दीर्घता के कारण दीर्घनिकाय कहा जाता है (2) मज्झिम निकाय—इसका नाम सुत्तो का कलेवर मध्यम प्राय होने के कारण ऐसा रखा गया है। (3) सयुत्त निकाय—विशेष गोष्ठियों में अथवा 'सयोगो मे' जो उपदेश दिया जाता था वह इसमे वर्णित है। इन सयोगो मे (गोष्ठियो मे) विशेष व्यक्तियो से मिलने का अवसर प्राप्त होता था और उस

अवसर पर जो उपदेश हुआ करते थे वे सम्युत्त निकाय में उपलब्ध है। (4) अंगुत्तर निकाय—यह नाम इसलिए पड़ा कि इन ग्रन्थो के प्रत्येक अध्याय में जिन विषयों पर शास्त्रार्थ किया गया है उनकी संख्या प्रत्येक अध्याय मे एक अधिक हो जाती थी अर्थात् एक से बढ़ जाती थी।[1] (5) खुद्दक निकाय—इसमे निम्न विषय पाये जाते हैं—खुद्दक पाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्त-निपात, विमानवत्थु, प्रेतवत्थु, थैरगाथा, थैरीगाथा, जातक, निद्देस, पतिसम्भिदामग्ग, अपादान, बुद्धवंश एवं चर्यापिटक।

अभिधम्म-ग्रन्थ निम्न हैं—पत्थान, धम्मसंगणि, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, विभंग, यमक, एवं कथावत्थु। इन ग्रन्थो के विभिन्न भागो पर टीका साहित्य भी मिलता है जिनको अत्थकथा के नाम से भी पुकारते है। मिलिन्दपन्ह, अर्थात् 'राजा मिलिन्द के प्रश्न' नाम का ग्रन्थ (तिथि अनिश्चित) बड़े दार्शनिक महत्त्व का है।

जो सिद्धान्त और विचार इस साहित्य में मिलता है उसे साधारणतया स्थविरवाद या 'थेरवाद' के नाम से जाना जाता है। थेरवाद नाम की उत्पत्ति के संबंध मे द्वीपवंश नामक पुस्तक मे लिखा है कि प्रथम महासभा मे थेरगण अर्थात् वृद्धजन एकत्रित हुए और सारे सिद्धान्तों को उन्होने एक स्थान पर एकत्रित किया। अतः इन्हे थेरवाद कहते हैं।[2] ऐसा लगता है कि बौद्ध दर्शन जैसाकि वह पाली साहित्य में वर्णित है बुद्ध घोष के समय (400 ई०) के पश्चात् और अधिक विकसित नहीं हो पाया। बुद्ध घोष ने विशुद्धि मग्ग (थेरवाद सिद्धान्तों का संग्रह ग्रन्थ) लिखा और कई ग्रन्थो की टीका की जिसमे दीघनिकाय एवं धम्मसंगणि मुख्य है।

उत्तरकालीन हिन्दू दर्शन बौद्ध दर्शन की विभिन्न शाखाओ द्वारा बहुत प्रभावित हुआ दिखता है परन्तु ऐसा प्रतीत नही होता कि पाली भाषा में लिखित बौद्ध दर्शन का हिन्दू दार्शनिक ग्रन्थो पर कोई प्रभाव पड़ा हो। मुझे किसी भी ऐसे तत्कालीन हिन्दू लेखक का पता नहीं लग पाया है जो साथ ही पाली का भी विद्वान् हो।

प्रारंभिक बौद्ध धर्म का कारण-सिद्धान्त[3]

बौद्ध शास्त्रों मे धम्म शब्द का चार अर्थों में प्रयोग किया जाता है। (1) शास्त्र

1. बुद्धघोष, अत्थसालिनी, पृ० 25।
2. ओलडनवर्ग का दीपवंश, पृ० सं० 31।
3. इस बात पर मतभेद है कि कारणो के बारह समूहों को जो सिद्धान्त सम्म्युत्तनिकाय में दिया हुआ है वह बौद्ध दृष्टिकोण से कारण सिद्धान्त का सर्वप्रथम मत है अथवा नही क्योंकि सम्म्युत्त निकाय बौद्ध सुत्तो का प्राचीनतम ग्रन्थ नहीं माना जाता, परन्तु क्योंकि यह कारणों का सिद्धान्त बौद्ध धर्म का आधार माना जाता है अतः मैंने इसके विशेष विवाद मे पड़ना उचित नही समझा कि यह सर्वादिम सिद्धान्त है या नहीं। इस संबंध में मेरा ध्यान ई० जे० टोमस ने आकर्षित किया था।

(2) गुण (3) कारण (हेतु) (4) सत्वरहित एव जीवरहित (नि:सत्व एव निर्जीव)।[1] इन सबमे अन्तिम अर्थ दर्शन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रारंभिक बौद्ध दर्शन मे किसी एक ऐसे अस्तित्व को नही माना गया है जिसको यथार्थ अथवा वास्तविक सत्य के रूप में समझा गया हो। बौद्ध दर्शन के अनुसार जो भी तत्त्व हैं वे केवल सत्वहीन घटनाएँ ही हैं जिनको उन्होंने धम्म या धम्मों के नाम से संबोधित किया है। प्रश्न यह उठता है कि यदि वास्तव मे कोई यथार्थ अथवा पार्थिव तत्त्व नही है तो कोई व्यापार अथवा घटनाएँ या सवृत्तियाँ कैसे हो सकती है? परन्तु सांसारिक क्रम अर्थात् घटनाक्रम चलता रहता है। बुद्ध के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण वस्तु यह जानकारी करना था कि "जो कुछ यह है उससे परे और क्या है", 'जो कुछ यह हो रहा है उसके परे और क्या हो रहा है' तथा 'जो कुछ नही है उसके परे और क्या नही है।' ये सारी घटनाएँ एक क्रम मे हो रही हैं और हम यह देखते हैं कि एक घटना अथवा कार्य दूसरे कार्य के लिए कारण रूप हो जाता है और उससे फिर अन्य कार्य की उत्पत्ति होती हैं। इसे पतिच्च-समुप्पाद कहते हैं अर्थात् जहाँ कार्योत्पत्ति किसी एक दूसरे कारण पर निर्भर होती जाती है। लेकिन यह समझना और अधिक कठिन है कि इस निर्भरता का वास्तविक रूप क्या है। बुद्ध के हृदय मे ज्ञान प्राप्त करने के पहले इस सबध मे अनेक शकायें उठी जैसाकि सयुत्त निकाय मे दिया हुआ है। उन्होंने विचार किया कि मनुष्य ऐसी दु:ख भरी स्थिति मे क्यों हैं ? वे जन्म लेते हैं, बुरे होते हैं, मृत्यु को प्राप्त होते हैं, इस दुनियाँ से चले जाते है और फिर जन्म लेते हैं। इस मृत्यु और दु:ख से छुटकारा पाने के लिए उनको मार्ग दिखाई नहीं देता।

दु:ख मृत्यु और बुढापे से छुटकारा पाने के लिए मार्ग किस प्रकार ढूँढा जाये ? फिर उन्होंने सोचा कि यदि मृत्यु और जरा है तो इसके होने का क्या कारण है ? इस विषय पर विशेष मनन करने के पश्चात् वे इस परिणाम पर पहुँचे कि जरा और मृत्यु तभी हो सकती है जब कि जन्म हो। अत: जरा और मृत्यु जन्म (जाति) पर निर्भर करती है। उन्होंने पुन: मनन किया कि यदि जन्म का अस्तित्व है तब यह जन्म अथवा जाति इस पर निर्भर करती है इसका हेतु क्या है। तब वह इस नतीजे पर पहुँचे कि जन्म तभी हो सकता है जबकि जन्म के पूर्व कोई अस्तित्व हो जिसे बौद्ध दर्शन के अनुसार भाव[2] नाम दिया है अर्थात भाव जाति का हेतु है। फिर उन्होंने सोचा कि पूर्वस्थित भाव किस पर निर्भर है

---

1 अत्थसालिनी पृ० 38। धम्म शब्द और भी अर्थों मे प्रयोग किया जाता है जैसे धम्मदेशना जहाँ इसका अर्थ है धार्मिक शिक्षा। लकावतार ने धर्म की व्याख्या "गुणद्रव्य पूर्वका धर्मा" के रूप मे की है अर्थात् धर्म वे हैं जो वस्तु के रूप गुण को स्पष्ट करते हैं।

2 चन्द्रकीर्ति ने अपनी पुस्तक माध्यमिक वृत्ति मे पृ० 565 (लावेली पूसी संस्करण) भाव की व्याख्या करते हुए कहा है कि भाव वह कर्म है जिससे पुनर्जन्म होता है। (पुनर्भवजनक कर्म समुत्थापयति कायेन वाचा मनसा च)।

अथवा वह कौनसी वस्तु है जिसके होने से भाव की उत्पत्ति होती है अर्थात् जो भाव का हेतु है। उन्होंने मनन किया कि अस्तित्व तव तक नही हो सकता जव तक कि उसका कोई आधार न हो जिसे उन्होंने उपादान[1] के नाम से संवोधित किया है। फिर उन्होंने सोचा कि उपादान का हेतु क्या है। उपादान वासना (तन्हा[2] अथवा तृष्णा) पर निर्भर है। यदि तृष्णा नही है तो उपादान संभव नही है। परन्तु फिर यह इच्छा किस पर निर्भर है। वासना अथवा तृष्णा के लिए वेदना की आवश्यकता है, वेदना का क्या कारण है और यह किस पर निर्भर है? वेदना की अनुभूति के लिए आवश्यक है ज्ञानेन्द्रिय का सम्पर्क अर्थात् इन्द्रिय-जन्य चेतना जिसे स्पर्श[3] नाम दिया गया है। यदि इन्द्रियजन्य चेतना न हो तो अनुभूति नही होती। यह स्पर्श किस पर निर्भर है? सम्पर्क के छः क्षेत्र हैं जिनको आयतन[4] कहा गया है। इन छः आयतनों का क्या हेतु है? तव वह इस नतीजे पर पहुँचे कि आयतनों के लिए वुद्धि और शरीर का होना आवश्यक है। शरीर अथवा वुद्धि (नाम रूप) ही छ आयतनो का आधार है। फिर ये नाम रूप किस पर निर्भर करते हैं? फिर इनका क्या हेतु है? चेतना के विना नाम रूप नही हो सकते। चेतना (विज्जयान) ही नाम रूप का आधार[5] अथवा हेतु है। फिर विज्ञान का क्या अर्थ है? वौद्ध

---

1. अत्थसालिनी पृ०सं० 385। उपदानन्ति दल्हगहणम्। चन्द्रकीर्ति उपादान का अर्थ करते हुए कहते हैं कि मनुष्य जव किसी वस्तु की दृढ़ कामना करता है तव वह उस कामना की पूर्ति के लिए जो साधन है उनको विशेप मोह से पकड़े रहता है। (यत्र वस्तुनि सतृष्णस्तस्य वस्तुनोर्जनाय विधापनाय उपादानमुपादत्ते तत्र प्रार्थयते) माध्यमिक वृत्ति पृ० 565।

2. चन्द्रकीर्ति तृष्णा की व्याख्या इस प्रकार करते हैं। आस्वादनाभिनंदनाध्यवसान-स्थानादात्मप्रियरूपैर्वियोगो मा भूत्, नित्यमपरित्यागो भवेदिति, येयम् प्रार्थना—यह उत्कट इच्छा कि जिन भोगों से हमें परितृप्ति होती है उनसे हमारा कभी वियोग न हो, इस उत्कट कामना को तृष्णा कहते हैं। वही, पृ० 565।

.3 कई स्थानो पर फस्सायतन फस्सकाय शब्द प्रयोग में आये है जैसे मध्यमनिकाय दूसरा खण्ड, पृ० 261 तीसरा खण्ड पृ० 280 आदि। चन्द्रकीर्ति संस्कृत में कहते हैं—पड्भिरायतनद्वारैः कृत्यप्रक्रिया प्रवर्तन्ते, प्रज्ञायन्ते तन्नामरूपप्रत्ययम् षडायतनम् उच्चयते पड्भ्येश्चायतनेभ्यः षट् स्पर्शकायाः प्रवर्तन्ते, वही, पृ० 565।

4. आयतन से अर्थ ७ ज्ञानेन्द्रियों एवं उनके सम्पर्क में आने वाली वस्तुओं से है। आयतन का शाब्दिक अर्थ कार्यक्षेत्र है। जैसे आँख देखती है और जिसने स्वरूप को देखा है वह उस दृष्टि का कार्यक्षेत्र है। पडायतन का अर्थ है, छ ज्ञान चेतना। चन्द्रकीर्ति आयतनद्वारैः का प्रयोग करता है।

5. मैंने नामरूप शब्द को शरीर और शुद्धि के अर्थ मे अग (Aung) महोदय के अनु-वाद से लिया है। कम्पेन्डियम (Compendium) पृ० 271। यह अर्थ मुझे

शब्द (विञ्जान) है। विञ्जान का आधार सखार (सस्कार) है।[1] फिर इस पर विचार किया कि सस्कार का क्या आधार है ? फिर इसके आधार के लिए इस नतीजे पर पहुँचे कि सस्कार का आधार अविज्जा (अविद्या) है। अविज्जा के नाश से सखार का

काफी सही लगता है। प्रत्येक जन्म मे चार स्कन्ध 'नाम' शब्द से पुकारे गये हैं। इनका रूप अथवा द्रव्य (Matter) के साथ 'नाम रूप' शब्द से उल्लेख होता है। इनका विकास होने से छ ज्ञानेन्द्रियो के द्वार मे जगत् की प्रक्रियाओ के कारण ज्ञान की प्राप्ति होती है। मध्यमनिकाय पृ० 564। गोविन्दानन्द जिन्होंने ब्रह्म सूत्र की शकर भाष्य पर टीका लिखी है नाम रूप की एक दूसरी व्याख्या करते हैं जो सभवत विज्ञानवाद के दृष्टिकोण के अनुसार है परन्तु इसकी जाँच करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। वे कहते हैं—क्षणभगुर वस्तुओ को स्थायी मानना अविद्या है। इस अविद्या के कारण मोह, वितृष्णा, क्रोध, ममता आदि के सस्कारो की उत्पत्ति होती है, इनसे विज्ञान अथवा उत्पत्ति के विचार की सृष्टि होती है, फिर उससे आलय विज्ञान और चार तत्वो की (जो नाम द्वारा वोध्य होते हैं इसलिए उनको 'नाम' कहते हैं) उत्पत्ति होती है उनसे श्वेत और कृष्ण की तथा रक्त और वीर्य की उत्पत्ति होती है जिसको रूप कहते हैं। वाचस्पति एव अमलानद गोविन्दानन्द से सहमत हैं कि नाम, वीर्य और रज के लिए प्रयुक्त हुआ है। रूप का अर्थ उस वौद्धिक शरीर से है जो इस वीच से उत्पन्न हुआ है। गर्भ मे विज्ञान ने प्रवेश किया और उसके कारण नाम रूप की पूर्व कर्मो के सघात से उत्पत्ति हुई। देखिये, वेदान्त कल्पतरु पृ० 274-75। गर्भ मे विज्ञान के प्रवेश करने के सिद्धान्त को तुलनात्मक रूप से देखने के लिए पढिये दूसरा खण्ड, पृ० सख्या 63।

1 यह कहना कठिन है कि सखार का सही अर्थ क्या है। वुद्ध उन प्राथमिक विचारको में से जिन्होंने दर्शनशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दो और मुहावरो का प्रयोग सुचारु ढग से प्रारम्भ किया था परन्तु उनको कई वार एक ही शब्द का कई अर्थो मे प्रयोग करना पडा। अत वहुत सी दार्शनिक परिभाषाएँ परवर्ती सस्कृत दर्शन की वैज्ञानिक परिभाषाओ की तुलना में लचीले अर्थ वाली हैं। इस प्रकार सयुत्तनिकाय तीसरा खण्ड, पृ० 87 मे कहा है "सकटम् अभिसकरन्ती" सखार का अर्थ इस प्रकार किया है—वह जो मानसिक विषमताओं मे समन्वय करता है। कम्पेडियम मे इसका अर्थ सकल्प और कर्म के रूप में दिया है। ऑग महोदय इसका अर्थ कर्म के रूप मे करते हैं। सखार खण्ड मे, जिस अर्थ मे इसका प्रयोग हुआ है उससे इसका अर्थ भिन्न है। सखार खण्ड मे इसका अर्थ है मानसिक स्थितियाँ। धम्मसगणि पृ० 18 मे सखार खण्ड को निर्मित करने वाली 51 मानसिक स्थितियो का वर्णन किया गया है। धर्म सग्रह पृ० स० 6 पर दूसरी 40 मानसिक स्थितियो का वर्णन आया है। इन 40 के अलावा जिन्हें चित्तसम्प्रयुक्तसंस्कार नाम दिया गया है। 13

नाश होगा ।[1] संखार के नाश से विञ्ज्ञान नष्ट हो जायेगा और इसी प्रकार इसी क्रम से मनुष्य जन्म और मरण से छूट जायेगा ।

जीवन के अस्तित्व के इस हेतु के चक्र से जिसको कभी-कभी भव चक्र के नाम से भी पुकारते है, बुद्ध का वास्तव में क्या अर्थ था, यह कहना कठिन है । जन्म के बिना जरा और मरण सभव नही है[2] यह स्पष्ट है, परन्तु इसके पश्चात् कठिनाई प्रारम्भ हो जाती है। हमको यह ध्यान रखना चाहिए कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त उपनिषदों में प्रारम्भ हुआ था । वृहदारण्यक में ऐसा लिखा है कि जैसे घास की पत्तियों पर चलती एक इल्ली एक पत्ती से दूसरी पत्ती पर चली जाती है इसी प्रकार आत्मा एक शरीर के अन्त तक पहुँचकर दूसरे शरीर में चली जाती है । इस प्रकार यह जीवन दूसरे जीवन को पहले से ही मानकर चलता है । जहाँ तक मैं समझता हूँ बुद्ध के पहले अथवा पश्चात् पुनर्जन्म के सिद्धान्त को सिद्ध करने का अथवा इसका खण्डन करने का कभी कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया ।[3] दर्शन के सारे ही अंग इस सिद्धान्त को मानते रहे है केवल चार्वाक दर्शन ने इसको नहीं माना है । परन्तु चार्वाक दर्शन के सूत्रों के सवंध मे हम इतना कम जानते हैं कि हम यह नही कह सकते कि उनके सूत्रो में इस सिद्धान्त के खण्डन का कोई विशेष संदर्भ आया है अथवा नही । बुद्ध भी इसको एक वास्तविक तथ्य के रूप में मानते है और कही इसकी आलोचना नही करते हैं । अत यह जीवन पूर्व जन्मों की श्रृंखला की एक कड़ी है । भविष्य में भी यह कल्पना की जाती है कि अनेक जन्म लेने होगे । केवल वे कुछ थोड़े से लोग, जिन्हे निर्वाण प्राप्त हो जाता है, इस जन्म-मरण की श्रृंखला से कुछ समय के लिए मुक्त

अन्य मानसिक स्थितियों का वर्णन भी आया है जिन्हें चित्त-विप्रयुक्त-संस्कार नाम से वर्णित किया गया है । चन्द्रकीर्ति इनका अर्थ ममता, मोह और घृणा के रूप में करते हैं । देखिये पृ० 563, गोविन्दानन्द शंकर के ब्रह्म सूत्र की टीका में (दूसरा खण्ड, दूसरा अध्याय पृ० 19) इस शब्द का प्रयोग प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त के सिलसिले मे करते हैं और वहाँ इसका अर्थ ममता, विराग और मोह के रूप में करते हैं ।

1. सयुत्तनिकाय, दूसरा अध्याय, पृ० सं० 78 ।
2. जरा और मरण से शोक (अफसोस) होता है, परिवेदना (रोना, पीटना) होता है, दुःख (पीड़ा) होता है, दौर्मनस्य (कष्ट और परेशानी की भावना) और अपायास (सब कुछ छूट गया है, नष्ट हो गया है ऐसी भावना) उत्पन्न होता है जबकि मनुष्य अपनी या अपने प्रिय जनों की मृत्यु की कल्पना करता है इन सबसे मनुष्य को कष्ट एवं दुःख होता है जो जाति(जन्म) के कारण होता है । माध्यमिकवृत्ति पृ० 208 ।

   शकर अपने भाष्य में इन सारे शब्दों को जरा के अतिरिक्त वर्णित करते हैं । यह सारा शब्दक्रम दुःख-स्कन्ध की सम्पूर्णता को स्पष्ट करता है ।
3. हिन्दू दार्शनिक ग्रन्थों मे पुनर्जन्म के सिद्धान्त को सिद्ध करने का प्रयत्न न्याय दर्शन में किया गया है परन्तु यह अति सक्षिप्त और अपर्याप्त है ।

हो जाएँगे । यह सिद्धान्त जन साधारण मे सर्वमान्य था और बुद्ध ने भी इस विषय पर मनन किया तो उनको यह मानना पड़ा कि यह जन्म पूर्व जन्म के अस्तित्व के कारण है जिसको भव शब्द से उन्होंने स्पष्ट किया है । यदि भव का अर्थ कर्म से है जिसके कारण पुनर्जन्म होता है जैसाकि चन्द्रकीर्ति मानते हैं तो इसका अर्थ यह होगा कि पूर्व जन्म के कर्मो के अनुसार ही यह जन्म सभव है । यहाँ हमें उपनिषद् के इस वाक्य का स्मरण हो उठता है जिसमे कहा गया है कि मनुष्य जिस प्रकार कर्म करेगा उसी प्रकार उसका जन्म होगा—यत् कर्म कुर्यात् तत्अभिसम्पद्यते—(वृहदारण्यक चतुर्थ खण्ड, चतुर्थ अध्याय, 5वाँ श्लोक) अस्तित्व की अपेक्षा भव शब्द का अर्थ कर्म के रूप मे जो चन्द्रकीर्ति ने किया है अधिक ठीक दिखाई देता है(पुनर्भव जनक कर्म)सभवत यह शब्द अस्पष्ट रूप से "कर्मभव" के लिए प्रयुक्त किया गया था । भव शब्द प्रारम्भिक उपनिषदों मे नही पाया जाता है और दर्शनशास्त्रीय शब्द के रूप में केवल पाली भाषा के शास्त्रो में इसका प्रयोग हुआ है । लेकिन यह भव किस वस्तु पर निर्भर करता है ? यदि मनुष्य कामना के वशीभूत होकर कर्म नहीं करता तो पूर्व जन्म नही होता । इस प्रकार सकाम कर्म अथवा मोह को उपादान नाम दिया गया है । उपनिषदो में कहा है जिसके लिए उसके मन में मोह होता है वैसा ही वह कर्म करता है "यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते," (वृहदारण्यक चतुर्थ खण्ड, चतुर्थ अध्याय, 5वाँ श्लोक) । यह कामना तृष्णा पर निर्भर है इसलिए बौद्ध दर्शन मे कहा है कि उपादान के लिए 'तन्हा' (तृष्णा) की आवश्यकता है । उपनिषदों मे भी कहा है कि जैसी मनुष्य इच्छा करता है उसी प्रकार वह कर्म करने को उद्यत होता है(स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति)। उपादान और तृष्णा शब्द (तन्हा नाम के शब्द के लिये सस्कृत का शब्द) प्रारभिक उपनिषदों में नही पाये जाते लेकिन इनमें वह भाव है जो सस्कृत के शब्द क्रतु व काम मे पाया जाता है । तृष्णा इन्द्रियसनिकर्ष या इन्द्रियजन्य अनुभूति पर निर्भर करती है । इन्द्रियजन्य अनुभूति चेतना के छ: कार्यक्षेत्रों[1] (आयतनो) पर निर्भर करती है । षट् चेतनाएँ अथवा चेतना के कार्यक्षेत्र मनुष्य के शरीर और बुद्धि के समन्वय के कारण जन्मी मन स्थिति पर आश्रित हैं और इसी मनस्तात्विक स्थिति को 'नाम-रूप शब्द से पुकारा गया है जो शरीर और बुद्धि के एक साथ कार्य करने की शक्ति को स्पष्ट करता है । उपनिषदो मे यह शब्द आया है परन्तु वहाँ पर इसका प्रयोग निश्चित स्वरूप और नाम के अर्थ मे हुआ है जहाँ पर कि भौतिक स्वरूप वाले तत्त्वों की तुलना में उनके विपरीत अनिश्चित अवर्णनीय यथार्थ[2] अथवा सत्य का उल्लेख किया जाता है । बुद्धघोष 'विसुद्धिमग्ग'(विशुद्धिमार्ग)

---

1 आयतन शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर प्रारभिक उपनिषदो मे भी आया है। इसका अर्थ उपनिषदों मे 'क्षेत्र' अथवा 'स्थान' के रूप मे किया गया है । छान्दोग्य, 1:5 वृहदारण्यक 3 9-10 लेकिन षडायतन शब्द का प्रयोग नही आता है ।

2 चन्द्रकीर्ति नाम की इस प्रकार व्याख्या करते हैं । वेदनादयोऽरूपिणश्चत्वार स्कन्धास्तत्र तत्र भावे नामयन्तीति नाम । सह रूपस्कन्धेन च नामरूप चेति नामरूपमुच्यते । चार स्कन्ध प्रत्येक जन्म मे नाम के रूप में माने जाते हैं । ये रूप के साथ मिलकर नाम रूप कहलाते हैं ।

में कहते हैं कि नाम शब्द से तीन-समुच्चयों का बोध होता है जो इस प्रकार है। संवेदना, प्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान और पूर्व वृत्ति अथवा अभिवृत्ति रूप शब्द से चार तत्त्व और चार (भूत) से उत्पन्न रूप समझे जाते हैं।[1] पुन. कहते हैं कि नाम द्वारा भौतिक परिवर्तन नही हो सकते हैं जैसे खाना, पीना अथवा अन्य क्रियाएँ। इसी प्रकार रूप अपने आप से कोई इस प्रकार से परिवर्तन नही कर कर सकता लेकिन ये दोनों लगडे व अन्धे मनुष्य की भाँति एक दूसरे के पूरक है[2] और मिलकर परिवर्तन करने में समर्थ होते हैं। परन्तु नाम और रूप की उत्पत्ति के लिए किसी प्रकार की वस्तुओं के संग्रह को मानने की आवश्यकता नहीं है "ठीक उसी तरह जिस प्रकार वांसुरी वजाते समय जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसके लिए किसी वस्तु भण्डार की आवश्यकता नही होती, न कही ध्वनि का कोई भण्डार होता है जहाँ से ये स्वर आते हैं। जव वीणावादन वन्द हो जाता है तव भी कोई ऐसा स्थान नही होता जहाँ पर ध्वनि लौट जाती है। इसी प्रकार वे सारे तत्त्व जो रूप और नाम के तौर पर स्थित होते है वे यद्यपि पहले नही होते (उनकी कोई पूर्व स्थिति नही है) फिर भी वे अस्तित्व ग्रहण करते हैं और अस्तित्व ग्रहण करने के पश्चात् पुन लुप्त हो जाते है।"[3] नाम रूप को इस अर्थ के अनुसार हम बुद्धि और शरीर के रूप में नही ले सकते। इस नयी व्याख्या के अनुसार नाम रूप का अर्थ होगा इन्द्रिय-जन्य चेतना के कार्य और शरीर का वह भाग जो चेतना के छ. द्वारों के सम्पर्क से कार्य करता है (षडायतन)। यदि हम नाम रूप का यह अर्थ देते हैं तो हम देखेंगे कि वे विञ्ञान (विज्ञान) अर्थात् चेतना के ऊपर निर्भर हैं। मिलन्दपन्ह ने सचेतनता की तुलना एक ऐसे चौकीदार से की है जो चौराहे[4] पर खड़ा हुआ किसी भी दिशा से आने वाली सारी वस्तुओं को देख रहा है। बुद्धघोष अपनी पुस्तक अत्थशालिनी में कहते है कि चेतना से अर्थ है किसी वस्तु विशेष के वारे मे सोचने वाली विचारधारा। इस अन्तःचेतना के गुण-धर्म की व्याख्या करने हेतु यह कहा जा सकता है कि यह वह है जो जानता है (विजानन्) अग्रगामी होता है अर्थात् पहले ही वस्तु-विशेष तक पहुँच जाता है (पुब्बंगम) संवंध स्थापित करता है (सन्धान) और इसकी स्थिति नाम रूप पर है (नामरूपपदत्थानम्)। जव इस अन्तश्चेतना को मार्ग मिलता है तव उस स्थान पर वह इन्द्रियजन्य ज्ञान से संलग्न वस्तु को समझता है (आरम्मन-विभावनत्थाने) और यह पहिले वहाँ जाकर पूर्ववर्ती हो जाता है। जव नेत्र किसी दृश्यमान वस्तु को देखता है तो उसको इस अन्तश्चेतना के द्वारा पहिचानता है और इसी प्रकार जव धम्म मन की वस्तु वन जाते हैं तव यह मन उनको भी अन्तश्चेतना

---

1. वारेन द्वारा लिखित "बुद्धिज्म इन ट्रान्सलेशन्स, पृ० सं० 184।
2. वही, पृ० सं० 185, विशुद्धिमार्ग, अध्याय 17वाँ।
3. वही, पुस्तक, पृ० 185-86, विशुद्धि मार्ग 17वाँ अध्याय।
4. वारेन का "बुद्धिज्म इन ट्रान्सलेशन्स" पृ० 182, मिलिन्दपन्ह (62)।

से पहचानती है।"[1] ऊपर आये हुए मिलिन्दपन्ह से लिये हुए दृष्टान्त का भी उद्धरण बुद्धघोप अपनी पुस्तक मे देते हैं। वे पुन कहते हैं कि चेतना के पश्चात् एक रूप से दूसरे रूप की स्थिति का क्रम निरन्तर चलते रहने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि ये आपस मे सम्बन्धित हैं। जब पच स्कन्धो के समूह एकत्रित हो जाते हैं तब यह चेतना लुप्त हो जाती है परन्तु चार स्कन्धो के समूह में नाम के ऊपर अब स्थित रहती है और इसलिये यह कहा जाता है कि ये नाम-रूप के ऊपर अवस्थित है। वह पुन पूछता है कि क्या यह चेतना वही है जो पूर्व काल या पूर्व जन्म मे थी अथवा उससे विभिन्न है ? उनका उत्तर है कि यह वही है। जिस प्रकार सूर्य जब उदय होता है तो वह अनेक रगो तथा ताप आदि के साथ उदय होता है परन्तु वास्तव में ये रग और ऊष्मा सूर्य से अलग नही है। इसी प्रकार चित्त अथवा बौद्धिक चेतना स्पर्श की क्रिया से सयुक्त है और उसको जानती है। अत यद्यपि एक ही है फिर भी इससे अलग है।[2]

बारह कारणो के प्रसग पर पुन विचार करते हुए हम यह स्पष्ट पाते हैं कि जाति अथवा जन्म से जरा और मरण होते हैं। जाति, शरीर धारण करने को कहते हैं अथवा पाँचो स्कन्धो से सम्मिलित प्रभाव को जाति नाम से पुकारते हैं।[3] जाति का निश्चय भव द्वारा होता है अर्थात् भव पर जाति निर्भर है। भव को हम उन कर्मों के अर्थ में समझा सकते हैं जिनके द्वारा पुनर्जन्म होता है।[4] उपादान उग्र तृष्णा का वह रूप है जिससे

---

1 अत्थसालिनी, पृ० स० 112।

2 वही, पृ० स० 113। यथा हि रूपादीनि उपादाय पञ्ञत्ता सूरियादयो न अत्थतो रूपादीहि अञ्ञे होन्ति तेन एव समये सूर्योउदयति तस्मिन् समये तस्स तेज सखातम् रूपम् पीति। एव वुच्चमाने पि न रूपादीनि अञ्ञो सूर्यो नाम अत्थि। तथा चित्तम् फस्सादयो धम्मे उपादाय पनञ्ञापियति। अत्यतो पन एत्थ तेहि अञ्ञम् एव। तेन यस्मिन् समये चित्तम् उप्पन्नम् होति एकसेन इव तसमिन् समये फस्सादिही अत्थतो अञ्ञद् एव होती ति।

3 'जातिर्देहजन्म पचस्कन्धसमुदय'। शाकरभाष्य पर गोविन्दानन्द की रत्नप्रभा (2/2/19)।

4 शकर भाष्य पर लिखी अपनी टीका रत्न प्रवाह में श्री गोविन्दानन्द (दूसरा खण्ड, दूसरा अध्याय, पृ० 19) कहते हैं कि भव वह वस्तु है जिससे कोई वस्तु होती है जैसे धर्मादि। 'विभग' (पृ० 137) और वारिन महोदय के बुद्धिज्म इन ट्रान्स-लेशन्स (पृ० 201) भी इस सम्बन्ध में देखिए। ऑग महोदय "अभिधम्म अत्थ सग्रह" पृ० 189 पर कहते हैं कि भवो के अर्थ मे कर्म भवों (अस्तित्व का सक्रिय स्वरूप) और उपपत्ति भवो (निष्क्रिय स्वरूप) भी सम्मिलित हैं। व्याख्याकार ऐसा अर्थ करते हैं कि भव कर्म भव का सक्षिप्त रूप है जो कर्म के अर्थ मे प्रयोग किया गया है जिससे उन सब क्रियाओ का बोध होता है जिससे मनुष्य कर्म बधन में बधता है।

मोह[1] उत्पन्न होता है। उपादान तृष्णा से उत्पन्न होता है और तृष्णा वेदना (सुख व दुःख) से। परन्तु यह वेदना अविद्या के कारण उत्पन्न वेदना है क्योंकि अर्हत सन्तो को भी वेदना हो सकती है परन्तु अविद्या न होने के कारण उस वेदना से तृष्णा उत्पन्न नही होती। इस वेदना का विकास होने पर यह तत्काल उपादान का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार वेदना का अर्थ है, सुख की दुःख की अथवा औदासीन्य की भावना। एक ओर यह वेदना तृष्णा की ओर अग्रसर करती है और दूसरी ओर यह स्वयं स्पर्श से उत्पन्न होती है। स्पर्श का यहाँ अर्थ है इन्द्रियजन्य सम्पर्क। प्रो० डी० ला० वेली पूसिन कहते हैं कि श्रीलाभ (विद्वान्) वेदना की उत्पत्ति में तीन क्रियाओं का पृथक् विश्लेषण करते है। प्रथम इन्द्रिय चेतना विशेष का वस्तु के साथ सम्पर्क होता है फिर उस वस्तु का बोध होता है और फिर वेदना उत्पन्न होती अर्थात् इन्द्रिय चेतनात्मक सम्पर्क और बोध के पश्चात् सुख व दुख की प्रतिक्रिया होती है। उसी प्रकार स्पर्श के साथ एकदम वेदना उत्पन्न हो जाती है। पूसिन महोदय मज्झिमनिकाय (तृतीय अध्याय, पृ० 243) का आधार लेते हुए अपना मत व्यक्त करते है कि जिस प्रकार दो लकड़ियों को रगड़ने से ऊष्मा उत्पन्न होती है।[2]

उसी प्रकार स्पर्श की उत्पत्ति षडायतन से होती है और षडायतन की उत्पत्ति नाम रूप से। नाम-रूप विज्ञान से उत्पन्न होता है। विज्ञान माँ के गर्भ मे स्थित होकर 5 स्कन्धो की उत्पत्ति करता है जिनको नाम रूप कहते हैं और इन स्कन्धो में 6 इन्द्रियों की ज्ञान चेतना का निवास होता है।

संभवतः विज्ञान माँ के गर्भ में अन्तर्बोध अथवा चेतना का बीज रूप हैं जो नये शरीर के पंचभूतों अथवा पंच तत्त्वो को अवस्थित करता है। यह अन्तश्चेतना पूर्व कर्मो अथवा संस्कारों का फल है जो पिछले समय मे मृत्यु के समय तक पूर्ववर्ती जीवन मे संकलित किये गये थे।

बौद्ध लोगों का यह विश्वास था कि आदमी के मरते समय जो विचार होते हैं उसके

---

1. प्रो० डी० ला० वेली पूसिन अपनी पुस्तक थ्योरी दे दोज कौजेज (पृ० सं० 26) मे कहते हैं कि सालिस्तंभ सूत्र उपादान शब्द की व्याख्या तृष्णा–वैपुल्य रूप मे करता है अर्थात् विपुल्य तृष्णा और चन्द्रकीर्ति महोदय भी इसको सही अर्थ देते हैं। मध्यम्मिकवृत्ति (पृ० स० 210) देखिये। गोविन्दानन्द उपादान को तृष्णा के द्वारा उत्पन्न प्रवृत्ति के रूप मे समझाते हैं अर्थात् कामना की पूर्ति के लिए सक्रिय मनोवृत्ति के रूप मे परन्तु यदि उपादान से अर्थ आधार से है तो ये पच स्कन्धो को सूचित करेंगे। मध्यमक वृत्ति मे कहा है कि उपादानम् पचस्कन्धलक्षणम् पंचोपादानस्कन्धाख्यम् उपादानम्। मध्यमक वृत्ति 27.6।

2. पूसिन की "थ्योरी दे दौज कोजेज," पृ० 23।

अनुसार ही उसको अगले जन्म मे योनि प्राप्त होती है।[1] गर्भ मे विज्ञान की स्थिति पूर्व जन्म के पिछले विज्ञान के द्वारा निश्चित होती है। कुछ दार्शनिकों के मत मे यह उस स्वरूप का प्रतिबिंब है जिस प्रकार गुरु से शिष्य को ज्ञान अवतरित होता है। जिस प्रकार एक दीपक के प्रकाश से दूसरा दीपक जलता है अथवा जिस प्रकार मोम या गरम चपडी पर मोहर का चिन्ह बनता है, जिस प्रकार सारे स्कन्ध जीवित तत्त्व के रूप मे परिवर्तित होते रहते हैं। उसी प्रकार मृत्यु भी एक प्रकार का परिवर्तन है। उत्पत्ति और नाश का क्रम प्रवाह रूप से सदैव चलता रहता है। इस क्रम मे कही अवरोध नही होता। जिस प्रकार तुला के दो पलड़े बराबर ऊपर नीचे होते रहते हैं। उसी प्रकार नये स्कन्ध जन्म लेते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् पूर्व कर्म से जो विज्ञान उत्पन्न होता है वह उस माँ के गर्भ मे प्रवेश कर जाता है जिसमें नव स्कन्ध परिपक्व हो रहे हो। इस प्रकार यह विज्ञान नये जीवन का नया सिद्धान्त निश्चय करता है। इस विज्ञान मे नाम व रूप सलग्न हो जाते हैं।

विज्ञान संस्कारों से उत्पन्न होता है। नये अस्तित्व (उत्पत्ति) मे किस योनि और किस स्वरूप को विज्ञान निश्चित करेगा (नामयति) यह भी संस्कारों[2] के द्वारा निश्चित होता है। वास्तव मे सत्य का होना (मरण भव) और नये जीवन के प्रारभ मे विज्ञान का गर्भ प्रवेश करना (उपपत्तिभव) एक साथ न होते हुए भी एक के पश्चात् एक के क्रम मे होते हैं। यह क्रम इस प्रकार चलता रहता है कि कभी-कभी यह कह दिया जाता है कि मृत्यु और जन्म एक साथ ही होते हैं। यदि विज्ञान गर्भ मे प्रवेश करता तो नाम रूप प्रकट नही हो सकता था।[3]

---

1 वन वाटिका वृक्ष और पौधो की देवताओं ने गृहस्वामी चित्त को बीमार देखकर कहा कि आप सकल्प करें कि मैं अगले जन्म मे चक्रवर्ती राजा बनू गा—सम्युत्त, चतुर्थ खण्ड, पृ० 303।

2. स चेदानन्द विज्ञान मातु कुक्षि नोत्क्रामेन् न तत् कनर कराराय सन्निवर्तेत—मध्यमकवृत्ति (552)। इससे तुलना कीजिये चरक, शरीर, (तीसरा अध्याय पृ० स० 5-8) जहाँ पर उपपादक सत्त्व की बात कही गई है जो आत्मा को शरीर से जोडता है और जिसके अभाव मे गुण व चरित्र मे परिवर्तन हो जाता है, इन्द्रियाँ मूढ हो जाती हैं और जीवन समाप्त हो जाता है। जब यह अपने विशुद्ध रूप में होता है तो पूर्व जन्म की भी स्मृति हो आती है। चरित्र, चित्त, शुद्धि, विराग, स्मृति, भय, स्फूर्ति सभी मानसिक शक्तियाँ इससे ही उत्पन्न होती हैं। जिस प्रकार रथ बहुत से तत्त्वों के मेल से बनता है उसी प्रकार भ्रूण या गर्भ भी अनेक तत्त्वों से बनता है।

3 मध्यमकवृत्ति पृ० 202-203। पूसिन "दीघ" (दूसरा अध्याय, पृ० 63) से उद्धरण देते हैं। "यदि विज्ञान नहीं उतरता तो क्या नाम रूप हो सकते थे?"

इन बारह कारणों की शृंखला तीन जन्मों तक चलती है। इस प्रकार पूर्व-जन्म की अविद्या और संस्कार के द्वारा विज्ञान नाम रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान और भव की इस जन्म में उत्पत्ति होती है जिससे आगामी जन्म का निर्धारण होता है। यह भव जाति और जरा मरण दूसरे जन्म के लिए निर्धारित करता है।[1]

इस शृंखला की ये बारह कड़ियाँ जो तीन जन्मो मे तीन शाखाओं मे फैली हुई हैं जो दुःख भोगने का माध्यम है स्वाभाविक रूप से एक दूसरे का हेतु है। अभिधम्मात्थ संग्रह में कहा गया है कि इन बारह कारणों में से प्रत्येक कारण एक निमित्त है। जन्म के फलस्वरूप दुःख आदि कष्ट होते हैं। पुन अज्ञान और चित्त की प्रवृत्ति की गणना कर लेने के पश्चात् यह सरलता से समझ मे आ जाता है कि इसके पश्चात् उत्कट वासना (तृष्णा) परिग्रह और लोक अर्थात् उपादान और कर्म के पश्चात् अज्ञान और चित्त-प्रवृत्ति का हिसाब आसानी से समझ में आ जाता है। तत्पश्चात् पुनर्जन्म, जरा एव मरण का सिद्धान्त भी स्पष्ट हो जाता है। यहाँ तक कि इनसे मिलने वाले पुनर्जन्म एवं अन्तश्चेतना और पाँच प्रकार के कर्म फल भी आसानी से समझे जा सकते हैं।

पिछले जन्म में पाँच कारण अर्थात् पांच हेतु और उनसे उत्पन्न 5 प्रकार के फल अथवा भोग।

इस जीवन मे पाँच हेतु और आने वाले जीवन में पंच फल अथवा पंच भोग इनसे मिलकर 20 प्रकार बनते हैं—तीन युग्म (1) संस्कार और विज्ञान (2) वेदना और तनहा (3) भव और जाति। फिर चतुर्थ समुच्चय (पूर्वजन्म में एक कारण समुच्चय इस जन्म में उसके फलस्वरूप एक समूह, इस जन्म मे पुन. एक वर्ग, इस प्रकार इस कारण कार्य समुच्चय का प्रत्येक समूह 5-प्रकारो-से बनता है और इस तरह ये 21 तरह

गोविन्दानन्द ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य में कहते हैं (पृ० 19 द्वितीय अध्याय, दूसरा खण्ड) कि भ्रूण में पूर्व जन्म के संस्कार के द्वारा प्रथम अन्तश्चेतना की उत्पत्ति होती है। इसके पश्चात् चार तत्त्वों की जिनको वह नाम कहता है और श्वेत और लाल रज और वीर्य और भ्रूण की प्रथम अवस्था (कलल-बुद्बुद अवस्था) की उत्पत्ति होती है।

1. यह व्याख्या प्रारम्भिक पाली ग्रन्थों में नही पाई जाती। लेकिन बुद्धघोष महानिदानसुत्तन्त पर लिखी व्याख्या समंगलविलासिनी मे इसका वर्णन करते हैं। यह हमे अभिधम्मत्थ संगह आठवाँ अध्याय (पृ० 3) भी मिलता है। अविद्या और चित्त की क्रियाएँ पिछले जीवन की वस्तुएँ हैं। जाति जरा और मरण भविष्य के हैं। इसको अभिधर्मकोश तृतीय अध्याय 20-24 पृष्ठ पर त्रिकाण्डक का नाम दिया है। दो भविष्य की शाखा में और आठ मध्यम शाखा मे बताये हैं—स प्रतीत्य समुत्पादो द्वादशांगस्त्रिकाण्डक. पूर्वापरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ।

का वर्णित है ।[1]

ये परम्परनिर्भर बारह कड़ियाँ (द्वादश अंश) पतिच्चसमुप्पाद (प्रतीत्यसमुत्पाद) सिद्धान्त का भाग है और यह माना जाता है कि ये बारहों कड़ियाँ अपनी एक शृंखला पर निर्भर है[2] जो स्वयम् दुःखात्मक हैं और दुःखो के इस चक्र के साधन हैं। पतिच्च सम्मुपाद अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या बौद्ध साहित्य मे अनेक रूपो मे की[3] गई है। समुत्पाद का अर्थ है प्रकट होना (प्रादुर्भाव) और प्रतीत्य प्रति+ई+य का अर्थ है—प्राप्त होने के पश्चात्। इन दोनो शब्दो के मिला देने से अर्थ होता है "प्राप्त होने के पश्चात् प्रादुर्भाव।" वे तत्व जिनसे प्रादुर्भाव होता है उनको हेतु और पच्चय (भूमि अथवा आधार) कहते हैं। ये दोनो शब्द कई बार एक ही अर्थ मे पर्याय की तरह प्रयुक्त किये जाते हैं। परन्तु पच्चय कभी-कभी विशेष अर्थ मे भी प्रयुक्त किया जाता है। इस प्रकार जब यह कहा जाता है कि अविज्जा सस्कार का पच्चय है उससे यह अर्थ होता है कि अविज्जा सखारो के उत्पन्न होने की आधार भूमि (थिती) है। यह उनकी प्रक्रियाओ का आधार है—वह निमित्त है जिससे वे कायम रहती हैं (निमित्तात्थिती)। यही उनके आयुहन (समुच्चय), उनके एक दूसरे से सम्बन्ध, उनकी बोध्यता, उनके एक साथ प्रकट होने, उनके हेतु रूप कार्य और जिन वस्तुओ के लिए वे स्वयम् हेतु हैं उन क्रियाओ के लिए भी आधार है। इस तरह अविज्जा इन सारे नौ प्रकारो के सखार का आधार है—अविज्जा इस तरह नौ प्रकारो से भूत व भविष्य दोनो मे सखार का आधार है, यद्यपि अविज्जा स्वयम् अन्य आधारो[4] पर निर्भर हैं। जब इस कारण शृंखला के हेतु तत्त्व का मनन करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि एक के पश्चात् एक वस्तु एक दूसरे का हेतु होने से यह क्रम निरन्तर चलता रहता है परन्तु जब हम पच्चय तत्व को देखते हैं तो हमको इस कारण के स्वरूप का आधार के रूप मे पूर्णत स्पष्टीकरण हो जाता है। दृष्टान्त के तौर पर जब यह कहा जाता है कि अविद्या उपर्युक्त नौ प्रकारो से संस्कार का

---

1 औग और मिसेज राइज डेविड्ज कृत "अभिधम्मत्थसगह" का अनुवाद पृ० 189-190।

2 यह द्वादश अग अथवा 12 कड़िया बौद्ध दर्शन मे सदैव एक से ही नहीं पाये जाते हैं। "डाइलॉग्स ऑफ बुद्ध" नामक पुस्तक मे (द्वितीय अध्याय पृ० 23) अविज्जा और सखार का वर्णन नही है। इसमे अन्त चेतना से इस चक्र का प्रारम्भ किया गया और यह कहा गया कि बोध-ज्ञान नाम और रूप से परे नही जाता।

3 मा० वृ०, पृ० 5 से।

4 देखिये—पतिसभिदामग्ग पहला खण्ड पृ० स० 50। मज्झिमनिकाय, पहला अध्याय, पृ० स० 67, नयार अविज्जाविदाना अविज्जासमुदाया अविज्जाजातिका अविज्जा-पभया।

आधार है तव यह स्पष्ट हो जाता है कि ये संस्कार अविद्या के ही रूप है ।[1] परन्तु यह दृष्टिकोण वौद्ध दर्शन मे विशेप रूप से विकसित नही हो पाया है अतः इसके आधार पर आगे वढ़ना उचित नही होगा ।

खन्धों (स्कन्धों) का वर्णन

यह शब्द खन्ध जिसका संस्कृत स्वरूप स्कन्ध है साधारणतया समूह अथवा समुच्चय के अर्थ में प्रयुक्त होता है यद्यपि इसका शाव्दिक अर्थ वृक्ष का तना है ।[2] वुद्ध के अनुसार आत्मा की कोई स्थिति नही है । उनका मत है कि जव मनुष्य ये कहते है कि उन्होने वह चर्चित आत्मा का पता पा लिया है तव वास्तव मे स्थिति यह होती है कि उन्हें पांच स्कन्धो का अथवा उनमे से किसी एक का पता लग पाता है । ये स्कन्ध भौतिक और मनोवैज्ञानिक स्थितियो का समुच्चय हैं जो हमारी वर्तमान अवस्था का कारण है और पच वर्गो मे विभाजित हैं--(1) रूप शरीर और इन्द्रियां और इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान आदि (इसके चार तत्त्व है), (2) वेदना (सुख दु.ख अथवा सुख-दु.ख से परे होने की अनुभूति) (3) संज्ञा (संकलपनात्मक ज्ञान) (4) सखार (संस्कार) [मनोदशा, ऐन्द्रिय ज्ञान, अनुभूतियो और कल्पना के द्वारा सामूहिक रूप से उत्पन्न सूक्ष्म ज्ञान से सवंधित] और (5) विज्ञान (वोध चेतना) ।[3]

ये सारी स्थितियाँ एक दूसरे पर निर्भर है और एक के पश्चात् दूसरी उत्पन्न होती है (पतिच्चसमुप्पादो) और जव कोई एक व्यक्ति कहता है कि वह आत्मा को देखता हैं तो वह अपने आप को धोखा देता है क्योंकि वह इन स्कन्धों मे एक एक अथवा एक से अधिक को देखकर यह मान लेता है कि वही आत्मा है । रूप खण्ड में रूप शब्द तत्त्व और भौतिक गुणो के लिए प्रयुक्त किया गया है । साथ ही इन्द्रिय चेतना और उससे प्राप्त जो संगृहीत ज्ञान है उसके भी अर्थ मे प्रयोग मे आया है ।[4] साथ ही रूप को "खन्ध यमक" मे विशुद्ध मानसिक स्थिति के अर्थ मे भी प्रयुक्त किया गया है (पहला अध्याय, पृ० 16) और सयुत्तनिकाय (तीसरा अध्याय, पृ० 86) में भी इसी अर्थ में यह प्रयुक्त हुआ है । "धर्म-संग्रह" मे रूप स्कन्ध का अर्थ पाचों इन्द्रियो और चेतनाओ के समूह के रूप मे दिया है । साथ ही इन्द्रियों द्वारा ज्ञान-वहन की जो क्रियाएँ (विज्ञप्ति) हैं वे भी रूप-स्कन्ध मे सम्मिलित है ।

---

1. अस्मिता (अहभाव), राग (ममता मोह), द्वेप, अभिनिवेश (स्वार्थ), इनकी व्युत्पत्ति योग शास्त्रो ने अविद्या से वताई गई है और यह कहा गया कि अविद्या के ही पाच क्रमिक चरण है (पंचप्रवाह अविद्या) ।
2. छान्दोग्य (2/23) मे भी स्कन्ध शब्द प्रयुक्त है--(त्रयो धर्मस्कन्धा, यज्ञ., अध्ययन, दानम्) जो शाखा के अर्थ मे है । इसी अर्थ मे मैत्रायणी (7/2) मे भी प्रयुक्त हैं ।
3. संयुत्तनिकाय 3/86 आदि ।
4. अभिधम्मत्थसंग्रह, जे० पी० टी० एस० 1884, पृ० 27 से ।

धम्मसगणि मे विस्तृत व्याख्या करते हुए रूप के बारे मे कहा गया है। "चत्तारो च महाभूता चतुन्न च महाभूतानम् उपादाय रूपम्" (अर्थात् चार महाभूत अथवा तत्त्व और उन महाभूतो के ग्रहण से जो कुछ उत्पन्न होता है, उसे रूप कहते हैं)।[1] बुद्धघोष रूप की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि चार महाभूत और उन पर निर्भर (निस्साय) जो कुछ है उमसे जो उत्पन्न तत्त्व है उसे रूप कहते हैं। रूप में पडिन्द्रयां और उनसे उत्पन्न विकार सम्मिलित है। यह समझाते हुए कि चार तत्त्वो को महाभूत क्यो कहते हैं, बुद्धघोष लिखते हैं कि "जिस प्रकार एक जादूगर (मायाकार) जल को कडा न होते हुए भी ठोम बना देता है, पत्थर सोना न होते हुए भी सोने के समान दिखाई देता है, जादूगर स्वयम् प्रेत और पक्षी न होते हुए भी कभी राक्षस और पक्षी के रूप मे दिखाई देता है इसी प्रकार ये तत्त्व यद्यपि नीले नही हैं फिर भी ये नीले दिखाई देते हैं (नीलम् उपादा रूपम्), यद्यपि ये पीले, लाल, श्वेत आदि नही है फिर भी पीत, लाल और श्वेत दिखाई देते हैं। (ओदात्तम् पादारूपम्) अत मायाकार (जादूगर) के द्वारा प्रस्तुत दृश्यो के समान होने से इन तत्वो को महाभूत कहते हैं।[2]

सयुक्तनिकाय मे बुद्ध कहते हैं कि 'हे भिक्षुओ! इमको रूपम् इसलिये कहते हैं कि ये अपने आपको प्रकट करता है (रुपायति)। यह अपने आपको किस प्रकार प्रकट करता है? इसके उत्तर मे कहा गया है कि यह गर्मी, सर्दी, भूख, प्यास आदि के रूप मे अपने आपको प्रकट करता है। मच्छर, कीट, वायु, सूर्य और सर्प आदि के स्पर्श के रूप मे इस रूप को हम प्रत्यक्ष देखते हैं और इसलिये इसको रूप कहते हैं।[3]

ऊपर दिये हुए स्थलो मे रूप के सम्बन्ध मे विरोधी एव अस्पष्ट विचारधाराओ का यदि समन्वय किया जाय तो भिन्न-भिन्न तथ्य प्रकाश मे आते हैं। जहाँ तक मैं समझता हूँ कि जो कुछ इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष दिखाई देता है और जिनके कारण चेतनाओ की प्रतिक्रिया होती है उस सब को रूप शब्द से सम्बोधित किया गया है। भौतिक जगत् मे जो रंग, रूप, गन्ध आदि पार्थिव इन्द्रियो पर प्रभाव डालने वाली वस्तुएँ हैं उनमे और जो उनके कारण मन अथवा चेतना मे प्रतिक्रिया होती है उन दोनो मे कोई अन्तर नही किया गया। इन दोनो मे केवल सख्यात्मक अन्तर ही है। चेतना में प्रतिक्रिया उनकी अनेक वस्तुओं पर निर्भर है किन्तु इन्द्रियो पर प्रतिक्रिया करने वाली वस्तुएँ और प्रतिक्रिया दोनों को ही रूप माना है। कुछ अवस्थाओ में पार्थिव वस्तुओ के वर्णन के साथ साथ ही उनसे उत्पन्न सवेदनाओ का वर्णन किया गया है। बौद्ध दर्शन मे सभवत पार्थिव तत्त्व और चेतना तत्त्व मे जो विभेद आज माना जाता है वह सभवत उस समय नही माना जाता था। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित ही होगा कि इन दोनो तत्त्वो मे विभेद अथवा द्वैत न तो उपनिषद दर्शन मे पाया जाता है और न सांख्य दर्शन मे, जिसके सम्बन्ध मे यह धारणा है कि वह (साख्य दर्शन) बौद्ध

1 धम्मसगणि, पृ० 124 से 179।

2 अत्थशालिनी, पृ० स० 299।

3 सयुत्तनिकाय, तीसरा अध्याय, पृ० स० 86।

दर्शन से पूर्व उत्पन्न हुआ। चार महाभूत किसी न किसी स्वरूप में प्रकट होने के कारण रूप कहलाते थे। अनेक प्रकार की संवेदनाएँ भी रूप नाम से जानी जाती थी और इसी प्रकार वहुत सी मानसिक चेतनाएँ अथवा मन:स्थितियाँ रूप[1] के अन्तर्गत समझी जाती थी। आयतन अथवा इन्द्रिय चेतना भी रूप मानी जाती थी (इन्द्रिय विशेष, चेतना प्रतिक्रिया के क्षेत्र को आयतन नाम से संवोधित किया गया है। जैसे नेत्र के देखने के क्षेत्र को अर्थात् जो कुछ दिखाई देता है उसको आयतन कहा गया है।) महाभूत अथवा चार तत्त्व केवल परिवर्तनशील रूप हैं। इस प्रकार ये चार तत्त्व और उनके साथ जो भी सम्वन्धित जगत् है वह सव रूप कहलाते थे। इन सवसे मिलकर रूप स्कन्ध का निर्माण होता है (ये सब पार्थिव वस्तुएँ हैं जिनके साथ इन्द्रियो का व्यापार संलग्न है। इन्द्रिय-जन्य चेतनाएँ और संवेदनाएँ ये सब रूप खण्ड के भाग है।[2]

संयुक्तनिकाय मे (तीसरा अध्याय, पृ० सं० 101) कहा गया है, "चारों महाभूत रूप स्कधो के वहन के लिए हेतु और पच्चय हैं (रूपखन्धस्य पञ्ञापनाय)। फस्स (स्पर्श) से वेदना का संचार होता है। संस्कार स्कन्ध की वेदना का हेतु भी स्पर्श है। यह स्पर्श सस्कार खण्ड की वेदना का भी हेतु व पच्चय है। परन्तु नाम रूप विज्ञान स्कन्ध के सचारण का हेतु एव पच्चय है।" इस प्रकार केवल स्पर्श से सवेदना की ही उत्पत्ति नही होती परन्तु संज्ञा का अर्थ है वह अवस्था जहाँ विवेक चेतना जागृत होती है। यह वह अवस्था है जव लाल अथवा पीले रंग आदि का भेद समझ में आने लगता है।

श्रीमती राइज डेविडज संज्ञा के वारे मे लिखती हैं कि अभिधम्म पिटक का जव मैं सम्पादन कर रही थी तव मुझे संज्ञा का एक विशेष वर्गीकरण देखने को मिला। पहले वर्गीकरण मे सज्ञा इन्द्रिय द्वारा किसी वस्तु की वोध-चेतना और दूसरे वर्गीकरण में नामादि से किसी वस्तु की वोध चेतना का होना है। ये दोनो अलग-अलग पायी जाती हैं। पहले को अवरोधात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है। (पतिघसञ्ञा)। बुद्धघोष इनके सम्वन्ध में लिखते हैं कि यह प्रत्यक्ष ज्ञान देखने सुनने आदि से होता है जवकि वाह्य वस्तुओं का चेतना पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है अथवा यह कह सकते हैं कि उन वाह्य वस्तुओं का चेतना पर संघात होता है। दूसरा प्रत्यक्ष ज्ञान पर्यायवाची शब्द अथवा नाम आदि द्वारा होता है। (अधिवचानासज्ञा)। यह संचारी चेतना (मन) द्वारा होता है जैसे यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के पास वैठा हुआ है, दूसरा व्यक्ति कुछ सोच रहा है। पहला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से पूछता है कि आप क्या सोच रहे हैं ? तव दूसरा व्यक्ति उसकी भाषा से दूसरे व्यक्ति के संवध मे उसे न देखते हुए भी जान लेता है। इस प्रकार संज्ञा ज्ञान की दो अवस्थाएँ हैं (1) इन्द्रियों के द्वारा जो चेतना उत्पन्न होती है उसकी प्रतिक्रिया। (2) वस्तु-विशेष को उसके नाम आदि से पहचानने की शक्ति।[3]

---

1. खन्धयमक।
2. धम्मसगणि, पृ० 124।
3. वुद्धिस्ट साइकोलोजी पृ० 49-50।

सखार के सम्वन्ध मे सयुत्तनिकाय मे (तीसरा अध्याय, पृ० स० 87) इस प्रकार व्याख्या की गई है, क्योंकि यह समन्वय करता है (अभिमखरन्ति) अत इसे सखार कहते हैं। यह रूप मज्ञा एव सखार और विञ्ञान को रूप सज्ञा, सस्कार और विज्ञान के रूप मे समन्वित करता है। यह सखार इसलिए कहलाता है कि यह इन सव समुच्चितो को मिलाकर एक कर देता है। (सखतम् अभिसखरन्ति) इस प्रकार यह ऐसी समन्वयकारिणी प्रक्रिया है जिसके द्वारा निश्चेष्ट रूप सज्ञा, सस्कार, विज्ञान आदि तत्त्व मिलकर एक हो जाते हैं। वौद्ध दर्शन मे 52 सस्कार वताए गए हैं और साथ ही यहाँ यह भी वताया गया है कि सस्कार तत्त्व-समूह को समुच्चित करता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सखार शब्द का प्रयोग दो अर्थो मे किया गया है (1) मन स्थिति के अर्थ में (2) ऐसी क्रिया के रूप मे जो विभिन्न तत्त्वों मे समन्वय उत्पन्न करती है।

वुद्धघोप के अनुसार विज्ञान अथवा चित्त शब्द उन दोनो अवस्थाओं के लिए उपयोग मे आता है जो प्राथमिक वौद्धिक प्रक्रिया के आरभ की होती है और जो उससे हुए अन्तिम वोध (ज्ञान) की होती है, जैसाकि हमने पहले भी वताया है।

वौद्ध मनोविज्ञान की व्याख्या करते हुए वुद्धघोप लिखते हैं कि "चित्त पहले वस्तु विशेप के सपर्क अथवा (फस्स अथवा स्पर्श) में आता है (आरमण) फिर वेदना, प्रत्यय (सज्ञा) और चेतना की उत्पत्ति होती है। यह सपर्क एक विशाल भवन के स्तम्भो की तरह से है और शेप इन खम्भों पर वने हुए ढाचे के समान है। ("दब्ब-सभार सदिसा") परन्तु इससे यह नही सोचना चाहिए कि स्पर्श मानसिक प्रक्रिया का आरम्भ है क्योंकि एक सम्पूर्ण वोध चेतना (एकचित्तस्मिम्) की क्रिया मे यह नहीं कहा जा सकता कि यह वस्तु पहले आती है या पीछे। इस प्रकार हम स्पर्श और वेदना को, सकल्पना और चेतना को एक ही क्रिया का अग मान सकते हैं। यह स्वय मे एक ऐसी स्थिति है जिसका विशेप महत्त्व अथवा अस्तित्व नहीं है परन्तु क्योंकि इसके द्वारा वस्तुओं का भान होता है, इसलिए इसको स्पर्श कहते हैं।" "स्पर्श से किसी वस्तु का भौतिक स्पर्श ही अभिप्रेत नही है, इसके द्वारा वस्तु का और मानसिक चेतना (चित्त) का सघात (सम्पर्क) होता है जिससे सभव होता है देखना, कानों मे ध्वनि सुनना आदि। यहाँ ध्वनि का सघात श्रवण-शक्ति पर होता है। इस प्रकार स्पर्श का विशिष्ट गुण वस्तुओं के साथ सपर्क मे आना है अथवा वस्तु सघात स्पर्श का कार्य है। इस सघात अथवा सपर्क से वाह्य वस्तु का मानसिक स्वरूप मे परिवर्तन होता है। अर्थात् वुद्धि या चेतना स्पर्श के कारण ही वाह्य सामग्री के रूप को ग्रहण करती है।" टीका मे इस प्रकार कहा गया है कि वस्तुओ की चतुर्द्वारीय चेतना मे स्पर्श की विशेपता वाह्य वस्तुओं के साथ सम्पर्क है। यह सपर्क पचेन्द्रियो द्वारा होता है जिनको वुद्धि के 5 द्वारों के रूप मे माना गया है। इस पचद्वारीय सपर्क के सम्वन्ध मे यह माना गया है कि इसकी विशेपता स्पर्श है और इसकी क्रिया सघात है, परन्तु वुद्धि के द्वार खोलने के प्रक्रिया स्पर्श से होती है न कि सघात से। फिर इस सूक्त का उद्धरण दिया गया है—'जैसे यदि दो मेढ़ो मे लडाई हो और उनमें से एक नेत्र हो और दूसरा वह वस्तु जिसको नेत्र देखता है तो उनका भिडना सम्पर्क या स्पर्श होगा। यदि दो वस्तु एक दूसरे से टकराएँ

अथवा दो हाथ ताली बजाते हुए एक दूसरे से मिलें तो एक हाथ नेत्र का रूप होगा और दूसरा हाथ उस वस्तु का, जो देखी जाती है। इन दोनों का टकराना सम्पर्क का प्रतिनिधित्व करेगा। इस प्रकार स्पर्श का गुण छूना है और इसकी क्रिया संघात है'।[1] स्पर्श इस प्रकार तीन वस्तुओ का मिलन है (वस्तु, चित्त और इन्द्रिय ज्ञान) और इसका फल वेदना और अनुभूति है। यद्यपि यह वेदना वस्तु के द्वारा प्रारम्भ होती है लेकिन इसका प्रभाव चित्त पर होता है और इसका मुख्य अंग अनुभव है जिसके द्वारा वस्तु के रंग रूप और रसादि का ज्ञान होता है। जहाँ तक वस्तु के रसास्वादन का सम्बन्ध है वहां अन्य वृत्तियां अत्यन्त सूक्ष्म रूप से ही रसास्वादन करती है। सम्पर्क की क्रिया केवल छूने मे ही समाप्त हो जाती है। देखने की क्रिया केवल वस्तु विशेष को पहचानने में अथवा देखने मे समाप्त हो जाती है। चेतना केवल समन्वय करती है और बोध चेतना केवल बोध कराती है परन्तु वेदना (अनुभूति) अपनी क्षमता, दक्षता और शक्ति से वस्तु विशेष के पूर्ण रस के आनन्द को प्राप्त करती है। वेदना राजा के समान है और सब प्रवृत्तिया रसोइयो के समान है। जिस प्रकार एक रसोइया अनेक रसो वाले स्वादिष्ट भोजन तैयार करता है उसे एक टोकरी मे रखकर बन्द कर राजा के पास ले जाता है फिर उस टोकरी का ढक्कन खोलकर उसमें से सर्वोत्तम शाकादि वस्तुओं को थाल मे सजाता है, फिर उन वस्तुओं मे से वह देखने के लिए एक पात्र मे लेकर चखता है कि उनमे कोई दोष तो नही है और तत्पश्चात् विभिन्न स्वादिष्ट रसो से युक्त भोजन राजा के सम्मुख प्रस्तुत करता है। राजा स्वामी होने के कारण और साथ ही तेजस्वी और दक्ष होने के कारण इच्छानुसार उन वस्तुओं में से जो कुछ पसन्द करता है अथवा जिस वस्तु की उसे इच्छा होती है उसको ग्रहण करता है और रसास्वादन करता है, इसी प्रकार रसोइयो के द्वारा भोजन को चखने की क्रिया के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि अन्य प्रवृत्तियों के द्वारा थोडा रसास्वाद खंड के रूप से इन वस्तुओं का किया जाता है जैसे रसोइया भोजन के थोड़े से हिस्से को चखता है इसी प्रकार अन्य प्रवृत्तियाँ वस्तु विशेष के केवल थोडे से रस से स्वाद ग्रहण करती है। जिस प्रकार महाराजा सर्वाधिकारी महामहिम स्वामी एवं रस-ज्ञान में दक्ष होने के कारण इच्छानुसार वस्तुओं को ग्रहण करता है उसी प्रकार वेदना (अनुभूति) सब प्रवृत्तियों की स्वामी होने के कारण (दक्ष होने के कारण) वस्तुओ का पूर्णरूपेण रसास्वाद करती है। अत यह कहा जाता है कि रसास्वाद और अनुभूति वेदना की क्रिया है।"[2]

संज्ञा की विशेषता विशेष चिन्हों द्वारा वस्तु विशेष को पहचानना है जिसे बौद्ध दर्शन मे पच्चभिञ्ञा (प्रत्यभिज्ञा) का नाम दिया गया है और जिन चिन्हो से पहचानते हैं उसे अभिज्ञान (अभिसंञ्ञानेन) कहा है। एक दूसरी व्याख्या के अनुसार किसी वस्तु को पहचानने के लिए उसके सम्पूर्ण स्वरूपों को साथ-साथ पहचानना आवश्यक है। यह बोध "सव्वसंगहिकवसेन" शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। चेतना का कार्य विभिन्न स्वरूपो

---

1. अत्थसालिनी पृ० सं० 108, अनुवाद पृ० स० 143-44।
2. अत्थसालिनी, पृ० सं० 109-110, अनुवाद पृ० स० 145-146।

मे समन्वय करना और उनका एक साथ बाधना (अभिसदहन) है। चेतना विशेष रूप से पूर्ण शक्ति के साथ कार्य करने वाली है। इसका धर्म और प्रयत्न दोनो ही द्विगुणित होते हैं। इसलिए प्राचीन दार्शनिकों ने कहा है "चेतना उस भूस्वामी किसान की तरह से है जो अपने खेतो को काटने के लिए 55 शक्तिशाली आदमियों को इकट्ठा कर बड़े उत्साह के साथ उनको कार्य मे लगा देता है और उनसे कहता है कि अपने-अपने हिस्से लेकर भाग मे आने वाली फसल को काट डालो। वह उनके खाने-पीने आदि की व्यवस्था सुचारु रूप से करता है। उनको प्रसन्न रखते हुए और उत्साहित करते हुए उन सबसे उनकी शक्ति के अनुसार खूब काम लेता है। इसी प्रकार चेतना एक भू-स्वामी किसान के समान है। बोध ज्ञान की 55 नैतिक प्रवृत्तियाँ 55 शक्तिशाली श्रमिकों के समान हैं। चेतना इन 55 प्रवृत्तियों से कसकर दोहरा काम लेती है और ये प्रवृत्तियाँ चेतना के अकुश के नीचे नैतिक अथवा अनैतिक कार्यो को बडी तेजी से करती हैं।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि सखार के सक्रिय तत्व को चेतना के नाम से पुकारा गया है।

"जब कोई व्यक्ति कहता है "मैं" तब या तो वह सभी स्कन्धो को सम्पूर्ण रूप से अथवा इन स्कधो मे से किसी एक से अर्थ रखता है परन्तु अपने आपको धोखा देता हुआ 'मैं' समझता है अर्थात् इस छलना मे "मैं" शब्द का उच्चारण करता है। जिस प्रकार कोई यह नही कह सकता कि कमल की सुगन्धि उसकी पखुडियो से रग रूप से अथवा उसके पराग से है इसी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि "मैं" का अर्थ रूप से है अथवा वेदना से है अथवा स्कन्धो से है। स्कन्धो मे 'मैं' नही होता। स्कन्धो की व्याख्या मे यह कही नही पाया जाता कि वे क्या वस्तु हैं।"[2]

अविज्जा और आसव

अविज्जा (अविद्या) अर्थात् अज्ञान सर्वप्रथम किस प्रकार आरम्भ हुआ इस प्रश्न का कोई उत्तर नही दिया जा सकता। यह कहना कठिन है कि अज्ञान अर्थात् अस्तित्व की कामना का कब प्रारम्भ हुआ होगा।[3] परन्तु इस अविज्जा अथवा अज्ञान का फल जीवन मरण के चक्र में स्पष्ट रूप से देखा जाता है जिसके साथ दुःख व सुख सलग्न हैं, जो सुख व दुःख, जीवन मरण के साथ उत्पन्न होता है और नष्ट हो जाता है। यह नही कहा जा सकता है कि इस जीवन मरण के चक्र का प्रारम्भ कहाँ से होता है। इस जीवन मरण के चक्र से अविद्या की स्थिति पुनः पुनः होती है। इसके अतिरिक्त यद्यपि अविद्या जीवन के साथ सलग्न है परन्तु इसको उत्पन्न करने वाले अन्य भी कई तत्त्व हैं। उनमे से विशेष महत्त्वपूर्ण तत्त्व आसव है। आसव से तात्पर्य मन की विकृतियो से है। इन विकृतियो को

---

1 वही, पृ० स० 111, अनुवाद पृ० स० 147-148।

2 सयुक्तनिकाय 3/30

3 वारिन "बुद्धिज्म इन ट्रांसलेशन" (विसुद्धि मार्ग 17वा अध्याय, पृ० 175।

नष्ट करने से अविद्या का नाश हो सकता है।[1] धम्मसंगणि मे आसवों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—काम आसव, भाव आसव दिट्ठि आसव एवं अविज्जासव। कामासव से अर्थ है—वासना, मोह और इन्द्रियजन्य विषयो की ओर आसक्ति; सांसारिक आनन्दों की भूख। भावासव से अर्थ है वासना एव अस्तित्व तथा जीवन के लिए इच्छा और मोह होना। दिट्ठासव का अर्थ है धर्म विरोधी भावनाओं के मनन के प्रति आसक्ति होना। जैसे विश्व क्षणभगुर है अथवा आनन्द; कि संसार का नाश होगा अथवा नही; कि शरीर और आत्मा विभिन्न वस्तुएँ हैं या एक ही वस्तु। अविज्जा से अर्थ है दु ख के सम्बन्ध में अज्ञान, दु खो के कारण को नही पहचानना और इन दु खों से निवृत्ति पाने के मार्ग को नही जानना। धम्मसंगणि मे इनके अलावा चार अन्य आसवो की व्याख्या है। (1) पूर्ववर्ती मानसिक स्कन्धो के बारे मे अज्ञान (2) उत्तरवर्ती मानसिक स्कन्धों के बारे में अज्ञान (3) पिछले एवं अगले स्कन्धो का सम्मिलित अज्ञान और (4) उनके आपस मे एक दूसरे पर निर्भर होने के सम्बन्ध का अज्ञान।[2] बुद्धघोप के अनुसार कामासव और भावासव को एक ही मानना चाहिए क्योकि ये दोनो मोह प्रवृत्ति के द्वारा उत्पन्न विकृतियाँ हैं।[3]

दिट्ठासव मस्तिष्क को झूठे दार्शनिक तत्वों से अधकार में ले जाते हैं और इस प्रकार बौद्ध सिद्धान्तों के सत्य मार्ग को ग्रहण करने में कठिनाई उत्पन्न करते है। कामासव

---

1. मज्झिमनिकाय, पहला अध्याय, पृ० सं० 54। चिल्डर्स आसव का अनुवाद विकृतियों के रूप मे करते हैं। मिसेज राइस डेविडस इसका अर्थ मादक तत्वों के रूप मे करती है। सस्कृत मे आसव शब्द का अर्थ पुरानी शराब से है। बुद्धघोप के अनुसार यह शब्द सु धातु से उत्पन्न हुआ है और उनके अनुसार इसका अर्थ है ये उस सुरा की तरह होते हैं जो बहुत दीर्घकाल से बन्द हो–(चिरपारिवासिकत्तेन) ये नेत्रो के माध्यम से मस्तिष्क पर प्रभाव डालते है और ये इन्द्र तक सारे प्राणियो को उत्पन्न करते हैं। जितनी भी मदिरायें हैं वे बहुत समय तक तलघरो मे बन्द होने कारण आसव कहलाती हैं। सम्भवत इसका अर्थ यह है कि विकृतियाँ मन के अन्दर गुप्त रूप से बंद रहने के कारण अधिक मादक हो जाती हैं और दुःखों का कारण होती हैं। बुद्धघोप के अनुसार दूसरे अर्थ मे संसार के दुःखों के उत्पन्न करने के कारण ये विकृतियां आसव कहलाती हैं और इस प्रकार सु धातु से बने आसव शब्द को सार्थक करती हैं (अत्थसालिनी पृ० 48) इस शब्द की तुलना (विभेद) जैन शब्द आस्रव से करनी चाहिए। जैन दर्शन मे आस्रव से अर्थ है-कर्म तत्त्व का प्रवाह। बुद्धघोप द्वारा एक शब्द मे दिए गए अर्थ के अनुसार इस शब्द का अनुवाद करने में बहुत कठिनाई होने से चिल्डर्स महोदय के अनुवाद के अनुसार इस शब्द का अनुवाद मैंने नैतिक विकृतियों के रूप मे किया है।
2. देखिए—धम्मसगणि, पृ०स० 195।
3. बुद्धघोप द्वारा रचित अत्थसालिनी, पृ० 371।

के कारण निर्वाण का मार्ग (अनागामिमग्ग) ग्रहण करने मे अवरोध पैदा होता है। भावास्रव और अविज्जासव के कारण अर्हत्व अथवा पूर्ण मोक्ष प्राप्त नही हो सकता। मज्झिमनिकाय मे जहाँ यह विचार आया है कि आसवो के कारण अविज्जा की उत्पत्ति होती है वहाँ निश्चित रूप से इस अविज्जा को उन आसवो से जो जीवन के मोह से सम्बन्धित हैं भिन्न माना गया है। ये आसव दु ख के सत्य ज्ञान को पहिचानने मे बाधा डालते हैं।[1]

क्लेशो और आसवो मे कोई विशेष अन्तर नही है। ये क्लेश वे विशेष वासनाएँ हैं जिनको हम साधारणतया जानते हैं जैसे लोभ, क्रोध, द्वेप, मोह, अभिमान, दिट्ठि (विधर्म), सशय (विचिकिच्छा), आलस्य (थीन), आत्मप्रशसा (उद्धच्च), निर्लज्जता (अहिरिक), क्रूरता (अनोत्तप)। ये क्लेश आसवो के ही उत्पन्न होते हैं। इन अनेक प्रकार के क्लेशो मे 3 मुख्य क्लेश माने जाते हैं (लोभ, द्वेप और मोह)। ये क्लेश वेदना स्कन्ध, सज्ञास्कन्ध, सस्कारस्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध से सम्बन्धित हैं। इनसे वाणी, शरीर और मन तीन प्रकार के कर्म उत्पन्न होते हैं।

शील और समाधि

हम अन्तर और बाहर से तृष्णा के पाश से जकडे हुए हैं (तन्हाजटा) और इससे छुटकारा पाने का उपाय केवल यह है कि हम जीवन मे उचित (शील) के ध्यान, समाधि ज्ञान (प्रज्ञा) को स्थान दें। सक्षेप मे शील का अर्थ है पाप कर्मो से दूर रहना सब्बपापस्स अकरणम्। अत सर्वप्रथम शील को धारण करना आवश्यक है। शील को धारण करने से दुर्वासनाओ से उत्पन्न दुष्कर्मो से दूर रहने के कारण भय और चिन्ता से मुक्ति होती है। इससे क्लेश दूर होते हैं और इस प्रकार शील के सम्यक् रूप के धारण करने से साधुता की ओर प्रथम दो स्थितियो मे अग्रसर होते हैं। (1) सोतापन्नभाव -(सात्विक प्रवाह का आरम्भ और (2) सकदागामिभाव–(वह अवस्था जहा केवल एक ही जन्म लेने की आवश्यकता होती है)। शील के पश्चात् समाधि की क्रिया प्रारम्भ होती है। समाधि के द्वारा पुराने क्लेश जडमूल मे नष्ट हो जाते हैं। समाधि से तृष्णा और वासनाओ से मुक्ति मिलती है एव सत्त्वगुण की वृद्धि होती है। इसके द्वारा ज्ञान (प्रज्ञा)[2] की प्राप्ति होती है और ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है जिसको अर्हत् कहते हैं। दु ख, दु ख के कारण, उस कारण के विनाश और विनाश के हेतु इन चार तत्त्वो को बौद्ध दर्शन मे आरिय सच्च (आर्यसत्य) के नाम से पुकारा गया है। इन चारो की सही जानकारी करने पर मनुष्य ज्ञानवान् होता है।

मनुष्य जब पाप न करता हुआ सात्विक मार्ग पर चलता है और शुभ कर्मो के करने के लिए मन, बुद्धि मे तत्पर रहता है तब ऐसी (1) सात्त्विक अनुशासित चेतना को शील कहकर पुकारते हैं। इस प्रकार शील का अर्थ है (2) सदिच्छा (सत्चेतना) से उत्पन्न

---

1 धम्मसगणि, पृ० स० 180।

2 विसुद्धिमग्ग निदानादिकथा।

सद्‌वुद्धि (चेतसिका) (3) मन.संयम (सम्वर) (4) प्रथम तीन शीलों द्वारा जिनको अवीतिक्कम कहते है। निर्धारित मार्ग को अपनाते हुए शरीर और वाणी से असंयम न करना अथवा पूर्ण सयम रखना। सम्वर पाँच प्रकार का वताया जाता है। (1) पाहिमोक्ख-सम्वर (वह संयम जो उस मनुष्य की रक्षा करता है, जो इसको धारण करता है)। (2) सतिसम्वर (विवेक, संयम अथवा उचित मार्ग पर चलने का सदैव ध्यान रखना) (3) ज्ञानसम्वर (4) खान्ति (क्षन्ति) सम्वर (धैर्य का संयम) (5) विरिय सम्वर (सक्रिय आतम सयम)। पतिमोख सम्वर का अर्थ साधारणतया यह है कि मनुष्य अपने आपको संयमित रखता हुआ कार्य करे। सतिसम्वर से अर्थ यह है कि विवेक द्वारा मनुष्य अच्छे व वुरे कर्मो की पहचान करता हुआ शुभ मार्ग को ग्रहण करे। सत् के विकसित होने से मनुष्य स्वयं वुरी से वुरी वस्तुओ के अहितकारी स्वरूप का मनन करता है जो उसको स्वय सन्मार्ग की ओर ले जाने मे सहायक होते हैं। खान्ति सम्वर से मनुष्य को गर्मी और सर्दी नही सताती है। शील के धारण करने से शरीर, मन और वाणी तीनों का नियमन होकर स्थिरता प्राप्त होती है (समाधानम् उपधारणम् पतिट्ठा)।[1]

जो मुनि (श्रमण) इस मार्ग को ग्रहण करता है उसे वेश-भूषा, खान-पान, आचरण-सम्बन्धी आश्रम के नियमों का पालन करना आवश्यक है जिनको धूतांग कहा जाता है।[2] ये नियम अनुशासन के अग है। शील और धूतांग समाधि मे सहायता देते हैं। समाधि चित्त-वृत्तियों की एकाग्रता और सत् चिन्तन को कहते हैं (कुशलचित्तएकाग्रता समाधि)। समाधि में एक विशेष सत्य तत्त्व पर ध्यान को केन्द्रित करना होता है जिससे मन चचलता को छोड़कर समभाव को प्राप्त कर सके। इसके लिए वौद्ध दर्शन मे (एकारंमण और सम्मा च अविक्खिपमाना) शव्दों का प्रयोग किया गया है।[3]

जो मनुष्य शील का अभ्यास करते हैं उनको पहले अपने मन को नियन्त्रित करने का अभ्यास करना आवश्यक है। मन की चचलता पर संयम पा लेने पर ज्ञान में एकाग्रता की सिद्धि होती है। ध्यान के लिए वौद्ध दर्शन मे प्राकृत शव्द ज्ञान का प्रयोग किया गया है। इन प्रारम्भिक साधन क्रियाओं को जो मन संयम के हेतु की जाती हैं, उपचार समाधि कहते है जिससे समाधि की प्राथमिक अवस्था का वोध होता है। यह ध्यान-समाधि का प्रथम स्तर है। ध्यान समाधि मे सम्पूर्ण एकाग्रता प्राप्त होने के पश्चात् की अवस्था को अप्पनासमाधि कहते हैं जिसका अर्थ सम्पूर्ण समाधि से है।[4] इस साधना के प्रथम चरणों में साधक को मन पर सयम करना होता है। यह संयम आहार आदि के सयम से प्राप्त होता

1 विसुद्धिमग्ग, सीलनिद्‌देसी पृ० सं० 7 और 8।
2. वही, दूसरा अध्याय।
3. वही पृ० सं० 84-85।
4. यहाँ पर विस्तृत विवरण देना सम्भव नही है अतः मुख्य अंगों का विवरण किया गया। ये वे हैं जिनमे झान, (संस्कृत मे ध्यान) और उसकी प्राथमिक अवस्थाओ याने परिकम्म का परस्पर सम्वन्ध वताया गया है। (विशुद्धिमग्ग पृ० सं० 85)।

है। दूषित आहार से शरीर मे दूषित विकृतियाँ होती हैं। इस पर ध्यान देते हुए साधक खाने पीने के प्रति, जो साधारण मनुष्य की आसक्ति है, विजय पा लेता है और केवल शरीर धारण करने हेतु जितने भोजन की आवश्यकता है उतना ही अल्पाहार करता है। इस प्रकार वह उस दिन की प्रतीक्षा करता है जब शारीरिक क्लेशो और सासारिक क्लेशो मे छुटकारा पा जायेगा।[1] पुन वह एक दूसरी साधना करता है जिसके अनुसार वह यह हृदयगम करता है कि यह शरीर क्षिति (मिट्टी), अप् (जल), तेजम् (अग्नि), वायु इन चार तत्त्वों से बना हुआ है।[2] यह शरीर ऐसा ही है जैसा कसाई के यहाँ पडा हुआ गाय का मृत शरीर। इसको बौद्ध दर्शन मे "चतुधातुववत्थानभावना" के नाम से पुकारा गया है जिसका अर्थ है इस प्रकार का ध्यान कि यह शरीर चतुर्भुजो से बना हुआ है। तीसरी अवस्था में साधक को अपने मन को बौद्ध दर्शन के महान् तत्त्वो पर पुन पुन विचार करने के लिए नियोजित करना पडता है जिसे अनुस्सति कहते हैं। वह बुद्ध भगवान् की महानता, बौद्ध सघ (बुद्ध के अनुयायी भिक्षुगण), देवता और बुद्ध द्वारा बनाए धर्माचरण के नियम, शील के महत्त्व, दान (चागानुस्सति), मृत्यु के स्वरूप (मरणानुस्सति), प्रकृति और प्रलय (उपसमानुस्सति) इन तत्त्वो का मनन करता है।[3]

ध्यान की प्रारभिक अवस्था अथवा उपचार समाधि से आगे बढने पर ध्यान की एकाग्रता से अप्पना समाधि प्राप्त होती है जो सर्वोच्च समाधि है। इस अवस्था मे भी चित्त शुद्धि एव मन शक्ति की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है और इस प्रकार यह अन्तिम लक्ष्य निब्बाण (निर्वाण) को प्राप्त होती है। इन अवस्थाओ के प्राथमिक अगों मे मनुष्य श्मशान आदि मे जाकर मनन करता है कि मनुष्य का शरीर कितना बीभत्स, कुरूप एव घृणास्पद है। फिर वह जीवित व्यक्तियो के बारे मे सोचता है और इस तथ्य पर मनन करता है कि ये शरीर उतने ही घृणित एव अपवित्र हैं जैसेकि मृत शरीर।[4] इस क्रिया को असुभ-कम्मट्ठान कहते हैं। जिसका अर्थ है मनुष्य के शरीर की अपवित्रताओ पर विचार करना।

---

1 देखिए, विसुद्धिमग्ग पृ० स० 341-347। यहाँ जीवन के प्रतिएक निराशामय दृष्टिकोण लिया गया है। जो साधक स्वादिष्ट आहार से विरक्त हो जाता है वह रसना के बन्धन से मुक्त हो जाता है। वह इन सभी रसास्वादो से विरक्त होकर रसशक्ति से मुक्त हो जाता है। क्लेशो से छुटकारा पाने के लिए भोजन मे किसी भी प्रकार की आसक्ति न रखते हुए, खाने पीने को अत्यन्त तुच्छ घृणास्पद मानते हुए केवल शरीर धारण के निमित्त थोडा सा विरस भोजन करता है जैसे किसी घोर वन को पार करने के निमित्त कोई व्यक्ति अखाद्य पदार्थो का वितृष्णा के साथ सेवन करे।

2 विसुद्धिमग्ग, पृ० स० 347-370।

3 वही, पृ० स० 197-294।

4 वही, छठा अध्याय।

उसे मनुष्य के अंग प्रत्यंग एवं रक्त, मास मज्जा आदि से बने हुए अवयवों का ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार शरीर से विरक्ति होने पर उसका मन ध्यान की प्राथमिक अवस्था की ओर अग्रसर होने लगेगा। इसे कायगतासति अर्थात् इस शरीर के बारे मे मनन करना है। एकाग्रता की सिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि साधक एक शान्त स्थान में आसन ग्रहण कर श्वास की प्रक्रियाओं पर अपना ध्यान एकाग्र करे। श्वास की दो प्रक्रियाएँ हैं, श्वास को अन्दर लेना (पस्सास) और बाहर निकालना (आस्सास)। इनके द्वारा चित्त एकाग्र करते हुए इस बात का अनुभव करे कि श्वास किस प्रकार चल रहा है। फिर वह श्वास की क्रिया को नियन्त्रित करे और इस बात का अभ्यास करे कि एक निश्चित समय मे कितने श्वास ले रहा है। इस श्वास प्रक्रिया की साधना को आनपानसति कहते हैं। यह क्रिया ध्यान की एकाग्रता के हेतु की जाती है।[1]

श्वास नियन्त्रण के पश्चात् दूसरी अवस्था ब्रह्म विहार की आती है। इस अवस्था में चार प्रकार के तत्त्वों का मनन और ध्यान किया जाता है (1) मेत्ता (विश्व बन्धुत्व अथवा सारे प्राणियों से मैत्री भाव) (2) करुणा (सारे विश्व के प्राणियों पर दया भाव) (3) मुदिता (सबकी समृद्धि एवं प्रसन्नता में आनन्द) (4) उपेखा (अपने स्वार्थ के प्रति उपेक्षा अथवा शत्रु, मित्र और अन्य प्राणियों में समानभाव, औदासीन्यभाव)। विश्व मैत्री के सम्बन्ध मे मनन करने के हेतु यह सोचना आवश्यक है कि वह स्वयं किस प्रकार सारे दुःखो से छुटकारा पाकर प्रसन्नता व आनन्द प्राप्त कर सकता है तथा किस प्रकार मृत्यु के ऊपर विजय पाकर सुख व शान्ति प्राप्त कर सकता है। तत्पश्चात् इस पर मनन करना चाहिए कि प्रत्येक अन्य प्राणी भी इसी प्रकार इन सब भौतिक दुःखों से छुटकारा प्राप्त करना चाहते हैं और उनकी भी हित कामनाएँ उसी प्रकार है जिस प्रकार उसकी स्वयं की। इस प्रकार उसे इस बात का ध्यान करना चाहिए कि अन्य सभी प्राणी किस प्रकार सुख को प्राप्त कर सकते हैं। ध्यान और चिन्तन करते हुए साधक को चाहिए कि वह संसार के सारे प्राणियों के साथ आत्मसात् हो जाए और सबको आत्मवत् देखने लगे। यहाँ तक कि अपने स्वय के आनन्द मे और दूसरे के आनन्द में कोई अन्तर न रह जाय। उसे क्रोध के ऊपर विजय प्राप्त करनी चाहिए और यह सोचना चाहिए कि यदि किसी व्यक्ति ने उसे किसी प्रकार की क्षति अथवा कष्ट पहुँचाया है तो क्रोधित होकर उस दुःख को और अधिक बढ़ाने से कोई लाभ नहीं है। जिस शील का वह अभ्यास कर रहा है वह इससे नष्ट हो जाता है यह ध्यान में रखना चाहिए। यदि किसी ने उसको क्षति पहुँचाकर नीच कर्म किया है तो क्या उसको भी क्रोध कर उसके समान स्तर पर उतर आना चाहिए? यदि वह किसी अन्य व्यक्ति के क्रोध की निन्दा करता है तो क्या उसे स्वयं क्रोधित होकर निन्दनीय कर्म करना चाहिए? उसको यह ध्यान रखना चाहिए कि धम्म क्षणिक है (खणिकत्ता या क्षणिकत्व)। जिन स्कन्धो ने उसको चोट पहुँचायी है वे स्कन्ध उसी समय नष्ट हो जाते

1. विशुद्धिमग्ग पृ० 292-296।

है । उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी व्यक्ति को जब क्षति पहुँचती है तो वह स्वय भी उस प्रक्रिया का एक आवश्यक अग है क्योकि उसके स्वय के न पहुँचने पर क्षति होना असम्भव था । इस क्रिया मे जो क्षति पहुँचाने वाला है वह और जिसको क्षति पहुँचती है वह, ये दोनो ही क्षति क्रिया के समान अग होने से किसी व्यक्ति विशेष से क्रुद्ध होने का कोई कारण नही है । अगर इतना सब सोचने के पश्चात् भी क्रोध का शमन नहीं होता है तो उसको यह सोचना चाहिए कि क्रोध करने से वह स्वय अपने को ही हानि पहुँचा रहा है । जिस व्यक्ति ने क्रोध किया है वह स्वय उससे कष्ट पाता है । इस प्रकार चिन्तन करने से श्रमण क्रोध पर विजय प्राप्त करने मे समर्थ होगा और अपने चित्त से क्रोध को दूर कर सभी प्राणियो के लिए मैत्री भाव रखने मे समर्थ हो सकेगा । इसको मेत्ता भावना (मित्र भावना) कहते है । करुणा के व्यापक भाव की सिद्धि के लिए श्रमण को चाहिए कि वह मित्र शत्रु आदि सबके दु खो मे दुःख का अनुभव करे और उन सबके लिए सहानुभूति का भाव उत्पन्न करे । इस प्रकार मुनि दिव्य दृष्टि के कारण उन सब मानवों के लिए हृदय मे करुणा उत्पन्न कर सकेगा जो यद्यपि ऊपर मे सांसारिक आनन्द का सुख भोग करते हुए दिखाई देते हैं परन्तु वास्तव मे दु खो के बधन में फँसते जा रहे हैं और निर्वाण के पथ से दूर चले जा रहे हैं । वे नही जानते कि उनको अनेक जन्मो मे दु ख भोग करना होगा ।

इसके पश्चात् हम झान (ध्यान) की उस अवस्था में आते हैं जब साधक को भौतिक वस्तुओ पर चित्त एकाग्र करने की साधना करनी पडती है जिन्हें "कसिणम्" कहते हैं । ध्यान एकाग्र करने के लिए कोई भी पदार्थ, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, नीला, पीला, लाल, अथवा श्वेत रग, प्रकाश अथवा सीमित आकाश (परिछिन्न आकाश) कोई भी हो सकता है । इस प्रकार साधक मृत्तिकापिण्ड लेकर उस पर आँखें खोलकर अथवा कभी-कभी नेत्र बन्द कर ध्यान एकाग्र करे । जब वह इस अवस्था पर पहुँच जाय कि नेत्र बन्द करने के पश्चात् भी स्पष्ट रूप से देख सके तब उसको चाहिए कि भौतिक पदार्थ को छोडकर दूसरे स्थान पर जाकर उस वस्तु के स्वरूप पर ध्यान एकाग्र करने का अभ्यास करे ।

ध्यान की प्राथमिक अवस्थाओ मे पथमम्झानम्--प्रथम ध्यान मे पहले किसी भौतिक वस्तु पर चित्त एकाग्र करते हुए इसके सम्पूर्ण रूप नाम एव उसकी उपादेयता के बारे मे चिन्तन करते हैं । इस प्रकार चिन्तन की एकाग्रता को वितक्क कहते हैं (अर्थात् वस्तु-विशेष के बारे में तर्क-वितर्क करते हुए ध्यान करना) । प्राथमिक ध्यान की दूसरी क्रिया मे चित्त उस भौतिक वस्तु के गुण का ध्यान न करते हुए सीधा वस्तु विशेष पर स्थिर किया जाता है और इस प्रकार चित्त स्थिर होकर वस्तु के अन्तस्तल मे प्रवेश करता है । इस प्रक्रिया को विचार (स्थिर गति) कहते हैं । विशुद्धिमार्ग में बुद्धघोष ने वितक्क अवस्था के लिए कहा है कि जैसे चील आकाश मे पख चलाती हुई दिशा विशेष की ओर जाती है उस प्रकार वितक्क अवस्था होती है परन्तु दूसरी अवस्था विचार के लिए उसने उस चील की उपमा दी है जो बिना पखो को हिलाये सीधी हवा में उड़ते हुए अपने गन्तव्य की ओर जाती

है। ये दोनों अवस्थाएँ चित्त की प्रफुल्लता को (पीति) और चित्त में विशेष आन्तरिक आनन्द (सुख) से सम्बन्धित हैं। इस प्रथम ज्ञान के उदय होने से अविज्जा, कामच्छन्दो (वासनाओं से ग्रसित होना) व्यापादो (द्वेष) थीनमिद्धम् (आलस्य और प्रमाद) उधच्च-कुक्कुचम् (अशान्ति एवं अविनाश), विचिकिच्चा (संशय) इन पंच तत्त्वों का नाश हो जाता है। ज्ञान को निर्माण करने वाले पंचतत्त्व वितक्क (वितर्क), विचार, पीति (प्रीति) सुखम् और एकागता (एकाग्रता) है।

जब श्रमण ज्ञान की प्राथमिक अवस्था में सिद्धि प्राप्त कर लेता है तब वह इसकी अल्पता का ध्यान करते हुए ध्यान की दूसरी अवस्था में प्रवेश करना चाहता है (द्वितीयम् ज्ञानम्)। इस अवस्था मे मन की चंचलता नष्ट होकर स्थिरता प्राप्त होती है जिसको 'एकोदिभावम्' के नाम से सम्वोधित किया है। इसमें चित्त एकाग्र, स्थिर, शांत एवं निर्विषय हो जाता है। (वित्तक्कविचारक्खोभाविरहेण अतिविया अचलता सुप्पसन्नता च)। परन्तु इस अवस्था में प्रीति, सुख, एकाग्रता और साधना एक साथ संयुक्त होती है।

ध्यान की दूसरी अवस्था सम्पूर्ण होने पर साधक प्रीति अर्थात् सुख आदि की ओर से विरक्त हो जाता है। इस उपेक्षा भाव को "उपेखा को" कहा है। इस अवस्था तक आते-आते सन्त वस्तुओं को देखता है परन्तु न उनको देखकर प्रसन्न होता है और न अप्रसन्न। इस स्तर पर आते-आते ध्यान योगी के सारे आसव नष्ट हो जाते हैं। वह खीन्ना-सव (क्षीणासव) हो जाता है। लेकिन उसके हृदय में आन्तरिक आनन्द का प्रवाह होता है जिसे बौद्ध दर्शन में सुख शब्द से सम्वोधित किया है। साथ ही उसके लिए आवश्यक है कि यदि उसने चित्तवृत्तियों पर ठीक रूप से नियन्त्रण नही रखा तो वह पुनः सुख भोग से निम्न कोटि के प्रीति भोग की अवस्था में पहुँच जायेगा।[1] इस ज्ञान के दो विशेष गुण हैं। वे हैं सुख तथा एकाग्रता। परन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि उच्चतम सुख की भावना ही इस अवस्था में विद्यमान रहती है। साधक सामान्य सुख की ओर उपेक्षा की भावना रखता है (अतिमधुरसुखे सुखपारमिप्पत्तोपितत्तिज्ञाने उपेखको न तत्त सुखाभिसंघेन आकड्ढियति)।[2] ध्यान की इस अवस्था मे भी चित्त एकाग्र करने के लिए मृत्तिका के पिण्ड का (पथवी) प्रयोग किया जाता है।

ज्ञान (ध्यान) की चतुर्थ अवस्था में सुख व दु.ख दोनों का लोप हो जाता है और साथ ही राग व द्वेष समूल नष्ट हो जाते हैं। यह अवस्था ऐसी अवस्था है जिसमें योगी जीवन के सभी तत्त्वों से उदासीन हो जाता है। ज्ञान की प्राथमिक अवस्था मे जिस उपेक्षा का प्रारम्भ हुआ था वह उत्तरोत्तर विकास पाती है और अपनी अन्तिम अवस्था पर पहुँचती है। इस अवस्था में योगी जीवन के राग, विराग, द्वन्द्व आदि से उपरत होकर सुख दु.ख आदि सभी के प्रति उपेक्षावृत्ति धारण कर लेता है। एकाग्रता तथा उपेक्षा इस चतुर्थ अवस्था

---

1. जहाँ प्रीति है वहाँ सुख होता है परन्तु जहाँ सुख है वहाँ यह आवश्यक नही है कि प्रीति हो।
—विसुद्धिमार्ग, पृ० सं० 145।
2. विसुद्धिमार्ग, पृ० सं० 163।

के मुख्य गुण हैं। चित्त की सारी प्रवृत्तियो मे उसे निवृत्ति प्राप्त होती है जिसे दार्शनिक भाषा मे चेतोविमुक्ति कहा है और इस प्रकार साधक अर्हत पद[1] प्राप्त कर लेता है। अर्हत पद प्राप्त कर लेने के पश्चात् स्कन्ध व पुनर्जन्म से छुटकारा पा जाता है। सुख व दु ख से निवृत्ति प्राप्त होती है और निब्बाण (निर्वाण) को प्राप्त होता है।

कम्म (कर्म)

कठोपनिषद् (दूसरा अध्याय छठा श्लोक) में यम ने कहा है कि जो धन के मोह मे अन्धा हुआ भविष्य के जीवन मे विश्वास नहीं करता और यह सोचता है कि यही जीवन अन्तिम जीवन है वह पुन पुन मेरे पजे मे फसकर दु ख पाता है। दीघ निकाय मे 'पायासी' अपने विषय की स्थापना के लिए कई प्रकार के तर्क देता है। वह कहता है कि इस ससार को छोडकर अन्य कोई लोभनही है। माता-पिता से जन्म लेकर जो प्राणी इस ससार मे बसते हैं उनके अतिरिक्त और कोई अस्तित्व नहीं है। न कोई दुनियाँ मे अच्छे व बुरे कर्म हैं, न उनका फल मिलता है।[2] वह इस प्रकार तर्क देता है कि दूसरे लोको से न किसी पापात्मा ने और न किसी पुण्यात्मा ने इस लोक मे वापस आकर यह बताया है कि उन्हें सुख अथवा दु ख प्राप्त हो रहा है। यदि यह सत्य है कि पुण्यात्मा लोगो के लिए दूसरे लोक में यहाँ से अच्छा जीवन है तो उन्हें तत्काल आत्महत्या कर लेनी चाहिए। मृत्यु के समय सब प्रकार से देखने पर भी यह पता नहीं चलता कि आत्मा नाम की वस्तु शरीर से बाहर निकलती है। यदि आत्मा कोई वस्तु होती तो उसके निकलने के पश्चात् शरीर का भार कुछ कम हो जाता लेकिन ऐसा नही होता। कस्सप उनके तर्कों का बड़ा सुन्दर उदाहरण देकर खडन करता है और दृष्टांत देते हुए समझाता है कि मिथ्या तर्क सत्य नही है। पायासी के समान दो चार अनीश्वरवादी व्यक्तियो को छोडकर यह निश्चित है कि उपनिषदो मे वर्णित कर्म एव पुनर्जन्म के सिद्धान्तो को सभी बौद्ध दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। मिलिन्दपन्ह मे नागसेन कहते हैं कि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार ही सुख व दु ख का भोग करते हैं। कर्म-के प्रतिफल से ही कुछ लोग दीर्घजीवी और कुछ अल्पजीवी होते हैं, कुछ स्वस्थ और कुछ अस्वस्थ रहते हैं, कुछ सुन्दर तथा कुछ कुरूप होते हैं। शक्ति, सौन्दर्य, धन, उच्च बुद्धि कर्म फल से ही प्राप्त होती है। जो लोग बीमार व कमजोर हैं, मूर्खता व प्रमाद में फँसे हुए हैं, दीन हैं वे सब अपने कर्मो का ही फल प्राप्त कर रहे हैं।[3] हम पहले अध्ययन कर चुके हैं कि इसी प्रकार का मत उपनिषत्कालीन ऋषियो का है।

परन्तु कर्म का फल इस जीवन मे अथवा अन्य जीवन मे तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य राग, द्वेष और मोह के बन्धन मे फसा रहता है। परन्तु जब मनुष्य लोभ और मोह

---

1 मज्झिमनिकाय, पृ० स० 1 296 और विशुद्धिमार्ग, पृ० स 167-168।

2 "डायलोग्स आव द बुद्धा" दूसरा खड पृ० स० 317 और दीर्घनिकाय दूसरा अध्याय, पृ० स० 317 से।

3 वारेन का 'बुद्धिजम इन ट्रान्सलेशन', पृ० स० 215।

का परित्याग कर अपरिग्रह का मार्ग ग्रहण कर निष्काम रूप से कार्य करता है तब कर्म स्वयं जड़मूल से नष्ट हो जाता है जैसे किसी ताड़ के वृक्ष को समूल उखाड़ दिया जाए। फिर उसके मूल के नष्ट हो जाने से कर्म की भविष्य में भी पुनः उत्पत्ति नहीं होती।[1] तृष्णा के अभाव में कर्म स्वयं फलीभूत नहीं हो सकता। इस प्रकार महासतीपत्थानसुत्त में कहा है—भोग व विलास की तृष्णा के कारण मनुष्य यहां वहां विषयों की ओर दौड़ता है और इनके सुख प्राप्त करने की प्रवल तृष्णा के कारण पुनर्जन्म के बन्धन में फंसता है। यह तृष्णा अथवा कामना कई प्रकार की है। विषय भोग की कामना, पुनर्जन्म की कामना अथवा पुनर्जन्म नही लेने की कामना ये सभी मनुष्य को सताती है।[2] जो वस्तुएँ इन्द्रियों को प्रिय लगती है, प्राणों को मधुर लगती हैं, रस, रूप, रंग, स्वाद उनकी आसक्ति चित्त को चंचल करती है। तृष्णा इस आसक्ति से उत्पन्न होती है और इस आसक्ति और वासना मे निवास करती है।[3] इस आसक्ति और भोग की तृष्णा के कारण दुःख की उत्पत्ति होती है यह आर्य सत्य है।

दुःख से निवृत्ति तभी हो सकती है जव यह तृष्णा के प्रति मनुष्य विरक्त हो जाए, इसका परित्याग कर दे और इससे मुक्त हो जाए।[4]

तृष्णा अथवा वासना का नाश होने पर मनुष्य को अर्हत पद प्राप्त होता है और उसके पश्चात् उसके किए हुए कर्मो का फल प्राप्त नही होता; उसके कर्म नष्ट हो जाते हैं। अर्हत पद प्राप्त करने के वाद किसी प्रकार का कर्मफल नही मिलता। कामना के कारण ही कर्म का फल मिला करता है। वासना के नष्ट होते ही अज्ञान, राग, द्वेष, और लोभ का नाश हो जाता है। अतः पुनर्जन्म का कोई हेतु नही रहता। पूर्व जन्म के कर्मो का फल अर्हत पद प्राप्त होने के पश्चात् भी मिल सकता है जैसा मोग्गलान को भोगना पड़ा। परन्तु पूर्वजन्म के कर्म शेष रहने पर भी अर्हत तृष्णा के नष्ट हो जाने से वन्धन मुक्त हो जाता है।[5]

कर्म तीन प्रकार के होते है। मानसिक, शारीरिक एवं वाचिक, याने वाणी के द्वारा किए हुए कर्म। इन्हे वौद्ध दर्शन में कायिक, वाचिक व मानसिक शब्दो से पुकारा गया है।[6] इन कर्मो का मूल चेतना व चेतना के साथ संलग्न प्रवृत्तियाँ हैं।[7] यदि कोई व्यक्ति पशुओं की हिंसा करने की इच्छा से वन में जाता है और इस प्रवल कामना से वन मे सारे दिन

---

1. वही, पृ० स० 216-217।
2. डायलोग्स आव द वुद्ध, 2, पृ० 340।
3. वही, पृ० 341।
4. वही, पृ० 341।
5. देखिए कथावस्तु और वारेन का वुद्धिजम इन ट्रांसलेशन्स, पृ० 221।
6. अत्थसालिनी, पृ० 88।
7. वही, पृ० 90।

घूमता हुआ थक कर रात्रि को वापस घर आ जाता है और उसको कोई शिकार जगल मे नही मिलता तब यह निश्चित है कि उसने शरीर से कोई कर्म नही किया। परन्तु उसकी कामना मात्र से मानसिक कर्म और मानमिक हिंसा सम्पूर्ण हो जाती है। फिर यदि वह व्यक्ति किसी को पशुओ को मारने की आज्ञा देता है तो स्वय कर्म न करते हुए भी वाणी द्वारा (वाचिक) कर्म पूर्ण हो जाता है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि मानसिक सकल्प के बिना शरीर अथवा वाणी से किसी प्रकार का कर्म नही हो सकता। किसी भी प्रकार के कर्म की उत्पत्ति के पहले मन मे तद्विपयक कामना होना आवश्यक है। अर्हत पद प्राप्त करते हुए व्यक्ति के मन मे कोई कामना न होने के कारण उसके शरीर अथवा वाणी के द्वारा किए हुए कर्म का कोई फल नहीं होता।

प्रभाव अथवा फल की दृष्टि से कर्मों को चार वर्गो मे विभाजित किया गया है, (1) ऐसे कर्म जो अशुभ हैं और जिनका फल भी अशुभ होता है, (2) वे जो शुभ हैं, जिनका फल शुभ होता है। (3) ऐसे कर्म जो आशिक रूप से शुभ व आशिक रूप से अशुभ हैं और जिनका फल भी आशिक रूप से शुभ व अशुभ होता है। (4) ऐसे कर्म जो अच्छे हैं न बुरे जिनके करने से न पाप होता है न पुण्य परन्तु जिनमें अन्तत कर्मो का विनाश हो जाता है।[1]

क्लेशो से अन्तिम मुक्ति (निब्बाण) कामनाओ के लोप होने के फलस्वरूप प्राप्त होती है। बौद्ध दर्शन के विद्वानो ने इस प्रक्रिया के विभिन्न अगो की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। प्रो० डी० ला० वेली पूसीन का मत है कि पाली ग्रन्थो मे निब्बाण को एक आनन्दमय स्थिति के रूप में माना गया है। इस अस्तित्व मे पुनर्जन्म की सभावना नहीं है। यह स्थिति अपरिवर्तनीय है। इसमें समस्त कर्मो का पूर्ण क्षय हो जाता है।[2]

पाली टेक्ट्स सोसाइटी जर्नल, 1905, मे निर्वाण की व्याख्या करते हुए लिखा गया है कि बुद्ध के मतानुसार मृत्यु के पश्चात् जो अनन्त आकाश मे व्याप्त आत्मा और चेतन तत्त्व (विज्ञान) के साथ एकीभूत होना चाहते हैं, उनकी आत्मा व्याप्त एव अनन्त रूप धारण करती है और साथ ही उनके व्यक्तित्व का भी लोप नही होता। यह निर्वाण की व्याख्या मुझे एकदम नवीन और बौद्ध शास्त्रो के मत के प्रतिकूल लगती है। मेरे मतानुसार सांसारिक अनुभूतियो के अर्थ मे निर्वाण की व्याख्या असभव है। इसकी व्याख्या केवल इतना कहकर की जा सकती है कि यह वह अवस्था है जब सारी वेदनाओ और क्लेशों की समाप्ति हो जाती है। उस अवस्था मे जबकि ससार की सारी भावना और अनुभूतियो का

---

1 अत्थसालिनी, पृ० स० 89।

2 निर्वाण पर निम्न ग्रन्थ देखिए—प्रो० डी० ला० वेली पूसीन का लेख, चुल्लवग्ग नवाँ खण्ड, पहला अध्याय, चतुर्थ पृष्ठ। मिसेज राइस डेविड्स का "साम्स आव द अर्लि बुद्धिज्म", खण्ड 1 और 2, भूमिका पृ० स० 27। दीघ० दूसरा अध्याय पृ० स० 15। उदान० 28वाँ अध्याय, सयुक्त तीसरा खण्ड, पृ० स 109।

[illegible] नहीं है।

परवर्ती बौद्ध लेखक नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति ने इन प्रारंभिक बौद्ध ग्रन्थों की प्रवृत्ति का लाभ उठाते हुए ऐसी व्याख्या की है कि संसार में अस्तित्व मिथ्या है। किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है अतः इस पर तर्क अर्थहीन है कि किस वस्तु का अस्तित्व है और किस वस्तु का नहीं है। इस प्रकार सांसारिक अवस्था और निव्वाण में कोई भेद नहीं है; क्योंकि यदि सारा दृश्यमान जगत् मिथ्या है और यदि इसका संसार में कोई अस्तित्व नहीं है तो इस अस्तित्व की समाप्ति का भी प्रश्न नहीं उठता अतः निव्वाण का भी प्रश्न नहीं उठता।

उपनिषद् एवं बौद्ध धर्म

उपनिषदों में इस तथ्य का निरूपण किया गया है कि आत्मा आनन्दमय है।[1] हम ऐसा अनुमान लगा सकते हैं कि प्रारंभिक बौद्ध-धर्म में भी लगभग इसी प्रकार का विचार पाया जाता है। उनके मतानुसार यदि आत्मा नाम की कोई वस्तु है (सत्ता) तो वह आनन्दमय होनी चाहिए। उपनिषदों में इस बात पर बल दिया गया है कि आत्मा अनन्त है और उसका विनाश नहीं होता। बौद्ध-धर्म में अन्तर्निहित सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए हम यह कह सकते हैं कि इनके अनुसार यदि आत्मा है तो वह अनन्तमय होनी चाहिए क्योंकि वह शाश्वत है।[2] यह कारण-सम्बन्ध उपनिषदों में कहीं स्पष्ट रूप से नहीं बताया गया है परन्तु उपनिषदों को ध्यान से पढ़ने पर ऐसा आभास होता है कि आत्मा को आनन्दमय इसलिए कहते हैं कि स्वयं आत्मा का विनाश नहीं होता है। परन्तु इसके विपरीत ऐसा कहीं भी नहीं कहा गया है कि जो शाश्वत नहीं है तथा जो नाशवान् है वह सब दुःखमय है। परन्तु बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार जो कुछ परिवर्तनशील है नाशवान् है वह सब दुःखमय

---

1. तैत्ति० 2/5।
2. बृहदा० 4/5/14; कठ 5/13।

है और जो कुछ दु:खमय है वह आत्मा नहीं है ।[1] इस आत्मा की अनुभूतियो के सम्बन्ध मे वौद्ध मत उपनिपदो से भिन्न हो जाता है । उपनिपदो के अनुसार आत्मा पर प्रभाव डालने वाली अनेक अनुभूतियाँ हैं परन्तु ये अनुभूतियाँ स्थायी नहीं हैं । उपनिपदो मे यह विश्वास पाया जाता है कि इन अनुभूतियो का एक स्थायी भाव भी है और वह स्थायी भाव आनन्द-मय है । यही स्थायी भाव सत्य है और अपरिवर्तनशील है । उनके मतानुसार यह शाश्वत आत्मा जो विशुद्धानन्द स्वरूप है, अवर्णनीय है; इसकी कोई परिभाषा नही दी जा सकती । केवल यो कहा जा सकता है न तो यह है (नेति नेति) और न वह है ।[2] परन्तु पाली शास्त्रो के अनुसार हमको ऐसे किसी भी शाश्वत तत्त्व का वोध नही होता । हमारी नित्य प्रति परिवर्तनशील अनुभूतियो के वीच किसी भी स्थायी आत्म-तत्त्व का पता नहीं चलता । जो कुछ दिखाई देता है वह एक परिवर्तनशील घटनाक्रम है अत मिथ्या एव दु:खमय है । अत. यह सव आत्मा से कोई सम्वन्ध नहीं रखता और जो आत्मा से सम्वन्ध नही रखता वह मनुष्य से सम्वन्ध नही रखता । अत आत्मा के रूप मे भी मेरा इससे कोई सम्वन्ध नहीं है ।[3]

उपनिपदो के अनुसार आत्मा के सत्य स्वरूप का ज्ञान एक अलौकिक दिव्य अनुभूति है । क्योकि इसका वर्णन कभी भी सासारिक अनुभूति की भापा मे नही दिया जा सकता । परिवर्तनशील मानसिक परिकल्पनाओं से परे अति दूर यह आनन्दमय आत्मा है केवल इतना ही कहा जा सकता है । भगवान् वुद्ध ने तार्किक दृष्टि से देखते हुए यह अनुभव किया कि ऐसी किसी वस्तु का अस्तित्व नही । परन्तु साथ ही इस तथ्य पर भी विचार किया कि इस आत्मा के सम्वन्ध में "यह अनुभूति के द्वारा जाना जाता है" ऐसा जो वार-वार कहा गया है इसका क्या कारण है ? वौद्धो के मतानुसार जव मनुष्य यह कहते हैं कि हमने उस आत्म तत्त्व की अनुभूति की, तव वे व्यक्तिगत मानसिक परिकल्पनाओं के अनुसार ऐसा कहते हैं । साधारण अज्ञानी मनुष्य महान् सत्यो को न तो जानते हैं न वे विद्वानों की भाँति प्रशिक्षित होते हैं । इस प्रकार अज्ञानवश वे ऐसा सोच लेते हैं कि उन्हे "रूप" प्राप्त हो गया है या वे इन रूपो को अपने स्वय (आत्म) में प्रतिभासित देखते हैं अथवा स्वय को इन रूपों मे देखने लगते हैं उन्हें तात्कालिक भावो के अनुसार जो अनुभूति होती है उसे वे आत्मदर्शन समझते हैं अथवा ऐसी अनुभूति करते हैं कि उन्हें इन भावो का अनुभव हो रहा है, और इस प्रकार वे भाव विशेप को आत्मा मे अथवा आत्मा को भाव विशेप मे देखते हैं । इस प्रकार के अनुभवों को वे आत्मा[4] के अनुभवों के रूप में स्वीकार कर लेते हैं ।

---

1 सयुक्त निकाय 3, पृ० 44-45 से ।

2 देखें, वृहदा० 4/4/छान्दोग्य 8-7/12 ।

3. सयुक्त निकाय 3,45 पृ० ।

4. सयुक्त निकाय 3/46 ।

उपनिषदों ने किसी विशेप दार्शनिक धारा अथवा दर्शन के किसी विशिष्ट विपय को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया है। उपनिषदों में सदैव एक ऐसे अनुभव को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया है जो मनुष्य की आत्मा के रूप में शाश्वत, नाशहीन वास्तविक सत्य है और जो सारे परिवर्तनों के मध्य सदैव स्थिर रहने वाला महान् सत्य (परम-आत्मा) है। लेकिन बौद्ध मतानुसार मनुष्य का यह "नाशहीन आत्म-तत्त्व" असत् है, वह मिथ्या कल्पना और मिथ्या ज्ञान पर आधारित है। इस दर्शन का प्रथम सिद्धान्त है संसार क्षणभंगुर है अतः दुःखमय है। इस दुःख के सम्बन्ध में अज्ञान, इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अज्ञान, इस दुःख को कैसे मिटाया जा सकता है इसका अज्ञान और इसको मिटाने के साधनो के बारे में अज्ञान यह चार प्रकार की अविज्जा है।[2] पाली शब्द अविज्जा के अनुरूप ही अविद्या शब्द उपनिषदों में पाया जाता है। उपनिषदों मे अविद्या का अर्थ आत्म तत्त्व के सम्बन्ध में अज्ञान है और यह कई बार विद्या (अथवा आत्मा[3] के सम्बन्ध मे सत्य ज्ञान) के विपरीत अर्थ में प्रयोग में लाया जाता है। उपनिषदों के अनुसार सर्वोत्तम, उच्चतम सत्य शाश्वत आत्मा का अस्तित्व है जो आनन्दमय है परन्तु बौद्ध मत के अनुसार संसार में कोई भी स्थायी अथवा शाश्वत नही है। सभी कुछ क्षणभंगुर एवं परिवर्तनशील है, अतः दुःख का कारण है।[4] इस प्रकार यह बौद्ध दर्शन का मुख्य तत्त्व है, और इस दुःख के सम्बन्ध मे अज्ञान (चतुर्वेद्ध अज्ञान) ही चार प्रकार की अविज्जा है। यह चार प्रकार की अविज्जा ही चार दृढ़ सत्यों के समझने मे बाधक है। इन चार सत्यो को आर्य सच्च कहा गया है जो इस प्रकार वर्णित है—दुःख, दुःख की उत्पत्ति का कारण, दुःख का मोचन और दुःख को मिटाने का साधन।

ब्रह्म अथवा किसी महान् परात्पर तत्त्व या परम आत्मा का कोई अस्तित्व नही है, न कोई आत्मा है। अविद्या अथवा अज्ञान किसी आत्मा से अथवा आत्म चेतना मे निहित अथवा सम्बन्धित नहीं है जैसा साधारणतया विश्वास किया जाता है।

इस प्रकार बौद्धमतानुसार, 'विसुद्धिमग्ग' मे कहा गया है, "अज्ञान स्थायित्व" से शून्य (परे) है क्योंकि अज्ञान का अस्तित्व एक समय होता है और दूसरे क्षण नही भी होता है। अतः यह अज्ञान स्वयं प्रेरित या स्वयंभू अहम् चेतना से भी शून्य (परे) है क्योकि यह स्वयं किसी दूसरी वस्तु पर निर्भर नही है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अविद्या या अज्ञान अहम् केन्द्रित नही है और इसी प्रकार कर्म आदि अन्य तत्त्वों के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है। अतः इससे यह समझना चाहिए कि अस्तित्व का यह जीवन चक्र

---

1. मज्झिमनिकाय, पहला अध्याय पृ० 54।
2. छान्दोग्य 1-1-10। बृहदा० 4-3-20। कुछ ऐसे स्थल भी है जहाँ विद्या और अविद्या भिन्न और अस्पष्ट अर्थों मे प्रयोग किए गए है—(ईशोपनिषद् 9-11)
3. अंगु० निकाय, 3-85।

सारहीन है, खोखला है, मिथ्या एवं निराधार है।[1] वह बारह तरह की शून्यताओ से घिरा है।"

थेरवाद की शाखाएँ

ऐसा विश्वास किया जा सकता है कि बुद्ध द्वारा दिए हुए मौखिक उपदेशों का सकलन उनकी मृत्यु के पश्चात् कई शताब्दियों तक उचित रूप से नहीं किया जा सका होगा। उनके शिष्यो मे अथवा आगे आने वाली शिष्यो की कोटियो मे अनेक विवाद उनके सिद्धान्तो और आश्रमो के नियमादि के सम्बन्ध मे उठ खडे हुए। इस प्रकार जब वैशाली मे स्थित सघ ने वृजिन भिक्षुओ के विरोध में निश्चय किए तब इन भिक्षुओ ने जिनको वज्जि पुत्तक नाम से भी पुकारा जाता है, एक महासघ की विशाल सभा का आयोजन किया और आश्रम सम्बन्धी अपने नियम वनाए। इस प्रकार इन लोगो का नाम महासघिक पडा।[2] वसुमित्र के अनुसार जिसका अनुवाद वैसिलिफ ने किया है महासघिक भिक्षु 400 ई० पू० में मुख्य सघ से अलग हो गए। अगले 100 वर्षों में इन्होंने तीन नयी शाखाओ को जन्म दिया जो एक व्यावहारिक, लोकोत्तरवादी और कुक्कुलिक नाम से जानी जाती हैं। तत्पश्चात् एक और नवीन शाखा उत्पन्न हुई जिसको वहुश्रुतीय नाम से जाना जाता है। अगले 100 वर्षो मे इन्हीं शाखाओं से अन्य प्रशाखाएँ उत्पन्न हुईं जैसे प्रज्ञप्तिवादी, चैत्तिक, अपरशैल और उत्तरशैल। थेरवाद अथवा स्थविरवाद शाखा से जिसने वैशाली मघ का आह्वान किया था। उसकी ईसा पूर्व की द्वितीय एव प्रथम शताब्दी मे अनेक शाखाएँ उत्पन्न हुईं जिनमे हैमवत, धर्मगुप्तिक, महीशासक, काश्यपीय, सक्रान्तिक (जिनको सौत्रान्तिक रूप से अधिक जाना जाता है) और वात्सीपुत्रीय आती हैं। वात्सीपुत्रीय से निम्न प्रशाखाएँ उत्पन्न हुईं धर्मोत्तरीय, भद्रयानीय, सम्मितीय, छन्नागरिक। थेरवाद की मुख्य शाखा द्वितीय शताब्दी के पश्चात् हेतुवादी अथवा सर्वास्तिवादी नाम से प्रख्यात हुई।[1] महावोधिवश थेरवाद शाखा और विभज्जवादी

---

1 वारेन 'बुद्धिज्म इन ट्रान्सलेशन्स (विसुद्धिमग्ग अध्याय 17) पृ० 175।

2 महावश का मत द्वीपवश के मत से भिन्न है। इस मत के अनुसार वज्जिपुत्तक महासघिक के रूप में परिवर्तित नहीं हुए वरन् पहले महासघिक भिक्षु अलग हुए और वज्जिपुत्तक स्वतत्र रूप से मुख्य शाखा से अलग हुए। 'महावोधिवश' जो प्रो० गिगर के अनुसार सन् 975 से 1000 तक लिखा गया है। महावश का अनुसरण करता है और इसका भी मत है कि महासघिक मुख्य शाखा से अलग हुए और वज्जिपुत्तक वाद को स्वतत्र रूप से अलग हुए।

वसुमित्र भ्रमवश वैशाली सभा को पाटलिपुत्र मे हुई तीसरी सभा के रूप मे अनुमान करते हैं। इस सम्बन्ध मे श्रीमती राइज डेविड्स के द्वारा कथावत्यु के अनुवाद की भूमिका देखिए।

3 इन शाखाओ के अलग होने के सम्बन्ध मे भी श्री ओग और श्रीमती राइज डेविड्स के कथावत्यु के अनुवाद का अवलोकन करें पृ० 36 से 45।

शाखा को एक ही मानता है। कथवत्थु का भाष्यकार जो राइज डेविड्स के मतानुसार सम्भवतः 5वी शताब्दी में रहा होगा, बौद्धों की अन्य दर्शन शाखाओं का विवरण देता है लेकिन इन सब बौद्ध शाखाओं के सम्बन्ध में बहुत कम जानता है। वसुमित्र (प्रथम शताब्दी) के द्वारा दिए हुए विवरण अस्पष्ट हैं। उसने महासंघिक, लोकोत्तरवादी, एकव्यावहारिक, कुक्कुलिक प्रज्ञप्तिवादी और सर्वास्तिवादी शाखाओं का बहुत अपूर्ण सा विवरण दिया है उसमे भी उसके द्वारा दिया हुआ दार्शनिक विवरण नगण्य सा ही है। उसने जिन विषयों का उल्लेख किया है उसमें से कुछ रोचक विषय ये है : (1) महासंघिक दर्शन के अनुसार शरीर चित्त से ओत-प्रोत रहता है और यह चित्त शरीर मे बैठा रहता है। (2) प्रज्ञप्तिवादी ऐसा मानते हैं कि मनुष्य शरीर में अन्य कोई प्रेरक शक्ति नही है। असमय मृत्यु नहीं होती क्योंकि मृत्यु मनुष्य के पूर्व कर्मानुसार निश्चित समय पर ही होती है। (3) सर्वास्तिवादी यह विश्वास करते थे कि संसार में सभी वस्तुओं का अपना अस्तित्व है। कथावत्थु मे पाए जाने वाले वाद-विवाद से यह मालूम होता है कि इन शाखाओ के अनेक मत दार्शनिक महत्त्व रखते हैं परन्तु इन शाखाओं के दर्शन का ज्ञान देने वाले विस्तृत विवरण कहीं नही मिलते। ऐसा सम्भव है कि बौद्ध मत की ये सब शाखाएँ एक दूसरे से केवल छोटे मोटे नियमों और सिद्धान्तों की ही विभिन्नता रखती थी। इन शाखाओं के मतावलम्बियों के अनुसार सम्भवतः इनका मत बहुत भारी सैद्धान्तिक महत्त्व का रहा हो परन्तु हम लोगों के लिए इनका पारस्परिक अन्तर विशेष महत्त्वपूर्ण नही है क्योंकि हमको इन शाखाओं से सम्बन्ध रखने वाला साहित्य उपलब्ध नहीं है। इसलिए इनके सम्बन्ध में केवल मोटे अनुमान लगाना उचित नहीं होगा। वैसे भी भारतीय दर्शन के इतिहास में इन दर्शनों का विशेष महत्त्व नही है क्योकि भविष्य के भारतीय दर्शन मे इनका प्रसंग कही प्राप्त नही होता। बौद्ध धर्म के निम्न मत ही भारतीय दर्शन के सम्पर्क में आ पाए हैं—सर्वास्तिवादी, जिनके साथ सौत्रांतिक और वैभाषिक भी सम्मिलित हैं, योगाचार अथवा विज्ञानवादी और माध्यमिक अथवा शून्यवादी। यह कहना कठिन है कि इन चार विशाल शाखाओं में अन्य किन शाखाओं के मतों का समन्वय अथवा मेल है। सौत्रांतिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक मुख्य शाखाएँ मानी गई हैं। क्योकि भारतीय दर्शन के विकास मे इन मतों का विशेष स्थान रहा है अतः यह आवश्यक है कि हम इन बौद्ध मतों के विषय में जानकारी प्राप्त करें।

जब हिन्दू दार्शनिक बौद्ध सिद्धान्तों का वर्णन करते हैं और कहते है कि बौद्धों का मत ऐसा है तब वे सर्वास्तिवादी शाखा के सिद्धान्तों की ओर साधारणतया संकेत करते हैं। इस शाखा के सौत्रांतिक और वैभाषिक उपमतों की ओर हिन्दू दर्शन विशेष ध्यान नहीं देता। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि ऐसा कोई प्रसंग नही मिलता जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि हिन्दू दार्शनिक थेरवाद के सिद्धान्त से परिचित थे जो पाली ग्रन्थों में मिलते हैं। वैभाषिक और सौत्रांतिक मत एक दूसरे से मिलते हैं। वैभाषिक वसुबन्धु के द्वारा लिखे हुए ग्रन्थ अभिधम्मकोश शास्त्र की टीका सौत्रांतिक वसुमित्र के द्वारा लिखी गई है। वैभाषिक और सौत्रांतिक मतों के उस विशेष अन्तर का, जिसका

हिन्दू लेखको ने वर्णन किया है, स्वरूप यह है कि वैभाषिक यह विश्वास करते हैं कि वाह्य पदार्थ प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं जबकि सौत्रातिक लोगो की यह मान्यता है कि वाह्य वस्तुओ का आभास मनुष्य के विस्तृत ज्ञान के फलस्वरूप होता है।[1]

गुणरत्न (चौदहवी शताब्दी) "षड्दर्शन समुच्चय" की टीका 'तर्क रहस्य दीपिका' में लिखते हैं कि वैभाषिक केवल आर्यसमितीय शाखा का ही दूसरा नाम है। गुणरत्न के अनुसार वैभाषिक शाखा मे वस्तुओ का अस्तित्व केवल चार क्षणो के लिए रहता है। ये चार क्षण हैं—उत्पत्ति का क्षण, अस्तित्व का क्षण, क्षणिता का क्षण और नष्ट होने का क्षण। वसुबन्धु के द्वारा लिखे हुए अभिधम्मकोष मे ऐसा उल्लेख मिलता है कि वैभाषिक इन क्षणो को चार प्रकार की शक्तियों के रूप मे देखते थे जो शाश्वत प्रकृति के सत्व के साथ मिलकर जीवन की क्षणभगुरता की उत्पत्ति करते हैं। (इस सम्बन्ध में प्रो० श्चेरवात्सकी द्वारा अनुवादित यशोमित्र की अभिधर्मकोशकारिका की टीका, पांचवां अध्याय, पृ० 25 देखना उचित होगा)। स्वीय तत्त्व (जीव) जिसको 'पुद्गल' नाम से पुकारा गया है उसमे भी यही गुण पाए जाते हैं। ज्ञान का कोई स्वरूप नही है। इसकी उत्पत्ति वस्तु विशेष के साथ उन्ही अवस्थाओ में होती है (अर्थसहभासी, एक सामग्र्यधीन)। गुणरत्न के अनुसार सौत्रातिक मत यह मानता था कि आत्मा नाम की कोई वस्तु नही है। केवल पच स्कध पाए जाते हैं। ये स्कध शरीर परिवर्तन करते रहते हैं। भूत, भविष्य, विनाश, कारण, आधार, आकाश और पुद्गल केवल नाम मात्र हैं (सज्ञामात्रम्) वल देने के लिए केवल उक्तिमात्र हैं (प्रतिज्ञामात्रम्) पारिभाषिक शब्द मात्र हैं (सवृत्तमात्रम्) और घटना मात्र हैं (व्यवहारमात्रम्) ' पुद्गल के द्वारा वे उस तत्त्व का वर्णन करते थे जिसे अन्य लोग अनन्त व्यापक आत्मा के रूप मे मानते हैं। वाह्य वस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप मे नहीं देखा जा सकता, केवल ज्ञान मे वहुविध रूप के अर्थ को सिद्ध करने के लिए परोक्ष अनुमान से जाना जाता है। सज्ञान विशेष (निश्चित सज्ञान) सत्य है परन्तु सस्कार क्षणिक हैं (क्षणिका सर्वसस्कारा)। रग, रूप, स्पर्श, गध एव स्वाद इन सबके अणु प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं। शब्दो का अर्थ, जिस अर्थ की विवेक्षा होती है उसके अतिरिक्त सभी शब्दो का निषेध भी करता है। अर्थात् प्रत्येक शब्द का अर्थ निषेधात्मक है (अन्यापोह शब्दार्थ)। इसी प्रकार निरन्तर ध्यान की प्रक्रिया से, "आत्मा का कोई अस्तित्व नही है" ऐसा सोचते हुए जब

1 माधवाचार्य द्वारा लिखित सर्वदर्शन-सग्रह, दूसरा अध्याय। "शास्त्रदीपिका-प्रत्यक्ष" पर दिया हुआ वाद-विवाद। अमलानन्द का भामती पर भाष्य "वेदान्त कल्पतरु", पृ० 286। "वैभाषिकस्य वाह्योर्थ प्रत्यक्ष। सौत्रांतिकस्य ज्ञानगताकार-वैचित्र्येण अनुमेय।" सौत्रातिक द्वारा दिए हुए मत का विवरण अमलानन्द (1247-1260 सन्) ने इस प्रकार दिया है—"ये यस्मिन् सत्यपि कदाचित्का ते तदतिरिक्तापेक्षा।" जिन वस्तुओ का सज्ञान एक ही स्थिति मे होते हुए भी अनेक प्रकार का दिखाई देता है उनके लिए यह आवश्यक है कि उनका प्रकाश वाह्य वस्तुओ के अलावा अन्य पर निर्भर होना चाहिए। वेदान्तकल्पतरु, पृ० स० 289।

संसार के प्रति ज्ञान का अस्तित्व समाप्त हो जाता है अर्थात् बोध ज्ञान का विनाश हो जाता है तब मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1]

विभज्जवादी सौत्रांतिक और वैभाषिक अथवा सर्वास्तिवादी दर्शनों में काल के विषय में विशेष विभेद पाया जाता है। काल अथवा समय की भावना बौद्ध दर्शन का एक विशेष रोचक अंग है। अभिधम्मकोष (पांचवाँ अध्याय, पृ० 24) मे लिखा है कि सर्वास्तिवादी यह मानते है कि भूत, वर्तमान और भविष्य मे प्रकृति की सभी वस्तुओं का शाश्वत अस्तित्व है। विभज्जवादी मानते हैं कि भूत व वर्तमान के वे सब तत्त्व जो अपना कार्य समाप्त नही कर सके हैं अथवा जिनका पूर्ण निरूपण, विकास अथवा फलन नही हो पाया है वे सब विद्यमान हैं; परन्तु जिन तत्त्वों ने पूर्णता प्राप्त कर अपना कार्य समाप्त कर दिया है उनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है और भविष्य में उनकी कोई स्थिति नहीं रहती अर्थात् सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रकृति के तत्त्व उत्पन्न होते हैं, पूर्ण विकास को प्राप्त होते हैं और फिर समाप्त हो जाते हैं। इस दर्शन की चार प्रशाखाएँ है जिनके प्रतिनिधि धर्मत्रात, घोष, वसुमित्र और बुद्धदेव हैं। धर्मत्रात के अनुसार एक तत्त्व जब विभिन्न कालों मे प्रवेश करता है तो इसके अस्तित्व में परिवर्तन हो जाता है परन्तु सत्यरूपेण वह स्थित रहता है जैसे दूध का जब दही बन जाता है अथवा स्वर्ण पात्र टूट जाता है तो इसका बाह्य रूप बदल जाता है परन्तु तत्त्व रूप वही रहता है। घोष के मतानुसार जब एक तत्त्व विभिन्न कालो में प्रकट होता है तब भूतकाल का तत्व अपने पूर्व रूप में स्थित रहता है और इसका भविष्य और वर्तमान से भी सम्बन्ध विच्छेद नही रहता। इसी प्रकार वर्तमान में जो तत्त्व दिखाई देता है वह भूत व भविष्य दोनों मे अपनी स्थिति रखता है। अर्थात् प्रत्येक तत्व की स्थिति, भूत, वर्तमान और भविष्य मे विद्यमान रहती है। रूप में परिवर्तन सम्भाव्य है। जैसे एक मनुष्य किसी स्त्री के साथ घनिष्ठ प्रेम होते हुए भी भविष्य मे किसी दूसरी स्त्री से प्रेम करने की क्षमता को नही खो देता। वसुमित्र के अनुसार किसी वस्तु का वर्तमान, भूत और भविष्य, क्रमशः क्षमता की उत्पत्ति, उसकी समाप्ति और क्षमता की उत्पत्ति उस समय न होकर भविष्य में होने की अवस्था पर निर्भर करता है अर्थात् यदि क्षमता पूर्व काल मे उत्पन्न हो चुकी है वह उस वस्तु का भूतकाल है। यदि क्षमता की स्थिति विद्यमान है तो वह वर्तमान है और यदि वस्तु विशेष की क्षमता की उत्पत्ति अभी नहीं हुई परन्तु होने की सम्भावना है तो वह उसका भविष्य है। बुद्धदेव के अनुसार जिस प्रकार एक ही स्त्री माता, पुत्री और पत्नी कही जाती है उसी प्रकार एक ही वस्तु में पूर्व क्षणों के अलावा आने वाले क्षणों के सम्बन्ध के अनुसार वर्तमान, भूत और भविष्य का बोध होता है।

ये सारी दर्शन शाखाएँ किसी न किसी अर्थ में सर्वास्तिवादी हैं क्योंकि ये सभी एक व्यापक अस्तित्व को मान्यता प्रदान करती हैं। परन्तु वैभाषिक वसुमित्र के मत के अतिरिक्त सभी मतों मे विकार मानते हैं। धर्मत्रात का दर्शन सांख्य सिद्धान्त का ही अस्पष्ट रूप है।

---

1. गुणरत्न द्वारा लिखी हुई तर्क रहस्यदीपिका, पृ० 46-47।

घोष का मत एक काल में एक अस्तित्व के सभी रूपों की स्थिति एक साथ मानकर चलने से काल की इस भावना को एकदम अस्पष्ट कर देता है जिसके कारण इसको समझना कठिन हो जाता है। बुद्धदेव का मत भी एक ऐसी असम्भव कल्पना है जिसमे तीनों काल एक साथ एक ही समय एक ही वस्तु मे समाविष्ट कर दिए गए हैं। वैभाषिक वसुमित्र के मत को स्वीकार करते हैं और ऐसा मानते हैं कि किसी भी काल का अन्तर किसी भी सत्ता के कार्यों के भेद पर निर्भर करता है। कोई भी सत्ता जब तक अपने कार्य का कार्य प्रारम्भ नही करती तब तक वह भविष्य के गर्भ मे होती है जब वह अपना कार्य प्रारम्भ कर देती है तो इसका वर्तमान होता है और कार्य की समाप्ति हो जाने पर इसका भूतकाल हो जाता है। इस प्रकार भूत व भविष्य का अस्तित्व उतना ही सत्य है जितना वर्तमान का। उनके अनुसार यदि भूत की स्थिति नहीं होती अथवा भूतकाल मे किसी कार्यक्षमता का प्रारम्भ नहीं होता तो यह ज्ञान की परिधि मे भी नही आता अर्थात् इसका ज्ञान ही नहीं होता और पुन भूतकाल मे किए हुए किसी भी कार्य का फल वर्तमान मे प्राप्त नही होता। सौत्रान्तिको के मतानुसार वैभाषिकों का यह सिद्धान्त धर्म-विरोधी है क्योकि यह शाश्वत अनन्त अस्तित्व को स्वीकार करता है। उनके मतानुसार वस्तु अपनी सत्ता को नही खोती केवल काल-परिवर्तन से रूपान्तर हो जाता है। उनके अनुसार सही दृष्टिकोण यह है कि किसी भी सत्ता की क्षमता, सत्ता तथा उस वस्तु के प्रकट होने का समय इन तीनों में कोई अन्तर नहीं है। कोई भी वस्तु अथवा पदार्थ अनस्तित्व (स्थितिहीनता) से उत्पन्न होती है। कुछ समय के लिए उसका अस्तित्व रहता है और फिर उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। वैभाषिक शाखा के इस मत से वे सहमत नहीं हैं कि भूत के अस्तित्व को विशेष रूप से इसलिए माना जावे कि वह उस समय वर्तमान के लिए क्षमता की उत्पत्ति का प्रादुर्भाव करता है अर्थात् भूतकाल मे यदि किसी क्रिया का प्रारम्भ नही होता तो वर्तमान मे उसकी स्थिति सम्भव नहीं होती। परन्तु सौत्रान्तिकों के अनुसार यदि यही स्थिति सत्य है तो भूतकाल और वर्तमान मे कोई अन्तर नही रहेगा क्योंकि क्षमता की उत्पत्ति के लिए दोनों ही एक समान महत्त्व रखते हैं। यदि भूत, वर्तमान और भविष्य का अन्तर केवल किसी वस्तु की क्षमता के स्तर पर निर्भर करता है तो फिर हमको भूत, वर्तमान आदि की स्थिति को निरतर अनन्त काल तक मानते रहना पड़ेगा और इस विचित्र शृ खला का कही अन्त नहीं होगा। हमको जिन वस्तुओं की सत्ता निरुद्ध हो गयी है और जिन वस्तुओ की सत्ता अवस्थित है इन दोनो का भान होता ही है। भूत के हमारे ज्ञान का अर्थ यह नही है कि भूत किसी प्रकार का प्रभाव क्षमता के हेतु इस समय डाल रहा है। यदि हम किसी पदार्थ की सत्ता और क्षमता के बीच अन्तर मान लें तब यह समझना कठिन हो जायगा कि किसी वस्तु विशेष की क्षमता का प्रारम्भ कब और क्यो हुआ और किस कारण किस समय समाप्त हो गया। यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि किसी वस्तु व उसके गुण मे कोई अन्तर नही है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वह पदार्थ, उस पदार्थ की क्षमता अथवा गुण और उसके अस्तित्व का गुण, ये तीनो एक ही हैं। (अर्थात् वस्तु की स्थिति ही उसका काल है और उसके गुण धर्म द्वारा ही उस वस्तु की सत्ता का अस्तित्व है)। जब हम किसी वस्तु की स्मृति करते हैं तब हम यह नही जानते कि यह किस भूत-

कालिक समय मे रही थी। हम इसको उसी अवस्था में जानते है जिस समय उस अवस्था में यह विद्यमान थी। हम पूर्ववर्ती वासनाओं की ओर कोई ध्यान नही देते है जैसा कि वैभाषिक बताते है। लेकिन ये वासनाएँ अपनी अस्पष्ट छाप छोड जाती हैं। इसके कारण वर्तमान मे नई वासनाओं का जन्म होता है।[1]

वसुबधु ने अभिधर्मकोष में आत्मा की स्थिति के सम्वन्ध में प्रकाश डाला है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से हमें वत्सीपुत्रीय और सर्वास्तिवादी मतों की एक झलक मिल सकती है। वसुबन्धु के अनुसार यह सत्य है कि इन्द्रियों के द्वारा हमे प्रकृति का ज्ञान होता है परन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि आत्मा की कोई स्थिति है। यदि आत्मा वास्तविक रूप में विद्यमान है तो पंचभूतों से अथवा व्यक्तिगत जीवन की सत्ता से इसका अलग अस्तित्व होना चाहिए। फिर यदि कोई अनन्त अपरिवर्तनशील और जिसकी उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है ऐसी कोई वस्तु है भी, तो वह अर्थहीन है क्योंकि उसकी कोई व्यावहारिक क्षमता नही हो सकती (अर्थ क्रियाकारित्व) जिसके कारण ही किसी वस्तु के अस्तित्व का पता हमें चलता है। अतः आत्मा का अस्तित्व नाम मात्र के रूप में है। यह केवल शाब्दिक प्रयोग है। आत्मा नाम की कोई वस्तु नही है। केवल व्यक्तिगत जीवन के कुछ तत्त्व अवश्य हैं। इसके विपरीत, वत्सीपुत्रियो के अनुसार अग्नि जव काष्ठ को जलाती है तव यह भेद करना कठिन है कि जलता हुआ काष्ठ अग्नि से भिन्न है परन्तु अग्नि का अपना स्वयं एक अस्तित्व है जो काष्ठ से अलग है। इसी प्रकार आत्मा का भी स्वतंत्र अस्तित्व है। इसका अलग व्यक्तित्व है। यद्यपि व्यक्तिगत जीवन के तत्त्वो से प्रभावित होने के कारण इसका अस्तित्व व्यक्तिगत तत्त्वो से किस प्रकार पूर्णतः अलग निकाल कर देखा जाए यह कठिन है इसीलिए यह जीवन तत्त्वों से भिन्न है या अभिन्न इसकी विशिष्ट परिभाषा करना कठिन है। लेकिन इसके अस्तित्व से इन्कार नही किया जा सकता। किसी भी कार्य के लिए यह आवश्यक है कि उस कार्य को करने वाला कोई कर्ता होना चाहिए। उदाहरण के लिए "देवदत्त चलता है" इस वाक्य में। इसी प्रकार किसी वस्तु का संज्ञान भी एक क्रिया है। उसके होने के लिए यह आवश्यक है कि संज्ञान का कर्ता भी कोई हो जिसको कि यह ज्ञान होता है। इस प्रकार ज्ञान और जिसको यह ज्ञान होता है ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं। इस तर्क का उत्तर वसुवधु इस प्रकार देते हैं। देवदत्त (व्यक्ति विशेष का नाम) का एक इकाई के रूप मे अस्तित्व नही है। यह क्षणिक शक्तियों के अनन्त प्रवाह का एक क्षण है (जो अस्तित्व के रूप में प्रकट होता है) जिसको साधारण लोग (अज्ञानी) एकात्मक सत्ता के रूप में मानते हुए देवदत नाम रख देते हैं। 'देवदत्त चलता है' उनका यह विश्वास अपने अनुभव के आधार पर अनुवन्धित (कन्डीशन्ड) है व कृत्रिम साम्यानुमान के कारण है। परन्तु उनके स्वय के जीवन का प्रवाह एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर गतिशील है।

---

1 उपर्युक्त संदर्भ मे पेट्रोग्राड निवासी प्रो० श्चेरवात्स्की द्वारा अनुवादित अभिधम्मकोप के आधार पर विवरण दिया गया है जो अभी तक अप्रकाशित है। इसके प्रयोग की अनुमति के लिए मैं प्रोफेसर महोदय का आभारी हूँ।

यह गतिशीलता एक शाश्वत अस्तित्व के रूप में समझी जाती है लेकिन वस्तुत विभिन्न स्थानो मे हर बार हुई नवीन उत्पत्तियों की एक शृंखला या सातत्य मात्र है। इस प्रकार 'अग्नि जलती है' अथवा 'फैलती है' जैसे पदो से विभिन्न अस्तित्वो के एक प्रवाह का अर्थ होता है (नए स्थानो पर नई उत्पत्तियो का प्रवाह)। इसी प्रकार यह पद कि 'देवदत्त देखता है' केवल इस तथ्य का सूचक है कि यह सज्ञान वर्तमान के इस क्षण मे होता है जिसका एक कारण है जो पूर्ववर्ती क्षणो मे उत्पन्न होता है और इन पूर्वकालिक क्षणो के एक दूसरे के निकट प्रवाह के रूप में आने के कारण उस सज्ञान के कारण को देवदत्त सज्ञा दी जाती है।

स्मृति की समस्या से भी कोई कठिनाई नही होती। चेतना का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। जिस वस्तु का ध्यान किया जाता है उसके सम्बन्ध मे पूर्वज्ञान होने से उसकी स्मृति-चेतना जागृत होती है। यह चेतना उस ओर ध्यान देने की अवस्था और चेतना को नष्ट करने वाले दूसरे तत्त्वों के न होने पर निर्भर है जैसे शरीर मे कष्ट, शूल आदि। स्मृति के व्यापार के लिए किसी अन्य कारक अथवा अभिकर्ता की आवश्यकता नही है। इस स्मृति के लिए केवल मस्तिष्क की उचित अवस्था की आवश्यकता है। जब भगवान् बुद्ध ने अपने जीवन और जन्म के सम्बन्ध मे कथाएँ सुनाते हुए कहा कि अमुक जन्म मे वे अमुक रूप मे थे तब उनका तात्पर्य यह था कि विभिन्न जन्मो में उनका अस्तित्व विभिन्न क्षणिक अस्तित्वों के एक ही प्रवाह का सातत्य था अर्थात् उनके वर्तमान और पहले हुए जन्मो की शृंखला एक थी। जब हम यह कहते हैं कि अग्नि जलते हुए इस वस्तु तक पहुँच गई है तभी हम यह जानते हैं कि अग्नि दो स्थानों पर एकसी नहीं है। अलग-अलग दो क्षणों मे इसका अस्तित्व अलग-अलग है परन्तु फिर भी वास्तविकता मे हम इस अन्तर की ओर ध्यान नही देते और हम यह मानते हैं कि इन दोनों मे कोई अन्तर नही है, यह वही अग्नि है और यही वास्तविक सत्य है। इसी प्रकार से हम जब किसी एक व्यक्ति के बारे में कुछ कहते हैं तो उस व्यक्ति को हम उसके जीवन के विभिन्न क्रियाओं के प्रवाह से ही पहिचानते हैं। जैसे "यह भद्र पुरुष, जिसका यह नाम है, जो अमुक जाति, अवस्था या परिवार का व्यक्ति है, ऐसे भोजन व ऐसे कार्यों मे रुचि लेता था जो इस अवस्था मे मर जाएगा।" केवल उसके नाम धाम आदि के वर्णन से हम व्यक्ति विशेष को जान सकते हैं लेकिन वास्तविक व्यक्ति से हमारा कोई प्रत्यक्ष परिचय नही होता। जो कुछ हम देखते हैं वे रूप, अनुभव आदि के क्षणिक तत्त्व होते हैं और ये तत्त्व आगे आने वाले तत्त्वों पर प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार एक व्यष्टि या इकाई का अस्तित्व तो केवल नाम मात्र का अस्तित्व है; कल्पना की वस्तु है, जिससे वास्तविकता मे कोई परिचय नही है। इस व्यक्ति को इन्द्रियों से अथवा बुद्धि के व्यापार से नहीं माना जा सकता हम केवल वाह्य आवरण को पहचानते हैं। दूसरे क्षेत्रों से उदाहरण लेने से यह स्पष्ट हो जाता है। जैसे हम दूध नाम की सज्ञा का प्रयोग करते हैं तब हम रूप रस आदि के गुणो के वर्णन द्वारा ही दूध को समझते हैं। वह वस्तु जिसका क्षणिक रूप से अस्तित्व है वह केवल रग, रूप और रस हैं उन सबके समुदाय को दूध का नाम देना कल्पना मात्र ही है। "जिस प्रकार दूध व जल रूप,

रस, गन्धादि के तत्त्वो के समुच्चय की केवल संज्ञा मात्र है इसी प्रकार व्यक्ति भी एक संज्ञा मात्र है जो विभिन्न तत्त्वों के समुच्चय मात्र का वोध कराती है।"

वुद्ध ने इसीलिए इस प्रश्न को कभी सुलझाने का प्रयत्न नही किया कि जो जीवन तत्त्व है वह शरीर से भिन्न है अथवा एक ही है क्योंकि किसी जीवित सत्ता का व्यक्ति या अलग इकाई के रूप मे कोई अस्तित्व नही है जैसा कि सामान्यतः माना जाता है। किन्तु उसने यह भी नही कहा कि प्राणी का कोई अस्तित्व नहीं है क्योंकि तव प्रश्नकर्ता यह समझता कि जीवन के तत्त्वों के सातत्य का भी कोई अस्तित्व नही माना जा रहा। वास्तविक सत्य यह है कि यह जीवित अस्तित्व नित्य परिवर्तन होते हुए कुछ तत्त्वों के योग का परम्परागत नाम ही है।[1]

सम्मितीय शाखा की पुस्तक सम्मितीय शास्त्र का अनुवाद चीनी भापा मे सन् 350 से 431 के वीच में हुआ है। इस शाखा का और कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है और सम्भवतः इस शाखा का मूल ग्रन्थ अव लुप्त हो गया है।[2]

दीपवंश के पाँचवें अध्याय 47वें पृष्ठ के आधार पर तकाकुसु ने वताया है कि

---

1. प्रो० श्चेरवात्स की (वुलेटिन दे ल अकादमी दे साइंस दे रूसे, 1919) ने अभिधर्मकोप के आठवें अध्याय के एक विशिष्ट परिशिष्ट का अनुवाद किया है। इस परिशिष्ट का नाम "अष्टमकोशस्थाननिवद्ध. पुद्गलविनिश्चयः" है। उपर्युक्त वर्णन इस परिशिष्ट के आधार पर है।

2 प्रो० डीला वेल्ली पूर्सी ने इस सिद्धान्त के ऊपर एक लेख सम्मितीय शाखा के ऊपर लिखा है (ई आर. ई)। उसमे उन्होंने वताया है कि 'अभिधम्मकोश व्याख्या' में सम्मितीय और वात्सीपुत्रीय शाखाओ को एक ही माना गया है। वैभाषिकों ने इनके दर्शन के वहुत से शास्त्रो को आगे चलकर अपना लिया था। इनके दर्शन के कुछ विचार इस प्रकार है : (1) जिस अर्हत को निर्वाण प्राप्त हो गया है वह पदच्युत भी हो सकता है। (2) मृत्यु और पुनर्जन्म के वीच में एक अवस्था है जिसको अन्तराभव कहते हैं। (3) पुण्य केवल त्याग से ही प्राप्त नही होता (त्यागान्वय)। परन्तु प्राप्त हुई वस्तुओं के उपयोग तथा लाभ आदि से प्राप्त होता है (परिभोगान्वयपुण्य)। (4) अशुभ कर्मों के न करने से ही अथवा केवल संयम से ही पुण्य प्राप्त नही होता परन्तु ऐसा करने की इच्छा मात्र से और उस निश्चय की घोपणा मात्र से भी पुण्य की प्राप्ति होती है। (5) उनके अनुसार पुद्गल (आत्मा) स्कन्धों से भिन्न एक वस्तु है। पुद्गल को अनित्य नही कहा जा सकता लेकिन स्कन्ध अनित्य हैं क्योंकि ये अपने भार को एक स्थान पर छोडकर दूसरा भार ग्रहण करने के लिए पुनर्जन्म लेते रहते हैं। इनको नित्य इसलिए नही कहा जा सकता कि ये तत्त्व क्षणिक हैं। सम्मितीय शाखा के पुद्गल सिद्धान्त की जो व्याख्या की गई है वह गुणरत्न की शाखा से मेल नही खाती।

वैभाषिक और सर्वास्तिवादी लगभग एक ही शाखा के नाम हैं। थेरवाद दर्शन की एक शाखा महीशासक की प्रशाखा के अन्तर्गत वैभाषिक अथवा सर्वास्तिवादी माने जाते हैं।

कथावत्थु के आधार पर हमे पता चलता है (1) सव्वात्थिवादी (सर्वास्तिवादी) यह विश्वास रखते थे कि प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व है। अर्हत् तत्त्व का उदय एक क्षणिक आन्तरिक प्रकाश की चमक नही है वरन् इसकी प्राप्ति के लिए शनै शनै सतत प्रयत्न करना पडता है। (2) ज्ञान अथवा समाधि एक प्रवाह है। (3) यह सम्भव है कि अर्हत् अपने पद से पथभ्रष्ट हो जाए अथवा वह निम्न श्रेणी को प्राप्त हो जाए।[1] थेरवाद दर्शन के अभिधर्म्म साहित्य से सर्वास्तिवादियो के अभिधर्म साहित्य मे जो चीनी भाषा के अनुवादो मे मिलता है, काफी भिन्नता है।[2] सर्वास्तिवादियों के लिए ये ग्रन्थ इस प्रकार हैं (1) कात्यायनीपुत्र द्वारा लिखित ज्ञान प्रस्थान शास्त्र जिसका कालान्तर मे नाम महाविभाषा हुआ। जो सर्वास्तिवादी इस ग्रन्थ को मान्यता देते हैं वे वैभाषिक के रूप मे जाने जाते हैं।[3] इस ग्रन्थ को साहित्य का स्वरूप अश्वघोष ने दिया। (2) शारिपुत्र द्वारा लिखा हुआ धर्म-स्कन्ध। (3) पूर्ण लिखित धातुकाय। (4) प्रज्ञप्तिशास्त्र (प्रज्ञप्तिशास्त्र) लेखक मौद्गल्यायन। (5) विज्ञानकाय लेखक देवक्षेम। (6) सगीति पर्याय लेखक शारिपुत्र एव प्रकरणपाद लेखक वसुमित्र। वैभाषिक[4] दर्शन के ऊपर वसुबंधु (420 से 500) ने पद्यो मे एक कारिका ग्रथ लिखा जिसका नाम अभिधर्मकोष है। इस ग्रन्थ के साथ उन्होंने एक टीका भी सम्मिलित की जिसको "अभिधर्मकोष-भाष्य" के नाम से जाना जाता है इसमे वैभाषिक शाखा और सौत्रातिक शाखा के मतों मे कुछ विभेदो का उल्लेख किया गया है।[5]

---

1 मिसेज राइज डेविड्स के द्वारा किया हुआ कथावत्थु का अनुवाद देखिए, पृ० स० 19 और उपखड 1/6/7, दूसरा अध्याय 9 और 11वा अ० उपखड 6।

2 सर्वास्तिवाद के लिए 'महाव्युत्पत्ति' ग्रन्थ दो नाम देता है—(1) मूल सर्वास्तिवाद (2) आर्य सर्वास्तिवाद। इत्सिग (सन् 671 से 695 ई०) आर्य मूल सर्वास्तिवाद और मूलसर्वास्तिवाद का उल्लेख करते हैं। उनके समय मे ये दर्शन, मगध, गुजरात सिंध, दक्षिण भारत और पूर्व भारत मे पाया जाता था। डा० तकाकुसु महोदय कहते हैं—(पी० टी० एस० 1904 और 1905) मे परमार्थ ने वसुबधु की जीवनी के सम्बन्ध मे लिखते हुए उल्लेख किया है कि वसुभद्र नामक बौद्ध भिक्षु ने काश्मीर में अध्ययन किया और वहाँ से इसका प्रचार मध्य भारत तक हुआ।

3 तकाकुसु (पी० टी० एस० 1904-1905) कहते हैं कि कात्यायनी पुत्र का ग्रन्थ सम्भवत अन्य विभाषा ग्रन्थो का सकलन मात्र है। ये विभाषा ग्रन्थ चीनी अनुवाद और 383 सन् मे प्राप्त होने वाले विभाषा शास्त्रो से पूर्वतर होने चाहिए।

4 ताकाकुसु का लेख रोयल एशीयाटिक सोसायटी के 1905 के जरनल मे देखिए।

5. वैभाषिक अभिधर्म्म ग्रन्थो को सौत्रातिक मान्य नही समझते थे। वे सुत्तपिटक में दिए हुए सुत्तत (सूत्रान्त) सिद्धान्तो के ऊपर बल देते थे।

इस शास्त्र की व्याख्या वसुमित्र और गुणमति ने की और उसके पश्चात् यशोमित्र ने इसकी टीका लिखी जो स्वयं सौत्रांतिक थे और उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम 'अभिधर्मकोष-व्याख्या' रखा। वसुवंधु के समकालीन संघभद्र ने 'समय प्रदीप' एवं 'न्यायानुसार' वैभाषिक दर्शन के सिद्धान्तों के अनुसार लिखे इनके अनुवाद चीनी भाषा में उपलब्ध है।

इनके अतिरिक्त अन्य वैभाषिक लेखकों का वर्णन मिलता है जैसे धर्मवात घोषक, वसुमित्र और भदन्त जिन्होंने 'सम्म्युत्त अभिधर्मशास्त्र' और 'महाविभाषा' ग्रन्थ लिखे है। दिङ्नाग (सन् 480) अपने युग के प्रसिद्ध तार्किक थे। ये वैभाषिक अथवा सौत्रांतिक मत को मानने वाले थे और वसुवन्धु के ख्यातिप्राप्त शिष्यों में से एक थे। इन्होंने 'प्रमाण समुच्चय' नाम का ग्रन्थ लिखकर बौद्ध सिद्धान्तों की व्याख्या की और न्याय सूत्र के भाष्य-कार वात्सायन के मत का खंडन किया लेकिन खेद यह है कि इनमें से कोई भी ग्रन्थ संस्कृत मे नहीं मिलता। इन ग्रन्थों का अनुवाद चीनी अथवा तिब्बती भाषा से किसी भी पाश्चात्य अथवा भारतीय भाषा में नही किया जा सका है।

प्रसिद्ध जापानी विद्वान् यामाकामी सोजिन ने जो कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे *सव्वात्थिवादी सिद्धान्तों का वर्णन चीनी ग्रन्थों के आधार पर किया है।* उन्होंने अभिधम्मकोष और महाविभाषा शास्त्र का चीनी भाषा में अध्ययन किया है।[1] इनके द्वारा प्रस्तुत वर्णन के आधार पर इन सिद्धान्तों की रूपरेखा संक्षेप मे इस प्रकार से है।

सव्वात्थिवादी निम्न तत्त्वो को स्वीकार करते हैं: पंचस्कन्ध, बारह आयतन, अठारह धातु, तीन असंस्कृत धर्म-प्रति-सांख्य-निरोध, अप्रतिसांख्य निरोध एवं आकाश, और संस्कृत धर्म (वे तत्त्व जो एक दूसरे पर निर्भर या यौगिक हैं) जैसे रूप, प्रकृति तत्त्व, चित्त, चैत्त (चित्त सम्वन्धी) और चित्त-विप्रयुक्त (जो चित्त से सम्वन्ध नहीं रखते)।[2] सारी घटनाएँ अनेक कारणों के योग (संस्कृत) से घटित होती हैं। पाँच स्कन्ध-रूप, चित्त आदि संस्कृत धर्म कहे जाते हैं क्योकि इनका एक दूसरे से मूल सम्वन्ध है (संभूयकारी)। रूप, धर्म, संख्या मे ग्यारह हैं। चित्त धर्म एक है। चैत्त धर्म छियालीस और चित्त-विप्रयुक्त संस्कार धर्म (चित्त से सम्वन्ध न रखने वाली यौगिक वस्तुएँ) चौदह हैं। इनमें तीन असंस्कृत धर्म जोड़ने से 75 धर्म जाने जाते हैं। रूप वह है जिन पर इन्द्रिय चेतनाओं का संघात होता है। रंग, गंध, स्पर्श एवं रस इन चार तत्त्वो से मिलकर बनी हुई अगीय संरचना, रूप अथवा प्रकृति (द्रव्य उपादान) के रूप मे मानी गई है। सरल शब्दो मे रूप वह जड़ उपादान है जो रूप, रंग, रस, गध, स्पर्श आदि के संयोग से बना हुआ है। इन चारों वस्तुओ के योग से बनी हुई इकाई के परमाणु को विभाजित नही किया जा सकता न इसको अलग किया जा सकता है, न इसको फेंका जा सकता है। यह अविभाज्य है,

---

1. सिस्टम्स ऑव बुद्धिस्टिक थॉट : कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित।
2. शंकर ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य (2) में सर्वास्तिवादियो के सिद्धान्त का संकेत करते हुए, सोजिन द्वारा सूचित कुछ तत्त्वों का उल्लेख किया है।

इसका विश्लेषण नही हो सकता । इसको देखा या सुना नही जा सकता । यह स्वादहीन है एव अमूर्त है । लेकिन यह फिर भी स्थायी नही है । एक क्षणिक चमक के समान इसका अस्तित्व क्षणिक है । साधारण अग द्रव्य परमाणु कहलाते हैं और यौगिक सघात परमाणु कहलाते है । प्रो० श्चेरवात्स्की के अनुसार "द्रव्य के व्यापक तत्त्व उनकी क्रियाओं मे अथवा कार्यों में स्पष्ट होते है अत इनको द्रव्य के स्थान पर ऊर्जा कहना अधिक उचित होगा ।" चेतना की इन्द्रियाँ भी अणु तत्त्व के आधार पर वनी हुई मानी गई हैं । सात परमाणुओ से मिलकर एक अणु वनता है और इन परमाणुओ के मिलने पर जो अणु वनता है केवल उसे ही देखा जा सकता है । यह योग ऐसे समूह के रूप मे वनता है जिसमे एक अणु केन्द्र मे एवं अन्य अणु उसके चारो ओर होते हैं । इन द्रव्य उपादानो के सम्वन्ध मे यह वात याद रखने की है कि महाभूतो के सारे गुण परमाणुओ मे निहित हैं । प्रत्येक तत्त्व मे सभी महाभूतो के गुण जैसे तरलता, उष्णता, प्रवाह और ठोस जडता विद्यमान रहती है जो क्रमश जल, अग्नि, वायु और पृथ्वी की विशेषता है । विभिन्न तत्त्वो मे केवल इतना ही अन्तर है कि इनमे से प्रत्येक मे कोई एक गुण विशिष्ट होता है और अन्य गुण अज्ञात रूप मे विद्यमान रहते हैं । सभी द्रव्यो का एक दूसरे से प्रतिरोध इसलिए रहता है, क्योकि सभी तत्त्वो में पृथ्वी तत्त्वों का ठोसपन विद्यमान है । एक दूसरे से पारस्परिक आकर्षण का कारण जल तत्त्व की तरलता है आदि आदि । इन चार भूतों को तीन दृष्टियों से देखना चाहिए (1) वस्तु विशेष के रूप मे (2) उनके गुण अथवा प्रकृति की दृष्टि से (जैसे चलत्व अथवा तरलता आदि) । (3) उनकी क्रिया जैसे धृति अथवा आकर्षण, सग्रह अथवा मेल, पक्ति अथवा रासायनिक ऊष्मा और व्यूहन (समूह मे एकत्रित होना) । ये अन्य अवस्थाओ अथवा कारणो के कारण स्वाभाविक रूप से एकत्रित होते है । वैभाषिक सर्वास्तिवादियों मे और वौद्ध दर्शन के अन्य मतो मे विशेष अन्तर यह है कि सर्वास्तिवादी पच स्कन्ध और द्रव्यो को शाश्वत और स्थायी मानते हैं । वे क्षणिक केवल इस दृष्टि से माने जाते हैं कि वे अपने स्वरूप का निरतर परिवर्तन करते रहते हैं क्योंकि इनके विभिन्न सयोग वनते रहते हैं । अविद्या प्रतीत्यसमुत्पाद की कारण-शृखला की एक कडी के रूप मे नहीं मानी जाती है । यहाँ यह अज्ञान व्यक्ति विशेष का नही माना जाता वरन् यह अज्ञान मोह का ही अग माना जाता है जिसके अन्तर्गत यह मोह प्रकृति की एक अन्तिम दशा के रूप में माना गया है । यह अविद्या जो व्यक्ति विशेष मे सस्कारों के माध्यम से नाम रूप की उत्पत्ति करती है उसके वर्तमान अस्तित्व मे उत्पन्न अविद्या नही परन्तु पूर्ववर्ती अस्तित्व की अविद्या है जिसका फल वर्तमान मे मिलता है ।

"कारण तत्त्व का कभी नाश नहीं होता । केवल इसके नाम मे (सज्ञा) मे परिवर्तन हो जाता है जव यह कारण से अपनी स्थिति को वदल कर क्रिया वन जाता है ।" उदाहरण के लिए मिट्टी से घडा वन जाता है और इस दशा के परिवर्तन-स्वरूप मिट्टी नाम का लोप होकर घडा (घट) नाम की उत्पत्ति हो जाती है ।[1] कारण और कार्य के एक साथ रहने

---

1 यह उद्धरण माध्यमिक शास्त्र अध्याय 20 कारिका 9 की टीका जो आर्यदेव ने लिखी है उसके चीनी अनुवाद मे सोजिन महोदय द्वारा उद्धृत है ।

की स्थिति को सर्वास्तिवादी केवल उन वस्तुओं के लिए मानते थे जो समयौगिक या संश्लिष्ट वस्तुएँ है (सम्प्रयुक्त हेतु) और उन अवस्थाओं में मानते थे जिसमें चेतन और पार्थिव पदार्थों की एक दूसरे पर प्रतिक्रिया होती है। चेतना (विञ्ज्ञान) का मूल आभ्यन्तर तत्त्व स्थायी वस्तु माना जाता था और पंचेन्द्रियों की सामूहिक चेतना के रूप में समझा जाता था जो सभी वस्तुओं का संज्ञान प्राप्त करता है। यह स्मृति में रखने योग्य है कि इन्द्रियाँ पार्थिव होने के कारण उनका एक स्थायी मूल आन्तरिक स्तर अलग से माना जाता था और उनके द्वारा उद्‌भूत चेतनाओं के समूह का स्तर भी भिन्न था।

दृष्टि-चेतना, चार मुख्य रंग एवं उनके मिश्रणों को ग्रहण करती है। ये चार रंग नीला, पीला, लाल और श्वेत है। इसके अतिरिक्त वाह्य दृष्टि से पहिचाने जाने वाले पार्थिव रूप को भी ग्रहण करती है जिसे संस्थान की संज्ञा दी है। यह वाह्य रूप लम्बा, छोटा, गोल, चौकोर, ऊँचा, नीचा, सीधा, टेढ़ा आदि पार्थिव रूप है। स्पर्श चेतना (कायेन्द्रिय) भी चार तत्त्वों (भूतों) से बने पदार्थों के सस्पर्श मे आती है। यह हल्का, भारी, नरम, कड़ा, साफ, खुरदरा, भूख व प्यास की चेतना को ग्रहण करती है। यह गुण, इन्द्रिय संवेदना वाले व्यक्तियों मे भूख प्यास आदि के द्वारा उत्पन्न अनुभूतियों को प्रकट करती है। जव वायु का अन्य शक्तियों के ऊपर प्राधान्य होता है तब शरीर मे हुई उत्तेजना के फलस्वरूप भूख की अनुभूति होती है और जब अग्नि अथवा तेज का प्राधान्य होता है तव प्यास की अनुभूति होती है। इन्द्रियाँ वाह्य पदार्थों की चेतना को ग्रहण करने के पश्चात् विञ्ज्ञान की उत्पत्ति करती हैं। पंचेन्द्रियों के माध्यम के बिना पंच विज्ञान बाह्य वस्तुओ को देखने मे असमर्थ रहते है। इन्द्रियों का तत्त्व पार्थिव है। प्रत्येक इन्द्रिय के दो उप भाग हैं जिनको मुख्य चेतना एवं गौण चेतना के रूप में कह सकते हैं। मुख्य चेतना परमाणुओं के योग के आधार पर स्थित है। ये परमाणु शुद्ध एवं सूक्ष्म रूप में रहते हैं। गौण चेतना का आधार स्थूल शरीर एवं अन्य पदार्थ हैं। ये पंच चेतनाएँ एक दूसरे से आण्विक योग से वने हुए पदार्थों के स्वरूप, गुण धर्मादि के आधार पर विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करती हैं। चेतना का जितना व्यापार है उसमें जैसे ही एक क्रिया सम्पूर्ण होती है उस चेतना की सूक्ष्मतम छाप हमारे व्यक्तित्व पर अंकित हो जाती है जिसे हम अविज्ञप्ति रूप कहते हैं। इसको रूप इसलिए कहते हैं कि यह रूप सम्पर्क का फल है (रूप विशेष से संसर्ग मे आने का फल है)। इमको अविज्ञप्ति इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह गुप्त और (निगूढ) अचेतन रूप से स्थित है। यह गुप्त शक्ति आगे पीछे चलकर कर्म फल के रूप में अपने आपको प्रकट करती है और इस प्रकार यह कर्म के कारण और क्रिया को मिलाने वाली संधि है। इस दर्शन के अनुसार कर्म दो प्रकार का माना जाता है—कर्म का मानसिक विचार (चेतन कर्म) और तदनुकूल वास्तविक क्रिया (चैतसिक कर्म)। यह चैतसिक कर्म पुन. दो प्रकार का होता है—(1) जो स्थूल शरीर की क्रिया के द्वारा सम्पादित होता है (कायिक कर्म) और (2) जो वचन द्वारा किया जाता है (वाचिक कर्म)। ये दोनों कर्म गुप्त और प्रकट दोनों प्रकार से हो सकते है जिन्हे विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति संज्ञा दी गई है। पहले को कायिक विज्ञप्ति कर्म और कायिक अविज्ञप्ति कर्म तथा दूसरे को वाचिक विज्ञप्ति कर्म

और वाचिक अविज्ञप्ति कर्म कहते हैं। अविज्ञप्ति रूप और अविज्ञप्ति कर्म को हम आधुनिक भाषा मे अर्ध-चेतन (अवचेतन) विचार, अनुभूति एव क्रिया कहते हैं। प्रत्येक चेतन अनुभूति, वेदना, विचार अथवा क्रिया के साथ-साथ ही उसी प्रकार की अवचेतन स्थिति है जो भविष्य के विचारो और क्रिया के रूप मे प्रकट होती है। क्योकि ये अवचेतन सस्कार गुप्त रहते हैं इसलिए इनको अविज्ञप्ति कहते हैं यद्यपि ये सस्कार उसी से मिलते-जुलते होते हैं जिनको हम जानते हैं।

वसुबन्धु महोदय कहते हैं इसे चित्त की सज्ञा इसलिए दी गई है कि यह कर्म करने का सकल्प करता है (चेतति)। मानस सज्ञा इसलिए दी है कि वह करता है—(मन्वते) और विज्ञान इसलिए कि यह वस्तुओ के अन्तर का बताता है (निर्दिशति)। यह निर्देश अथवा विभेद इसलिए हो सकता है (1) स्वभाव निर्देश (स्वाभाविक रूप मे वस्तुओ को देखकर उनके अन्तर को जानना)। (2) प्रयोग निर्देश (वर्तमान, भूत और भविष्य के सम्बन्ध मे वास्तविक जानकार प्रयोग द्वारा रूप मे विभेद करना विवेक करना।) (3) अनुस्मृति निर्देश (भूत के सम्बन्ध मे स्मृति के आधार पर विवेक करना।) इन्द्रियों द्वारा केवल स्वभाव निर्देश सम्भव है। अन्य दो निर्देश मनोविज्ञान के क्षेत्र मे आते हैं। प्रत्येक विज्ञान अपनी विशेप चेतना के द्वारा वस्तु विशेप के सम्बन्ध मे विवेक करता है और उसके सामान्य गुण कर्म को पहिचानता है। इन 6 विज्ञानों के योग से विज्ञान-स्कन्ध बनता है जो मन का स्वामी है। चैत्त सस्कृत धर्म 46 हैं। 3 असस्कृत धर्मो मे आकाश, बन्धन से मुक्ति को देने वाला तत्त्व है और यह स्थायी, सर्वत्र व्याप्त और अपार्थिव तत्त्व है। (निरूपाख्य, अरूप)। दूसरे असस्कृत धर्म अप्रतिसख्यानिरोध का अर्थ है कि प्रत्ययों (गुण अथवा अवस्था) की अनुपस्थिति मे दूसरे कर्मो का ज्ञान नही होना। जैसे यदि किसी एक वस्तु पर एकाग्रतापूर्वक ध्यान देने से अन्य वस्तुएँ दिखाई नहीं देती तो इसका कारण यह नही है कि वे विद्यमान नहीं हैं परन्तु कारण यह है कि उन स्थितियो का लोप हो जाता है जिनके कारण वह दिखाई देती है। तीसरा असस्कृत धर्म प्रतिसख्या-निरोध है जिसका अर्थ है बन्धन से अन्तिम मुक्ति। इसका मुख्य गुण स्थायित्व है। यह शाश्वत अवस्था है। इन धर्मो को असस्कृत इसलिए कहते हैं क्योंकि इनका रूप निपेधात्मक है। ये सस्थिति रहित होते हैं अत इनकी उत्पत्ति एव विलीनता का पता नहीं चलता। इस स्थिति के लिए निम्न 8 गुण आवश्यक हैं। सम्यक् विचार, सम्यक् अभिलाषा, सम्यक् भाषा, सम्यक् आचरण, सम्यक् जीवन, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् चित्त और सम्यक् आनन्द।[1]

---

1 सोजिन महोदय एक बौद्ध हीनयान विचारक का उल्लेख करते हैं जिनका नाम हरिवर्मा है जो सन् 250 के आस-पास हुए हैं। इन्होंने सत्य सिद्धि शाखा की स्थापना की और उन्ही सिद्धान्तो का प्रचार किया जिनका उपदेश नागार्जुन ने किया था। इनके कोई भी ग्रन्थ सस्कृत में उपलब्ध नहीं हैं परन्तु सस्कृत लेखकों ने उनके नाम का उद्धरण यत्र तत्र किया है।

महायान शाखा

यह कहना कठिन है कि महायान शाखा का प्रारम्भ कब हुआ लेकिन यह अनुमान किया जाता है कि थेरवाद शाखा से जब महासघिक शाखा अलग हुई उस समय ये शाखाएँ 8 विभिन्न दर्शनों मे बंट गई। सभवतः इसी युग में महायान दर्शन का सूत्रपात हुआ। महायान दर्शन के अनेक ग्रन्थ पहली शताब्दी में लिखे हुए मिलते है। इससे पूर्व ईसा पूर्व तीसरी चौथी शताब्दी में लिखे हुए ग्रन्थ मिलते हैं। ईसा से शताब्दी पूर्व थेरवाद और महासघिक शाखाएँ अलग हुई थी। ये ग्रन्थ जो महायान सूत्र और वैपुल्य सूत्र नामों से जाने जाते है बुद्ध द्वारा दिए हुए उपदेशों मे मिलते है। इन सूत्रो के संकलनकर्ता अथवा लेखकों का कोई पता नही चलता है। ये ग्रन्थ सभी संस्कृत में लिखे हुए हैं और संभवत. उन विद्वानो ने लिखे होगे जो थेरवाद शाखा से अलग हुए।[1]

थेरवाद दर्शन की शाखाएँ हीनयान के नाम से सम्बोधित की गई है। इस प्रकार हीनयान महायान से विपरीत है। इन शब्दो का साधारण अर्थ छोटा वाहन है—हीन=छोटा, यान=गाड़ी और बडे वाहन के रूप मे महा=बडा, यान = गाड़ी। लेकिन इन शब्दों से हीनयान और महायान शब्दों की व्याख्या नही होती।[2] असग (सन् 480) अपने ग्रन्थ

---

1. इन सूत्रों के उद्धरण नागार्जुन द्वारा लिखी हुई माध्यमिक कारिका की चन्द्रकीर्ति द्वारा लिखी हुई टीकाओं में मिलते है। जिनमें से मुख्य ये है–(1) अप्टसाहस्त्रिका-प्रज्ञापारमिता (चीनी भाषा में अनुवाद सन् 164, 167 ई० में हुआ)। (2) शतसाहस्त्रिका-प्रज्ञापरिमिता, गगनगंजा, समाधि सूत्र, तथागत गुह्य सूत्र, दृढाध्याशय-सचोदना सूत्र, ध्यायितमुष्टि सूत्र, पितापुत्रसमागम सूत्र, महायान सूत्र, मारदमन सूत्र रत्नकूट सूत्र, रत्नचूडापरिपृच्छा सूत्र, रत्नमेघ सूत्र, रत्नराशि सूत्र, रत्नाकर सूत्र, राष्ट्रपालपरिपृच्छा सूत्र, लकावतार सूत्र, ललितविस्तर सूत्र, वज्रछेदिका सूत्र, विमलकीर्ति निर्देश सूत्र, शालिस्तम्भ सूत्र, समाधिराज सूत्र, सुखावतीव्यूह, सुवर्ण-प्रभास सूत्र, सद्धर्मपुण्डरीक (चीनी भाषा मे सन् 255 मे अनुवादित) अमितायुर्-ध्यान सूत्र, हस्तिकाख्य सूत्र आदि।

2. यान शब्द का अनुवाद साधारण रूप से वाहन के रूप मे किया गया है परन्तु इस सम्बन्ध में अनेक प्रसंगो और संदर्भों को देखने से पता चलता है कि इसका अर्थ मार्ग अथवा वृत्तांत है (देखिए ललितविस्तर, पृ० 25, 38, प्रज्या परिमिता, पृ० 24, 319, समाधिराजसूत्र पृ० 1, करूणापुण्डरीक, पृ० सं० 67, लकावतारसूत्र, पृ० 68, 108, 132) यह शब्द यान उपनिषदों में भी पाया जाता है, जहाँ देव-यान, पितृयान शब्दों को पाते हैं। फिर उससे विभिन्न अर्थ मे यहाँ यान शब्द को क्यो लिया जाए इसका कोई प्रमाण नही है। लकावतार मे श्रावकयान (श्रावक वृत्तांत) प्रत्येक बुद्धयान (बुद्ध के जन्म के पूर्व सतों की कथा), बुद्धयान (बुद्धो का वृत्तांत) एकयान (एक वृत्तांत) देवयान (देवताओ का आख्यान) ब्रह्मयान (ब्रह्मा

महायान सूत्रालकार में महायान एवं हीनयान सज्ञाओ के सम्बन्ध मे निर्देश करता है। उसके अनुसार उपदेश, प्रयत्न, निर्वाण और काल के दृष्टिकोण से हीनयान का स्थान महायान मे निम्न है इसलिए इसको हीनयान कहा गया है। हीनयान दर्शन के अनुसार हीनयानवादियो का दृष्टिकोण केवल स्वय निर्वाण प्राप्त करना है। महायानवादी सारे प्राणियो के निर्वाण का लक्ष्य रखते हैं। इस प्रकार हीनयान का लक्ष्य निम्न कोटि का है एव उसके उपदेश आदि भी। हीनयानवादी मनुष्य का कार्य सकुचित है और इसलिए यह केवल तीन जन्मो मे समाप्त किया जा सकता है। इसके विपरीत महायानवादी श्रावको का कार्य महान् और विशाल है और अनेक, अनन्त काल तक जन्म लेकर सारे प्राणियो के लिये वे प्रयत्नशील हैं। इस प्रकार थोड़े से समय के लिए जिनका कार्य क्षेत्र है उनको हीनयानवादी कहा गया है।

इसके अतिरिक्त भी महायान और हीनयान के मतो मे एक दार्शनिक अन्तर पाया जाता है। महायान दर्शन के अनुसार ससार के सारे पदार्थ निस्सार, मायामय एव थोथे हैं जबकि हीनयानवादी यह विश्वास करते थे कि ससार की सभी वस्तुएँ क्षणिकमात्र हैं लेकिन इसके आगे उन्होंने कोई व्याख्या नहीं की।

कभी-कभी भ्रमवश ऐसा सोचा जाता है कि शून्यवाद सिद्धात का प्रचार सबसे पहले नागार्जुन ने किया। शून्यवाद से अर्थ सत्वहीनता और सासारिक वस्तुओ की निस्सारता से है। परन्तु वास्तव मे महायान दर्शन के सारे ही सूत्र शून्यवाद का समर्थन करते हैं अथवा उसका स्थान-स्थान पर उद्धरण देते हैं। इस प्रकार जिन सूत्रो को नागार्जुन ने अकाट्य तर्कों द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है वह महायान मत मे एक सत्य के रूप मे विना किसी तर्क के मान लिया गया है। एक स्थान पर सुभूति बुद्ध से कहते हैं कि वेदना (अनुभूति), सज्ञा (किसी वस्तु से सम्बन्धित विचार अथवा कल्पना) और सस्कार सभी माया है।[1] सारे स्कध, धातु (भूत अथवा तत्त्व) और आयतन थोथे और अस्तित्वहीन हैं। ये सब तत्त्वो की शून्यता से प्रतिबद्ध है। सासारिक महाशून्य मे इसका उच्चतम ज्ञान स्कध-धातु-आयतन सम्बन्धी ज्ञान से भिन्न नहीं है क्योंकि इन सब धर्मों का लोप हो जाने पर ही महान् ज्ञान की प्राप्ति होती है जिसको प्रज्ञापारमिता कहते हैं।[2] क्योंकि प्रत्येक वस्तु का कोई अस्तित्व नही है, सभी कुछ थोथी व शून्यमय हैं अत ससार की न कोई वास्तविक प्रक्रिया है और न उसकी समाप्ति होती है। सत्य न शाश्वत है और न

का वृत्तात) तथागतयान (तथागत का वृत्त) शब्दो का वृत्तात ही इसका अर्थ है। एक स्थान पर लकावतार मे कहा है कि साधारणतया तीन वृत्तातो मे एक वृत्तात में और कोई वृत्तांत न होने मे भेद किया गया है लेकिन यहाँ यान शब्द का अर्थ जीवनवृत्त से लिया है।

1 अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता पृ० 16।

2 वही, पृ० 177।

अशाश्वत। यह केवल एक शून्य मात्र है। अर्थात् जिसकी कोई स्थिति नहीं है वह न शाश्वत हो सकता है और न अशाश्वत हो सकता है। अतः भिक्षु का यह प्रयत्न होना चाहिए कि संसार की इस शून्यता को पहचानकर तथाभूत कर्म करे तथा इस (तथता) का साम्य स्थापित कर सारे संसार को शून्य समझे। अत भिक्षु (बोधिसत्व) के लिए सारे गुणो का (पारमिता) धारण करना आवश्यक है, दानशीलता (दानपारमिता), शील-पारमिता, सयम (शांतिपारमिता) शक्ति (वीर्य-पारमिता) और ध्यान (ध्यान पारमिता)। वोधिसत्व का यह दृढ़ निश्चय होता है कि वह अनन्त आत्मा की निर्वाण प्राप्ति में सहायक हो। वास्तव मे न कोई प्राणी है न कोई वन्धन है, न कोई निर्वाण है। वोधिसत्व इस बात को भली भाँति जानते है। वौद्ध इस तथ्य से आतंकित न होते हुए शान्तिपूर्वक इन सब मायामय प्राणियो के लिए मायामय वन्धन से छुटकारा दिलाकर मायामय निर्वाण की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं। वोधिसत्व इसी भावना से प्रेरित होकर अपनी पारमिताओं के वल पर अपने कार्य मे अग्रसर होता है—वैसे वास्तव में निर्वाण प्राप्त करने वाला भी वस्तु सत्ता में नहीं है, उसे निर्वाण की प्राप्ति में सहायता करने वाला भी वस्तुसत्ता मे नही है। सच्ची प्रज्ञापारमिता समस्त प्रतिभासो की पूर्ण समाप्ति ही है। (यः अनुपलम्भः सर्वधर्माणा स प्रज्ञापारमिता इत्युच्यते)।

महायान-वाद दो प्रणालियो में विकसित हुआ है, एक तो शून्यवाद या माध्यमिक-सिद्धान्त, दूसरा विज्ञानवाद। शून्यवाद तथा विज्ञानवाद (जो यह मानता है कि ये समस्त दृश्य चेतन के ही प्रतिभास हैं) में कोई तात्विक भेद नही है, केवल प्रणालीगत भेद है। दोनों इस वात पर विश्वास करते है कि कोई भी वस्तु सत्य नही है, यह सव परिवर्तनशील दृश्य प्रपंच स्वप्न या इन्द्रजाल की भाँति है, किन्तु शून्यवादियो ने अपना ध्यान दृश्य जगत् के कार्यकलापों की अपरिभाष्यता की ओर अधिक दिया जवकि विज्ञानवादियों ने शून्य-वादियों द्वारा की गई सत्य की विवेचना को मानते हुए चैतन्य के प्रतिभासों की व्याख्या अनादि मायामय मूल प्रत्ययों अथवा वासनाओं के रूप मे करते हुए अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

विज्ञानवाद के इस नए स्वरूप का जिसे तथता-दर्शन का नाम दिया जा सकता है, अश्वघोप (100 ई०) सम्भवत सवसे महत्त्वपूर्ण विचारक था। सुजुकी की इस स्थापना को सत्य मानते हुए कि अश्वघोप के श्रद्धोत्पादशास्त्र मे दिया गया एक उद्धरण लंकावतार-सूत्र का है, हम लकावतार-सूत्र को विज्ञानवाद की प्राचीनतम कृतियों मे मान सकते है।[1] विज्ञानवाद का सवसे वड़ा परवर्ती विचारक असंग (400 ई०) था जिसकी कृतियाँ सप्तदश भूमिसूत्र, महायानसूत्र, उपदेश, महायानसंपरिग्रहशास्त्र, योगाचारभूमिशास्त्र तथा महायानसूत्रालंकार वताई जाती हैं। इनमे से अन्तिम ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य समस्त ग्रन्थ सस्कृत में अनुपलब्ध हैं, सम्भवतः मूल ग्रन्थ नष्ट हो चुके हैं—

---

1. डा० एस० सी० विद्याभूपण का विचार है कि लंकावतार का समय 300 ई० है।

चीनी और तिव्वती हस्तलेखो तक जिनकी पहुँच नही है, उनके लिए ये नितान्त अलभ्य ही हो गए हैं। हिन्दू लेखको में विज्ञानवाद को एक अन्य नाम 'योगाचार' से भी पुकारा जाता है और यह अनुमान शायद गलत न हो कि इस नए नाम का मूल कारण असग का "योगाचारभूमि शास्त्र" शीर्षक ही है। जैसाकि परमार्थ (499-569) का कहना है, असग का छोटा भाई वसुवन्धु पहले एक उदार सर्वास्तिवादी था, पर वाद मे असग ने उसे विज्ञानवादी वना दिया। इस प्रकार वसुवन्धु ने जिसने अपने जीवन के प्रारभिक भाग में सर्वास्तिवादियो के महान् ग्रन्थ 'अभिधर्मकोष' की रचना की थी, अपना परवर्ती जीवन विज्ञानवाद को समर्पित कर दिया।[1] कहा जाता है कि उसने 'अवतसक', 'निर्वाण', 'सद्धर्मपुण्डरीक', 'प्रज्ञापारमिता', 'विमलकीर्ति' तथा 'श्री माला सिहनाद' आदि महायानसूत्रो की टीकाएँ लिखी तथा कुछ महायान सूत्रो की रचना की जिनमें विज्ञानमात्र सिद्धि, रत्नत्रय आदि शामिल हैं। वसुवन्धु के वाद एक या दो शताब्दियो तक विज्ञानवाद की परम्परा चली किन्तु उसके वाद के किसी लेखक की इस वाद की रचना का हमे पता नहीं चला है।

हमने पहले वतलाया है कि महायान की विविध प्रणालियों मे शून्यवाद एक आधारभूत सिद्धान्त के रूप मे निहित है। इस सिद्धान्त का एक अत्यन्त शक्तिशाली विवेचक नागार्जुन (100 ई०) था जिसके सिद्धान्तों की सक्षिप्त व्याख्या हम अन्यत्र करेंगे। नागार्जुन की कारिकाओ (श्लोकों) की टीका आर्यदेव ने की, जो कुमारजीव (383 ई०) वुद्धपालित एव चन्द्रकीर्ति (550 ई०) का शिष्य था। इस टीका के अलावा आर्यदेव ने कम से कम तीन अन्य ग्रन्थ लिखे—चतु शतक, हस्तवालप्रकरणवृत्ति तथा चित्तविशुद्धिप्रकरण।[2] हस्तवालप्रकरणवृत्ति मे, जो एक लघु ग्रन्थ है, आर्यदेव की स्थापना है कि जो कोई भी वस्तु अपने अस्तित्व के लिए अन्य किसी पर निर्भर होती है उसे भ्रमात्मक कहा जाता है। दृश्य जगत् के सभी पदार्थों के वारे मे हमारा सारा ज्ञान दिशा के प्रत्यक्षों पर तथा समग्र और भाग की धारणाओ पर निर्भर होता है अत वे सव केवल प्रतिभास मात्र माने जाने चाहिए। अत यह जानते हुए कि जिसकी सत्ता अन्य पर निर्भर होती है वह भ्रमात्मक ही होता है, इन सव जगत् के आभासो के प्रति ज्ञानी व्यक्ति को न तो कोई लगाव होना चाहिये न वितृष्णा। अपने ग्रन्थ चित्तविशुद्धिप्रकरण मे उसने वतलाया है कि जिस प्रकार किसी रगीन पदार्थ के प्रतिविम्व पडने के कारण स्फटिक रगीन दिखता है उसी प्रकार चित्त जो निर्विकल्प है विकल्पो के रगो मे रगकर विभिन्न रग धारण किए हुए प्रतीत होता है। वस्तुत किसी भी कल्पना के स्पर्श से रहित चित्त ही शुद्ध सत्य है।

---

1 देखें, तकाकुसु - "ए स्टडी आव द परमार्थज लाइफ आव वसुवन्धु" (जे०आर०ए० एस० 1905)।

2 आर्यदेव की 'हस्तवालप्रकरणवृत्ति' का डा० एफ० डब्लू० टामस ने पुनरुद्धार किया। उसके चित्तविशुद्धिप्रकरण के कुछ खडित अश महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा एशियाटिक सोसाइटी आव वगाल के जर्नल मे (1898) प्रकाशित किए गए थे।

लगता है चन्द्रकीर्ति के वाद शून्यवादियों मे कोई बड़ा लेखक नही हुआ। विभिन्न सन्दर्भों से यह प्रतीत होता है कि आठवीं शताब्दी में हुए महान् मीमांसक कुमारिल भट्ट के समय तक यह एक विख्यात एवं जीवंत दर्शन के रूप में पनपता रहा। किन्तु उसके वाद शून्यवादियों का स्थान महत्त्वपूर्ण एवं सक्रिय दार्शनिकों के लिहाज से नगण्य सा ही हो गया।

अश्वघोष (80 ई०) का तथता दर्शन[1]

अश्वघोष सैहगुह्य नामक एक ब्राह्मण का पुत्र था जिसने अपना प्रारम्भिक जीवन भारत के विभिन्न स्थानो मे यात्रा करने तथा शास्त्रार्थों मे वौद्धो को हराने मे लगाया। सम्भवतः उसे पार्श्व ने बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। यह पार्श्व तृतीय वौद्ध सगति का एक महत्त्वपूर्ण सदस्य था। यह संगीति किन्हीं विद्वानों के मत में काश्मीर नरेश ने वुलाई थी और कुछ के मत में पुण्ययशा ने।[2]

उसका सिद्धान्त था कि आत्मा के दो लक्षण प्रमुख है, भूततथता (तथात्व) एवं जन्म-मरण का चक्र (संसार)। भूततथता लक्षण का अर्थ है समस्त पदार्थों के तथात्व की समानता (धर्मधातु)। इसका धर्म अकृत तथा वाह्य है। व्यक्तियों के विभिन्न रूपो में पूर्व-जन्मों की स्मृतियों की अन्तर्निहित और अचेतन वासनाओं के अनादि संस्कारों के कारण भिन्नता भासित होती है।[3] यदि इस स्मृति पर विजय पाई जा सके तो व्यक्तियों के लक्षण

---

1 यह विवेचन अश्वघोष मे 'श्रद्धोत्पादशास्त्र' के चीनी अनुवाद के सुजुकी द्वारा कृत अनुवाद "अन अवेकनिंग आव फेथ" पर आधारित है। मूल संस्कृत ग्रन्थ नष्ट प्रतीत होता है। सुजुकी ने अश्वघोष को कनिष्क के समकालीन सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण दिए हैं।

2 तारानाथ के अनुसार उसे नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव ने वनाया था ('गैशिशेदेस वुद्धिस्मसः' शीफनर द्वारा जर्मन अनुवाद (पृ० 84-85) देखें सुजुकी अवेकनिंग आव फेथ" (पृ० 24-32)। अश्वघोप ने सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'वुद्धचरित' भी लिखा और महालंकारशास्त्र भी। वह संगीतकार भी था, उसने रास्तवर नामक एक वाद्य की रचना भी की थी जिससे वह नागरिकों को धर्मोपदेश करना चाहता था।" इसका सगीत शास्त्रीय, गभीर, दर्दभरा और सुरीला था जिससे जीवन की दुःख-मयता, अनात्मता और शून्यता पर विचार करने की प्रेरणा होती थी" (सुजुकी, पृ० 35)।

3 मैंने स्मृति को सुजुकी के "भ्रमात्मक विपयीनिष्ठता" (कन्फ्यूज्ड एब्जेक्टिविटी) की वजाय वासना के रूप में अनूदित करने का उपक्रम इसलिए किया कि लंकावतार जैसे वौद्ध ग्रन्थ के अध्येताओं के लिए स्मृति की वासना के रूप में धारणा अपरिचित नही होगी। वैसे भी विपयिनिष्ठता (सव्जेक्टिविटी) इतनी योरपीय लगने वाली संज्ञा है कि उसका वौद्ध दर्शन के संदर्भ में प्रयोग सगत नही लगता।

अन्तर्निहित हो जाएँगे तथा पदार्थ जगत् का कोई चिह्न बाकी न बचेगा। समस्त पदार्थ प्रकृत्या अनिर्वचनीय एव अवर्णनीय हैं। किसी भी भाषा में उनका पूर्णत वर्णन नहीं किया जा सकता। उन सबमे पूर्ण समानता होती है। वे न तो परिवर्तन और विनाश के विषय हैं। वे सभी एक ही आत्मा के अश हैं। यही भूततथता है। इस तथात्व का कोई लक्षण नहीं है, शब्दों मे इसे तथात्व के रूप मे ही समझा जा सकता है। इस ज्ञान के साथ ही कि सत्ता का समग्र रूप बतलाते समय न तो कोई वक्ता है न कोई वाच्य है, न कोई विचारक है न विचार्य है, तथता की स्थिति शुरू होती है। यह भूत-तथता न तो सत्ता है न असत्ता है, न एक साथ सत्ता और असत्ता का समवाय है। न सत्ता और असत्ता का असमवाय है, यह न तो बहुत्व है न एकत्व और न बहुत्व और एकत्व का समवाय, न एकत्व और बहुत्व का असमवाय। यह इस दृष्टि से निषेधात्मक है कि यह सब स्थितियो से परे है और इस दृष्टि से स्वीकारात्मक है कि यह सबको समाहित कर लेती है। किसी भी लक्षण अथवा विशेषी-करण द्वारा यह बोधगम्य नही है। इन्द्रियगम्य वस्तुओ के ज्ञान की सीमा से बद्ध ज्ञेय पदार्थों की परिधि से ऊपर उठकर ही इसका अवभास किया जा सकता है। सब जीवो की विशेषी-भूत चेतना द्वारा इसका बोध नहीं हो सकता अत हम इसे नकारात्मक या 'शून्यता' का नाम दे सकते हैं। सत्य वह है जो विषयिनिष्ठ रूप मे अपने आप में स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखता, शून्यता भी अपने भाव मे शून्य ही है, वह जो निषेध करता है तथा वह जिसका निषेध किया जाता है दोनो मे से कोई भी स्वतन्त्र सत्ता नही रखते। विशुद्ध आत्मा ही अनादि, अनन्त, अभेद्य, अपरिवर्ती एव सर्वव्यापक है। इस दृष्टि से उसे स्वीकारात्मक (विध्यात्मक) कहा जा सकता है। फिर भी उसमे विधि (स्वीकार) का कोई चिह्न नही है क्योंकि वह प्रत्ययात्मक चिन्तन की सर्जनात्मक, सहज स्मृति द्वारा गम्य नही है। उस सत्य के बोध का एकमात्र उपाय है समस्त बोधात्मक सृष्टि की सीमा से ऊपर उठकर तथता का आभास।

"ससार के रूप मे आत्मा, तथागत गर्भ जो परम सत्य है से आती है। मर्त्य और अमर्त्य परस्पर समानुपाती हो जाते हैं। यद्यपि ये अभिन्न नही हैं तथापि उनमे भेद भी नहीं है। जब परम आत्मा स्व-प्रकटीकरण द्वारा सापेक्ष रूप धारण कर लेती है तब इसे सर्व-धारक आत्मा कहा जाता है (आलयविज्ञान)। इसमे दो सिद्धान्त निहित हैं—(1) सबोध (2) असबोध। सबोध या ज्ञान की प्राप्ति तब होती है जब सृष्टिजन्य सहज स्मृति के दोषों से मुक्त होकर बुद्धि पूर्णता को प्राप्त कर लेती है। यह सर्वान्तर्गामी है एव सबका एकत्व है (धर्मधातु) अर्थात् सृष्टि के चरम आधार के रूप में यह सब तथागतो का सामान्य धर्मकाय है।

"जब यह कहा जाता है कि समस्त चैतन्य इसी आधारभूत सत्य से आरम्भ होता है तो इसका अर्थ यह नही समझा जाना चाहिए कि चैतन्य का कोई वास्तविक उत्स है। यह तो केवल आभासात्मक अस्तित्व है, भ्रमात्मक स्मृति के वशीभूत होकर द्रष्टा द्वारा की गई एक कल्पना मात्र है। 'बहुजन' बोधहीन होते हैं क्योंकि जगत् में अज्ञान (अविद्या) अनादि काल से है क्योंकि निरन्तर चली आ रही 'स्मृति' (भूत की सदोष स्मृति जो सहज

भाषा सम्भव होती है चाहे वे शुद्ध हों अथवा अशुद्ध । पाँचवा नाम है आनुपूर्वी का विज्ञान जिसका अर्थ है मनस्कार (अवधान की चेतना) जागृत होने पर उसके द्वारा मन प्रेरित होता है और तभी यह सभी कर्मानुभवों को क्रमिक रूप से धारण करता है । किसी भी पूर्व में आचरित कर्म का प्रभाव नष्ट नही होता चाहे वह अच्छा हो या बुरा, उसका अच्छा या बुरा परिपाक होता ही है—इस क्रिया द्वारा यह क्रम वना रहता है—चाहे कर्म वर्तमान मे हो या भविष्य मे । पूर्व मे आचरित कर्मों को स्मृति के रूप मे यह धारण करता है और भविष्य मे होने वाले कर्मों का संस्कार भी इसमें वीज रूप मे निहित रहता है । अतः तीनों लोक जिन्हे काम लोक (अनुभवों का लोक) रूपलोक (पदार्थों का लोक) और अरूपलोक (अमूर्तता का लोक) का नाम दिया गया है, मन के ही स्वतः प्रकटीकृत स्वरूप हैं—यही आलयविज्ञान है और यही भूततथता है । चूँकि सभी पदार्थ वुद्धि में ही अवस्थित होने के सिद्धान्त के अनुसार स्मृति के ही जन्य है अतः सभी विशेपीकरण वुद्धि के स्व-विशेपीकरण ही हैं । वुद्धि अथवा आत्मा स्वयं मे सभी विशेषीकरणों और गुणो से परे है अतः उसे विशेषीकृत नही किया जा सकता । इस सवसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि दृश्य जगत् के सभी पदार्थ और सभी स्थितियाँ अविद्या के कारण ही स्मृति मे पदार्थीकृत एवं अवस्थित होती हैं अत उनका अस्तित्व नही है ठीक उसी प्रकार जैसे दर्पण में प्रतिफलित प्रतिविम्वों का कोई अस्तित्व नही है । वे विशेषीकरण करने वाली वुद्धि के ही प्रत्यय है । जव वुद्धि विचलित होती है तो पदार्थों का वैविध्य प्रकट हो जाता है किन्तु जव वुद्धि शान्त होती है तो वह वैविध्य विलीन हो जाता है । मनोविज्ञान से तात्पर्य यही है कि वुद्धि अज्ञानवश 'अहम्' और 'अनहम्' के विचार से संश्लिष्ट हो जाती है और इन्द्रियों के छः विषयों का मिथ्या ज्ञान करने लगती है । मनोविज्ञान को विभेद का विज्ञान भी कहा जा सकता है क्योंकि वुद्धि और भावना के विविध आस्रवों के गन्ध से लिप्त होने के कारण ही इसमें भेद वोध प्रकट होता है । तव स्मृति द्वारा उत्पादित वाह्य जगत् पर विश्वास करते हुए वुद्धि उस समता के सिद्धात को भूल जाती है जिसके अनुसार समस्त पदार्थ एक ही है, सम ही हैं, पूर्ण शान्त एवं अविकारी है और उनमें सत्ता का चिह्न नही है ।

संसार का अस्तित्व और आधार केवल अविद्या मे है । इसके विनाश के साथ स्थितियो—वाह्य जगत्—का भी विनाश हो जाता है क्योंकि उसी के साथ परस्पर सम्वद्ध वुद्धि का भी विनाश हो जाता है । इस विनाश का अर्थ वुद्धि का विनाश नही है, वुद्धि की वृत्तियों का विनाश ही है । वह वृत्तियों के विनाश के वाद उसी प्रकार शान्त हो जाती है जिस प्रकार तरंगों का विचलन पैदा करने वाली वायु के विनाश के वाद समुद्र शान्त और अविचल हो जाता है ।

अविद्या (अज्ञान), कर्मविज्ञान (कर्म की चेतना अथवा विपयीमन), विषय (वाह्य जगत्, इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकृत) एवं तथता के पारस्परिक सम्वन्धों का वर्णन करते हुए अश्वघोप का कहना है कि तत्त्वों में परस्पर सस्कार होता है । इस सम्वन्ध में उनका कथन इस प्रकार है 'संस्कार से हमारा तात्पर्य है कि वस्त्र (जिन्हें हम पहनते हैं) अपने आप मे कोई गंध लेकर पैदा नही होते, कपड़े मे अपने आप कोई सुगन्ध या दुर्गन्ध नही होती किन्तु

जिस पदार्थ के साथ रखकर उन्हें गध-सस्कारित किया जाता है उसी सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध को वे ग्रहण कर लेते हैं। उसी प्रकार तथता पवित्र धर्म है जिसमे अविद्या के सस्कारो का कोई दोष लिप्त नही है जबकि अविद्या का शुद्धता से कोई सम्बन्ध नही है। तथापि उसे भी हम कई बार शुद्धता का कार्य करते हुए बता देते हैं क्योकि तथता के सस्कार से उसमे शुद्धता का गध आ जाता है। तथता द्वारा निर्धारित अविद्या ही समस्त प्रकार के दोषो का कारण है। यही अविद्या तथता को गध देती है और स्मृति को जन्म देती है। स्मृति का सस्कार अविद्या मे आ जाता है। इस पारस्परिक सस्कार के कारण ही सत्य का भ्रमात्मक, प्रतिभास होता है। इस भ्रमात्मक ज्ञान के कारण विषय के बाह्य जगत् की प्रतीति होती है। इसके अलवा स्मृति के सस्कार के कारण विषयो के स्वरूपो और वृत्तियो का जन्म होता है। उन वृत्तियों के सम्पर्क से कर्मों का उद्‌भव होता है और उनसे मानसिक और कायिक क्लेश परिणमित होते हैं। जब तथता से अविद्या सस्कारित होती है तो विषयी व्यक्ति को जन्म-मरण के क्लेश से घृणा होती है और निर्वाण की प्राप्ति की प्रेरणा होती है। विषयिगत मन मे ऐसी प्रेरणा और निर्वेद तो जन्म के कारण तथता सस्कारित हो जाती है। तथता के इस सस्कार के कारण ही हमें यह विश्वास होने लगता है कि हमारे अन्दर तथता है जिसकी प्रकृति शुद्ध एव अविकारी है, तभी हमे ज्ञान होता है कि यह जगत् आलयविज्ञान का ही भ्रमात्मक प्रतिफलन है और वस्तुत इसकी कोई सत्ता नहीं है। जब इस प्रकार हम सत्य का सही ज्ञान कर लेते हैं तब हम मुक्ति के उपाय कर सकते हैं, धर्मविहित कार्यों का आचरण कर सकते हैं। हमे न तो विशेषीकरण करना चाहिए न विषयो की इच्छा से सम्पर्क रखना चाहिए। इस प्रकार के अनुशासन और असख्येय कल्पो (अनेक युगों का निरवधि काल) तक निरन्तर अभ्यास से इस अविद्या का नाश हो सकता है। जब इस प्रकार अविद्या का नाश हो जाता है तो आलयविज्ञान (बुद्धि) का विचलन नही होता जिससे कि उसमें विषयभेद पैदा हो। जब बुद्धि अविचलित होती है तो बाह्य जगत् का विशेषीकरण समाप्त हो जाता है। इस प्रकार जब दोष अनेक विषय, उनकी स्थितियाँ और बुद्धि के विकार नष्ट हो जाते हैं तब निर्वाण प्राप्त होता है और विविध क्रियाकलापों के सहज प्रकार इस तरह पूर्ण जाते हैं। तथता-दर्शन मे निर्वाण का तात्पर्य शून्य से नहीं है किन्तु तथता (तथात्व) को अपने शुद्ध रूप मे ही देखा गया है जिसमे कि अनुभव के विविध प्रकारो के दूषणों का कोई सम्पर्क नही है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जब समस्त प्राणी एकसमान तथता रखते हैं और इससे समान रूप से सस्कारित होते हैं तो फिर ऐसा क्यों है कि कुछ उस पर विश्वास नही करते, कुछ करते हैं। अश्वघोष इसका उत्तर यों देता है कि—यद्यपि सारे प्राणी समान रूप मे तथता रखते हैं फिर भी अज्ञान और व्यक्ति विभाजन का सिद्धान्त, जो अनादि है, इतने वैविध्य पैदा कर देता है कि गगा के तीर की मिट्टी में जितने कण हैं उनकी सख्या भी उनसे कम ही पड़ती है। इसीलिए ऐसा भेद होता है स्वय की सत्ता में यह सस्कारक तत्त्व इस प्रकार निहित होता है कि जब उसमे बुद्ध और बोधिसत्व की मैत्री और करुणा सपृक्त हो

रूप से सबमें रहती है) के बन्धन से वे मुक्त नहीं हो पाते। किन्तु जब उस स्मृति से वे मुक्त हो जाते हैं तो उन्हें मालूम हो जाता है कि उनके बोध की कोई भी स्थिति, जैसे इनका आभास, इनकी सत्ता, परिवर्तन और विलय, सत्य नहीं है। आत्मा के साथ उनका काल या दिक् मे कोई भी सम्बन्ध नही है—क्योंकि वे स्वतः सत्तात्मक हैं ही नहीं।

"इस परम संबोध का अपूर्ण रूप कभी-कभी हमें हमारे सदोष जागतिक अनुभवों में भी दिखलाई देता है जैसे प्रज्ञा (बुद्धि) कर्म (अपरिज्ञेय जीवन क्रिया) के रूप मे। पूर्ण प्रज्ञा से हमारा तात्पर्य है कि जब हम धर्म की सौरभमयी पावनी शक्ति से, धर्मविहित विधि से हम यथार्थतः अपने आपको अनुशासित कर लेते हैं तथा सम्यक् कर्म करते हैं तो बुद्धि (आलयविज्ञान) जो जीवन और मृत्यु के बन्धन में रहती है, विलीन हो जाती है, सृष्ट्यात्मक चैतन्य की वृत्तियाँ निरस्त हो जाती हैं और धर्मकाय की शुद्ध और सत्य प्रज्ञा प्रकट हो जाती है। यद्यपि मन और चैतन्य की समस्त वृत्तियाँ अज्ञान के ही उद्गम है, अज्ञान भी अन्ततोगत्वा ज्ञान से भिन्न और अभिन्न दोनो ही है। इस प्रकार एक दृष्टि से अज्ञान नश्वर है, और एक दृष्टि से अनश्वर। इसे समुद्र मे उठती हुई तरंगो के दृष्टान्त से समझाया जा सकता है। तरंगो और जल का भेद है या अभेद ? एक दृष्टि से तरंग जल से भिन्न है, एक दृष्टि से अभिन्न। जल ही वायु की क्रिया द्वारा तरंगो के रूप में (भिन्न रूप में) प्रकट होता है। जब वायु का व्यापार शान्त हो जाता है तो तरंग अदृश्य हो जाती है किन्तु जल वही रहता है। इसी प्रकार जब प्राणियों का मन जो अपने आप में शुद्ध और स्वच्छ होता है अविद्या की वायु द्वारा आलोडित होता है तो वृत्तियाँ (विज्ञान) रूपी तरंगें उठती हैं। इन तीनों (मन, अज्ञान और वृत्तियों) का अपने आप में कोई अस्तित्व नही है। इनमें न तो एकत्व है, न बहुत्व। जब अज्ञान का नाश हो जाता है तो जागृत मनोवृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, ज्ञान का तत्त्व अक्षुण्ण रहता है।" सत्य अथवा सम्बोध किन्हीं भी सापेक्ष वृत्तियों अथवा ज्ञान के किसी बाह्य साधन से अप्राप्य है। दृश्य जगत् की सभी घटनाएँ ज्ञान में इस प्रकार भासित होती हैं कि वे न तो उसके बाहर जाती हैं न उसके अन्दर, वे न तो विलीन होती हैं, न नष्ट।" मानस और बौद्धिक दोनों प्रकार के विघ्नों—क्लेशवरण और ज्ञेयवरण—से तथा जन्म और मृत्यु के विषय आलय विज्ञान से वे सदा के लिए विमुक्त हो जाती हैं क्योकि अपने वास्तविक स्वरूप में ज्ञान शुद्ध, स्वच्छ, अनादि, शान्त, अविनाशी है। सत्य भी इसी प्रकार का है, वह अपने परिवर्तमान स्वरूप मे उचित अवसर पर तथागत के रूप में या अन्य स्वरूपों मे प्रकट होता है जिससे कि अन्य जीवों को भी यह प्रेरणा मिल सके कि वे अपने गुणों की चरमपरिणति द्वारा उस ऊँचाई तक उठ सके।

अनुभव—निरपेक्ष ज्ञान से असंवद्ध एव पृथग्भूत रूप मे अज्ञान का कोई अस्तित्व नही है। किन्तु प्रागनुभव ज्ञान का वर्णन भी सदा ही 'अज्ञान से विभिन्न' के रूप में ही किया गया है और चूँकि अज्ञान की स्वत सत्ता नहीं है अत ज्ञान का भी पृथक् महत्त्व नही रहता। उनकी पहिचान परस्पर विभिन्न पदार्थों—ज्ञान और अज्ञान के रूप मे ही की गयी है। अज्ञान का प्रकटीकरण तीन प्रकार से होता बतलाया गया है—(1) मन के विक्षोभ के

जाती है तो जन्म-मरण के कष्टों से घृणा हो जाती है, निर्वाण में विश्वास होता है, कुशल-मूल की प्राप्ति की कामना होती है तथा उसका अभ्यास और परिपाक होता है । इसके फलस्वरूप सब बुद्धो और बोधिसत्वों का दर्शन करने की शक्ति पैदा होती है, उनके उपदेश प्राप्त कर वह उनसे लाभ, प्रसाद प्राप्त करता है, शुभ कार्य करता है और अन्त मे बुद्धत्व प्राप्त कर निर्वाण का लाभ करता है । इससे यह अनुमान होता है कि सब प्राणियों मे ऐसे संस्कार होते हैं कि वे सम्यक् मार्ग पर ले जाने हेतु बुद्धों और बोधिसत्वों के आशीर्वाद से प्रभावित हो सके । तभी तो बोधिसत्वों का दर्शन कर, कभी उनसे श्रवण कर, "प्राणियों को हितता की प्राप्ति होती है" और "वे शुद्ध समाधि मे प्रविष्ट होकर समस्त विघ्नों पर विजय प्राप्त कर पाते हैं, उनमे सर्वलोकसमता का ज्ञान करने की अन्तर्दृष्टि पैदा हो जाती है तथा वे अनेक बुद्धो और बोधिसत्वों का दर्शन कर पाते हैं ।"

जो संस्कार तथता से तादात्म्य नही रखते वे भिन्न होते हैं जैसा कि श्रावकों (थेरवादी भिक्षुओ), प्रत्येक बुद्धो तथा अपक्व बोधिसत्वों के साथ होता है जो धर्माचरण तो करते रहते हैं किन्तु तथता के तत्त्व सम्पृक्त अविशेषीकरण की स्थिति तक नहीं पहुँचते । किन्तु जो बोधिसत्व तथता से सस्कारित होते हैं वे अविशेषीकरण की स्थिति पा लेते हैं और उन पर केवल धर्म की शक्ति का ही प्रभाव होता है । दूषित धर्म द्वारा (अनादि अज्ञान द्वारा) हो रहा गन्ध-सस्कार निरन्तर कार्य करता रहता है किन्तु जब बुद्धत्व प्राप्त हो जाता है तो उसकी समाप्ति हो जाती है । शुद्ध धर्म (तथता) का संस्कार अनन्त काल तक कार्य करता रहता है । यह तथता महान् बुद्धि का फल है, धर्म-धातु का विश्वजनीन प्रकाश है, यह सत्य और सम्यक् ज्ञान है, शुद्ध सहज मति है, अनादि, अनन्त, दैवी, शुद्ध, स्वयम्भू, शान्त, अनुपम और स्वतन्त्र है, इसी को तथागत-गर्भ अथवा धर्मकाय कहते हैं । यहाँ यह आपत्ति उठ सकती है कि तथता लक्षण-रहित और निर्गुण बताई गई है फिर इसके इतने गुण बताना स्वविरोधी है पर इसका उत्तर यह है कि ये गुण होते हुए भी यह अपने आप मे समस्त भेदो से रहित है क्योंकि विश्व की सभी वस्तुएँ एक ही स्वाद की है, एक ही सत्ता के अंग होने के कारण उनमे विभेद विशेषीकरण और द्वन्द्व नही होता । "यद्यपि वस्तु-सत्ता में समस्त वस्तुएँ आत्मा से ही उद्गत है और विशेषीकरण से परे हैं फिर भी अज्ञानवश आलयविज्ञान का उद्भव हो जाता है जिससे वाह्य जगत् की प्रतीति होती है ।" इसे अज्ञान या अविद्या कहते हैं । तथापि बुद्धि का शुद्ध तत्त्व पूर्ण एवं शुद्ध है और उसमे अज्ञान का स्पर्श नही है । इसीलिए तथता मे महत् बुद्धि के फल का गुण बतलाया गया है । इसीलिए इसे स्वय प्रकाश कहा गया है क्योंकि इसके अलावा और कोई वस्तु प्रकाश्य है ही नही । इस तरह तथता का संस्कार शाश्वत रहता है जब कि अविद्या के सस्कार की स्थिति निर्वाण प्राप्त कर बुद्ध बन जाने पर समाप्त हो जाती है । बुद्धों को धर्मानुशासन की स्थिति में सभी प्राणियो के लिए महाकरुणा का अनुभव होता है, वे पारमिताओं का आचरण करते हैं, अन्य सम्यक् कर्म करते हैं, सबको अपने समान देखते हैं और सदा के लिए प्राणिमात्र को सर्व-कल्याण और मुक्ति का मार्ग दिखाना चाहते है, अनेक कल्पो तक ऐसा वे करते है । प्राणियों में समता का सम्यक् ज्ञान वे करते हैं तथा प्राणी की विशिष्ट

जीवसत्ता से सम्पृक्त नही होते । तथता के क्रिया-कलाप का यही अर्थ है । जब तक अविद्या का पर्दा अथवा सस्कार रहता है तब तक जगदाभास रहता है, किन्तु अविद्या मे भी जब शुद्ध तथता का सस्कार होता है तो शुभ के लिए प्रयत्न की प्रेरणा होती है । अविद्या की स्थिति समाप्त होने पर शुद्ध तथता का प्रकाश चमकने लगता है क्योकि वही चरम सत्ता है जो केवल जगत् मे अनेक रूपो मे भ्रमात्मक रूप से आभासित होती है ।

यह सिद्धान्त लकावतार के शून्यवादी प्रत्यय-वाद सिद्धान्त की बजाय चरम, अपरिवर्तनीय सत्ता को ही परम सत्य मानने वाले सिद्धान्त के अधिक निकट लगता है । चूँकि अश्वघोष प्रारम्भिक जीवन मे एक विद्वान् ब्राह्मण था, यह स्पष्टत अनुमानित किया जा सकता है कि उसके द्वारा किए गए बौद्ध दर्शन के निर्वचन मे शकर द्वारा विवेचित वेदान्त से साम्य और उपनिषदो का प्रभाव मिलना ही चाहिए । लकावतार ने केवल तैर्थिको को सतुष्ट करने के लिए (जो अपरिवर्तनीय आत्मा के सिद्धान्त मे बहुत विश्वास और पूर्वाग्रह रखते थे) चरम सत्ता का सिद्धान्त ऊपर से मान लिया था । किन्तु अश्वघोष ने एक अनिर्वचनीय सत्ता को ही स्पष्टत परम सत्य माना है । नागार्जुन के माध्यमिक सिद्धान्त जिन्होंने अश्वघोष के गहरे दर्शन को दबा लिया, पारस्परिक दर्शन के तथा लकावतार मे वर्णित बौद्ध विज्ञान-वाद के अधिक निकट और अनुरूप लगते है ।[1]

माध्यमिक सिद्धान्त अथवा शून्यवाद

नागार्जुन की माध्यमिक कारिकाओ का टीकाकार चन्द्रकीर्ति नागार्जुन वर्णित प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या करते हुए इस शब्द के दो निर्वचनो से विवेचन प्रारम्भ करता है–एक तो यह है कि प्रत्ययो के द्वारा अभाव की उत्पत्ति, हेतु प्रत्ययो पर ही प्रतीति निर्भर है, उससे अभाव का समुत्पाद होता है । दूसरा यह कि प्रतीत्य से तात्पर्य है प्रत्येक विनाशी पदार्थ अथवा व्यक्ति और प्रतीत्य-समुत्पाद से तात्पर्य है प्रत्येक विनाशी पदार्थ की उत्पत्ति । परन्तु इन दोनो निर्वचनो का वह खण्डन कर देता है । दूसरा निर्वचन पाली-ग्रन्थो के प्रतीत्य–समुत्पाद के विवेचन से मेल नही खाता । (जैसे चक्षु प्रतीत्यरूपाणि च उत्पद्यन्ते चक्षुर्विज्ञानम्) वहाँ प्रत्येक विनाशी पदार्थ की उत्पत्ति से तात्पर्य नहीं है किन्तु विशिष्ट व्यक्तिगत सवृत्तियों (जैसे–चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा आँख के व्यापार से पदार्थ की प्रतीति) की उत्पत्ति से है जो विशिष्ट स्थितियो पर निर्भर होती है ।

प्रथम निर्वचन भी उतना ही अयुक्त है । उदाहरणार्थ यदि हम किसी समुत्पाद को लें, जैसे किसी चाक्षुप पदार्थ को, तो हम दखगे कि दृश्य ज्ञान और भौतिक इन्द्रिय (आँख) के बीच कोई सम्बन्ध नही हो सकता और इसलिए वह बात प्रमेय नहीं हो सकती कि दृश्य ज्ञान आँख पर निर्भर है । यदि हम प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त का यह निर्वचन करें कि उसका अर्थ वह घटना है जो हो रही है तो उससे किसी भी समुत्पाद की परिभाषा नहीं हो

---

1 मुझे अश्वघोष का "श्रद्धोत्पादशास्त्र" उपलब्ध नहीं है अत मेरा यह विवरण उसके सुजुकीकृत अनुवाद पर ही आधारित है ।

जीवसत्ता से सम्पृक्त नही होते। तथता के क्रिया-कलाप का यही अर्थ है। जब तक अविद्या का पर्दा अथवा संस्कार रहता है तब तक जगदाभास रहता है, किन्तु अविद्या मे भी जव शुद्ध तथता का सस्कार होता है तो शुभ के लिए प्रयत्न की प्रेरणा होती है। अविद्या की स्थिति समाप्त होने पर शुद्ध तथता का प्रकाश चमकने लगता है क्योकि वही चरम सत्ता है जो केवल जगत् में अनेक रूपों में भ्रमात्मक रूप से आभासित होती है।

यह सिद्धान्त लकावतार के शून्यवादी प्रत्यय-वाद सिद्धान्त की वजाय चरम, अपरिवर्तनीय सत्ता को ही परम सत्य मानने वाले सिद्धान्त के अधिक निकट लगता है। चूंकि अश्वघोष प्रारम्भिक जीवन मे एक विद्वान् ब्राह्मण था, यह स्पष्टत अनुमानित किया जा सकता है कि उसके द्वारा किए गए वौद्ध दर्शन के निर्वचन मे शकर द्वारा विवेचित वेदान्त से साम्य और उपनिषदों का प्रभाव मिलना ही चाहिए। लकावतार ने केवल तैर्थिको को सतुष्ट करने के लिए (जो अपरिवर्तनीय आत्मा के सिद्धान्त मे बहुत विश्वास और पूर्वाग्रह रखते थे) चरम सत्ता का सिद्धान्त ऊपर से मान लिया था। किन्तु अश्वघोष ने एक अनिर्वचनीय सत्ता को ही स्पष्टत परम सत्य माना है। नागार्जुन के माध्यमिक सिद्धान्त जिन्होंने अश्वघोष के गहरे दर्शन को दबा लिया, पारस्परिक दर्शन के तथा लकावतार मे वर्णित वौद्ध विज्ञान-वाद के अधिक निकट और अनुरूप लगते हैं।[1]

माध्यमिक सिद्धान्त अथवा शून्यवाद

नागार्जुन की माध्यमिक कारिकाओ का टीकाकार चन्द्रकीर्ति नागार्जुन वर्णित प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या करते हुए इस शब्द के दो निर्वचनो से विवेचन प्रारम्भ करता है–एक तो यह है कि प्रत्ययो के द्वारा अभाव की उत्पत्ति, हेतु प्रत्ययो पर ही प्रतीति निर्भर है, उससे अभाव का समुत्पाद होता है। दूसरा यह कि प्रतीत्य से तात्पर्य है प्रत्येक विनाशी पदार्थ अथवा व्यक्ति और प्रतीत्य-समुत्पाद से तात्पर्य है प्रत्येक विनाशी पदार्थ की उत्पत्ति। परन्तु इन दोनो निर्वचनों का वह खण्डन कर देता है। दूसरा निर्वचन पाली-ग्रन्थो के प्रतीत्य–समुत्पाद के विवेचन से मेल नहीं खाता। (जैसे चक्षु प्रतीत्यरूपाणि च उत्पद्यन्ते चक्षुर्विज्ञानम्) वहाँ प्रत्येक विनाशी पदार्थ की उत्पत्ति से तात्पर्य नहीं है किन्तु विशिष्ट व्यक्तिगत सद्वृत्तियों (जैसे–चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा आँख के व्यापार से पदार्थ की प्रतीति) की उत्पत्ति से है जो विशिष्ट स्थितियों पर निर्भर होती है।

प्रथम निर्वचन भी उतना ही अयुक्त है। उदाहरणार्थ यदि हम किसी समुत्पाद को लें, जैसे किसी चाक्षुप पदार्थ को, तो हम दखगे कि दृश्य ज्ञान और भौतिक इन्द्रिय (आँख) के बीच कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता और इसलिए वह बात प्रमेय नहीं हो सकती कि दृश्य ज्ञान आँख पर निर्भर है। यदि हम प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त का यह निर्वचन करें कि उसका अर्थ वह घटना है जो हो रही है तो उससे किसी भी समुत्पाद की परिभाषा नही हो

---

1 मुझे अश्वघोष का "श्रद्धोत्पादशास्त्र" उपलब्ध नहीं है अत मेरा यह विवरण उसके सुजुकीकृत अनुवाद पर ही आधारित है।

सकेगी। समस्त समुत्पाद मिथ्या हैं क्योंकि कोई पदार्थ न तो अपने आप समुत्पन्न होता है न अन्यों के द्वारा, न किसी की सहायता से, न किसी कारण के विना, क्योंकि, यदि कोई चीज पहले से अस्तित्व मे है तो वह पुनः अपने आप समुत्पन्न नही हो सकती। यदि हम माने कि वह अन्य के द्वारा समुत्पन्न है तो इसका अर्थ होगा कि वह पहिले से विद्यमान किसी पदार्थ का समुत्पाद है। यदि किसी अन्य विशेषण के विना हम कहें कि एक पर निर्भर होते हुए दूसरी चीज अस्तित्व में आती है तो उसका अर्थ होगा किसी भी एक चीज पर निर्भर होते हुए दूसरी चीज अस्तित्व मे आ सकती है। तो फिर प्रकाश से अन्धकार अस्तित्व में आ जाएगा। जव एक चीज न स्वयं पैदा होती है न अन्यों के द्वारा तो वह इन दोनों के समवाय से भी पैदा नही होती। कोई पदार्थ किसी कारण के विना भी पैदा नहीं होता, अन्यथा सव पदार्थ सव समयों में अस्तित्व में आ जाएँगे। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि जहाँ-जहाँ वुद्ध ने तथाकथित प्रतीत्यसमुत्पाद की वात कही है उनका तात्पर्य है उन भ्रमात्मक प्रत्यक्षों से जो वुद्धि और इन्द्रियों (जो अज्ञान से आवृत हैं) को प्रतीत होते हैं। इस प्रकार प्रतीत्य-समुत्पाद कोई वास्तविक नियम नहीं किन्तु अविद्या के कारण हुई प्रतीति ही है। अविनाशी पदार्थ (अमोप-धर्म) केवल निर्वाण है, अन्य समस्त ज्ञान के विपय और संस्कार मिथ्या है और प्रतीति के साथ समाप्त हो जाते हैं (सर्वसंस्काराश्च मृपामोप-धर्माण)।

कभी-कभी इस सिद्धान्त पर यह आपत्ति की जाती है कि यदि सभी प्रतीतियाँ मिथ्या हैं तो इनका कोई अस्तित्व नही होना चाहिए। तो फिर अच्छे वुरे काम भी नही होने चाहिए और सृष्टिक्रम भी नहीं। जव यह सव कुछ नही तो इनके वारे मे दार्शनिक विचार क्यों? इसका उत्तर यह है कि शून्यवाद का उद्देश्य है वस्तुओं को भ्रम के कारण सत्य मानने वाले लोगों की धारणा का खण्डन करना। जो वस्तुत. विद्वान् है वे किसी भी वस्तु को सत्य या मिथ्या नही मानते। उनके लिए किसी वस्तु का अस्तित्व नही है इसलिए उनके सत्य व मिथ्या होने के चक्कर मे वे नही पड़ते। ज्ञानी पुरुष के लिए न कोई कर्म है न संसार। इसलिए वह प्रतीतियों की सत्ता असत्ता के चक्कर में नही पड़ता। रत्नकूट सूत्र में कहा गया है कि चाहे कितनी भी गहरी खोज करो, चित्त को नही खोजा जा सकेगा। जिसका प्रत्यक्ष नही हो सकता उसकी सत्ता नहीं कही जा सकती, जिसकी सत्ता नहीं है उसका कोई भूत, भविष्य, वर्तमान नहीं, और इसीलिए उसका कोई स्वभाव भी नही कहा जा सकता, जिसका स्वभाव नहीं उसका समुत्पाद या समाप्ति भी नही हो सकती। जो अपने ज्ञान-विपर्यास के कारण प्रतीतियो के मिथ्यात्व का वोध नही कर पाता, उसे सत्य समझता है वह संसारचक्र की यन्त्रणा भोगता है। समस्त भ्रमो की तरह मिथ्या होने पर भी ये प्रतीतियाँ पुनर्जन्म और यन्त्रणा का कष्ट दे सकती है।

यहाँ यह आपत्ति भी हो सकती है कि शून्यवादियों के मत मे जव कोई वस्तु सत्य नही तो उनका यह कथन कि समुत्पाद और समाप्ति नही है भी, सत्य नही होगा। इसके उत्तर में चन्द्रकीर्ति कहता है कि सत्य चरम शांति है (मौन)। जव शून्यवादी भिक्षु विमर्श करते हैं तो सामान्य जनों के तर्कों को कुछ समय के लिए स्वीकार करके उन्हें समझाने के

लिए, उनकी भाषा मे, समस्त प्रतीतियों को वास्तविकता बतलाने हेतु इन शब्दो का प्रयोग करते हैं। समस्त प्रतीतियों की मिथ्यात्व बताने वाले तर्कों के बावजूद यह कहना युक्तिसगत नहीं होगा कि प्रतीतियाँ अनुभव से परीक्षित हैं क्योकि जिसे हम अनुभव कहते हैं वह केवल भ्रम है, मिथ्या है, इसलिए कि इन कार्यों का कोई अस्तित्व नही।

जब प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त की परिभाषा "वह जैसा कि वह है" के रूप मे की जाती है तो उसका अर्थ होता है कि वस्तुएँ प्रतीतियो के रूप मे एक के बाद एक सकेतित की जा सकती हैं किन्तु उनकी वास्तविक सत्ता अथवा स्वभाव नही होते। शून्यवाद का भी यही मतलब है (देखें, माध्यमिकवृत्ति पृ० 56)। प्रतीत्यसमुत्पाद और शून्यवाद का वास्तविक अर्थ है कि घटनाऐं जो प्रतीत होती हैं, सत्य नही हैं। जब वे सत्य नही हैं तो न उत्पन्न होती है न नष्ट होती है, न आती है न जाती हैं, वे माया की प्रतीतियाँ हैं। 'शून्य का मतलब शुद्ध अभाव मे नही' क्योकि वह किसी वस्तु या स्थिति से जुडा हुआ होता है। उसका तो अर्थ है, वस्तुओं का कोई स्वभाव नही (नि स्वभावत्वम्)।

माध्यमिक और शून्यवादी नहीं मानते कि वस्तु मे सत्य या स्वभाव होता है। उष्णता को अग्नि का स्वभाव नही कहा जा सकता क्योकि अग्नि और ताप अनेक स्थितियो के समवाय के परिणाम हैं और जो अनेक स्थितियों पर निर्भर है वह वस्तु का स्वभाव नही हो सकता। वस्तु का स्वभाव तो वह होता है जो किसी अन्य पर निर्भर न हो और चूँकि ऐसा कोई भी स्वभाव नही होता जो अपने आप मे अनिर्भर रूप से सत्ता में हो। इसलिए उसका अस्तित्व हम कैसे मान सकते हैं। जब किसी वस्तु मे सार या सत्ता नही है तो उसमे अन्य वस्तुओ का सार (परभाव) भी हम नही मान सकते जब किसी वस्तु में किसी वस्तु का स्वीकार नहीं हो सकता तो किसी वस्तु में किसी वस्तु का नकार भी नही हो सकता। जब पहले कोई किसी वस्तु का भाव मानता है, बाद मे समझता है कि वे नही हैं, तब वह उसका अभाव जानता है, किन्तु वस्तुत हम किसी चीज का भाव ही नही मानते तो उसका अभाव भी नहीं मान सकते।[1]

यहाँ यह आपत्ति होती है कि फिर भी हम एक प्रक्रिया को चलते कैसे पाते है? माध्यमिक इसका उत्तर उस प्रकार देता है कि स्थायी वस्तुओं में परिवर्तन की प्रक्रिया नही मानी जा सकती। इसी प्रकार क्षणिक वस्तुओ मे भी क्रम नहीं मान सकते क्योकि क्षणिक वस्तु प्रतीति के अगले क्षण नष्ट हो सकती है, फिर क्रम कहाँ रहेगा? जो उत्पन्न प्रतीत होती है वह न तो कहीं से आती है न जाती है, जो नष्ट प्रतीत होती है वह भी न आती है न जाती है, इसलिए उनकी प्रक्रिया (ससार) भी नहीं मानी जा सकती। ऐसा नही हो सकता कि जब दूसरा क्षण आया तो पहले क्षण का ससार बदल गया, क्योकि वह दूसरा क्षण था पहला उसके समान नही था, क्योंकि कार्य कारण सम्बन्ध नही होता। वस्तुत इन दो मे कोई सम्बन्ध नही होता अत सभी जागतिक निर्धारण पूर्व और पर के, गलत हैं।

---

1 देखें, माध्यमिकवृत्ति (पृ० 93-100)।

यह मानना कि एक आत्मा है जिसमें परिवर्तन होता है, भी गलत है। क्योंकि हम कितना भी खोजे आत्मा नही पाएँगे, पाँच स्कंध ही पाएँगे। यदि आत्मा एक है तो इनमें कोई क्रम या वृद्धि नहीं होगी अन्यथा यह मानना पड़ेगा कि एक ही क्षण में आत्मा एक स्वभाव छोड़ती है दूसरी धारण करती है जो कि नहीं माना जा सकता।[1]

अब प्रश्न उठता है कि यदि कोई क्रम नही है और संसार का अनेक यंत्रणाओं वाला चक्र भी नही है तो फिर निर्वाण क्या है जिसे समस्त क्लेशों से मुक्ति बतलाया गया है? इसका माध्यमिक यह उत्तर देते हैं कि वे निर्वाण की यह परिभाषा नहीं मानते। उनके अनुसार निर्वाण समस्त घटनाओं के सार का अभाव है उसे किसी वस्तु की समाप्ति या निरोध के रूप मे या किसी वस्तु की उत्पत्ति के रूप मे नही माना जा सकता वह "अनिरुद्धम् अनुत्पन्नम्" है। निर्वाण मे सब घटनाएँ समाप्त हो जाती है। हम कहते हैं कि निर्वाण में वे समाप्त हो जाती है, वैसे वस्तुतः रज्जु में सर्प की भाँति, वे रहती ही[2] नही। निर्वाण की कोई वस्तु-सत्ता अथवा कोई भाव नही है क्योकि वस्तुएँ और सत्ताएँ कारणों के कार्य (संस्कृत) होती हैं और विनाश-गोचर भी होती हैं। यह अभाव भी नही है। क्योंकि जब भाव ही नही हो तो अभाव कैसा? प्रतीतियाँ और घटनाएँ एक के बाद एक परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप मे प्रतीत होती हैं किन्तु इससे परे उनमें कोई सार सत्ता या सत्य नही कहा जा सकता। घटनाएँ कभी उत्पन्न प्रतीत होती है कभी नष्ट, किन्तु उन्हें सत्तात्मक या असत्तात्मक नही कहा जा सकता। निर्वाण का तात्पर्य है इस प्रतीत होने वाली प्रपंच प्रवृत्ति की समाप्ति। उसे भाव या अभाव नही कहा जा सकता, ये शब्द प्रपंचों के लिए ही प्रयुक्त हो सकते हैं। (न चाप्रवृत्तिमात्र भावाभावेति परिकल्पितुं पार्यंते एवं न भावाभावनिर्वाणम्। मा० वृ० 197) ऐसी स्थिति में कोई ज्ञान नही होता, यह ज्ञान भी नहीं कि प्रपंच की समाप्ति हो गई है। स्वयं बुद्ध भी एक प्रपंच, आभास या स्वप्न ही हैं, इसी प्रकार उनके उपदेश भी।[3]

यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सिद्धान्त में कोई बन्धन या मुक्ति जैसी चीज नही मानी जा सकती। समस्त प्रपंच प्रतिबिंब, मृगतृष्णा, स्वप्न, माया आदि के समान निःस्वभाव हैं, यह मानना कि किसी को वास्तविक निर्वाण प्राप्त हो सकता है, अज्ञान ही है।[4] यह मिथ्या अहंकार ही अविद्या माना जाता है। ध्यान से देखने पर स्पष्ट होता है कि किसी वास्तविक सत्ता की कोई भी स्थिति नही है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि यदि अविद्या नही होती तो संस्कार भी नही होते और यदि संस्कार नही होते तो चित्त भी नही होता

---

1. देखें, माध्यमिकवृत्ति (पृ० 101-102)।
2. वही, पृ० 194।
3. मा० वृ० (पृ० 162 तथा 201)।
4. मा० वृ० (पृ० 101-108)।

इत्यादि । किन्तु अविद्या के बारे मे यह नही कहा जा सकता कि, 'मैं सस्कार पैदा कर रही हूँ, परन्तु सस्कारो के बारे मे यह कहा जा सकता है 'हम अविद्या के द्वारा उत्पन्न हो रहे हैं ।' अविद्या है इसलिए सस्कार होते हैं । इसी प्रकार अन्य पदार्थों के बारे में भी कहा जा सकता है । प्रतीत्य-समुत्पाद की यह प्रकृति ही हेतूपनिबन्ध कही जाती है ।

इसे एक दूसरे पहलू से भी देखा जा सकता है, वह है समवाय अथवा सम्बद्धता पर निर्भरता (प्रत्ययोपनिबन्ध) । चार तत्त्वो एव आकाश तथा विज्ञान के समवाय से ही मनुष्य बनता है । पृथ्वी तत्त्व से शरीर ठोस होता है, जल तत्त्व से चर्बी बनती है, अग्नि तत्त्व से पाचन होता है, वायु तत्त्व से श्वास प्रश्वास चलते हैं, आकाश तत्त्व से शरीर में अवकाश, छिद्र या कूप बनते हैं और विज्ञान तत्त्व से मन, मस्तिष्क या चैतन्य बनता है । इन सबके समवाय के कारण ही हम मनुष्य को वैसा पाते हैं जैसा वह है । किन्तु इन तत्त्वो में से कोई यह नहीं जानता कि वह ये कार्य सम्पन्न कर रहा है जो उसे आवटित हैं । इनमे से कोई तत्त्व, स्वय कोई सार आत्मा, या प्राणी नहीं है । अज्ञान के कारण इनको अपने आप मे एक सत्ता मानकर हम उनके प्रति एक मोह पैदा कर लेते हैं । इस प्रकार अज्ञानवश सस्कार जन्मते है, जिनमे राग, द्वेष, मोह आते हैं, उनके बाद विज्ञान और चार स्कन्ध आते हैं । ये सब चार तत्त्वो से मिलकर नाम और रूप देते हैं, इन सबसे इन्द्रिय (षडायतन) बनते हैं । इन तीनो के समवाय से स्पर्श पैदा होता है, उससे भावना, उससे तृष्णा, और इस प्रकार यह क्रम चलता है । यह एक नदी के प्रवाह की तरह चलता है[1] परन्तु इन सबके पीछे कोई वास्तविक सार अथवा इसके नीचे कोई ठोस आधारभूमि नही है । इस प्रकार प्रपचो को सत् या असत्—कुछ नही कहा जा सकता और शाश्वतवाद और उच्छेदवाद मे से किसी को भी सत्य नही ठहराया जा सकता । इसी कारण इन दोनों के बीच के इस सिद्धान्त को मध्यमक (माध्यमिकवाद) कहा गया है ।[2] सत्ता और असत्ता मे केवल एक सापेक्ष सत्य है (सवृतिसत्य) जैसा कि प्रपचो मे है, परमार्थ सत्य नही है । वह कही नहीं है । सद्धर्माचरण (नैतिकता या शील) को इस सिद्धान्त मे भी, अन्य भारतीय धर्मो की भाँति बहुत महत्त्व दिया गया है । यहाँ नागार्जुन की "सुहृल्लेखा" के तिब्बती अनुवाद से वेन्जेल द्वारा किए गए अनुवाद से कुछ उद्धरण दिए जा रहे हैं— (पी० टी० एस०, 1886) ।

6 यह जानकर कि सपत्ति विनाशी और नि सार है, धर्मानुसार भिक्षुओ, ब्राह्मणों, गरीबो और मित्रों मे दान करो, दान से श्रेष्ठतर मित्र कोई नहीं ।

7 निर्दोष और ऊँचा पवित्र और निष्कलक शील धारण करो, शील ही श्रेष्ठता का आधार है जैसे कि पृथ्वी चराचर का आधार है ।

---

1 मा० वृ० पृ० 209-211 में शालिस्तम्भ सूत्र से उद्धृत । इसी को वाचस्पतिमिश्र ने शाकर के ब्रह्मसूत्र पर अपनी टीका 'भामती' मे से भी उद्धृत किया है ।

2 माध्यमिकवृत्ति पृ० 160 ।

8. धर्म, शील, शम, शक्ति, ध्यान, ज्ञान आदि उच्च एवं अशोच्य शीलों का आचरण करो जिससे कि जन्म के दूसरे छोर पर पहुँचकर तुम जिन वन सको।

9. परिजन, शरीर, कीर्ति, यौवन अथवा सत्ता के साथ जुड़े हुए मात्सर्य, शाठ्य, माया, काम, कौषीद्य, मान, राग, द्वेष, मद आदि को शत्रु मानो।

15. शम से अधिक कोई चीज दुःसाध्य नही है इसलिए क्रोध को स्थान मत दो। बुद्ध का वचन है कि जिसने क्रोध पर विजय पा ली वह अनागामित्व (अपुनर्जन्मा भिक्षुत्व) को प्राप्त होता है।

16. परस्त्री की ओर दृष्टि न डालो और यदि उस पर दृष्टि पड़ जाय तो उसे आयु के अनुसार अपनी माता, वहिन या पुत्री समझो।

24. जिसने छहों इन्द्रियो के चचल एवं अस्थिर विषयों पर विजय पा ली तथा जिसने युद्ध में शत्रु की सेनाओं को विजय कर लिया, इन दोनों में से ज्ञानी लोग प्रथम विजयी को श्रेष्ठ मानते है।

29. विश्वास को हानि और लाभ, हर्ष और विपाद, कीर्ति और अपकीर्ति, निन्दा और स्तुति इन आठों के प्रति समान भाव रखना चाहिए। इनमें भेद का विचार मत करो।

37. केवल एक ही स्त्री परिवार की रक्षिका देवी के समान पूज्य है जो वहिन के समान शीलवती, सुहृद् के समान आकर्षक, माता के समान शुभेच्छु और सेवक के समान आज्ञाकारिणी हो।

40. दया, क्षमा, प्रसन्नता एवं औदासीन्य इनका सदा ध्यान रखो। इससे यदि तुम्हे उच्चता नहीं मिली तो ब्रह्मविहार अवश्य मिलेगा।

41. काम, विचार, प्रीति तथा सुख-दुःख का चार ध्यानों द्वारा परिहार करके ही तुम ब्रह्मत्व का फल प्राप्त कर सकोगे।

49. यदि तुम समझो कि यह कलेवर तुम नही हो तो तुम्हे भान होगा कि यह कलेवर तुम्हे नही मिला, तुम्हारा नही है, तुम इसमें नही रहते, यह तुम में नही रहता। इसी प्रकार तुम चारो तत्त्वों की निःसारता का बोध कर सकोगे।

50. तत्त्वो की उत्पत्ति इच्छा से नही, काल से नही, प्रकृति से नही, स्वभाव से भी नही। न ईश्वर से वे जन्मे है? वे अकारण भी नहीं हैं। वे अविद्या और तृष्णा से जन्मे हैं यह जान लो।

51. धार्मिक रीति रिवाज (शील व परामर्श), गलत धारणाएँ (मिथ्यादृष्टि) और शंका (विचिकित्सा) ये तीन वन्धन हैं।

53. सर्वोच्च धर्म, सर्वोच्च ज्ञान और सर्वोच्च विचारों का सदा अनुशीलन करते रहो क्योंकि प्रतिमोक्ष के 150 नियम इन्ही तीन में निहित है।

58. हे पुरुप श्रेष्ठ, संसार के इस असार कदली वृक्ष से निःसंग हो जाओ क्योंकि

तुमने देख लिया है कि यह सब अनित्य है, अनात्म है, अशरण है, अनाथ है और अस्थान है।

104 जैसे सिर मे या कपडो मे आग लग जाने पर तुम उसे तुरन्त बुझाना चाहते हो, उसी प्रकार इच्छा को तुरन्त बुझाओ, क्योकि इससे बडा कोई आवश्यक कार्य नही।

105 धर्म, ज्ञान और ध्यान के द्वारा शमात्मक शान्त, काल-रहित, अमर, अजर तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र से-रहित निर्वाण की श्रेष्ठता प्राप्त करो।

107 जहाँ प्रज्ञा नहीं है वहाँ ध्यान नही, जहाँ ध्यान नही है वहाँ प्रज्ञा नहीं है। जिसने इन दोनों को प्राप्त कर लिया है उसके लिए ससार सागर गोपद के समान है।

कट्टर प्रत्ययवाद अथवा बौद्ध विज्ञानवाद

विज्ञानवाद अथवा योगाचार के नाम से प्रसिद्ध बौद्ध दर्शन का उल्लेख कुमारिल और शकर जैसे वरिष्ठ हिन्दू दार्शनिको ने भी किया है। यह शून्यवादियों से, जिनका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं, बहुत हद तक मिलता-जुलता है। समस्त धर्म, (गुण और सार) अज्ञानी दिमागो की नकली उपज है। बाह्य जगत् में कोई गति या जीवन नहीं है जैसाकि हम समझते हैं, क्योंकि उसकी कोई सत्ता नहीं है। इसका निर्माण हम ही करते हैं और हमे ही "यह है" ऐसा मोह हो जाता है (निर्मितप्रतिमोही)।[1] हमारे मन में दो क्रियाएँ होती हैं। एक वह जो प्रत्यक्ष करती है (ख्यातिविज्ञान), दूसरी वह जो उन्हें काल्पनिक निर्मितियों मे रखती है (वस्तु-प्रतिविकल्प विज्ञान)। ये दोनों व्यापार परस्पर-सबद्ध हैं, निर्भर हैं और अविभाज्य हैं (अभिन्नलक्षणे, अन्योन्यहेतुके)। दृश्य जगत् के सम्बन्ध से जो अनादि, सहज प्रवृत्तियाँ निहित होती हैं उनके कारण ये व्यापार होते हैं (अनादिकाल-प्रपंच-वासना-हेतुक च)।[2]

जब विभिन्न गूढ़ कल्पना प्रवृत्तियाँ बन्द हो जाती हैं तभी ऐन्द्रिय ज्ञान समाप्त हो सकता है (अभूत-परिकल्प-वासना-वैचित्र्य-निरोध)।[3] हमारा समस्त बाह्य ज्ञान निस्सार और निस्स्वभाव है, वह माया-जन्य है, मृगतृष्णा है, स्वप्नवत् है। कोई चीज बाहरी नही है, सब कुछ मन (स्वचित्त) की काल्पनिक रचना है। अनादिकाल से मन काल्पनिक रचना करने का अभ्यासी हो गया है। यह मन जिसके व्यापार से ये रचनाएँ विषय या विषयी के रूप मे जन्मती हैं, अपने आप मे कोई वस्तु नही हैं, यह उत्पत्ति-स्थिति और विनाश-रहित है (उत्पादस्थिति-भगवर्जम्)। इसे ही आलय-विज्ञान कहा गया है। आलय-विज्ञान को आपत्तिस्थिति-नाश-रहित बताने का कारण शायद यह है कि इसकी सत्ता इस रूप मे काल्पनिक है कि यह प्रपच की स्थितियो का, जैसी वे प्रकट होती हैं, ज्ञान कराता है, इसकी स्वय की कोई सत्ता नही है, सही मायनो मे हम इसकी कोई वस्तु-सत्ता नही बता सकते।

---

1 लकावतारसूत्र, 21-22।
2 लकावतार, पृ० 44।
3. लकावतार पृ० 44।

हमें यह ज्ञान नहीं होता कि दृश्य-प्रपंच कोई वाहरी वस्तु नहीं, वल्कि स्वचित्त के अन्दर ही है। फिर, भासमान वाह्य जगत् पर विश्वास करने और मानने की एक अनादि प्रवृत्ति चली आ रही है। ज्ञान का स्वभाव है कि (ज्ञाता और ज्ञेय के रूप में) वह जानता है तथा मन की प्रवृत्ति है कि विभिन्न विपयों का अनुभव करता है। इन चारों कारणों से आलय-विज्ञान (मन) में अनुभव की रेखाएँ प्रकट होती हैं (प्रवृत्ति विज्ञान) जैसे जलाशय में लहरें। ऐन्द्रिय अनुभवों की ये लहरें अनुभूतियों के रूप में प्रकट होती हैं। इस प्रकार पाँचों स्कंध (पंच विज्ञान काय) अपने मिले-जुले स्वरूप में प्रकट होते हैं। वाह्य ज्ञान को हम आलय विज्ञान से भिन्न भी नही कह सकते और अभिन्न भी नही, जैसे समुद्र को लहरों से भिन्न भी नहीं कह सकते और अभिन्न भी नहीं कह सकते। जैसे हम समुद्र को लहरों के रूप में उछलता देखते हैं वैसे ही चित्त अथवा आलय-विज्ञान को विभिन्न प्रवृत्तियों के रूप मे देखते हैं। चित्त के रूप में यह समस्त कर्मों को ग्रहण करता है, मन के रूप में संयोजन करता है (विधीयते), विज्ञान के रूप में पांचों प्रत्यक्षो का निर्माण करता है (विज्ञानेन विजानाति दृश्यं कल्पते पंचभिः)।[1]

माया के कारण प्रपंच विपय और विपयों के रूप में द्विधा दिखते हैं। ये सव आभास मात्र माने जाने चाहिए (सम्वृतिसत्यता)। वास्तव में इनकी कोई सत्ता है या नही है (भाव या अभाव) यह नही कहा जा सकता।[2]

सत् और असत् सभी संवृत्तियाँ मायाकृत है (सदसतः मायोपमाः) ध्यान से देखने पर मालूम होता है कि समस्त आभासों का नितान्त अभाव है, अभावों का भी, क्योंकि वे भी आभास हैं। इससे चरम सत्य भावस्वरूप होना चाहिए। पर ऐसा नहीं है क्योंकि वह तो भाव और अभाव दोनों में समान है (भावाभावसमानता)।[3] ऐसी स्थिति, जो अपने आप मे पूर्ण है, अनाम है और असार है, लंकावतार सूत्र में तथता[4] कही गई है। इसी सूत्र में अन्यत्र इसे शून्यता कहा गया है जो एक है, अजन्मा है और असार है।[5] एक अन्य स्थान पर इसे तथागत गर्भ भी कहा गया है।[6]

यह सोचा जा सकता है कि निर्गुण चरम सत्य का यह सिद्धान्त वेदान्त के आत्मा या ब्रह्म के सिद्धान्त के वहुत निकट है, जैसे कि अश्वघोप का तथता-सिद्धान्त। लंकावतार में रावण वुद्ध से पूछता है—"आप कैसे कह सकते हैं कि, आपका तथागतगर्भ सिद्धान्त अन्य दर्शनों की आत्मा से भिन्न है ? वे विरोधी भी आत्मा को अनादि, कारण भूत, निर्गुण, सर्वव्यापी, अविनाशी मानते हैं।" वुद्ध इसका उत्तर यों देते हैं—"हमारा सिद्धान्त उनसे भिन्न है। यह मानते हुए कि ऐसे दर्शन का उपदेश जो समस्त जगत् का कोई आत्मा या

1. वही, पृ० 50-55।
2. असंग का महायानसूत्रालंकार (पृ० 58-59)।
3. असंग का महायानसूत्रालंकार पृ० 63।
4. लंकावतार सूत्र पृ० 70।
5. वही, पृ० 78।
6. वही, पृ० 80।

सार नहीं मानता (नैरात्म्य), शिष्यों को भयावह लगेगा, मैं यह कहता हूँ कि यह सब कुछ केवल, वस्तुसत्ता में तथागतगर्भ है। इसे आत्मा नही समझना चाहिए। जैसे मृत्तिका के एक ढेले से विभिन्न आकार वन जाते हैं उसी प्रकार यह निस्सार प्रपच है जो निर्गुण है, निर्लक्षण है (सर्व-विकल्प-लक्षण-विनिवृत्त)। इसे कहीं गर्भ और कही नैरात्म्य कहा गया है। चरम सत्य और वस्तु-सत्ता के रूप मे तथागत गर्भ की यह व्याख्या इसलिए की गई है कि वे विरोधी अन्धविश्वास के कारण आत्मा के सिद्धान्त को मानते हैं हमारे मत की ओर आकृष्ट हों।"[1]

जहाँ तक सवृतियो (दृश्य प्रपचो) की प्रतीति का प्रश्न है, प्रत्ययवादी (विज्ञानवादी) बौद्ध दार्शनिक प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त को ही थोड़े परिवर्तनो के साथ मानते हैं। वे एक वाह्य प्रतीत्यसमुत्पाद (जैसा कि विषयगत दृष्टि से वह देखा जा सकता है) तथा एक आन्तरिक प्रतीत्यसमुत्पाद दोनो का विवेचन करते हैं। वाह्य प्रतीत्य-समुत्पाद का विवेचन वे इस उदाहरण से करते हैं कि किस प्रकार भौतिक पदार्थ जैसे एक घट विभिन्न वस्तुओं—मृत्पिण्ड, कुम्हार, चक्र आदि के समवाय और सहयोग से बनते हैं। आन्तरिक अर्थात् आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद के विवेचन मे वे अविद्या, तृष्णा, कर्म, स्कन्ध, आयतन आदि का विचार करते हैं।[2]

हमारा बोध दो प्रकार की वुद्धियो मे प्रकट होता है, प्रविचय वुद्धि तथा विकल्प-लक्षणग्रहाभिनिवेशप्रतिष्ठापिका वुद्धि। प्रविचयवुद्धि चार प्रकार से वस्तुओं का बोध कराती है—एकत्वान्यत्व (या तो यह या वह) का विवेचन करके, उभयानुभव का विवेचन करके (दोनो या दोनो नहीं), अस्ति नास्ति का विवेचन करके (हैं या नही), नित्यानित्य (स्थायी हैं या अस्थायी) का विवेचन करके। पर वस्तुत' प्रपचो के वारे मे इन चारों मे से कोई भी प्रकार पूरा नहीं बैठता। दूसरी तरह की वुद्धि मन की उस प्रवृत्ति में निहित है जिस कारण वह विविधता पैदा करता है तथा उनको अपनी कल्पनाओ (परिकल्पों) के द्वारा किसी एक बौद्धक, तार्किक आनुपूर्वी या क्रम में कर्ता, कर्म, विषय, विषयी, कार्य कारण आदि के सम्बन्धो मे विठाकर रखता है। जिन्हें इन दोनो वुद्धियो के व्यापार का ज्ञान है वे जानते हैं कि वाह्य भौतिक जगत् की कोई सत्ता नही है और यह केवल मन के अनुभव के रूप में ही आभासित या प्रतीत होता है। जब कही नही है—यह केवल स्नेहात्मिका ऐन्द्रिय मानस प्रवृत्ति है जो वाह्य पदार्थ के रूप में जल की कल्पना करती है, ताप अथवा शक्ति की ऐन्द्रिय कल्पना अग्नि की निर्मिति कर लेती है, गति की ऐन्द्रिय कल्पना वायु की निर्मिति कर लेती है। इस प्रकार असत्य में सत्य का अभिनिवेश करने की मिथ्या प्रवृत्ति (मिथ्यासत्याभिनिवेश) के कारण पाँच स्कन्ध प्रकट होते हैं। यदि ये सब एक साथ प्रकट होते तो हम कार्य कारण सम्वन्ध नही मान सकते थे—यदि ये एक के बाद एक

---

1 लकावतार, पृ० 80-81।
2. लकावतार, पृ० 85।

के क्रम मे प्रकट होते तो इनमे कोई परस्पर सम्बन्ध नही होता क्योंकि उन्हे एक साथ संयुक्त रखने का कोई हेतु नही होता । सो, वस्तुतः कोई चीज न तो उत्पन्न होती है न नष्ट होती है, यह तो हमारी निर्मित्यात्मक कल्पना ही है जो प्रत्यक्षीकृत वस्तुओं का द्रष्टा या प्रत्यक्ष-कर्ता के साथ वस्तुओ को उनके सम्बन्धों सहित पैदा कर लेती है । वस्तुओं को 'ज्ञान' रूप मे अभिहित करना भी एक परम्परा ('व्यवहार") मात्र है ।[1] जो भी हम वाणी द्वारा कहते है वह 'वाग्विकल्प' मात्र है । वह अवास्तव है । वाणी मे किसी भी वस्तु को कार्य-कारण संबधो मे बांधे बिना हम अभिहित नही कर सकते किन्तु इन बातों मे कोई भी सत्य नही है । परमार्थ को वाणी द्वारा अभिहित नही किया जा सकता । वस्तुओं की शून्यता को सात प्रकार से समझा जा सकता है—(1) वे सब अन्योन्यनिर्भर है और उनका अपना कोई लक्षण नही है । उनमें जब स्वयं का कोई लक्षण नही है तो अन्य के लक्षण से भी उन्हें नहीं कहा जा सकता क्योंकि जब उनका कोई लक्षण नही है तो अन्य भी अलक्षण (अपरिभाषित, अनिर्धारित ही होगा) अत. यह सब लक्षणशून्य है । (2) क्योंकि वे अभाव अर्थात् स्वभाव शून्यता से उत्पन्न हैं (स्वभावा-भावोत्पत्ति) अतः उनमे कोई भाव नही है (भावस्वभावशून्यता) । (3) वे अज्ञात अभाव से उत्पन्न हैं (अप्रचरितशून्यता) क्योंकि समस्त स्कन्ध निर्वाण मे जाकर विलीन हो जाते हैं । (4) असूत होते हुए भी वे स्कन्धों के रूप मे सम्बद्ध प्रतीत होते हैं (प्रचरितशून्यता) क्योकि उनके स्कन्धो में न तो अपने आप में वस्तु-सत्य है न वे किसी अन्य से सम्बद्ध है फिर भी वे कार्यकारण सगत और सम्बद्ध प्रतीत होते है । (5) उनका किसी भी प्रकार विवेचन या वाणी से वर्णन नही किया जा सकता (निरभिलप्यशून्यता) । (6) दीर्घकाल से हमारी दृष्टि को दूषित करने वाले मिथ्याभास के अतिरिक्त अन्य किसी ज्ञान के द्वारा उनका बोध नही किया जा सकता । (7) हम वस्तुओ को काल विशेष और देश विशेष में स्थिति बतलाते हैं जबकि वे नही हैं (इतरेतरशून्यता) ।

इस प्रकार केवल "अभाव" ही विद्यमान है पर वह भी न तो अनादि है, न विनाशी । जगत् एक स्वप्नमात्र है, माया है । दो निरोध बतलाए गए हैं—आकाश और निर्वाण । ऐसी वस्तु जिनका न तो भाव है, न अभाव है उसे केवल मूर्खों की कल्पना द्वारा ही विद्यमान माना जा सकता है ।

यह मत इस सिद्धान्त के इस विचार के विरोध मे जाता है कि वस्तुसत्य को तथा-गतगर्भ (तथता मे समाने वाले पदार्थो का गर्भ) कहा जाता है और स्कन्धो, धातुओं (तत्त्वो) तथा ऐन्द्रिय विषयो (आयतनो) के आभास इसे दोषो से ढक देते हैं । इससे यह सिद्धान्त एक विश्वजनीन आत्मा को ही अन्तिम सत्य मानने वाले मत के निकट आता सा जान पडता है । लंकावतार सूत्र इस विरोधाभास का इस प्रकार समाधान करता है कि तथागतगर्भ को ही चरम वस्तुसत्य बतलाना केवल एक गुडजिह्विका मात्र है जो उन व्यक्तियो

---

1 लंकावतार (पृ० 87) शंकर ने भी 'व्यवहारिका' शब्द का प्रयोग भौतिक, संवृत्या-त्मक पारम्परिक संसार के लिए किया है जो इससे तुलनीय है ।

को आकर्षित करने हेतु दी जाती है जो नैरात्म्य सिद्धान्त की रुक्षता को सहन नहीं कर पा सकते (लंकावतार पृ० 80)।

बोधिसत्वों को चार प्रकार के ज्ञान द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है—(1) स्वचित्तदृश्य-भावना (2) उत्पादस्थितिभंग-विवर्जना (3) बाह्यभावाभावोपलक्षणता और (4) स्वप्रत्यार्यज्ञानाधिगमाभिन्नलक्षणता। प्रथम का तात्पर्य है कि समस्त वस्तुएँ केवल चित्त की कल्पना मात्र हैं। दूसरे का तात्पर्य है कि चूंकि वस्तुओ मे कोई सार नही है अत. उनकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश हैं ही नही। तीसरे का तात्पर्य है बाह्य वस्तुओ का भाव क्या है व अभाव क्या है इसका वास्तविक तात्पर्य केवल यह है कि यह सब उपलक्षण मात्र है, एक मृगतृष्णा के समान है, यह वासना की ही उपज है जो इस सब विविध प्रपच को पैदा करती है, उसका प्रत्यक्ष कराती है। चौथे का तात्पर्य है वस्तुओ के स्वभाव के ज्ञान का अधिगम।

लंकावतार मे वर्णित चार ध्यान थेरवाद बौद्ध सिद्धान्त के प्रसग मे वर्णित चार ध्यानो से कुछ भिन्न हैं। इनके नाम हैं—1 बालोपचारिका 2 अर्थ प्रविचय 3 तथतालम्बन व 4 तथागत। प्रथम ध्यान श्रावक और प्रत्येक-बुद्ध लगाते हैं। इसमे पुद्गल-नैरात्म्य (आत्मा नही है) सिद्धान्त पर ध्यान लगाया जाता है, ये मानते हैं कि यह सब क्षणिक, दु ख व अशुद्ध है। इस प्रकार प्रारम्भ से अन्त तक ध्यान लगाते हुए साधक उस स्थिति तक पहुँच जाता है जब उसे सज्ञा नहीं रहती (असज्ञानिरोधात्) तब इसे बालोपचारिका ध्यान (भिक्षुओ का ध्यान) कहा जाता है।

दूसरा ध्यान आगे की स्थिति का है। इसमे यह ज्ञान हो जाता है कि आत्मा नही है, साथ ही यह भी कि न तो जागतिक पदार्थ सत्य हैं न अन्य सिद्धान्तो के मत, कोई भी धर्म जो आभासित होते हैं, नही हैं। इसे अर्थप्रविचय कहते हैं क्योकि साधक वस्तुओ के वास्तविक अर्थ की खोज करती है।

तीसरे मे बुद्धि में यह अहसास रहता है कि वस्तुओ की सत्ता नहीं है, आत्मा तथा अभास सब कुछ नहीं है यह सिद्धान्त भी कल्पना की ही उपज मात्र है और अन्तत तथता में विलीन हो जाता है। इसीलिए इस ध्यान को तथतालम्बन कहा गया है क्योकि तथता को ही आधारभूत मानकर यह चलता है।

चौथा और अन्तिम ध्यान वह है जिसमे मन तथता मे इस प्रकार विश्रान्त हो जाता है कि प्रपंचों का अनस्तित्त्व व अविशेयत्व पूर्णत ज्ञात हो जाता है। निर्वाण वह है जिसमे ज्ञान के रूप में प्रकट होने वाली समस्त वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं और बुद्धि जो ज्ञान और प्रत्यक्ष द्वारा आभासो और मिथ्या वस्तुओ की प्रतीति कराती है, कार्य करना बन्द कर देती है। इसे मृत्यु नहीं कहा जा सकता क्योंकि मृत्यु के बाद तो पुनर्जन्म हो सकता है, इसके बाद नही, इसे विनाश भी नहीं कह सकते क्योंकि सस्कृत वस्तुओ का ही विनाश हो सकता है। इस प्रकार यह मृत्यु और विनाश दोनों से विलक्षण है। यह श्रावकों और प्रत्येक बुद्धो के निर्वाण से भी विलक्षण है क्योंकि वे तो उस स्थिति को ही निर्वाण कह देते हैं जब विनाशी वस्तुओ की क्षणिकता और दु खता का आभास होने के कारण वे पदार्थों से अना-

सक्त हो जाते हैं और मिथ्या ज्ञान नहीं होता ।[1]

इस प्रकार हम देखते है कि जैसा अन्य विधर्मी कहते हैं, वस्तुओं का कोई कारण (आधार) नहीं है । जब हम कहते है कि जगत् माया या भ्रम है तो उसका तात्पर्य यही होता है कि इसका कोई आधार या कारण नही है । जो पदार्थ उत्पन्न, स्थित और विनष्ट होते से दिखते है यह विदुष्ट कल्पना की उपज ही है । अनादि मूल वासनाओं से विदुष्ट कल्पना (विकल्प) के रचनात्मक क्रियाकलापों से अलग होना ही तथता है ।[2] तथता की माया से अलग स्थिति नही है । जब माया के निर्माण का क्रम बन्द हो जाता है तो तथता ही माया का स्वरूप ले लेती है । इसीलिए इसे कभी-कभी 'चित्तविमुक्त' अथवा 'चित्त से अलग' कहा गया है क्योंकि यह सर्वकल्पनाविरहित होती है ।[3]

प्रत्यक्ष का सौत्रान्तिक सिद्धान्त

धर्मकीर्ति[4] (635 ई० के आसपास) के सौत्रान्तिक तर्कशास्त्रीय एवं न्यायशास्त्रीय ग्रन्थ 'न्यायबिन्दु' के टीकाकार धर्मोत्तर (847 ई०) के अनुसार समस्त पुरुषार्थ की सिद्धियों के लिए सम्यग् ज्ञान अनिवार्य रूप से आवश्यक है (सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थ सिद्धिः) ।[5] ज्ञान के विषय के प्रति प्रवृत्त होने पर जब ज्ञेय वस्तु का अवगमन होता है तो उसे सम्यग्ज्ञान कहा जाता हैं । इस प्रकार ज्ञेय विषय का वास्तविक अधिगमन ही सम्यग् ज्ञान है (अर्थाधिगति) । इस दृष्टि से ज्ञान की प्रक्रिया पदार्थ के प्रत्यक्ष सन्निकर्ष से आरम्भ होती है और ज्ञान की व्यावहारिक कामना की पूर्ति के साथ समाप्त होती है (अर्थाधिगमात् समाप्तः प्रमाणव्यापार) इस प्रकार हमारे ज्ञान के तीन क्षण होते है (1) पदार्थ की प्रस्तुति, (2) इसके अनुसार हमारी ज्ञान मे प्रवृत्ति और (3) ज्ञान की दिशा मे हमारे प्रयत्न के अनुसार ज्ञेय वस्तु के ज्ञान का अधिगम । अनुमान को भी सम्यग् ज्ञान कहा जाना चाहिए

---

1 लकावतार, पृ० 100 ।

2 लकावतार पृ० 109 ।

3 विज्ञानवाद का यह विवरण मुख्यत. लकावतारसूत्र पर आधारित है क्योकि इस वाद का अन्य कोई प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध नही है (हिन्दू दार्शनिकों द्वारा इसका वर्णन एवं खंडन उनके दार्शनिक ग्रन्थो जैसे कुमारिल का श्लोकवार्तिक या शंकर का भाष्य (2/2) मे मिल सकता है । असंग के महायान सूत्रालकार मे बोधिसत्व के आचारों का अधिक वर्णन है, दर्शन का कम) ।

4 सन्तानान्तरसिद्धि में धर्मकीर्ति अपने आपको विज्ञानवादी बतलाता है । यह अहंमात्रवाद पर अच्छा निबन्ध है । किन्तु उसके न्यायबिन्दु को न्यायबिन्दु टीका-टिप्पणीकार ने सौत्रान्तिकवाद का ग्रन्थ बतलाया है (पृ० 19) जो ठीक ही प्रतीत होता है ।

5. न्यायबिन्दु के अन्य टीकाकारों, विनीतिदेव और शान्तभद्र (7वी शताब्दी) के मतों का साराश धर्मोत्तर की न्यायबिन्दु टीका की टिप्पणी "न्यायबिन्दु टीका टिप्पणी" मे उद्धृत अवश्य मिलते हैं पर ये ग्रन्थ अब हमें उपलब्ध नही हैं ।

क्योंकि यह भी पदार्थ की उपस्थिति किसी सम्बन्ध विशेष से कराता है तथा पदार्थों का बोध कराकर हमारे ज्ञान के उद्देश्य की प्राप्ति कराता है। प्रत्यक्ष मे पदार्थ की उपस्थिति सीधे होती है, अनुमान मे यह अप्रत्यक्ष रूप से अर्थात् लिंग (तर्क) के माध्यम से होती है। अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए ही मनुष्य ज्ञान की उपलब्धि करता है और दार्शनिक ग्रन्थो मे ज्ञान का विवेचन इसीलिए किया जाता है कि यह मनुष्यो का प्राप्तव्य है। इसलिए वह ज्ञान जो अपने विषय के सही अधिगमन कराने मे सफल नही होता उसे सम्यग् ज्ञान नही कहा जा सकता। समस्त भ्रमात्मक प्रत्यक्ष जैसे श्वेत शख को पीत शख के रूप मे देखना अथवा स्वप्न के दृश्य, सम्यक् ज्ञान नही है क्योकि ज्ञेय पदार्थों का जैसे कि वे हैं, ये नही बोध नही कराते। यह सही है कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं इसलिए प्रत्यक्ष के क्षण मे जो पदार्थ रहता है वह दूसरे क्षण मे वैसा नही रहता। किन्तु समान पदार्थों की उपस्थिति की दृष्टि से हम यह कहते हैं कि नीले पदार्थ के प्रथम प्रत्यक्ष के समय जो नीलत्व की प्रतीति होती है वह अन्य नीले पदार्थों के अपर प्रत्यक्षो द्वारा प्रमाणित होती है इसलिए नीलत्व का प्रत्यक्ष प्रमाणित हो जाता है (नीलादौ य एव सतान परिच्छिन्नो नीलाजनेन स एव तेन प्रापित तेन नीलाजन प्रमाणम्)।[1]

जब यह कहा जाता है कि सम्यक् ज्ञान पुरुषार्थ के लिए आवश्यक है या इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए सहायक और अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति मे बाधक है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि सम्यक् ज्ञान इष्ट प्राप्ति का सीधा कारण हो जाता है। वस्तुत किसी भी प्रत्यक्ष द्वारा भूत अनुभवो की स्मृति जगती है उससे इच्छा पैदा होती है, इच्छा से तदनुरूप प्रयत्न शुरू होता है और उसके फलस्वरूप इष्ट वस्तु का अधिगमन होता है। इस दृष्टि से पदार्थ के अधिगमन का सीधा कारण सम्यक् ज्ञान नही है, वह इष्ट पदार्थ की उपस्थिति को सीधे सकेतित करता है। किन्तु उपस्थिति मात्र से कोई पदार्थ जिज्ञासा की वस्तु नही बन जाते। प्रत्यक्ष द्वारा उपस्थापित पदार्थ की उपलब्धि के सबध से ही वह जिज्ञासा का विषय बनता है।

धर्मकीर्ति द्वारा प्रत्यक्ष को उपस्थिति बताया गया है जो पदार्थ द्वारा ही उत्पादित होती हो और अन्य नामो अथवा कल्पना से विरहित अथवा अभ्रान्त हो (कल्पनापोढम-भ्रान्तम्)।[2] इस परिभाषा से यद्यपि प्रत्यक्ष का स्वरूप वर्णित नही होता किन्तु यह उस

---

1 न्यायबिन्दु टीका टिप्पणी, पृ० 11।

2 दिङ्नाग (500 ई०) के 'प्रामाणसमुच्चय' (सस्कृत में अनुपलब्ध) मे दी हुई सर्व-प्रथम परिभाषा थी "कल्पनापोढम्।" धर्मकीर्ति के अनुसार यह निर्विकल्पक ज्ञान है जिसमें उस पदार्थ की प्रतिमा मात्र होती है जिसे इन्द्रियो के सम्मुख उपस्थापित किया जाता है और जो प्रत्यक्ष मे उपस्थापित वस्तुगत, ठोस तत्त्व है। सविकल्पक ज्ञान वह है जो मन की चिन्तनात्मक क्रिया द्वारा निर्मित होता है और जिसमे किसी पूर्वानुभूत विषय की प्रत्यभिज्ञा होती है। इसे इन्द्रियो के सम्मुख उपस्थापित वस्तु-गत पदार्थ का सही चित्रण, ज्ञान या प्रत्यक्ष नही कहा जा सकता।

शर्त को स्पष्ट करती है जो प्रत्यक्ष के सही होने के लिए पूरी होनी चाहिए। प्रत्यक्ष अभ्रांत नही होना चाहिए यह कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कोई उस ज्ञान के मुताविक प्रयत्न में प्रवृत्त हो तो उस प्रत्यक्ष द्वारा उपस्थापित पदार्थ की उपलब्धि में असफल न हो (तस्मा-दग्राह्ये अर्थे वस्तुरूपे यद्विपर्यस्तं तदभ्रांतमिह वेदितव्यम्)। यह कहा गया है कि सही प्रत्यक्ष नामों से (कल्पना या अभिलाप) अपोढ़ नही होनी चाहिए। यह शर्त इसलिए जोड़ी गई है कि पदार्थ द्वारा सीधे प्रस्तुत अर्थो के अलावा अन्य बातों को छोड़ा जा सके। पदार्थ को नाम तब दिया जाता है जब उसे स्मृति के द्वारा बुद्धि में इस प्रकार सम्बद्ध कर लिया जाय कि यह वही पूर्व में प्रत्यक्षीकृत पदार्थ है ऐसा बोध होने लगे। इसे प्रत्यक्ष के विषय द्वारा सीधे उत्पादित अर्थ नही कहा जा सकता। इन्द्रियाँ पदार्थों को उनसे सन्निकृष्टहोने के कारण उपस्थापित करती हैं और पदार्थ इन्द्रियों द्वारा सम्पर्क मे आने पर उसी रूप में उप-स्थित होते है जैसे वे हैं किन्तु स्मति या नाम-लापन ऐसी चीज है जो पदार्थो द्वारा सीधे प्रस्तुत नही की जाती क्योकि उसमें पूर्वानुभवो का सम्बन्ध निहित रहता है जो प्रत्यक्ष से सीधे सन्निहित नही होता (पूर्वदृष्टापरदृष्ट चार्थमेकीकुर्वत् विज्ञानं असन्निहित विषयं पूर्व-दृष्ट्या सन्निहितत्वात्)। समस्त भ्रमात्मक प्रत्यक्षों मे बाहरी अथवा अंदरुनी शारीरिक कारणों से इन्द्रिय प्रभावित होते हैं। यदि इन्द्रियाँ असम्यक् नही हैं तो वे पदार्थ की सही प्रतीति अवश्य कराएँगी। प्रत्यक्ष का तात्पर्य यही है कि इन्द्रियों के द्वारा पदार्थ की अपने ही रूप मे, अपने ही लक्षण की सही उपस्थिति कराना (स्वलक्षणं)। अर्थ के साथ ज्ञान का सारूप्य ही प्रमाण है (अर्थेन सह यत्सारूप्यं सादृश्यमस्य ज्ञानस्य तत् प्रमाणमिह) यहाँ यह आपत्ति होती है कि यदि हमारा ज्ञान वाह्य पदार्थ के समान ही है तो यह समानता उप-स्थिति से विभिन्न होगी और प्रत्यक्ष अप्रमाण हो जाएगा। किन्तु समानता उस ज्ञान से विभिन्न नहीं है जो पदार्थ के समान प्रतीत होता है। उनके सारूप्य के कारण ही उस पदार्थ को ज्ञान का विपय मानते हैं (तदिति सारूप्यं तस्य वशात्)। तभी उस पदार्थ का प्रत्यक्ष सम्भव होता है। चूं कि हमे नीलत्व का ज्ञान है इसीलिए हम नीले पदार्थ के प्रत्यक्ष का भान करते है। नीले पदार्थ के प्रत्यक्ष की समानता का भान तथा प्रत्यक्ष में नीलत्व की प्रतीति के फल में कार्य कारण सम्बन्ध नही है किन्तु व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव सम्बन्ध है। इस प्रकार ज्ञान के विपय का सारूप्य बताने वाला ज्ञान तथा ज्ञान के रूप में ज्ञेय वस्तु की प्रतीति का फल देने वाला ज्ञान एक ही है, उनमें विरोध नही है (तत् एकस्य वस्तुनः किञ्चिद् रूपं प्रमाण किंचित् प्रमाण फले न विरुध्यते) पदार्थ के साथ इसी सारूप्य के कारण ही पदार्थ का सही ज्ञान प्रमाणित होता है (व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्यम्), इस प्रकार व्यवस्थापक के द्वारा व्यवस्थाप्य का ज्ञान होता है अर्थात् हम ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष की पदार्थ से समानता के प्रमाण द्वारा किसी पदार्थ विशेष के नीलत्वादि ज्ञान की प्राप्ति, जो प्रमाण-फल है, उसे पाते हैं। यदि ज्ञान और उसके विपय में यह सारूप्य नही होता तो हम पदार्थ और ज्ञानफल मे भेद ही न कर पाते (सारूप्यमनुभूतं व्यवस्थापनमत्र हेतुः)। पदार्थ अपने से सरूप ज्ञानफल पैदा करता है और इसी सारूप्य के कारण सम्यक् ज्ञान द्वारा उपस्थापित पदार्थ का बोध होता है।[1]

1. यह दुर्भाग्य की वात है कि न्यायविन्दु, न्यायविन्दु टीका और न्यायविन्दु-टीका-

अनुमान का सौत्रांतिक सिद्धान्त[1]

धर्मकीर्ति तथा धर्मोत्तर द्वारा परिभाषित सौत्रातिक सिद्धान्त मे जो कि सम्भवत संस्कृत मे उपलब्ध प्रणालीवद्ध बौद्धतर्क का एकमात्र आगार है, अनुमान के दो भेद किए गए हैं, स्वार्थानुमान (स्वय अपने आप के लिए अथवा ज्ञानार्थ तर्क करते हुए व्यक्ति द्वारा किया गया अनुमान) और परार्थानुमान (शास्त्रार्थ मे दूसरो को कायल करने के लिए हेतु वादो द्वारा दिया गया अनुमान)। प्रत्यक्ष के प्रामाण्य की तरह ही अनुमान का प्रामाण्य भी वाह्य जगत् मे वस्तुत विद्यमान पदार्थो की समानता पर निर्भर है। जैसे प्रत्यक्ष वाह्य वस्तु सत्य के सारूप्य को वतलाता है वैसे ही अनुमान भी उसी पर निर्भर है। जिम प्रकार नीलत्व के प्रत्यक्ष का प्रामाण्य प्रत्यक्षीकृत नील पदार्थ से उसके सारूप्य पर निर्भर है उसी प्रकार नीलत्व के अनुमान का प्रामाण्य भी अनुमित वाह्य पदार्थ से सारूप्य पर निर्भर है (सारूप्यवशाद्धि तन्नील प्रतीतिरूप सिध्यति)।

जिस हेतु अथवा आधार पर (लिंग से) अनुमान किया जाता है वह ऐसा होना चाहिए कि उन मामलो मे उपस्थित हो जहाँ अनुमेय वस्तु उपस्थित हो और उन मामलो मे अनुपस्थिति हो जहाँ वह नही हो। जहाँ उस हेतु (लिंग) का सही होना इन दोनो (अन्वय-व्यभिचार) शर्तो को देखकर प्रमाणित हो जाता है तव अनुमेय अर्थ और उस हेतु का एक मार्वदिक मम्वन्ध (प्रतिवन्ध) प्रमाणित हो जाता है। यही पर्याप्त नही है कि हेतु वहाँ-वहाँ विद्यमान हो जहाँ जहाँ अनुमेय अर्थ रहता हो और वहा नही हो जहाँ वह अविद्यमान हो पर यह भी आवश्यक है कि वह केवल उपर्युक्त मामले मे ही विद्यमान हो। साधन और साध्य[2] के सम्वन्ध मे यह नियम अनुमान की आवश्यक शर्त है। यह सार्वदिक

टिप्पणी (सेंटपीटर्सवर्ग 1909) के अलावा इम महत्त्वपूर्ण प्रत्यक्ष सिद्धान्त पर कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है। न्यायविन्दु सम्भवत प्राचीनतम ग्रन्थो मे से है जिनमे हमे सर्वप्रथम अर्थक्रियाकारित्व (व्यावहारिक क्रियापूर्ति को ही सही ज्ञान की कसौटी मानना) सिद्धान्त का वर्णन मिलता है। वाद मे इसे सत्ता की कसौटी मान लिया गया था जैसाकि परवर्ती हिन्दू दर्शन ग्रन्थो मे दिए गए बौद्ध दर्शन ग्रन्थो के सदर्भो से तथा रत्नकीर्ति की रचनाओं से सिद्ध होता है। अर्थक्रिया का उल्लेख नागार्जुन पर चन्द्रकीर्ति की टीका मे तथा ललितविस्तर जैसे प्राचीन ग्रन्थो मे (जैसा मुझे कैंम्रिज विश्वविद्यालय के ई० जे० टामस महोदय ने वताया) भी मिलता है पर वहाँ इसका कोई दार्शनिक अर्थ नहीं है।

1 चूँकि दिङ्नाग का प्रमाणसमुच्चय सस्कृत मे उपलब्ध नहीं है, हमे विकसित बौद्ध तर्कशास्त्र के वारे मे पर्याप्त ज्ञान सुलभ नही है। धर्मोत्तर की न्यायविंदु टीका मे जो कुछ उपलब्ध है वही हमारी जानकारी का स्रोत है।

2 तस्मान्नियमवतोरेवान्वय-व्यतिरेकयो प्रयोग' कर्तव्यो येन प्रतिवन्धो गम्यते साधनस्य साध्येन (न्यायविन्दु टीका पृ० 24)।

नैसर्गिक सम्वन्ध (स्वभाव प्रतिवन्ध) दो प्रकार की स्थितियों मे पाया जाता है। एक तो वह जवकि हेतु उस पदार्थ में उसकी प्रकृति के रूप मे ही निहित हो, अर्थात् जव हेतु उस जाति का वोधक हो जिसका कि अनुमेय (साध्य) अर्थ उस जाति का एक व्यक्ति हो। इस प्रकार एक मूर्ख व्यक्ति जो ऊँचे ताल वृक्षो के प्रदेश मे रहता हो यह सोच सकता है कि तालों को वृक्ष इसलिए कहा जाता है क्योकि वे लम्वे हैं—तव उसे यह वतलाना उपयोगी होगा कि तालवृक्ष छोटा हो तव भी पेड़ होगा क्योकि वह ताल है—क्योंकि तालत्व वृक्षत्व रूपी एक वड़ी जाति का एक भाग है। वृक्षत्व ताल मे स्वभावतः निहित है—व्यक्ति में जाति तदभिन्न रूप से स्थित होती है अतः विशिष्ट व्यक्ति को देखकर उसमें उसकी जाति का अनुमान किया जा सकता है किन्तु यदि जाति उपस्थित हो तो यह आवश्यक नही कि उसमे विशिष्ट व्यक्ति भी उपस्थित होगा ही। दूसरा प्रकार वह है जवकि कार्य को देखकर उसके आधार पर कारण का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार धूम से जो कि कार्य है उसके कारण अग्नि का अनुमान किया जा सकता है। इन सव अनुमानों का आधार यही है कि वह हेतु या साधन जिसके आधार पर साध्य का अनुमान किया जाता है वह साध्य या अनुमेय वस्तु से सार्वदिक रूप से सम्वद्ध रहता है—यदि ऐसा नही होता तो अनुमान का प्रकरण ही नही वनता।

यह नैसर्गिक सवध (स्वभाव प्रतिबन्ध) चाहे वह सामान्य और विशेष का तादात्म्य रूपी सम्वन्ध हो या कारण या कार्य का सवध हो सारे अनुमान का मूल होता है।[1] यही स्वभाव प्रतिवन्ध अविनाभावनियम अथवा सार्वदिक सम्वन्ध को निर्धारित करता है और अनुमान तर्क वाक्यो द्वारा नही अपितु सीधे उस लिंग द्वारा किया जाता है जो अविनाभाव-नियम से सम्वद्ध होता है।[2]

दूसरे प्रकार का अनुमान जिसे परार्थानुमान कहा जाता है अन्य समस्त लक्षणो मे स्वार्थानुमान के समान ही होता है किन्तु उसमें यही अन्तर होता है कि अनुमान की प्रक्रिया को शव्दो मे तर्क वाक्यों द्वारा रखना पड़ता है।

सम्भवतया नवी या दसवी ईस्वी शताव्दी मे हुए प० रत्नाकर-शांति ने एक निवन्ध

---

1. नहि यो यत्र स्वभावेन न प्रतिवद्ध. स तम् अप्रतिवद्धविषयमवश्यमेव न व्यभिचरतीति नास्ति तयोरव्यभिचारनियम. (न्यायविन्दुटीका पृ० 29)।

2 अविनाभाव संवंध जो अनुमान का आधार तभी सम्भव है जव लिंग तीन शर्तो की पूर्ति करता हो—1. पक्षसत्व अर्थात् पक्ष (जिसके वारे मे अनुमान किया जा रहा है) मे लिंग की सत्ता, 2 सपक्षत्व अर्थात् सपक्ष मे जिसमें साध्य रहता है, लिंग की सत्ता और, 3. विपक्षासत्व अर्थात् विपक्ष मे जिसमे साध्य नही रहता, लिंग की अनुपस्थिति। वौद्धो ने एक तर्कवाक्य में तीन ही वचन माने है—उदाहरणार्थ पर्वत में अग्नि है क्योकि इसमे धूम है जैसाकि रसोईघर मे होता है और जलाशय मे नही होता।

'अन्तर्व्याप्ति-समर्थन' शीर्षक से लिखा था जिसमे उन्होने बतलाया कि व्याप्ति केवल उन दो पदार्थो मे नही मानी जाती जिनमे लिंग अथवा हेतु होता है और जिनमे साध्य होता है किन्तु उनमे होती है जिनमे लिंग के लक्षण विद्यमान हो और जिसमे साध्य के लक्षण विद्यमान हो, दूसरे शब्दो मे धूम को रखने वाले बाहरी स्थानो जैसे महानस (रसोईघर), पर्वत मे और वह्नि को रखने वाले स्थानो मे व्याप्ति नही मानी जाती बल्कि उन दो पदार्थो मे मानी जाती है जिनमे लिंग अर्थात् धूम के लक्षण हो और जिसमे साध्य अर्थात् वह्नि के लक्षण हो। व्याप्ति के लक्षण के बारे मे यह मत अन्तर्व्याप्ति-मत कहा जाता है और साध्य और साधन रखने वाले बाह्य पदार्थों मे व्याप्ति मानने वाला मत (जो न्याय शास्त्र वाले मानते हैं) बहिर्व्याप्तिमत कहा जाता है। स्पष्टत अन्तर्व्याप्ति का सिद्धान्त परवर्ती है और बौद्ध दार्शनिको की देन है।

यहाँ यह उल्लेख अप्रासगिक नही होगा कि बौद्ध तर्कशास्त्र के कुछ उदाहरण हमे कथावत्थु (200 ई० पू०) के समय से ही मिलने लगते हैं। यमक के प्रमाणो पर ओंग ने बतलाया कि अशोक के समय मे बौद्ध तर्कशास्त्र को पदो की व्याप्ति का भी ज्ञान था और परिवर्तन की प्रक्रिया का भी। उसने यह भी बताया है कि तर्क वाक्यो जैसे उदाहरण (यो यो अग्गिमा सो सो धूमवा—जहाँ अग्नि है वहाँ-वहाँ धूम है), उपनयन (अय पव्वतो धूमवा, यह पर्वत धूमवान है) तथा निग्गम (तस्मादया अग्गिमा इसलिए यह अग्निमान है) का भी उसे ज्ञान था। ओंग ने कथावत्थु मे उपलब्ध तर्को की प्रक्रिया का भी थोडा सक्षिप्त विवरण दिया है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

वादी—क्या क ख हैं (थापना)।

प्रतिवादी—हाँ

वादी—क्या ग, घ हैं (पापना)।

प्रतिवादी—नहीं

वादी—यदि क ख हैं तो (तुम्हारे अनुसार) ग घ होना चाहिए। ख को क मे सिद्ध किया जा सकता है पर घ को ग में सिद्ध करना मिथ्या है इसलिए तुम्हारा प्रथम उत्तर खडित हुआ।

मुख्य प्राक्कल्पना का हेतु वाक्य थापना कहा जाता है क्योकि प्रतिवादी की स्थिति कि क ख है—खडन के लिए हेतुक रूप मे स्थापित की जाती है। प्राक्कल्पना के प्रधान वाक्य का फलवाक्य पापना कहा जाता है क्योकि यह हेतु वाक्य से नि सृत है। निष्कर्ष को रोपणा कहा जाता है क्योकि प्रतिवादी का नियमन किया जाता है। एक अन्य उदाहरण—

"यदि घ ग से नि सृत है तो ख क से नि सृत होगा पर तुमने क को ख सिद्ध किया इसलिए क ख सिद्ध हो सकता है किन्तु ग या घ सिद्ध नही हो सकता यह गलत है।" यह प्रतिलोम, विपरीत या अप्रत्यक्ष पद्धति है जो अनुलोम या प्रत्यक्ष पद्धति (पहले उदाहरण) से विभिन्न है। दोनो मे निष्कर्ष सिद्ध किया जाता है। किन्तु यदि हम मुख्य प्राक्कल्पना को

अनुलोम पद्धति में वदल दें तो वह यूँ होगी—"यदि क ख है तो ग घ है। लेकिन क ख है इसलिए ग घ है।" इस अप्रत्यक्ष पद्धति से प्रतिवादी का द्वितीय उत्तर पुनः स्थापित हो जाता है।[1]

क्षणिकवाद का सिद्धान्त

रत्नकीर्ति ने (950 ईस्वी) समस्त सृष्टि (सत्व) की क्षणिकता सिद्ध करने का प्रयास किया था, पहले तो अन्वयव्याप्ति द्वारा फिर व्यभिचार व्याप्ति द्वारा यह सिद्ध करते हुए कि वस्तुओ के नित्य होने की कल्पना से कार्यो की उत्पत्ति सिद्व नही की जा सकती इसलिए क्षणिकवाद को मानना ही एकमात्र मार्ग है। सत्व की परिभाषा अर्थक्रियाकारित्व (किसी के उत्पादन की शक्ति) के रूप मे की गई है। अन्वय व्याप्ति के पहले तर्क को इस प्रकार रखा जा सकता है—"जो भी कुछ सृष्टि मे है वह क्षणिक है, अपने सत्य के रूप मे, जैसे घडा। प्रत्येक वस्तु जिसकी क्षणिकता के वारे मे हम विमर्श कर रहे हैं सत् है अतः क्षणिक है।" यह नही कहा जा सकता कि घड़ा जिसे हमने सत् के उदाहरण के रूप मे चुना है क्षणिक नही है, क्योकि घड़ा इस क्षण मे कुछ कार्यो की उत्पत्ति कर रहा है और यह नही कहा जा सकता कि ये सब भूत और भविष्य मे समान है या यह कि भूत और भविष्य मे इसके कोई परिणाम नही हुए क्योंकि प्रथम असंभव है क्योकि जो परिणाम अभी हो रहे है भविष्य मे नही हो सकेगे, दूसरा इसलिए नही कि यदि इसमे परिणाम उत्पन्न करने की क्षमता है तो ऐसा करना वन्द नही करेगा, उस स्थिति मे हम यह भी मान सकते हैं कि इस वर्तमान क्षण मे भी कोई परिणाम नही होगे। यदि किसी मे किसी को उत्पन्न करने की क्षमता है तो वह अवश्य ऐसा करेगा। यदि वह एक क्षण मे ऐसा करता है और दूसरे क्षण मे ऐसा नही करता तो उससे यह सिद्ध होगा कि विभिन्न क्षणो में पदार्थ विभिन्न थे। यदि यह माना जाता है कि उत्पत्ति की प्रकृति अलग-अलग क्षणो में विभिन्न है तो उन दो क्षणो मे वस्तु भी विभिन्न होगी क्योकि एक वस्तु मे दो विरोधी लक्षण नही रह सकते।

क्योकि घड़ा वर्तमान क्षण में भूत और भविष्य के क्षणों का कार्य नही करता, वह ऐसा कर भी नही सकता, इसलिए कि यह घड़ा भूतकाल के और भविष्य के घड़े से अभिन्न नही है क्योकि घड़े मे शक्ति है भी और शक्ति नही भी है यह तथ्य सिद्ध करता है कि दो क्षणों मे वह घड़ा एक और अभिन्न नही था (शक्ताशक्तस्वभावतया प्रतिक्षणम् भेद.)। अर्थ-क्रियाशक्ति जो सत्व का ही दूसरा नाम है, क्षणिकता से सर्वाधिक रूप से सम्वद्ध है (क्षणिकता व्याप्त)।

न्याय दर्शन इस सिद्धान्त का विरोध करता है और वह है कि जब तक किसी पदार्थ के कार्य को हम ज्ञात नही करते तब तक उसकी शक्ति का ज्ञान नही हो सकता और यदि

1. देखे . कथावत्थु (पाइन्ट्स ऑफ कन्ट्रोवर्सी) के राइस डेविड्स कृत अनुवाद की भूमिका।

कार्यों के उत्पादन की शक्ति को ही सत्व या सत्ता माना जाय तो कार्य की सत्ता या सत्व तक ज्ञात नही हो सकता जब तक उसके द्वारा दूसरा कार्य उत्पन्न न दिया जाय और उसके द्वारा तीसरा। इस प्रकार आगे चलते जाएँगे। चूँकि ऐसा कोई सत्व नहीं है जिसमे कार्य के उत्पादन की शक्ति नही हो और यह शक्ति यदि केवल अनन्त शृखला के रूप मे ही प्रकट या ज्ञात हो सकती है अत सत्व का ज्ञान असभव होगा, और सत्व के लक्षण के रूप मे कार्य के उत्पादन की शक्ति को सिद्ध करना भी असभव होगा। दूसरे, यदि सभी वस्तु क्षणिक हों तो क्षणिकता अथवा परिवर्तन का ज्ञान या प्रत्यक्ष करने वाला कोई स्थायी द्रष्टा भी नही होगा और फिर जब कोई चीज स्थायी नही है तो किसी भी प्रकार के अनुमान करने के लिए भी कोई आधार नही होगा। इसका उत्तर रत्नकीर्ति यों देता है कि सामर्थ्य का खडन नही किया जा सकता। क्योंकि खण्डन मे भी सामर्थ्य स्वत प्रकट हो जाएगा। अन्वय या व्यभिचार द्वारा व्याप्ति की सिद्धि के लिए किसी स्थायी द्रष्टा की आवश्यकता नही है क्योंकि अन्वय की कुछ शर्तों मे अन्वय की व्याप्ति का ज्ञान निहित है और दूसरी स्थितियो मे व्यभिचार की व्याप्ति का ज्ञान। अगले क्षण मे व्याप्ति का ज्ञान प्रथम क्षण की स्थितियो के अनुभव को भी अपने आप मे निहित रखता है। इसी प्रकार हम ज्ञान करते हैं। किसी स्थायी द्रष्टा की आवश्यकता नही है।

बौद्ध दर्शन मे सत्व की परिभाषा वस्तुत सामर्थ्य है। इसे हम यो समझते हैं कि सभी सिद्ध उदाहरणो मे सत्ता का लक्षण केवल सामर्थ्य द्वारा ही दिया गया है, बीज अकुर के उत्पादन करने का सामर्थ्य ही है और यदि इस सामर्थ्य के लिए भी आगे के कार्यों के उत्पादन करने का सामर्थ्य अपेक्षित हो तो यह तथ्य जो परिज्ञात है फिर भी रहेगा ही कि बीज का सत्व अकुर के उत्पादन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और इस प्रकार[1] अनवस्था दोष नहीं होगा। यद्यपि सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं फिर भी हम तब तक व्याप्ति ग्रहण कर सकते हैं जब तक कि उनके (साध्यसाधन के) प्रत्यक्ष रूप विभिन्न हो जाते (अतद्रूप-परावृत्तयोरेव साध्यसाधनयो प्रत्यक्षेण व्याप्ति ग्रहणात्)। दो चीजो मे (जैसे वह्नि और धूम) व्याप्ति का ग्रहण उसकी पूर्ण समानता पर आधारित होता है, अभिन्नता पर नहीं।

---

1 दोषात्मक अनवस्था तथा अदुष्ट अनवस्था के बीच विभेद भारतीय दार्शनिकों को ईसा की छठी या सातवी शताब्दी से ही ज्ञात था। जयन्त ने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमे इन दोनो का भेद स्पष्ट किया गया है।

—न्यायमजरी पृष्ठ 22।

मूलक्षतिकरीमाहुरनवस्था हि दूषणम्
मूलसिद्धौ त्वरुच्यापि नानवस्था निवार्यते ।।

जिस अनवस्था को मूल प्रतिपाद्य के मार्ग मे मानना अनिवार्य हो जाता है और जो प्रतिपाद्य की क्षति करती है वह दोष है किन्तु यदि मूल अनवस्था से बच जाता है, उसकी सिद्धि अक्षुण्ण रहती है तो अरुचिकर होने पर भी अनवस्था मे कोई दोष नही होता।

क्षणिकवाद के विरुद्ध एक आपत्ति यह उठाई जाती है कि कारण द्वारा कार्य की उत्पत्ति होने से पूर्व अनेक साधनों का समवाय आवश्यक है जैसे बीज द्वारा अंकुर की उत्पत्ति होने से पूर्व मिट्टी, जल आदि अनेक तत्त्व आवश्यक हैं इसलिए यह सिद्धान्त असफल है। इसका उत्तर रत्नकीर्ति यो देता है कि वास्तव मे यह स्थिति नही है कि बीज पहले होता हो और उसके बाद अन्य साधनो के साहाय्य से कारणो की उत्पत्ति करता हो, वस्तुतः एक विशेष बीज क्षण की यह विशिष्ट शक्ति है कि यह एक स्थिति और उन स्थितियों को तथा कार्य अर्थात् अकुर को भी एक साथ जन्म देता है। एक विशिष्ट बीज-क्षण ऐसी विशिष्ट शक्ति किस प्रकार प्राप्त करता है यह अन्य कारणिक क्षणो पर, जो उसके पूर्ववर्ती थे और जिन पर वह निर्भर है, आधारित होता है। रत्नकीर्ति इस ओर ध्यान दिलाना चाहता है कि जिस प्रकार एक प्रात्यक्षिक क्षण अनेक पदार्थो का बोध करा देता है उसी प्रकार एक कारणिक क्षण अनेक कार्यो की उत्पत्ति करा सकता है। इस प्रकार वह सिद्ध करता है कि 'जो भी सत् है वह क्षणिक है' यह सिद्धान्त सिद्ध एव निर्दोष है।

रत्नकीर्ति के तर्को के दूसरे भाग पर विशेष विस्तार आवश्यक नही है जिसमें वह कहता है कि कार्यों की उत्पत्ति सिद्ध ही नहीं की जा सकती जब तक हम यह न मान लें कि सब वस्तुएँ क्षणिक हैं, क्योकि यह न्याय के सिद्धान्तों के खडन मात्र के लिए लिखा गया है बौद्ध दर्शन के विवेचन की दृष्टि से नही।

क्षणिकवाद को बौद्ध तत्त्व-मीमांसा के सीधे परिणाम के रूप मे सामने आना चाहिए था किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि प्राक्तन पाली साहित्य में यद्यपि समस्त धर्म परिवर्तन-शील माने गए थे किन्तु वे सब क्षणिक भी हैं (क्षणिक अर्थात् एक क्षण के लिए ही विद्य-मान) यह उनमे कही वर्णित नही है। अपने ग्रन्थ "श्रद्धोत्पादशास्त्र" मे अश्वघोष ने सभी स्कन्धों को क्षणिक बतलाया है (सुजुकीकृत अनुवाद पृ० 105)। बुद्धघोष ने "विसुद्धिमग्ग" में स्कधो का चिन्तन क्षणिक के रूप मे किया जाना बताया है। ईसा की सातवी शताब्दी से लेकर 11वी शताब्दी तक इस सिद्धान्त पर तथा अर्थ क्रियाकारित्व के सिद्धान्त पर सौत्रातिको और वैभाषियो ने पर्याप्त विवेचन और विचारमंथन किया। इस अवधि का न्यायसाहित्य और वेदान्तसाहित्य इन वादों के खडन-मंडन से भरा पड़ा है। बौद्ध दर्शन मे क्षणिकवाद का विवेचन उपलब्ध है वह रत्नकीर्ति की लेखनी से ही प्रसूत है। इस वाद के समर्थन मे उसने जो मुख्य बिन्दु बतलाए हैं उनका कुछ विवेचन ऊपर किया गया है, अधिक विशद विवेचन इस काल के महत्त्वपूर्ण न्याय ग्रन्थों जैसे न्यायमंजरी, तात्पर्य-टीका (वाच-स्पतिमिश्र कृत) आदि मे उपलब्ध हो सकता है।

बौद्धदर्शन ने कभी किसी वस्तु को स्थायी नही माना है। इस वाद के विकास के साथ इस तथ्य को हम और भी बद्धमूल पाते हैं। एक क्षण मे पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं और दूसरे क्षण मे नष्ट हो जाते हैं। जो भी सत्ता मे है, सभी क्षणभंगुर है। ऐसा कहा जाता है कि स्थायिता का हमारा सिद्धान्त स्व या आत्मा की स्थायिता की धारणा पर आधारित होता है, बौद्धदर्शन 'स्व' को ही स्थायी नही मानता। 'स्व' के रूप मे हम जिसे देखते हैं वह केवल विचारों, भावनाओ तथा सक्रिय प्रवृत्तियो जो किसी क्षण विशेष में

प्रतिभासित होती हैं, का एक समवाय मात्र है। अगले क्षण ये तिरोहित हो जाती हैं और उनसे निःसृत अन्य भावनाएँ और प्रवृत्तियाँ प्रतिभासित होती हैं। इस प्रकार वर्तमान विचार की एकमात्र चिन्तक है। भावनाओं, प्रत्ययों और क्रियारूप प्रवृत्तियों से परे कोई 'स्व' या आत्मा नहीं है। इसका समवाय ही 'आत्मा' के एक भ्रमात्मक प्रत्यय की सृष्टि के लिए उत्तरदायी है। किसी क्षण विशेष में इस समवाय द्वारा आत्मा का अहसास जन्मता है और चूँकि अगले क्षण ये भावना, प्रत्यय आदि बदल जाते हैं अतः स्थायी आत्मा जैसी कोई चीज नहीं हुई।

यह तथ्य कि "मुझे स्मरण है कि मैं चिरकाल से निरन्तर विद्यमान हूँ" इस बात को सिद्ध नहीं कर देता कि चिरकाल से एक स्थायी आत्मा भी विद्यमान है। जब मैं कहता हूँ कि 'यही वह पुस्तक है', मैं इस पुस्तक को अपनी आँख से वर्तमान क्षण में देखता हूँ किन्तु यह बात कि "यह पुस्तक वही पुस्तक (जो कि मेरी स्मृति में इस समय है)— इन्द्रिय (आँख) गम्य नहीं है" वह पुस्तक स्मृतिगत किसी भूतकालिक पुस्तक का द्योतन करती है जबकि यह पुस्तक आँख के सामने है। इस प्रकार स्थायिता की सिद्धि करने के लिए प्रत्यभिज्ञा की जो भावना काम में लाई जाती है वह स्मृतिगत किसी पदार्थ में जो भूतकालिक है और सुतरां विभिन्न है, वर्तमानकालिक और इन्द्रियगम्य किसी पदार्थ का भ्रम पैदा करने के कारण जन्म लेती है।[1] यह बात न केवल बाह्य पदार्थों की प्रत्यभिज्ञा और स्थायिता पर घटित होती है बल्कि आत्मा के स्थायित्व की धारणा पर भी लागू होती है क्योंकि आत्मा प्रत्यभिज्ञा स्मृति में स्थित कुछ प्रत्ययों या भावनाओं के साथ वर्तमान क्षणागत तत्समान भावनाओं या प्रत्ययों का घपला कर देने से उद्भूत होती है। किन्तु चूँकि स्मृति भूतकालिक प्रत्यक्ष के पदार्थों को ही भासित करती है और प्रत्यक्ष वर्तमान-कालिक पदार्थ को भासित करता है—इन दोनों को मिला देने से (घपला कर देने से) प्रत्यभिज्ञा सिद्ध नहीं होती। हर क्षण संसार का हर पदार्थ विनाश और तिरोधान की प्रक्रिया से गुजरता रहता है फिर भी पदार्थ स्थायी जैसे लगते हैं और बहुधा विनाश की क्रिया भासित नहीं होती। हमारे केश और नख बढ़ते हैं, काटे जाते हैं किन्तु हमें लगता है कि ये वही केश हैं, वही नख हैं जो पहले थे। पुराने केशों और नखों की बजाय नए उग आते हैं पर लगता है ये वही पुराने हैं। इसी प्रकार ऐसा होता है कि पुराने पदार्थों की बजाय हर क्षण ठीक उन्हीं के समान नए पदार्थ उद्भूत होते रहते हैं। पुराने पदार्थ अगले क्षण नष्ट होते रहते हैं किन्तु ऐसा लगता है कि ये वही पुराने पदार्थ अस्तित्व में हैं।[2] जिस प्रकार मोमबत्ती की लौ हर क्षण पृथक् होती है किन्तु हमें लगता है कि यह वही लौ है जो पहले थी—उसी एक लौ का हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं ऐसा लगता है उसी प्रकार हमारे

---

1 देखें, बौद्धों का प्रत्यभिज्ञानिरास, न्यायमंजरी (वी० एस० सिरीज, पृ० 449) तथा आगे।

2 देखें, गुणरत्न की तर्करहस्यदीपिका, पृ० 30, एवं न्यायमंजरी (वी०एस० संस्करण, पृष्ठ 450)।

शरीर, प्रत्यय, भावनाएँ तथा समस्त बाह्य पदार्थ जो हमारे चारों ओर हैं, हर क्षण नष्ट होते रहते हैं और नए पदार्थ उसके अनुवर्ती क्षण मे उद्भूत होते रहते हैं पर जब तक नए पदार्थ उनसे पूर्ववर्ती पदार्थों के समान होते हैं तब तक हमें ऐसा लगता है कि ये वही पदार्थ हैं और विनाश जैसी कोई वस्तु नही हुई।

क्षणिकवाद का सिद्धान्त और अर्थक्रियाकारित्व का सिद्धान्त

ऐसा लगता है कि बौद्ध दर्शन के दृष्टिकोण से किसी पदार्थ या प्रघटना (संवृति) को विविध लक्षणों के समुदाय के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है।[1] जिसे हम पदार्थ कहते हैं वह विविध, विभिन्न लक्षणों का सघात है जो अन्य सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों के रूप मे प्रतिभासित अन्य पदार्थों को प्रभावित अथवा निर्धारित करते है। जब तक किसी समुदाय के घटक तत्त्वों के लक्षण समान रहते हैं, उस समुदाय को समान कहा जा सकता है और ज्योंही उन लक्षणों में से किसी के स्थान पर नए लक्षण पैदा हो जाते हैं तो उस समुदाय को नया कहा[2] जाता है। सत्ता अथवा किसी पदार्थ के होने का तात्पर्य है कि उसके लक्षण समुदाय द्वारा क्या कार्य किया जाता है अथवा उस समुदाय द्वारा अन्य समुदाय पर क्या प्रभाव डाला जाता है। इसे ही संस्कृत में अर्थक्रियाकारित्व कहा जाता है जिसका अनुवाद होगा कार्यों को करने की शक्ति अथवा किसी प्रकार का उद्देश्य।[3] सत्ता

---

1. तुलनीय· मिलिन्दपन्ह 2/1/1 रथ की निदर्शना।

2 तुलनीय गुणरत्न की तर्करहस्यदीपिका, ए० एस० संस्करण, पृ० 24,28 तथा न्यायमंजरी, वी० एस० संस्करण, पृ० 445, तथा रत्नकीर्ति की क्षणभंगसिद्धि पर शोधपत्र (सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स)।

3. अर्थक्रियाकारित्व शब्द का यह अर्थ उस अर्थ से विभिन्न है जो हमने "प्रत्यक्ष के सौत्रांतिक सिद्धान्त" अध्याय में समझा था। किन्तु अर्थ का यह विकास रत्नकीर्ति के ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है और न्याय के उन ग्रन्थों मे भी जिनमे इस बौद्ध सिद्धान्त का उल्लेख है। विनीतदेव (सातवी ईस्वी सदी) ने "अर्थ क्रियासिद्धि" शब्द का अर्थ लिया था किसी भी अपेक्षा की पूर्ति करना जैसे अग्नि से चाँवलों के पकाने का कार्य (अर्थ क्रिया शब्देन प्रयोजनमुच्यते पुरुषस्य प्रयोजनं दारुपाकादि तस्य सिद्धिर्निष्पत्ति., अर्थ का तात्पर्य है अपेक्षा, मनुष्य की अपेक्षा जैसे काष्ठ के द्वारा अग्नि और उससे पाचन, सिद्धि का तात्पर्य है पूर्ति)। लगभग डेढ़ शताब्दी बाद हुए धर्मोत्तर ने अर्थ सिद्धि का अर्थ लिया था क्रिया (अनुष्ठिति) और हेय एवं उपादेय विषयो के संदर्भ मे उनका तात्पर्य निर्वचन किया था (हेयोपादेयार्थ-विषय)। किन्तु रत्नकीर्ति ने अर्थ क्रियाकारित्व शब्द का बिलकुल अलग ही अर्थ लिया है—(950 ईस्वी)—वह शब्द जो किसी घटना या क्रिया को जन्म दे—और इस प्रकार इसे सत्व (सत्ता) के एक लक्षण या परिभाषा के रूप में माना है। वह अपने ग्रन्थ "क्षणभंगसिद्धि" (पृ० 20, 21) में कहता है कि यद्यपि विभिन्न दर्शनों मे सत्व के

अथवा होने का मापदण्ड ही यही है कि कुछ विशिष्ट क्रियाओं का सम्पादन-अथवा-सत्ता का तात्पर्य यही है कि किस प्रकार एक विशिष्ट प्रभाव या कार्य सम्पादित होता है (अर्थ-क्रिया)। जिसमे इस प्रकार की अर्थ-क्रिया का प्रादुर्भाव होता है उसी पदार्थ को सत् या सत्ताशील कहा जाता है। कार्य मे इस प्रकार जो परिवर्तन निष्पादित होता है उसका परिणाम होता है सत्ता मे भी उसी प्रकार का परिवर्तन। वह परिवर्तन जो इस समय निष्पादित हुआ है, इससे पूर्व ठीक वही परिवर्तन कभी नही पैदा हुआ था, न भविष्य मे उसे उत्पादित किया जा सकेगा—क्योकि ठीक वही परिवर्तन भविष्य मे कभी पैदा किया ही नही जा सकता। इस प्रकार पदार्थों द्वारा विभिन्न क्षणो मे हम मे जो परिवर्तन निष्पादित होते हैं वे समान हो सकते हैं किन्तु अभिन्न नहीं हो सकते। प्रत्येक क्षण नए कार्य और परिणाम से सम्बद्ध होता है और प्रत्येक नए परिणाम या परिवर्तन की उत्पत्ति का अर्थ होता है हर बार पदार्थ की सत्ता का तदनुरूप नए रूप में जन्म लेना। यदि पदार्थ स्थायी होते तो काल के विभिन्न क्षणो में उनके द्वारा विभिन्न कार्यो की उत्पत्ति करने का कोई कारण नही हो सकता था। कार्य मे किसी भी परिवर्तन की उत्पत्ति चाहे वह उस पदार्थ के स्वय के कारण हो चाहे अन्य सहायक स्थितियो के समुदाय के कारण, हमे यह सिद्ध करने की ओर ले जाती है कि वह पूर्ववर्ती पदार्थ परिवर्तित हो गया है और उसके स्थान पर एक नए पदार्थ ने जन्म ले लिया है। उदाहरणार्थ, घट की सत्ता इसीलिए है कि वह अपने आपको हमारे ज्ञान मे प्रतिभासित करने की क्षमता रखता है—यदि उसमे यह क्षमता नही होती तो हम यह कभी नही कह सकते थे कि घट है। पदार्थों की सत्ता का इसके अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नही हो सकता कि वह हम में एक छाप या प्रतिभास पैदा करता है—यह प्रतिभास हमारे ऊपर उस पदार्थ की प्रतिभासन क्षमता के प्रतिविम्ब के अतिरिक्त और कुछ नही है। इस दृष्टि से हमें ऐसा कोई प्रमाण नही मिलता कि पदार्थ की इस प्रकार प्रतिभास या छाप छोडने की क्षमता के अतिरिक्त (जो उस पदार्थ की आन्तरिक क्षमता है) कोई अन्य स्थायी सत्ता है जिससे वह क्षमता सबद्ध रहती है और उस क्षमता के हम पर क्रिया करने के पूर्व भी ऐसी कोई सत्ता थी। हम प्रतिभास, कार्य या क्रिया के उत्पादन करने की इस क्षमता का ही प्रत्यक्ष करते हैं और इस क्षमता की प्रत्येक इकाई को सत्ता की प्रत्येक इकाई के रूप में परिभाषित करते हैं। चूंकि विभिन्न क्षणो मे इस क्षमता की इकाई अलग होती है अत उन क्षणो मे उस सत्ता की इकाई भी अलग ही माननी होगी जिसका अर्थ यह हुआ कि सत्ता अलग-अलग क्षणो मे पैदा होती है और इस प्रकार वह स्थायी नही है। सत्ताशील सभी तत्त्व क्षणिक हैं—उस क्षण मे ही स्थित रहते हैं जिसमे वह क्षमता कार्य करती है। सत्ता की यह परिभाषा रत्नकीर्ति द्वारा वर्णित क्षणिकता की परिभाषा की ־नक है।

विभिन्न अर्थ और परिभाषाएँ हैं, मैं अपनी परिभाषा सर्वमान्य रूप से प्रसिद्ध लक्षण से शुरु कर रहा हूँ और वह है अर्थ-क्रियाकारित्व (किसी घटना या कार्य के उत्पादन का सामर्थ्य)। जिन किन्हीं हिन्दू दार्शनिको ने अर्थ-क्रियाकारित्व सिद्धान्त का उल्लेख किया है, उन्होने इसी परिभाषा का सदर्भ दिया है जो रत्नकीर्ति का है।

विभिन्न भारतीय दर्शनों द्वारा विभिन्न रूप में विवेचित कुछ सत्तामीमांसीय विषय

हम बौद्ध दर्शन का अपना विवेचन बिना उन दार्शनिक बिन्दुओं पर बौद्ध दृष्टि-कोण का विचार किए समाप्त नही कर सकते जो समस्त भारतीय दार्शनिक क्षेत्रों के चिन्तन के मुख्य विषय रहे है। ये प्रमुखतः इस प्रकार हैं—1. कार्य कारण सम्बन्ध, 2. अवयवी और अवयव का सम्बन्ध, 3. सामान्य और विशेष का सम्बन्ध, 4 गुण और गुणी का सम्बन्ध, 5. शक्ति और शक्तिमान् का सम्बन्ध। कार्य और कारण के सम्बन्ध पर शंकर का विचार था कि कारण ही नित्य, स्थायी और वास्तविक है—समस्त कार्य अपने आप में अस्थायी, मायाकृत, भ्रमगत हैं एवं अविद्याजन्य है। सांख्य के मत में कार्य और कारण में कोई भेद नहीं है—केवल इतना फर्क है कि कारण केवल एक पूर्वतर स्थिति है जिसमें कुछ परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू होने पर वही कार्य बन जाता है। कार्यकारण-सम्बन्ध का इतिहास कारण के ही कार्य रूप मे परिणत होने का इतिहास है। बौद्धो के मत मे कारण और कार्य दोनों क्षणिक हैं अत. दोनो ही अस्थायी हैं। कार्य को कार्य इसलिए कहा जाता है कि उसकी क्षणिक सत्ता उसके पूर्ववर्ती कारण की क्षणिक सत्ता की समाप्ति द्वारा ही परिभाषित होती है। ऐसी कोई स्थायी सत्ता नही है जिसमें परिवर्तन होता है—बल्कि एक परिवर्तन दूसरे परिवर्तन को जन्म देता है या निर्धारित करता है। यह निर्धारण इस प्रकार होता है—"उसके होते हुए यह हुआ।" अवयवावयवि-सम्बन्ध के बारे मे बौद्ध अवयवी की सत्ता ही नही मानते। उनके अनुसार अवयव ही भ्रमात्मक रूप से अवयवी के रूप में दिखते हैं। एक-एक अणु एक क्षण में उत्पन्न होता है और दूसरे क्षण नष्ट होता है और इस प्रकार "अवयवी" जैसी कोई स्थिति नही बनती।[1] बौद्धों के अनुसार कोई जाति भी नही है—केवल व्यक्ति ही हैं जो आते और जाते है। मेरे हाथ में पाँच अंगुलियाँ है जो अलग-अलग हैं और व्यक्ति हैं। इनमे अंगुलित्व जैसी कोई जाति नही है। गुणगुणी के सम्बन्ध के बारे मे भी हमने यह देखा है कि सौत्रांतिक बौद्ध किसी भी तत्त्व को, गुणों के अलावा या पृथग्भूत नही मानते। जिसे हम गुणी कहते हैं केवल एक ऐसी इकाई है जो सवेदन की एक इकाई को जन्म दे सकता है। बाह्य जगत् मे उतने ही व्यक्ति, या सामान्य इकाइयाँ हैं जितने सवेदन के क्षण हैं। एक सवेदन की इकाई के ही प्रतिनिधि या प्रतिरूप के रूप में बाह्य जगत् में भी एक वस्तु की इकाई होती है। हमारे द्वारा किया गया किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष इन संवेदनाओं के समवाय का ही प्रत्यक्ष है। बाह्य जगत् मे कोई तत्त्व या पदार्थ वस्तुत· नही है, केवल अणु अथवा व्यक्ति है, प्रत्येक एक सवेदन की इकाई का रूप है—अथवा क्षमता या गुण की इकाई का जो एक क्षण मे उत्पन्न होती है और दूसरे क्षण मे नष्ट होती है। इस प्रकार बौद्ध गुण और गुणी के बीच "समवाय" सम्बन्ध जैसे किसी

---

1. देखें, अवयविनिराकरण (सिक्स बुद्धिस्ट ट्रैक्ट्स बिब्लियोथीका इन्डिका, कलकत्ता 1910)।

सम्बन्ध को नहीं मानते । चूँकि कोई गुणी या पदार्थ ही नही है तो उनमे समवाय सम्बन्ध मानने की आवश्यकता भी उन्हे नही है । इसी तर्क के आधार पर बौद्ध शक्ति और शक्तिमान जैसी चीजो की सत्ता भी नही मानते ।

बौद्ध चिन्तन के विकास का संक्षिप्त सर्वेक्षण

बौद्ध दर्शन के प्रारंभिक काल मे चार महान् सत्यो की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया था, प्रणालीबद्ध तत्वमीमासा की ओर कम । दु ख क्या है—उसका कारण क्या है, उसकी समाप्ति कैसे होती है और उसके क्या उपाय हैं ? 'पतिच्चसमुप्पाद' का सिद्धान्त इसी बात की व्याख्या करने हेतु बना था कि दु ख कैसे उद्भूत होता था, उसे किसी तत्वमीमासीय विवेचना के लिए नहीं बनाया गया था । प्रारंभिक काल मे ऐसे चरम तत्वमीमासीय विषयो की विवेचना, जैसे यह जगत् नित्य है या अनित्य, तथागत मृत्यु के बाद भी रहते हैं या नही, एक प्रकार की धर्म-विमुखता ही समझी जाती थी । शील, समाधि और पञ्ञा पर बहुत जोर दिया जाता था तथा 'आत्मा कही नही है' वाले सिद्धान्त को ही मानकर चला जाता था । अभिधम्मों मे ऐसा कोई दर्शन नही मिलता जो सुत्तो मे नही मिलता हो । उनमें सत्तो मे वर्णित विषयो को ही व्याख्याओ और उदाहरणो द्वारा समझाया गया है । लगभग 200 ई पू के आसपास महायान ग्रन्थो के विकास के साथ ही धम्मों की नि सारता तथा अनावश्यकता उपदिष्ट की जाने लगी । यह सिद्धान्त जिसे नागार्जुन, आर्यदेव, कुमारजीव तथा चन्द्रकीर्ति ने अभिहित एव पल्लवित किया पूर्वकालिक बौद्ध दर्शन का ही उपनिगमन है । यदि हम यह नहीं कह सकते कि जगत् नित्य है या अनित्य, तथागत मृत्यु के बाद भी रहते हैं या नही, यदि कहीं कोई नित्य आत्मा नही है, यदि सभी धम्म परिवर्तनशील हैं—तो जो भी कुछ हमारे चिन्तन के लिए बच रहता है वह कुछ ऐसा ही होता है कि समस्त वस्तुएँ जो दिखाई देती हैं, नि सार हैं और प्रतिभासमात्र हैं । ये प्रतिभास परस्पर सबद्ध जैसे दिखते हैं लेकिन आभास के अतिरिक्त उनमे कोई सत्य, सत्ता या वास्तविकता नहीं है । अश्वघोष द्वारा उपदिष्ट तथता सिद्धान्त इन दो स्थितियों के बीच झूलता सा प्रतीत होता है—एक ओर समस्त धम्मो की नि सारता का सिद्धान्त, दूसरी ओर यह ब्राह्मणवादी विचार कि इन नि सार धर्मों के आधार रूप में कही कुछ और भी है । इसे ही वह तथता का नाम देता है पर वह स्पष्ट रूप से नही कह पाता कि कोई स्थायी सत्ता कही विद्यमान रह सकती है या नहीं । इसी काल में विकसित विज्ञानवाद सिद्धान्त भी मुझे तो शून्यवाद और तथता सिद्धान्त का मिश्रण जैसा लगता है । यदि बहुत ध्यान से देखा जाय तो यह शून्यवाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं—समस्त दृश्य सवृतियों की व्याख्या करने का यह एक प्रयत्न मात्र है । यदि सब नि सार है तो यह पैदा कैसे हुआ ? विज्ञानवाद इसका यह उत्तर देना चाहता है कि ये सब सवृतियाँ केवल मन की उपज हैं, प्रत्ययमात्र हैं जो मन की अनादि वासनाओ द्वारा जनित हैं । तथता सिद्धान्त में जो कठिनाई रह जाती है वह यह है कि इन समस्त सवृतिरूपी प्रत्ययों के उत्पादन करने वाली कोई वस्तुसत्ता इनके पीछे होनी चाहिए, यही कठिनाई विज्ञानवाद की भी है । विज्ञानवादी ऐसी किसी वस्तुसत्ता की स्थिति को नहीं मान सके हैं किन्तु उनका सिद्धान्त अन्तत इसी दिशा

की ओर उन्हें ले जाता है। वे इस कठिनाई का सही समाधान नही दे सके हैं और उन्हें कहना पड़ा है कि उनका यह सिद्धान्त कही-कहीं विधर्मी ब्राह्मणवाद के कुछ सिद्धान्तों के साथ समझौता है किन्तु सिद्धान्त को अन्य धर्मानुयायियों के लिए अधिक बोधगम्य और रुचिकर बनाने हेतु ऐसा समझौता आवश्यक था। वस्तुतः इस सिद्धान्त में जिस सत्य को मानकर चला गया है वह भी सारहीन है। विज्ञानवाद पर हमें जो साहित्य उपलब्ध है वह इतना अपर्याप्त है कि हम यह नही कह सकते कि विज्ञानवादी इस कठिनाई के समाधान के लिए क्या उत्तर देते हैं। ये तीनो सिद्धान्तः प्राय. समकालिक से है और शून्य, तथता और आलयविज्ञान (विज्ञानवाद) के चिन्तन और विचार में जो कठिनता रह जाती है वह सभी में समान है।

अश्वघोष का तथतासिद्धान्त उसके साथ ही समाप्त हो जाता है। किन्तु शून्यवाद और विज्ञानवाद के सिद्धान्त जो लगभग 200 ई० पू० के आसपास उत्पन्न हुए लगभग ईसा की आठवी शताब्दी तक विकसित होते रहे। कुमारिल और शंकर के बाद शून्यवाद के खंडन हेतु इतना जोरदार विचार-विमर्श किसी अन्य स्वतन्त्र हिन्दू दर्शन की पुस्तक में नहीं हो पाया है। ईसा की तीसरी और चौथी शताब्दी से कुछ बौद्ध तार्किकों ने प्रणालीबद्ध तर्क का अध्ययन आरम्भ किया और हिन्दू तार्किकों के सिद्धान्तों का खंडन भी। सभवतः दिङ्नाग (बौद्ध तार्किक, 500 ईस्वी) ने इस प्रकार के खंडनात्मक विचार-विमर्श का सूत्रपात किया। अपने 'प्रमाणसमुच्चय' मे हिन्दू तार्किक वात्स्यायन के सिद्धान्तों का खंडन करके। तार्किक शास्त्रार्थ की इन गतिविधियों के साथ ही दो अन्य बौद्ध दर्शन सिद्धान्तो की चिन्तनात्मक गतिविधि भी हमें देखने को मिलती है। सर्वास्तिवादियों (जिन्हे वैभाषिक भी कहा जाता है) और सौत्रांतिकों में। वैभाषिक और सौत्रांतिक दोनों बाह्य जगत् की सत्ता मानते हैं। किन्तु वे सामान्यतः हिन्दू दर्शन के न्याय-वैशेषिक और सांख्य सिद्धान्तो से विपरीत तर्क ही देते हैं यद्यपि ये दोनों दर्शन भी जगत् की सत्ता मानते हैं। वसुबन्धु (420-500 ईस्वी) इस परम्परा के सर्वाधिक प्रतिभाशाली नामो में से एक है। इस समय से हम कुछ महान् बौद्ध चिन्तकों की एक लम्बी परम्परा से साक्षात्कार करने लगते हैं जिसमें यशोमित्र (वसुबन्धु का टीकाकार), धर्म-कीर्ति (न्यायबिंदु का रचयिता, 635 ईस्वी), विनीतदेव एवं शान्तभद्र (न्यायबिंदु के टीकाकार), धर्मोत्तर (न्यायबिंदु का टीकाकार, 847 ईस्वी), रत्नकीर्ति (950 ई०), पडित अशोक, रत्नाकर शान्ति आदि आते हैं जिनकी कुछ रचनाएँ "सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स" (बिब्लियोथीका इन्डिका सीरीज कलकत्ता से प्रकाशित) में प्रकाशित हैं। ये बुद्ध विचार प्रमुखत ऐसे विषयों पर जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान आदि का प्रकार, क्षणिकवाद सिद्धान्त, अर्थ क्रियावाद जिससे सत्ता का स्वरूप स्पष्ट होता है, विवेचन करते हैं। जहाँ तक खंडन का ताल्लुक है, इन लोगो ने न्याय और सांख्य के सत्ता-मीमांसात्मक सिद्धान्तों का, उदाहरणार्थ, पदार्थ विभाजन, अभाव, अवयवावयविसंबंध, संज्ञाओं की परिभाषा आदि का, खंडन किया है। इन विषयों पर सौत्रांतिकेतर तथा वैभाषिकेतर बौद्ध दार्शनिको ने प्रारंभिक काल मे कोई रुचि नही ली थी। पूर्वकालिक बौद्धों से उनकी इस बात पर तो सहमति है कि वे भी किसी स्थायी आत्मा का अस्तित्व नही मानते पर इसको प्रमाणित करने के लिए वे अर्थ-क्रियावाद

का सहारा लेते हैं। शकराचार्य (800 ई०) तक के हिन्दू दार्शनिको के विचारो मे तथा शकर के समय तक हुए बौद्ध दार्शनिको के विचारो मे मुख्य विभेद यही है कि बौद्ध किसी स्थायी आत्मा या स्थायी वाह्य जगत् का अस्तित्व नही मानते। हिन्दू दर्शन कमोवेश व्यावहारिक रुख अपनाता है, यहाँ तक कि शाकर वेदान्त भी किसी न किसी रूप मे स्थायी वाह्य जगत् का अस्तित्व मान लेता है। शकर की दृष्टि मे वाह्य जगत् के पदार्थ निश्चित ही मायाकृत और भ्रमात्मक हैं। किन्तु उन्हे ब्रह्म के रूप मे एक स्थायी आधार मिला हुआ है जो वाह्य जागतिक और आतरिक बौद्धिक सद्वृतियों के पीछे एकमात्र वास्तविक सत्य है। सौत्रातिक भी वाह्य जगत् का अस्तित्व मानते हैं, उनका न्याय और साख्य से मतभेद उनके क्षणिकवाद-सिद्धात पर ही अवलम्बित है। उनके द्वारा 'आत्मा' का अस्वीकार तथा विभिन्न सत्ता-मीमासीय विषयो पर उनका दृष्टिकोण उनके क्षणिकवाद पर आधारित है। बारहवी शताब्दी के बाद बौद्धो से शास्त्रार्थ या उनके खडन की कोई बहुत बडी घटना हमारे ध्यान मे नही आती। इस समय के बाद प्रमुख विचार-विमर्श और खडन-मडन की गतिविधियाँ नैयायिकों एव शाकर वेदान्तियो तथा रामानुज और मध्व आदि सगुण वेदान्तियो के बीच ही रही।

□□□

अध्याय 6

जैन दर्शन

जैन धर्म का उद्गम

जैन धर्म और बौद्ध धर्म की दार्शनिक मान्यताओं में अनेक मौलिक अन्तर होते हुए भी दोनो धर्म अपने बाहरी रूप में बहुत समान लगते है क्योंकि ये दोनों ब्राह्मण धर्मों से पृथक् हैं और दोनों भिक्षुओ के धर्म के रूप में प्रसिद्ध है। कुछ योरपीय विद्वान् तो जो जैन धर्म से केवल उसके कुछ अपर्याप्त साहित्य को पढ़कर ही परिचित हो पाए थे, आसानी से समझ बैठे थे कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से ही उद्गत हुआ। जैन साहित्य से अपरिचित भारतीय विद्वान् भी इसी प्रकार की गलती करते पाए जाते हैं। अब यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुका है कि यह विचार गलत है और जैन धर्म यदि पुराना नही तो बौद्ध धर्म के समकालिक अवश्य है। प्राचीनतम बौद्ध ग्रन्थो ने जैन धर्म का एक समानान्तर (प्रतिद्वन्द्वी) धर्म के रूप में उल्लेख किया है जिसे उन्होंने निगन्थ के नाम से अभिहित किया है, साथ ही उसके नेता नातपुत्र वर्धमान महावीर का भी जो जैन तीर्थंकरों मे अन्तिम था, उल्लेख किया है। जैनों के धर्म ग्रन्थो ने भी महावीर के समकालीन शासकों के रूप मे उन्ही राजाओं का उल्लेख किया है जो बुद्ध के समय के शासक थे।

इस प्रकार महावीर बुद्ध के समकालीन थे किन्तु वे बुद्ध के समान न तो किसी धर्म के प्रवर्तक थे न किसी पन्थ के संस्थापक, वे केवल एक भिक्षु थे जिन्होने जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण की और बाद मे एक मुनि बन गए और जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर के रूप में विख्यात हुए।[1] उनके पूर्ववर्ती पार्श्व जो अन्तिम से पहले तीर्थंकर थे, महावीर से कोई ढाई सौ वर्ष पूर्व मृत्यु को प्राप्त हुए कहे जाते हैं और उसके पूर्ववर्ती अरिष्टनेमि महावीर के निर्वाण से चौरासी हजार वर्ष पूर्व मृत्यु को प्राप्त हुए ऐसा कहा जाता है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' की यह कथा कि पार्श्व का एक शिष्य महावीर के एक शिष्य से मिला तथा उसने प्राचीन जैन धर्म तथा महावीर द्वारा उपदिष्ट जैन धर्म के बीच समन्वय कराया, यह सूचित करती है कि पार्श्व सम्भवतः एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे।

परम्परावादी जैनो के विश्वास के अनुसार जैन धर्म अनादि है और विश्व की अनादि अनन्त सृष्टियो मे हर बार प्रत्येक सृष्टि मे अनेक तीकर्थंरों द्वारा इसका उपदेश किया जाता

---

1. देखें · जैन धर्म पर जैकोबी का लेख (ई० आर० ई०)।

रहा है। इस युग मे प्रथम तीर्थंकर ऋषभ थे और अन्तिम अर्थात् चौवीसवें वर्धमान महावीर। सब तीर्थंकरों को मृत्यु के उपरान्त मोक्ष की प्राप्ति हुई और यद्यपि स्वय उन्हें सासारिक कार्यो की कोई चिन्ता नही थी, न उन्होने उन पर कोई प्रभाव डाला तथापि जैन उन्हें देवता के समान पूजते है।[1]

जैन धर्म के दो पन्थ[2]

जैनो के दो प्रमुख पन्थ हैं—श्वेताम्बर (श्वेतवस्त्रधारी) और दिगम्बर (नग्न)। दोनों में जैन धर्म के मौलिक सिद्धान्तो पर सहमति है। दिगम्बरो की विशेष मान्यता यह है कि पूर्ण मुनि, जैसे तीर्थंकर आदि, विना भोजन के जीवित रहते है—और दूसरी यह कि देवनन्दा के गर्भ से त्रिशला के गर्भ में महावीर को स्थानान्तरित नही किया गया था जैसाकि श्वेताम्बर मानते हैं, तीसरी यह कि जो साधु कोई सम्पत्ति रखता है या वस्त्र पहिनता है वह मोक्ष प्राप्त नही कर सकता—और चौथी यह कि स्त्रियाँ मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती।[3] दिगम्बर श्वेताम्बरो के धर्म ग्रन्थो को मान्यता नहीं देते और मानते हैं कि वे सव महावीर के वाद विलुप्त हो गये थे। श्वेताम्बरों का कहना है कि दिगम्बरों का उद्गम शिवभूति (83 ई०) से हुआ और यह पन्थ प्राचीन श्वेताम्बर धर्म का ही एक पन्थ है, इसके पूर्व इस प्रकार के सात अन्य पन्थ निकल चुके थे। इसके जवाव मे दिगम्बर इस कथन को नकारते हुए कहते हैं कि वास्तविक धर्म को उन्होंने ही सरक्षण दिया है और मानते हैं कि अन्तिम तीर्थंकर महावीर के वाद आठवें मुनि भद्रवाहु के समय मे अर्धकालको का एक पन्थ चल पडा था जिनके आचार-विचार शिथिल थे और उन्हीं से श्वेताम्वरो का यह पन्थ उद्गत हुआ है (ई० 80)। श्वेताम्वरो से वहुत पुराने समय से पृथक् होने के अनन्तर दिगम्वरो ने अपने विशिष्ट धार्मिक आचार वना लिये और उनके धर्म और साहित्य का इतिहास भी उनसे विभिन्न ही हो गया जबकि धर्म के मौलिक सिद्धान्तो मे दोनो मे कोई मतभेद नही है। यहाँ यह उल्लेख अप्रासगिक न होगा कि दिगम्वरो के सस्कृत ग्रन्थ श्वेताम्बरों के सस्कृत ग्रन्थो से अधिक प्राचीन हैं यदि हम श्वेताम्वरो के आचार ग्रन्थो के कथन को प्रमाण मान लें। यह भी इस प्रसग मे ध्यान देने योग्य वात है कि परवर्ती काल मे जाकर जैन धर्म के कोई 84 विभिन्न पन्थ वन गए जो कि मतमतान्तरों और आचार की सूक्ष्मताओ मे ही परस्पर भिन्न थे। इन्हें 'गच्छ' कहा जाता था। इनमे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था खरतर-गच्छ जो अनेक अवान्तर गच्छों में विभक्त हो गया था। दिगम्वर और श्वेताम्वर दोनो के ग्रन्थो मे महावीर से लेकर वाद तक के गुरुओ की वंशावली मिलती है (स्थविरा-

---

1 देखें, दिगम्वर जैन 'आइकनोग्राफी' (आई ए XXXII 1903) पृ० 459, ले जे वर्गेज तथा 'स्पेसिमेन्स ऑव जिन स्कल्पचर्स फ्राम मथुरा' (एपिग्राफिया इन्डिका 11 पृ० 311 से) ले० वूलर/जैकोबी का जैन धर्म पर लेख (ई आर ई) भी द्रष्टव्य।

2 देखें, जैकोवी का जैन धर्म पर लेख (ई० आर० ई०)।

3 देखें, 'षड्दर्शनसमुच्चय' मे जैनदर्शन पर गुणरत्न की टिप्पणी।

वली पट्टावली या गुणावली) तथा उनके बारे में कल्पसूत्रों, और हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व आदि में अनेक कथाएँ भी मिलती है ।

जैनों के धार्मिक एवं अन्य ग्रन्थ

जैनों के अनुसार मूलतः दो प्रकार के पवित्र ग्रन्थ थे, चतुर्दश पूर्व और ग्यारह अंग। पूर्व कुछ समय तक पढ़े पढ़ाये जाते रहे पर धीरे-धीरे विलुप्त हो गए। ग्यारह अंगों के रूप में प्रसिद्ध ग्रन्थ ही वर्तमान मे उपलव्ध जैन धर्म ग्रन्थो में प्राचीनतम हैं। इनके नाम हैं—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, भगवती, ज्ञानधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृत दशा, अनुत्तरौपपातिक दशा, प्रश्न-व्याकरण और विपाक। इनके अतिरिक्त बारह उपांग,[1] दस प्रकीर्ण,[2] छ छेद सूत्र[3] हैं, नांदी और अनुयोग-द्वार तथा चार मूल सूत्र (उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक एव पिण्डनिर्युक्ति) भी उपलव्ध है। दिगम्वरों की मान्यता है कि इन नामों से वर्तमान मे प्रचलित ग्रन्थ नकली हैं, वास्तविक मूल ग्रन्थ तो सभी विलुप्त हो गए। जैनों के अनुसार इनकी मूल भाषा अर्द्धमागधी थी किन्तु उसमे आधुनिकीकरण के प्रयत्न होते रहे इसलिए वस्तुतः प्राचीन ग्रन्थों की भाषा को जैन प्राकृत और अर्वाचीन ग्रन्थों की भाषा का जैन महाराष्ट्री कहना ही उचित होगा। इन ग्रन्थो के भाष्यों, टीकाओ और टिप्पणियों आदि के रूप में जैन धर्म साहित्य बहुत विशाल हो गया है। इनके अतिरिक्त जैनों के अनेक ऐसे ग्रन्थ भी हैं जिनमे संस्कृत और प्राकृत में उनके धार्मिक सिद्धान्तों की विभिन्न व्याख्याएँ समझाई गई हैं। इन स्वतन्त्र निवन्धों की अनेक टीकाएँ भी लिखी गई है। ऐसे निवन्धो में एक प्राचीन रचना है उमास्वाति का तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र (1-85 ई०)। परवर्ती जैन ग्रन्थो में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जिन पर यह अध्याय आधृत है, निम्नलिखित हैं—विशेपावश्यक भाष्य, जैन तर्कवार्तिक (शांत्याचार्यकृत टीका सहित) नेमिचन्द्रकृत द्रव्यसंग्रह (1150 ई०) मल्लिषेण की स्याद्वादमंजरी (1292 ई०) सिद्धसेन दिवाकर का न्यायावतार (533 ई०), अनन्तवीर्य का परीक्षामुखसूत्र लघुवृत्ति (1039 ई०), प्रभाचन्द्र का प्रमेयकमलमार्तण्ड (825 ई०), हेमचन्द्र (1088-1172 ई०) का योगशास्त्र तथा देवसूरि (1086-1169 ई०) का प्रमाणनयतत्वालोकालंकार। इनके समय की जानकारी के लिए मैं विद्याभूपण कृत 'इण्डियन लॉजिक' से उपकृत हुआ हूँ।

यहाँ यह भी उल्लेख कर देना चाहिए कि जैन साहित्य में संस्कृत और प्राकृत में लिखित धार्मिकेतर साहित्य भी उपलव्ध है। अनेक नीतिकथाएँ (उदाहरणार्थ—समराइच्च

---

1. औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, जम्वूद्वीप-प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति, निरयावली वरपावतंसिका, पुप्पिका, पुप्पचूलिका, वृष्णिदशा।
2. चतुःशरण, संस्तार, आतुर प्रत्याख्यान, भक्तापरिज्ञा, तन्दुलवैयाली, चण्डावीज, देवेन्द्रस्तव, गणिवीज, महाप्रत्याख्यान, वीरस्तव।
3. निशीथ, महानिशीथ, व्यवहार, दशाश्रुतस्कन्ध, वृहत्कल्प, पंचकल्प।

कथा, उपमितिभव-प्रपचकथा प्राकृत मे, तथा सोमदेव का यशस्तिलक और धनपाल की तिलकमजरी), सस्कृत मे पौराणिक और काव्यमय शैली मे काव्य ग्रन्थ, प्राकृत और सस्कृत में लिखे स्रोत आदि पर्याप्त माला में उपलब्ध होते हैं। वहुत से जैन नाटक भी हैं। जैन लेखको ने भारतीय वैज्ञानिक साहित्य की विविध शाखाओ को मौलिक निवन्धो तथा विवेचनात्मक ग्रन्थो के रूप मे भी वहुमूल्य योगदान दिया है। इनमे व्याकरण, जीवनियाँ, छन्दशास्त्र के ग्रन्थ, काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ और दर्शन ग्रन्थ आदि सभी हैं। जैनो का तर्कशास्त्र को अवदान विशेषत उल्लेखनीय है।[1]

जैनों की कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ

जैन केवल भारत मे ही वसे हुए हैं और उनकी सख्या 15 लाख से कुछ कम है। दिगम्वर अधिकतर दक्षिण भारत मे पाए जाते हैं किन्तु कुछ उत्तर भारत मे भी हैं, उत्तर पश्चिमी सीमान्त, पूर्वी राजपूताना तथा पजाव मे। श्वेताम्वरो के मुख्यालय गुजरात और पश्चिमी राजपूताना मे हैं—वैसे वे समस्त उत्तर भारत और मध्यदेशीय भारत मे मिलते हैं।

एक भिक्षु का परिग्रह, जैसाकि जैकोबी ने वताया है—केवल अत्यावश्यक वस्तुओ तक ही सीमित है—ये वस्तुएँ भी वह भिक्षा से ही प्राप्त करता है—कुछ कपडे, एक कवल, एक भिक्षापात्र, एक दण्ड, एक छीपी (झाडू) जिससे भूमि स्वच्छ की जा सके, एक कपडे की पट्टी जिसे वोलते समय मुह पर ढका जा सके ताकि उसमें कीटादि प्रवेश न कर सकें।[2] भिक्षुणियो का भी सामान यही होता है, उनके पास कुछ वस्त्र अधिक होते हैं। दिगम्वरो की सम्पत्ति भी इसी प्रकार होती है, वे कपडे नही रखते, मयूरपख अथवा वालो की छीपी रखते हैं अथवा चँवर रखते हैं।[3] भिक्षु या तो मुँडित होते हैं या उन्होंने उखाडकर वाल समाप्त कर दिए होते हैं। वालों को नोचकर निकाल देना अधिक उत्तम माना जाता है—कभी-कभी उसे एक आवश्यक आचार माना जाता है। भिक्षुओ के आचार वडे कठोर होते हैं। वे केवल तीन घण्टे सो सकते हैं, शेष समय तपस्या और पापो के प्रायश्चित में, ध्यान, अध्ययन, भिक्षा (तीसरे पहर) तथा कीटादि के निवारणार्थ अपने वस्त्रो एव अन्य वस्तुओ के ध्यानपूर्वक स्वच्छीकरण में लगाना होता है। सामान्य जनो को भिक्षुओ के आदर्श आचार का अनुकरण करने हेतु प्रयत्नशील होना चाहिए, उनसे उपदेश लेना चाहिए, स्वय व्रतवद्ध होना चाहिए। भिक्षुओ से धर्म ग्रन्थों का उपदेश देते रहने तथा उपाश्रयो (वौद्ध विहारो की तरह जैनो के पृथक् आश्रयों) में प्रवचन करने की अपेक्षा की जाती है। अहिंसा अथवा किसी भी जीव की 'किसी भी प्रकार हिंसा न हो पाए' इस सिद्धान्त को निभाने मे परा-काष्ठा की सतर्कता भिक्षुओ के जीवन मे पूरी तरह, अपनी अन्तिम हद तक, क्रियान्वित की

---

1 देखें, जैनदर्शन पर जैकोवी का लेख (ई० आर० ई०)।

2 देखें, जैकोवी का यही लेख।

3 देखें, षड्दर्शन समुच्चय, अध्याय चौथा।

जाती है। सामान्य जनजीवन को इसी ने बड़ी हद तक प्रभावित किया है। कोई भी जैन किसी जीव की हत्या नही करेगा, एक कीड़े तक की भी नही; चाहे वह कितना भी हानिकर हो। बिना पीडा पहुँचाए उसे हटा दिया जा सकता है। किसी भी जीव की हिंसा न करने के इस सिद्धात ने उन्हे कृषि जैसे उद्योगों से हटाकर केवल वाणिज्य तक सीमित रख दिया है।[1]

महावीर की जीवनी

जैनों का अन्तिम तीर्थंकर महावीर ज्ञात गोत्र का क्षत्रिय एवं वैशाली (आधुनिक वेसढ पटना से 27 मील) का निवासी था। वह सिद्धार्थ एवं त्रिशला का दूसरा पुत्र था। श्वेताम्बरों का मानना है कि तीर्थंकर का गर्भ जो प्रथमत. ब्राह्मणी देवनन्दा मे प्रविष्ट हुआ था बाद मे त्रिशला के गर्भ मे स्थानान्तरित हो गया। जैसा हम बतला चुके हैं, दिगम्बर ऐसा नही मानते। महावीर के माता-पिता ने जो पार्श्व के पूजक थे उसे वर्धमान नाम दिया (वीर अथवा महावीर)। उसने यशोदा से विवाह किया तथा एक पुत्री उत्पन्न की। जब वह तीस वर्ष का था,उसके माता-पिता का निधन हो गया और अपने बड़े भाई नन्दिवर्धन की अनुमति लेकर वह भिक्षु बन गया। बारह वर्ष की तपस्या के बाद उसे ज्ञान की (केवल ज्ञान या बोध जो बौद्धो के बोधि के समान है) प्राप्ति हुई। इसके अनन्तर वह बयालीस वर्ष तक जिया और निरन्तर उपदेश करता रहा और बुद्ध के निर्वाण के कुछ समय पूर्व ही उसने लगभग 480 ई० पू० में मोक्ष प्राप्त किया।[2]

जैन सत्तामीमांसा के मूल विचार

एक पदार्थ ही (जैसे मृत्तिका) अनेक रूप धारण कर लेती है और विभिन्न परिवर्तनों से होकर गुजरती है (जैसे घड़ा, तसला आदि) जैसाकि छान्दोग्य उपनिषद् में पाया जाता है, इन सब परिवर्तनों के बीच मृत्तिका स्थायी रहती है, वही सत्य है, स्वरूप और स्थितियों के परिवर्तन आभास मात्र हैं, उनकी प्रकृति और सत्ता, का वर्णन अथवा प्रमाणन नही किया जा सकता। अपरिवर्तनीय पदार्थ (जैसे मृत्तिका) ही सत्य है, परिवर्तनशील स्थितियाँ केवल इन्द्रियों का भ्रम है; नाम रूप मात्र हैं[3] जिसे हम रूप, इन्द्रियगम्यता आदि कहते है उसमें कोई वास्तविक अस्तित्त्व नही होता, वे सब बदलते रहते है और केवल आभास मात्र हैं जिनके बारे मे कोई धारणा तर्क के आलोक में नही बनाई जा सकती।

---

1. देखें, जैकोवी का वही लेख।
2. देखें, उवासगदसाओं का होर्नली कृत अनुवाद, जैकोबी का वही लेख तथा आजीवकों पर होर्नली का लेख (ई० आर० ई०)। श्वेताम्बरों का यह अभिमत है कि इसका समय 527 ई० पू० था। दिगम्बरों के अनुसार यह अठारह वर्ष बाद की बात है।
3. छान्दोग्योपनिषद् 4-1।

बौद्धों का मत है कि परिवर्तनशील गुणो या धर्मो का प्रत्यक्ष मात्र किया जा सकता है उनके पीछे कोई अपरिवर्तनशील आधार नही है। जिसे हम मिट्टी के रूप मे प्रत्यक्ष करते हैं वह एक विशिष्ट धर्म मात्र है, जिसका हम घट के रूप मे प्रत्यक्ष करते हैं वह भी एक गुण या धर्म ही है। इन गुणो के अतिरिक्त हम किसी गुणहीन पदार्थ का प्रत्यक्ष नही करते जिसे उपनिषदो ने स्थायी और अपरिवर्तनशील कहा है। इस प्रकार स्थायी और अपरिवर्तनीय पदार्थ अज्ञान-जन्य कल्पना मात्र हैं क्योंकि ससार मे समस्त दृश्य पदार्थ अस्थायी गुणो की सम्स्थिति मात्र हैं। धर्मों का मतलब यह नही होता कि उनके धर्मो के रूप मे कोई पदार्थ भी अस्तित्व मे हो क्योंकि तथाकथित पदार्थ या शुद्ध द्रव्य का कोई अस्तित्त्व नही है, इसे न तो इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता, न अनुमित किया जा सकता। केवल क्षणिक दृश्यमान धर्म ही ससार मे विद्यमान है। प्रत्येक धर्म के परिवर्तन को नई सत्ता के रूप मे देखा जाना चाहिए।

जैसा हमने बताया, आद्य जैन बुद्ध के समकालीन थे और सम्भवत और कुछ उपनिषदो के भी। इस समस्या का उन्होंने भी अपनी दृष्टि से उत्तर दिया। उनका मत है कि यह सही नहीं है कि केवल द्रव्य ही सत्य है और गुण केवल मिथ्या एव भ्रमात्मक आभास है। यह भी सही नही है, जैसाकि बौद्ध कहते है, कि द्रव्य की कोई सत्ता नहीं है, परिवर्तनशील गुणों की ही है। ये दोनो विचार दो विभिन्न चरम दृष्टिकोण हैं और अनुभव विरुद्ध हैं। दोनो ध्रुवो के बीच सत्य कही है, जो अनुभवगम्य होता है, अर्थात् दोनो विचारो मे थोडा सत्यांश है, पूर्ण सत्य नही है। अनुभव बताता है कि प्रत्येक परिवर्तन मे तीन तत्त्व हैं—

(1) गुणो की कुछ सस्थितियाँ अपरिवर्तित प्रतीत होती हैं।
(2) कुछ नये गुण उत्पन्न होते हैं।
(3) कुछ पुराने गुण नष्ट होते हैं।

यह सच है कि वस्तुओं के गुण प्रतिक्षण बदलते रहते हैं किन्तु समस्त गुण परिवर्तित नही होते। जब घडा बन जाता है तो उसका अर्थ हुआ कि मृत्पिण्ड नष्ट हो गया और घडा उत्पन्न हो गया—मृत्तिका तो वही रही, स्थायी रही, अर्थात् समस्त उत्पत्तियाँ इसी प्रकार होती हैं कि कुछ पुराने गुण नष्ट हो जाते हैं, नए गुण उत्पन्न हो जाते हैं और कुछ ऐसा तत्त्व भी होता है जो स्थायी रहता है। मृत्तिका अपने एक रूप मे नष्ट हो गई, और एक अन्य रूप मे स्थायी रही। इन अपरिवर्तित गुणो के कारण ही पदार्थ को स्थायी कहा जाता है यद्यपि उसमे परिवर्तन होते रहते हैं। इसलिए जब स्वर्ण, दण्ड के रूप में या छल्ले के रूप मे बदलता है तो स्वर्ण के जितने भी गुण हैं वे सब स्थायी रहते हैं और उसके रूप बदलते रहते हैं। इस प्रकार के प्रत्येक परिवर्तन के साथ कुछ गुण नष्ट हो जाते हैं और कुछ नए गुण पैदा हो जाते हैं। इस प्रकार यह सत्य सिद्ध होता है कि पदार्थ में कोई ऐसा स्थायी तत्त्व भी रहता है जो उसके गुणों की स्थायिता मे निहित है और जिसके कारण परिवर्तनो के होते हुए भी हम उस पदार्थ या द्रव्य को उसका अपना नाम देते हैं। अत सत् का स्वरूप न तो पूर्णत स्थायी है न क्षणिक और परिवर्तनशील गुणो या सत्ताओं का रूप

है किन्तु दोनों के सम्मिलित रूप से वह बनता है। इस प्रकार, जैसाकि अनुभव सिद्ध है, सत् वही है जिसमें कोई ध्रुव तत्त्व हो वह निरन्तर कुछ गुणों को हर क्षण गंवाता रहता है और कुछ नए गुणो को पैदा करता रहता है। सत् के जैन सिद्धान्त में कुछ नए गुणों को ध्रुव उत्पाद और पुराने गुणों का व्यय[1] बतलाया गया है। इस दृष्टि से जैनो का दृष्टिकोण वेदान्तियो और बौद्धो के दृष्टिकोण के बीच सामान्य अनुभव के आधार पर किए समझौते पर आधारित है।

अनेकान्तवाद

स्थायी और परिवर्तनशील के समन्वय के रूप में सत् की यह धारणा हमें जैनो के अनेकान्तवाद की ओर ले जाती है जिसे हम सापेक्ष अनेकत्ववाद कह सकते हैं जो उपनिषदों के चरम निरपेक्षवाद और बौद्धों के बहुत्ववाद, दोनों से पृथक् है। जैनों के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनेकान्त है। किसी भी चीज को या बात को एकान्ततः सिद्ध नही किया जा सकता। कोई स्थिति चरम या निरपेक्ष नहीं है। सारे कथन कुछ विशिष्ट स्थितियो और सीमाओ के अधीन ही सत्य हैं। उदाहरणार्थ एक स्वर्ण पात्र को लें। एक द्रव्य के रूप में इसकी सत्ता अणुओ के एक समवाय का स्वरूप है, वह आकाश या अन्य किसी द्रव्य के समान नही है अर्थात् स्वर्णपात्र केवल इस एक अर्थ मे द्रव्य है, प्रत्येक अर्थो मे नहीं, अणुओं के समवाय के रूप मे यह द्रव्य है और आकाश या काल के रूप में यह द्रव्य नही भी है। यह द्रव्य है भी और नही भी, एक ही समय में यह द्रव्य-अद्रव्य दोनों ही है। अब अणुओं के समवाय के रूप में भी यह पृथ्वी के अणुओं का समवाय है, यह अणु भी है और नही भी क्योंकि यह जल के अणुओं का समवाय नही है। फिर, यह पृथ्वी के अणुओं का समवाय है भी और नही भी क्योकि यह धात्विक अणुओं का रूप है, पृथ्वी के अन्य अणुओं (मिट्टी या पत्थर) का नही। धात्विक अणुओ का स्वरूप भी इसी सीमा तक सही है कि यह स्वर्ण धातु का है लौह धातु का नही। स्वर्ण धातु मे भी यह केवल पिघले और शुद्ध स्वर्ण के अणुओं का द्रव्य है अन्य किसी स्थिति के स्वर्ण का नहीं। उसमे भी शुद्ध और तपाए ऐसे सोने का है जो देवदत्त नामक सुनार द्वारा घड़ा गया है, यज्ञदत्त द्वारा नही। फिर, इसका उपर्युक्त द्रव्य होना भी इसी सीमा तक सही है कि यह घड़े के रूप मे बनाई गई एक संस्थिति है प्याले या अन्य पात्र के रूप में नहीं। इस प्रकार इन तरीकों से विचार करते हुए जैन कहते है कि समस्त कथन किन्ही सीमित अर्थो में ही सत्य है। समस्त वस्तुएँ अनन्त संख्या में धर्म रखती हैं; अनन्त-धर्मात्मक हैं, प्रत्येक धर्म को एक विशेष अर्थ मे ही सत्य कहा जा सकता है।[2] घड़े जैसा एक सामान्य पदार्थ भी अनन्त प्रकार के कथनों मे रखा जा सकता है, उसमे अनन्त

---

1. देखें, तत्त्वार्थाधिगमसूत्र तथा षड्दर्शनसमुच्चय में गुणरत्न द्वारा जैनदर्शन का प्रतिपादन।
2. षड्दर्शन समुच्चय मे जैन मत पर गुणरत्न की टिप्पणी द्रष्टव्य (पृ० 211 से)। तत्त्वार्थाधिगमसूत्र भी देखें।

धर्म रहते है, अनन्त दृष्टिकोणो से उन्हे देखा जा सकता है। अपने रूप मे वे सब सही हैं और इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ या कथन उस सीमा तक ही सत्य है, निरपेक्ष या चरम रूप से कहीं कुछ नहीं। इसी प्रकार स्वीकारात्मक रूप में दरिद्रता को धनवत्ता नही कहा जा सकता, पर निषेधात्मक सम्बन्ध से वह भी कहा जा सकता है। 'दरिद्र के पास धन नही है' इसमे अभाव सम्बन्ध से दरिद्र के पास भी धन है। इस प्रकार किसी न किसी सम्बन्ध से हर वस्तु से हर चीज बताई जा सकती है और उस वस्तु मे वह चीज नही भी बताई जा सकती। इस प्रकार जिन दृष्टिकोणो से वस्तु मे (जो अनन्त धर्मो और कथनो का आगार है और जिसे किसी एक दृष्टिकोण से ही हम वैसा कहते हैं) जिस धर्म को बताया जा रहा है या जिस वस्तु या बात के सम्बन्ध मे उसे वर्णित किया जा रहा है—जैन दर्शन मे 'नय' कहा जाता है।[1]

नयों का सिद्धांत

वस्तुओ के बारे मे निर्धारण करते समय हमारे सामने दो प्रकार रहते हैं—प्रथम तो यह कि हम किसी वस्तु के विविध, अनेक धर्मो और लक्षणो को जानकर उन्हें उस वस्तु मे समन्वित रूप मे देखें—जैसे कि हम जब एक पुस्तक के बारे में कहते हैं कि 'वह एक पुस्तक है' तो हम उसके लक्षणो को उससे विभिन्न करके नहीं देखते बल्कि उसके धर्मो और लक्षणो को उससे अभिन्न रूप मे देखते हैं। दूसरे यह कि हम केवल उस वस्तु के धर्मो को अलग से देखें और उस वस्तु को केवल एक सत्ताहीन, कल्पनामात्र समझें (जैसाकि बौद्ध दृष्टिकोण है) जैसे कि एक पुस्तक के विभिन्न गुणो या धर्मो के बारे में ही हम कथन करें और मानें कि पुस्तक मे केवल उसके गुणो या धर्मों का ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है, उनसे पृथक् पुस्तक का कोई अस्तित्त्व नहीं है। इन दोनो दृष्टिकोणो को क्रमश द्रव्यनय और पर्यायनय[2] कहा गया है। द्रव्यनय के तीन भेद है—और पर्यायनय के चार। इनमे से प्रथम भेद ही हमारे प्रयोजन से महत्त्वपूर्ण है। अन्य तीन व्याकरण के ही काम के हैं अत हम यहाँ उन्हे छोड सकते हैं। द्रव्यनय के तीन भेद इस प्रकार हैं—नैगमनय, सग्रहनय और व्यवहारनय।

जब हम किसी वस्तु को व्यावहारिक दृष्टि से देखकर वर्णित करते हैं तो हम अपने विचारो को बहुत स्पष्ट या असदिग्ध रूप में रखने का कष्ट नहीं करते। उदाहरणार्थ, यदि मेरे हाथ मे एक किताब है और मुझसे पूछा जाता है—'क्या तुम्हारे हाथ खाली हैं' तो मैं कहूँगा—'नही मेरे हाथ मे कुछ है।' या यह कहूँगा 'मेरे हाथ मे पुस्तक है।' स्पष्ट है कि पहले उत्तर मे मैंने पुस्तक को बहुत व्यापक और सामान्य रूप में देखते हुए 'कुछ' या किसी चीज के रूप मे बताया जबकि दूसरे उत्तर मे उसकी पुस्तक के रूप मे सत्ता वर्णित की। मैं जब पढ रहा होता हू तो एक पुस्तक का कोई एक विशिष्ट पृष्ठ पढ़ रहा होता हू पर कहता हू, मै पुस्तक पढ़ रहा हू।' मैं कागज पर कुछ अक्षर लिख रहा हू पर कहता हू, 'मैं जैन दर्शन पर पुस्तक लिख रहा हू।' वस्तुत पुस्तक तो वहाँ है ही नही,

---

1. देखें, तत्त्वार्थाधिगम सूत्र तथा विशेषावश्यक भाष्य पृ० 895-923।
2 स्याद्वादमजरी, पृ० 171-173।

कुछ खुले कागज मात्र हैं, इस प्रकार वस्तुओं का अत्यन्त सामान्य, व्यावहारिक रूप में वर्णन करना जबकि हम उनकी सत्ता को एक सामान्य या व्यापक धर्म या लक्षण के रूप में या एक विशिष्ट धर्म के रूप में नही देखते बल्कि केवल उस रूप मे देखते है जिस रूप में प्रथम दृष्टि मे वे हमारे सामने आती हैं—नैगम नय कहलाता है। यह आनुभविक दृष्टिकोण शायद इस धारणा पर आधृत है कि एक वस्तु में अत्यन्त सामान्य से लेकर अत्यन्त विशिष्ट धर्म तक रहते हैं--हम एक किसी समय मे उसमें किसी एक पर ध्यान देते हैं और बाकी सबो को भूल जाते हैं। जैनों के अनुसार इसी धारणा को लेकर न्याय और वैशेषिक ने अनुभव की व्याख्या की है।

सग्रहनय का अर्थ है किसी वस्तु को अत्यन्त सामान्य दृष्टिकोण से देखना। जैसे हम सभी वस्तुओ को 'सार' के रूप मे वर्णित कर सकते हैं। यह समस्त वस्तुओं का एक सामान्य, व्यापक लक्षण है। जैनों के अनुसार यह धारणा वेदान्त की है।

व्यवहारनय का दृष्टिकोण यह है कि किसी वस्तु का वास्तविक अर्थ उसके वास्तविक, व्यावहारिक अनुभव के आधार पर लिया जाना चाहिए। इसमें कुछ सामान्य और कुछ विशिष्ट धर्म समाहित हो जाएँगे जो भूतकाल से चले आ रहे है और भविष्य में भी रहेगे यद्यपि उनमे थोडे-थोड़े सामान्य परिवर्तन हर क्षण होते रहते है जो अनेकों दृष्टियों से हमारे अपने व्यावहारिक अनुभवों के कारण होते है। जैसे एक पुस्तक अपने सामान्य धर्म भी रखती है जो सभी पुस्तकों में विद्यमान होंगे किन्तु उस पुस्तक मे कुछ विशिष्ट लक्षण भी होंगे। उसके अणु निरन्तर विनाश, परिवर्तन, पुनर्योजन आदि परिवर्तनों से गुजर रहे हैं किन्तु भूतकाल से यह पुस्तक के रूप मे विद्यमान है और भविष्य में भी कुछ काल विशेष तक विद्यमान रहेगी। ये सब लक्षण मिलकर उसे 'पुस्तक' का रूप देते है जिसे हम अपने व्यावहारिक अनुभव की दृष्टि से पुस्तक कहते है—इनमें से कोई भी एक धर्म अलग करके 'पुस्तक' की धारणा के रूप मे व्यवहृत नही किया जा सकता। यह दृष्टिकोण जैनों के अनुसार वेदान्त का दृष्टिकोण है।

पर्यायनय का प्रथम प्रकार 'ऋजुसूत्र' कहा गया है। यह बौद्धों वाला दृष्टिकोण है जो किसी वस्तु की सत्ता भूत या भविष्य में मानता ही नहीं है और जिसके अनुसार एक वस्तु केवल एक विशिष्ट क्षण मे विशिष्ट लक्षणों का एक समन्वय है जो उस क्षण विशिष्ट प्रकार के कार्य का उत्पादन करती है। प्रत्येक अगले क्षण नए धर्मों या गुणों का नया समवाय पैदा होता है और हमारी उस वस्तु की वास्तविक सत्ता की धारणा केवल इसी को लेकर बनाई है।[1]

'नय', जैसा ऊपर बतलाया गया है, केवल दृष्टिकोण अथवा किसी वस्तु को देखने के

---

1. पर्यायनय के अन्य प्रकार भी हैं जो व्याकरण और शब्द-शास्त्र के दृष्टिकोण से प्रयुक्त है, जैसे शब्दनय, समभिरूढनय तथा एवं-भूतनय। देखें, विशेषावयश्क भाष्य, पृष्ठ 895-923।

हमारे प्रकार का ही नाम है। इस दृष्टि से नय अनन्त हैं। ऊपर के चार वर्ग उनके मोटे वर्गीकरण के नमूने मात्र हैं। जैनो की यह मान्यता है कि न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, सांख्य और बौद्ध दर्शनों ने अनुभव को ऊपर वर्णित चार प्रकारो मे से एक-एक के दृष्टिकोण से देखकर वर्णित और पारिभाषित करने की चेष्टा की है और प्रत्येक उनमे से यह समझता है कि उसका ही दृष्टिकोण परमार्थत सत्य है—अन्य सब दृष्टिकोणो को वह दरगुजर कर देता है। यह, उनके मत मे 'नयाभास' है और दोष है क्योंकि प्रत्येक दृष्टिकोण वस्तु को देखने के विभिन्न कोणो मे से एक ही तो हैं। एक दृष्टिकोण से देखकर बनाई धारणा एक सीमित अर्थ मे और सीमित स्थितियो मे ही सत्य होगी। इसी प्रकार कथन है—एक वस्तु के बारे मे अनन्त दृष्टिकोणो को लेकर अनन्त कथन किए जा सकते हैं। इस प्रकार कथन, निर्धारण या परिभाषण किसी भी वस्तु के बारे मे कभी भी चरम ऐकान्तिक या निरपेक्ष नही हो सकता। उसी वस्तु के बारे मे अन्य दृष्टिकोणो से उस कथन, निर्धारण या परिभाषण से विपरीत बात भी सही हो सकती है। अत प्रत्येक कथन का सत्य आपेक्षिक है और ऐकान्तिक रूप से असम्भव है। यदि सही रूप से उसे रखना है तो प्रत्येक कथन के पहले 'स्यात्' (शायद) लगाना चाहिए। इससे यह सकेतित हो सकेगा कि यह कथन सापेक्ष मात्र है, किसी एक प्रकार से किया गया है, एक दृष्टिकोण और सीमा के अधीन है और किसी भी दृष्टि से निरपेक्ष नही है। ऐसा कोई निर्धारण नहीं है जो पूर्णत सत्य हो, न कोई ऐसा है जो पूर्णत मिथ्या हो। सभी कथन एक दृष्टि से सत्य हैं, दूसरी दृष्टि से मिथ्या हैं। यह सिद्धान्त हमे "स्याद्वाद" के विवेचन की ओर ले जाता है।[1]

स्याद्वाद

स्याद्वाद इस सिद्धान्त पर आधारित है कि एक वस्तु के सबध मे परस्पर विरोधी अनन्त प्रकार के विविध कथन किए जा सकते हैं इसलिए किसी भी नय से कैसा भी कथन कभी अन्तिमत सत्य नही हो सकता। सभी कथन एक दृष्टि से सत्य हैं (शायद, 'स्यादास्ति के अर्थ मे), सभी कथन एक दृष्टि से मिथ्या हैं, सभी कथन एक दृष्टि से अनिश्चित, सदिग्ध और अवाच्य हैं (स्यादवक्तव्य), सभी कथन एक दृष्टि से मिथ्या और सत्य दोनो ही हैं (स्यादस्ति चावक्तव्यश्च), सभी कथन एक दृष्टि से मिथ्या एव अनिश्चित दोनो ही हैं, सभी कथन एक दृष्टि से, सत्य, मिथ्या और अनिश्चित तीनो हैं (स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यश्च)। उदाहरणार्थ, हम कह सकते हैं कि घडा है अर्थात् घडा अस्तित्व मे है पर यह कहना अधिक सही होगा कि 'शायद घडा है।' अन्यथा, यदि हम प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व इसमें निरपेक्ष रूप से मानें तो इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि मृत्पिड अस्तित्व मे है, खभा अस्तित्व मे है, कपडा अस्तित्व मे है या कोई भी और चीज अस्तित्व मे है। यहाँ तो अस्तित्व केवल घडे के रूप मे सीमित एव परिभाषित कर दिया गया है। अत 'घडा है' का तात्पर्य 'चरम रूप मे अस्तित्व मे है' नही है बल्कि घडे के रूप मे निर्धारित स्वरूप मे अस्तित्व मे होना है। घडा है यह कथन एक सीमित अस्तित्व अर्थात् घडे के रूप मे परिभाषित अस्तित्व का कथन करता है, सामान्य, निरपेक्ष या चरम रूप के अस्तित्व का

---

1 देखें, विशेपावश्यक भाष्य, पृ० 895 से, तथा स्याद्वाद-मजरी पृ० 170 से।

कथन नहीं करता। यदि अस्तित्व निरपेक्ष हो तो इसका तात्पर्य 'कपड़ा है ?' 'मिट्टी है' आदि कुछ भी हो सकता है। इसके अलावा, घड़े का अस्तित्व विश्वके अन्य सभी पदार्थों के अभाव द्वारा भी निर्धारित होता है। घड़े का प्रत्येक गुण या लक्षण (जैसे ,लाल रंग) लिया जाता है और उसे तदितर अन्य अनन्त, विविध गुणों के अभाव द्वारा सिद्ध किया जाता है–और तब घड़े के, एक-एक करके सब गुणों का तदितर गुणों के निवारण द्वारा जो समुदाय बनता है उससे घड़ा निर्धारित होता है। घडे के अस्तित्व से तात्पर्य है घटेतर अन्य सभी वस्तुओं का अभाव। इस प्रकार एक दृष्टि से 'घड़ा है' यह वाक्य अस्तित्व का बोध कराता है, दूसरी दृष्टि से यह अभाव का बोध कराता है (घटेतर वस्तुओं के)। इस प्रकार 'घड़ा है' के बारे में यह कहना चाहिए कि 'शायद यह अस्तित्व का कथन है (स्यादस्ति), हो सकता है कि अभाव का कथन हो (स्यान्नास्ति)।' इसे दूसरी तरह भी समझा जा सकता है। हम कह सकते हैं, 'घड़ा है' का अर्थ है यह घड़ा यहाँ है, जिसका तात्पर्य यह भी है कि 'यह घड़ा वहाँ नहीं है।' इस प्रकार 'घड़ा है' का अर्थ घड़ा नही है भी हुआ। हमने देखा कि घडे के अस्तित्व का कथन एक स्थान पर सही है दूसरे स्थान पर मिथ्या है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि 'हो सकता है एक दृष्टि से घड़ा है और हो सकता है कि एक दृष्टि से नहीं भी है।' इन दोनो को मिलाकर हम कह सकते है कि 'शायद घड़ा है और दूसरी दृष्टि से शायद घड़ा नही है।' इससे यह समझा जा सकता है कि यदि अस्तित्व के गुणों पर हम बल दें तो हम कहते हैं कि घड़ा है किन्तु अभाव की ओर देखते हुए हम यह भी कह सकते हैं घड़ा नही है। ये दोनों कथन उसी घड़े के संबंध में सही हैं, केवल दृष्टियों और तात्पर्यों का अन्तर है। यदि इसी पर बल दिए बिना हम घड़े के सम्बन्ध में दोनों परस्पर-विरोधी और विपरीत कथनों को जाँचते हैं तो पाते हैं कि घड़े का स्वभाव या अस्तित्व अनिश्चित अनिर्धारणीय और अवक्तव्य है, क्योंकि हम एक ही चीज की सत्ता और अभाव का एक साथ कथन कैसे कर सकते हैं। लेकिन वस्तुओं का स्वभाव ही ऐसा है कि हमे ऐसा करना ही होता है। इस प्रकार समस्त कथन सत्य है, मिथ्या हैं, सत्य और मिथ्या दोनो है' तथा इस दृष्टि से अवक्तव्य और अनिश्चित है। इन चारों को मिलाकर हम तीन निष्कर्ष निकाल सकते है—(1) शायद एक दृष्टि से घड़ा है, (2) फिर भी वह अवक्तव्य है अथवा (3) कि शायद घड़ा नही है और अवक्तव्य है अथवा अन्त में शायद घड़ा है और नही है और अवक्तव्य है। इस प्रकार जैनो के अनुसार कोई भी कथन अपने स्वभाव मे पूर्ण सत्य नही है, अपने सीमित अर्थ मे ही सत्य है, और उनमें से प्रत्येक को ऊपर वर्णित सात प्रकारो से कहा जा सकता है जो सभी सही है। इसे ही सप्तभंगीनय कहा गया है।[1] जैनो का कथन है कि अन्य हिन्दू दर्शनों में यह प्रवृत्ति है कि वे अपने ही दृष्टिकोण को एक मात्र चरम दृष्टिकोण समझते हैं। उन्हें इस बात का एहसास नही है कि यथार्थ का स्वरूप यही है कि किसी भी कथन का सत्य सीमित और सापेक्ष होता है, वह किन्ही स्थितियो और उपाधियो में ही सत्य है। इसलिए सार्वभौम और पूर्ण रूप से सत्य कथन करना असम्भव है क्योंकि

1. देखें, स्याद्वादमंजरी, हेमचन्द्रकृत टीका सहित पृ० 166 से।

उस कथन से विपरीत और विरुद्ध कथन भी एक दृष्टि से सत्य और सही पाया जाएगा। क्योंकि समस्त वस्तु-सत्य अंशत स्थायी है और अंशत परिवर्तनशील है, पुराने गुणो को छोडता और नए गुणो को ग्रहण करता है अत. वह सापेक्षत स्थायी और अस्थायी है, इसलिए सत्य के सबंध मे हमारे कथन केवल सापेक्षत सही और गलत हैं। तर्क के तीन पक्ष, भाव, अभाव और अनिश्चय, प्रत्येक प्रकार के कथन के बारे में परस्पर क्रमिक सम्बन्धो के तहत किसी न किसी दृष्टि से प्रत्येक वस्तु के लिए लगाए जा सकते हैं। कोई भाव या अभाव त्रिकालातीत और सार्वदेशिक नही हो सकता, समस्त निर्धारण सापेक्ष रूप से ही सही होते हैं। यो नय-सिद्धान्त का स्याद्वाद के साथ यही सम्बन्ध हुआ कि प्रत्येक नय के अनुसार किए गए किसी भी निश्चय या कथन के उतने ही विकल्प होंगे जितने स्याद्वाद द्वारा वर्णित हैं। ऐसे निर्धारण की सिद्धि भी, इसलिए, सापेक्ष है। यदि यह बात किसी भी नय के अनुसार व्याख्यान करते समय ध्यान मे रखी जाय तभी वह नय सही होगा। किन्तु यदि किसी भी नय के मुताबिक कोई निश्चय पूर्ण रूप से कह दिया जाय और स्याद्वाद के अनुसार अन्य नयो का कोई सदर्भ न दिया जाय तो वह नय गलत होगा जैसे कि अन्य कथन गलत होते हैं। इस प्रकार के गलत निश्चयो को 'नयाभास' कहा जाता है।[1]

ज्ञान और इसका मूल्य

धर्मोत्तर नामक बौद्ध ने न्यायबिन्दु की अपनी टीका मे कहा है कि किसी प्रयोजन के साधन करने के इच्छुक व्यक्ति उस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक ज्ञान का बहुत मूल्य मानते हैं। चूँकि ज्ञान इस प्रकार मूल्यवान् और मनुष्यो के लिए उपादेय है इसीलिए दर्शन सम्यक् ज्ञान अथवा प्रमाण के स्वरूप का विवेचन अपना प्रमुख कर्त्तव्य मानता है। सत्य ज्ञान की प्रमुख कसौटी यह है कि वह हमारे प्रयोजन की सिद्धि में साधक हो। ज्ञान के सम्बन्ध मे बौद्धो के इस विचार से जैन भी सामान्यत. सहमत हैं।[2] उनका भी यह कथन है कि ज्ञान का मूल्य स्वय ज्ञानमात्र के लिए नही है। किसी भी ज्ञान का प्रामाण्य इस बात में निहित है वह हमें, जो हमारे लिए शुभ है उसकी प्राप्ति मे और जो बुरा है उसके निवारण मे सहायक होता है। ज्ञान मे ही यह शक्ति है, इसी से हम हमारे परिवेश से सामजस्य पैदा कर पाते हैं और जो हमारे लिए शुभ है उसे पा लेते हैं और अशुभ से बच जाते हैं।[3] इस प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति में क्या-क्या बातें सहायक होती हैं। (जैसे—चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्य ज्ञान के लिए पूर्ण प्रकाश का होना, तथा उस पदार्थ का आँख से सनिकर्ष) यह इस प्रसग मे कोई महत्त्व की बात नही मानी गई है। हमे इससे क्या सरोकार है कि सज्ञान

---

1 स्याद्वाद और सप्तभगी का कदाचित् सर्वप्रथम उल्लेख भद्रबाहु (433-35 ई० पू०) की सूत्रकृतागनिर्युक्ति टीका में मिलता है।

2 देखें, प्रमाणनयतत्वालोकालकार (बनारस) पृ० 26 तथा परीक्षा मुखसूत्रवृत्ति (एशियाटिक सोसाइटी) अध्याय 1।

3 प्रमाणनयतत्वालोकालकार पृ० 26।

कैसे पैदा होता है, इससे हमारे प्रयोजनों की सिद्धि में कोई सहायता तो मिलती नहीं। हमारे लिए यही जानना पर्याप्त है कि कुछ निर्धारित स्थितियों में वाह्य ज्ञेय पदार्थ इस प्रकार की विशिष्ट योग्यता धारण कर लेते हैं कि हम उनका ज्ञान प्राप्त कर सकें। इस वात का निश्चयपूर्वक हम कथन नही कर सकते कि वे ही हम मे ज्ञान पैदा करते हैं। क्योंकि हम केवल यह जानते हैं कि हम कुछ विशिष्ट स्थितियो में एक वस्तु को जान जाते है जवकि दूसरी स्थितियों में हम उसे नही जानते।[1] वस्तुओं की इस विशिष्ट योग्यता की मीमांसा से भी जो हममें उनका ज्ञान सम्भव वनाती है, हमारे लिए खास प्रयोजन नही। वे सव स्थितियाँ–जो वस्तुओं में ज्ञेयता की योग्यता पैदा करती है हमारे खास काम की नहीं हैं। हमारा तो उद्देश्य शुभ की प्राप्ति और अशुभ का निवारण है और वह ज्ञान से ही प्राप्त हो जाता है, वाह्य पदार्थो की इस योग्यता के कारण नहीं।

ज्ञान से ही हमे ज्ञाता के रूप में स्वयं अपने आपकी तथा ज्ञेय के रूप में वाह्य विषयों की जानकारी होती है। इस वात का कोई प्रमाण नही है (जैसा कि वौद्ध मानते है) कि वाह्य पदार्थो के प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त समस्त ज्ञान मूलत· अनिश्चित और अनिर्धारित होता है और रूप, रंग, आकार तथा वस्तु के अन्य लक्षणों के वारे मे हमारे समस्त वैचारिक निर्धारण प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा प्राप्त नही होते वल्कि केवल उत्प्रेक्षा से आते हैं, इसलिए वास्तविक प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा केवल अनिर्धारित निर्विकल्प ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध होता है। अनुभव वताता है कि सत्य ज्ञान एक ओर तो विपयी या ज्ञाता के रूप में हमारा स्वयं का वोध कराता है और दूसरी ओर वाह्य विषयों के समस्त रूपों और लक्षणों का भी सही प्रत्यक्ष कराता है। इसीलिए ज्ञान को हमारा सन्निकट और प्रमुख उद्देश्य प्राप्ति का साधन मानना चाहिए। यह अवश्य है कि ज्ञान सीधे और तुरन्त वह शुभ हमें नहीं ला देता जिसकी प्राप्ति हमें करनी होती है लेकिन वह हमें हमारे चारों ओर के उन विपयों को सही रूप में सम्प्रेपित करता है इसलिए इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के निवारण के लिए हमारे प्रयत्नो को सम्भव वनाता है। ज्ञान से ही ये कार्य जन्म लेते हैं, यदि ज्ञान नहीं होता तो प्रयत्न और कार्य भी नही होते। इस प्रकार ज्ञान का प्रामाण्य इस वात में निहित है कि यह सीधा अव्यवहित और अचूक इष्ट-प्राप्ति का साधन है। जव तक किसी ज्ञान का प्रामाण्य खडित नही हो जाता तव तक उसे सत्य ज्ञान माना जाना चाहिए। मिथ्या ज्ञान वह होता है जो वस्तुओं को उन रूपों मे प्रस्तुत करे जिन रूपों मे वे विद्यमान नहीं हैं। जव कम प्रकाश वाले स्थान मे पड़ी रस्सी सर्प का भ्रम पैदा करती है, रज्जु में सर्प का ज्ञान भ्रमात्मक ज्ञान कहा जाता है, अर्थात् जहाँ सर्प विद्यमान नहीं है वहाँ उसका ज्ञान। सर्प भी होते है और रज्जुएँ भी[2] होती हैं। इसमें कोई मिथ्यात्व नही है। भ्रम इसलिए

1. देखें, परीक्षामुखसूत्र 2-9 तथा उसकी वृत्ति एवं अध्याय 2 की उपसंहारक वृत्ति।

2. भ्रम हमारे ज्ञान अथवा निर्धारण के विपयों मे, देश, काल या अन्य प्रकार के ऐसे सम्वन्धो के संयोजन मे निहित है जो वस्तुत· विद्यमान नही है–यद्यपि वे विपय अन्य सम्वन्धों मे विद्यमान होते हैं। जव मुझे रज्जु में सर्प का भ्रम होता है तो

वताया जाता है कि जिन स्थितियो में रज्जु विद्यमान है उन स्थितियो में सर्प का ज्ञान हुआ। उन सम्वन्धों और परिवेशो में सर्प का प्रत्यक्ष करना जिनमें उस समय वह विद्यमान नहीं यही यहाँ मिथ्यात्व का स्वरूप है। जिसका पहले सर्प के रूप मे प्रत्यक्ष किया गया उस ज्ञान का वाद में विरोध या खडन हो गया इसलिए वह मिथ्या माना गया। इस दृष्टि से मिथ्यात्व अनुभव के यथार्थ तथ्यो के गलत निरूपण या प्रस्तुतीकरण में निहित है। और इसीलिए सत्य ज्ञान वह है जो अपने विषय का ऐसा सही और पूर्ण प्रस्तुतीकरण करे जो वाद मे कभी भी विरुद्ध या खडित न हो पाए। उदाहरणार्थ ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष मे इन्द्रियों के सनिकर्ष द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह स्पष्ट, विश्लिष्ट तथा निर्भ्रान्त होता है इसलिए प्रत्यक्ष कहा जाता है। जब किसी अन्य मार्ग से ज्ञान प्राप्त होता है तो वह इतना स्पष्ट और सीधा नही होता इसलिए उसे परोक्ष ज्ञान कहा गया है।[1]

प्रत्यक्ष का सिद्धान्त

प्रत्यक्ष के सम्वन्ध मे जैनो और वौद्धो के सिद्धान्त मे यही अन्तर है जैसा ऊपर वताया गया है। जैनों के अनुसार प्रत्यक्ष वाह्य विषय का उसी रूप मे सम्पूर्ण प्रस्तुतीकरण कर देता है जिसमे उसके सभी रूप, रग, आकार आदि लक्षण सम्मिलित होते हैं। वे यह भी मानते हैं कि ज्ञान आत्मा में उदित होता है, आन्तरिक उद्घाटन के रूप मे, जैसे कि ढकने वाले आवरण को हटाने पर वस्तु उद्घाटित हो जाती है। समस्त वाह्य विषय केवल ज्ञान के ही रूप मे विद्यमान नही हैं (जैसाकि विज्ञानवादी वौद्ध मानते हैं), वे वस्तुत विद्यमान होते हैं। वाह्य विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियगम्य होता है। यहाँ इन्द्रिय का वाहरी स्वरूप, जैसाकि आँख का ढाँचा, इन्द्रिय नहीं है, इन्द्रिय से तात्पर्य है आत्मा की देखने की वह अन्तर्निहित शक्ति जो प्रत्यक्ष करती है। इस प्रकार की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। जैनों की यह मान्यता है कि हम पाँच प्रकार की इन्द्रियो से पाँच प्रकार का ऐन्द्रिय ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसलिए सच तो यह है कि वस्तुत आत्मा ही स्वय इन विविध ऐन्द्रिय ज्ञानो को वाह्य इन्द्रियो की सहायता से प्राप्त करता है जैसे कि आवरण हट जाने पर वस्तु दिख जाती है। ज्ञान पर ढके आवरण को हटाने से जीव ज्ञान का प्रत्यक्ष करता है। वाह्य प्रत्यक्ष की प्रक्रिया मे किसी इन्द्रिय की अपने आपकी शक्ति ही काम करती हो सो वात नही है, आत्मा में ऐन्द्रिय ज्ञान का स्वय प्रकाश होता है, यद्यपि वह किसी इन्द्रिय विशेष (जैसे

साँप भी विद्यमान तो होता है यद्यपि 'यह सर्प है' मे 'यह के रूप मे जहाँ मैं साँप देख रहा होता हूँ वहाँ साँप नहीं होता क्योंकि रस्सी साँप नही होती। यह भ्रम सत्ख्याति अथवा 'सत्' वस्तुओ को गलत सदर्भ देना कहा जाता है।

1 देखें, सिद्धसेन कृत जैन तर्कवार्तिक अध्याय 1 तथा शान्त्याचार्य की वृत्ति, प्रमाणनय-तत्वालोकालकार, अध्याय 1, परीक्षामुख-सूत्रवृत्ति, अध्याय 1।]

आँख) की सहायता से होता है। आत्मा शरीर के प्रत्येक अंग से सम्वद्ध है। चाक्षुप ज्ञान वह ज्ञान है जो आत्मा के उस अंश मे पैदा होता है जो चक्षुरिन्द्रिय से सम्बद्ध है। उदाहरण के लिए मैं सामने आँख फैलाता हूँ और एक गुलाव का फूल देखता हूँ। गुलाव के फूल के इस ज्ञान के पहले गुलाव के फूल का ज्ञान मुझमे था किन्तु वह आवरण से ढका था अतः उसका प्रकटीकरण नही होता था। देखने की क्रिया का अर्थ यह है कि गुलाव के फूल मे और मुझमे वह योग्यता पैदा हो गई जिससे गुलाव के फूल का प्रत्यक्ष ज्ञान हो सका। मेरे गुलाव के फूल के ज्ञान पर पड़ा हुआ आवरण हट गया। जव चाक्षुप ज्ञान पैदा होता है तव वह चक्षुरिन्द्रिय की सहायता से होता है। मुझे लगता है कि मैं आँख के माध्यम से देख रहा हूँ जवकि वास्तव मे मैं उस विषय का ज्ञान कर रहा हूँ जो आँख से सम्बद्ध है। चूँकि अनुभव मे विभिन्न इन्द्रियो का अलग ज्ञान नही होता इसलिए यह मानना आवश्यक है कि उनका आत्मा से अलग भी कोई अस्तित्व है। इसी चिन्तन धारा पर आगे चलते हुए जैन मन का अलग अस्तित्व नही मानते क्योकि मन का अस्तित्व भी अनुभवगम्य नही है। उसका आनुमानिक अस्तित्व मानना अनावश्यक है क्योंकि जीवात्मा को ही मानने से काम चल जाता है।[1]

विषय के प्रत्यक्ष से मतलव है उस विषय के ऊपर आत्मा में पड़ा हुआ अज्ञान का आवरण हट गया है। आन्तरिक रूप से अज्ञान के आवरण का यह हटना व्यक्ति के कर्मों पर निर्भर होता है, वाह्य रूप से यह अनेक स्थितियों पर निर्भर होता है जैसे प्रत्यक्ष के विषय की विद्यमानता, प्रकाश, चक्षुरिन्द्रिय की शक्ति आदि। वौद्धो तथा अनेक अन्य भारतीय दार्शनिकों के विपरीत जैन यह मानते हैं कि समस्त विपयो के पूर्ण रूप का आत्मा के अन्दर सीधा प्रकटन होता है। ऐसा नही होता कि पहले निर्विकल्प ज्ञान प्राप्त हो फिर उसके वाद सविकल्प ज्ञान के रूप में अन्य लक्षण ज्ञात हों। इस प्रकार इस सिद्धान्त का बौद्धों के उस

---

1. "तन्न इन्द्रियं भौतिकं किन्तु आत्मा च इन्द्रियम् अनुपहत""चक्षुरादिदेशेपु एव आत्मनः कर्मक्षयोपशमस्तेनथगित गवाक्षतुल्यानि चक्षुरादीन्युपकरणानि।" (जैन-वार्तिक वृत्ति 2, पृ० 98)। किन्तु अनेक स्थानों में पाँच इन्द्रियाँ, कान, नाक, आँख आदि को, इन्द्रिय के रूप मे उल्लिखित किया गया है और प्राणियों को वहुधा इस आधार पर वर्गीकृत किया गया है कि उनकी कितनी इन्द्रियाँ हैं (देखें, प्रमाण-मीमांसा तथा तत्वार्थाधिगम सूत्र अध्याय 2)। यह केवल ऐन्द्रिय सवेदन की दृष्टि से ही है। इन्द्रियों के पृथक् अस्तित्व का खण्डन इस दृष्टि से किया गया है कि वे जीव से पृथक् कोई इकाई या स्वतंत्र क्षमता रखने वाली शक्तियाँ नही हैं। वे तो जीव के लिए वाहर झाँकने के लिए वने गवाक्ष जैसी ही है। आन्तरिक निर्धारण द्वारा जीवात्मा में जो ज्ञान उदित होता है उसके निर्धारण या रूपान्तरण में इन्द्रियो की कोई भूमिका पृथक् से नही है क्योकि वह तो जीवात्मा में पहले से ही विद्यमान है। प्रत्यक्ष की क्रिया का तात्पर्य केवल यही है कि जो आवरण था वह हट गया है।

सिद्धान्त से सीधा विभेद स्पष्ट हो जाता है जो यह मानते हैं कि प्रत्यक्ष का वास्तविक स्वरूप निर्विकल्प ऐन्द्रिय ज्ञान मात्र है। सविकल्प ज्ञान की स्थिति बाद की है जो अनेक बौद्धिक तत्त्वों जैसे उत्प्रेक्षा, स्मृति आदि की अधिक्रियाओं से बाद में बनती है और इसलिए ज्ञान का मूलभूत अंश नहीं है।[1]

परोक्ष ज्ञान

परोक्ष ज्ञान और प्रत्यक्ष ज्ञान में यह भेद है कि परोक्ष प्रत्यक्ष के समान विषयों का उतना स्पष्ट चित्र प्रस्तुत नहीं करता जितना कि प्रत्यक्ष ज्ञान। जैन नहीं मानते कि आत्मा के सज्ञानों के निर्धारण में इन्द्रियों की विशिष्ट भूमिका है। उनके अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान और ज्ञान के अन्य प्रकारों में यह भेद है कि प्रत्यक्ष ज्ञान वस्तुओं में स्वरूप और लक्षणों का सीधे चित्र प्रस्तुत कर देता है, परोक्ष वैसा नहीं करता। परोक्ष ज्ञान में अनुमान, प्रत्यभिज्ञा, आपादन, स्मृति आदि आते हैं।

अनुमान के बारे में जैन-दर्शनों में यह विशेषता है कि वे पाँच तर्क वाक्यों को अनावश्यक मानते हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, और निगमन नामक पाँच वाक्य, जैसे—(1)पर्वत वह्निमान् है (2) क्योंकि उसमें धूम है (3) जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ अग्नि होती है जैसे रसोई घर (4) पर्वत में धूम है (5) इसलिए उसमें आग भी है। इनमें जैनों के अनुसार अनुमान की प्रणाली के लिए वस्तुतः मूलभूत महत्त्व के केवल प्रथम दो ही वाक्य हैं (प्रमेय कमल मार्तण्ड पृ० 108-109)। जब हम अनुमान करते हैं तो हम इस प्रकार पाँच वाक्य नहीं बनाते। जो यह जानते हैं कि हेतु साध्य से, या तो सहभाव के कारण या क्रमाभाव के कारण अनिवार्य रूप से सम्बद्ध है वे हेतु (जैसे धूम) की विद्यमानता की बात सुनते ही तुरन्त यह अनुमान लगा लेते हैं कि पर्वत वह्निमान है। इसलिए पचवाक्यात्मक तर्क की *बात बालकों को समझाने के लिए ही कही जाती है, अनुमान के समय बुद्धि की जो तार्किक* प्रक्रिया चलती है उसका सही प्रतिनिधित्व नहीं करती।[2]

---

1 प्रमेय-कमल-मार्तण्ड पृ० 8-11।

2 जहाँ तक व्याप्ति का प्रश्न है, कुछ जैन तर्कशास्त्री बौद्धों के समान ही अन्तर्व्याप्ति (धूम और अग्नि के बीच) को बहिर्व्याप्ति (धूमवान् और अग्निमान् के बीच) से अधिक महत्त्व देते हैं। उनके मत में भी अनुमान के दो भेद हैं, स्वार्थानुमान (स्वयं अपने लिए) और परार्थानुमान (दूसरों को समझाने के लिए)। यहाँ यह उल्लेख भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि अति प्राचीन जैन तर्कशास्त्री अनुमान करने के लिए दशवाक्यात्मक तर्क के पक्षपाती थे, जिसका प्रमाण हमें भद्रबाहु के 'दशवैकालिक-निर्युक्ति' नामक ग्रन्थ से मिलता है। दस वाक्य थे (1) प्रतिज्ञा (उदाहरणार्थ, अहिंसा सर्वोत्तम गुण है), (2) प्रतिज्ञाविभक्ति (जैसे अहिंसा, जैन शास्त्रों के अनुसार सर्वोत्तम गुण है), (3) हेतु (क्योंकि जो अहिंसा का आचरण करते हैं वे

जहाँ तक प्रामाण्य का सवाल है जैन वेदों का प्रामाण्य नहीं मानते। वे जैन शास्त्रों को ही प्रमाण मानते हैं। वे ही सत्य ज्ञान के स्रोत हैं क्योंकि वे उनके द्वारा प्रणीत हैं जिन्होने प्रारम्भ में सांसारिक जीवन भले ही जिया हो किन्तु बाद में सम्यक् कर्म और सम्यक् ज्ञान द्वारा उन्होने समस्त इच्छाओं का दमन कर अज्ञान का नाश कर दिया था।[1]

ज्ञान का स्वरूप

बौद्धों का मत था कि वस्तु के अस्तित्व का प्रमाण उसका हम पर विशेष प्रभाव होना अथवा कार्यकारित्व ही है। जिसका हम पर कोई प्रभाव हो वह वस्तु सत् मानी जाती थी और जो ऐसा नही करती थी वह असत्। उनके मत में सत्ता की परिभाषा प्रभाव के उत्पादन में ही थी। सिद्धान्ततः प्रभाव की प्रत्येक इकाई अन्य प्रभावों की इकाइयों से अलग होती है अत. उन्हें मानना पड़ा कि प्रभाव की विभिन्न इकाइयों का क्रमिक आवर्तन होता है, दूसरे शब्दों मे प्रत्येक क्षण नए कार्य की उत्पत्ति के साथ नए द्रव्यों की उत्पत्ति उन्हें माननी पड़ी। समस्त पदार्थ उनके मत में क्षणिक थे। जैनों ने कहा कि कार्य के उत्पादन को ही सत्ता का प्रमाण मानने के पीछे यही तर्क है कि हम उसी चीज का अस्तित्व मानते हैं जो तदनुकूल अनुभव द्वारा प्रमाणित हो। जब हमे अनुभव की एक इकाई

देवताओं के प्रिय होते हैं और उनके प्रति आदर शुभावह है), (4) हेतु विभक्ति (जो ऐसा आचरण करते है वे ही जीवन मे सर्वोच्च प्रतिष्ठा के पात्र होते है), (5) विपक्ष (किन्तु हिंसा का आचरण करने पर भी कई लोग उन्नति कर सकते और जैन शास्त्रो की निन्दा करने पर भी कुछ लोग शुभ की प्राप्ति कर सकते हैं जैसेकि ब्राह्मण लोग), (6) विपक्ष प्रतिषेध (ऐसा नही है, यह असम्भव है कि जो जैन शास्त्रो की निन्दा करते हों वे देवो के प्रिय हों या प्रतिष्ठा के पात्र हो), (7) दृष्टान्त (अर्हत् लोग गृहस्थों से भिक्षा द्वारा अन्न प्राप्त करते हैं क्योंकि कीटादि जीवो की हिंसा की आशंका से वे भोजन नही पकाना चाहते), (8) अशंका (किन्तु यों तो गृहस्थों द्वारा पकाए भोजन का पाप उन्हें लगना चाहिए क्योकि वह उन्हीं के लिए पकाया गया है), (9) आशंका प्रतिषेध (ऐसा नही है क्योकि अर्हत् लोग कभी भी अप्रत्याशित रूप से किसी भी घर में पहुँच सकते है अतः ऐसा नहीं कहा जा सकता कि भोजन उनके लिए पकाया जाता है), निगमन (अतः अहिंसा ही सर्वोत्तम गुण है)। विद्याभूषण : इंडियन लॉजिक)। ये सब तर्कात्मक कथन हैं जो सामान्य विचार-विमर्शों में भी व्यावहारिक रूप से बहुधा प्रयुक्त होते हैं किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से इनमें से अनेक अनावश्यक भी है। वात्स्यायन ने अपने न्यायसूत्र भाष्य में (1-1-32) जो यह कहा है कि अन्य तार्किको में प्रचलित दशवाक्यात्मक तर्क के स्थान पर गौतम ने पंचवाक्यात्मक तर्क के सिद्धान्त को विकसित किया, उसकी पृष्ठभूमि में यही जैन मत उनके मस्तिष्क में रहा होगा।

1. देखें, जैन तर्कवार्तिक तथा परीक्षामुखसूत्रवृत्ति एवं षड्दर्शनसमुच्चय में जैन-दर्शन पर गुणरत्न की टिप्पणी।

अनुभूत होती है तो हम उसके आधार को सिद्ध करने के लिए उस द्रव्य की सत्ता को मानते हैं। इस दृष्टि से बौद्धो का यह अव्यावहारिक-विश्लेषण कि हममे उत्पादित प्रभाव की प्रत्येक इकाई प्रत्येक क्षण नई होती है, वही नहीं रहती, और इसलिए समस्त वस्तु क्षणिक हैं। यह अनुभव गम्य है कि किसी का सारा रूप क्षण मे नहीं बदलता, उसका कुछ अश (जैसे एक स्वर्णाभूषण मे स्वर्ण) स्थायी रहता है और कुछ अश (जैसे कनफूल या बाजूबन्द आदि उसके बाहरी रूप) परिवर्तित होते रहते हैं। इस प्रत्यक्ष अनुभव के विपरीत हम यह कैसे मान सकते हैं कि समस्त वस्तु हर क्षण नष्ट होती है और नई वस्तुएँ हर अगले क्षण पैदा होती हैं? इस प्रकार केवल सिद्धान्त की बात और निराधार कल्पनाओ से परे हटकर अनुभव की ओर देखा जाए तो यह ज्ञात होगा कि सत्ता या अस्तित्व की धारणा मे परिवर्तन या पर्याय (नए गुणो का ग्रहण और पुराने गुणो का त्याग) के साथ-साथ स्थायित्व की धारणा भी निहित है। जैन मानते हैं कि अन्य दर्शनो की प्रणालियाँ इसलिए दोषपूर्ण हैं कि वे अनुभव को एक ही नय की दृष्टि से परिभाषित करती हैं जबकि उनकी प्रणाली अनुभव के समस्त पहलुओ की छानबीन करती है और अनुभव द्वारा उपस्थापित तथ्यो को स्वीकार करती है, ऐकान्तिक रूप से नही किन्तु उचित सीमाओ के अन्दर। जैनो के अनुसार अर्थक्रियाकारित्व के सिद्धान्त के वर्णन मे बौद्धो मे पहले तो अनुभव के प्रामाण्य पर आधारित विवेचना के से लक्षण प्रकट होते हैं किन्तु वे तुरन्त ही एकपक्षीय हो जाते हैं और बाद मे अनुभव-विरुद्ध कल्पनाओ मे अकारण फँस जाते हैं। यदि हम अनुभव के आधार पर चलें तो हम न तो आत्मा को अस्वीकार कर सकते हैं न बाह्य जगत् के अस्तित्व को जैसा बौद्ध करते हैं। ज्ञान, जो हमे बाह्य जगत् के सभी स्पष्ट स्वरूपो को दिखला देता है, अपने आप मे यह भी प्रमाणित करता है कि वह ज्ञान विषयी के रूप मे स्वय मेरा भी (ज्ञाता का) अविभाज्य अग है। इस दृष्टि से ज्ञान मेरी स्वय की एक अभिव्यक्ति ही है। अनुभव मे हमे यह ज्ञात नहीं होता कि बाह्य जगत् हममे सृष्ट हो रहा है, किन्तु हममे ज्ञान का उदय हो रहा है और वह हमे कुछ विषयो का ज्ञान करा रहा है ऐसा ही प्रतीत होता है। इस प्रकार ज्ञान का उदय वस्तुओं मे निहित कुछ विशिष्ट वस्तुगत सस्थितियों के समानान्तर है जिनमें एक विशिष्ट योग्यता होती है जिसके कारण वे किसी विशिष्ट क्षण मे प्रत्यक्षीकृत और ज्ञात होते हैं। इस दृष्टि से हमारे समस्त अनुभव हममें ही केन्द्रित होते हैं, क्योंकि एक दृष्टि से हमारे अनुभव हमारे स्वय के रूपान्तर या अभिव्यजन के रूप मे ही आते हैं। ज्ञान आत्मा का लक्षण है अत. इन्द्रियो से अनिर्भर और स्वतन्त्र रूप मे वह आत्मा के प्रकटीकरण का ही रूप है। ज्ञान मे चेतन और अचेतन तत्त्वो का विभेद करना अनावश्यक है जैसा साख्य करता है। इसी प्रकार ज्ञान को उन वस्तुओ की प्रतिलिपि के रूप मे नही देखना चाहिए जैसा सौत्रांतिक मानते हैं क्योंकि वस्तुओं की भौतिकता की प्रतिलिपि होने के कारण हमे ज्ञान को भी भौतिक मानना पड़ेगा। अत ज्ञान को आत्मा का एक रूपहीन गुण मानना चाहिए जो अपने आप में वस्तुओ का प्रकटीकरण करता है। किन्तु मीमांसा का यह मत कि ज्ञान स्वत प्रमाण है, ठीक नही है। तार्किक और मनस्तात्त्विक दोनो दृष्टियो से ज्ञान का प्रामाण्य तथ्यो से बाह्य सवाद होने पर ही निर्भर होता है, केवल ऐसी स्थितियो मे जहाँ पूर्वानुभूत सवाद (तथ्यो के साथ सवाद के पहले हो

चुके अनुभव) के कारण किसी वात का सही विश्वास हो जाता है तो बाहरी तथ्यों के साथ संवाद को देखे विना ही प्रामाण्य गृहीत हो सकता है (प्रामाण्यमुत्पत्तौ परत एव ज्ञप्तो स्वकार्ये च स्वतः परतश्च अभ्यासानभ्यासापेक्षया) ।[1] वाह्य जगत् सत्य है क्योंकि अनुभव-गम्य है किन्तु यह वात कि वह हममे ज्ञान की उत्पत्ति करता है - कि अकारण मानी हुई परिकल्पना है क्योंकि ज्ञान तो आत्मा की अभिव्यक्ति है । अव हम इसी के साथ जैन तत्त्व-मीमांसा का विवेचन प्रारम्भ करते है ।

जीव

जैनों का मत है कि यह अनुभव सिद्ध है कि वस्तुएँ दो वर्गो मे विभाजित है—जीव और अजीव । जीवनी शक्ति शरीर से विलकुल पृथक् चीज है अत' यह विचार भ्रमात्मक है कि जीवन शरीर की ही उत्पत्ति या सम्पत्ति है ।[2] जीवनी शक्ति के कारण ही शरीर सजीव लगता है । यह जीवनी शक्ति जीव ही है । जीव का ईक्षण (अन्तर्दृष्टि द्वारा) किया जा सकता है जैसे अन्य वाह्य पदार्थो का । यह केवल शव्द मात्र मे स्थित प्रतीक स्वरूप वस्तु या केवल वर्णन की चीज नहीं है । यह विचार सुप्रसिद्ध मीमांसक प्रभाकर के मत से विलकुल विपरीत पड़ता है ।[3] जीव अपने शुद्ध स्वरूप मे अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनत वीर्य धारण करने वाली शक्ति है ।[4] यह पूर्ण है । सामान्यत' कुछ शुद्ध और मुक्त जीवों को छोड़ कर अन्य सभी जीव ससारी हैं और उनकी शुद्धता और शक्ति कर्म के फल के आवरण से आच्छादित रहती है और कर्म अनादि काल से उन पर छाते रहते है । जीवों की सख्या अगणित है । वे द्रव्य है एवं अनादि हैं । वस्तुत. हमारे लोकाकाश में अनन्त जीव व्याप्त हैं, उनका आकार मध्यम परिमाण का है, वे न विभु हैं न अणु हैं । इसलिए उन्हें जीवास्तिकाय के नाम से पुकारा जाता है । अस्तिकाय शव्द का अर्थ होता है वह वस्तु जो किसी जगह को रोक सके और जो व्यापिनी शक्ति रखती हो । ये जीव जिस समय जिस शरीर मे समाहित होते हैं उसके अनुसार अपने आपको आकार मे संकुचित या विस्तृत वनाते रहते हैं (हाथी में विस्तृत आकार धारण करके और चीटी मे संकुचित आकार धारण करके) । यह ध्यान देने योग्य वात है कि जैनो के अनुसार जीव समस्त शरीर में

1. प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० 38-43 ।
2. देखें, जैनवार्तिक पृ० 60 ।
3. देखें, प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० 33 ।
4. जैन दर्शन और ज्ञान मे भेद करते है । दर्शन किसी विपय का ज्ञान मात्र है, विवरण-पूर्वक ज्ञान नही, जैसे मैं एक कपड़ा देखता हूँ । ज्ञान सविवरण ज्ञान है जैसे कपड़ा देखकर मैं यह भी जानता हूँ कि यह किसका है, किस स्तर का है, किसका वनाया हुआ है आदि । प्रत्येक सज्ञान में हमे पहले दर्शन होता है फिर ज्ञान । शुद्ध जीव मे सभी पदार्थो का अनन्त सामान्य प्रत्यक्ष निहित रहता है तथा समस्त पदार्थो का सविवरण ज्ञान भी निहित रहता है ।

व्याप्त रहता है। केशो से लेकर पैर के नखों तक। तभी तो जहाँ कही भी कोई सवेदन या पीडा होती है उसका अनुभव तुरन्त हो जाता है। जीव समस्त शरीर मे किस प्रकार व्याप्त रहता है इसे वे एक कमरे मे एक कोने मे रखे दीपक की उपमा से समझाते हैं जो समस्त कमरे को आलोकित करता रहता है। जैन इन्द्रियो को धारण करने की मात्रा और सख्या के हिसाब के अनुसार जीवो का वर्गीकरण करते हैं। सबसे नीचे पेड पौधे आते हैं जिनमे केवल स्पर्शेन्द्रिय या स्पर्श-सवेदन होता है उससे ऊँचा वर्ग उन कीडो का आता है जिनमे दो इन्द्रियाँ होती हैं स्पर्श और स्वाद की। उससे ऊपर चीटियाँ आदि आती है जिनमे स्पर्श, घ्राण और स्वाद तीनो की शक्ति होती हैं। उससे ऊपर मधुमक्खियाँ आदि आती हैं जिनमे स्पर्श, घ्राण और स्वाद के अतिरिक्त चक्षुरिन्द्रिय भी होती है। अन्य जीव-धारी प्राणियो मे पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ होती है। ऐसे ऊँचे प्राणियो मे मनुष्य और देवता गिने जाते हैं जिनमे समस्त इन्द्रियाँ तो होती ही है एक आन्तरिक इन्द्रिय और होती है, मन, जिसके कारण वे सज्ञी प्राणी कहे जाते हैं, अन्य पशु आदि प्राणी असज्ञी कहे जाते हैं।

यह स्पष्टत देखा जा सकता है कि निम्नतर प्राणियो मे जीव का विभाजन करते हुए जैन चार तत्त्वो, पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि मे भी जीव की सत्ता मानते हैं। पार्थिव पदार्थ भी जीवो के ही पिण्ड हैं। इन्हे पार्थिव जीव आदि कहा जा सकता है। इन्हें हम प्राथमिक जीव कह सकते है। वे जीवन पूर्ण कर मर जाते है और किसी अन्य प्राथमिक शरीर मे पुन जीवित हो उठते हैं। ऐसे प्राथमिक जीव स्थूल भी होते है और सूक्ष्म भी। सूक्ष्म जीव अदृश्य होते हैं। ऐकेन्द्रिय जीवो के अन्तिम वर्ग में पौधे आते हैं। कुछ पौधो मे समस्त कलेवर एक ही जीव का बना होता है जबकि कुछ ऐसे होते हैं जो शरीरधारी जीवो के समूह से बने होते हैं। इनके विभिन्न अवयवो मे जीवन के समस्त लक्षण पाए जाते हैं जैसे श्वसनक्रिया, वृद्धि की क्रिया, पोषण क्रिया आदि। एक जीव वाले पौधे स्थूल होते हैं, वे पृथ्वी के आवासयोग्य भाग में ही पाए जाते हैं। किन्तु उन वृक्षो मे भी जो विभिन्न वृक्ष-जीवो के समूह से निर्मित होते हैं, कुछ सूक्ष्म जीव हो सकते हैं और अदृश्य हो सकते हैं—ऐसे पौधे समस्त विश्व मे व्याप्त हैं। समस्त ब्रह्माण्ड निगोद नामक सूक्ष्म जीवों से व्याप्त है। ये अनन्त जीवो के समूह से निर्मित होते हैं। इनमे श्वसन और पोषण क्रिया समान होती है, इन्हे भयकर पीडा का अनुभव होता रहता है। समस्त आकाश (अन्तरिक्ष) ऐसे अनन्त जीवो से ठसाठस भरा हुआ है जैसे चूर्ण के डिब्बे मे चूर्ण भरा रहता है। जिन जीवो को मोक्ष प्राप्त हो जाता है उनके स्थान पर इन निगोदो से अन्य जीव आ जाते हैं। अब तक, अनादिकाल से लेकर आज तक जितने जीवो को निर्वाण प्राप्त हुआ है उन सबकी जगह लेने के लिए केवल एक निगोद के अत्यत स्वल्प स्थान से निकले बहुत थोडे से जीव ही पर्याप्त रहे हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि ससार जीवधारी प्राणियो से कभी खाली नही हो सकता। निगोदो मे से जिन-जिन को विकास की आकाक्षा होती है वे बाहर आकर विभिन्न प्रक्रमो से गुजरते हुए अपना विकास जीवधारी प्राणी के रूप में करते रहते हैं।[1]

---

1 देखें, जैन धर्म पर जैकोबी का लेख (ई० आर० ई०) एव लोकप्रकाश अध्याय 4 पृ० 31 से।

कर्म सिद्धान्त

अपने-अपने कर्मों को गुणों और दोषों के अनुसार जीवदेव, मनुष्य, पशु या असुरों के रूप में जन्म लेते हैं। हमने अध्याय–3 में बतलाया है कि जीव के शरीर धारण का हेतु कर्म-द्रव्य की उपस्थिति ही है। शुद्ध जीव की सहज पूर्णता कर्म द्रव्य के विविध प्रकारों से दूषित हो जाती है। वे कर्म जो सम्यक् ज्ञान के सही स्वरूप को दूषित करते हैं उन्हें ज्ञाना-वरणीय कहा जाता है, जो सम्यक् दर्शन को दूषित करते हैं उन्हें दर्शनावरणीय कहा जाता है, जो जीव के आनन्द स्वरुप को आवृत्त करके सुख-दु.ख की उत्पत्ति करते हैं उन्हें वेदनीय कहा जाता है, और जो धर्म और सदाचार के प्रति हमारी सम्यक् प्रवृत्ति को आवृत करते है उन्हें मोहनीय कहा जाता है।[1] इन चार प्रकार के कर्मों के अलावा जो इन वस्तुओं के आवरण के रूप में आ जाते हैं, कर्मों के अन्य चार प्रकार भी हैं जिनमें निम्नलिखित बातें निर्धारित होती हैं—

(1) किसी जन्म मे कितनी आयु होगी। (2) कौन-सा शरीर, उसके कौन-से सामान्य और विशेष गुण तथा शक्तियाँ होगी (3) कौन-सा देश, जाति, परिवार तथा सामाजिक स्थिति होगी (4) जीव की कितनी आन्तरिक शक्ति होगी, जिसे आवृत्त करके कर्म सम्यक् आचरण की इच्छा होते हुए भी जीव को वैसा करने से रोक देता है। इन कर्मों को क्रमशः (1) आयुष्क कर्म (2) नामकर्म (3) गोत्रकर्म और (4) अन्तराय कर्म कहा जाता है। हमारे मन, वचन और काय से कार्य करते हुए हम निरन्तर किसी न किसी प्रकार का कर्म-द्रव्य पैदा करते रहते है। जिसे प्रथमतः भाव कर्म कहा जाता है जो बाद में द्रव्य कर्म के रूप में परिवर्तित हो जाता है और जीव मे प्रविष्ट होकर उसके काषाय के रूप में उससे चिपका रहता है। ये काषाय चिकनाई की तरह अन्य बाह्य से आकर प्रविष्ट होने वाले कर्म द्रव्य को अपने से चिपकाने का कार्य करते रहते हैं। यह कर्म द्रव्य आठ विभिन्न प्रकारो मे कार्य करता है अतः इसे ऊपर बताए गए आठ भेदो मे विभक्त किया गया है। यही कर्म बन्धन और दु.ख का कारण है। अच्छे और बुरे कर्म द्रव्य के संसक्त होने के फल-स्वरूप जीव विभिन्न रगों मे रंग जाता हैं जैसे सुनहरा, कमल के समान गुलाबी, सफेद और काला, नीला आदि। इन्हें लेश्या कहा जाता है। कर्म द्रव्य के इकट्ठा होने से जो भाव उत्पन्न होते हैं उन्हे भाव-लेश्या और जीव के इसके द्वारा बदले गए रंग को द्रव्या-लेश्या कहा जाता है। अच्छे, बुरे अथवा उदासीन कार्यो से उत्पन्न कर्मद्रव्य तदनुरूप सुख, दुःख या औदासीन्य उत्पन्न करता है। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि द्वारा जो ज्ञान हम प्राप्त करते रहते है वह भी कर्मों के प्रभाव का परिणाम है जिससे कि हमारे ज्ञान पर पड़ा हुआ पर्दा

---

1. जैन ज्ञान के पाँच प्रकार मानते हैं—(1) मतिज्ञान (सामान्य संज्ञान) (2) श्रुति (प्रमाण) (3) अवधि (अतिमानव संज्ञान) (4) मन. पर्याय (विचारों को पढ़ लेना) (5) केवल ज्ञान (सर्वज्ञता)।

उस समय हट जाता है और हम वह ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। हमारे ज्ञान, भावना आदि पर पड़ा पर्दा हमारे कर्मों के अनुसार इस प्रकार उठता है कि हमे वही ज्ञान प्राप्त हो जिसके हम भागी हैं। इस प्रकार एक दृष्टि से कर्मों के प्रभाव से समस्त ज्ञान और भावना हमारे अन्तर मे ही उत्पन्न होती है, जिन बाह्य पदार्थों के कारण वह ज्ञान पैदा होता हुआ-सा लगता है वे केवल तात्कालिक सयोगजन्य परिस्थितियाँ ही हैं।

जब किसी विशेष कर्मद्रव्य या कर्मवर्गणा का परिपाक पूरा हो जाता है तो वह समाप्त हो जाता है और जीव से वह हट जाता है। कर्मो के विरेचन की यह प्रक्रिया 'निर्जरा' कही गई है। यदि तब नया कर्मद्रव्य सचित नही हो तो धीरे-धीरे इस प्रकार के विरेचन से अन्तत जीव कर्मद्रव्य से विमुक्त हो सकता है किन्तु यह चक्र ही ऐसा है कि यदि पुराना कर्मद्रव्य विरिक्त हो जाता है तो नया कर्मद्रव्य सदा जीव मे प्रविष्ट होता रहता है और इस प्रकार विरेचन और बन्धन दोनो की प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती रहती हैं जिससे जीव निरन्तर सृष्टि-क्रम, पुनर्जन्म आदि मे लिप्त रहता है। व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसका जीव अपने कर्मणा शरीर के साथ अपने नए जन्म स्थान मे पहुँच जाता है और वहाँ नया शरीर धारण करता है और उसका कलेवर कर्मणा शरीर के अनुसार विस्तृत, सकुचित, निर्धारित होता है।

सामान्य क्रम मे कर्म अपना परिणाम दिखाते रहते हैं। वह स्थिति जीव की 'औदयिक स्थिति' होती है। अनेक प्रयत्नो से कर्मो के परिपाक का शमन किया जा सकता है (यद्यपि कर्म तब भी रहते हैं) उस स्थिति को 'औपशमिक' दशा कहते हैं। जब कर्मों का परिपाक ही नही, कर्म भी समाप्त हो जाते हैं तो उस स्थिति को 'क्षयिक दशा' कहते हैं। यही दशा मोक्ष की स्थिति को लाती है। इसके अतिरिक्त एक चौथी स्थिति और मानी गई है जिसमे सज्जन सदाचारी व्यक्ति पहुँचते हैं। उस स्थिति में कुछ कर्म नष्ट हो जाते हैं, कुछ का परिपाक नहीं होता और कुछ सक्रिय रहते हैं। यह क्षयोपशमिक दशा है।[1]

---

1 एक विकासमान जीव जिन स्थितियो से होकर गुजरता है उन्हें दर्शन की भाषा मे गुणस्थान कहा गया है। ये चौदह होते है। पहली तीन स्थितियाँ जीव मे जैन-धर्म के प्रति आस्था उदित होने से सबद्ध हैं, अगली पाँच स्थितियो मे समस्त कषाय नियन्त्रित होते है, दूर होते हैं, अगली चार स्थितियो मे साधक योग का अभ्यास करता है और अपने समस्त कर्मो का नाश करता है। तेरहवी स्थिति मे वह समस्त कर्मो से मुक्त हो जाता है किन्तु फिर भी योग का अभ्यास करता रहता है और अन्तत चौदहवी स्थिति में मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

(देखें, द्रव्य-सग्रहवृत्ति, श्लोक 13)।

कर्म, आस्रव एवं निर्जरा

कर्मों के कारण जीवों को इस ससार-क्रम का चक्र भोगना होता है, देव, मानव, पशु या कीट बनकर विविध स्थानो पर जन्म और पुनर्जन्म लेना पड़ता है। कर्म एक प्रकार से अतिसूक्ष्म आण्विक द्रव्य के रूप में परिकल्पित किए गए हैं (कर्मवर्गणा)। इन कर्मद्रव्यो का जीव मे प्रवेश 'आस्रव' कहा गया है। ये कर्म मन, वचन और काय से उद्भूत होते है। आस्रव के उपमान से यही तात्पर्य है कि जिस प्रकार विभिन्न स्रोतों से जल एक जलाशय मे प्रविष्ट होता है उसी प्रकार कर्म-जीव मे प्रविष्ट होते रहते हैं। जैन कर्मों और उन स्रोतों मे जिनके द्वारा कर्म-जीव मे प्रविष्ट होते है, भेद करते हैं। आस्रव को इसीलिए उन्होने दो वर्गों मे विभक्त किया है, भावास्रव और कर्मास्रव। भावास्रव वह चिन्तना या भावना है जिसके माध्यम से या जिसके कारण कर्मद्रव्य के अणु जीव मे प्रविष्ट होते है।[1] नेमिचन्द्र के अनुसार भावास्रव जीव मे होने वाला ऐसा परिवर्तन है जिसके रूप में कर्म-जीव मे प्रविष्ट होते हैं। यह उस परिवर्तन से विपरीत है जो कर्मास्रव का नाश करते समय होता है।[2] कर्मास्रव जीव मे कर्मों के प्रविष्ट होने की वास्तविक क्रिया है। भावास्रव सामान्यत. पाँच प्रकार के बतलाए गए है—मिथ्यात्व, अविरति (नियंत्रणहीनता), प्रमाद, योग और काषाय। मिथ्यात्व भी पाँच प्रकार का है—एकान्त (बिना विमर्श के किया हुआ विश्वास या कोई चरम धारणा), विपरीत (सत्य के बारे मे अनिश्चय), विनय (यह जानते हुए भी कि यह विश्वास गलत है, उसे आदत के कारण लिए रहना), संशय (सही-गलत के बारे में सदेह) और अज्ञान (तर्क के अभाव में किसी विश्वास का न बन पाना)। अविरति भी पाँच प्रकार की होती है—हिंसा, अनृत, चौर्य, अब्रह्म (असंयम) और परिग्रहाकाक्षा। प्रमाद भी पाँच प्रकार का होता है—विकथा (कुवार्ता), काषाय, इन्द्रिय (इन्द्रियो का असयम), निद्रा और राग (आसक्ति)।[3]

अब हम द्रव्यास्रव पर आते हैं। यह कर्म के आस्रव की वास्तविक क्रिया है। चूंकि कर्म आठ विभिन्न प्रकारो से जीव को प्रभावित करते हैं इसलिए कर्मों को भी आठ वर्गों मे विभक्त किया गया है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। यह कर्मास्रव वस्तुतः भावास्रव या कुविचारों के कारण अथवा जीव मे हुए भावजन्म परिणामो (परिवर्तनों) के कारण होता है। भाव की स्थितियाँ जो कर्मों के प्रवेश को निर्धारित करती हैं, 'भावबन्ध' कहे जाते है और जीव का वह बन्धन जो कर्मो के सम्पर्क के विकार के कारण उद्भूत होता है—'द्रव्य बध' कहा जाता है। भावबध के कारण कर्मो

---

1. द्रव्य संग्रहवृत्ति श्लोक 29।
2. द्रव्यसंग्रह श्लोक 29 पर नेमिचन्द्र की टीका (एस० सी० घोषाल द्वारा संपादित)।
3. श्लोक सख्या 30 पर नेमिचन्द्र की टीका।

के साथ जीव का सम्पर्क होता है ।[1] यह सम्पर्क कुछ इस प्रकार का परिकल्पित किया गया है जैसे किसी पुरुष के तेल मे सने शरीर पर धूल चिपकती जाती है । गुणरत्न के शब्दो मे 'कर्म के प्रवेश का तात्पर्य है किसी विशिष्ट वर्ग के कर्मद्रव्य के साथ जीव का सपर्क, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार तेलाक्त शरीर मे धूल का चिपकना ।' जीव के समस्त भागो मे कर्मद्रव्यो के अनन्त अणु चिपक जाते हैं जिससे वह चारो ओर से इस प्रकार आवृत्त हो जाता है कि हम इस दृष्टि से ससार स्थिति के इस जीव को कभी-कभी द्रव्य शरीर कह सकते हैं ।[2] एक दृष्टि से कर्म-बन्धन केवल पुण्य और पाप ही है ।[3] दूसरी दृष्टि से इनके चार भेद किए गए हैं—कर्मो की प्रकृति, स्थिति (बन्धन की), अनुभाग (तीव्रता) और प्रदेश (फैलाव) के आधार पर। कर्मो की प्रकृति से तात्पर्य है कर्मो के आठ प्रकार जो ऊपर वर्णित हैं । ज्ञानावरणीय कर्म-जीव के विस्तृत और अनन्त विशिष्ट ज्ञान पर आवरण डालता है, दार्शनावरणीय कर्मजीव के अनन्त सामान्य ज्ञान पर आवरण डालता है, वेदनीय कर्मजीव मे सुखदु खानुभूति पैदा करता है, मोहनीय कर्मजीव को इस प्रकार मोह के जाल मे डाल देता है कि वह क्या सही है और क्या गलत है इसका भेद नहीं कर पाता, आयु कर्म-जीव की शरीर विशेष मे आयु निर्धारित करता है, नामकर्म व्यक्तियो के व्यक्तित्व निर्धारित करता है, गोत्र कर्म-जीव के लिए विशिष्ट सामाजिक स्थितियाँ सदर्भित करता है और अन्तराय कर्म-जीव के द्वारा सम्यक् आचरण में विघ्न डालता है । किसी भी कर्म की जीव मे रहने की अवधि स्थिति कही जाती है । कर्म तीव्र, मध्यम और मन्द इस प्रकार के वर्गो मे विभाजित किए जा सकते हैं—इसी आधार पर तीसरा सिद्धान्त जिसे अनुभाग कहा जाता है, बतलाया गया है, कर्मो की जीवों मे स्थिति और उनकी तीव्रता, मन्दता आदि विभेद जीव के 'कापायों' पर निर्भर होती हैं तथा ज्ञानावरणीय आदि वर्ग विभाजन जीव के कर्मद्रव्य से सम्पर्क विशेष की प्रकृति पर निर्भर होता है ।[4]

कर्मो के प्रवेश के दो प्रकारो, भावास्रव और कर्मास्रव के अनुरूप ही ऐसे प्रवेश का प्रतिरोध करने वाली दो नियत्रक प्रक्रियाएँ बतलाई गई हैं, जो विचारो को नियन्त्रित करके तथा कर्मद्रव्यो का प्रतिरोध करके कर्मो पर अकुश लगाती हैं । इन्हे क्रमश भावसवर तथा द्रव्यसवर कहा गया है । भावसवर सात प्रकार के बतलाए गए हैं । (1) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह की प्रतिज्ञाएँ (2) ईर्या (जीव हिंसा रोकने के लिए निर्धारित मार्गो के अवलबन हेतु समितियाँ), भाषा (सयत और पवित्र भाषण), एषणा (उचित भिक्षाटन) आदि (3) गुप्तियाँ अर्थात् मन, वचन और काम का सयम (4) धर्म अर्थात् क्षमा, विनय, सदाचार, सचाई, स्वच्छता, सयम, तप, त्याग, लाभ और हानि के प्रति उदा-

---

1 श्लोक 31 पर नेमिचन्द्र टीका तथा वर्धमानपुराण 16-44 घोषाल द्वारा उद्धृत ।

2 देखें, गुणरत्न पृ० 181 ।

3 वही ।

4. वर्धमानपुराण 16-67-68 तथा द्रव्यसग्रहवृत्ति श्लोक 35 ।

सीनता, ब्रह्मचर्य[1] (5) अनुप्रेक्षा अर्थात् संसार की अनित्यता पर विचार, सत्य के बिना सब कुछ नि सार है इसका एहसास, सृष्टिक्रम अच्छे और बुरे कर्मों के प्रति हमारी स्वय की जिम्मेदारी, आत्मा और अनात्म के भेद, शरीर तथा उसकी उपाधियों के अशुचित्व, कर्मों के प्रवेश तथा जो कर्म प्रविष्ट हो गए हैं उसके विनाश के सम्बन्ध में, जीव, द्रव्य ब्रह्माण्ड आदि तत्वों के बारे मे, सत्य, ज्ञान, श्रद्धा और आचरण की उपलब्धि की कठिनता के बारे में तथा संसार के सारभूत सिद्धान्तों के विषय में चिन्तन।[2] (6) परीषहजय अर्थात् ताप, शीत और शारीरिक असुविधाओं पर विजय प्राप्त करना तथा (7) चरित्र अर्थात् सम्यक् आचरण।

इसके बाद हम निर्जरा अर्थात् कर्मों के विरेचन या उनके विनाश के सम्बन्ध मे विवेचन करेंगे। निर्जरा दो प्रकार की बताई गई है, भाव निर्जरा और द्रव्य निर्जरा। भाव निर्जरा से तात्पर्य है जीव में इस प्रकार का वैचारिक परिवर्तन जिसमे कि कर्म द्रव्य का विनाश हो सके। द्रव्य निर्जरा से तात्पर्य है कर्मो के विनाश की वास्तविक प्रक्रिया जो या तो उनके फलभोग द्वारा होता है अथवा कर्मो के परिपाक के समय के पूर्व ही तप द्वारा हो जाता है। इन दोनों को क्रमशः सविपाक और अविपाक निर्जरा कहा जाता है। जब समस्त कर्मों का विनाश हो जाता है तो मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

पुद्गल

अजीवो के सात भेद हैं। पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुण्य और पाप। पुद्गल का अर्थ है द्रव्य।[3] इसे अस्तिकाय इसलिए कहा जाता है कि यह जगह घेरता है। पुद्गल अनेक अणुओं से बना होता है जो आकारहीन होते हैं और अनादि होते हैं। द्रव्य स्थूल (जैसे कि सासारिक वस्तुएँ जिन्हे हम देखते हैं) और सूक्ष्म (जैसे कर्मद्रव्य जो जीव को दूषित करता है, दोनों रूपों में विद्यमान है। समस्त भौतिक पदार्थ मूलत. अणुओं के संयोग द्वारा पैदा होते हैं। द्रव्य का सबसे छोटा अविभाज्य टुकड़ा अणु कहा जाता है। अणु अनादि होते है और उनमें स्पर्श, स्वाद, गंध और रंग होता है। अणुओ के ज्यामितिक, गोलीय अथवा घनीय रूप में संयुक्त हो जाने पर उनके कलेवर की विभिन्न मात्राओं के पारस्परिक संयोजन के अनुरूप (वनप्रतर भेदेन) ही संसार के समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं। कुछ संयोजन दो स्थानों पर (युग्मप्रदेश) पारस्परिक संयोग द्वारा बनते हैं और कुछ स्थानो पर आकर्पण शक्ति द्वारा अणु परस्पर संयुक्त हो जाते है (ओज.प्रदेश)। प्रज्ञापनोपांग सूत्र, (10-12) दो अणु एक स्कध बनाते हैं, इनमे एक स्नेही और दूसरा शुष्क हो सकता है अथवा उनके स्नेह और शुष्कता की विभिन्न

---

1. तत्वार्थाधिगम सूत्र।
2. वही।
3. यह बौद्ध सिद्धान्त से बिलकुल विभिन्न है। बौद्धो में पुद्गल से तात्पर्य एक व्यक्ति या इकाई से है।

मात्राएँ हो सकती हैं। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि बौद्धो के अनुसार अणुओ मे कोई पारस्परिक सयोग नहीं होता जबकि जैन मानते हैं कि सयोग आवश्यक है और अनुभव-सिद्ध है। अणुओ के सयोग अन्य सयोगों से इसी प्रकार जुडते जाते हैं और अन्तत ससार के विभिन्न स्थूल पदार्थ जन्म लेते हैं। पदार्थो मे निरतर परिवर्तन (परिणाम) होता रहता है जिससे उनके कुछ गुण नष्ट हो जाते हैं और नए गुण पैदा हो जाते हैं। पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि चार तत्त्व हैं और इनके अणु प्रकृति मे समान हैं। स्थूलता का प्रत्यक्ष भ्रम नही है जो कि हमारे मन मे अणुओ के प्रत्यक्ष के कारण भासित होता हो (जैसा कि बौद्धो का मत है) न ही यह प्रत्यक्ष आकाश में लम्बाई और चौडाई में फैले हुए अणुओ के प्रत्यक्ष का परिणाम है (जैसा कि साख्य योग का मत है), किन्तु यह प्रत्यक्ष स्थूलता, नीलता अथवा कठोरता के गुणो का, जो सयुक्त अणुओं में होने के कारण पदार्थ मे भी व्याप्त हो जाते हैं, प्रत्यक्ष है, इसलिए हममें स्थूल नील या कठोर पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। जब कोई चीज हमे नीली दिखती है तब यह क्रिया होती है कि उस पदार्थ के अणुओ द्वारा नीलत्व का गुण ग्रहण कर लिया गया होता है और दर्शनावरणीय और ज्ञानावरणीय आवरण हट जाने के कारण जीव मे उस नील पदार्थ का प्रत्यक्ष और ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अणुओ के समूहो मे गुणो के धारण के बाद उनमे जो समानता (समानरूपता) दिखलाई देती है और जिसके कारण वह पदार्थ कुल मिलाकर एक इकाई के रूप मे दिखाई देता है (जैसे एक गाय) दार्शनिक भाषा में तिर्यक् सामान्य कहा गया है। यह सामान्य न तो मन का आरोप है न आभासीय है (जैसाकि नैयायिक मानते हैं) यह केवल इस कारण है कि विभिन्न अणुओ मे समान गुण विकसित हो जाने के कारण उनके समवाय मे उन्ही गुणो की सगति पैदा हो जाती है। जब तक गुणो की यह समानता रहती है तब तक वह पदार्थ समान दिखलाई देता है और कुछ समय तक दिखलाई देता रहता है। जब हम एक पदार्थ को स्थायी समझते हैं तो यह इस प्रकार होता है कि अणुओ के एक समवाय मे समानता की प्रवृत्तियाँ हमे देखने को मिलती हैं और उनमे समान गुणों का आपेक्षिक स्थायित्व (पदार्थो मे) हमे दिखलाई देता है। जैनो के अनुसार पदार्थ क्षणिक नही हैं। उनके गुणो के बारे मे यह मानते हुए भी कि पुराने गुण नष्ट होते हैं और नए पैदा होते हैं, वे ये मानते हैं कि पदार्थ के रूप में एक इकाई उसी प्रकार और स्थायी रह सकती है। समय मे गुणो की यह समानता या स्थायिता ऊर्ध्वसामान्य[1] कही गई है। यदि अणुओ को इस दृष्टि से देखा जाए कि उनमें गुणो का विनाश व उद्भव होता रहता है तो उन्हें नश्वर कहा जा सकता है किन्तु यदि द्रव्य के रूप मे देखा जाये तो वे चिरस्थायी और अनादि हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश

धर्म और अधर्म इन शब्दो का जो तात्पर्य भारतीय दर्शन की अन्य शाखाओ में लिया जाता है, जैन दर्शन में उससे बिल्कुल विभिन्न है। धर्म, स्वाद, स्पर्श, गन्ध, शब्द से

---

1 देखें, प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० 136-143, जैनतर्कवार्तिक पृ० 106।

रहित है । यह लोकाकाश में पूर्णतः व्याप्त है, उसके प्रत्येक अंश में समाया हुआ है, इसीलिए इसे अस्तिकाय संज्ञा दी गई है । समस्त क्रिया का यही रहस्य है । जिस प्रकार मछली के चलने-फिरने का एकमात्र कारण और आधार जल है उसी प्रकार विश्व की समस्त गति का कारण और सहचारी धर्म ही है, सारी क्रियाएँ उसी से सम्भव होती हैं । मछली की गति के लिए जल उदासीन कारण है, प्रेरक कारण नही । गतिहीन मछली को जल चलने-फिरने के लिए वाध्य नही कर सकता, किन्तु यदि मछली गति में आना चाहती है तो उसके लिए जल आवश्यक कारण या सहायक है । धर्म द्रव्य को गति नही दे[1] सकता किन्तु यदि उनमें गति आती है तो विना धर्म के वह नही आ सकती । इसलिए लोक की चरम स्थिति में, मुक्त जीवो के क्षेत्र में, चूँकि कोई धर्म नही रहता अत' मुक्त जीव पूर्ण शान्ति और स्थिरता प्राप्त कर लेते हैं । उनमें गति नही हो सकती क्योकि आवश्यक गतितत्त्व, धर्म वहाँ नही है । अधर्म को भी इसी प्रकार एक व्यापक इकाई माना गया है जो जीवों को और पुद्‌गलो को स्थिर रखता है, रखने में सहायता करता है । यदि धर्म नही होता तो हिलडुल नही सकता था । यदि अधर्म नही होता तो कोई तत्त्व स्थिर नही रह सकता था । इन दो पृथक् तत्त्वो को मानने की आवश्यकता सम्भवत' जैनों को इसलिए अनुभव हुई कि उनके मत मे जीवों या अणुओ की आन्तरिक अथवा पारस्परिक क्रिया के लिए किसी वाहरी इकाई की सहायता का सिद्धान्त माना जा चुका था, वाह्य गति में परिवर्तित होने के लिए उसका प्रेरक तत्त्व माना जाना आवश्यक था । इसके अतिरिक्त यदि यह मान लिया जाता कि जीवो मे गति की क्रिया स्वयं-भू है तो मोक्ष के समय भी उनको गतिशील मानना पडता जो जैन नहीं चाहते थे, अत· यह माना गया कि वास्तविक गति की निष्पत्ति के लिए किसी वाह्य सत्ता की सहायता आवश्यक होती है जो मुक्त जीवों के क्षेत्र में नही रहती । आकाश वह सूक्ष्म सत्ता है, जो लोक और अलोक (मुक्त जीवो के उच्चतर क्षेत्र) मे व्याप्त रहता है और जिसमे धर्म, अधर्म, जीव, पुद्‌गल आदि समस्त तत्त्व स्थित रहते हैं । यह केवल अभाव मात्र नही है, या आवरण या प्रतिरोधक रहित शून्य नही है, किन्तु एक वास्तविक तत्त्व है जिसमें अन्य वस्तु प्रविष्ट हो सकती है । इसी व्यापकता के कारण इसे आकाशास्तिकाय कहा गया है ।[2]

काल एवं समय

वस्तु-सत्ता मे काल ऐसे अनन्त कणों से वना है जो आपस में नही मिलते किन्तु अणुओं के गुणों मे परिवर्तन, नये गुणो का अधिगम तथा रूपान्तरण की घटनाओ को सम्भव वनाते हैं, उनमे सहायता करते हैं । काल स्वयं वस्तुओ के गुणों मे परिवर्तन नही लाता किन्तु जैसे आकाश अपने मे अन्त प्रवेश और धर्म की गति मे सहायक होता है उसी प्रकार वस्तुओं मे नये गुणों के परिवर्तन की क्रिया मे सहायक होता है । काल को जव क्षणों, घंटो,

1. द्रव्यसंग्रहवृत्ति 17-20 ।
2. द्रव्यसंग्रहवृत्ति-19 ।

दिनो आदि के रूप मे लिया जाता है, तब उसे समय कहा जाता है। यह अपरिवर्ती, सनातन, काल की विभिन्न रूपो मे अभिव्यक्ति ही है। इस प्रकार काल केवल अन्य वस्तुओं मे परिवर्तन लाने मे सहायक नही होता किन्तु स्वय अपने रूपान्तरो जैसे क्षण, मुहूर्त, होरा आदि मे भी अपने आपको रूपान्तरित होने की स्थिति मे ला सकता है। इस दृष्टि से यह द्रव्य है और क्षण, मुहूर्त, होरा आदि इसके पर्याय हैं। समय की एक इकाई वह है जो एक अणु द्वारा देश की एक इकाई को अपनी मदगति से पार करने मे लगती है।

जैनों का ब्रह्माण्ड

जैनो के अनुसार विश्व अनादि और अनन्त है। लोक वह स्थान है जहाँ अच्छे और बुरे कार्यो के परिणामस्वरूप सुख और दु ख का भोग या अनुभव होता है। इसे तीन भागो मे विभाजित किया गया है—ऊर्ध्व (जहाँ देव रहते हैं), मध्य (जहाँ हम रहते हैं), अध (जहाँ नरक के जीव रहते हैं)। लोकाकाश मे धर्म समाया रहता है जो सारी गतियो को सम्भव बनाता है। लोकाकाश के बाहर धर्म नही है अत कोई गति नही है। वहाँ केवल आकाश है। लोकाकाश के चारो ओर वायु के तीन स्तर हैं। पूर्णता प्राप्त कर जीव ऊर्ध्व-लोक की ओर उठ जाता है, लोकाकाश से ऊपर चला जाता है और वहाँ (धर्म होने के कारण) स्थिर हो जाता है।

जैनों का योग

जैनो के अनुसार योग मोक्ष का कारण है। योग ज्ञान (यथार्थ का ज्ञान), श्रद्धा (जिनो के उपदेशो में) और चरित्र (बुरे आचरण से पूर्ण निवृत्ति) से बनता है। चरित्र मे आते हैं—अहिंसा (भूल या चूक से भी किसी जीव को समाप्त न होने देना), सूनृत (सत्य, शुभ और प्रिय बोलना), अस्तेय (बिना दिए कोई चीज न लेना), ब्रह्मचर्य (सब प्रकार के विषयों की तृष्णा से मन, वचन और कार्य की विरक्ति) एव अपरिग्रह (किसी भी वस्तु से मोह न रखना)।[1]

---

1. कुछ नीतिसमत आचरणो को भी चरित्र कहा गया है। वे ये हैं—ईर्या (उस मार्ग पर चलना जिस पर पहले से अन्य लोग चल चुके हैं, और जो सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित है ताकि चलते समय अपने पैरो से कीटो आदि जीवो की हिंसा न हो पाए) भाषा (समस्त प्राणियो से अच्छा और मीठा बोलना), ईषण (साधुओ के सुसमत तरीके से भिक्षाटन), दानसमिति (किसी भी चीज को लेते या देते समय आसन की भली प्रकार देख-भाल कर लेना ताकि अनधिकार विपर्यय न हो), उत्सर्ग समिति (इस बात का ध्यान रखना कि मल मूत्रादि इस प्रकार न फेंक दिए जाएँ कि किसी जीव का नुकसान हो), मनोगुप्ति (समस्त मिथ्या विचारो से दूर रहना, अपने आप मे सतुष्ट रहना तथा समस्त व्यक्तियो को मन से समान समझना), वाग्गुप्ति (मौन) तथा कायगुप्ति (शरीर का पूर्ण नियन्त्रण)। द्रव्य-सग्रहवृत्ति मे पाँच अन्य प्रकार के चरित्र भी गिनाये गये हैं। (35)

आचार के कट्टर नियम उनके लिए आवश्यक हैं जो मोक्ष प्राप्ति के लिए तत्पर हैं और साधु हैं। सामान्य श्रावक गृहस्थों के लिए जो आचार नियम बतलाए गए हैं वे पर्याप्त सरल और व्यावहारिक है। हेमचन्द्र ने कहा है कि सामान्य श्रावक को ईमानदारी से धन कमाना चाहिए, सज्जनों के आचरण का अनुसरण करना चाहिए, अच्छे परिवार की अच्छी कन्या से विवाह करना चाहिए, अपने देश के सदाचार का पालन करना चाहिए आदि आदि। ये तो ऐसे नियम है जिनका पालन आज भी एक सद्गृहस्थ के लिए आवश्यक होता है। अहिंसा, सूनृत, अस्तेय और ब्रह्मचर्य के पालन पर काफी जोर दिया गया है किन्तु इन सबका आधारभूत गुण अहिंसा ही बतलाया गया है। सूनृत, अस्तेय और ब्रह्मचर्य को अहिंसा के ही अनुपूरक गुणो के रूप में पालनीय माना गया है। इस दृष्टि से अहिंसा को जैन धर्म का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, आधारभूत नैतिक गुण कहा जा सकता है, समस्त धर्मों पर व्यवस्था उसी मापदण्ड को सामने रखते हुए दी जा सकती है। सूनृत, अस्तेय और ब्रह्मचर्य भी उसी पर आधृत है क्योकि उनके पालन न करने से अहिंसाव्रत विक्षत होता है। इन व्रतो के पालन का एक सरल प्रकार गृहस्थों के लिए बनाया गया है जो अणुव्रत कहा गया है। जो लोग मोक्ष के लिए प्रयत्नशील है उन्हें इन गुणों का कट्टरता के साथ पालन करना चाहिए—उसे महाव्रत कहा जाता है। उदाहरणार्थ, ब्रह्मचर्य पालन का अणुव्रत एक सामान्य गृहस्थ के लिए यही होगा कि वह व्यभिचार न करे—किन्तु एक साधु के लिए इसका तात्पर्य महाव्रत के रूप में यह होगा कि मन, वचन और कर्म के सभी प्रकार के कामुक विचारों, कृत्यों और वचनों का पूर्ण परिहार। सामान्य गृहस्थों के लिए अहिंसा का अणुव्रत होगा किसी जीव की हत्या न करना किन्तु महाव्रत यह होगा कि किसी भी प्रकार आपके कारण किसी भी जीव की हत्या का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कोई कारण या प्रसंग न बन जाए इसका पूर्ण ध्यान रखना और अनुपालन करना।

अन्य अनेक व्रत सामान्य श्रावको के लिए बतलाए गए हैं जो सभी अहिंसा के मूलभूत तत्त्व पर आधारित है। ये हैं—(1) दिग् विरति (एक निर्धारित, सीमित स्थल पर ही समस्त क्रियाकलाप निर्वर्तित कर लेना ताकि अलग-अलग स्थलों मे विद्यमान जीवो की हिंसा से बचा जा सके) (2) भोगोपभोगमान (आहार विहार में संयम अर्थात् मद्यमान न करना, मांस, घी, शहद, मेवा कुछ अन्य वनस्पति, फल शाक आदि न खाना तथा भोजन के समय और स्थल को सीमित कर आहार को नियन्त्रित करना (3) अनर्थदण्ड जिसमें—(क) अपध्यान (किसी को शारीरिक हिंसा न पहुँचाना, शत्रुओ की हत्या न करना आदि) (ख) पापोपदेश (लोगों को कृषि कर्म में लगने की सलाह न देना क्योकि उससे जीव हिंसा होती है) (ग) हिंसोपकारिदान (कृषि के उपादानों का लोगों को दान न करना क्योंकि उससे कीटों की अन्तत. हिंसा होती है) (घ) प्रमादाचरण (संगीतगोष्ठियों, नाट्यों आदि में न जाना, कामुक साहित्य न पढ़ना, द्यूत से विरति) इत्यादि का ध्यान रखा जाता है। (4) शिक्षापदव्रत जिसमे (क) सामयिक व्रत, (समस्त प्राणियों मे समानता का वर्ताव), (ख) देशावकाशिकव्रत (दिग्वरतिव्रतो का उत्तरोत्तर अधिकाधिक पालन), (ग) पोषधव्रत (कुछ अन्य सयम), (घ) अतिथिसंविभागव्रत (अतिथियों को दान)। इन सब धर्मों का उल्लंघन, जिसे अतिचार कहा गया है, वर्जित है।

समस्त प्रत्यक्ष ज्ञान और आचरण जीव के होते हैं और यह ज्ञान कि ये सब जीव के किस प्रकार होते हैं जीव का सच्चा ज्ञान होता है। आत्मज्ञान के अभाव के कारण उत्पन्न समस्त दु ख केवल सच्चे आत्मज्ञान से ही विनष्ट हो सकते हैं। जीव (आत्मा) केवल शुद्ध बुद्धि स्वरूप है, वह अपने कर्म के कारण शरीर धारण करता है। जब ध्यान से समस्त कर्मों का दहन हो जाता है (ध्यानाग्निदग्धकर्माणि) तो आत्मा शुद्ध हो जाती है। जीव ही अपने आप मे ससार (जन्म मृत्यु चक्र, पुनर्जन्मचक्र) होता है जब वह चार कापायो (भाव दूपणो) और इन्द्रियो से कलुपित होता है—क्रोध, मान (घमड), माया, (पाखड तथा अन्यो को छलने की प्रवृत्ति) और लोभ। ये कापाय इन्द्रियसयम से ही निवृत्त हो सकते हैं। इन्द्रिय सयम से मन शुद्धि होती है। बिना मन शुद्धि के योग मार्ग में अग्रसर नही हुआ जा सकता। मन जब सयत होता है तो हमारी सारी क्रियाएँ नियन्त्रित हो जाती हैं। अत जो मोक्ष मार्ग मे प्रवृत्त होता है उसे मन सयम के लिए समस्त प्रयत्न करना चाहिए। जब तक मन शुद्ध नही होता कोई तप लाभकारी नही हो सकता। मन शुद्धि से ही समस्त प्रकार के मोह और रागद्वेप निवृत्त हो सकते हैं। मोह और रागद्वेप से ही मनुष्य बन्धन मे बँधता है। इसलिए योगी के लिए उस बन्धन से मुक्त होना और वास्तविक अर्थो मे 'मुक्त' होना आवश्यक है। जब साधक समस्त प्राणियो से समदृष्टि या समत्व रखना सीख लेता है तो वह राग एव द्वेप पर विजय प्राप्त कर सकता है, इसके बिना लाखो वर्षो की तपस्या से भी राग द्वेप [illegible] जा सकता। समस्त प्राणियों में समत्व दृष्टि प्राप्त

ता। आकाश को भी कार्य मानना होगा [illegible]

है तो वह [illegible] पर विजय प्राप्त नहा [illegible] खोदा है [illegible]

करने के लिए हमे निम्नलिखित भावनाओ का अनुपालन करना चाहिए।

समस्त वस्तुओ की अनित्यता पर विचार करना। एक चीज जो प्रात काल थी, दोपहर मे नहीं रहेगी, वह जो दोपहर मे थी, रात को नहीं रहेगी, सारे पदार्थ अनित्य और परिवर्तनशील हैं। हमारा शरीर और हमारे सुख के समस्त विपय, धन और यौवन स्वप्न के समान अथवा आँधी मे उडते रुई के टुकडो के समान चल हैं।

समस्त प्राणी, यहाँ तक कि देवता भी मरणशील हैं। हमारे सारे सम्बन्धी अपने-अपने कर्मो से मृत्यु के शिकार होंगे। ससार दु खो से भरा है। इसमे हमारा कोई भी सहायक नही है। जिस किसी वात के लिए हम जिस किसी पर आशा लगाएँगे या निर्भर रहेंगे वह हमे धोखा देगा। ऐसा अनुभव-सिद्ध है। इस विचार को अशरण भावना कहा गया है।

कुछ लोग ससार में पैदा होते हैं, कुछ लोग दु ख पाते हैं, कुछ पूर्वजन्मो का फल भोगते हैं। हम सब हमारे परिवेश, कर्म, विभिन्न शरीरों तथा विभिन्न उपादानों के कारण जो हमे प्राप्त हैं, एक दूसरे से विभिन्न और पृथक् हैं। इन विचारो को एकत्व भावना और अन्यत्व भावना कहा गया है।

यह शरीर दूषित तत्त्वो का, मास, रक्त, अस्थियो का बना है और अशुद्ध है। इसे अशुचि भावना कहा गया है।

यदि मेरा मन विश्व मित्रता और करुणा की भावना से पवित्र हो गया है और दोप दूर हो गया है तो मैं शुभ फल प्राप्त करूँगा। किन्तु यदि, इसके विपरीत, मैं पाप करूँगा और धर्म का उल्लंघन करूँगा तो मुझे वहुत अशुभ परिणाम प्राप्त होगा। इसे आस्रव भावना कहा गया है। आस्रव (कर्मो के प्रवेश) के निरोध से संवर (कर्मो की विरति) होता है तथा पूर्व सचित कर्मों के विनाश से निर्जरा (कर्म द्रव्य का नाश) होती है।

दश धर्मों का अर्थात् संयम, सूनृत, शौच (स्वच्छता), ब्रह्म (पवित्रता), अकिंचनता (लालच का अभाव), तप (त्याग), सहनशीलता, शान्ति (क्षमा), मार्दव, (मृदुता), ऋजुता (सरल स्वभाव) तथा मुक्ति (समस्त पापों से मुक्ति), आचरण ही शुभ की प्राप्ति में सहायक हो सकता है। इस संसार मे ये ही हमारे सहायक हो सकते हैं। इन्ही पर विश्व आधारित है। इस भावना को धर्मस्वाख्यातता भावना कहा गया है।

जैन ब्रह्माड सिद्धान्त पर भी निरन्तर भावना रखनी चाहिए तथा यह भी चिन्तन करते रहना चाहिए कि मनुष्यों की विभिन्न दशाओं के लिए उनके कर्म ही जिम्मेदार होते है। इन दोनों को क्रमशः लोकभावना तथा वोधिभावना कहा गया है।

जव इन भावनाओ के निरन्तर अभ्यास से मनुष्य को समस्त विषयों से विरति होने लगती है तो समस्त प्राणियो में समत्व की भावना विकसित होने लगती है और वह सांसारिक सखो के प्रति अनासक्त हो जाता है। [illegible] शान्त मन से वह दोषों से मुक्त होने [illegible] लगता है। इसके वाद उसे ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। समत्व अर्थात् मन की समानता, भावना और ध्यान ये परस्पर सम्वद्ध हैं। समत्व के विना ध्यान और ध्यान के विना समत्व सम्भव नही है। ध्यान से मन को एकाग्र करने के लिए मैत्री (विश्वमित्रता की भावना), प्रमोद (मनुष्यो के अच्छे पक्ष पर जोर देने की आदत), करुणा (विश्वकारुण्य) तथा माध्यस्थ (लोगों के दोपों के प्रति उपेक्षा) का सहारा लेना चाहिए। जैन प्रार्थना मंत्रों पर मन को एकाग्र करने को जैन लोग ध्यान कहते हैं। ध्यान का उपयोग, जैसाकि ऊपर वर्णित है, मन को एकाग्र, शुद्ध करने और समता की भावना विकसित करने के लिए ही किया जाता है। मोक्ष तो कर्म द्रव्यों के पूर्ण विनाश से ही प्राप्त होता है। इस प्रकार जैनों का योग—नैतिक मानसिक अनुशासन का ही मार्ग है जो मन को शुद्ध करता है। वह हिन्दू दर्शनों के सुप्रसिद्ध योग से विभिन्न है—वौद्धों के योग से भी वह भिन्न ही है।[1]

जैनों का निरीश्वरवाद[2]

नैयायिको का कथन है कि यह जगत् कार्य है अत. निश्चित रूप से इसका कोई कारण भी होगा। इसका कर्ता कोई वुद्धिमान ही हो सकता है और वह ईश्वर है। इसका

---

1. हेमचन्द्र का योगशास्त्र, विंडिश द्वारा संपादित (जीतश्रिफत देर ड्यूशेन मार्ग गेसलशाफ्ट लाइपजिग, 1874) तथा घोपाल द्वारा संपादित द्रव्यसग्रह (1917)।
2. देखें, गुणरत्न की तर्करहस्यदीपिका।

उत्तर जैन इस प्रकार देते हैं, 'जब नैयायिक यह कहता है कि जगत् एक कार्य है तो कार्य से उसका तात्पर्य क्या है ? क्या वह यह कहना चाहता है कि कार्य वह इसलिए है (1) कि वह अवयवों से बना (सावयव) है या (2) वह किसी अस्तित्वहीन वस्तु के कारणों की आकस्मिक सगति का फल है (3) यह ऐसी वस्तु है जिसे कोई किसी के द्वारा बनाई हुई मानता है या (4) वह परिवर्तनशील वस्तु है (विकारित्वम्) । फिर, सावयव का तात्पर्य भी क्या है ? यदि इसका तात्पर्य अवयवो के रूप मे अस्तित्व मे आना है तो अवयवो मे विद्यमान जो सामान्य हैं उन्हें भी कार्यों के रूप में माना जाना चाहिए, तब वे नश्वर होंगे, किन्तु उन्हे नैयायिक अवयवहीन और अनादि मानते हैं । यदि इसका तात्पर्य अवयवी से है, जिसके कई अवयव हो, तो आकाश को भी कार्य मानना होगा किन्तु नैयायिक उसे नित्य मानते हैं ।

पुन कार्य का तात्पर्य एक अस्तित्वहीन वस्तु के कारणो की आकस्मिक सगति जो पहले विद्यमान नहीं थे, नही हो सकता क्योंकि तब हम जगत् को कार्य नही कह सकेंगे, कारण कि पृथ्वी आदि तत्त्वो के अणु नित्य माने जाते हैं ।

यदि कार्य का तात्पर्य (किसी के द्वारा जो बनाया हुआ माना जाता हो) लिया जाए तो आकाश को भी कार्य मानना होगा क्योंकि जब कोई व्यक्ति जमीन खोदकर गड्ढा बनाता है तो वह समझता है कि जो गड्ढा उसने खोदा है उसमें जो आकाश है वह उसी ने बनाया है ।

यदि इसका तात्पर्य 'जो परिवर्तनशील हो' लिया जाता है तो वह भी सही नही है क्योंकि तब यह तर्क भी हो सकता है कि ईश्वर भी परिवर्तनशील है और उसे बनाने वाला कर्ता भी कोई होना चाहिए, उस कर्ता को बनाने वाला भी एक और कोई कर्ता मानना होगा और इस प्रकार अनन्त कर्ता मानने होंगे । फिर, यदि ईश्वर कर्ता है तो वह अवश्य ही परिवर्तनशील होगा क्योंकि उसका कार्य परिवर्तनशील है और वह निर्माण मे लगा हुआ है ।

इसके अतिरिक्त हम जानते हैं कि जो बातें कभी घटित होती हैं और अन्य किसी समय घटित नहीं होती उन्हें कार्य कहा जाता है । किन्तु जगत्, अपने रूप में सदा ही विद्यमान रहता है । यदि यह तर्क दिया जाय कि जगत् के अन्दर विद्यमान वस्तुएँ जैसे पेड़-पौधे कार्य हैं तो फिर आपका तथाकथित ईश्वर भी कार्य होगा क्योंकि उसकी इच्छा और विचार विभिन्न समयों में विभिन्न रूप से कार्य करते माने जाएँगे और वे ईश्वर में निहित हैं जैसे पेड़-पौधे जगत् मे निहित हैं, अत जगत् को कार्य माना गया है । इस प्रकार इच्छा और विचार के आधार पर वह भी कार्य हो जाता है । तब अणु भी कार्य बन जाएँगे क्योंकि ताप के द्वारा उनमे भी रगो के परिवर्तन आते हैं ।'

यदि तर्क के लिए यह मान भी लें कि जगत् कार्य है और प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है अत जगत् का भी कोई कारण है तो यह भी मानना आवश्यक नहीं कि वह कारण कोई बुद्धिमान, चेतनाशील कर्ता ही होगा जैसा आप ईश्वर को मानते हैं । यदि

यह तर्क दें कि मानव-कर्ता के निदर्शन के आधार पर ईश्वर को चेतन कर्ता माना गया है तो उसी आधार पर उसे मानव के समान ही अपूर्ण माना जायेगा। यदि यह तर्क दें कि यह जगत् उस प्रकार का कार्य नही है जैसे मानव-निर्मित अन्य कार्य होते हैं उनसे कुछ समान ही कुछ अन्य प्रकार के कार्य हैं तो इससे कोई अनुमान सिद्ध नही होगा क्योंकि जल से उठने वाला धुआँ उसी धुएँ के समान होता है जो आग से उठता है किन्तु जल में अग्नि का अनुमान कोई नही करता। यदि यह कहा जाय कि जगत् एक बिल्कुल विभिन्न प्रकार का कार्य है जिससे कि ऐसा अनुमान सम्भव है चाहे अब तक कोई इस प्रकार का कार्य पैदा करता हुआ नही देखा गया तो फिर, पुराने खंडहरों को देखकर यह अनुमान करना होगा कि वह भी किसी चेतन कर्ता का कार्य है क्योंकि ये भी कार्य है और उनका कोई चेतनकर्ता हमने नही देखा है। ये दोनों कार्य हैं और दोनों का कर्ता हमने नही देखा। यदि यह तर्क दिया जाय कि जगत् ऐसा कार्य है जिसे देखकर हमे यह अहसास होता है कि यह किसी के द्वारा अवश्य बनाया होना चाहिए तो हम पूछेंगे कि इस अहसास से आप ईश्वर का अनुमान करते है या कि इसके ईश्वर के बनाए हुए होने के तथ्य से इसके कार्य का अनुमान करते हैं ? इस प्रकार यह अन्योन्याश्रय दोष हो जाएगा।

इसके अलावा यदि मान भी ले कि जगत् एक कर्ता का बनाया हुआ है तो उस कर्ता का कोई शरीर भी होना चाहिए क्योंकि हमने बिना शरीर के कोई चेतन कर्ता नही देखा। यदि यह कहा जाए कि हम कर्तृत्व सामान्य ही का अनुमान करते हैं कि कर्ता चेतन है तो यह आपत्ति होगी कि ऐसा असम्भव है क्योंकि कर्तृत्व भी किसी शरीर मे ही रहता है। यदि अन्य कारणो का उदाहरण लें, जैसे खेत में उगे अंकुर, तो हम पाएँगे कि उन्हे रचने वाला कोई चेतन कर्ता नही है। यदि आप कहेगे कि ईश्वर उनका कर्ता है तो यह चक्रक दोष हो जायेगा क्योंकि इसी तर्क से इसी विषय को आप सिद्ध करना चाहते थे।

तर्क के लिए हम मान लेते हैं कि ईश्वर है। अब क्या उसकी उपस्थिति मात्र से विश्व की सृष्टि हो जाती है ? यदि ऐसा है तो फिर कुम्हार की उपस्थिति भी विश्व की सृष्टि कर सकती है क्योंकि केवल उदासीन उपस्थिति मात्र दोनो मे समान है। क्या ईश्वर ज्ञान और इच्छापूर्वक विश्व की सृष्टि करता है ? यह असम्भव है क्योकि बिना शरीर के ज्ञान और इच्छा हो ही नही सकती। क्या वह विश्व की सृष्टि शारीरिक क्रिया द्वारा करता है या किसी अन्य क्रिया द्वारा ? ये दोनों ही बातें असम्भव हैं क्योकि बिना शरीर के कोई क्रिया भी सम्भव नहीं है। यदि आप मानते हैं कि वह सर्वज्ञ है, तो मानते रहे, उससे यह तो सिद्ध नही होता कि वह सर्वस्रष्टा हो सकता है।

अब, फिर मान ले (तर्क के लिए) कि एक शरीर-रहित ईश्वर अपनी इच्छा और क्रिया से विश्व की रचना कर सकता है। उसने विश्व की रचना क्या किसी व्यक्तिगत सनक के कारण शुरू की ? यदि हाँ, तो उस स्थिति में विश्व में कोई प्राकृतिक नियम या व्यवस्था नही होनी चाहिए। तब क्या उसने यह रचना मनुष्यों के नैतिक और अनैतिक कार्यों के आधार पर की ? यदि हाँ, तो वह नैतिक व्यवस्था मे बद्ध है और स्वयं स्वतन्त्र

या उसने करुणा के कारण सृष्टि की ? यदि हाँ, तो फिर विश्व में केवल अच्छाई ही होनी चाहिए और कुछ नहीं। यदि आप यह कहें कि मनुष्य जो हैं वह तो उनके पूर्व कर्मो के कारण है और सुख भी कर्मो के कारण। यदि जो भाग्य या नियति के रूप मे आप द्वारा माने गए है, के कारण मनुष्य कुकर्म प्रेरित होता है तो वह नियति यानी अदृष्ट ही ईश्वर की जगह सृष्टि कर्ता क्यो न या जाय ? यदि ईश्वर ने खेल-खेल मे सृष्टि बना दी तो वह एक बच्चा हुआ जिसने श्य यह कार्य किया। यदि उसने ऐसा इस उद्देश्य से किया है कि कुछ को दण्ड कुछ को पुरस्कार मिल सके तो फिर वह पक्षपाती हुआ कुछ के लिए, और द्वेषी हुआ ो के लिये। यदि सृष्टि रचना उसका स्वभाव ही है और उससे सृष्टि प्रगटी है तो फिर से मानने की आवश्यकता ही क्या है यही क्यो न मान लें कि सृष्टि स्वय अपने स्वभाव से प्रगटी है ?

यह मानना क्लिष्ट कल्पना ही है कि एक ईश्वर जैसी किसी चीज ने औजारो, उपकरणों या सहायकों के बिना यह दुनिया रच दी। यह तो अनुभव विरुद्ध है।

तर्क के लिए यदि मान लें कि ऐसा ईश्वर है तो आप जो विशेषण उसके लिए प्रयुक्त करते हैं वे कभी भी सगत नहीं बैठते। आप कहते हैं कि वह अनादि, अनन्त, नित्य है। किन्तु जब वह नि शरीर है तो वह बुद्धि और चेतना स्वरूप हुआ। उसका वह स्वरूप विश्व के विभिन्न प्रकार के पदार्थो की रचना के लिए विभिन्न रूपो मे बदलता रहा होगा। यदि उसकी बुद्धि, चेतना या ज्ञान मे कोई परिवर्तन नही होता तो सृष्टि और विनाश के इतने विभिन्न रूप क्यो हैं ? । सृष्टि और विनाश एक अपरिवर्तनीय बुद्धि और ज्ञान के परिणाम नही हो सकते। फिर, ज्ञान का स्वभाव ही बदलना है, यदि हम उस ज्ञान मे तात्पर्य लें जो मानवीय सन्दर्भो मे प्रयुक्त होता है (और उसके अलावा अन्य कोई सदर्भ ज्ञान के ज्ञात ही नहीं हैं)। आप कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ है पर यह कैसे माना जाय कि उसे कोई ज्ञान हो भी सकता है, क्योकि उसके कोई इन्द्रिय ही नही है तो फिर उसे प्रत्यक्ष कैसे होगा और बिना प्रत्यक्ष के वह कोई अनुमान भी नही कर सकेगा। यदि यह कहें कि बिना ईश्वर को माने विश्व की रचना का यह वैचित्र्य कैसे व्याख्यात या सिद्ध होगा तो वह भी सही नहीं है। आपादन द्वारा यह सिद्धि तब सगत मानी जा सकती है जब अन्य कोई परिकल्पना सम्भव ही न हो। यहाँ अन्य सम्भावनाएँ भी हो सकती हैं। एक सर्वज्ञ ईश्वर के बिना भी, एक नैतिक व्यवस्था अथवा कर्म सिद्धान्त के आधार पर सारी सृष्टि व्याख्यात की जा सकती है। यदि आप एक ईश्वर मानते हैं तो ईश्वरो का एक समुदाय भी माना जा सकता है। यदि आप कहे कि बहुत से ईश्वर होने पर मतभेद और झगड़े हो जाएँगे तो यह उस कजूस की कहानी-सी हो गई जो खर्च न करना चाहने के कारण अपने पुत्रों और पत्नी को छोडकर जगल मे साधु बन गया। जब चीटियाँ और मक्खियाँ तक समन्वय के साथ सहयोग कर सकती हैं तो अधिक ईश्वर होने पर यह मानना कि उनमें मतभेद हो जायेगा, यह सिद्ध करना है कि आप द्वारा बताए गए ईश्वर के महान् गुणों के बावजूद उसका स्वभाव यदि कुटिल और दुष्ट नही तो कम से कम अविश्वसनीय अवश्य है। इस

प्रकार किसी भी तरह आप ईश्वर की सिद्धि करने का प्रयत्न करें वह विप इससे तो अच्छा है ईश्वर की सत्ता न ही मानी जाए ।[1]

मोक्ष

मनुष्य का मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न इस उद्देश्य को लक्ष्य करके होता है की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति हो सके क्योंकि मुक्ति की दशा जीव की सुख या की दशा मानी गई है । यह शुद्ध एवं अनन्त ज्ञान की तथा अनन्त दर्शन की स्थिति संसार दशा में कर्म के आचरण के कारण यह शुद्धता दूषित हो जाती है, आवरण अपूर्ण रूप से समय-समय पर उठते या हटते रहते हैं और सामान्य मति, श्रुत, अतिम ज्ञान या ध्यान और अवधि की स्थिति मे ज्ञान या मानसिक अध्ययन अर्थात् मन· पर्य द्वारा अन्यों के विचारो का ज्ञान, इन सवके क्षणो मे से किसी पदार्थ या विषय का ज्ञान हो जाता है । किन्तु मुक्ति की दशा में पूर्ण आवरण भंग हो कर केवल ज्ञान की स्थिति आ जाती है और केवली (पूर्ण ज्ञानी) को समस्त पदार्थों और विषयों का एक साथ पूर्ण ज्ञान हो जाता है । संसार दशा में जीव सर्वदा नए गुण धारण करता रहता है और इस प्रकार तत्त्व रूप में निरन्तर परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरता रहता है । किन्तु मोक्ष के वाद जीव मे जो परिवर्तन होते हैं वे एक से ही होते हैं (अर्थात् दूसरे शब्दों में कोई परिवर्तन लक्षित नही होता) अर्थात् वह स्थिति आ जाती है कि जीव तत्त्व रूप में भी एक-सा लक्षित होता है और अनन्त ज्ञान आदि के गुण भी अपरिवर्तित रहते हैं । परिवर्तन उस अनन्त ज्ञान में ही, उन्हीं गुणों का होता है अतः लक्षित नहीं होता ।

यहाँ यह लेख भी अप्रासंगिक नही होगा कि मनुष्यों के कर्म ही उनका विभिन्न रूपों में निर्धारण करते हैं फिर भी उनमें सम्यक् कर्म करने की अनन्त शक्ति (अनन्त वीर्य) होती है । कर्म उस शक्ति या स्वातन्त्र्य को नष्ट या अल्पीकृत नही कर सकता, चाहे कर्मों के प्रभाव से समय-समय पर यह शक्ति कुछ दव जाती हो । इस प्रकार इस शक्ति के उपयोग से मनुष्य समस्त कर्मों पर विजय प्राप्त कर सकता है और अंततः मोक्ष प्राप्त कर सकता है ।

यदि मनुष्य में अनन्त वीर्य नही होते तो वह संचित कर्मों के प्रभाव मे अनन्त काल तक रहता और हमेशा वन्धनवद्ध रहता । किन्तु चूँकि मनुष्य इस प्रकार की शक्ति का खजाना है अतः कर्म उसे वन्धन मे वाँध भले ही लेते हो, विघ्न भले ही उत्पन्न कर देते हों और दु.ख भोग करवा देते हों किन्तु उसे अन्ततः महत्तम कल्याण की स्थिति प्राप्त करने से वंचित नहीं कर सकते ।

---

1. देखें, षड्दर्शनसमुच्चय मे गुणरत्न की जैन दर्शन पर टिप्पणी पृ० 115-124 ।

□□□

अध्याय 7

कपिल एवं पातंजल सांख्य (योग)[1]

दो विभिन्न प्रकार के प्राचीन नास्तिक दर्शनो, जैन और वौद्ध दर्शन के विवेचन से
 स्पष्टत: इस वात से आश्वस्त हो जाते हैं कि औपनिषद ऋषियो के दर्शन अनुचिन्तन
 क्षितिजों के वाहर भी पर्याप्त गम्भीर दार्शनिक विचारमन्थन होता रहा है। यह भी वहुत
म्भव लगता है कि योग नाम से प्रचलित आचार और अभ्यास प्रवुद्ध जनो मे व्यापक रूप
 सुपरिज्ञात एव सुप्रचलित थे क्योंकि उनका उल्लेख न केवल उपनिषदो में ही मिलता है
पितु वौद्ध और जैन दोनो नास्तिक दर्शनो द्वारा भी परिगृहीत पाये जाते हैं। हम उन्हे
ाहे आचार शास्त्र के दृष्टिकोण से देखें या तत्त्वमीमासीय दृष्टिकोण से—ये दोनो नास्तिक
र्शन प्रणालियाँ ब्राह्मणों की कर्मकांडीय परम्पराओ के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में ही
भरीं। इन दोनो प्रणालियो का उद्गम क्षत्रियो मे हुआ और जीव हिंसा के प्रति तथा
लिदान द्वारा जीवो की वलि चढाने के विरुद्ध गहरी घृणा इनका मुख्य स्वर है।

याज्ञिक कर्मकाड के सिद्धान्त में यह विश्वास निहित है कि विहित पद्धति से
क्रियाओ, रीतियों और यज्ञ सामग्री के यथोचित प्रयोग में इष्टसिद्धि की एक अलौकिक शक्ति
निहित है जो वर्षा, पुत्रोत्पत्ति, शत्रु की महती सेना का पराजय आदि परिणाम ला सकती
है। यज्ञो का अनुष्ठान सामान्यत: किसी नैतिक या आध्यात्मिक उन्नति के लिए न होकर
व्यावहारिक एषणाओं की कुछ उपलब्धियों की दृष्टि से किया जाता था। वेदो को अनादि
उद्गार मानकर उन्हें ही विधियो के विशकलित विधान का शक्तिमान् स्रोत माना जाता
था। उसकी विधियो पर चलकर तथा उसके द्वारा निषिद्ध कार्यों से वचकर ही विहित यज्ञो
के सही अनुष्ठान द्वारा इष्ट की सिद्धि की जा सकती थी। इस प्रकार की कर्मकांडीय
संस्कृति के दर्शन के अनुसार यदि हम सत्य को परिभाषित करें तो यही कहना होगा कि
वही सत्य है जिसके अनुसार आचरण कर अपने चारों ओर के विश्व मे अपने वांछित उद्देश्यो
की प्राप्ति कर सकें। वैदिक विधियों का सत्य हमारे उद्देश्यो की व्यावहारिक उपलब्धि का

---

1 यह अध्याय मेरे ग्रन्थ 'स्टडी ऑव पतजलि' (कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित) तथा अन्य ग्रन्थ 'योग फिलासफी इन रिलेशन टू अदर सिस्टम्स ऑव थॉट' (जो वहीं प्रकाशनाधीन है) पर आधारित है। इन ग्रन्थो मे इस दर्शन का विस्तृत विवेचन है।

सत्य है। सत्य प्रागनुभविक रूप से निर्धारित नही किया जा सकता वल्कि आनुभविक कसौटी पर ही परखा जा सकता है।[1]

यह एक ध्यान देने योग्य वात है कि इस कर्मकांडीय पद्धति के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में उद्‌गत कहे जाने वाले वौद्ध और जैन दर्शन भी इस पद्धति के उन अनेक सिद्धांतों के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव से वच नहीं सके हैं जो चाहे इस पद्धति मे स्पष्टतः उद्ध त या वर्णित न हों किन्तु जो इन याज्ञिक अनुष्ठानो के मूल मे निहित थे। उदाहरणार्थ, हमने देखा कि वौद्ध दर्शन समस्त उत्पादन और विनाश को कुछ स्थितियो के समवाय द्वारा जन्म मानता है और सत्य को 'किसी कार्य के उत्पादन मे सामर्थ्य' के रूप मे परिभाषित करता है। किन्तु वौद्धों ने इन सिद्धांतो को तार्किक पराकाष्ठा तक पहुँचाकर अन्ततः पूर्ण क्षणिक-वाद की अवधारणा तक पहुँचा दिया था।[2] जहाँ तक जैनो का प्रश्न है वे भी ज्ञान का मूल्य इसी में मानते थे कि वह हमे हमारे शुभ इष्ट की प्राप्ति और अशुभ और अनिष्ट के निवारण मे सहायता देता है। सत्य हमे पदार्थो के स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट कर देता है कि उसके अनुसार चलते हुए हम उसे वास्तविक अनुभव के आलोक में सत्यापित कर सकते हैं। इस प्रकार पदार्थों का सही आकलन कर हम अच्छे की उपलब्धि और वुरे का निवारण कर पाते हैं। जैनो का यह विश्वास भी था कि समस्त परिवर्तन स्थितियो के समवाय द्वारा होते हैं किन्तु उसे वे तार्किक पराकाष्ठा तक नही ले गए। जगत् मे उन्होंने परिवर्तनीयता के साथ-साथ कुछ स्थायित्व भी माना। वौद्ध तो यहाँ तक चले गए कि समस्त वस्तुओं को अस्थायी मानते हुए उन्होंने आत्मा जैसी कोई स्थायी चीज भी नही मानी। जैनो का कथन था कि वस्तुओ के वारे मे कोई भी ऐकान्तिक चरम या एकपक्षीय निर्धारण नही हो सकता। उनके अनुसार न केवल समस्त सवृत्तियाँ और घटनाएँ ही सापेक्ष हैं वल्कि हमारे समस्त निर्धारण भी केवल सीमित अर्थो मे ही सही है। यह व्यावहारिक वुद्धि के अनुसार ठीक भी है जो प्रागनुभविक निष्कर्षो से उच्चतर मानी गई है और जिससे एकपक्षीय और चरम निष्कर्ष भी निकल सकते हैं। स्थितियों के संयोजन के कारण वस्तुओ के पुराने गुण गायव हो जाते हैं और नये गुण उद्‌भूत हो जाते हैं, साथ ही उसका कुछ अश स्थायी भी होता है। किन्तु इस व्यावहारिक वुद्धि के दृष्टिकोण द्वारा, जो हमारे दैनन्दिन अनुभव की कसौटी से भले ही खरा उतरता हो हमारी सत्यान्वेषिणी प्रागनुभविक दृष्टि की माग को सन्तुष्ट नही कर पाता, उस सत्य का स्वरूप सामने नही आता जिसे हम सापेक्ष रूप से ही नही पूर्ण रूप से जानना चाहते हैं। यदि पूछा जाय कि क्या कोई चीज सत्य है तो जैन दर्शन यही

---

1. कुमारिल और प्रभाकर की मीमांसा द्वारा वर्णित वैदिक दर्शन इससे विपरीत दृष्टि-कोण प्रस्तुत करता है। उन दोनो के अनुसार सत्य प्रागनुभविक रूप से निर्धारित होता है और मिथ्यात्व अनुभव द्वारा।
2. ऐतिहासिक दृष्टि से क्षणिकवाद अर्थक्रियाकारित्वसिद्धांत से सम्भवत. पूर्वतर है। परवर्ती वौद्धों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि क्षणिकवाद अर्थक्रिया-कारित्वसिद्धान्त का तार्किक परिणमन है।

उत्तर देगा—"हाँ, यह इस दृष्टिकोण से सत्य है पर उस दृष्टिकोण से असत्य जबकि वह भी उक्त दृष्टिकोण से सत्य है और अमुक दृष्टिकोण से असत्य।" इस प्रकार का उत्तर उस जिज्ञासा को सन्तुष्ट कैसे कर पाएगा जो सत्य के एक निश्चित निर्धारण और पूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचना चाहती है।

इस कर्मकाडीय पद्धति से जैनो और बौद्धो का मुख्य विभेद यह था कि ये दोनो ब्रह्माड के बारे में एक सिद्धात बनाना तथा वस्तुसत्य, सवेदनशील प्राणियो, विशेषकर मनुष्यो की स्थिति के बारे में एक अवधारणा निष्कृष्ट करना चाहते थे जबकि कर्मकाडीय पद्धति वैयक्तिक रीतिरिवाजो और यज्ञो से सम्बद्ध थी और सैद्धान्तिक विवेचन से केवल उतना ही सरोकार रखती थी जहाँ तक वह कर्मकाडीय विवेचन मे आवश्यक होता था। फिर इन नयी पद्धतियो मे क्रिया का तात्पर्य केवल कर्मकाड से न होकर हमारे कर्ममात्र से था। कर्म अच्छे और बुरे इस आधार पर कहे जाते थे कि उनसे हमारा नैतिक उत्कर्ष होता है या अपकर्ष। कर्मकाडीय पद्धति के अनुयायी असत्य से यदि दूर रहते थे तो इसलिए कि वेदो मे असत्य भाषण का निषेध और वेद विहित कर्म ही करना चाहिए इसलिए नही कि इससे कोई वैयक्तिक या नैतिक अपकर्ष होता है। याज्ञिक पद्धति इहलोक और परलोक मे अधिकाधिक सुख के ही उद्देश्य से प्रेरित थी। जैन और बौद्ध दर्शनो ने सामान्य सुख से परे हट कर एक चरम और अपरिवर्तनीय स्थिति को प्राप्त करने की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया जहाँ समस्त सुख और दुःख सदा के लिए विगलित हो जाएँ (बौद्ध मत) और जहाँ अनन्त आनन्द अविचल रूप से अधिगत हो। व्यक्ति के नैतिक उत्कर्ष के लिए सम्यक् नैतिक आचरण की कोई सहिता निर्धारित करना याज्ञिक कर्मकाण्ड मे निहित नही था। सम्यक् आचरण की सहिता यदि वेद विहित है तभी तो वह अनुपालनीय होगी। कर्म और कर्मफल से तात्पर्य याज्ञिक अनुष्ठान और उसके फल से था, ज्ञान का अर्थ याज्ञिक-प्रक्रिया का ज्ञान और वेदों का ज्ञान था। जैन व बौद्ध दर्शनो ने कर्म, कर्मफल, सुख, ज्ञान इन सबका व्यापक दार्शनिक तात्पर्य लिया। सुख या दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति उनका भी उद्देश्य रही किन्तु यह सकुचित अर्थो मे याज्ञिक सुख नही था किन्तु स्थायी, दार्शनिक अर्थो मे सुख या दुःख निवारण था। कर्म का ही मार्ग उन्होंने भी स्वीकारा किन्तु यह कर्म यज्ञानुष्ठान नहीं था बल्कि हमारे समस्त अच्छे बुरे काम थे—ज्ञान का तात्पर्य उन्होंने सत्य ज्ञान से लिया, कर्मकाडीय ज्ञान से नही।

इस प्रकार की दार्शनिक विचारसरणि का उत्कर्ष औपनिषद् युग से ही शुरू हो गया था जो एक प्रकार से इन सभी क्षेत्रो की दार्शनिक पद्धतियो का पूर्वरग सा था। इन दर्शनो के उद्गाताओ ने कर्मकाडीय पद्धति और औपनिषद दर्शन दोनो से अपने दर्शन के मूल सूत्र लिए और अपने तार्किक चिन्तन के आधार पर अपनी-अपनी दार्शनिक प्रणालियो का गठन किया। जब उपनिषदो के विचारो को उन विधर्मी दार्शनिको ने जो वेदो को प्रमाण नही मानते थे, इस प्रकार प्रयुक्त किया तो यह भी स्वाभाविक ही था कि हिन्दू दर्शनो के खेमे मे भी ऐसे चिन्तन सूत्र पनपते जिनमे औपनिषद विचार प्रणाली और याज्ञिक

पद्धति की चिन्तन प्रक्रिया का समन्वय हो। सांख्य दर्शन जिसके बीज हम उपनिषदों में खोज सकते हैं इसी प्रकार की चिन्तन प्रणाली है।

उपनिषदों में सांख्य दर्शन के बीज

यह स्पष्ट है कि उपनिषदों में ऐसे अनेक सूत्र हैं जिनमे ब्रह्म को ही चरम सत्ता माना गया है—और अनन्त, ज्ञान, आनन्द आदि अन्य समस्त नाम उसी के परिवर्तमान स्वरूप और अभिधान हैं। 'ब्रह्मन्' शब्द मूलतः वेदों मे 'मन्त्र' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है जो विधिवत् अनुष्ठित यज्ञ और यज्ञ की शक्ति का नाम है जिससे हमे इष्ट सिद्धि होती है।[1] उपनिषदों के अनेक वचनों में यही ब्रह्मन् विश्वजनीन और चरम सिद्धान्त के रूप मे वर्णित है जिससे सभी को शक्ति प्राप्त हुई है। इस ब्रह्म की हम अपने आत्मकल्याण के लिए आराधना करते है। धीरे-धीरे विकास की प्रक्रिया के तहत ब्रह्म की अवधारणा कुछ उच्च-स्तर पर पहुँची और विश्व की सचाई और वस्तुसत्ता धीरे-धीरे अन्तर्हित होती गई तथा एकमात्र परम तत्त्व अनाद्यनन्त ज्ञान को सत्य माना जाने लगा यह वैचारिक विकास धीरे-धीरे जाकर अद्वैत वेदान्त दर्शन मे परिणत हुआ जिसके उद्‌गाता शंकर हैं। इसी के समा-नान्तर एक अन्य विचार सरणि भी पनप रही थी जो विश्व को एक वस्तुसत्ता तथा पृथ्वी, जल, अग्नि आदि तत्त्वों से निर्मित मानती थी। श्वेताश्वतर मे ऐसे वचन भी हैं और विशेषकर मैत्रायणी के वचनों से यह स्पष्ट होता है कि सांख्य दर्शन की विचारधारा तब तक पर्याप्त विकसित हो चुकी थी और उसकी अनेक दार्शनिक संज्ञाएँ सुप्रयुक्त हो चली थी।[2] मैत्रायणी की तिथि अब तक निर्विवाद रूप से निर्धारित नही हो पाई है। उसमें जो विवरण मिलता है उसके आधार पर भी हम उपनिषदो मे विकसित सांख्य सिद्धान्तों का कोई विशकलित स्वरूप नहीं बता सकते। यह असम्भव नही कि विकास की इस स्थिति मे भी इसने बौद्ध और जैन दर्शनों को कुछ प्रेरणा दी हो किन्तु साख्य योग दर्शन का जो स्वरूप हमे आज मिलता है उसमें बौद्ध और जैन दर्शनो के निष्कर्ष इस प्रकार गुम्फित मिलते हैं कि उसमे उपनिषद् के स्थायित्व सिद्धान्त के साथ-साथ बौद्धों के क्षणिकवाद और जैनो के सापेक्षवाद का समन्वय स्पष्ट दिखता है।

सांख्य एवं योग का वाङ्मय

साख्य और योग दर्शन के इस अध्याय मे विवेचित स्वरूप का मुख्य आधार है—सांख्यकारिका, सांख्यसूत्र और पतंजलि के योगसूत्र, तथा उनकी टीकाएँ एवं उपटीकाएँ। सांख्यकारिका (लगभग 200 ई०) ईश्वर कृष्ण निर्मित है। चरक (78 ई०) द्वारा दिया

1. देखें, हिलेब्रांड का लेख 'ब्रह्मन्' (ई० आर० ई०)।
2. कठ, 3-10, 5-7 श्वेताश्वर। 5-7,8,12, 4-5, 1,3,1। इसका विस्तृत विवेचन मेरी पुस्तक 'योग फिसासफी इन रिलेशन टू अदर इण्डियन सिस्टम्स ऑव थाट, के पहले अध्याय में है।

हुआ साख्य का विवरण सम्भवतः इसकी किसी पूर्ववर्ती प्रणाली पर आधारित है जिसे हमने अलग से विवेचित किया है। वाचस्पति मिश्र (नवीं सदी ई०) ने इस पर तत्त्वकौमुदी नामक टीका लिखी है। इससे पूर्व गौडपाद और राजा[1] ने साख्यकारिका पर टीकाएँ लिखी थी। नारायण तीर्थ ने गौडपाद की टीका पर चन्द्रिका नामक टीका लिखी। सांख्य सूत्र जिन पर प्रवचन भाष्य नाम से विज्ञान भिक्षु (सोलहवी सदी) ने भाष्य लिखा है नवी शताब्दी के बाद किसी अज्ञात लेखक की कृति प्रतीत होता है। पन्द्रहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे हुए अनिरुद्ध ने सर्वप्रथम साख्यसूत्रो पर टीका लिखी। विज्ञानभिक्षु ने साख्य पर एक अन्य प्रारम्भिक कृति रची जिसका नाम है साख्य सार। पर परवर्ती सक्षिप्त ग्रन्थ है तत्त्वसमास (सम्भवत चौदहवी सदी)। सांख्य के दो अन्य ग्रन्थो सीमानन्द के साख्य तत्त्व विवेचन और भावागणेश के साख्य-तत्त्वयाथार्थ्य-दीपन का भी हमने पर्याप्त विवेचन किया है। ये विज्ञान-भिक्षु से परवर्ती वहुमूल्य दार्शनिक कृतियाँ हैं। पतजलि के योगसूत्र (जो 147 ई० पू० से पहले का नहीं हो सकता)। पर व्यास (400 ई०) ने भाष्य लिखा, व्यास भाष्य पर वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी टीका, विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक, दसवी शती के भोजवृत्ति और सत्रहवी सदी के नागेश ने छाया-व्याख्या नामक टीकाएँ लिखीं। आधुनिक कृतियो मे से, जिनसे मैं उपकृत हुआ हूँ, मैं डा० बी० एन० सियाल कृत 'मिकेनिकल फिजीकल एण्ड केमिकल थियरीज आव एनशेन्ट हिन्दूज' तथा 'द पोजिटिव साइसेज आव द एशेंट हिन्दूज' का तथा अपने योगदर्शन के दो ग्रन्थों—'स्टडी आव पतजलि' (कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित) तथा 'योग फिलासफी इन रिलेशन टू अदर इण्डियन सिस्टम्स ऑव थाट' (शीघ्र प्रकाश्य) तथा मेरे एक अन्य ग्रन्थ ग्रन्थ 'नेचरल फिलासफी आव द एशेंट हिन्दूज' (कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशन की प्रतीक्षा मे) का नामोल्लेख करना चाहूँगा।

गुणरत्न ने दो अन्य प्रमाणिक साख्य ग्रन्थो का उल्लेख किया है—माठर भाष्य तथा अत्रेयतन्त्र। इनमें दूसरा तो सम्भवत चरक के सांख्य विवेचन का ही नाम है क्योंकि चरक के ग्रन्थ मे अत्रि ही वक्ता है और इसलिए इसे आत्रेयसहिता या आत्रेयतन्त्र कहा गया है। माठर भाष्य के सम्वन्ध मे कुछ ज्ञात नहीं है।[2]

सांख्य की एक पूर्ववर्ती प्रणाली

साख्यदर्शन के इतिहास का विवेचन करते समय यह आवश्यक लगता है कि इसके चरक कृत विवेचन का परिचय इस दर्शन के अध्येताओ से कराया जाय जिस पर जहाँ तक

---

1 मेरा अनुमान है कि कारिका पर राजा की टीका "राजवार्तिक" है जिसका उद्धरण वाचस्पति ने दिया है। जयन्त ने अपनी न्यायमजरी (पृ० 109) में भी कारिका पर राजा की टीका का उल्लेख किया है। सम्भवत यह कृति अव अप्राप्य है।

2 साख्ययोग से अपरिचित पाठक इससे आगे के तीन परिच्छेदो को छोड सकते हैं, यदि वे पहला वाचन कर उसके सिद्धान्तो मात्र से परिचित होना चाहते हो।

मुझे ज्ञात है अब तक किसी भी आधुनिक दर्शन ग्रन्थ मे विवेचन नही किया गया है। चरक के मत में छः धातुएँ हैं—आकाश, वायु आदि पाँच तत्त्व तथा चेतना जिसे पुरुष भी कहा गया है। दूसरे दृष्टिकोण से तत्त्व चौबीस कहे जा सकते हैं—दस इन्द्रियो (पांच ज्ञानेन्द्रिय व पाँच कर्मेन्द्रिय) मन, पाँच इन्द्रियों के विषय तथा आठ प्रकृतियां (प्रकृति, महत्, अहकार तथा पाँच तत्त्व)।[1] मन इन्द्रियों के माध्यम से कार्य करता है। यह अणु है तथा उसकी सत्ता इस प्रकार प्रमाणित होती है कि इन्द्रियों के अस्तित्त्व के बावजूद तब तक कोई ज्ञान प्रकट नही होता जब तक मन इन्द्रियों से संयुक्त नही होता। मन की दो क्रियाएँ हैं—ऊहा और विचार। इन दोनों के बाद बुद्धि का उद्भव होता है। पाँचो इन्द्रियाँ पच महाभूतों के समवाय से उत्पन्न होती हैं किन्तु उनमे से भी श्रोत्रेन्द्रिय मे आकाश गुण का आधिक्य है, स्पर्शेन्द्रिय मे वायु का, चक्षुरिन्द्रिय मे प्रकाश का, रसनेन्द्रिय मे जल का और घ्राणेन्द्रिय में पृथ्वी का। चरक ने तन्मात्रों का उल्लेख नही किया है।[2] इन्द्रियार्थों का समुदाय अथवा स्थूल पदार्थ दश इद्रियाँ, मन, पाँच सूक्ष्म भूत, प्रकृति महत्, अहंकार जो रजोगुण से उद्भूत होता है—ये सब मिलकर मनुष्य का निर्माण करते हैं। जब सत्त्व गुण का उत्कर्ष होता है तो यह समुदाय विघटित हो जाता है। समस्त कर्म, कर्मफल, ज्ञान, सुख, दुःख, अज्ञान, जीवन और मृत्यु ये सब इसी समुदाय के हैं। इनके अतिरिक्त पुरुष भी है क्योकि यदि वह नही हो तो जन्म, मृत्यु बन्धन या मुक्ति कुछ भी न हो। यदि आत्मा को कारण न माना जाय तो ज्ञान के समस्त प्रकाश का कोई आधार नही रह जावेगा। यदि स्थायी आत्मा न मानी जाय तो एक के कार्य के लिए दूसरे भी उत्तरदायी ठहराये जा सकेंगे। यह पुरुष जिसे परमात्मा भी कहा गया है अनादि और स्वयंभू है। आत्मा स्वय में स्थिर है, वहाँ चेतना नही है। चेतना इन्द्रियो और मन के साथ इसका संयोग होने पर आती है। अज्ञान, इच्छा, द्वेष और कर्म के कारण पुरुष के साथ अन्य तत्त्वों का संयोग होता है। उसी से ज्ञान भावना और कर्म पैदा होते हैं। समस्त कार्य कारण समुदाय से उत्पन्न होते हैं, एक कारण से नही किन्तु समस्त विनाश स्वभावत. विना किसी कारण के होता है। जो अनादि है वह किसी का कार्य नही। चरक प्रकृति के अव्यक्त अंश को पुरुष से अभिन्न और एक तत्त्व मानता है। प्रकृति के विकार या उद्भव को क्षेत्र कहा गया है तथा प्रकृति के अव्यक्त अश को क्षेत्रज्ञ

---

1. पुरुष इस सूत्र मे नही है। टीकाकार चक्रपाणि के अनुसार प्रकृति और पुरुष दोनो अव्यक्त हैं अत. दोनों को एक ही गिना गया है। "प्रकृतिव्यतिरिक्तं चोदासीनं पुरुषमव्यक्तत्वसाधर्म्यात् अव्यक्ताया प्रकृतावेव प्रक्षिप्य अव्यक्त—शब्देनैव गृह्णाति।" हरिनाथ विशारद का 'चरक' का सस्करण, शारीर, पृ० 4।

2. किन्तु स्थूल द्रव्य से पृथक् सूक्ष्म द्रव्य जैसे किसी पदार्थ को प्रकृति का आन्तरिक कलेवर बताया गया है। प्रकृति मे आठ तत्त्व बताये गये हैं (प्रकृतिश्चाष्टधातुकी) ये तत्त्व हैं-अव्यक्त, महत्, अहकार तथा पाँच तत्त्व। प्रकृति के अन्तर्भूत इन तत्त्वों के अतिरिक्त इनमे इन्द्रियार्थों का उल्लेख भी है—पाँच इन्द्रिय विषयों के रूप में जिन्हे प्रकृति से ही उद्भूत माना गया है।

(अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदु) । यही अव्यक्त चेतना है । इसी अव्यक्त प्रकृति या चेतना से वुद्धि प्रकट होती है, वुद्धि से अहकार, अहकार से पाँच तत्त्व और इन्द्रियाँ । यह सब उत्पत्ति ही सृष्टि कहलाती है । प्रलय के समय समस्त विकार फिर प्रकृति मे लीन हो जाते हैं और अव्यक्त हो जाते हैं । नई सृष्टि के समय इसी अव्यक्त पुरुष से समस्त व्यक्त, उद्भव, वुद्धि, अहकार आदि उद्भूत होते हैं । जन्म और पुनर्जन्म, प्रलय और सृष्टि का यह चक्र रज और तम के प्रभाव से चलता है, अत जो लोग इन दो गुणो पर विजय पा लेते है वे इस चक्र से मुक्त हो जाते हैं । मन आत्मा के सयोग मे ही सक्रिय होता है, आत्मा ही कर्ता है । यही आत्मा स्वय अनेक जीवनो मे, स्वेच्छा से अन्य किसी के निर्देश के विना पुनर्जन्म लेता है, अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करता हुआ अपने कर्मो का फल भोगता है । यद्यपि समस्त आत्माएँ व्यापक हैं फिर भी वे उन शरीरो मे जाकर ही ज्ञान का प्रत्यक्ष करती हैं जिनमे इन्द्रियाँ होती हैं । समस्त सुख और दु ख राशि द्वारा अनुभूत किए जाते हैं । उसके अध्यक्ष आत्मा द्वारा नही ।[1] सुख और दु ख के अनुभव और भोग के कारण तृष्णा उत्पन्न होती है जो राग-द्वेपात्मक होती है, तृष्णा से पुन सुख और दु ख की उद्भूति होती है । मोक्ष मे उन समस्त सुखो और दु खो की सम्पूर्ण समाप्ति हो जाती है जो मन, इन्द्रियो और इन्द्रिय विपयो से आत्मा के सयोग होने पर पैदा होते हैं । यदि मन आत्मा में स्थिर हो जाता है तो वह योगदशा होती है, तव सुख-दु ख नही होते । जव यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि—"ये समस्त पदार्थ कारण जन्य हैं, अनित्य हैं, स्वय प्रकट होते हैं किन्तु आत्मा के उद्भव नही है, दु ख स्वरूप है और मेरे आत्मा के अश नही है" तव आत्मा ऊपर उठ जाती है । यह अन्तिम योग की स्थिति होती है जव समस्त आभास और ज्ञान पूर्णत अस्त हो जाते हैं । उस समय आत्मा के किसी भी अस्तित्व का भान नही होता और अपने आपकी भी सज्ञा नहीं रहती ।[2] यही ब्रह्मत्व दशा है । ब्रह्मज्ञानी इसे ब्रह्मत्व कहते है जो अनन्त और

---

1 इन उद्भवो या विकारो के व्यक्त होने व विलीन होने से सम्वद्ध भाग का निर्वचन चक्रपाणि से पूर्व की एक टीका मे विभिन्न रूप मे किया गया है कि मृत्यु के समय ये सारे विकार वुद्धि, अहकार इत्यादि पुन प्रकृति मे लीन हो जाते हैं (पुरुष में) और पुनर्जन्म के समय ये पुन व्यक्त हो जाते हैं । देखें, शारीर पर चक्रपाणि की टीका, पृ० 1-46 ।

2 यद्यपि इस दशा को ब्रह्मभूत दशा कहा गया है किन्तु इसका वेदान्त के ब्रह्म से कोई सम्वन्ध नही है जो शुद्ध, सत्, चित्त और आनन्द स्वरूप वतलाया गया है । यह अनिर्वचनीय दशा तो एक प्रकार की ऐसी शून्य और अलक्षण स्थिति है जिसमे अस्तित्व का कोई चिह्न नही है और पूर्ण विनाश की सी दशा रहती है जो नागार्जुन की निर्वाण दशा से मिलती-जुलती है । चरक ने लिखा है—तस्मिश्च रमसन्यासे समूला सर्ववेदना । असज्ञाज्ञानविज्ञाना निवृत्तियान्त्यशेपत । अत पर ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते । नि.सृत सर्वभावेभ्यश्चिह्न यस्य न विद्यते । गतिर्ब्रह्मविदा ब्रह्म तच्चाक्षरमलक्षणम् । —चरक शारीर, 1-98-100 ।

निर्गुण है । सांख्य इसी स्थिति को अपना चरम लक्ष्य बताते हैं, यही योगियों का भी गम्य है । जब रज और तम समाप्त हो जाते हैं और भूतकाल के कर्म जिनका फल भोगना होता है निरस्त हो जाते हैं, नया कर्म और नया जन्म नही होता, तब मोक्ष की स्थिति आती है । सन्तों के समागम, अनासक्ति, सत्य की जिज्ञासा, ध्यान, धारणा आदि उपाय इसके अनिवार्य साधन बताए गए है । इस प्रकार जो तत्त्व ज्ञान होता है उसका निरन्तर मनन करना चाहिए ।[1] वही अन्त में शरीर से आत्मा की मुक्ति सम्भव बनाता है । चूँकि आत्मा अव्यक्त है और निर्गुण और निर्लक्षण है अत: इस स्थिति को नि:शेष निवृत्ति ही कहा जा सकता है ।

चरक में सांख्य दर्शन के कुछ प्रमुख सिद्धांन्त बताए गए हैं—(1) पुरुष अव्यक्त दशा है (2) इस अव्यक्त के साथ इसके उद्‌भवो के संयोगो से जो राशि बनती है वह जीव को जन्म देती है (3) तन्मात्र नहीं बताए गए हैं (4) रज और तम मन की कुत्सित दशा के गुण हैं जबकि सत्त्व उत्तम है (5) मुक्ति की चरम दशा या तो आत्यंतिक समाप्ति या प्रलय दशा है अथवा निर्लक्षण ब्रह्मत्त्व दशा है, उस दशा में कोई संज्ञा या चेतना नही रहती क्योंकि चेतना आत्मा के साथ उसके बुद्धि अहंकार आदि उद्‌भवों के संयोग से पैदा होती है । (6) इन्द्रिय भौतिक है ।

सांख्य का यह विवेचन पंचशिख (जो कपिल के शिष्य आसुरि का शिष्य और इस दर्शन का जन्मदाता बताया जाता है) द्वारा महाभारत (12-219) में विवेचित सांख्य सिद्धान्त से मेल खाता है । वहाँ पचशिख ने चरक के समान स्पष्ट एवं विस्तृत विवेचन नही किया है किन्तु पंचशिख द्वारा संकेतित वर्णन से साफ लगता है कि चरक का मत भी वही है ।[2] पंचशिख अव्यक्त अथवा पुरुषावस्था को ही चरम सत्य बताता है । सांख्य वाङ्मय में प्रकृति को अव्यक्त नाम से ही पुकारा गया है । यदि मनुष्य विभिन्न तत्त्व के संयोग से पैदा हुआ है तो मृत्यु के साथ ही सब कुछ समाप्त हो जाना चाहिए । इस शंका के उत्तर में चरक यह विमर्श आरम्भ करता है जिसमे वह सिद्ध करने की चेष्टा करता है कि हमारे समस्त कर्त्तव्यो और नैतिक आदर्शों का चरम आधार आत्मा का अस्तित्त्व ही है । पंचशिख मे भी यही विमर्श आता है । आत्मा के अस्तित्त्व के लिए दिए हुए प्रमाण भी वही हैं । चरक के समान पंचशिख भी कहता है कि हमारे भौतिक शरीर के साथ मन और चेतस् की राशीकरण की दशा के कारण चेतना उत्पन्न होती है । ये सभी तत्त्व स्वतन्त्र है और स्वतन्त्र होकर ही जीवन की प्रक्रिया और कार्य को चलाते हैं । इस राशि द्वारा उत्पन्न कोई भी सवृत्ति आत्मा नही है । हम गलती से उसे ही आत्मा समझ लेते है इसलिए हमें अनेक दु:ख मिलते है । जब इस समस्त प्रपंच से पूर्ण वितृष्णा और संन्यास अधिगत हो जाता है तो मोक्ष प्राप्त हो

1. स्मृति के यहाँ चार कारण बताये हैं—(1) कारण की स्मृति कार्य की स्मृति को जन्म देती है. (2) साम्य (3) विरोधी तथा (4) स्मृति का निरन्तर प्रयत्न ।
2. पचशिख के मत को शुद्ध सांख्य दर्शन का सिद्धान्त मानने मे योरपीय विद्वानों को बहुत आनाकानी है। इसका कारण यह हो सकता है कि चरक में वर्णित सांख्य दर्शन का विवरण उनके ध्यान में ही नही आया ।

जाता है। पचशिख द्वारा वर्णित गुण मन के अच्छे और बुरे लक्षण हैं, जैसा कि चरक ने कहा है। राशि की स्थिति को क्षेत्र कहा है, जैसाकि चरक ने भी कहा है, और उसमे कोई प्रलय या अनन्तता नही है। चरम स्थिति को यह उपमा दी गई है कि जिस प्रकार समस्त नदियाँ समुद्र मे विलीन हो जाती हैं वैसी ही अलिंग (लक्षण-रहित) स्थिति यह है। परवर्ती साख्य मे यही सज्ञा प्रकृति को दी गई है। यह स्थिति त्याग (वैराग्य) की पूर्ण दशा के बाद आती है। इस प्रक्रिया को पूर्ण विनाश (सम्यक् वध) की प्रक्रिया बताया जाता है।

गुणरत्न (14वीं सदी ई०) जिसने षड्दर्शन समुच्चय की टीका लिखी है, साख्य के दो प्रकार बतलाता है, मौलिक्य और उत्तर।[1] इनमे से मौलिक्य साख्य का यह मत प्रमुखत बतलाया जाता है कि वह प्रत्येक आत्मा के लिए एक प्रधान भी मानता है। (मौलिक्य-साख्या ह्यात्मानमात्मान प्रति पृथक् प्रधान वदन्ति) सम्भवत उसी साख्य सिद्धान्त का यह उल्लेख है जिसका मैंने ऊपर वर्णन किया है। इसलिए मेरा यह मत बनता है यहाँ साख्य का सर्वप्रथम दार्शनिक विवेचन है।

महाभारत (12-318) मे साख्य की तीन धाराएँ बताई गई हैं। एक तो वे जो 24 तत्त्व मानते हैं (ऊपर वर्णित), दूसरे वे जो पच्चीस तत्त्व मानते हैं (पारपरिक साख्य दार्शनिक) तीसरे वे जो छब्बीस तत्त्व मानते हैं। यह अन्तिम धारा पुरुष के अतिरिक्त एक 'प्रधान' तत्त्व को छब्बीसवें तत्त्व के रूप में मानती हैं। इस दृष्टि से वह पारम्परिक योग दर्शन के अनुरूप ही दिखती है। महाभारत मे वर्णित साख्य का भी यही मत है। वहाँ 24 और 25 तत्त्व मानने वाले साख्य मतो को अनुपादेय बताया गया है। ऊपर हमारे द्वारा वर्णित साख्य सिद्धान्त के बिल्कुल समान अनेक दार्शनिक सिद्धान्त महाभारत मे वर्णित हैं (12-203-204)। शरीर से व्यतिरिक्त आत्मा को द्वितीया के चन्द्र के समान बताया गया है। यह भी कहा गया है कि जैसे सूर्य से राहु विभिन्न होते हुए भी अलग दिखलाई नही देता उसी प्रकार शरीर से पृथक् आत्मा दिखलाई नही देती। शरीरियो को प्रकृति के ही उद्भव बताया गया है।

हमे कपिल के प्रमुख शिष्य आसुरि के बारे में कोई जानकारी नही मिली है।[2] किन्तु यह सम्भव है कि हमने ऊपर जो साख्य दर्शन की प्रणाली वर्णित की है और जो ठीक उसी प्रकार महाभारत में पचशिख द्वारा उपदिष्ट बतलाई गई है, वही सांख्य का सर्वप्रथम प्रणालीबद्ध विवेचन हो। इस मत की पुष्टि गुणरत्न द्वारा किये गये मौलिक्य सांख्य के उल्लेख से होती ही है इस बात से भी होती है कि चरक (78 ई०) ईश्वर कृष्ण द्वारा

---

1 गुणरत्न तर्करहस्यदीपिका, पृ० 99।

2 गुणरत्न ने एक श्लोक उद्धृत कर उसे आसुरि-लिखित बतलाया है (तर्क रहस्य दीपिका पृ० 104)। इस श्लोक का तात्पर्य है कि जब बुद्धि किसी विशेष प्रकार से परिणत हो जाती है तो वह (पुरुष) अनुभूति करने लगता है। यह ठीक उसी प्रकार होता है जैसे स्वच्छ जल मे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता है।

वर्णित सांख्य का और महाभारत के अन्य भागों में उल्लिखित सांख्य का कोई उल्लेख नही करता। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर कृष्ण का सांख्य परवर्ती है जो या तो चरक के समय मे था ही नही या उस समय उसे सांख्य दर्शन का अधिकृत मौलिक स्वरूप नही माना जाता था।

वसीलीफ ने तिब्बती ग्रन्थों को उद्धृत करते हुए लिखा है कि विन्ध्यवासी ने सांख्य को अपने मत के मुताविक परिवर्तित कर दिया।[1] तकाकुसु का मत है कि विन्ध्यवासी[2] ईश्वर कृष्ण का ही उपनाम था। गार्वे का कहना है कि ईश्वर कृष्ण का समय 100 ई० के लगभग है। यह वात संगत प्रतीत होती है कि ईश्वर कृष्ण की कारिकाएँ किसी अन्य ग्रन्थ पर आध रित हों जो उस शैली से विभिन्न शैली मे लिखा गया हो जो ईश्वर कृष्ण की है। कारिकाओं में सातवी कारिका ठीक वही वात कहती है जो पतंजलि (147 ई० पू०) के महाभाष्य मे उद्धृत की गई है।[3] इन दोनो उक्तियों का विषय है ऐसे कारणों का संख्यान जो चाक्षुप प्रत्यक्ष को विफल वना देते है। यद्यपि यह सिद्धान्त सांख्य दर्शन का तकनीकी दार्शनिक सिद्धान्त नही है और यह सम्भव है कि वह ग्रन्थ पातंजलि ने यह उक्ति उद्धृत की हो और जिसका ईश्वर कृष्ण ने आर्याछन्द मे अनुवाद करके कारिका वना दी हो, साख्य का ग्रन्थ ही नही हो। फिर भी चूँकि इस प्रकार के कारणो का परिगणन भारतीय दर्शन की किसी अन्य शाखा में नही पाया जाता और सांख्य द्वारा वर्णित प्रकृति की अवधारणा के

1. वसीलीफ कृत 'वुद्धिस्मस' पृ० 240।
2. देखें, तकाकुसु का प्रवन्ध 'ए स्टडी आव परमार्थ' स लाइफ आव वसुवन्धु (जे० आर० ए० एस० 1905)। तकाकुसु द्वारा ईश्वर कृष्ण को ही विन्ध्यवासी मानना वहुत सन्देहावह है। गुणरत्न ने ईश्वर कृष्ण और विन्ध्यवासी को दो पृथक् व्यक्ति माना है (तर्क रहस्य-दीपिका पृ० 102-104)। विन्ध्यवासी के नाम से उद्धृत अनुष्टुप छन्द में निवद्ध श्लोक (पृ० 104) ईश्वर कृष्ण के ग्रन्थों में नही पाया जाता। यह लगता है कि ईश्वर कृष्ण ने दो पुस्तकें लिखी—एक तो सांख्यकारिका और दूसरी सांख्य दर्शन पर एक पृथक् ग्रन्थ जिसमें से गुणरत्न ने निम्नलिखित पंक्ति उद्धृत की है—"प्रतिनियताध्यवसायः श्रोतादिसमुत्थ अध्यक्षम्" (पृ० 108)।

   यदि वाचस्पति की तत्त्वकौमुदी में दिया गया अनुमान के भेदों का निर्वचन सांख्यकारिका का सही व्याख्यान मान लिया जाए तो ईश्वरकृष्ण विन्ध्यवासी से पृथक् ही व्यक्ति सिद्ध होता है क्योंकि विन्ध्यवासी का मत, जैसाकि श्लोकवार्तिक (पृ० 393) मे वताया गया है, उसके मत से विलकुल भिन्न है। किन्तु तात्पर्य टीका मे (पृ० 109 एवं 131) वाचस्पति का स्वयं का कथन यह सूचित करता है कि उसका विवेचन मूल का पूरा-पूरा सही व्याख्यान नहीं है।
3. पातंजल महाभाष्य (4/1/3) अतिसंनिकर्षादतिविप्रकर्षान्मूर्त्यन्तर-व्यवधानात्तमसा-वृत्त्वादिन्द्रिय दौर्वल्यादतिप्रमादात्' आदि (वनारस संस्करण)।

विरुद्ध शकाओ के निवारण के लिए यह एक विशिष्ट आधार हो सकता है इसलिए स्वाभाविक और सगत यही अनुमान लगता है कि वह पद्य किसी ऐसी साख्य की पुस्तक का ही है जिसका बाद में ईश्वर कृष्ण ने अनुवाद किया।

साख्य के प्राचीन विवरण मे जिनमे ईश्वर कृष्ण के साख्य से बहुत समानता पाई जाती है (केवल ईश्वर का सिद्धान्त ही उनमे जोडा गया है) वे हैं पतजलि के योग-सूत्र और महाभारत मे वर्णित सिद्धान्त। किन्तु हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते है कि चरक द्वारा वर्णित साख्य का जो विवरण हमने दिया है वह पतन्जल को भी ज्ञात था क्योंकि योग-सूत्र (1-19) मे साख्य का जो उल्लेख किया गया है वह बिलकुल इसके समान है।

साख्य दर्शन के इतिहास की दृष्टि से चरक और पचशिख का साख्य बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह उपनिषदों में वर्णित दर्शन और ईश्वर कृष्ण द्वारा वर्णित पारम्परिक सांख्य सिद्धान्त के बीच के सक्रमण काल का प्रतिनिधित्व करता है। एक और इसका यह सिद्धान्त कि इन्द्रिय भौतिक है और यह कि स्थितियो के समुदाय के फलस्वरूप कार्य की उत्पत्ति होती है, साथ ही यह बात कि पुरुष अचेतन है इनके सिद्धान्त को न्याय के बहुत निकट ला देते हैं, दूसरी ओर पारम्परिक साख्य की बजाय यह साख्य बौद्ध दर्शन के भी निकट लगता है।

षष्टितन्त्र-शास्त्र सांख्य का एक प्राचीनतम ग्रन्थ बतलाया गया है। अहिर्बुध्न्य सहिता में इसे दो खण्डो मे विभक्त (क्रमश 32 और 28 अध्यायो वाले) बताया गया है। राजवार्तिक (एक अज्ञातकालिक ग्रन्थ) से साख्यकारिका के टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने बहत्तरवी कारिका की टीका में एक उद्धरण देते हुए कहा है कि षष्टितन्त्र इसका नाम इसलिए पडा कि यह प्रकृति के अस्तित्व, उसके एकत्व, पुरुष मे उसकी विभिन्नता, पुरुष के लिए उसकी महत्ता, पुरुषो का अनेकत्व, पुरुषो से सम्बन्ध और वियोग, तत्त्वों की उत्पत्ति, पुरुषों की निष्क्रियता और पाँच विपर्यय, नौ तुष्टियाँ, इन्द्रियों के अट्ठाईस प्रकार के दोष तथा आठ सिद्धियाँ, इनका विवेचन करता है।[1]

---

1 विपर्यय, तुष्टि, इन्द्रिय-दोष और सिद्धि के सिद्धान्त ईश्वर कृष्ण की कारिका में वर्णित हैं किन्तु मैंने उन्हें अपने विवेचन मे इसलिए नही लिया है कि उनका दार्शनिक दृष्टि से महत्त्व नहीं है। विपर्यय (मिथ्याज्ञान) पाँच प्रकार का होता है–अविद्या (अज्ञान), अस्मिता (घमण्ड), राग, द्वेष व अभिनिवेश (आत्मरति)। इन्हे तमो, मोह, महामोह, तमिस्त्रा और अन्धतमिस्त्र भी कहा जाता है। तुष्टि नौ प्रकार की है—जैसे यह विचार कि हमे अपनी ओर से कोई प्रयत्न नही करना है, प्रकृति अपने आप हमारे मोक्ष की व्यवस्था कर देगी (अम्भ) ध्यान आवश्यक नही, यही पर्याप्त है कि हम गृहस्थ से सन्यास ले लें (सलिल), मोक्ष के लिए कोई जल्दी नही, वह अपने आप यथा समय प्राप्त हो जाएगा (मेघ) भाग्य से ही मोक्ष प्राप्त होगा (भाग्य), पाँच कारणों से वैराग्य की उत्पत्ति और उससे उद्भूत सन्तोष यथा कमाने में आने वाली दिक्कतें (पर) कमाई सम्पत्ति की रक्षा में आई दिक्कतें

किन्तु अहिर्बुध्न्य संहिता में षष्टितंत्र के विषयों की जो सूची है वह कुछ और ही है और उससे ऐसा लगता है कि अहिर्बुध्न्य संहिता में उल्लिखित षष्टितंत्र पाँचरात्र वैष्णवों के प्रकार का कोई ईश्वरवादी दर्शन रहा होगा। अहिर्बुध्न्य संहिता में कपिल के सांख्य दर्शन को भी वैष्णव दर्शन बताया गया है। सांख्य के सबसे बड़े विवेचक विज्ञान-भिक्षु ने अपने विज्ञानामृतभाष्य में कई जगह कहा है कि सांख्य मूलतः आस्तिक था और निरीश्वर सांख्य केवल प्रौढ़िवाद है (ईश्वर के बिना भी सृष्टि की व्याख्या करने की एक अनधिकार चेष्टा)। अलबत्ता महाभारत का कथन है कि सांख्य और योग में यही भेद है कि सांख्य अनीश्वर है, योग सेश्वर। दोनों षष्टितंत्रों के वर्णनों में यह भेद यह सूचित करता है कि अहिर्बुध्न्य संहिता में उल्लिखित मूल षष्टितंत्र बाद में रूपान्तरित हुआ होगा और काफी बदल गया होगा। इस कयास की पुष्टि इससे भी होती है कि गुणरत्न ने प्रमुख सांख्य ग्रन्थों में षष्टितंत्र का उल्लेख नहीं किया है बल्कि केवल षष्टितन्त्रोद्धार का ही किया है जो षष्टि-तन्त्र का रूपांतरित संस्करण है।[1] सम्भवतः मूल षष्टितन्त्र वाचस्पति के समय से पूर्व ही नष्ट हो गया था।

यदि हम मान लें कि अहिर्बुध्न्य संहिता में उल्लिखित षष्टितंत्र साररूप में वही ग्रंथ है जो कपिल ने बनाया होगा और उसके उपदेशों का सही निरूपण है तो यह मानना होगा कि कपिल का सांख्य ईश्वरवादी था।[2] यह सम्भव है कि उसके शिष्य आसुरि ने उसका प्रचार किया हो लेकिन ऐसा लगता है कि जब आसुरि के शिष्य पंचशिख ने उसका विवेचन किया तो उसमें बहुत परिवर्तन हो गया। हमने देखा है कि उसके सिद्धान्त पारम्परिक सांख्य सिद्धान्तों से अनेक अंशों में विभिन्न हैं। सांख्यकारिका में कहा गया है कि उसने इस तन्त्र

(सुपर), कमाई हुई सम्पत्ति के भोग द्वारा उसका नैसर्गिकक्षय (परापर), इच्छाओं की वृद्धि के कारण आने वाला असन्तोष (उत्तमाम्भः)। वैराग्य की यह उत्पत्ति उन लोगों के लिए जो प्रकृति और उसके विकारों को आत्मा मानते हैं, बाह्यकारणों से होती हैं। सिद्धियाँ (सफलताएँ) आठ प्रकार की हैं (1) तार (शास्त्राभ्यास) (2) सुतार (उनकी अर्थमीमांसा) (3) तारतार (तर्क) (4) रम्यक (अपने विचारों का गुरुओं तथा अन्य प्रबुद्धजनों के विचारों से उपोद्वलन) (5) सदामुदित (निरन्तर अभ्यास से बुद्धि की विमलता)। अन्य तीन सिद्धियाँ हैं, प्रमोद मुदित और मोदमान जो प्रकृति से पुरुष की सीधे वियुक्ति में सहायक होती है। इन्द्रिय-दोष अट्ठाईस प्रकार के कहे गए हैं। ग्यारह इन्द्रियों के ग्यारह दोष तथा सिद्धियों के अभाव में तथा तुष्टियों के कारण होने वाले सत्रह प्रकार के अन्य दोष। विपर्यय, तुष्टि तथा इन्द्रियदोष सांख्योपदिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति में बाधक बताए गए हैं।

1. तर्करहस्यदीपिका पृ० 109।
2. एवं षड्विंशक प्राहुः शारीरमिह मानवा-। सांख्य सांख्यात्मकत्वाच्च कपिलादिभि-रुच्यते (मत्स्यपुराण 4-28)।

के वहुत भाग कर दिये (तेन वहुधाकृत तन्त्रम्)। इस वाक्य का अर्थ समझना मुश्किल है। शायद इसका यह मतलव है कि मूल पष्टितत्र को उसने अनेक निवन्धो मे पुर्नलिखित किया था। यह सुविदित है कि वैष्णवो के अधिकाश पन्थ ब्रह्माण्ड विज्ञान का यही स्वरूप वतलाते हैं जो साख्य के ब्रह्माण्ड विज्ञान का है। इससे इस कयास की पुष्टि होती है कि कपिल का साख्य शायद सेश्वर हो। किन्तु इसके अलावा कपिल के और पतजलि के सांख्य में अर्थात् योग मे कुछ अन्य विभेद भी हैं। एक अनुमान यह लगाया जा सकता है कि पचशिख ने कपिल के ग्रन्थ मे थोडा परिवर्तन कर और उसे निरीश्वर रूप मे पुर्नलिखित कर कपिल के नाम से प्रचारित कर दिया है। यदि इम अनुमान को सही मान लिया जाय तो हम साख्य की तीन धाराएँ मान मकते हैं। पहली सेश्वर धारा जिमके चिह्न अव लुप्त हो गये हैं किन्तु जो पातजल माख्य के रूप मे आज भी अवशिष्ट हैं, दूसरी निरीश्वर धारा जिसका प्रतिनिधित्व पचशिख करता है और तीसरी पारम्परिक साख्य वाली निरीश्वर धारा जो उससे थोडी विभिन्न है। माख्य दर्शन मे एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन विज्ञान भिक्षु (सोलहवी सदी ई०) ने किया प्रतीत होता है। उसने गुणो को पदार्थ के भेद वतलाया है। मैंने साख्य के इस निर्वचन पूर्णत तार्किक एव दार्शनिक मानकर कपिल और पातजल सांख्यों के पारस्परिक विवेचन मे इसी का अनुसरण किया है। किन्तु यह वतला देना प्रासगिक होगा कि मूलत. गुणो की अवधारणा विभिन्न अच्छी वुरी मानसिक स्थितियों के विभिन्न प्रकारों के रूप मे मानी गई थी और वाद मे एक ओर तो उन्हें आनुपातिक वृद्धि या ह्रास के आधार पर एक रहस्यात्मक तरीके से सृष्टि का कारण मान लिया गया और दूसरी ओर मानवीय मनोजगत् की समग्रता का भी आधार उन्हें ही मान लिया गया। गुणो का तार्किक विवेचन करने का प्रयत्न विज्ञान भिक्षु और वैष्णव ग्रन्थकार वेंकट ने अपने-अपने तरीके से अलग-अलग किया है।[1] चूंकि पतजलि का योगदर्शन और उस पर व्यास, वाचस्पति और विज्ञानभिक्षु की टीकाएं वाचस्पति और विज्ञानभिक्षु द्वारा वर्णित सांख्य दर्शन के अधिकाश सिद्धांतो पर एक ही मत रखते हैं इसलिए मैंने उन्हें कपिल का सांख्य और पातन्जल सांख्य नाम देना ही अधिक उचित समझा और उनका विवेचन भी एक साथ कर रहा हूँ। षड्दर्शन समुच्चय मे हरिभद्र ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया है।

गौडपाद द्वारा उल्लिखित अन्य सांख्य के दर्शनकार हैं, सनक, सनन्दन, सनातन और वोढ। उनकी ऐतिहासिकता और दार्शनिक सिद्धान्तो के वारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

सांख्यकारिका, सांख्यसूत्र, वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञान भिक्षु

साख्ययोग दर्शन पर मेरे विवेचन की भूमिका में कुछ स्पष्टीकरण देना आवश्यक लगता है। सांख्यकारिका इस दर्शन की प्राचीनतम कृति है जिस पर परवर्ती लेखको द्वारा टीकाएँ लिखी गई हैं। किसी भी लेखक द्वारा 'साख्य सूत्र' का उल्लेख नही किया गया है–

---

1 वेंकट के दर्शन का विवेचन इस ग्रन्थ के दूसरे खण्ड मे किया गया है।

केवल अनिरुद्ध (15वी सदी ई०) ने पहली वार इसकी टीका लिखी। गुणरत्न ने भी, जो चौदहवीं सदी ई० का है और जिसने अनेक सांख्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है, 'सांख्यसूत्र' का कोई संदर्भ नही दिया। गुणरत्न से पूर्व किसी लेखक ने 'सांख्यसूत्र' का कहीं उल्लेख किया हो ऐसा भी नहीं दिखता। इस सबका स्वाभाविक निष्कर्ष यही निकलता है कि ये सूत्र सम्भवत. चौदहवी सदी के कुछ समय वाद ही लिखे गये। किन्तु इस वात का भी कोई प्रमाण नही मिलता कि ये पन्द्रहवीं सदी के समय से पूर्व की कृति नही हैं। ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका के अन्त में यह उल्लेख है कि कारिकाओं में साख्यदर्शन का विवेचन है किन्तु उसमे अन्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों का खण्डन तथा षष्टितन्त्र शास्त्र आदि मूल सांख्य ग्रन्थों से सम्बद्ध दृष्टान्त कथाएँ शामिल नही है। सांख्यसूत्रों में अन्य मतों का खण्डन और अनेक दृष्टान्त कथाएँ भी है। यह असम्भव नही कि ये सब किसी अन्य सांख्य ग्रन्थ से संकलित किए गए हों जो अब लुप्त हो चुका है। यह भी हो सकता है कि षष्टितन्त्र शास्त्र के किसी परवर्ती संस्करण से (जिसे गुणरत्न ने षष्टितन्त्रोद्धार नाम से उल्लिखित किया है) यह संकलन किया गया हो। यद्यपि यह एक अनुमान ही है। इसका कोई पुष्ट प्रमाण नही है कि सांख्यसूत्रों में उपलब्ध सांख्य का सांख्यकारिकाओं में उपलब्ध सांख्य से कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर है। केवल एक महत्त्वपूर्ण वात यह है कि सांख्यसूत्र ऐसा मानते हैं कि उपनिषदों में एक परम शुद्ध चित् का जो वर्णन है उसका तात्पर्य उस एकता से है जो चेतन पुरुषों के वर्ग में निहित है और गुणों के वर्ग से विभिन्न है। चूँकि समस्त पुरुष शुद्ध चित् स्वरूप हैं, उपनिषदों में उन्हे एक वतलाया गया है क्योंकि वे सभी शुद्ध चित् की श्रेणी में आते है और इस दृष्टि से एक भी कहे जा सकते है। यह समझौता सांख्यकारिका में नही मिलता। यह एक चूक हो सकती है, विभेद इससे सिद्ध नही होता। सांख्यसूत्र का टीकाकार विज्ञानभिक्षु सेश्वर सांख्य या योग के प्रति अधिक झुका हुआ था, निरीश्वर सांख्य की वजाय। यह उसके साख्य प्रवचन भाष्य, योग वार्तिक एव विज्ञानामृत भाष्य (वादरायण के ब्रह्मसूत्रों पर ईश्वरवादी सांख्य के दृष्टिकोण से लिखी गई एक स्वतन्त्र टीका) मे उसके स्वयं के वचनों से सिद्ध होता है विज्ञानभिक्षु का अपना दृष्टिकोण सच्चे अर्थों मे पूर्णत योगदर्शन का दृष्टिकोण नही कहा जा सकता क्योकि उसने पौराणिक सांख्य दर्शन के दृष्टिकोणो का समर्थन अधिक किया है जिसके अनुसार विभिन्न पुरुष और प्रकृति अन्तत· ईश्वर में विलीन हो जाते हैं और जिसकी इच्छा से प्रत्येक प्रलय के वाद प्रकृति में सृष्टि प्रक्रिया पुनः शुरू होती है। वह सांख्यसूत्रो के पूर्णत· निरीश्वर सिद्धान्तवादों से वच नही सका है किन्तु उसका कहना है कि ये उसने यह वतलाने के लिए प्रयुक्त किए है कि सांख्य दर्शन इतना तार्किक है कि उससे ईश्वर को माने विना भी, समस्त पदार्थों की व्याख्या की जा सकती है। विज्ञानभिक्षु की सांख्य दर्शन की व्याख्या वाचस्पति से वहुत वातों पर मतभेद रखती है और यह कहना कठिन है कि इन दोनो में से कौन सही है। विज्ञानभिक्षु में यह वात अच्छी है कि कुछ कठिन विन्दुओं पर, जिन पर वाचस्पति मौन है। वह स्पष्ट एवं निर्भीकतापूर्वक निर्वचन करता है। मेरा तात्पर्य प्रमुखत· गुणो के स्वरूप के निर्वचन से है जो मेरे मत में सांख्य का एक महत्त्वपूर्ण विन्दु है। विज्ञानभिक्षु ने गुणों को यथार्थ अथवा अतिसूक्ष्म पदार्थ माना है

किन्तु वाचस्पति और गौडपाद (साख्यकारिका का एक अन्य टीकाकार) इस विषय पर मौन है। उनकी व्याख्याओं में ऐसी कोई बात भी नही है जो विज्ञान भिक्षु के निर्वचन के विरुद्ध जाती हो किन्तु वे जहाँ गुणो के स्वरूप का कोई विवेचन नहीं करते वहाँ भिक्षु उनकी प्रकृति के बारे मे बहुत सतोपजनक स्पष्ट और तार्किक विवरण देता है।

चूँकि भिक्षु से पूर्व किसी अन्य ग्रन्थ मे गुणो का निरूपण नही मिलता, यह सम्भव लगता है कि इस विषय पर उससे पूर्व कोई विचारमन्थन नहा हुआ। चरक मे या महाभारत मे भी गुणो के स्वरूप के बारे मे कुछ नही मिलता। किन्तु भिक्षु की व्यवस्था इतनी स्पष्ट है कि उसमे गुणो के पूर्ववर्ती समस्त दार्शनिक कृतियो मे उपलब्ध स्वरूप और प्रक्रिया का सारा सार समाहित सा लगता है। इसलिए गुणो के स्वरूप के विवेचन के सम्बन्ध मे मैंने भिक्षु के निर्वचन को ही मान्य माना है। कारिका ने गुणो का स्वरूप सत्व, रज और तम बतलाया है। इसमे सत्व को लघु और प्रकाशक, रज को शक्ति और गतिस्वरूप और तम को गुरु और आवरणकर्त्ता बताया है। वाचस्पति ने कारिका के इन शब्दो का अनुवाद मात्र कर दिया है, कोई विवेचन नही किया। भिक्षु की व्याख्या गुणो के तब तक उपलब्ध समस्त विवेचनो से सुसगत बैठती है, यद्यपि यह सम्भव है कि वह दृष्टिकोण उससे पहले अपरिज्ञात रहा हो और जब मूल साख्य-सिद्धान्त की स्थापना हुई हो उस समय भी गुणो की अवधारणा के बारे मे कुछ अस्पष्टता रही हो।

कुछ अन्य बिन्दु भी हैं जिनमे भिक्षु का दृष्टिकोण वाचस्पति से भिन्न है। इनमे से कुछेक महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं का उल्लेख यहाँ उचित होगा। पहला तो बौद्धिक स्थितियो के पुरुष से सम्बन्ध के बारे मे है। वाचस्पति का मत है कि पुरुष से किसी भी बुद्धि की स्थिति का सयोग नही होना किन्तु पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि की स्थिति मे पड जाता है जिससे बुद्धि-स्थिति चैतन्ययुक्त हो जाती है और चेतना मे परिणत हो जाती है। परन्तु इस मत से यह शका हो सकती है कि पुरुष को फिर बुद्धि की चेतन स्थितियो का अनुभवकर्त्ता कैसे कहा जा सकता है क्योकि बुद्धि मे उसका प्रतिबिम्ब तो केवल प्रतिफलन मात्र है, उसके आधार पर ही, पुरुष के बुद्धि से सयोग किए बिना, भोग कैसे हो सकता है? वाचस्पति मिश्र द्वारा इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि देश काल मे दोनो का सयोग नही होता किन्तु उनकी सन्निधि से तात्पर्य एक विशिष्ट प्रकार की योग्यता से है जिसके कारण पृथक् रहते हुए भी पुरुष बुद्धि से सयुक्त और तदभिन्न अनुभूत होती है और उसी के कारण बुद्धि की स्थितियो को किसी व्यक्ति की बतलाया जाना प्रतीत होता है। विज्ञानभिक्षु का कथन कुछ विभिन्न है। उसका मत है कि यदि ऐसी विशिष्ट योग्यता मान ली जाये तो कोई कारण नही कि मुक्ति के समय पुरुष मे ऐसी विशिष्ट योग्यता क्यो न रहे, यदि ऐसा हुआ तो मोक्ष ही नही होगा। यदि योग्यता पुरुष मे निहित है तो वह उससे रहित कैसे हो जायेगा और तब बुद्धि मे निहित अनुभवो को भोगता रहेगा। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु का मत है कि किसी सज्ञानात्मक दशा मे पुरुष का बुद्धि की स्थिति से वास्तविक सयोग होता है। पुरुष और बुद्धि के इस सयोग का तात्पर्य यह नही है कि पुरुष इसके कारण परिवर्तित होता जाएगा—सयोग का मतलब परिवर्तन नही होता। परिवर्तन का तात्पर्य है नए गुणो का उदय। बुद्धि मे ही परिवर्तन होते हैं और जब ये

परिवर्तन पुरुष में प्रतिविम्वित है तो पुरुष में व्यक्ति अथवा अनुभवकर्ता का अनुभव होता है और जब पुरुष का प्रतिविम्ब बुद्धि पर पड़ता है तो वौद्धिक दशा चैतन्य दशा प्रतीत होती है। दूसरा विन्दु है प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे वाचस्पति और भिक्षु में मतभेद। भिक्षु का मत है कि मन की किसी क्रिया के विना भी इन्द्रियाँ पदार्थों के निर्धारित गुणों का प्रत्यक्ष कर सकती हैं जबकि वाचस्पति यह मन की शक्ति मानता है कि वह इन्द्रियों के विपयों को एक निर्धारित क्रम में व्यवस्थित करता है और अनिर्धारित इन्द्रिय विपयों का निर्धारण करता है। उसके अनुसार सज्ञान की पहली स्थिति वह है जब अनिर्धारित ऐन्द्रिय विपय प्रस्तुत होते है, दूसरी स्थिति में उनके स्वांगीकरण, विभेदन और समूहन आदि होते हैं जिनके कारण मानसिक प्रक्रिया द्वारा अनिर्धारित पदार्थ सुव्यवस्थित होते हैं एवं वर्गीकृत किए जाते हैं। यह मानसिक प्रक्रिया सकल्प कही जाती है जिसके द्वारा अनिर्धारित पदार्थ निर्धारित ऐन्द्रिय विपयों के रूप मे और प्रत्यक्ष के स्वरूपो और वर्गो मे व्यवस्थित किए जाते है। उन वर्गो के विश्लिष्ट लक्षणयुक्त धारणात्मक रूप वनाए जाते हैं। भिक्षु को जो यह मानता है कि पदार्थो का निर्धारित स्वरूप सीधे इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्षीकृत होता है, मन को ही गौण स्थान देना पड़ेगा और उसे इच्छा, शंका और कल्पना की एक शक्ति के रूप मे ही मानना पड़ेगा।

यहाँ यह उल्लेख करना भी अप्रासंगिक नही होगा कि सांख्यकारिका पर वाचस्पति की टीका मे एकाध स्थल ऐसे हैं जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह अहंकार को इन्द्रियो की विषयावलियों का जन्मदाता मानता हैं और वाह्य जगत् की भौतिक पदार्थावली को एक इच्छा या संकल्प से उद्भूत मानता है किन्तु उसने इस सिद्धान्त का आगे स्पष्टीकरण नही किया अत उस पर अधिक विवेचन आवश्यक नही। इसके अतिरिक्त, महत् से तन्मात्रों के उद्भव के वारे मे भी एक मतभेद है। व्यासभाष्य और विज्ञानभिक्षु आदि से विपरीत, वाचस्पति का मत[1] है कि महत् से अहंकार पैदा हुआ और अहकार से तन्मात्र। विज्ञानभिक्षु का मानना है कि अहकार का पृथग्भवन और तन्मात्रो का उद्भव दोनो महत् मे ही होते हैं और चूँकि यही मत मुझे अधिक तर्कसंगत लगा अत. मैंने यही पक्ष स्वीकार किया है। इसके अलावा योगदर्शन के वारे मे वाचस्पति और भिक्षु मे कुछ अन्य विभेदक विन्दु भी हैं जिसका दार्शनिक महत्त्व अधिक नही है।

योग एवं पतंजलि

ऋग्वेद में योग शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों मे हुआ है, जैसे जूडा डालना या हल डालना, अनुपलब्ध की प्राप्ति, जोड़ना इत्यादि। जूड़ा डालने के अर्थ मे इसका उतना प्रयोग नही हुआ जितना अन्य अर्थों मे, किन्तु यह सत्य है कि ऋग्वेद मे तथा अन्य वैदिक साहित्य मे, जैसे शतपथ व्राह्मण और वृहदारण्यक उपनिषद् मे इस अर्थ मे भी इस शब्द का प्रयोग

---

1. देखें, मेरा ग्रन्थ 'स्टडी आव पतंजलि' (पृ० 60 से)।

हुआ है ।[1] इसी शब्द से एक अन्य पद भी निकला है 'युग्य' जिसका प्रयोग परवर्ती सस्कृत साहित्य मे हुआ ।[2]

ऋग्वेद मे धार्मिक और दार्शनिक विचारो के विकास के साथ-साथ हम यह भी पाते हैं कि धार्मिक यम, नियम और आचार अधिक महत्त्व पाते गये हैं । तप और ब्रह्मचर्य बहुत ऊँचे गुण माने जाते थे तथा उन्हे उच्चतम शक्ति का स्रोत माना जाता था ।[3]

तप और आत्मसयम के सिद्धान्तो का ज्यो-ज्यो विकास होता गया त्यो-त्यो यह भी अहसास होता गया कि चचल चित्तवृत्तियाँ उसी प्रकार अनियत्रणीय होती हैं जैसे एक उद्धत घोडा और इसीलिए योग शब्द का, जिसका प्रयोग मूलत घोडो के नियन्त्रण के सन्दर्भ मे होता था, इन्द्रियो के नियन्त्रण के सन्दर्भ मे भी प्रयोग होने लगा ।

पाणिनि के समय तक आते आते योग शब्द ने तकनीकी अर्थ धारण कर लिया था । पाणिनि ने 'युज समाधौ' धातु को 'युजिर योगे' धातु से इसलिए अलग माना है । समाधि या एकाग्रता के अर्थ वाला युज धातु क्रियापदो मे कही प्रयुक्त नही हुआ है । इस धातु को 'योग' शब्द को निष्पन्न करने के लिए ही गिनाया गया है ।[4]

भगवद्गीता मे योग शब्द का प्रयोग 'युजेसमाधौ' वाले अर्थ मे तो हुआ ही है, 'युजिर योगे' वाले अर्थ मे भी हुआ है । इसके कारण भगवद्गीता के अध्येताओ मे कुछ भ्रम भी फैला है । गीता मे योगी अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो अपने आप को समाधि मे खो देता है सर्वोच्च श्रद्धा का पात्र माना गया है । वहाँ इस शब्द के प्रयोग के साथ एक यह विशेषता जुडी हुई है कि गीता ने एक ओर निर्गुण समाधि वाले तप पूर्ण नियत्रण की प्रक्रिया और दूसरी ओर वैदिक ऋषियो के यज्ञादि कार्यो का सम्पादन करने वाले एक नए प्रकार के योगी (युजिर योगे वाले अर्थ में) की धारणा दोनो के बीच एक मध्यम मार्ग निकालना

---

1 तुलनीय, ऋग्वेद 1-34-9, 7-67-8, 3-27-11, 10-30-2, 10-14-9, 4-24-4, 1-5-3, शतपथ ब्राह्मण 14-7-1-2 ।

2 यह शायद आर्य भाषाओ का ही कोई प्राचीन शब्द है, तुलनीय जर्मन जोक, एत्र लेंसिक्सन geoc लैटिन jugum

3. कठोप 3-4, इन्द्रियाणि हयान्याहुर्विषयास्तेषु गोचरान् (इन्द्रिय घोडे हैं और उनके गम्य पदार्थ उनके विषय हैं) मैत्रा० 2-6, कर्मेन्द्रयाणस्य हया (कर्मेन्द्रिय इसके घोडे हैं) ।

4 'युग्य' पद 'युजिर योगे' से बना है, युज समाधौ से नही । यदि हम पाणिनि के सूत्र 'तदस्य ब्रह्मचर्यम्' पर विचार करें तो स्पष्ट होता है कि उसके समय तक (पाणिनि को गोल्डस्टूकर ने बुद्ध से पूर्वकालिक बताया है) कि ब्रह्मचर्य के रूप मे न केवल तपस्या और सयम के ही विभिन्न रूप देश मे प्रचलित थे बल्कि उसी से सम्बद्ध एक बौद्धिक और नैतिक सयम की सुनिर्धारित प्रणाली भी योग के नाम से प्रचलित थी ।

चाहा। ऐसा योगी जो इन दोनों मार्गों के सर्वोत्तम आदर्शों का एक समन्वय अपने आप में स्थापित कर लेता है, अपने कर्तव्यों के प्रति सचेष्ट रहता है किन्तु साथ ही उनके स्वार्थमय उद्देश्यों तथा आसक्तियों में लिप्त नहीं होता, वही सच्चा योगी माना गया है।

अपने अर्थशास्त्र में दर्शन विज्ञान के विपयों का नाम गिनाते हुए कौटिल्य सांख्य, योग और लोकायत का नाम लेता है। प्राचीनतम बौद्ध सूत्र (जैसे सतिपत्थान मुत्त) योग समाधि के सभी चरणो से परिचित प्रतीत होते है। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि एकाग्रता का अभ्यास तथा योग बुद्धि के पूर्व ही रहस्यात्मक समाधि की एक तकनीकी प्रक्रिया के रूप मे विकसित हो चुके थे।

जहाँ तक सांख्य के साथ योग के सम्बन्ध का प्रश्न है, जैसाकि हम पतंजलि के योग-सूत्रों में स्पष्ट संकेतित पाते हैं, इस सम्बन्ध में किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचना बड़ा कठिन है। प्राचीनतर उपनिपदों में श्वास सम्बन्धी विज्ञान पर कुछ विवेचन उपलब्ध होता है। यद्यपि उस समय तक योगमार्ग की 'प्राणायाम' जैसी सुनिर्धारित प्रक्रिया विकसित नही हुई थी। जब हम मैत्रायणी तक आ जाते हैं तब जाकर यह स्पष्ट होता है कि योगदर्शन का एक प्रणालीबद्ध विकास पूरा हो चुका था। दो अन्य उपनिपद् जिनमे योगदर्शन के सिद्धान्त पाए जाते हैं—कठोपनिपद् और श्वेताश्वतरोपनिषद् है। यह वस्तुतः दिलचस्प बात है कि कृष्णयजुर्वेद की केवल इन्ही तीनो उपनिषदो मे जिनमें योगाभ्यास का सन्दर्भ मिलता है, साख्य के बारे में भी वर्णन यद्यपि सांख्य और योग के सिद्धान्त इनमे परस्पर सम्बद्ध रूप में या किसी एक प्रणाली के ही दो भागो के रूप मे सकेतित नही मिलते किन्तु मैत्रायणी उपनिषद् में एक उल्लेखनीय उद्धरण इस प्रकार का मिलता है जिसमें शाक्यायन और वृहद्रथ का संवाद है और उसमे योग प्रक्रिया का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए कुछ क्षेत्रों मे सांख्य के तत्त्वदर्शन का सहारा लिया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि योग प्रणाली मे सांख्य के तत्त्वदर्शन का समन्वय या उपोद्वलन इसी विचारधारा के अनुयायियों की देन है जिसे बाद मे पतंजलि ने एक प्रणालीबद्ध रूप दे दिया है। शाक्यायन कहता है 'कुछ लोगों का यह कथन है कि प्रकृति के वैभिन्य के कारण गुण, इच्छा के बन्धन में बंध जाता है, और उसकी मुक्ति तब होती है जबकि इच्छा का दोप अपनीत हो जाता है, तब वह बुद्धि से देखने लगता है। जिसे हम अभिलाषा, कल्पना, सशय, विश्वास, अविश्वास, निश्चय, अनिश्चय, लज्जा, विचार, भय आदि कहते है वह सब केवल बुद्धि ही है। अपनी कल्पना में अन्धकारक्रान्त गुणों की लहरों द्वारा विचलित होकर, अनिश्चित, दिङ्मूढ, अपंग इच्छाओं से आक्रान्त, किकर्तव्य-विमूढ़ होकर वह ऐसी धारणाओ से आवद्ध हो जाता है कि यह मैं हूँ, वह मेरा है, और इस प्रकार अपनी आत्मा से अपने आपको बाँध लेता है जैसे एक पक्षी अपने आपको घोंसले में बाँध लेता है। इसलिए वह मनुष्य जो इच्छा, कल्पना और धारणा के वशीभूत होता है, गुलाम होता है और जो उनके वश मे नही है वही स्वतंत्र है। इसीलिए मनुष्य को अपनी इच्छा, कल्पना और धारणा से निर्मुक्त रहना चाहिए। यही स्वातन्त्र्य का लक्षण है, यही ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग है, यही वह द्वार है जिससे वह

अन्धकार को पार पा सकता है। सभी इच्छाएँ वहाँ जाकर शान्त हो जाती हैं। इसके लिए एक प्राचीन उक्ति भी उद्धृत की जाती है—

"जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन मे स्थिर हो जाती हैं और जब बुद्धि अविचलित होती है वही सर्वोच्च स्थिति है।"[1]

योग मे सम्बन्धित उपनिषदों जैसे शाण्डिल्य, योगतत्त्व, ध्यान विन्दु, हंस, अमृतनाद, वराह, मण्डल, ब्राह्मण, नादबिंदु और योगकुण्डली आदि की समीक्षा से स्पष्ट होता है कि विभिन्न प्रणालियों मे योग की प्रक्रियाएँ परिवर्तित होती गई हैं किन्तु उनमे साख्य की दार्शनिक विचारधारा की ओर कोई प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। शैव और शाक्त सिद्धान्तों के अनुरूप भी योगप्रक्रियाएँ विकसित होती गई और मन्त्रयोग के नाम से अनेक रूप लेती गई। योग की प्रक्रियाओं ने एक अन्य रूप भी धारण किया, हठयोग के रूप मे, जो विभिन्न जटिल नाडियो के विभिन्न योगो के निरन्तर अभ्यास द्वारा अनेक रहस्यात्मक और जादुई चमत्कार पैदा कर देने वाला योग माना जाता था, जिससे निरोग कर देने वाले तथा अन्य चमत्कार तथा ऐसी ही अतिमानुष शक्तियाँ सम्बन्धित थीं। योगतत्वोपनिषद् कहती है कि योग के चार प्रकार हैं, मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग।[2] कभी-कभी इन यौगिक

---

1 परन्तु वात्स्यायन ने न्यायसूत्र के अपने भाष्य (1-1-29) मे सांख्य और योग का भेद इस प्रकार बतलाया है—साख्य का मत है कि कोई भी वस्तु उत्पन्न या विनष्ट नही होती, शुद्ध चेतना मे कोई परिवर्तन नही आता। (निरतिशया चेतना) समस्त परिवर्तन शरीर, इन्द्रियो, मन तथा बाह्य पदार्थो मे होते हैं। योग का मत है कि समस्त सृष्टि पुरुष के कर्म पर आधारित है। समस्त दोष एव प्रवृत्ति कर्म के ही कारण होते हैं। चेतना सगुण होती है। जो असत् है वह सत्ता मे आ सकती है और जो उत्पन्न है वह विनष्ट हो सकता है। यह अन्तिम मत व्यास-भाष्य द्वारा किए गए योग के विवेचन से बिलकुल भिन्न है। सैद्धान्तिक रूप से यह न्यायदर्शन के अधिक निकट है। यदि वात्स्यायन का कथन सही माना जाता है तो यह प्रतीत होता है कि सृष्टि रचना के पीछे कोई उद्देश्य निहित है, यह धारणा साख्य ने योग से ली है। इस सूत्र पर उद्योतकर का विवेचन किसी भेद की ओर सकेत नही करता किन्तु उसमें इस बात पर ऐकमत्य का उल्लेख अवश्य मिलता है कि इन्द्रिय अभौतिक हैं इस दृष्टिकोण को सांख्य और योग दोनो मानते हैं। आश्चर्य की बात है कि वात्स्यायन अपने भाष्य में (1-2-6) व्यासभाष्य से एक उक्ति उद्धृत की है (3-13) और उसे स्वविरोधी (विरुद्ध) बताया है।

2 योग के एक दार्शनिक जैगीषव्य ने 'धारणाशास्त्र' लिखा जिनमे तन्त्र की शैली में योग का वर्णन है, पतजलि द्वारा वर्णित दार्शनिक शैली में नहीं। उसने स्मृति के केन्द्रो के रूप मे शरीर के पाँच केन्द्रो का वर्णन भी किया है (हृदय, कण्ठ, नासाग्र,

अभ्यासों के साथ वेदान्त के समन्वय का प्रयत्न भी हमें मिलता है। योग की प्रक्रियाओं का तान्त्रिक तथा अन्य पूजा प्रकारों के विकास मे भी बहुत प्रभाव पाया जाता है, किन्तु इन सबका विवेचन हम यहाँ नही करेंगे क्योंकि उनका कोई दार्शनिक महत्त्व नही है और इस प्रकार वे हमारे क्षेत्र के बाहर है।

सांख्य के पातजल दर्शन का अर्थात् योग के उस प्रकार का जिसका हम विवेचन कर रहे हैं, पतंजलि ही सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण विवेचक था क्योंकि उसने न केवल योग की विभिन्न प्रक्रियाओ का सकलन ही किया और योग से सम्बन्धित विभिन्न विचारधाराओं को एकत्र कर उनका सम्पादन किया अपितु उस सबको सांख्य के तत्त्व-दर्शन से समन्वित करके भी प्रमाणित किया और उसे वह रूप दिया जिसमें इस दर्शन को हम आज पाते हैं। वाचस्पति और विज्ञानभिक्षु (व्यासभाष्य के दो महान् टीकाकार) हमारे इस कथन का समर्थन करते हैं कि पतंजलि योगदर्शन का जन्मदाता नही वलिक सपादक था। पातंजल सूत्रों के विश्लेपणात्मक अध्ययन से भी इस धारणा की पुष्टि होती है कि इनमें कोई मौलिक स्थापना नहीं है किन्तु एक उच्चस्तरीय और प्रणालीवद्ध सकलन ही है जिसके साथ समुचित मौलिक विवेचन जुड़े हुए हैं। पहले तीन अध्यायों में जिनमे परिभापा और वर्गीकरण के रूप में वहुत ही वैज्ञानिक विवेचन मिलता है यह पता चलता है कि उनकी सामग्री पहले से ही विद्यमान थी, पतजलि ने उसे केवल वैज्ञानिक और प्रणालीवद्ध रूप दिया। उसके विवेचन मे कोई धार्मिक उत्साह या आग्रह नहीं दिखलाई देता, अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों के खंडन का विशेष प्रयत्न भी नही। प्रसंगवश जहाँ अपने दर्शन को समझाने के लिए वैसा करना आवश्यक ही हो तो वात अलग है। पतंजलि इस दर्शन की स्थापना करने का उद्देश्य लेकर चला हो सो वात नही लगती। वह तो उन तथ्यों को जिन्हे उसने विखरा पाया, व्यवस्थित करने में भी रुचि रखता है। वौद्धों के खंडन के प्रसंग भी अधिकांशतः अन्तिम अध्याय मे मिलते हैं। प्रथम तीन अध्यायो में योग के सिद्धान्त वतलाए गए हैं और इन्हे हम अन्तिम अध्याय से विलकुल अलग-थलग सा पाते हैं जिसमें वौद्धों का खंडन है। तीसरे अध्याय के अन्त में 'इति' शब्द के लिखने से भी यही स्पष्ट होता है कि योग सम्बन्धी सकलन समाप्त हो गया। चौथे अध्याय के अन्त में भी एक 'इति' शब्द प्रयुक्त है जो सम्पूर्ण ग्रन्थ की समाप्ति का द्योतक है। इससे यह अनुमान पूर्णतः युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि चतुर्थ अध्याय पतजलि से इतर किसी लेखक की रचना है जो परवर्ती था और जिसने योग-दर्शन के समर्थन में कुछ अन्य तर्क जो छूट गए थे, इसमें जोड़ देना आन्तरिक दृष्टि से और वौद्ध-दर्शन के समर्थकों के सभावित विरोधों से वचाने हेतु उसे अधिक सवल वनाने की दृष्टि से उचित समझा। अन्तिम अध्याय की शैली मे भी कुछ परिवर्तन स्पष्ट परिलक्षित होता है। ऐसा या तो इसलिए हो सकता है कि वह वाद में लिखा गया हो या इसका प्रमाण हो सकता है कि वह किसी अन्य लेखनी द्वारा प्रस्तुत है।

तालु, ललाट, सहस्रार) जिन पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। देखे, वाचस्पति की तात्पर्य टीका अथवा वात्स्यायन का न्यायसूत्रों पर भाष्य 3-2-43।

अन्तिम अध्याय के तीस से चौंतीस तक के सूत्र दूसरे अध्याय में कही गई बातो की पुनरुक्ति से प्रतीत होते हैं। इस अध्याय के कुछ विवेचित विषय ऐसे भी हैं जो पूर्व के अध्यायो मे विवेचित विषयो से इतने सम्बद्ध हैं कि उनके साथ ही उनका विवेचन अधिक उचित होता। इस अध्याय का कलेवर भी इतना छोटा है जो अन्य अध्यायो से मेल नही खाता। इसमें केवल चौंतीस सूत्र हैं जबकि अन्य अध्यायों मे औसतन 51 से 55 तक सूत्र हैं।

अब इस प्रसिद्ध योगशास्त्री पतजलि के सम्भावित समय पर विचार करेंगे जो बहुत विवादास्पद विषय है। वेबर ने पतजलि को शतपथ ब्राह्मण[1] के "काप्य पतचल" से अभिन्न सिद्ध किया है, कात्यायन के वार्तिक मे पतजलि का नाम आता है जिसे परवर्ती टीकाकारो ने इस प्रकार व्युत्पन्न माना है "पतत अजलयो यस्मै" (जिसके लिए श्रद्धा से अजलियाँ बाँधली जाएँ) किन्तु केवल नामसाम्य से ही किसी निश्चित निर्णय पर पहुँच जाना बहुत कठिन है। इसके अतिरिक्त एक मत यह भी है कि पाणिनि के सूत्रो पर सुप्रसिद्ध महाभाष्य लिखने वाला ही साख्ययोगदर्शनकार पतजलि है। इस मत को अनेक पाश्चात्य लेखको ने भी सम्भवत कुछ भारतीय टीकाकारो के आधार पर मान लिया है जिन्होंने इन दोनों को एक ही व्यक्ति बताया है। इनमे से एक तो है 'पतजलि-चरित' के रचयिता रामभद्र दीक्षित जो 18वीं सदी से पहले के नही हो सकते। दूसरी कृति है वासवदत्ता पर शिवराम की टीका जिसे आफ्रेक्ट ने 18वीं शताब्दी का बताया है। दो अन्य लेखक हैं धार का राज-भोज और चरक का टीकाकार चक्रपाणिदत्त जो 11वी शताब्दी का था। चक्रपाणिदत्त कहता है कि 'वह उस अहिपति को नमस्कार करता है जिसने पातजल महाभाष्य और चरक के भाष्य (पुनर्लेखन) की रचना कर मन, वचन और कार्य के दोषो का अपनोदन कर दिया।' भोज कहता है, 'उस महामनीषी सम्राट रण रगमल्ल के वचनो की जय हो जिसने पातजल पर टीका लिखकर तथा राजमृगांक नामक आयुर्वेद ग्रन्थ लिखकर सर्पधारी शिव की भाँति मन, वचन और काय के दोष नष्ट कर दिए।' व्यास का स्रोत भी (जिसे पुराने विद्वान् भी प्रक्षिप्त मानते हैं) इसी परम्परा पर आधारित है। इसलिए यह असम्भव नहीं है कि परवर्ती भारतीय टीकाकारों ने भी व्याकरणकार पतजलि, योगदर्शन का पतजलि और पातजलतन्त्र के लेखक आयुर्वेदकार पतजलि (जिसका उद्धरण चक्रदत्त से टीकाकार शिवदास ने धातुओं के तापन के प्रसग मे दिया है), इन तीनों पतजलियो मे घपला कर दिया हो।

हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जे० एच० वुड्स का यह मत तो उचित प्रतीत होता है कि केवल इन टीकाकारों के साक्ष्य के आधार पर ही व्याकरणकार और दर्शनकार पतजलि को एक नहीं माना जा सकता। यह ध्यान देने योग्य बात है कि व्याकरण के महान् लेखक जैसे भर्तृहरि, कैयट, वामन, जयादित्य, नागेश आदि ने ऐसी बात कही नहीं लिखी।

---

1 वेबर कृत 'हिस्ट्री आव इन्डियन लिटरेचर,' पृ० 223 (टिप्पण)

इसी से परवर्ती कुछ लोग और आयुर्वेद के टीकाकारों द्वारा इन दोनों को एक मानने के विरोध मे पर्याप्त प्रमाण मिल जाता है। यदि इसके अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण भी मिल जाते हैं तो हम व्याकरणकार और योग दर्शनकार पतंजलि को कभी भी एक नहीं मान सकते।

अब हम यह देखे कि क्या पतंजलि के महाभाष्य में कोई ऐसी सामग्री मिलती है जिससे वह योग-दर्शनकार से भिन्न सिद्ध होता है। प्रो० वुड्स का मानना है कि द्रव्य की परिभाषा मे इन दोनों पतजलियो का मतभेद है अतः उन्हे एक नही माना जा सकता। वुड्स कहते है कि व्यास भाष्य में एक जगह द्रव्य को सामान्य-विशेपात्मक वतलाया गया है जवकि महाभाष्य मे कहा गया है कि द्रव्य जाति भी तथा विशिष्ट गुणों का भी वोधन कराता है और ऐसा जिस पक्ष पर वल देना चाहा गया हो उसके अनुसार होता है। मैं नही समझता कि ये परिभाषाएँ एक दूसरे से विरुद्ध किस प्रकार हुई? इसके अतिरिक्त हम जानते हैं कि यही दो विचार व्याडि और वाजप्यायन के थे (व्याडि का मत था कि शव्द का अर्थ है गुण अथवा द्रव्य जवकि वाजप्यायन शव्द का अर्थ जाति मानता था)।[1] पाणिनि तक ने इन दोनो विचारों को सकेतित किया है, 'जात्याख्यायामेकस्मिन् वहुवचन-मन्यतरस्याम्' तथ्य 'सरूपाणाम् एकशेषमेकविभक्तौ।' महाभाष्यकार पतंजलि ने इन दोनो विचारों का समन्वय किया। इससे यह सिद्ध नही होता कि वह व्यास भाष्य वाले मत का विरोधी है, यद्यपि यह भी साथ ही समझ लेना चाहिए कि यदि यहाँ विरोध भी होता तो उससे सूत्रकार पतंजलि के भाष्यकार से अभिन्न होने न होने पर कोई फर्क नही पड़ता। पुनश्च, जव हम पढ़ते है कि महाभाष्य मे द्रव्य को एक ऐसे पदार्थ के रूप में परिभाषित किया गया है जो विभिन्न अंशो का एक सयोग हो जैसे एक गाय पूँछ, खुर, सीग आदि का संयोग हैं (यत् सास्नालांगूलककुद-खुर-विषाण्यर्थ रूपम्) तो हमे व्यासभाष्य की यह परिभाषा उसके विलकुल समान लगती है कि परस्पर सम्वद्ध भागों का समूह द्रव्य है (अयुतसिद्धावयवभेदा-नुगत समूहो द्रव्यम्)। जहाँ तक मैंने महाभाष्य के अध्ययन पर ध्यान दिया, मुझे कही ऐसी कोई चीज नही मिली जिससे दोनो पतजलियों के एक होने के विरुद्ध कोई प्रमाण मिलता हो। अनेक मतभेद अवश्य हैं किन्तु वे सव प्राचीन वैयाकरणो के पारम्परिक मतो के खडन से ही सम्बद्ध हैं, उनके आधार पर इस व्याकरणकार का कोई व्यक्तिगत मत निकाल लेना और निर्णय ले लेना वहुत अयुक्तिसंगत होगा। मुझे तो यह विश्वास है कि महाभाष्यकार को सांख्ययोग दर्शन के अधिकांश महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का ज्ञान था। कुछ उदाहरणों के रूप मे हम उल्लेख कर सकते हैं गुण सिद्धान्त का (1 2.64,4.1 3), शून्यात्शून्यमुदच्यते वाले सांख्य के सिद्धान्त का (1 1.56), समय सम्वन्धी विचारों का (3 2.5,3 2.123), समानों के रूप मे लौटने के सिद्धान्त का (1.1.50), विकार को गुणान्तराधान मानने के सिद्धान्त का (5.1 2,5.1 3) तथा इन्द्रिय और बुद्धि में विभेद के सिद्धांत का (3.3.133)। इसके अलावा स्फोटवाद के सम्बन्ध में महाभाष्य योग के सिद्धान्त से सहमत है जो कि

1. पतजलि का महाभाष्य (1/2/64)।

भारतीय दर्शन की किसी अन्य शाखा द्वारा नही माना गया है। इसके अलावा एक यह समानता भी पाई जाती है कि ये दोनो ग्रन्थ एक ही प्रकार से प्रारम्भ होते है, योगसूत्र प्रारम्भ होता है 'अथ योगानुशासनम्' से और महाभाष्य प्रारम्भ होता है 'अथ शब्दानुशासनम्' से।

इस सम्बन्ध मे यह भी ध्यान देने योग्य वात है कि प्रोफेसर वुड्स ने योगसूत्र की रचना का समय 300 तथा 500 ई० सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिये हैं वे बिलकुल ही अधूरे और कमजोर हैं। प्रथम तो, यदि दो पतजलियो को एक सिद्ध नहीं किया जा सकता तो उसका अर्थ यह नही है कि योगसूत्रकार पतजलि निश्चय ही परवर्ती होगा। दूसरे, तथाकथित बौद्ध[1] सदर्भ चतुर्थ अध्याय मे मिलता है जो कि प्रक्षिप्त और परवर्ती है जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं। तीसरे, यदि वे पतजलि द्वारा भी लिखे गए हो तो उससे यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि चूंकि वाचस्पति ने विरोधी विचारधारा को विज्ञानवादी विचारधारा बतलाया है अत हम इस सदर्भ को वसुबन्धु या नागार्जुन का सकेत करने वाला मान लें, क्योंकि ये विचारधाराएँ जिनका सूत्रो मे खण्डन किया गया है नागार्जुन से बहुत पहले ही होती रही थी।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि कुछ परवर्ती टीकाकारो द्वारा मानी हुई यह परम्परा कि दोनो पतजलि एक ही है कोई बडा प्रामाणिक आधार नही मानी जा सकती, फिर भी योगसूत्रों और महाभाष्य के समीक्षात्मक अध्ययन से ऐसा कोई निष्कर्ष भी नही निकलता कि योगसूत्रों का रचयिता पतजलि व्याकरणकार पतजलि से परवर्ती होगा।

योगसूत्रकार पतजलि के बारे में इस विचार के बीच ही मैं एक अन्य पुस्तक का जिक्र भी करना चाहूँगा जिसके बारे मे अलबरूनी ने काफी लिखा है, मुझे खेद है चाहे इससे कुछ और घपला बढ़ जाए किन्तु यह एक विचारणीय और महत्त्वपूर्ण बिन्दु है, यह पुस्तक है 'किताब पातजल।' अलबरूनी इसे बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ मानता है और इसका अनुवाद कपिल द्वारा लिखित 'साक' (साख्य) नामक एक अन्य पुस्तक के साथ ही वह करता है। यह पुस्तक गुरु और शिष्य के बीच संवाद के रूप मे लिखी गई है। यह स्पष्ट है कि यह पतजलि के वर्तमान योगसूत्रो से भिन्न है, यद्यपि इसका उद्देश्य भी वही है, मोक्ष की प्राप्ति का उपाय और आत्मा का ध्यान के विषय के साथ तादात्म्य। अलबरूनी ने इसे 'किताब पातन्जल' कहा है यानि पातन्जल की किताब। एक अन्य स्थान पर भी फारसी मे जो कहा गया है उसका मतलब होता है पातन्जल की किताब का लेखक।

---

1 यहाँ यह उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण होगा कि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बौद्ध सदर्भ "न चैकचित्त तन्त्र वस्तु तदप्रमाणक तदा कि स्यात्" (4/16) सम्भवत व्यासभाष्य की ही पक्ति है क्योकि भोज जिसने, अपनी भूमिका मे लिखे अनुसार अनेक टीकाओ का अध्ययन किया था, इसे सूत्र के रूप में नहीं मानता।

उस समय इस पुस्तक पर कोई विस्तृत भाष्य भी उपलब्ध था जिसमे अलबरूनी ने अनेक उद्धरण दिए हैं किन्तु उसने उसके लेखक का नाम नही बताया है। पुस्तक मे ईश्वर आत्मा, बन्धन, कर्म, मुक्ति आदि का विवेचन है जैसाकि योगसूत्रों मे भी है, किन्तु जिस प्रकार इनका प्रतिपादन किया गया है (और यह प्रतिपादन अलबरूनी द्वारा उद्धृत अनेक उद्धरणो में हमें मिल जाता है) उससे यह लगता है कि आज योग सूत्रों मे जो विचार निबद्ध है उनसे इस अनुवाद तक आते-आते बहुत परिवर्तन हो गया था। ईश्वर के सिद्धान्त के बारे मे अलबरूनी कहता है कि उसे कालातीत, मुक्त सत्ता माना गया है किन्तु उसे वेदों का जन्मदाता तथा योगमार्ग का प्रतिपादक कहा गया है जिससे कि मनुष्य ज्ञान द्वारा जो उसका दिया हुआ है, प्राप्तव्य को पा सकें। ईश्वर की सिद्धि इस प्रकार होती है कि जिस चीज का नाम मौजूद है वह चीज भी अवश्य मौजूद होगी। ऐसी कोई चीज नही है जिसका नाम मौजूद हो और चीज नही हो। आत्मा द्वारा ही उसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है, ज्ञान द्वारा उसके गुणो को जाना जाता है। ध्यान ही उसकी पूजा का एकमात्र उपाय है और उसका अभ्यास निरन्तर करने के कारण मनुष्य उसमें पूर्णतः विलीन हो जाता है और सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है।

आत्मा का सिद्धान्त वही है जो हमें योगसूत्र में मिलता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी उसी प्रकार है। ईश्वर के एकत्व पर ध्यान लगाने के पहले चरण मे आठ सिद्धियो का वह उल्लेख करता है। इसके बाद चार अन्य स्थितियाँ आती हैं जो योग सूत्र में वर्णित स्थितियो के ही समान हैं। मोक्ष की प्राप्ति के लिए वह चार मार्ग बतलाता है। पहला है, अभ्यास (पतंजलि के मत वाला) इस अभ्यास का विषय है ईश्वर से एकत्व।[1] दूसरा मार्ग है वैराग्य, तीसरा है मोक्ष की प्राप्ति हेतु ईश्वर का अनुग्रह पाने के लिए उसकी पूजा (योगसूत्र 1.23 तथा 1.29 के समान) चौथा मार्ग है, रसायन, यह नया प्रतीत होता है। जहाँ तक मोक्ष का सम्बन्ध है उसका प्रतिपादन उसी प्रकार किया गया है जिस प्रकार योगसूत्रों 2/25 और 4/34 मे किया गया है किन्तु मुक्ति की दशा को एक जगह ईश्वर मे विलय या उसके साथ एकत्व बतलाया गया है। ब्रह्म का वर्णन उपनिषदों की तरह ऊर्ध्वमूल और अधःशाख अश्वत्थ के समान किया गया है; उसकी ऊपरी जड़ शुद्ध ब्रह्म हैं, तना वेद है, शाखाएँ विभिन्न सिद्धान्त और प्रणालियाँ हैं, पत्ते विभिन्न व्याख्याएँ हैं। तीन शक्तियो से यह वृक्ष जीवन प्राप्त करता है। साधक का कर्त्तव्य है कि वह पेड पर ध्यान न दे और जड तक पहुँचे।

योग सूत्र की प्रणाली से इस प्रणाली मे यह अन्तर है कि (1) इस प्रणाली मे ईश्वर की अवधारणा को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि वही ध्यान का एक मात्र केन्द्र

---

1. तुलनीय योगसूत्र 2/1।

माना गया है, उसमे लय हो जाना चरम ध्येय वन गया (2) यम[1] और नियम का महत्त्व इसमे वहुत कम है (3) योगसूत्र मे, ईश्वर से सम्वन्धित धारणाओ के अतिरिक्त, मुक्ति की प्राप्ति के एक स्वतन्त्र साधन के रूप मे योग का जो महत्त्व है वह इसमे नजरन्दाज कर दिया गया है। (4) मोक्ष और योग को ईश्वर मे लय हो जाने के रूप मे परिभाषित किया गया है। (5) ब्रह्म की अवधारणा इसमे है (6) चित्तवृत्ति निरोध के रूप मे योग का महत्त्व नजरन्दाज हो गया है (7) रसायन को भी मोक्ष का एक मार्ग वताया गया है।

इसमे हम आसानी से अनुमान लगा सकते हैं कि यह योग सिद्धान्त का पतजलि के योग सूत्र पर आधारित और वेदान्त एव तन्त्र की दिशा मे एक नया रूपान्तर था। इस प्रकार यह एक ऐसे सक्रमण काल के वीच की कडी के रूप मे माना जा सकता है जिसमे योग सूत्रो का योग सिद्धान्त एक नई प्रणाली में इस प्रकार परिवर्तित हो जाता है कि पर-वर्ती वेदान्त, तन्त्र एव शैवसिद्धान्तों के परवर्ती विकास के साथ उसे स्पष्ट जोडा जा[2] सकता है। चूँकि लेखक ने रसायन को मोक्ष का मार्ग वताया है अत यह सम्भव है कि वह नागार्जुन के वाद हुआ हो और वही व्यक्ति हो जिसने पातजल तन्त्र लिखा और जिसका उद्धरण रसायन सम्वन्धी प्रसगों मे शिवदास ने दिया है। और जिसे नागेश ने 'चरक 'पतजलि' लिखा है। हम यह भी अनुमान मोटे रूप मे लगा सकते हैं कि इसी व्यक्ति को लेकर चक्रपाणि और भोज ने इस पुस्तक के लेखक और महाभाष्य के लेखक को एक ही मान लिया। यह भी वहुत सम्भव है कि चक्रपाणि अपने शब्द "पातजल महाभाष्य चरकप्रति सस्कृतै" द्वारा इसी पुस्तक की ओर सकेत करता है, इसे पातन्जल कहा जाता था। इसके टीकाकार ने लोको द्वीपो और सागरो का जो वर्णन दिया है वह व्यास भाष्य (3/26) में दिए गये वर्णनो से विरुद्ध पडता है। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि यह ग्रन्थ उस समय लिखा गया होगा जव या तो व्यास-भाष्य था ही नही या उसे महत्त्व नही दिया जाता था। अलवरूनी ने भी लिखा है कि यह पुस्तक उस समय वहुत प्रसिद्ध थी। भोज और चक्रपाणि ने भी शायद उसे व्याकरणकार पतजलि समझ लिया था। इससे हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि यह पातजल ग्रन्थ सम्भवत किसी अन्य पतजलि द्वारा 300-400 ईस्वी के वीच लिखा गया होगा अत यह असम्भव नही कि व्यास-भाष्य (3/44) इति पतजलि लिखकर इसी पतजलि का सदर्भ देता है।

मैत्रायणी उपनिषद् मे योग का जो वर्णन मिलता है उसमे उसके प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क और समाधि, ये छ अग वताए[3] गये हैं। इस सूची को

---

1 अलवरूनी ने साख्य की पुस्तक के अपने वर्णन मे साधनो की एक सूची दी है जो व्यावहारिक रूप मे विल्कुल यम और नियम जैसे ही हैं किन्तु कहा यह गया है कि उनके द्वारा मुक्ति नही प्राप्त की जा सकती।

2 तुलनीय. सर्वदर्शन-सग्रह में किया गया पाशुपत दर्शन का विवेचन।

3 प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क, समाधि, षडग इत्युच्यते योग (मैत्रा० 6/8)।

योगसूत्र की सूची से मिलाने पर यह ज्ञात होता है कि योगसूत्रों में दो नए अंग और जुड़ गये है और तर्क का स्थान आसन ने ले लिया है। ब्रह्मजाल-सुत्त में दिए गए वासठ विधर्मों के वर्णन से ज्ञात होता है कि कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जो तीन स्तरों के ध्यान से या तर्क के वल पर वह विश्वास करते थे कि वाह्य जगत् और जीव सभी अनादि है। इस सिद्धान्त के साथ समाधि अथवा ध्यान के सिद्धान्त को एक शाश्वतवादी चितकों का सिद्धान्त मानकर और तर्क को समाधि वाले अंग में अंतर्भावित करके हम यह कल्पना कर सकते है कि मैत्रायणी उपनिषद् में दी हुई अगों की सूची योगदर्शन की सवसे पुरानी, उस समय की, सूची है जव सांख्य और योग समन्वय की प्रक्रिया में चल रहे थे और जव चिन्तन का सांख्याधारित सिद्धान्त योग से पृथक् स्वतन्त्र दर्शन के रूप मे विकसित नही हुआ था। पतंजलि की सूची में तर्क के स्थान पर आसन का आ जाना सूचित करता है कि योग ने साख्य से पृथक् अपनी स्थिति वना ली थी। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का यम के रूप मे तथा शौच, संतोप का नियम के रूप में, एक ऐसे नैतिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार जिसके विना (सर्वप्रथम योगसूत्रों मे) योग को असम्भव वताया गया है, उस समय का सूचक है जव हिन्दुओं और वौद्धों में विवाद इतना उग्र नही था। मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा का शामिल किया जाना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि मोक्ष से सम्वन्धित विन्दुओ के किसी भी सांख्य में उन्हें इतने स्पष्ट एवं महत्त्वपूर्ण तरीके से उल्लिखित नही पाया जाता। आचारांग सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, सूत्रकृतांगसूत्र इत्यादि से लेकर उमास्वाति के तत्त्वार्थाधिगम सूत्र से होते हुए हेमचन्द्र के योगशास्त्र तक आते-आते हम पाते हैं कि जैन अपना योगदर्शन प्रमुखतः ऐसी दार्शनिक प्रणाली पर आधारित करते जा रहे थे जो यमो द्वारा परिभापित थीं। अलवरूनी के पातंजल मे व्यक्त यह विचार कि यमों से मोक्ष नही मिलता, हिन्दुओं व जैनों से हुए इस परवर्ती मतभेद का प्रमाण है। योग का एक अन्य महत्त्वपूर्ण लक्षण है उसका निराशावादी स्वर। योग उद्देश्य एवं प्रवृत्ति के सम्वन्व मे उसमें किया हुआ दु ख का विवेचन उसी प्रकार का है जिस प्रकार वौद्धों ने चार महान् सत्यों अर्थात् दु ख, दु.ख का कारण, दुःख का निवारण तथा दु.खनिवारण के उपाय, का विवेचन[1] किया है। इसके अलावा, संसार चक्र का वर्णन दु.ख, जन्म, मृत्यु, पुनर्जन्म आदि के रूप मे उसी प्रकार किया गया है जिस प्रकार पूर्ववर्ती वौद्ध दर्शन मे कारण चक्र का वर्णन मिलता है। इस सूची में सवसे ऊपर अविद्या रखी गई है किन्तु यह अविद्या शांकर वेदान्त वाली अविद्या नही है, यह अविद्या वौद्ध दर्शन की सी अविद्या है, यह सांसारिक माया जैसी शक्ति नही है न कोई सहज पातक के रूप में रहस्यात्मक तत्त्व है, यह पार्थिव, सवेद्य यथार्थ की सीमा में आती है। यौगिक अविद्या चार महान् सत्यों का अज्ञान ही है। योग-सूत्र मे आता है "अनित्याशुचिदु खानात्मसु नित्यशुचिदु खात्म ख्यातिरविद्या।" (2/5)

---

1. योगसूत्र 2-15, 16-17, यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं रोगो रोगहेतु आरोग्यं, भैपज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्र चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा, संसारः ससारहेतु, मोक्ष, मोक्षोपाय। दु.ख-वहुलः संसारो हेयः। प्रधानुपुरुपयो सयोगो हेयहेतु, संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्। हानोपाय सम्यग्दर्शनम्। व्यासभाप्य 2/15।

हमारे अस्तित्व का आधार हमारी जिजीविषा है जिसे अभिनिवेश कहा गया है। "हमारा यही पातक है कि हम होना चाहते हैं, हम, हम होना चाहते हैं, हम मूर्खतावश अपने अस्तित्त्व को अन्य अस्तित्वों के साथ मिश्रित करना और उसका विस्तार करना चाहते हैं। होने की इच्छा का निषेध, कम से कम हमारे लिए अस्तित्व को काट देता है।"[1] यह वात बौद्ध दर्शन के साथ भी उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार योग के अभिनिवेश के साथ जो एक ऐसा शब्द है जो योग दर्शन मे पहली वार और सम्भवत वौद्ध दर्शन की उक्त धारणा के साथ मेल खाने के लिए गढा गया होगा और योगदर्शन मे ही नही जहां तक मैं जानता हूँ अन्य भारतीय साहित्य मे भी अन्यत्र कही इस अर्थ मे प्रयुक्त नहीं हुआ है। जिस अध्याय मे इन सब वातो को वतलाने में मेरा उद्देश्य यह है कि यह स्पष्ट कर दिया जाय कि मूल योग-सूत्र (पहले तीन अध्याय) ऐसे समय मे वने होंगे जव वौद्ध दर्शन के परवर्ती प्रकार विकसित नहीं हुए थे और जव हिन्दुओं और वौद्धों एव जैनों का विवाद उस स्थिति तक नहीं पहुँचा था कि वे एक दूसरे के विचारो का आदान-प्रदान करना भी वुरा समझें। ऐसी स्थिति पूर्ववर्ती वौद्ध दर्शन के काल में ही थी, इसीलिए मेरा वह विचार वनता है कि योग सूत्र के प्रथम तीन अध्यायों का समय ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के आसपास ही होना चाहिए। चूंकि ऐसा भी कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे व्याकरणकार पतंजलि को योग-सूत्रकार पतंजलि मानना असम्भव हो जाय, इसलिए मेरा विचार है कि उन्हें एक ही मान लेना चाहिए।

सांख्य एवं योग का आत्मा अथवा पुरुष का सिद्धान्त[2]

सांख्य दर्शन जैसा आज उपलब्ध है दो तत्त्वो को मानता है, जीव और प्रकृति, द्रव्य की आधारभूत शक्ति। जीव अनेक हैं जैसा जैन मानते हैं, किन्तु वे गुणरहित हैं और अंश-रहित हैं। छोटे या वडे शरीर को धारण करने के कारण वे विस्तृत या सङ्कुचित नही होते किन्तु हमेशा सर्वव्यापी रहते हैं और उन्ही शरीरो तक सीमित नही रहते जिनके रूप मे वे अभिव्यक्त होते हैं। परन्तु शरीर अथवा शरीर मे स्थित मन तथा जीव अथवा आत्मा का सम्वन्ध कुछ इस प्रकार का है कि मानसिक विश्व मे जो भी घटित होता है उसे आत्मा का ही अनुभव माना जाता है। आत्माएँ अनेक हैं, यदि ऐसा न होता तो (साख्य के अनुसार) एक आत्मा के जन्म के साथ समस्त आत्माएँ जन्म जाती और एक आत्मा की मृत्यु के साथ समस्त आत्माएँ मर जातीं।[1]

---

1 ओल्डनवर्गकृत 'वुद्धिज्म'।

2 देखें, एस० एन० दास गुप्ता योग फिलोसफी इन रिलेशन टू अदर इण्डियन सिस्टमस आव थाट (अध्याय 2)। इन दोनो को एक मानने के पक्ष में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वात यह लगती है कि इन दोनो पतजलियो ने अन्य भारतीय दार्शनिकों के विपरीत स्फोटवाद को मान्यता दी है, जिसे सांख्य तक मे नहीं माना था। स्फोटवाद पर देखें मेरा ग्रन्थ स्टडी आव पतजली (परिशिष्ट–1)।

3. कारिका, 18।

जीव का वास्तविक स्वरूप समझना बहुत मुश्किल है किन्तु सांख्य दर्शन को पूर्णतः समझने के लिए उसका समझ लेना बहुत जरूरी है। जीवों की जैन धारणा के विपरीत जो कि जीव को अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य मानते है, सांख्य जीव को समस्त लक्षणों से रहित मानता है और उसे शुद्ध चित्त स्वरूप मानता है। सांख्य का वेदान्त से यहाँ यह मतभेद है कि प्रथमतः वेदान्त जीव को शुद्ध चित् और आनन्द-स्वरूप नही मानता।[1] सांख्य मे आनन्द केवल सुख जैसे अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है और एतावता वह प्रकृति का ही गुण है आत्मा का नहीं। दूसरे, वेदान्त के अनुसार समस्त जीव एक आत्मा के अथवा शुद्धचित् या ब्रह्म के ही रूप हैं किन्तु सांख्य के अनुसार वे भी वास्तविक और अनेक हैं।

वेदान्त की तरह सांख्य का भी एक महत्त्वपूर्ण और रुचिकर विवेच्य विषय है ज्ञानमीमांसा। सांख्य के अनुसार हमारा ज्ञान केवल वस्तुओं के वैचारिक चित्र अथवा प्रत्ययात्मक विम्वस्वरूप है। वाह्य वस्तुएँ वास्तविक हैं किन्तु ऐन्द्रिय ज्ञेय विषय और मानसिक विम्व, जिनके आवर्तन प्रत्यावर्तन को ही ज्ञान कहा गया है, भी एक तरह से वास्तविक और द्रव्यात्मक है, क्योंकि वे भी वाह्य वस्तुओं के समान स्वरूपतः सीमित है। ऐन्द्रिय ज्ञान एव विम्व आते और जाते है। वे वाह्य वस्तुओं के प्रतिरूप या चित्र होते हैं। इस दृष्टि से उन्हें किसी कदर द्रव्यात्मक कहा जा सकता है किन्तु वह द्रव्य जिससे वे वने हैं अत्यन्त सूक्ष्म है। ये मानसिक विम्व चैतन्य के स्वरूप भासित नही होते यदि चैतन्य के विभिन्न सिद्धान्त नही होते जिनके सम्पर्क से समस्त चैतन्य क्षेत्र एक व्यक्ति की अनुमति के रूप में परिभाषित किया जा सकता।[2] हमने देखा कि उपनिषदें आत्मा को शुद्ध एवं अनन्त चित् स्वरूप मानती है; ज्ञान और प्रत्ययों के भेदों से एवं विम्वों से परे मानती है। हमारे दैनिक मानसिक विश्लेषण के प्रयत्नों में हम नही जान पाते कि ज्ञान के विभिन्न रूपों की तह में एक ऐसा भी तत्त्व छिपा है जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, जो अरूप है और जिसमें वह आलोक है जो निर्जीव चित्रों या विम्वों को जो मन में वनते हैं, आलोकित करता है। यही आलोक आत्मा है। हम सव आत्मा शब्द जानते है किन्तु उसका मानसिक चित्र हमारे मस्तिष्क में नही वनता जैसाकि अन्य वाह्य वस्तुओं का वनता है किन्तु हमारे समस्त ज्ञान के मूल में हम आत्मा का अनुभव करते से लगते हैं। जैनों ने कहा था कि आत्मा कर्मद्रव्य से आवृत्त रहती है और प्रत्येक ज्ञान के अनुभव के साथ वह आवरण आंशिक रूप से हट जाता है। सांख्य कहता है कि आत्मा ज्ञान से नही प्राप्त हो सकती, वह पृथक् और चरम सिद्धान्त है जो ज्ञान के सूक्ष्म स्वरूप से भी परे है। हमारे संज्ञान को विम्व अथवा आकृति के रूप हैं एक सूक्ष्म मानसिक तत्त्व की ही निर्मितियाँ या सयोग है, वे अंधकार मे डूबे हुए धूमिल फलक की भाँति है, जैसे-जैसे वाहरी चित्र उस पर छपते जाते है और जैसे-जैसे वह

---

1. देखें, चित्सुखकृत तत्त्वप्रदीपिका।
3. तत्त्वकौमुदी 5; योगवार्तिक 4/22, विज्ञानामृतभाष्य पृ० 74, योगवार्तिक एवं तत्त्ववैशारदी 1-4,11-6,18,20 व्यासभाष्य 1,6-7।

प्रकाश के सामने आता जाता है वे चित्र एक-एक करके आलोकित होते जाते हैं और प्रकट होते जाते हैं। यही बात हमारे ज्ञान के साथ है। आत्मा का यह विशिष्ट लक्षण है कि वह प्रकाश स्वरूप है। उसके बिना समस्त ज्ञान अन्धा है, अन्धकारित है। आकार और गति द्रव्य के गुण हैं। जब तक ज्ञान केवल सीमित आकार और गति के रूप में ही रहता है तब तक वह द्रव्य के समान ही है। किन्तु एक अन्य तत्त्व भी है जो ज्ञान के इन रूपों मे चेतना डालता है, जिसके कारण वे चेतन हो जाते हैं। यह चित् तत्त्व यद्यपि अलग से अपने आप मे अनुभूत होता हो या उसका प्रत्यक्ष किया जाता हो सो बात नही है किन्तु इस तत्त्व का हमारे ज्ञान के समस्त स्वरूपो और प्रकारो मे अस्तित्व अनुमान द्वारा स्पष्टत संकेतित होता है। इस चित् तत्त्व मे न कोई गति है न रूप, न गुण, न अशुद्धि।[1] इसी के सम्पर्क के कारण समस्त ज्ञान गतिशील होता है, उस ज्ञान के द्वारा यह चित् आलोकित हो जाती है-और तब सुख और दु ख की अनुभूतियाँ और ज्ञान के परिवर्तन इसमे भासित होते हैं। ज्ञान की प्रत्येक इकाई, चूँकि यह किसी प्रकार का बिम्ब या चित्र है,-एक प्रकार से सूक्ष्म ज्ञानात्मक पदार्थ है जो चित् तत्त्व द्वारा आलोकित होता है, इसके साथ ही चूँकि ज्ञान की प्रत्येक इकाई मे चित् की जागृति या चेतना भी निहित है अत वह चित् तत्त्व की अभिव्यक्ति भी कही जा सकती है। ज्ञान का अनावरण आत्मा के किसी विशेष अंश का अनावरण या आवरण निवृत्ति नही है जैसा कि जैनों का विश्वास था। इसे आत्मा का उद्घाटन केवल इस अर्थ मे कहा जा सकता है कि ज्ञान शुद्ध जागृति है, शुद्ध चेतना है, शुद्ध चित् है। जहाँ तक ज्ञान अथवा बिम्ब के पदार्थ का प्रश्न है वह आत्मा का अनावरण नहीं है, वह केवल अन्धकारित ज्ञानात्मक पदार्थ मात्र है।

बौद्धों ने ज्ञान को उसके विभिन्न घटको मे विश्लेषित किया था और उनकी मान्यता थी कि उन सब घटको का समन्वय ही चेतन स्थितियो को जन्म देता है। यह संयोग या समन्वय उनके अनुसार आत्मा की मायात्मक या भ्रमात्मक धारणा का ही बिन्दु था क्योंकि यह समन्वय स्थायी नही किन्तु एक क्षणिक स्थिति है। परन्तु सांख्य के अनुसार शुद्ध चित् न तो मायामय है न भ्रमात्मक, न एक अमूर्त धारणा। यह ठोस है किन्तु अनुभवातीत है। इसके सम्पर्क से ज्ञान के सूक्ष्म अणुओं या घटकों की गति को एक प्रकार की एकता या समन्वय प्राप्त हो जाता है, वह नहीं होती तो वे सब घटक निरुद्देश्य और निश्चेतन रहते। उसके सम्पर्क से ही उनमें बौद्धिक चेतना आती है जिससे वे व्यवस्थित एवं सुसंगत वैयक्तिक अनुभवो के रूप मे निरुक्त हो सकते हैं और उन्हें प्रज्ञानात्मक कहा जा सकता है। प्रज्ञा-

---

1 यह ध्यान देने योग्य बात है कि सांख्य में ज्ञान की प्रक्रिया से सम्बद्ध दोनों पहलुओं को दो शब्दो द्वारा व्यक्त किया गया है—ज्ञान का अहसास वाला तत्त्व चित् कहा गया है तथा वह तत्त्व जो ऐन्द्रिय ज्ञेय को मन में प्रतिबिम्बित करता है और बिम्ब बन जाता है वह समूचा बुद्धि कहा गया है। चित् के बुद्धि मे प्रतिबिम्बित होने की प्रक्रिया ही ज्ञान की प्रक्रिया है।

नात्मक से यहाँ तात्पर्य होता है ज्ञान की विभिन्न घटनाओं और अभिव्यक्तियों का किसी एक व्यक्ति की चेतना से सम्बन्धित करना जिससे कि उन्हें एक व्यवस्थित आनुभविक शृंखला कहा जा सके। चेतना के इस तत्त्व को ही पुरुष कहा गया है। सांख्य में प्रत्येक व्यक्ति के लिए पृथक् पुरुष माना गया है जो शुद्ध बुद्धि या चित् स्वरूप है। वेदान्त की आत्मा सांख्य के पुरुष से इन अर्थों में विभिन्न है कि वह केवल एक है और शुद्ध चित् स्वरूप है, सत् स्वरूप है और शुद्ध आनन्द स्वरूप है। वही एकमात्र सत्य है भ्रमात्मक माया के कारण वह अनेक भासित होता है।

विचार एवं द्रव्य

एक प्रश्न स्वभावतः उठता है। यदि ज्ञान का स्वरूप किसी ऐसे ही पदार्थ द्वारा निर्मित है जिस प्रकार का वस्तुगत पदार्थ द्रव्य के विविध प्रकारों में पाया जाता है तो फिर ऐसा क्यों है कि पुरुष ज्ञान के इस पदार्थ को तो आलोकित करता है और भौतिक द्रव्यों को नही ? इसका उत्तर सांख्य इस प्रकार देता है कि ज्ञानात्मक पदार्थ या तत्त्व भौतिक वाह्य पदार्थों से इस अर्थ में निश्चित ही विभिन्न है कि वह कहीं अधिक सूक्ष्म है, उसमें एक विशिष्ट गुण का (अणुत्व या लघुत्व) जिसे सत्व कहा गया है, आधिक्य होता है जो पुरुष के आलोक से वहुत कुछ समान होने के कारण उसके प्रतिविम्ब या प्रतिफलन का वहन एवं ग्रहण करने के पूर्णतः योग्य एवं अनुरूप होता है। वाह्य स्थूल भौतिक पदार्थों के दो प्रमुख गुण होते है द्रव्यमान एवं ऊर्जा। किन्तु इसका एक लक्षण और है कि वह हमारे मस्तिष्क द्वारा अपने मे प्रतिविम्वित किया जा सकता है। द्रव्य का यह वैचारिक चित्र एक अन्य गुण भी रखता है, वह इतना विम्वग्राही अथवा सवेदनशील (सत्वयुक्त) होता है कि वह अपने मे चित् का, जो अतिसत्व-शाली अनुभवातीत वौद्धिक तत्त्व है, प्रतिविम्व ग्रहण कर सकता है। वाह्य स्थूल भौतिक द्रव्य का मूल लक्षण उसका द्रव्यमान है, ऊर्जा स्थूल द्रव्य मे और सूक्ष्म वैचारिक पदार्थ में समान रूप से विद्यमान है। वैचारिक पदार्थ में द्रव्यमान वहुत कम या नगण्य होता है किन्तु उसमे वौद्धिक तत्त्व या जिसे सत्वगुण या सूक्ष्म संवेदनशीलता कहा जा सकता है, सर्वाधिक होती है। यदि स्थूल द्रव्य में इस वौद्धिक तत्त्व या सत्त्वात्मक लक्षण का कोई भी अंश जो कि वैचारिक तत्त्व मे होता है, विल्कुल नहीं होता तो यह विचार का भाजन या विषय नही वनता क्योंकि विचार अपने आपको उस वस्तु के जो उसका विषय है आकार, प्रकार, रग और अन्य समस्त लक्षणों में ढाल लेता है। विचार मे उस पदार्थ या वस्तु का चित्र या प्रतिविम्व नही वन सकता था यदि उस वस्तु या पदार्थ में उसके कुछ गुण नही हों जिसका उनमे प्रतिविम्व वनता है। किन्तु यह सत्व गुण जो विचार मे सर्वाधिक मात्रा में है, द्रव्य मे अत्यन्त नगण्य मात्रा मे होता है। ठीक इसी प्रकार विचार मे द्रव्यमान विल्कुल दिखाई नही देता किन्तु ऐसी धारणाएँ जो द्रव्यमान से निहित है विचार मे भी दृष्टिगोचर हो सकती हैं। विचार के विम्व सीमित, पृथक्, गतिशील तथा थोड़े वहुत स्पष्ट-कारक होते है। विम्व अवकाश नही घेरते किन्तु वे अवकाश का प्रतिनिधित्व कर सकते है। विचार का सत्व गति के रज के साथ सम्वद्ध होकर समस्त पदार्थों के एक साथ पूर्ण

उद्घाटन करने मे समर्थ हो जाता किन्तु स्थूल द्रव्यमान या प्रतिरोध के गुण अर्थात् तम के कारण ज्ञान विम्व से विम्व तक क्रमिक रूप से जाता है और वस्तुओ का क्रम से ज्ञान होता है। बुद्धि (विचार द्रव्य या वैचारिक पदार्थ) मे समस्त ज्ञान अन्धकार मे डूबा हुआ (निहित) रहता है। पुरुष के आलोक के प्रतिफलन से जब अन्धकार या पर्दा उठता है तो वास्तविक ज्ञान हमे बुद्धिगोचर होता है। ज्ञान का यह लक्षण कि इसका समस्त भण्डार अन्धकारावृत्त रहता है और एक समय में एक ही चित्र या विचार उसकी गोचरता प्राप्त करता है या उसके पर्दे पर आता है यह प्रकट करता है कि ज्ञान मे भी कोई प्रतिवधक लक्षण है जिसकी अभिव्यक्ति अपने पूरे रूप मे स्थूल द्रव्य मे स्थित द्रव्यमान मे देखी जा सकती है। इस प्रकार विचार और स्थूल द्रव्य दोनो तीन तत्त्वो से वने हैं वौद्धिक गुण या सत्व, ऊर्जात्मक गुण या रज, और द्रव्यगुण या तम जो प्रतिवन्धक तत्त्व है। इन तीनो मे अन्तिम दो स्थूल द्रव्य मे प्रमुख रहते हैं और प्रथम दो विचार मे।

भाव, अन्तिम सारतत्व के रूप में[1]

इसी सन्दर्भ मे एक अन्य प्रश्न यह उठता है कि द्रव्य और प्रत्यय (विचार) के विश्लेषण के प्रसग में भाव का स्थान क्या है। सांख्य का मत है कि उन तीन लक्षणात्मक घटको मे से जिनका हमने ऊपर विवेचन किया है, सभी भाव (भावना) के ही प्रकार हैं। भाव हमारी चेतना का सवसे दिलचस्प पहलू है। भावो के स्वरूप मे ही हम यह एहसास करते है कि हमारे विचार 'हमारे' अग हैं। यदि हम किसी भी प्रत्यय को, उसके उद्भव के पहले ही क्षण में इस रूप मे विश्लेपित करते हैं कि वह किन कच्चे अविकसित सवेदनो से निर्मित हुआ है तो हमें वह एक विम्व के रूप मे नही बल्कि एक झटके के रूप मे प्रतीत होगा, हमे लगेगा कि यह एक भावनात्मक पिण्ड है, वजाय एक विम्व के। हमारे दैनिक जीवन मे भी ज्ञानात्मक व्यापार के जन्मदाता, पूर्ववर्ती तत्त्व केवल भावात्मक ही होते हैं। जव हम उद्विकासात्मक प्रक्रिया की कड़ियो मे और नीचे जाते हैं तो पाते हैं कि द्रव्य के अनेक स्वय-चल व्यापार और सम्बन्ध भावो की कच्ची अभिव्यक्तियो के रूप मे ही होते हैं जो ज्ञान के रूप मे कभी विकसित नही हो पाते। विकास की दशा या तराजू जितनी नीची होगी, भावनाओ की तीव्रता उतनी ही कम होगी, अन्तत एक नीचे की दशा ऐसी भी आएगी जवकि द्रव्यात्मक सघन भावनात्मक प्रतिक्रिया को जन्म ही नही देते, केवल भौतिक प्रतिक्रियाएँ ही पैदा करते हैं। इस प्रकार भावनाएँ चेतना के सर्वादिम पथ की सूचक हैं—चाहे हम उद्विकास की प्रक्रिया के दृष्टिकोण से देखें चाहे सामान्य जीवन मे चेतना के उद्भव के दृष्टिकोण से। जिन्हे हम द्रव्य सहितियाँ कहते हैं, वे एक निश्चित दशा पर पहुँचकर भाव सहितियाँ वन जाती हैं और जिन्हें हम भाव सहितियाँ कहते हैं वे एक निश्चित स्थिति तक जाते-जाते केवल द्रव्य-सहितियाँ रह जाती हैं जिनकी प्रतिक्रिया द्रव्यात्मक ही होती है। इस प्रकार भाव ही अपने आप मे पूर्ण वस्तु है। वे ही वह अन्तिम तत्त्व हैं जिससे कि चेतना

---

1 कारिका 12 गौडपाद और नारायण तीर्थ।

और स्थूल द्रव्य दोनों निर्मित होते हैं। सामान्यतया ऊपर से देखने पर भावों का ही अन्तिम तत्त्व मानने मे, जिससे स्थूल द्रव्य और विचार दोनों निकले हों, कुछ कठिनाई लग सकती है क्योंकि हम भावों को केवल विषयिनिष्ठ समझने के अधिक आदी हो गये हैं। किन्तु यदि हम सांख्य के विश्लेषण पर ध्यान दें तो पाएँगे कि उसके अनुसार विचार और द्रव्य एक विशिष्ट सूक्ष्म तत्त्व के ही दो विभिन्न प्रकार हैं जो साररूप मे भावात्मक इकाइयो के ही तीन भेद सिद्ध होते है। विचार और द्रव्य के तीन मुख्य लक्षण जिन्हें हमने पूर्ण भाव मे विवेचित किया है, भावात्मक तत्त्वों के ही तीन प्रकार हैं। एक वर्ग भावों का है जिसे हम दुःखात्मक कहते हैं दूसरा जिसे हम सुखात्मक कहते हैं, तीसरा न सुखात्मक है न दुःखात्मक वह अज्ञानात्मक या विषादात्मक है। इस प्रकार इन तीन अभिव्यक्तियों के प्रकारो, सुख-दुःख और विषाद, के अनुरूप तथा भौतिक रूप से प्रकाश, प्रवृत्ति और नियम के रूप में तीन भावात्मक तत्त्वों के ही प्रकार हैं जिन्हें वह अन्तिम सारतत्त्व मानना चाहिए जिससे स्थूल द्रव्य के विभिन्न प्रकार और विचार की विभिन्न श्रेणियाँ बनती हैं।

गुण[1]

सांख्य दर्शन में अन्तिम सूक्ष्म सत्ताओं के इन तीन प्रकारों को दार्शनिक भाषा मे गुण कहा गया है। संस्कृत में गुण के तीन अर्थ होते हैं (1) धर्म या लक्षण (2) रस्सी या डोरा (3) प्रमुख नही किन्तु गौण। ये सभी तत्त्व हैं, केवल लक्षण नही किन्तु इस प्रसंग में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि साख्य दर्शन में गुणों का (धर्मो का) कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। उसके अनुसार गुण की प्रत्येक इकाई एक पदार्थ या तत्त्व की इकाई हैं। जिसे हम गुण कहते हैं एक सूक्ष्म सत्ता की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति होती है। वस्तुएँ गुणों को धारण नही करतीं, गुण केवल उस प्रकार का वाचक है जिसके रूप में उस पदार्थ की प्रतिक्रिया होती है। जिस किसी पदार्थ को हम देखते हैं वह कुछ गुणों को धारण करता हुआ दिखलाई देता है किन्तु सांख्य के अनुसार प्रत्येक गुण की नई इकाई के पीछे, चाहे वह कितनी भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्यो न हो, उसी के अनुरूप एक सूक्ष्म इकाई है जिसकी प्रतिक्रिया को ही हम उसका गुण कहते है। यह बात न केवल बाह्य पदार्थो के गुणो पर ही लागू होती है बल्कि बौद्धिक गुणों पर भी यही बात लागू होती है। इन अन्तिम इकाइयों को गुण का नाम शायद इसलिए दिया गया कि वे ऐसी संज्ञाएँ है जो अपने विभिन्न प्रकारों में अपने आपको गुणों या धर्मो के रूप में अभिव्यक्त करती हैं। इन सत्ताओं को इस अर्थ मे भी गुण कहा जा सकता है कि इन रस्सियों के द्वारा ही आत्मा विचार और द्रव्य, दोनो से बँधा, संपृक्त होता रहता है। इन्हे गुण (गौण महत्त्व की चीज) इसलिए भी कहा जा सकता है कि स्थायी एवं अविनाशी होने के बावजूद गुण अपने समूहनो और पुनः समूहनों द्वारा निरन्तर रूपांतरित और परिवर्तित होते रहते हैं। वे पुरुष या आत्मा की तरह प्राथमिक और अपरिवर्ती रूप में नैरन्तर्य नही रखते। दूसरे, सृष्टिक्रम का उद्देश्य यही है कि

1. योगवार्तिक 2-18, भावागणेश की तत्त्व याथार्थ्यदीपिका पृ० 1-3 विज्ञानामृतभाष्य पृ० 100, तत्त्वकौमुदी 13, गौडपाद एवं नारायणतीर्थ 13।

पुरुषो या आत्माओ को आनन्द या मोक्ष प्राप्त हो इसलिए द्रव्य सिद्धान्त स्वभावत प्राथमिक न होकर गौण हो जाता है। किन्तु चाहे किसी दृष्टिकोण से हम गुण शब्द का निर्वचन कर औचित्य सिद्ध करना चाहें, हमे यह ध्यान रखना चाहिए कि वे भौतिक इकाइयाँ और सूक्ष्म द्रव्य है, अमूर्त धर्म नही। गुण असख्य हैं किन्तु उनके तीन प्रमुख लक्षणो के दृष्टिकोण से उन्हें तीन वर्गों मे वर्गीकृत किया गया है सत्त्व (बौद्धिक तत्त्व), रज (ऊर्जा तत्त्व) एव तम (द्रव्यतत्त्व)। सूक्ष्म द्रव्यो के रूप मे स्वय-प्रकाश और लचीले गुण तत्त्व कहलाते हैं। गति और ऊर्जा के तत्त्व वाली इकाइयाँ रजोगुण कहलाती हैं। प्रतिरोध करने वाली, द्रव्यात्मक स्थूल भौतिक इकाइयाँ तमोगुण कहलाती हैं। ये गुण विभिन्न मात्राओ और परिमाणो मे मिश्रित हो सकते हैं। (उदाहरणार्थ किसी इकाई मे सत्वगुण का प्राचुर्य और रज अथवा तम की कम मात्रा हो सकती हैं, किसी मे तामस गुण बड़ी सख्या मे हो सकते हैं, रज और सत्व के तत्त्व बहुत कम इस प्रकार अनेक मिश्रण होते हैं) इसके फलस्वरूप विभिन्न गुणो से युक्त विभिन्न पदार्थ पैदा होते हैं। विभिन्न मात्राओं मे मिश्रित होने के कारण गुण परस्पर सपृक्त रहते हैं और वे एक दूसरे पर पारस्परिक प्रतिक्रिया भी करते रहते हैं। उन प्रतिक्रियाओ के विभिन्न परिणामो से नए लक्षण, धर्म, गुण और पदार्थ पैदा होते रहते हैं। केवल एक ही ऐसी स्थिति आती है जिनमें ये गुण विभिन्न मात्राओ मे नही होते। इस स्थिति में प्रत्येक गुण तत्त्व दूसरे गुण तत्त्वो के विरुद्ध पड जाता है और इस प्रकार समान परस्पर विरोध के कारण एक सतुलन-सा पैदा हो जाता है जिसकी वजह से इन गुणो के कोई भी लक्षण अभिव्यक्त नही होते। यही वह दशा है जो नितान्त निर्लक्षण और निर्गुण होती है, वह पूर्णत असमन्वित, अनिर्धारित, अनिर्वचनीय स्थिति होती है। वह स्थिति गुण रहित समानता और साम्य की स्थिति होती है। वह दशा अस्तित्व और अनस्तित्व दोनो के प्रति समान और उदासीन दशा है। पारस्परिक सन्तुलन की इस स्थिति को प्रकृति कहते हैं।[1] यह वह स्थिति है जो किसी उद्देश्य की पूर्ति नही करती। अस्तित्व भी उसे नही कहा जा सकता, अनस्तित्व भी नहीं किन्तु धारणात्मक रूप से यह दशा सब पदार्थो की जननी है। यह आदिम दशा है, जिससे वैपम्य होकर बाद मे समस्त रूपान्तर जन्म लेते रहते हैं।

प्रकृति एवं उसका उद्‌विकास

सांख्य के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व इसी प्रकार की गुण रहित दशा थी, एक ऐसी दशा जिसमे गुणो के मिश्रण एक वैपम्य की स्थिति मे आ गए थे और परस्पर विरोध के कारण सन्तुलन की स्थिति अर्थात् प्रकृति बन गई थी। बाद मे प्रकृति में विकार उत्पन्न हुआ और उसके फलस्वरूप विभिन्न मात्राओ मे गुणों के विपम मिश्रण बनने लगे जिससे विविध प्रकार की सृष्टि पैदा हुई। इस प्रकार गुणों के पूर्ण साम्य और परस्पर विरोध की स्थिति अर्थात् प्रकृति उद्विकसित होकर धीरे-धारे निश्चित नियत, विभेदीकृत विपमजातीय और ससक्त होती गई। गुण हमेशा मिश्रित पृथग्भूत और पुनर्मिश्रित होते रहते हैं।[2] विभिन्न

---

1 योगवार्तिक 2/19 तथा प्रवचनभाष्य 1/61।

2 कौमुदी 13-16, तत्ववैशारदी 2-20,4-13,14, योगवार्तिक 4-13-14।

मिश्रित वर्गों के रूप में तत्त्व (सत्व), ऊर्जा और द्रव्यमान के विभिन्न मात्रात्मक गुण एक दूसरे पर प्रतिक्रिया करते हैं और उनकी पारस्परिक अन्तःक्रिया और परस्पर निर्भरता के कारण निर्गुण अनिर्धारित स्थिति से सगुण निर्धारित और नियत स्थिति जन्म लेती है। कार्य जगत् की सृष्टि के लिए परस्पर सहयोगी होने के बावजूद ये विभिन्न गुणों वाले विभिन्न क्षण कभी संयुक्त नहीं होते। इस प्रकार दृश्य जगत् के पदार्थों में जो भी कोई ऊर्जा है वह केवल रजोगुण के कारण ही है। समस्त द्रव्य, प्रतिरोध, स्थिरता केवल तमोगुण के कारण ही है। समस्त चिदात्मक अभिव्यक्ति सत्व गुण के कारण है। वह विशिष्ट गुण जो किसी संवृत्ति में प्रधान होता है उसमें स्पष्टतः अभिव्यक्त दिखलाई देता है, अन्य गुण अनभिव्यक्त रहते हैं। उनके कार्यों द्वारा उनका अनुमान अवश्य ही किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, एक स्थिर पिण्ड में द्रव्य स्पष्ट परिलक्षित है। ऊर्जा अनभिव्यक्त है और चिदात्मक अभिव्यक्ति का विभव अथवा क्षमता और भी अनभिव्यक्त, सुषुप्त है। एक गतिशील पदार्थ में जो गुण-प्रधान है, द्रव्य गौण हो जाता है। गुणों के ये सभी रूपान्तरण जो विभिन्न मात्राओं के कारण होते हैं अपने आदम बिन्दु के रूप में प्रकृति से ही जन्मे माने जाते हैं। उसी स्थिति में चिदात्मक अभिव्यक्ति की प्रवृत्तियाँ और गत्यात्मक शक्तियाँ जड़त्व या स्थूल भौतिकता के द्वारा पूर्णतः विप्रतिरुद्ध होती हैं, उस समय सृष्टि के उद्विकास की प्रक्रिया पूर्णतः अवरुद्ध, निश्चेष्ट होती है। जब यह सन्तुलन एक बार नष्ट हो जाता है तो यह माना जाता है कि सात्विक पदार्थों के अपने समगुणी पदार्थों के लिए संकर्षण होने के कारण, राजस पदार्थों के अपने ही समान धर्मा अन्य तत्त्वों के आकर्षण होने के कारण और इसी प्रकार तामस पदार्थों के द्वारा अन्य तामस पदार्थों का आकर्षण किए जाने के कारण विभिन्न क्षेत्रों में सत्व, रज और तम का वैषम्यपूर्ण समवाय हो जाता है। जब किसी एक विशिष्ट संस्थिति में एक गुण बहुत प्रभावी हो जाता है तो अन्य गुण उसके सहकारी रहते हैं। प्रकृति में सबसे पहली हलचल पैदा होने से लेकर समस्त सृष्टि के रूप में इस प्रपंच परिणति की होने तक यह उद्विकास की प्रक्रिया एक सुनिर्धारित विधान के अनुसार चलती है। डाक्टर[1] बी० एन० सीआल के शब्दों में "सृष्टि के उद्विकास की प्रक्रिया साम्यावस्था में से वैषम्य की अवस्था की ओर, अविशेष में से विशेष की ओर तथा अयुतसिद्ध में से युतसिद्ध की ओर विकास की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का क्रम अंश या अवयव से अंशी या अवयवी की ओर नहीं है, न ही अवयवी से अवयव की ओर बल्कि अपेक्षाकृत कम विषय से अधिक विषय, कम विशेष से अधिक विशेष और कम युतसिद्ध से अधिक युतसिद्ध अवयवी अथवा समग्र की ओर बढ़ता है।" इस उद्विकास का तात्पर्य यह है कि गुणों की उद्विकसित होने वाली संस्थितियों के रूप में समस्त परिवर्तन और रूपांतरण प्रकृति के कलेवर में ही होते हैं। प्रकृति अनन्त पदार्थों से बनी होने के कारण अनन्त है। उसमें हलचल होने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह सम्पूर्ण रूप से विचलित और असंतुलित हो गई है या प्रकृति में रहने वाले गुण समग्र रूप से संतुलन की

1. डा० बी० एन० सियाल कृत 'पाजिटिव साइन्सेज आव द एन्शेन्ट हिन्दूज', 1915 पृ० 7।

स्थिति ही खो वैठे हैं। उसका तात्पर्य केवल यह होता है कि विचार और द्रव्य के विश्वो को वनाने वाले गुणो की एक महती सख्या असतुलित हो गई है। जव एक वार ये गुण सतुलन खो देते हैं तो उसके वाद ये अपना समूहन पहले एक रूप मे करते हैं, फिर दूसरे रूप मे, फिर अन्य रूप मे, इस प्रकार यह क्रम चलता है। किन्तु समूहो के निर्माण मे यह जो परिवर्तन होता है वह इस प्रकार का नही समझा जाना चाहिए कि एक समूह वनने के वाद उसकी जगह दूसरा बनता हो और जव वह वन जाता हो तो पहला समूह पूरा नष्ट हो जाता हो। सच तो यह है कि एक स्थिति दूसरे के वाद आती है और पहली स्थिति के कुछ तत्त्वो के नये समूहन के परिणामस्वरूप दूसरी स्थिति पैदा हो जाती है। पहली स्थिति से दूसरी स्थिति मे नए समूह वनने मे जो कमी जनित होती है वह प्रकृति से नए तत्त्व लेकर पूरी हो जाती है। इस प्रकार दूसरी स्थिति के पदार्थो मे से निकलकर समूहन की तीसरी स्थिति वनती है और दूसरी स्थिति के पदार्थो मे आई कमी पहली स्थिति से कुछ हिस्सा लेकर तथा प्रकृति की पूर्वतर स्थिति से कुछ हिस्सा लेकर पूरी हो जाती है। इस प्रकार पुनर्भरण के इन क्रमो से उद्विकास की प्रक्रिया आगे वढ़ती है और धीरे-धीरे उसकी चरम-सीमा आती है जव कोई नया तत्त्व विकसित नहीं होता केवल पहले से उद्भूत पदार्थो में रासायनिक और भौतिक गुणात्मक परिवर्तनमात्र होते हैं। उद्विकास को सांख्य में तत्त्वातर-परिणाम कहा गया है जिसका तात्पर्य है सृष्टि के पदार्थो का विकास, केवल तत्त्वो के गुणों मे (भौतिक, रासायनिक, जैविक अथवा वौद्धिक) परिवर्तन मात्र नही। इस प्रकार परिणमन की प्रत्येक स्थिति सत्ता की एक निश्चित और स्थायी तत्व रहता है, वह अगली स्थितियो मे अधिकाधिक विशिष्ट और युतसिद्ध समूहो को अवसर देता है। यह कहा जाता है कि परिणमन की यह प्रक्रिया पूर्व स्थितियो मे समस्त दशाओ मे से नई स्थितियो का विशकलन करने की प्रक्रिया (जिसे ससृष्ट विवेक कहा गया है) मानी जाती है।

प्रलय एवं प्रकृति संतुलन मे विचलन

अव, प्रकृति मे किस प्रकार और क्यो विचलन होता है, यह सांख्य का एक वडा जटिल विषय है। यह माना जाता है कि प्रकृति अथवा गुणो का पूर्ण सघात पुरुषो के साथ इस प्रकार सम्बद्ध है तथा निर्जीव प्रकृति मे इस प्रकार की एक अन्तर्निहित प्रायोजनवत्ता अथवा अनिर्धारित उद्देश्य विद्यमान है कि विभिन्न पुरुषो के लिए उसका परिणमन और रूपातरण होने लगता है, उससे सुखो और दु खो का भोग अनुभवो के द्वारा होता है और अन्तत वे पूर्ण मुक्ति को प्राप्त हो पाते हैं। प्रकृति की उस प्रलय दशा में विविध प्रकार के इस सृष्टि प्रपच का लौट जाना तव घटित होता है जव समस्त पुरुष समस्त अनुभवो की अस्थायी समाप्ति तक पहुँच जाएँ। उस क्षण मे गुणो के समूह धीरे धीरे विघटित हो जाते हैं और प्रतिगमन या प्रतिसचार होने लगता है और अन्तत गुण अपनी प्राथमिक विघटित स्थिति को पहुँच जाते हैं जवकि उनका पारस्परिक विरोध उनमें सतुलन पैदा करता है। यह सतुलन केवल एक निष्क्रिय स्थिति नही है वहुत तनाव की स्थिति है, वहुत तीव्र क्रिया

की स्थिति है किन्तु यहाँ यह क्रिया नए पदार्थों और गुणों को जन्म नही देती याने विसदृश-परिणाम पैदा नही करती। वह परिणाम स्थगित रहता है, सन्तुलन की वही स्थिति याने सदृश, परिणाम दोहराई जाती रहती है जिससे कोई परिवर्तन या नया उत्पादन नही होता। इस प्रकार प्रलय दोनों की प्रयोजनवत्ता अथवा उद्देश्य का स्थगन नहीं है, न ही वह गुणों के उद्विकास के क्रम मे पूर्ण निरोध है। प्रलय की स्थिति तो एक प्रकार से संसारचक्र की स्थितियों का ही एक क्रम है क्योंकि पुरुषों के संचित कर्मों की अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए पुरुष उत्पन्न होता है और उस स्थिति में भी गुणों की एक गतिविधि इस दृष्टि से चलती रहती है कि वे उत्पादन को स्थगित रखते है। अवश्य ही मुक्ति की दशा (मोक्ष) इससे बिलकुल विभिन्न है क्योकि उस स्थिति मे गुणों के समस्त व्यापार हमेशा के लिए बन्द हो जाते हैं जहाँ तक उस मुक्त आत्मा का सम्बन्ध है। अब यह प्रश्न तो फिर भी वही रहता है कि सन्तुलन स्थिति कैसे टूटती है ? सांख्य इसका यह उत्तर देता है कि ऐसा पुरुष के अनुभवातीत (यान्त्रिक नही) प्रभाव से होता है।[1] इसका अर्थ कुछ इस प्रकार है कि गुणों मे इस प्रकार की प्रयोजनवत्ता अन्तर्निहित रहती है कि उनके समस्त व्यापार और रूपान्तरण इस प्रकार हों कि उससे पुरुषों का उद्देश्य सिद्ध हो। जब पुरुषो के कर्मो ने यह अपेक्षा की कि समस्त अनुभवों का स्थगन हो जाय तो एक कालावधि के प्रलय हो गया। उसके बाद यही प्रकृति की अन्तर्निहित प्रयोजनवत्ता पुरुषों के अनुभवों के लिए उपयुक्त एक संसार की रचना करने के लिए उसे पुनः जगाती है और उससे वह निश्चलता की स्थिति विचलित होती है। यह प्रकृति की अन्तर्निहित प्रयोजनवत्ता की मीमांसा का एक दूसरा मार्ग है जो यह अपेक्षा करती है कि प्रलय की स्थिति समाप्त हो और सृष्टि की रचना की प्रक्रिया की स्थिति पुनः शुरू हो। चूँकि गुणों मे एक उद्देश्य है जो उन्हें संतुलन की स्थिति में लाता है। यह संतुलन की स्थिति भी निश्चय ही यह अपेक्षा करती है कि जब उस उद्देश्य की ऐसी अपेक्षा हो तो वह स्थिति टूट जाय। इस प्रकार प्रकृति का अन्तर्निहित उद्देश्य ही प्रलय की स्थिति लाता है और वही सृष्टि के लिए पुनः उसे तोड़ता है। प्रकृति मे यही नैसर्गिक परिवर्तन दूसरे शब्दो मे पुरुषों का अनुभवातीत प्रभाव कहा जा सकता है।

महत् एवं अहंकार

प्रकृति मे सत्व के आधिक्य द्वारा सर्वप्रथम विकास जन्मता है। वस्तुतः यही सर्वादिम स्थिति है जिससे समस्त सृष्टि उद्भूत होती है, यह वह स्थिति है, जब सत्व की मात्रा प्रमुख होती है। इस प्रकार प्रलय के दौरान जो पुरुषो की बुद्धियाँ नष्ट हो गई थीं वे उस स्थिति में अन्तर्निहित रहती हैं। पुरुषों की अपेक्षा को पूरा करने हेतु प्रकृति के विकास का पहला कार्य इस प्रकार अभिव्यक्त होता है कि वह प्रत्येक पुरुष की बुद्धियों अथवा मनो को जो अपने आप में विशिष्ट अविद्या को निहित रखते हैं प्रत्येक पुरुष के साथ पृथक् कर देती

1. योग का उत्तर कुछ दूसरे प्रकार का है। उसका विश्वास है कि प्रकृति के संतुलन में विचलन और उसके कारण नई सृष्टि का उद्भव ईश्वरेच्छा से होता है।

है जिससे कि प्रलय के पूर्व अनादिकाल मे वह बुद्धि सम्वद्ध रही होती है। विकास की इस स्थिति को जिसमे समस्त पुरुपो की सचित बुद्धियाँ एक साथ होती हैं, बुद्धित्व कहा जाता है। यह वह स्थिति होती है जिसमें समस्त व्यक्तियो की बुद्धियाँ गर्भित होती हैं। व्यक्ति-पुरुषों की व्यक्ति बुद्धियाँ एक ओर तो इस बुद्धि तत्त्व मे समाई होती हैं और दूसरी ओर अपने-अपने विशिप्ट पुरुपो के साथ जुडी होती हैं। जव बुद्धियाँ प्रकृति से पृथक् होने लगती हैं तव बुद्धियो के विकास की क्रिया आरम्भ होती है। दूसरे शब्दो मे, हम यो समझें कि पुरुपो की सेवा के ि.ए जव बुद्धियो का रूपातरण होता है तो प्रकृति मे से जो भी अन्य सीधे रूपातरण होते हैं वे सभी एक ही दिशा मे होते हैं अर्थात् कुछ बुद्धियो के पृथक्करण द्वारा जव सत्व की प्रमुखता या आधिक्य हो जाता है तो प्रकृति के अन्य परवर्ती रूपातरणो मे भी वही सत्व का प्रामुख्य रहता है उन रूपातरणो मे भी उन प्रथम बुद्धियो के समान ही तत्त्व रहते हैं। इस प्रकार प्रकृति का पहला रूपातरण बुद्धि रूपातरण होता है। बुद्धियो की यह स्थिति एक तरह से सबसे अधिक व्यापक स्थिति कही जा सकती है जिसमें समस्त व्यक्तियो की बुद्धियाँ गर्भित रहती हैं और बिम्ब रूप मे, बीज रूप में यह समस्त द्रव्य रहता है जिससे स्थूल जगत् बनता है। इस दृष्टिकोण मे यह सबसे व्यापक और सृष्टि की महान् सत्ता कही जा सकती है, अत इसे महत् कहा गया है। इसे लिंग भी कहा गया है क्योंकि अन्य परवर्ती सत्ताएँ अथवा विकास हमें इसकी सत्ता के अनुमान का आधार देती है और इस प्रकार यह प्रकृति से विभिन्न है क्योकि प्रकृति अलिग है अर्थात् जिसका कोई लक्षण निर्धारित न हो।

जव महत्तत्त्व का उद्भव होता है तो उसके वाद के रूपान्तरण तीन दिशाओ मे तीन विभिन्न धाराओं के द्वारा होते हैं जो सत्व प्राधान्य, रज प्राधान्य और तम प्राधान्य का प्रतिनिधित्व करते है। वह स्थिति जब महत् तीन समानान्तर प्रवृत्तियो अर्थात् तम, रज और सत्व के प्राधान्य द्वारा विचलित होता है। इन तीन प्रवृत्तियो को क्रमश तामसिक अहकार अथवा भूतादि, राजसिक अहकार अथवा तेजस और वैकारिक अहकार कहा जाता है। राजसिक अहकार अपने स्वय का प्राधान्य सूचित नही करता, वह सत्वप्रधान रूपांतरण और तम प्रधान रूपातरण मे सहकारी ही होता हैं। तत्त्व प्रधान विकास बुद्धि के अधिकाधिक निश्चित अथवा नियत लक्षण की मान्यता ही सिद्ध करता है क्योकि जैसा ऊपर वताया गया वुद्धि स्वय सत्व प्रधान रूपान्तरण का परिणाम है। सात्विक विकास की दिशा मे रज की सहायता से आगे विकास तभी हो सकता है जब बुद्धि मन की तरह अपने आपको विशिष्ट मार्गो मे नियत और निर्धारित करे। इस दिशा मे बुद्धि का परम विकास सात्विक अथवा वैकारिक अहकार कहा जाता है। यह अहकार बुद्धि के अहता या ममता की चेतना के विकास का प्रतिनिधि है, वह बुद्धि वाली पहली स्थिति से इस दृष्टि से विभिन्न है कि उस स्थिति का कार्य केवल ज्ञान अथवा सत्ता का जानना है।

अहकार (अभिमानद्रव्य) सामान्य चेतना की वह विशिष्ट अभिव्यक्ति है जो किसी अनुभव को मेरा बनाती है। अहकार का कार्य इसीलिए अभिमान (स्वय की मान्यता) कहा

जाता है। इससे, तदनतर, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ आती हैं--चक्षु, स्पर्श, घ्राण, रसना और श्रवण। पाँच कर्मेन्द्रियाँ आती हैं---वाणी, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ। फिर प्राण (मन:पेशीय शक्ति) जो ज्ञान और कर्म दोनों को प्रेरणा देता है। ये सभी जीवन के वौद्धिक व्यापार के पक्ष हैं। व्यक्तिगत अहंकार और इन्द्रियाँ व्यक्ति वुद्धियों से सम्वद्ध रहती हैं, वे उन सत्व-निर्धारणो के विकास का फल है जिनसे वे जन्म लेती हैं। प्रत्येक वुद्धि में अपने अहंकार और इन्द्रियों के विकास निहित है और इस प्रकार वे एक सूक्ष्म विश्व है जो अन्य वुद्धियों के सूक्ष्म विश्वो से अलग-अलग स्थित होते है। जहाँ तक ज्ञान इन्द्रिय सन्निकर्ष तथा अहंकार का विषय होता है वह प्रत्येक व्यक्ति में विभिन्न होता है किन्तु एक सामान्य वुद्धि (कारण वुद्धि) भी होती है जो ऐन्द्रिय ज्ञान से पृथक् होती है, उसमें समस्त वुद्धियां निहित होती हैं, वह वुद्धितत्त्व है किन्तु उसमें भी अपनी-अपनी अविद्याओ से सम्बद्ध होने के कारण प्रत्येक वुद्धि अलग इकाई के रूप में भी स्थित होती है। वुद्धि एवं उसके सात्विक परिणाम अर्थात् अहंकार और इन्द्रियाँ उस प्रकार सम्वद्ध हैं कि वे अपने व्यापारों में पृथक् होते हुए भी वुद्धि में स्थित है और उसके ही आंशिक परिणाम एवं प्रकार हैं। इस सन्दर्भ में यहाँ हमें पुनर्भरण वाला सिद्धान्त फिर याद रखना होगा। जब वुद्धि अहंकार को जन्म देने के कारण कुछ खाली हो जाती है तो उसकी क्षतिपूर्ति प्रकृति द्वारा कर दी जाती है, अहंकार इन्द्रियों को जन्म देने के कारण जव कुछ खाली हो जाता है तो उसकी क्षतिपूर्ति वुद्धि द्वारा कर दी जाती है। इस प्रकार परिवर्तन और क्षति की प्रत्येक स्थिति में उससे ऊपर वाले तत्त्व द्वारा क्षतिपूर्ति कर दी जाती है और अन्ततः प्रकृति समस्त क्षतिपूर्ति करती है।

तन्मात्र एवं परमाणु[1]

तम की प्रवृत्ति मुक्त रज और अहंकार की सहायता से प्राधान्य प्राप्त करती है; तभी तम सत्व की प्रवृत्ति पर जो वुद्धि में प्रमुख होता है, विजय प्राप्त करके, भूतादि के रूप मे अभिव्यक्त होता है। इस भूतादि से रज की सहायता से तन्मात्र पैदा होते हैं जो स्थूल द्रव्यों के जनक कारण है। इस प्रकार भूतादि एक वीच की स्थिति है जो महत् मे तामस पदार्थों के विभिन्न वर्गों और समूहनो का प्रतिनिधित्व करती है जिससे कि तन्मात्रों का जन्म होता है। इस वात पर साख्य और योग के वीच कुछ मतभेद हैं कि तन्मात्र महत् से जन्मते है या अहकार से। हम इस स्थिति को यो समझ सकते हैं कि यहाँ उद्विकास का तात्पर्य उद्भव या जन्म लेना नही है किन्तु एक विकासमान तत्त्व के अन्दर समन्वित रूप से किसी वर्ग-विशेप की वृद्धि या विशिष्ट को ही वहाँ उद्विकास कहा गया है। तामस पदार्थों के

---

1. इस परिच्छेद में तथा अगले परिच्छेद में मैने डा० सियाल द्वारा किए गए अंग्रेजी अनुवाद की अनेक अंग्रेजी संज्ञाएँ संस्कृत की दार्शनिक संज्ञाओ के अनुवाद के रूप मे यों की यो ग्रहण की हैं। रायकृत हिन्दू केमिस्ट्री मे दिए गए अनुसार इस विषय के स्पष्ट विवेचन के लिए मैं डा० सियाल का आभारी हूँ। मूल ग्रन्थों के आधार पर सांख्य दर्शन की भौतिकी की व्याख्या का श्रेय पूर्णतः उन्ही को जाना चाहिए।

पुन समूहन से ऐसी विशिष्टि महत् मे जन्म लेती है किन्तु उसका माध्यम भूतादि होता है। भूतादि पूर्णत समरूप और निश्चल होता है, सिवा द्रव्यमान के उसमे कोई भौतिक या रासायनिक लक्षण नही होता। अगली स्थिति अर्थात् तन्मात्र सूक्ष्म द्रव्य का प्रतिनिधित्व करती है जो कम्पमान, व्याघातमक, विकिरणशाली और अन्तर्निहित ऊर्जा से युक्त होता है। ये विभव (अन्तर्निहित ऊर्जाएँ) मूल द्रव्य इकाइयो के विभिन्न मात्राओं मे असम वितरणो और रज की (ऊर्जा) विभिन्न मात्राओं के सयोग से उद्भूत होते हैं। तन्मात्रो मे केवल द्रव्यमान और ऊर्जा ही नही होती, उनमें कुछ भौतिक लक्षण भी होते हैं, कुछ मे भेदनीयता कुछ मे परिमाण, कुछ मे ताप, कुछ में स्नेहन आदि गुण होते हैं।[1]

इन भौतिक लक्षणों से सम्बद्ध रहते हुए उनमे वीजरूप मे शब्द, स्पर्श, रग, रस और गन्ध भी होते हैं, किन्तु सूक्ष्म द्रव्य होने के कारण उनमे स्थूल द्रव्यों के वे रूप नहीं होते जो अणुओ, परमाणुओ या उनके सयोगो मे वाद में दिखते हैं। दूसरे शब्दो मे, वीज रूप मे उनमे जो विभव निहित है उन्हें स्थूल द्रव्य के रूप में हमारे इन्द्रियगम्य होने के लिए आगे और कुछ विशिष्ट पुन समूहन या रूपांतरण की स्थितियो से गुजरना होता है, उनमे द्रव्यो के इन्द्रियगम्यता गुण अनुद्भूत नही होते हैं, अतीन्द्रिय होते हैं।[2]

तन्मात्रो मे से शब्द अथवा आकाश-तन्मात्रा भूतादि से सीधे जन्म लेती है, उसके वाद स्पर्श अथवा वायु तन्मात्र आता है जो भूतादि के तम की एक इकाई के साथ आकाश तन्मात्र के सयोग से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार प्रकार भूतादि के तम के सयोग से रूप-तन्मात्र, रसतन्मात्र अथवा अप्तन्मात्र पैदा होता है। इस अप्तन्मात्र मे तम के सयोग से गध-तन्मात्र अथवा क्षिति-तन्मात्र निकलता है।[3] तन्मात्रो और परमाणुओ मे यह भेद है कि उनमें केवल इन्द्रिय-गम्यता की अन्तर्निहित वीजशक्ति ही होती है, इन्द्रियगम्य होने के लिए उन्हे सत्ता की नई स्थिति मे पुन समूहन द्वारा गुजरना होता है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि यहाँ स्थूल विषयो का क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योम के रूप मे वर्गीकरण, रासायनिक विश्लेषण पर आधारित नहीं है किन्तु पाँच इन्द्रियो के दृष्टिकोण से उन्हे इन पाँच वर्गो मे रखा गया है जिनसे कि हम उनका ज्ञान प्राप्त करते हैं। हमारी पाँच इन्द्रियो मे से प्रत्येक एक विशिष्ट गुण का ही ग्रहण कर सकती है इसलिए पाँच तत्त्वो को उन पाँच इन्द्रियों के गुणो के रूप मे वर्गीकृत कर दिया गया। उन पाँच तत्त्वो की सत्ता को मान लेने पर उनको जन्म देने वाली पाँच अन्य आधारभूत विभवात्मक स्थितियों को भी मानना पडा जिन्हे तन्मात्र नाम देकर पाँच स्थूल द्रव्यो की आधारभूत स्थितियाँ वतलाया गया।

---

1 डा० सियाल कृत 'पाजिटिव साइन्सेज आव द एन्शेन्ट हिन्दूज।

2 वही।

3 सांख्येतर वाङ्मय मे भी विभिन्न प्रकारों से तन्मात्रो और परमाणुओ के उद्भव का वर्णन दिया हुआ है। डा० सियाल कृत पाजिटिव साइन्सेज आव द एन्शेन्ट हिन्दूज में इसका कुछ विवेचन उपलब्ध है।

तन्मात्रों से परमाणुओं के पाँच वर्ग इस प्रकार उद्भूत हुए—शब्द तन्मात्र द्वारा भूतादि से आधारभूत द्रव्य के संयोग से आकाश परमाणु पैदा हुआ। स्पर्श तन्मात्र द्वारा शब्द तन्मात्र के द्रव्य के संयोग से वायु परमाणु पैदा किया गया। प्रकाश और ताप के तन्मात्रों के साथ स्पर्श और शब्द तन्मात्रों के संयोग से तेजस् परमाणु पैदा हुए। प्रकाश और ताप के तत्त्वों के साथ रस तन्मात्रों के संयोग से अप् परमाणु हुए और उनके साथ गन्ध तन्मात्रों के संयोग से क्षिति परमाणु। आकाश परमाणु में अवकाश या भेदनीयता होती है, वायु परमाणु में दाब, तेजस् परमाणु में विकिरणशाली ताप एवं प्रकाश, अप् परमाणु में श्यान आकर्षण तथा क्षिति परमाणु मे संयोजी आकर्षण होता है। जैसा ऊपर बताया गया आकाश भूतादि से तन्मात्र तक तथा तन्मात्र से परमाणु उत्पादन तक परिवर्तन की शृंखला की बीच की सीढ़ी का काम करता है अत: इसका विशेष विवेचन उचित होगा। साख्य कारण आकाश और कार्य आकाश के बीच भेद करता है। कारण आकाश (जो सर्व व्यापी है परमाणु वाला नही) निराकार तम ही है जो प्रकृति में द्रव्यमान या भूतादि है। यह सब जगह रहता है, यह केवल अभावात्मक नही है इसमें केवल आवरणाभाव अथवा शून्यता है। जब ऊर्जा इस तामस तत्त्व से सर्वप्रथम संयुक्त होती है तो उससे शब्द तन्मात्र पैदा होता है, आणविक आकाश भूदादि में से प्राथमिक द्रव्यमान इकाइयों के साथ इसी शब्द तन्मात्र के संयोग या समन्वय का परिणाम है। ऐसे आकाश परमाणु को कार्याकाश कहा जाता है। यह सर्वत्र स्थित रहता है और मूल कारण आकाश मे वायु परमाणुओं के विकास के माध्यम के रूप में अवस्थित रहता है। आणविक होने के कारण यह बहुत कम स्थान घेरता है।

अहंकार को तथा पाँच तन्मात्रों को दार्शनिक भाषा में अविशेष कहा गया है क्योंकि सत्ता की नई इकाइयों के निर्माण के लिए उनके आगे और विशेषीकरण या विभेदीकरण सम्भव है। ग्यारह इन्द्रियों और पाँच अणुओं को विशेष कहा गया है क्योंकि उनके आगे भेद या पदार्थ अथवा सत्ता की नई इकाइयाँ नही बनती। इस प्रकार प्रकृति मे विकास की जो प्रक्रिया शुरू होती है वह एक ओर इन्द्रियों की उत्पत्ति के साथ और दूसरी ओर परमाणुओ की उत्पत्ति के साथ चरम सीमा तक पहुँचती है। परमाणु-जनित पदार्थों में परिवर्तन अवश्य होते हैं किन्तु वे परमाणुओ की आकाश में अवस्थिति के अनुसार गुणों मे परिवर्तन ही है अथवा नये परमाणुओं और उनके नए संगठन के कारण हुए परिवर्तन हैं। इन्हें कोई नया पदार्थ नही कहा जा सकता जो कि पारमाणविक संयोगों से अलग कोई चीज हो। पदार्थों के पारमाणविक घटन मे जो परिवर्तन होते हैं उसका विवेचन अवश्य किया जाएगा किन्तु उसके पूर्व कार्य-कारण-भाव के उस सिद्धान्त का विवरण देना उचित होगा जिसके आधार पर सांख्य-योग दर्शन की सृष्टिरचना-प्रक्रिया ठीक तरह समझी जा सके।

कारणता सिद्धान्त एवं शक्ति संरक्षण का सिद्धान्त[1]

यह प्रश्न उठता है कि प्रकृति में अपने एक विकार अथवा विकासज पदार्थ की उत्पत्ति

1. व्यासभाष्य एवं योगवार्तिक 4-3; तत्त्ववैशारदी 4-3।

के कारण जो कमी आ जाती है और उनसे हुए अन्य विकासो के कारण जो कमी आती है उसका पुनर्भरण कैसे होता है ? महत् मे तन्मात्र के उद्भव से अथवा तन्मात्रो से परमाणु के उद्भव से महत् मे और तन्मात्रो मे जो क्षति हुई प्रकृति उसकी पूर्ति कैसे करती है ?

दूसरे क्षेत्र में परमाणु की स्थितियो में जो परिवर्तन होते हैं जैसे दुग्ध जैसे स्थूल पदार्थ मे दही बनते समय जो रूपान्तर होता है उसके पीछे क्या सिद्धान्त है ? साख्य कहता है कि 'सृष्टि की उत्पत्ति के समय ऊर्जा का कुल परिमाण अपरिवर्तित रहता है, कार्य और कारण इसी परमशक्ति के अन्दर होने वाले विकास या परिवर्तन हैं। कारणो मे कार्य बीज रूप मे रहते हैं। उनका समूहन अथवा सस्थिति ही बदलती है, उससे गुणो की कुछ सुपुप्त शक्तियाँ अभिव्यक्त हो जाती हैं, किसी नई चीज का उद्भव नहीं होता। जिसे हम समवायि-कारण कहते हैं वह केवल वह शक्ति होती है जो उत्पत्ति का निमित्त बनती है अथवा शक्ति का वाहक ही कारण कहा जाता है। यह शक्ति ऊर्जा का अनभिव्यक्त रूप है जो कार्य मे आकर अभिव्यक्त (उद्भूत-वृत्ति) हो जाता है। किन्तु कुछ सहकारी शक्तियाँ उस कारण को कार्य रूप मे परिणत करने की प्रक्रिया चलाने मे सहयोग देती हैं'।[1]

कार्य की उत्पत्ति (जैसे मूर्तिकार की कला द्वारा सगमरमर मे एक मूर्ति की अभि-व्यक्ति) अनभिव्यक्त अवस्था से वास्तविक अभिव्यक्ति की अवस्था मे आने की प्रक्रिया ही है। सहकारी शक्ति अथवा निमित्त कारण (जैसे मूर्तिकार की कला) इस प्रक्रिया या रूपांतरण में केवल यांत्रिक अथवा साधनात्मक सहायता देती है।[2] इस प्रकार 'प्रकृति से पुनर्भरण' के सिद्धान्त का तात्पर्य यही है कि प्रकृति की अन्तर्निहित प्रयोजनवत्ता के कारण तत्त्वों का इस प्रकार सगठन होता है कि वे महत् के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं तथा महत् के तत्त्वो का ऐसा सगठन होता है कि वे भूतादि अथवा तन्मात्रों में अभिव्यक्त हो जाते हैं।

योग ने इस प्रक्रिया का विवेचन सुपुप्त अथवा बीज भूत शक्ति के मुक्त होने और उसके रूपान्तरण के आधार पर अधिक स्पष्टता से किया है। भौतिक कारणो मे वह शक्ति बीज रूप मे रहती है जो कार्य के रूप मे अभिव्यक्त होती है। जब किसी सस्थिति मे भौतिक कारणो के साथ निमित्त कारण का सयोग होता है तो एक ऐसी प्रवर्तकता प्रतिबन्ध की निवृत्ति में प्रेरक होती है जो निष्क्रिय सतुलन मे हलचल पैदा करती है और शक्ति को मुक्त कर देती है, साथ ही नई सस्थिति को भी पैदा कर देती है (गुण सनिवेशाऽविशेष)। जैसे एक खेत का स्वामी पास वाले दूसरे खेत मे भरा पानी अपने खेत मे लाने के लिए बीच में बनी हुई मिट्टी की डोली (बाड) को हटा देता है जिससे पानी अपने आप खेत मे बहता चला आता है उसी प्रकार असमवायि कारण या निमित्त कारण (जैसे मूर्तिकार की कला) वे विघ्न दूर कर देते हैं जो एक स्थिति से दूसरी स्थिति मे परिवर्तित होने के प्रतिबन्धक होते हैं ताकि शक्ति उस स्थिति से उसी के अनुरूप वह निकलती है और दूसरी स्थिति का

---

1 रे कृत हिस्ट्री आव हिन्दू केमिस्ट्री, पृ० 72।

2 वही, पृ० 73।

निर्माण करती है। जो शक्ति दुग्ध अणुओं के रूप में स्थित होकर दुग्ध का निर्माण करती है वह दुग्ध रूप में प्रतिबंधित हो जाती है। जब गर्मी अथवा अन्य कारणों से वह प्रतिबंध दूर हो जाता है तो वह शक्ति दिशा बदलकर उसी के अनुरूप दही के परमाणुओं के रूप में परिवर्तित हो जाती है। ठीक इसी प्रकार प्रकृति से, ईश्वर की इच्छा के कारण जब प्रतिबंध दूर हो जाते हैं तो प्रकृति मे संतुलन की स्थिति में स्थित तत्त्व प्रतिबन्ध-हीन होकर महत् आदि के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।

परिवर्तन अर्थात् नई संस्थितियों का निर्माण

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि किसी पदार्थ को बनाने वाले परमाणुओं की संस्थिति तब तक परिवर्तित नही होती जब तक उसके अन्तर्निहित प्रतिबन्ध अथवा वर्तमान संस्थिति के निर्माण द्वारा कारित प्रतिबन्ध किसी बाहरी निमित्त द्वारा हटाये नही जाते। समस्त द्रव्य, क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योम के पाँच परमाणुओं के संयोग से बने होते हैं। एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य में जो भेद होता है वह केवल इसलिए कि उनमें परमाणुओं के संयोग या समूहन या संस्थितियो की मात्राओं का भेद होता है। एक संयोग के निर्माण के बाद परिवर्तन का एक नैसर्गिक प्रतिबन्ध रहता है जो परिवर्तन में प्रतिवन्धक होता है और उस संस्थिति को संतुलित रखता है। स्वभावतः ऐसे अनन्त प्रतिबन्ध विश्व के अनन्त पदार्थों में रहते हैं। वह प्रतिबन्ध जहाँ कही से हट जाता है तो शक्ति उसी दिशा में वह निकलती है और तदनुरूप अन्य पदार्थ के निर्माण में सहायक होती है। प्रतिबन्धकों के निवारण के द्वारा किसी भी पदार्थ का इस प्रकार अन्य पदार्थ मे परिवर्तन हो सकता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि योगी लोग ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेते हैं जो किसी भी प्रतिबन्धक का निवारण कर सकती है और इस प्रकार वे किसी भी पदार्थ को किसी भी पदार्थ मे परिवर्तित कर सकते हैं। सामान्यत तो परिवर्तन का यह क्रम निर्धारित नियम के अनुसार चलता है जो बदला नही जा सकता (परिणाम क्रम नियम)। दूसरे शब्दो मे कुछ ऐसे नैसर्गिक प्रतिबन्ध होते हैं जो हटाये नही जा सकते। परिणमन का क्रम उन्हें छोड़कर अन्य दिशाओं में ही जाता है। केसर कश्मीर में ही हो सकती है, बगाल मे नहीं। यह देश का प्रतिबन्ध है (देशापबन्ध)। कुछ धान वर्षा मे ही होते हैं, यह काल का प्रतिबन्ध है (कालापबन्ध)। हिरण आदमी को जन्म नही दे सकता, यह आकार का प्रतिबन्ध है (आकारापबन्ध)। दही दूध से ही बन सकता है, यह कारण का प्रतिबन्ध है (निमित्तापबन्ध)। सृष्टि का नियम इस प्रकार उसी दिशा मे परिणाम पैदा करता है जहाँ मार्ग मे कोई प्रतिबन्ध नही है।[1]

परिवर्तन सर्वत्र होता रहता है। अणु से लेकर महान् तक छोटे से लेकर बड़े तक। परमाणु और तत्त्व निरन्तर सृजनशील रहते हैं, प्रत्येक पदार्थ में परिवर्तित होते रहते हैं। प्रत्येक क्षण में समस्त जगत् परिवर्तित होता रहता है। परमाणुओं का संयोग अगले क्षण वह नही रहता जो पहले क्षण था। जब ये परिवर्तन प्रत्यक्ष करने योग्य होते है तो हमें धर्म या

---

1. व्यासभाष्य, तत्त्ववैशारदी एवं योगवार्तिक 3-14।

गुण मे परिवर्तन (धर्म परिणाम) दिखलाई देता है। किन्तु प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष, परिवर्तन सदा होता रहता है। यह परिवर्तन एक दूसरे दृष्टिकोण से देखने पर वर्तमान या भूत के रूप मे या नए अथवा पुराने के रूप में भी दिखलाई देते हैं, तब इन्हें क्रमश लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम कहा जाता है। हर क्षण हर पदार्थ विकास अथवा परिवर्तन द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्य, नया, पुराना या अजन्मा के रूप मे वदलता रहता है। जव परिवर्तन वीज रूप मे होता है तो उसे भविष्य कहते हैं, अभिव्यक्त रूप में वह वर्तमान होता है, जव वह पुन सुपुप्त हो जाता है तो उसे भूत कहते हैं। इस प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमान पदार्थ अव्यक्त, वीज और व्यक्त के रूप मे होने वाले परिणाम या परिवर्तन ही हैं।[1]

कार्यकारण भाव सत्कार्यवाद के रूप में (कारण द्वारा जनित होने के पूर्व बीज रूप में कार्य की सत्ता का सिद्धान्त)

ऊपर के विवेचन के साथ ही हम साख्य दर्शन के कार्य-कारण भाव सिद्धान्त के एक महत्त्वपूर्ण विपय 'सत्कार्यवाद' पर आते हैं। सांख्य का मत है कि ऐसी कोई भी चीज पैदा नहीं हो सकती जो पहले से ही विद्यमान न हो। कार्य की उत्पत्ति का मतलव केवल यह है कि कारण में योगों के परिवर्तन से ऐसा गुण व्यक्त हो गया है जो वीज रूप मे पहले से ही विद्यमान था। कार्य की उत्पत्ति कारण मे परमाणुओं के सयोगो का आन्तरिक परिवर्तन ही है जो ऐसे परिवर्तन के प्रतिवन्धक होने की वजह से नही हो रहा था. प्रतिवन्ध हटते ही नया सयोग अर्थात् कार्य उत्पन्न हो गया। इस सिद्धान्त को सत्कार्यवाद कहते हैं अर्थात् कार्य पहले भी सत् (अस्तित्व में) था, कार्योत्पत्ति की क्रिया के शुरू होने के पूर्व भी। इस दृष्टि से सरसो में तेल पहले से विद्यमान है, पत्थर मे मूर्ति, दूध मे दही। कार्यव्यापार उसे, जो पहले तिरोहित था, आविर्भूत मात्र कर देता है।[2]

वौद्ध भी परिवर्तनवादी थे, किन्तु परिवर्तन का मतलव नई उत्पत्ति ही मानते थे। प्रत्येक क्षण परिवर्तन होता है, उसके साथ धर्म दूसरे क्षण ही वदल जाता है। वे परिवर्तन-

---

1. यहाँ यह ध्यान देने योग्य वात है कि साख्य योग, न्यायवैशेपिक के समान समय को एक अलग पदार्थ नहीं मानता। समय केवल क्षणों के उस क्रम का प्रतिनिधित्व करता है जिनमें मन जगत् प्रपंच में हो रहे परिवर्तनो की अनुभूति करता है। इसलिए यह बुद्धि की ही उपज (बुद्धि निर्माण) है। अणु अपने परिमाण में देश काल मे स्पदित होने मे जो समय लेता है उसे क्षण कहा जाता है—जो समय की एक इकाई है। विज्ञान भिक्षु ने गुणो या पदार्थो के स्पन्दन की एक इकाई को क्षण माना है। जव विद्या के कारण गुणों का अपने यथार्थ स्वरूप मे परिज्ञान हो जाता है तो देश और काल के सम्वन्ध में समस्त भ्रमात्मक धारणाएँ समाप्त हो जाती हैं (व्यासभाष्य, तत्त्ववैशारदी, योगवार्तिक 3-52 तथा 3/13)।
2 तत्वकौमुदी, 9।

शील धर्म और आकार एवं गुण ही मानते थे, कोई स्थायी धर्म या पदार्थ उनके मत में नहीं है। सांख्य भी धर्मों मे परिवर्तन बतलाता है पर उसके अनुसार ये धर्म स्थायी पदार्थों की बदलती हुई स्थितियों का ही प्रतिनिधित्व करते है। संयोग और सम्मितियां प्रतिक्षण बदलती रहती है किन्तु तत्व अपरिवर्तित है। बौद्धों के अनुसार कार्य भी अनित्य है, वह एक क्षण के लिए पैदा होता है और फिर नष्ट हो जाता है। इस सिद्धान्त के आधार पर तथा शून्यवादी होने की दृष्टि से उन्हें वेदान्ती वैनाशिक (विनाशवादी) कहते है। इस सिद्धान्त को सांख्य के सिद्धांत से विपरीत, असत्कार्यवाद कहा जाता है। जैनों के मत में दोनों सिद्धान्त किसी न किसी दृष्टि से ठीक हैं। एक दृष्टि से सत्कार्यवाद ठीक है दूसरी दृष्टि से असत्कार्यवाद। सांख्य का यह मत कि कारण अपने आप को कार्य के रूप में निरन्तर परिणत करता रहता है "परिणामवाद" कहा जाता है, वेदान्तियो का मत विवर्तवाद कहा जाता है क्योंकि वे मानते है कि कारण सदा वही रहता है, उसमे जो कार्य दिखलाई देते है वे केवल नाम और रूप के मिथ्या आभास है, माया मात्र है।[1]

सांख्य का अनीश्वरवाद और योग का ईश्वरवाद

यह तो मान लिया कि तत्त्वों की अनन्त संख्या में स्थितियों के पारस्परिक परिवर्तन से समस्त जगत् और उसके परिणाम उत्पन्न हुए किन्तु जगत् का नियत विधान, कार्य कारण का नियम, कारण के कार्य बनने मे प्रतिबन्धकों का निर्धारित नियम अथवा प्रकृति के संतुलन मे सर्व-प्रथम विचलन कहां से आता है? सांख्य इस प्रसंग में ईश्वर का अथवा किसी बाहरी सत्ता का अस्तित्व नही मानता। उसके अनुसार तत्त्वों में स्पंदन अथवा गति की प्रवृत्ति अन्तर्निहित है। यह प्रवृत्ति अथवा प्रयोजनवत्ता यह अपेक्षा करती है कि तत्त्वों मे इस प्रकार की गति हो जिससे आत्माओं अथवा पुरुषों का भुक्ति या मुक्ति की दिशा मे कोई प्रयोजन सिद्ध हो। इसी नैसर्गिक प्रवृत्ति से प्रकृति मे विचलन पैदा होता है, गुण दो दिशाओं में विकसित होते हैं; बौद्धिक क्षेत्र मे चित्त और इन्द्रिय तथा भौतिक क्षेत्र में महाभूत। इसी प्रवृत्ति की अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए बौद्धिक परिवर्तन विषयिगत अनुभवो के रूप में होते हैं और दूसरी ओर भौतिक पदार्थों में अनन्त प्रकार के परिवर्तन। पुरुषों के प्रयोजन की यही प्रवृत्ति जिसे पुरुषार्थता कहा गया है, तत्त्वो की समस्त गतियों का नियमन करती है,

---

1. बहुधा सांख्य और वेदान्त दोनो के कार्य कारण सिद्धांत को सामान्य भाषा में सत्कार्यवाद कह दिया जाता है। किन्तु सही मायनो मे जैसाकि प्रबुद्ध टीकाकारो ने स्पष्ट किया है वेदान्त के कारण-सिद्धात को सत्कारणवाद कहना चाहिए। क्योंकि उसकी मान्यता है कि केवल कारण ही सत् (विद्यमान) है, कार्य तो केवल कारण के ही मायात्मक आभास है। सांख्य के मतानुसार कार्य कारण के अन्दर विद्यमान रहता है और बीज रूप में कारण मे कार्य की सत्ता होने से वह भी सत् है।

अव्यवस्था को रोकती है, जगत् को अनुभव का विषय बनाती है और वही उन्हें जगत् से वैराग्य पैदा करवाकर प्रकृति के साहचर्य से मुक्ति के प्रति प्रयत्नशील बनाती है।

योग यहाँ शका करता है कि अचेतन प्रकृति की यह अन्धी प्रवृत्ति इस व्यवस्था और जगत् की नियति को कैसे बनाती है। यह कैसे निर्धारित करती है कि कौनसा क्रम पुरुषो के अर्थ की सिद्धि करेगा ? यह स्वय अपने प्रतिबन्धक कैसे हटाती है और प्रकृति के साम्य में स्वय कैसे विचलन द्वारा सृष्टि पैदा करती है ? उसकी यह नैसर्गिक प्रवृत्ति या स्वभाव जगत् की ऐसी व्यवस्था कैसे बनाता है कि लोगो को उनके बुरे कर्मों का बुरा फल या दु ख मिले और अच्छे कर्मों का अच्छा फल या सुख मिले ? इस सबके लिए कोई चेतन पुरुष अवश्य होना चाहिए जो सृष्टि के क्रम को इस प्रकार नियन्त्रित करे कि एक व्यवस्था बनी रहे। यही चेतन पुरुष ईश्वर है। ईश्वर वह पुरुष है जो अज्ञान, क्लेश और आशयो से असपृक्त है। वह शुद्ध सत्त्वस्वरूप है जिसमे अविद्या का कभी स्पर्श नहीं हो सकता। वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। उसकी एक स्थायी इच्छा होती है जिससे वे प्रतिबन्धक हट जाते हैं जो गुणों के परिणाम मे बाधक होते हैं, तभी तो उनमे पुरुषो के अर्थ की सिद्धि भोग और अपवर्ग दोनो के रूप मे हो पाती है। ईश्वरेच्छा से प्रतिबन्धो का निवारण और पुरुषार्थता की सिद्धि हेतु गुणो द्वारा एक नियत क्रम का अनुगमन सम्भव हो पाता है। ईश्वर प्रकृति को जन्म नही देता, वह प्रकृति के साम्य को निष्क्रियता की अवस्था से विच-लित कर देता है और बाद मे एक ऐसी चेतन व्यवस्था के अनुगमन मे उसका सहायक होता है जिससे कि कर्मों के फल ठीक तरह विभाजित हो सकें और सृष्टि मे व्यवस्था रहे। योग मे ईश्वर की यह मान्यता और साख्य द्वारा उसे न मानना ही इन दोनो को सेश्वर साख्य (योग) और निरीश्वर सांख्य (सांख्य) के रूप मे विभेदित करता है।[1]

बुद्धि एवं पुरुष

यह प्रश्न पुन उठता है कि पुरुष बुद्धि स्वरूप है, गुण अबौद्धिक सूक्ष्म तत्त्व है, तब फिर गुणो से पुरुष का सयोग कैसे होता है ? इसके अलावा, पुरुष शुद्ध निष्क्रिय बुद्धि है, तब उसे गुणों की सहायता की आवश्यकता क्या है ? इस शका का समाधान सांख्य ने पहले से ही यह कहकर कर दिया है कि गुणों में से एक सत्व गुण ऐसा है जो पुरुष के समान ही शुद्ध है और बुद्धि के भी अनुरूप है इसलिए वह पुरुष की बुद्धि या चेतना को प्रतिफलित कर सकता है और उसके अबौद्धिक अचेतन परिणामो को चेतन के समान भासित करा सकता है। हमारे विचार, भावना और इच्छात्मक व्यापार सत्व-प्रधान बुद्धि या चित्त के अबौद्धिक रूपान्तरण हैं किन्तु बुद्धि में पुरुष के प्रतिफलन के कारण वे बौद्धिक या चेतन से दिखते हैं। आत्मा (पुरुष), साख्य योग के अनुसार, आत्म चेतना द्वारा सीधे अभिव्यक्त नही होता। उसका अस्तित्व प्रयोजन के आधार पर तथा नैतिक दायित्व के आधार पर अनुमेय होता है। आत्मा को बुद्धि के परिणमनों से अलग करके हम सीधे नही देख सकते।

---

1 तत्ववैशारदी 4-3, योगवार्तिक 1-24, प्रवचनभाष्य 5/1-12।

अनादि अविद्या के कारण भ्रम (माया) फैला है जिससे बुद्धि की परिवर्तनशील स्थितियाँ चेतन मान ली जाती हैं। इन बौद्धिक परिवर्तनों को पुरुप के बुद्धि मे पड़े प्रतिविम्व के साथ इस तरह संपृक्त कर दिया जाता है कि उन्हें पुरुप के अनुभव के रूप में निरुक्त किया जाता है। बुद्धि का बुद्धि मे पड़े पुरुप के प्रतिविम्व के साथ सम्पर्क इस प्रकार की विशिष्ट योग्यता रखता है कि उसे पुरुप का अनुभव माना जाता है। वाचस्पति के इस विवेचन का विज्ञानभिक्षु ने खंडन किया है। विज्ञानभिक्षु कहता है कि बुद्धि के पुरुप के प्रतिविम्व के साथ सम्पर्क से हम किसी वास्तविक व्यक्ति के व्यावहारिक अनुभव का आधार नही ले सकते। इसलिए यह माना जाता है कि जब बुद्धि पुरुप के प्रतिविम्व द्वारा चैतन्य कर दी जाती है तो वह पुरुप मे आरोपित कर ली जाती है और तब यह धारणा बनाली जाती है कि वह एक अनुभूति वाला स्थायी व्यक्ति है।[1] हम चाहे जो भी स्पष्टीकरण दें यह स्पष्ट लगता है कि पुरुष के साथ बुद्धि का संयोग कुछ रहस्यात्मक ही है। बुद्धि पर चित् के इस प्रतिविम्व के फलस्वरूप और बुद्धि के आरोपण के फलस्वरूप पुरुप यह नही समझ पाता कि बुद्धि के परिणमन उसके अपने नहीं है। बुद्धि शुद्धता में पुरुप के समरूप है और पुरुप अपने आप को बुद्धि के परिणामों से अलग नही कर पाता। इस अभेद के फलस्वरूप पुरुप बुद्धि से बंध जाता है, यह नहीं जान पाता कि बुद्धि एवं उसके विकार पूर्णतः बाहरी हैं, असम्बद्ध हैं, उसके अपने नही है। पुरुष का जो स्वयं बुद्धि का ही एक स्वरूप है, बुद्धि के साथ यह अभेद ही सांख्य में अविद्या कहा गया है और वही सारे अनुभवों और दु.खों की जड़ है।[2]

योग का मत इससे कुछ भिन्न है। वह मानता है कि पुरुप न केवल अपने आप में और बुद्धि में भेद नही कर पाता बल्कि वह बुद्धि के परिणामों को निश्चित रूप से अपना ही स्वरूप समझता है। यह भेद का अनवभास मात्र नही है बल्कि स्पष्ट ही मिथ्या ज्ञान है, पुरुप को हम वह समझते हैं जो वह नही है (अन्यथाख्याति)। वह परिवर्तमान, अशुद्ध, दु.खात्मक तथा विपयात्मक प्रकृति अथवा बुद्धि को अपरिवर्तनशील शुद्ध और सुखात्मक विषयी समझता है। वह अपने आपको बुद्धि स्वरूप समझता है और उसे शुद्ध, नित्य तथा सुख देने में समर्थ समझने की गलती भी करता है। यही योग की अविद्या है। पुरुष के साथ सम्बद्ध-बुद्धि ऐसी अविद्या से आच्छन्न रहती है और जब जन्म-जन्मान्तर तक वही

---

1 तत्ववैशारदी एवं योगवार्तिक 1-4।

2. यह सांख्य दर्शन में भ्रम की प्रकृति के विश्लेपण की ओर इंगित करता है। दो पदार्थों में भेद की प्रतीति का अभाव (जैसे सर्प और रज्जु मे भेद की अप्रतीति) ही भ्रम का कारण होता है। इस दृष्टि से इसे 'अख्यातिवाद' कहा गया है (भ्रम की भेदाप्रतीतिरूप व्याख्या) जो अन्यथाख्याति से भिन्न है (जिसमें एक पदार्थ में अन्य पदार्थ का भ्रम हो जाता है) यह योग के अनुसार भ्रम का सिद्धान्त है (रज्जु को सर्प के रूप में देखना)। योगवार्तिक 1/8।

वुद्धि उसी पुरुष के साथ संबद्ध रहती है तो वह इस अविद्या से आसानी से छुटकारा नहीं पा सकती। किन्तु यदि इसी बीच प्रलय हो जाता है तो वुद्धि प्रकृति मे विलीन हो जाती है और अविद्या भी उसी में सो जाती है। अगली सृष्टि के प्रारम्भ मे जब पुरुषो से सबद्ध व्यष्टिगत बुद्धियाँ फिर उद्भूत होती हैं तो उसी के साथ वे ही अविद्याएँ पुन जागृत हो जाती हैं। बुद्धियाँ उन्ही पुरुषो से सम्बद्ध हो जाती हैं जिनसे वे प्रलय से पूर्व सम्बद्ध थी। इसी प्रकार ससार का क्रम चलता है। जब किसी व्यक्ति की अविद्या सत्यज्ञान के उदय द्वारा विनष्ट हो जाती है तो बुद्धि पुरुष से सबद्ध नही हो पाती, वह उससे सदा के लिए वियुक्त हो जाती है, यही मुक्ति की दशा है।

ज्ञान की प्रक्रिया एवं चित्त के लक्षण

यह कहा जा चुका है कि वुद्धि और उसके आन्तरिक उद्भव पुरुष के अनुभव को सम्भव वनाने हेतु ही जन्म लेते हैं। इस अनुभव की प्रक्रिया क्या है? साख्य (जैसा वाचस्पति ने व्याख्यात किया है) का मत है कि वुद्धि इन्द्रियो के माध्यम से वाह्य विषयों के सम्पर्क मे आती है। इस सम्पर्क के प्रथम क्षण मे एक अनिर्धारित चेतना वनती है जिसमें उस पदार्थ के समस्त विवरण प्रत्यक्ष नही किए जा सकते। इसे निर्विकल्प प्रत्यक्ष कहा गया है। दूसरे क्षण मन के सकल्प और विकल्प के व्यापार द्वारा उस पदार्थ का समस्त लक्षणों और विवरणो सहित प्रत्यक्ष हो जाता है। मन इन्द्रियो द्वारा ऐन्द्रिय अनुभव को विभेदीकृत, समन्वित और सपृक्त करता है और इस प्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष को सम्भव वनाता है, वह जव पुरुष मे सम्बद्ध होकर चैतन्य प्राप्त करता है तव वह उस व्यक्ति के अनुभव के रूप मे हमारे सामने आता है। इन्द्रियो के अहकार के और वुद्धि के व्यापार कभी क्रमिक रूप मे और कभी-कभी (जैसे अचानक भय के समय) एक साथ काम करते हैं। विज्ञानभिक्षु वाचस्पति से इस वात मे सहमत नही है। वह मन की इस सकल्पात्मक क्रिया का खण्डन करता है और कहता है कि इन्द्रियों के माध्यम से वुद्धि सीधे पदार्थों के सम्पर्क मे आती है। सम्पर्क के पहले क्षण मे प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होता है किन्तु दूसरे ही क्षण वह स्पष्ट एव सविकल्पक हो जाता है।[1] स्पष्ट है कि इस मत मे मन का महत्त्व वहुत कम रह जाता है और उसे केवल इच्छा सदेह और कल्पना की वृत्ति के रूप मे ही स्थान दिया गया है।

---

1 चूँकि वुद्धि का वाह्य पदार्थों से सम्पर्क इन्द्रियों के माध्यम से होता है रग इत्यादि विषय इन्द्रियो द्वारा परिवर्तित कर दिए जाते हैं यदि उनमें कोई दोष हो तो। वस्तुओं के दैशिक गुण इन्द्रियो द्वारा सीधे प्रत्यक्षीकृत होते हैं किन्तु कालक्रम चित्त अथवा वुद्धि की ही देन है। सामान्यत योग की मान्यता है कि वाह्य विषय वुद्धि मे पूर्णत सही-सही प्रतिविम्वित हो जाते हैं जैसे जलाशय में वृक्ष।

"तस्मिश्च दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टय।
इमास्ता प्रतिविम्वन्ति सरसीव तटद्रुमा॥"

(योगवार्तिक 1-4)

वै
भास-
, तत्त्व-

बुद्धि को जिसमें अहंकार और इन्द्रियां सम्मिलित है, योग में बहुधा चित्त भी कहा गया है। वह दीपक की लौ के समान सदा परिवर्तमान रहती है। वह शुद्ध सत्व-प्रधान तत्त्वों से बनी है और अपने आपको एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप में परिवर्तित करती रहती है। ये बिम्ब बुद्धि और पुरुष के दोहरे प्रतिबिम्ब के कारण निरन्तर चैतन्य होते रहते हैं और उन्हें हम व्यक्तियों के अनुभवों के रूप मे जानते है। चेतना के आलोक को समझाने के लिए तथा अनुभवो और नैतिक प्रयत्नों की व्याख्या करने के लिए पुरुष का अस्तित्व मानना पडता है। बुद्धि समस्त शरीर मे व्याप्त रहती है, उसके व्यापार के कारण ही शरीर मे जीवन रहता है। सांख्य शरीर में जीवन के आधार के रूप में अलग से प्राण-वायु की सत्ता नही मानता। वेदान्त मे जिन जैव प्रेरक शक्तियो को वायु कहा गया है उन्हें सांख्य बुद्धि तत्त्व के विभिन्न व्यापार प्रकार ही मानता है जो जीवन में समस्त शरीर में विचरण करता है और शरीर के समस्त जैव और ऐन्द्रिय क्रिया-कलापों को परिचालित करता है।

बुद्धि, योग के शब्दो में चित्त, प्रत्यक्ष और जीवन के व्यापारों के संचालन के अलावा अपने आप मे संस्कारो[1] को तथा पूर्व-जन्मों की वासनाओं को भी समाहित रखता है। उचित वातावरण और प्रेरणा पाकर ये संस्कार जागृत हो जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति पूर्व जन्मो मे मनुष्य के रूप में या पशु के रूप में अनेक जीवन बिता चुका होता है। इन सभी जीवनो मे वही चित्त उसके साथ रहता है। चित्त में उन समस्त पूर्व-जन्मों की प्रवृत्तियाँ

। ५ । कुर्ल ।भला।कंर

बुद्धि उसी पदार्थ ... बजाय कही ज्यादा होते है और सुख-दु:ख की तीव्रता को बढ़ाते ही ...।-ज्यों मनुष्य समझदार होता है त्यो-त्यो वह अनुभव करता जाता हैं कि संसार और उसके अनुभव दु:खात्मक ही है। जब तक मनुष्य इस महान् सत्य को नही समझ लेता कि यह सब दुःखात्मक है और सासारिक सुख और वैदिक यज्ञादि द्वारा प्राप्त स्वर्गिक सुख सभी अस्थायी है और दु:ख के स्थायी निवारक नही हो सकते तब तक वह मुक्ति के लिए और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए प्रवृत्त नही होगा। उसे समझना चाहिए कि समस्त दुख-दु:खो के मार्ग है। सुख भोगों द्वारा उनके निवारण का प्रयत्न व्यर्थ है, सांसारिक और स्वर्गिक सुखो से निवृत्ति ही दु:खो का निवारण कर सकती है। वैदिक यज्ञादि का अनुष्ठान चाहे हमे सुख दे दे किन्तु उनमे पशु बलि आदि से जो पातक होगा उससे फिर दु:ख होगा अतः वह भी उपादेय नही कहा जा सकता। सुखो से पूर्ण वैराग्य के बाद ही दु:खो की आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय सूझ सकता है। दर्शन बतलाता है कि दु:ख कितना व्यापक है, वह क्या होता है, उसकी निवृत्ति का उपाय क्या है और उसके बाद क्या होता है। दु:ख के निवारण का इच्छुक व्यक्ति उसके उपायार्थ ही दर्शन का आश्रय लेता है।

---

1. तत्त्ववैशारदी एव योगवार्तिक 11/15 ता त...

और वासनाएँ सस्कार रूप मे निहित रहती हैं। जिस प्रकार जाल मे अनेक गाँठें होती हैं उसी प्रकार चित्त मे वासनाएँ गुथी रहती हैं। यदि किसी जन्म मे मनुष्य कुत्ते की योनि मे जन्म लेता है तो उसमे वे वासनाएँ जो उसके अनन्त पूर्व-जन्मो में से किसी एक जन्म मे कुत्ते के रूप मे रही होगी, जागृत हो जाती हैं और उसकी प्रवृत्तियाँ कुत्ते के अनुरूप हो जाती हैं। वह पूर्व-जन्म के अनुभवो को भूल जाता है और कुत्ते के रूप मे ही जीवन का भोग करने लगता है। प्रत्येक जन्म के अनुरूप वासनाओ के पुनर्जागरण के कारण ही वासनाओ मे सघर्ष नही होता अन्यथा यह स्थिति आ जाए कि मनुष्य जन्म मे कुत्ते की सी प्रवृत्तियाँ आ जाएँ और कुत्ते मे मनुष्य की वासनाएँ आ जाएँ।

सस्कार वे वीज हैं जिनके कारण जीवन की कोई आदत या प्रवृत्ति या कोई आनन्द जिसका अनुभव व्यक्ति ने किसी समय किया हो अथवा भावनाएँ जो उसमे प्रवल रही हों, पुनर्जागृत हो जाती हैं, चाहे वे उस समय अनुभूत नही हो रही हो फिर भी वे प्रवृत्तियाँ चित्त मे इस प्रकार रहती हैं कि कभी भी अनायास स्वत प्रकट हो सकती हैं क्योंकि वे पहले की अनुभूतियाँ हैं और सस्कार रूप में चित्त मे विद्यमान हैं। किसी अवाछनीय विचार या प्रवृत्ति के पुनर्जागरण से वचने के लिए यह आवश्यक है कि सस्कार के रूप मे उसके जो वीज वचे हो उन्हें निरन्तर अभ्यास द्वारा नष्ट कर दिया जाए और सद्विचारो के निरन्तर ध्यान द्वारा उनका वीज इतना दृढ कर लिया जाए कि असद् विचारो के सस्कार जागृत न होने पाएँ।

कि वुद्धि के अनुभवो की समस्त प्रवृत्तियाँ और उसक [illegible]

जाएँ। उस दशा में वुद्धि अपनी पूर्ण शुद्ध स्थिति मे परिवर्तित हो जाती है और [illegible] अभिजात स्वरूप को प्रतिविम्बित करती है। यह सत्ता की केवल स्थिति (कैवल्य) होती है जिसके वाद समस्त सस्कार और अविद्या के निवारण के वाद चित्त पुरुष से ससक्त नही रहता और पर्वताग्र से गिरे हुए पत्थर की भाँति प्रकृति में आकर ही ठहरता है।[3] पूर्व सस्कारों के

---

1. योग इस विचार को कुछ परिवर्तित स्वरूप मे लेता है। उसका लक्ष्य है जन्म और पुनर्जन्म के चक्र या ससार चक्र से मुक्ति जो दु ख से पूर्णत सम्वद्ध है (दु:ख वहुल ससार हेय)।
2. चित्त शब्द योग दर्शन की सज्ञा है। इसका नाम यह इसलिए पडा कि यही समस्त अवचेतन वृत्तियो का निधान है। साख्य ने सामान्यत वुद्धि शब्द का प्रयोग किया है। दोनो शब्द एक ही तत्त्व-मन को इंगित करते हैं किन्तु ये दोनो उसके दो अलग-अलग पहलुओ को वतलाते हैं। वुद्धि का तात्पर्य है प्रज्ञा।
3. साख्य और योग दोनो मे इस मुक्त स्थिति को कैवल्य कहा गया है (केवल एक रह जाना)। साख्य का यहाँ अभिप्राय यह है कि सारे दु:ख पूर्णत निवृत्त हो गए हैं जो पुन कभी उद्भूत नही होंगे। योग का अभिप्राय यह है कि पुरुष इस स्थिति मे अकेला यों रह जाता है कि वुद्धि से उसका कोई सम्पर्क नहीं रहता। देखें सांख्य-कारिका 68 तथा योगसूत्र 4-34।

नाशार्थ केवल ज्ञान पर्याप्त नहीं है, एक क्रमबद्ध अभ्यास आवश्यक है। अभ्यास का यह क्रम इस प्रकार व्यवस्थित होना चाहिए कि जीवन की उच्चतर और उन्नत वृत्तियों को जीने का अभ्यास किया जाय, मन को सूक्ष्मतम दशाओं में स्थिर किया जाए ताकि सामान्य जीवन की प्रवृत्तियाँ निवारित हो सकें। योगी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है त्यों-त्यों वह उच्च स्थिति से उच्चतर स्थिति की ओर जाने का प्रयत्न करता है। इस क्रम से वह उस स्थिति को पहुँच जाता है जब बुद्धि चरम पूर्णता और शुद्धता को प्राप्त हो जाती है। इस स्थिति मे बुद्धि पुरुष का सारूप्य प्राप्त कर लेती है और मुक्ति हो जाती है।

योग मे कर्मो को चार वर्गों में विभाजित किया गया है (1) शुक्ल अर्थात् पुण्य जो सुख देते हैं (2) कृष्ण, पाप जो दु.ख देते हैं (3) शुक्ल-कृष्ण (पुण्य-पाप जैसे कि हमारे अधिकाश सामान्य कर्म होते हैं जो कुछ पुण्यात्मक कुछ पापात्मक होते हैं, उदाहरणार्थ, उनसे कुछ जीवों का नाश होता है) और (4) अशुक्ल कृष्ण (आत्मसयम, ध्यान आदि के आन्तरिक कर्म, जिनसे कोई सुख या दु.ख पैदा नहीं होते और उनके फल के भोग का प्रश्न नहीं उठता। समस्त बाह्य व्यापारों में कोई न कोई पातक निहित रहता है। वैसे भी संसार में किसी भी कर्म मे जीव-जन्तुओं का, किसी प्राण का नाश अवश्य होता है।[1] समस्त कर्म पंच क्लेशो द्वारा जनित होते है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये 5 क्लेश हैं।

हमने ऊपर विवेचन किया है कि अविद्या से क्या तात्पर्य है। सामान्यत: अविद्या के कारण बुद्धि को ही चैतन्य (चित्) समझा जाता है, उसे स्थायी और सुखजनक समझ लिया जाता है। यह मिथ्या ज्ञान इस रूप मे रहते हुए ही अपने आपको फिर अस्मिता आदि चार अन्य रूपो मे अभिव्यक्त करता है। अस्मिता से हमे यह धारणा उत्पन्न होती है कि भौतिक द्रव्य और हमारे अनुभव हमारे हैं। 'मेरा' और 'मैं' की भावना उन पदार्थो मे हो जाना जो वस्तुत. गुण अथवा गुणों के परिणाम हैं, अस्मिता है। उसके फलस्वरूप सुखो और पदार्थों में मोह हो जाना ही राग है। प्रतिकूल पदार्थों के प्रति घृणा या शत्रुता ही द्वेष है। जीवन के प्रति इच्छा, जीवन का मोह ही अभिनिवेश है। हम कार्यों मे प्रवृत्त इसलिए होते हैं कि अनुभवो को हम अपना समझते हैं, हमारे शरीर को अपना समझते हैं, हमारे परिवार को अपना समझते है, सम्पत्ति को अपना समझते हैं, क्योंकि हमें इनसे मोह है, क्योंकि इनके विरुद्ध हुई किसी भी बात को हम द्वेष की दृष्टि से देखते हैं, क्योकि हमें जीवन से प्यार है और उसे विपत्ति से बचाना चाहते हैं। स्पष्ट है कि, यह सब इसलिए होता है कि हममें अविद्या रहती है अर्थात् हम बुद्धि को गलती से पुरुष से अभिन्न समझ लेते हैं। ये पाँच क्लेश अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश हमारी बुद्धि पर छा जाते हैं। वे ही हमें कर्म करने को बाध्य करते है जिससे हमे दु ख भोगना पड़ता है। ये क्लेश और उनके साथ किए हुए कर्म, जो बुद्धि के साथ उसके अंग के रूप में अन्तर्निहित रहते हैं, एक जन्म

1. व्यासभाष्य और तत्त्व-वैशारदी, 4.7।

से दूसरे जन्म तक बुद्धि के साथ लगे रहते हैं और उनसे मुक्ति पाना बहुत कठिन है ।[1] बुद्धि मे उसके रूप या विकार के रूप मे जो कार्य करते हैं उन्हें कर्माशय कहा जाता है (कर्म का वह आसन या स्थान जिसमें पुरुष रहता है) । बुद्धि के क्लेशो द्वारा प्रेरित होकर हम कर्म करते हैं । इस प्रकार किया हुआ कर्म बुद्धि पर अपना निशान या परिणाम छोड़ता है । ईश्वर की स्थायी इच्छा के अनुरूप प्रकृति के उद्विकास के मार्ग मे आए विघ्नो के निवारण के क्रम मे तथा प्रकृति की प्रयोजनवत्ता के विधान के तहत ऐसा विहित है कि प्रत्येक दुष्कर्म दु ख मे परिणत होता है और सत्कर्म सुख के फल भोग को जन्म देता है ।

वर्तमान जन्म मे किए गए कर्म सचित होते जाते हैं और जब उसके फल भोग का समय आता है तो उस व्यक्ति के लिए उसी प्रकार का जन्म विहित किया जाता है, प्रकृति के उद्विकास के क्रम के अनुरूप उसे उसी प्रकार की योनि मिलती है जिस प्रकार के सुखो का या दु खो का भोग उसे करना होता है । इस प्रकार इस जन्म मे किए हुए कर्म ही उसके लिए भविष्य का जन्म (मनुष्य या पशु के रूप मे) निर्धारित करते हैं, वे ही उसकी आयु की अवधि तथा उस जन्म में उसे सुख या दु ख क्या भोगना है इसका निर्धारण करते हैं । कभी-कभी बहुत अच्छे कर्म या बहुत बुरे कर्म अपना फल इस जन्म मे भी देते हैं । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी मनुष्य ने बुरे कर्म किए जिनका फल भोगने के लिए उसे कुत्ते की योनि में जन्म लेना चाहिए और अच्छे कर्म भी किए जिनके फलस्वरूप उसे मनुष्य जन्म मिलना चाहिए तो ऐसी स्थिति मे अच्छे कर्मो का फल स्थगित रह जाए और पहले कुत्ते के जीवन द्वारा उसे दु ख भोग करना पड़े, तदनन्तर पुन वह मनुष्य रूप मे जन्म ले और फिर अपने सत्कर्मो का अच्छा फल भुगते । किन्तु यदि हम पूर्णत अविद्या और क्लेशो का नाश कर सकें तो जितने भी अभुक्तपूर्व कर्म हैं वे सब नष्ट हो जाएँगे और फिर कभी उत्पन्न नहीं होंगे । तब केवल उसे उन्हीं कर्मो का फल भोगना होगा जिनका पहले ही परिपाक हो चुका है । यही जीवन्-मुक्ति की दशा है, जब योगी को ब्रह्म ज्ञान हो जाता है किन्तु वह जीवन मे अवस्थित रहता है और पहले से परिपक्व कर्मो का ही परिणाम भोग करता रहता है (तिष्ठति सस्कार-वशात् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीर) ।

चित्त

योग शब्द का, जो कि वैदिक साहित्य मे इन्द्रिय-सयम के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, पतजलि ने अपने योगसूत्र में चित्त-वृत्तियो के पूर्ण या आशिक निरोध अथवा स्थिरीकरण के अर्थ में प्रयोग किया है । कभी-कभी तीव्र सवेगो द्वारा भी चित्त स्थिर या केन्द्रित होने की स्थिति मे आ जाता है जैसे कि शत्रु से युद्ध करते समय या अज्ञान-जनित मोह की स्थिति मे । प्रथम प्रकार की स्थिरता के चित्त को क्षिप्त कहा जाता है और दूसरे प्रकार के चित्त को प्रमूढ़ (अज्ञानी) । एक अन्य प्रकार का चित्त भी होता है जिसमे क्षणिक या स्थायी स्थिरता

---

1. व्यासभाष्य और तत्त्व-वैशारदी, 2. 3-9 ।

संभव होती है, मन कुछ समय के लिए किसी एक चीज पर स्थिर हो जाता है, फिर वहाँ से उचट कर किसी दूसरी चीज पर चला जाता है और उसमें रम जाता है। उस स्थिति को विक्षिप्त (अस्थिर) चित्त-भूमि कहा गया है। इन सबसे भिन्न एक ऐसी स्थिति होती है जिसमे चित्त लम्बे समय तक किसी वस्तु पर केन्द्रित रह सकता है। उसे एकाग्र स्थिति कहते हैं। यह उच्चतर स्थिति होती है। उससे भी ऊँची एक स्थिति है जिसमें चित्त-पूर्णत: नियंत्रित होता है, चित्तवृत्तियाँ रुक जाती हैं। यह स्थिति मुक्ति से ठीक पहले की स्थिति है। इसे चित्त की निरोध-दशा कहते हैं। योग का लक्ष्य है इन दो अन्तिम उच्च स्थितियों को प्राप्त करना।

चित्तों की पाँच वृत्तियाँ होती हैं (1) प्रमाण[1] (सत्यज्ञान की स्थितियाँ जैसे प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द प्रामाण्य द्वारा उद्भूत स्थिति (2) विपर्यय (मिथ्या ज्ञान, भ्रम इत्यादि) (3) विकल्प (ऊहापोह तथा कल्पना की विभिन्न वृत्तियाँ) (4) निद्रा मन की शून्यता की स्थिति जिसमें तम का ही प्राधान्य होता है) और (5) स्मृति।

चित्त-वृत्तियाँ द्वारा ही हमे आन्तरिक अनुभव होता है। जब चित्त-वृत्तियाँ हमें संसार-चक्र में खीचकर ले जाती हुई वासनाओ और उनकी पूर्तियों मे लग जाती हैं तो उन्हें क्लिष्ट (क्लेश की ओर ले जाने वाली या क्लेशयुक्त) कहा जाता है। जब वे हमें मुक्ति की ओर ले जाती हैं तो उन्हें अक्लिष्ट कहा जाता है। हम किसी भी दिशा में जाएँ ससार की ओर या मुक्ति की ओर, चित्त-वृत्तियाँ ही काम देती हैं। कभी ये वृत्तियाँ अच्छी होती

---

1. सांख्य की मान्यता है कि ज्ञान का प्रामाण्य या अप्रामाण्य स्वयं ज्ञान की दशा पर ही निर्भर रहता है, बाह्य पदार्थो या तथ्यों से संवाद या असंवाद पर नही (स्वतः प्रामाण्यं स्वतः अप्रामाण्यम्) अनुमान-सिद्धान्त को सांख्य की देन क्या रही है यह अब तक ज्ञात नही हुआ है। वाचस्पति ने जितना सा कुछ इस विषय पर लिखा है वह सब वात्स्यायन से ही लिया हुआ है, जैसे, पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट नामक अनुमान के तीन भेद। इनका विवेचन हमारे न्यायदर्शन वाले अध्याय से अथवा वाचस्पति की तात्पर्य टीका से अधिक स्पष्टता से जाना जा सकता है। सांख्य का अनुमान सात प्रकार के सम्बन्धों के आधार पर, विशेष से विशेष का होता था, ऐसा लगता है। इसलिए वे अनुमान के सात भेद मानते हैं।

"मात्रा-निमित्त-संयोगि-विरोधि-सहचारिभिः।
स्वस्वामिवध्य-घाताद्यैः सांख्याना सप्तधानुमा।"

—तात्पर्य टीका, पृ० 109।

सांख्यों के अनुमान की परिभाषा, जैसी कि उद्योतकर ने की है, इस प्रकार है—

"संबन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम्।"

—उद्योत 1-1-5।

हैं, कभी बुरी, जो वृत्तियाँ हमे अन्तत मुक्ति की ओर ले जाएँ उन्हें ही अच्छी कहना चाहिए ।

इससे हमे चित्त का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण स्पष्ट होता है । वह यह कि कभी वह हमे अच्छी दिशा मे (मुक्ति) और कभी बुरी दिशा मे (ससार) ले जाता है । व्यास भाष्य के अनुसार वह एक ऐसी नदी है जो दोनो ओर वहती है, पाप की ओर तथा अच्छाई की ओर । प्रकृति की प्रयोजनवत्ता की यह अपेक्षा है कि मनुष्य मे वह ससार और मुक्ति दोनो की प्रवृत्तियाँ जगाती है ।

इस प्रकार इसी के अनुसार अनेक बुरे विचारों और बुरी आदतो के बीच अच्छी नैतिक अभिलापा और अच्छे विचार आते हैं और अच्छी आदतो और विचारो के बीच बुरे विचार और दुष्प्रवृत्तियाँ भी आती हैं । इसलिए अच्छा बनने की अभिलापा मनुष्य मे कभी समाप्त नही होती क्योंकि ऐसी अभिलापा भी, सुख के उपभोग की इच्छा के समान, उसमें उतनी ही तीव्रता से निहित रहती है । यह एक महत्त्वपूर्ण वात है क्योकि इसमे योग के नैतिक पक्ष का वह मूलभूत आधार निहित है जो वतलाता है कि मुक्ति की इच्छा किसी आनन्द वाली, सुख के आकर्षण से जनित नहीं है, वह दु ख की निवृत्ति का प्रयत्न भी नही है, वल्कि मन की एक सहज प्रवृत्ति है जो उसे मुक्ति के मार्ग मे प्रवृत्त करती है ।[1] दु ख की निवृत्ति भी इस मार्ग के अनुसरण का एक सहगामी परिणाम है, किन्तु इस मार्ग के अनुसरण की प्रेरणा एक सहज और अदम्य मानसिक वृत्ति के कारण ही होती है । मनुष्य के चित्त मे यह शक्ति सचित है । उसे इस शक्ति का इस प्रकार उपयोग करना चाहिए कि उसकी यह सत् प्रवृत्ति क्रमश अधिक वलवती होती जाए और अन्तत अन्य प्रवृत्तियो को समाप्त कर दे । वह इसमे सफल हो जाता है क्योकि प्रवृत्ति को अपना चरम परिणाम मुक्ति में ही प्राप्त होता है ।[2]

योग के परिकर्म (शुद्धि-अभ्यास)

योगाभ्यास का उद्देश्य है चित्त को मोक्ष की दिशा मे निरन्तर वर्धमान विचार-प्रक्रियाओं के प्रति स्थिर करना जिसमे असत् प्रवृत्तियाँ निरन्तर क्षीण होकर समाप्त हो

---

1 किन्तु साख्य के अनुसार हमारे समस्त पुरुषार्थ का उद्देश्य तीन प्रकार के दु खो की पूर्ण और आत्यन्तिक निवृत्ति ही है । त्रिविध दु ख है, आध्यात्मिक (शरीर की व्याधि या मन की असन्तुष्ट वृत्तियों या इच्छाओ द्वारा आन्तरिक रूप से जनित) आधिभौतिक (अन्य मनुष्यो या पशुओ आदि के द्वारा वाह्य रूप से आए ताप, चोट या नुकसान और आधिदैविक (राक्षसो या भूत प्रेतपिशाचादि द्वारा पहुँचाया जाने वाला नुक्सान या दु ख) ।

2 देखें, मेरा निवन्ध 'योग साइकोलोजी' (क्वेस्ट अक्टूवर 1921) ।

जाएँ। किन्तु चित्त को इस महान् अभ्यास के योग्य बनाने हेतु यह आवश्यक है कि उसे सामान्य अशुद्धियों से मुक्त किया जाए। इसलिए योगी को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं के अलावा किसी चीज का संचय न करना) का अभ्यास करना चाहिए। इन्हे सामूहिक रूप से 'यम' कहा जाता है। शुद्धि के इन उपायो के साथ योगी को बाह्य शुद्धि का भी अभ्यास करना होता है। शरीर और मन की शुद्धि, संतोष, शीतोष्ण आदि समस्त कष्टों के सहन का अभ्यास, शरीर को निश्चल और वाणी को सयत रखने का अभ्यास (जिन्हे 'तप' कहा गया है), शास्त्रो का अध्ययन (स्वाध्याय) तथा ईश्वर का ध्यान (ईश्वर प्रणिधान), ये सब 'नियम' भी उसे पालने होते हैं। इनके साथ कुछ अन्य अनुशासन भी विहित है जैसे प्रतिपक्ष-भावना, मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा। प्रतिपक्ष भावना का तात्पर्य है कि जब भी कोई असद् विचार (जैसे स्वार्थ भावना आ जाए तो उसके विपरीत सद्-विचार (जैसे परमार्थ-भावना) का अभ्यास करें ताकि कुविचार न पनपें। हमारे अधिकांश दोष हमारे संगी साथियों के प्रति उपजे द्वेष के कारण पैदा होते हैं। इनके निवारणार्थ केवल संयम पर्याप्त नही होता, इसलिए चित्त को समस्त मनुष्यों के प्रति मैत्री भाव रखने हेतु अभ्यास करना चाहिए। मैत्री का तात्पर्य है समस्त प्राणियों को मित्र समझना। यदि हम इसका निरन्तर अभ्यास करलें तो उनसे हमें द्वेष कभी नही होगा। इसी प्रकार दुःखी प्राणियो के लिए करुणा रखनी चाहिए, समस्त प्राणियों के कल्याण के लिए हमेशा मुदिता याने प्रसन्नता की भावना रखनी चाहिए तथा दूसरों के दोषों के प्रति उपेक्षा की भावना रखनी चाहिए। इसका तात्पर्य है कि योगी दुष्टों के दोष नहीं देखता।

जब चित्त सांसारिक सुखों से विरक्त हो जाता है और यज्ञादि के अनुष्ठान से मिलने वाले स्वर्गादि फलों से भी वैराग्य हो जाता है, साथ ही चित्त अशुद्धियों से रहित और योगाभ्यास के योग्य हो जाता है तो योगी निरन्तर अभ्यास, श्रद्धा, वीर्य (निष्पादन और उद्देश्य की शक्ति) एवं प्रज्ञा के क्रमों से गुजरता हुआ मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है।

योगाभ्यास

जब चित्त शुद्ध हो जाता है तो बाह्य प्रभावों से उसके विचलित होने की सम्भावनाएँ बिल्कुल कम हो जाती हैं। इस स्थिति में योगी दृढ आसन जमाता है और किसी विषय को चुन कर उस पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। वैसे, यही अच्छा समझा गया है कि वह ईश्वर पर ध्यान केन्द्रित करे क्योकि तब ईश्वर प्रसन्न होकर उसके मार्ग के विघ्नों को दूर कर देगा और सफलता अधिक सरल हो जाएगी। किन्तु इस बात मे उसे छूट है कि वह अपनी समाधि लगाने के लिए किसी भी विषय को चुन सकता है। ध्यान केन्द्रित करने (समाधि) की चार स्थितियाँ बताई गई हैं वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता। इनमे वितर्क और विचार प्रत्येक के दो-दो भेद हैं, सवितर्क, निर्वितर्क और सविचार, निर्विचार।[1]

1. वाचस्पति का मत है कि आनन्द और अस्मिता के भी दो-दो भेद हैं किन्तु इसका भिक्षु ने खडन किया है।

जब चित्त विषयों पर इस तरह ध्यान केन्द्रित करता है कि उनके नाम और गुण भी ध्यान में रहते हैं तो उसे सवितर्क समाधि कहा जाता है। जब पाँच तन्मात्रों पर, उनके गुणों सहित ध्यान लगाते हैं तब सविचार और जब केवल तन्मात्रों पर ध्यान रहता है, गुणों पर नहीं तब निर्विचार समाधि होती है। आनन्द और अस्मिता की स्थितियाँ इनसे ऊपर हैं। आनन्द की स्थिति में मन बुद्धि पर इस तरह केन्द्रित होता है कि ऐन्द्रिय व्यापार से आनन्द विद्यमान रहे। अस्मिता की दशा में बुद्धि, निर्गुण, निराकार शुद्ध तत्त्व पर केन्द्रित होती है। इन सभी स्थितियों में ज्ञेय विषयों पर मन चेतन रूप में केन्द्रित होता है इसलिए इन सबको सम्प्रज्ञात समाधि (विषयों के ज्ञान सहित) कहते हैं। इसके बाद समाधि की अन्तिम स्थिति असम्प्रज्ञात समाधि अथवा 'निरोध समाधि' आती है जिसमें कोई विषय नहीं होता। इस स्थिति में अधिक समय रहने पर निरोध दशा के निरन्तर अभ्यास के कारण पुराने समस्त संस्कार जो विषय जगत् के सांसारिक अनुभवों अथवा आन्तरिक-वैचारिक अनुभवों के कारण उद्‌भूत होते हैं, नष्ट हो जाते हैं। तब ब्रह्मज्ञान हो जाता है, बुद्धि पुरुष के समान शुद्ध हो जाती है और चित्त पुरुष को बन्धन में न रख पाने के कारण पुन प्रकृति में लीन हो जाता है।

इस समाधि[1] के अभ्यास के लिए योगी को बहुत शान्त स्थान पर्वत की गुफा या निर्जन जंगल में बैठना चाहिए जिससे कोई व्याघात न हो। सबसे बड़ा विघ्न, इसमें होता है हमारी श्वास प्रणाली। इसका नियमन ही प्राणायाम द्वारा किया जाता है। श्वास को चढ़ाने, उसे अन्दर रोकने और फिर छोड़ने की क्रिया को प्राणायाम कहते हैं। अभ्यास से श्वास को निरन्तर कई घण्टों, दिनों, महिनों और वर्षों तक रोका जा सकता है। जब साँस लेने या छोड़ने की आवश्यकता नहीं रहती और उसे लम्बे समय तक स्थिर रखा जा सकता है तो यह प्रमुख विघ्न दूर हो जाता है।

ध्यान लगाने की प्रक्रिया स्थिर आसन में बैठकर, प्राणायाम से श्वास का निरोध कर, समस्त विचारों को अन्य विषयों से हटाकर एक विषय पर लगाकर (धारणा) शुरू की जाती है। पहले एक विषय पर स्थिरता कठिन होती है, इसलिए बार-बार उस विषय का ध्यान किया जाता है। इसे 'ध्यान' कहते हैं। पर्याप्त अभ्यास के बाद मन स्थिरता की शक्ति अर्जित कर लेता है तब वह विषय के साथ एकाकार हो जाता है और परिवर्तन या ठहराव नहीं होता। विषय की चेतना भी नहीं रहती, चिंतन नहीं रहता, चित्त स्थिर और एकाकार हो जाता है। इसे समाधि कहते हैं। हमने समाधि की छ स्थितियाँ ऊपर बतला दी हैं। जब समाधि की एक स्थिति में योगी सफल हो जाता है तो वह क्रमश आगे

---

1 समाधि शब्द का कोई सही पर्याय नहीं हो सकता। कन्सेन्ट्रेशन या मेडिटेशन आदि शब्द अपर्याप्त हैं। योग के तात्पर्यानुसार समाधि एक ऐसी अवस्था है जिसमें मन अविचलित भाव से एक विषय से एकाकार हो जाता है, कोई अस्थिर वृत्तियाँ उसमें नहीं आती।

की स्थितियों में जाता है। ज्यों-ज्यों वह आगे बढता है उसे चमत्कारिक शक्तियाँ (विभूतियाँ) प्राप्त हो जाती है। योगाभ्यास में श्रद्धा और आशा बढ जाती है। विभूतियों के कारण कई प्रलोभन आते है किन्तु योगी अपने लक्ष्य में दृढ रहता है और चाहे उसे इन्द्रासन का लोभ दिलाया जाए तो भी वह विचलित नहीं होता। उसकी प्रज्ञा प्रत्येक चरण पर बढ़ती जाती है। प्रज्ञा प्रत्यक्ष ज्ञान के समान स्पष्ट ज्ञान है किन्तु यह भेद है कि प्रत्यक्ष स्थूल पदार्थो और कुछ स्थूल गुणों को ही ग्रहण कर[1] सकता है जबकि प्रज्ञा की कोई ऐसी सीमाएँ नही हैं। वह सूक्ष्मतम पदार्थों, तन्मात्रों और गुणों को स्पष्ट रूप से उनकी समस्त स्थितियों और धर्मों[2] सहित ग्रहण कर सकती है। जब प्रज्ञा के संस्कार स्थिर हो जाते हैं तो सामान्य ज्ञान जनित संस्कार क्षीण हो जाते हैं, तब योगी प्रज्ञा में स्थित हो जाता है। प्रज्ञा की यह विशेषता है कि वह मोक्ष की ओर ही ले जाती है और सांसारिक बन्धन में नही बाँधती। मोक्ष की ओर ले जाने वाली प्रज्ञाएँ सात प्रकार की होती हैं—

(1) मैंने संसार को दु:खों और कष्टों के मूल के रूप में जान लिया है, मुझे इसका अब कुछ और नही जानना।

(2) संसार के मूल और आधार पूर्णत: उन्मूलित हो गए है, अब कुछ उन्मूलित होना बाकी नही रहा।

(3) निरोध समाधि के द्वारा मुक्ति सीधे ज्ञान का विषय हो गई है।

(4) पुरुष और प्रकृति में भेद के रूप मे सत्य ज्ञान का साधन प्राप्त हो गया है। अन्य तीन स्थितियाँ मनस्तात्विक (मानसिक) न होकर दार्शनिक प्रक्रिया से सम्बद्ध हैं। वे इस प्रकार हैं—

---

1. प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमाएँ कारिका में वर्णित हैं। वहाँ इस प्रकार के व्याघातक बतलाए हैं जैसे बहुत दूरी (आकाश मे बहुत ऊँचा उड़ने वाला पक्षी), बहुत निकटता (जैसे स्वयं आँख में लगा हुआ अंजन) इन्द्रिय विरह (आँख का अन्धा हो जाना), ध्यान का अभाव, विषय का अत्यन्त सूक्ष्म होना (जैसे परमाणु) मध्यवर्ती किसी पदार्थ द्वारा व्याघात (जैसे बीच में दीवार का आ जाना), अपने से अधिक प्रकाशमान वस्तु की विद्यमानता (जैसे तारे सूर्य की उपस्थिति मे नही दिखते) तथा अपने सजातीय अन्य पदार्थ में व्यामिश्र हो जाना (जैसे जल झील में डाल दिए जाने पर अलग से प्रत्यक्षीकृत नही हो सकता)।

2. यद्यपि समस्त पदार्थ गुणो के ही परिणाम हैं तथापि इन्द्रियों के ज्ञान द्वारा गुणों का वास्तविक स्वरूप कभी ज्ञात नही किया जा सकता। इन्द्रियो को जो प्रतिभास होता है वह इन्द्रजाल के समान मायात्मक धर्मों का ही होता है—

"गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्।"
(व्यास भाष्य 4/13)।

इस प्रकार गुणों का वास्तविक स्वरूप प्रज्ञा से ही ज्ञात हो सकता है।

क्योंकि इसके सीग हैं अथवा यह कहा जाए कि वह गाय है क्योंकि इसके सीग है तो यह दोनो वाक्य सदोप तर्क के उदाहरण हैं। इन्द्रिय विपय, इन्द्रियां और आत्मा के सयोग से सज्ञान उत्पन्न होता है और इस सज्ञान के आधार पर आत्मा की स्थिति के अनुमान मे किसी प्रकार का हेत्वाभास नही है। यह अनुमान युक्ति-सगत है, इसमे कोई दोप नही है। इसी प्रकार, जैसे अपनी आत्मा के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है उसी प्रकार यह अनुमान भी सहज ही किया जा सकता है कि अन्य व्यक्तियो मे भी आत्मा का अस्तित्व है। आत्मा के होने का एक आधार गति माना जा सकता है।[2] दूसरे अध्याय मे कहा गया है कि आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ (इन्द्रिय विपय) इन तीनों के सम्पर्क से ससार की उत्पत्ति होती है इसमे यह अनुमान किया जा सकता है कि 'मन' है। यह 'मन' एक द्रव्य है और शाश्वत है। इसके अस्तित्व का प्रमाण यह है कि सज्ञान की प्राप्ति के साथ ही मानवीय प्रयत्न का प्रारम्भ नहीं हो जाता। यह सज्ञान मन में निक्षिप्त रहता है और आवश्यक समय, स्थान और अवस्था मे इसका उपयोग किया जाता है, यह भी आसानी से अनुमान किया जा सकता है कि प्रत्येक प्राणी का अपना एक मन है।

श्वास-प्रश्वास से, नेत्रों की चमक, जीवन, मानस की गति, इन्द्रिय विपय, सुख, दु ख, सकल्प, घृणा और प्रयत्न से भी आत्मा का अनुमान किया जा सकता है। यह आत्मा एक द्रव्य है और शाश्वत है इसकी तुलना वायु से की जा सकती है। इस सम्वन्ध मे जिज्ञासु यह शका कर सकते हैं कि जव मैं किसी मनुष्य को देखता हूँ तो उसकी आत्मा को नहीं देखता। आत्मा के अस्तित्व का अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान है अर्थात् सुख दु ख सज्ञान के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि इन सवको प्राप्त करने वाला या अनुभव करने वाला कोई अस्तित्व होना चाहिए और वह आत्मा है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सुख-दु ख जिनका विपय है वह आत्मा ही है। वैशेपिक दर्शन का उत्तर यह है कि ऐसा कोई तत्त्व नही है जिसको 'अहम्' से सम्वोधित किया जाता है। यह 'मैं' जिसके लिए प्रयोग किया जाता है वही आत्मा है। इसके लिए किसी शास्त्र के प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इस पर पुन तर्क यह किया जाता है कि प्रत्यक्ष रूप से आत्मा का वोध इस अनुभव के आधार पर किया जाता है कि 'मै देवदत्त हूँ' या 'मैं यज्ञदत्त हूँ' तो फिर इस सम्वन्ध मे अनुमान की क्या आवश्यकता है। इसके उत्तर मे कहा जाता है कि यद्यपि आत्मा का अस्तित्व प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट है पर अनुमान प्रमाण के इस तथ्य की सत्यता को और अधिक वल मिलता है। यह इसकी पुष्टि का ही प्रमाण है। जव हम यह कहते है कि 'देवदत्त जाता है' या यह कहते हैं कि 'यज्ञदत्त जाता है' तो यह सन्देह होता है कि क्या इस सम्वोधन से शरीर मात्र का सकेत है या शरीर के अतिरिक्त भी कोई अन्य वस्तु है जो जाती है, देखती है, सुनती है। परन्तु इसके वाद सदेह की निवृत्ति तव हो जाती है जव

1 कणाद के द्वारा अनुमान के स्वरूप की जिस ढग की व्याख्या की गई है उससे ऐसा प्रकट होता है कि उनको सम्भवत गौतम की शब्दावली का परिचय नहीं था।

से दूसरी वस्तु का अन्तर स्पष्ट होता है। भाव या सत्ता के समान स्थान भी 'एक' माना गया है। सूर्य की गति को आधार मानते हुए जब हम इस अनन्त आकाश को देखते हैं तो एक स्थान का सम्बन्ध अनेक स्थानों से अनेक प्रकार का दिखाई देता है। 'शब्द' अनन्त है या नहीं इसका विवेचन करते हुए वह पहले संदेह का विवेचन करते हैं। संदेह क्या है? किसी वस्तु के बारे में सन्देह उस दशा में होता है जब हम उसको सामान्य दृष्टि से देखते हैं। उस वस्तु की विशेषताओं को जब हम निकट से नहीं देख पाते अथवा हम स्मृति के बल पर उन विशेषताओं का पुनः अवलोकन करते हैं या कोई गुण अथवा विशेषता किसी अन्य वस्तु में देखी विशेषता से साम्य रखती है, अथवा जब कोई वस्तु पूर्वकाल में किसी अन्य कोण से देखी गई थी और अब वह किसी अन्य कोण या वातावरण में दिखाई देती है तो हम उसके स्वरूप को पूर्णरूपेण ग्रहण न करने के कारण उसके सम्बन्ध में संदेह करने लगते हैं। इस व्याख्या के पश्चात् कणाद मुनि पहले 'शब्द' के अशाश्वत और अस्थायी होने के तर्कों को प्रस्तुत करते है और फिर अन्तिम रूप से यह सिद्ध करते हैं कि 'शब्द' शाश्वत (नित्य) और अनन्त है।

तीसरी पुस्तक के प्रथम अध्याय में आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में व्याख्या की गई है। इन्द्रियों के द्वारा जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है उसके स्थायी निवास या आधार के रूप में कोई पदार्थ होना चाहिए। इन्द्रियाँ प्राप्ति की माध्यम है, जो प्राप्त करता है वह अन्य पदार्थ होना चाहिए। यह पदार्थ ही आत्मा है, जो ज्ञान को इन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण करती है।

इन्द्रियों के जो विषय हैं, (इन्द्रियार्थः) उनके ज्ञान के अनुरूप ही हम अन्य विषयों की कल्पना करते हैं। जिन पदार्थों को हम इन्द्रिय ज्ञान से प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं उसी के आधार पर अन्य उनके समान अथवा असमान पदार्थों का अनुमान करते हैं। कई प्रकार के अनुमान की विवेचना की गई है। जैसे (1) कुछ पदार्थों के अस्तित्व के आधार पर अन्य वस्तुओं की अस्तित्वहीनता का अनुमान। 'भाव' (सत्ता) से अभाव का अनुमान (2) कुछ पदार्थों के अभाव से अन्य वस्तुओं के होने की अथवा उनकी सत्ता का अनुमान (अभाव से 'भाव' का अनुमान) (3) कुछ वस्तुओं के अस्तित्व के आधार पर अन्य वस्तुओं के भी अस्तित्व का अनुमान, (भाव से भाव का अनुमान)। इन सारे अनुमानों में यह आवश्यक है कि अनुमान के आधार का आधेय से, अथवा जिसका अनुमान किया जाता है उससे कोई सम्बन्ध होना चाहिए। एक-दूसरे से सम्बन्ध होना अनुमान के लिए आवश्यक है–'प्रसिद्धि पूर्वकत्वात् अपदेशस्य।'[1] जब इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता तो अनुमान में हेत्वाभास 'अनपदेश' या 'संदिग्ध' (सन्देहपूर्ण हेतु) दोष होता है। यदि कहा जाए कि यह घोड़ा है

---

1. इस प्रसंग में तर्क-दोष अथवा तर्काभास का भी सूक्ष्म रूप से विवेचन किया गया है। इस विवेचन में गौतम की शब्दावली का उल्लेख नहीं किया गया है। किसी सिद्धान्त की भी व्याख्या नहीं की गई है केवल अनुमान के विशिष्ट प्रकारों का संकेत किया गया है।

अध्याय 8

न्याय-वैशेषिक दर्शन

न्याय दृष्टिकोण से बौद्ध और सांख्य दर्शन की आलोचना

बौद्ध दर्शन के मतानुसार सभी सन्निवेश (द्रव्य समुच्चय) क्षणिक एव अस्थायी हैं। एक समुच्चय के नाश की पृष्ठभूमि मे दूसरे समुच्चय की उत्पत्ति होती है। इस सिद्धात ने साधारण व्यावहारिक बुद्धि पर आधारित, द्रव्य और गुण, कारण-कार्यभाव, एव वस्तुओ के स्थायित्व की सारी धारणाओ को हिला दिया था। परन्तु बौद्ध दर्शन मे वर्णित क्षणिकत्व सिद्धान्त न्याय दर्शन के मतानुसार युक्ति-सगत दिखाई नही देता। जब यह कहा जाता है कि दूध को बनाने वाले तत्त्वो से दही तत्त्व-पुन्ज उत्पन्न हो गये तब बौद्ध व्याख्या के अनुसार कारण-तत्त्वो की सम्मिलित प्रक्रिया के फलस्वरूप यह क्रिया होती है जिसकी कार्य-विधि को हम नही समझ पाते। परन्तु कारण-तत्त्व स्वतन्त्र रूप से कार्य की उत्पत्ति नही कर सकते। कारण-तत्त्व पुन्जो की स्वतन्त्र क्रिया मे कार्य-तत्त्व पुन्ज की उत्पत्ति हमारे अनुभव और साधारण ज्ञान के विपरीत है। कारण-रूप के विशेष तत्त्व कार्य तत्त्व पुन्ज मे भी पाये जाते हैं। अत यह नही कहा जा सकता कि एक क्षण मे ही पहला पदार्थ नष्ट हो गया और दूसरे पदार्थ की उत्पत्ति हो गई। उदाहरण के लिए दूध (कारण तत्त्व) में जो श्वेत तत्त्व है वह दही मे भी पाया जाता है। इसी प्रकार लोहे के कणो मे जो काला रग, और अन्य गुण पाये जाते हैं, वे उससे निर्मित लोहे के गोले में नहीं पाये जाएँगे, यह नही कहा जा सकता। स्पष्ट है कि कारण तत्त्व पुन्जो का स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। स्वतन्त्र रूप से वे किसी कार्य स्थिति का प्रादुर्भाव नही कर सकते। यदि एक तत्त्व-पुन्ज, क्षण में ही समाप्त हो जाता है, तो कारण तत्त्व-पुन्ज द्वारा जो द्रव्य कार्य रूप मे उत्पन्न किया जाता है उसमें पूर्व वस्तु के गुणो का समावेश नही हो सकता। पुन यदि यह क्षणिकत्व सिद्धान्त मान भी लिया जाए और यह कहा जाए कि सारे कारण-तत्त्व एक साथ, सम्मिलित रूप मे एक ही क्षण में (प्रभाव रूप से) कार्य तत्त्व पुन्ज की उत्पत्ति करते हैं, तो फिर विभिन्न कारणों में किसी प्रकार का अन्तर करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी। 'उपादान' 'निमित्त' और 'सहकारी' कारण सब एक ही हो जाएँगे। जैसे घडे के निर्माण में मिट्टी (जिससे वस्तु बनती है) उपादान कारण है, कुम्हार, चक्र और दण्ड ये सब निमित्त कारण हैं और चक्र दण्ड आदि का रग-रूप सहकारी कारण हैं। पर यदि कारण-तत्त्व समुच्चय किसी अज्ञात प्रक्रिया से सयुक्त रूप से कार्य प्रभाव की सृष्टि करते हैं तो फिर इन उपादान, निमित्त आदि कारणो की कोई आवश्यकता नहीं है।

(5) बुद्धि के दोनों उद्देश्य, भोग और अपवर्ग प्राप्त हो गए हैं।

(6) पर्वताग्र से गिरे हुए पत्थरों की भाँति विघटित गुण अपनी लयात्मक प्रवृत्ति के कारण आपस में विलीन होने लगे है।

(7) बुद्धि के समस्त घटक विघटित हो गए हैं और गुण प्रकृति में लीन होकर सदा के लिए उसी मे रह गए है। गुणो के बन्धन से मुक्त होकर पुरुष अपने शुद्ध चित् स्वरूप मे चमकने लगता है। सांख्य योग की मुक्ति मे आनन्द का कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि समस्त भावनाएँ और अनुभव प्रकृति के ही स्वरूप माने गए हैं। मुक्ति तो शुद्ध चित् की स्थिति है। जिस उद्देश्य को सांख्य ज्ञान मार्ग से प्राप्त करना चाहता है उसे योग मन के सम्पूर्ण अनुशासन तथा चित्त वृत्तियों के पूर्ण मानसिक नियंत्रण द्वारा प्राप्त करता है।

□□□

पुन जब कारण-तत्त्व समूह का आविर्भाव होता है, तब वह तत्काल, उसी क्षण मे कार्य तत्त्वो की उत्पत्ति नही कर सकता । कम से कम एक और क्षण की आवश्यकता होगी जिसमे वह कार्य तत्त्व-समहो की उत्पत्ति कर सके। इस स्थिति में जो वस्तु उत्पन्न होने वाले क्षण में ही विनष्ट हो जाती है, वह दूसरी वस्तु को कैसे उत्पन्न कर सकती है । क्योकि इसकी कार्यक्षमता के लिए कम से कम एक और क्षण तो चाहिए जिसमे वह प्रभावशील हो सके । सत्य यह है कि विभिन्न कारण तत्त्व पहले से ही विद्यमान रहते हैं और जब उनका उचित अवस्था और अनुपात मे सयोग होता है तब नए द्रव्यो की उत्पत्ति होती है । जीवन के व्यावहारिक अनुभव से भी हम देखते हैं कि विभिन्न वस्तुएँ पहले से चली आ रही हैं, ये पूर्वकाल मे भी थी और वर्तमान मे भी हैं । पूर्व काल को हम भूत काल के रूप मे, इस समय को वर्तमान और आगे आने वाले काल को भविष्यत् के रूप मे देखते हैं और साथ ही यह भी देखते हैं कि भूतकाल से अनेक वस्तुएँ उसी रूप मे चली आ रही हैं और भविष्यत् मे भी उनकी स्थिति कुछ काल तक तो अवश्य ही रहेगी । अत यह सिद्धान्त कि वस्तुओं का अस्तित्व केवल एक क्षणमात्र के लिए ही है, युक्ति-सगत नही लगता । द का स्पष्ट

साख्य दर्शन की मान्यता है कि कार्य केवल विभववान कारणो की कार्यान्वि[illegible] उनको है । कारण-स्थिति मे भविष्य मे सम्पन्न होने वाले सारे कार्यो की अनुगुप्त स्थिति हो[illegible] विद्या विभव रूप से कारण मे कार्य की स्थिति निहित है । कारण के गतिशील होने के पू[illegible] ह। उसमे सारे कार्यो का विभव होता है यह सिद्धान्त भी न्याय के अनुसार आधारहीन दिखाई देता है । साख्य कहता है कि तिल में तेल पहले से ही विद्यमान है पर पत्थर में नही है । अत तिल से तेल उत्पन्न होता है, पत्थर से नही होता । निमित्त कारण का केवल इतना ही योग है कि जो मूल कारण में पहले ही से विभव रूप मे विद्यमान है उसको प्रकट करे अथवा उसकी कार्यान्विति कर दे । यह सब असगत है । मिट्टी का पिण्ड कारण कहा जाता है और घडा कार्य । यह कहना हास्यास्पद है कि मिट्टी के पिण्ड मे घडा विद्यमान है क्योंकि मिट्टी के पिण्ड से हम जल नही भर सकते । घडा मिट्टी से बनाया जाता है पर मिट्टी घडा नहीं है । इस कथन से क्या अर्थ है कि घडा अव्यक्त (सूक्ष्म) रूप से मिट्टी मे स्थित था जो अब व्यक्त रूप मे प्रकट हो गया । विभव स्थिति का कथन भी अर्थहीन है । घडे की विभव स्थिति, इसकी वास्तविक स्थिति से कोई सगति नहीं रखती । सरल शब्दो मे, घडा विद्यमान ही नहीं था । उसका कोई अस्तित्व नहीं था । मिट्टी का पिण्ड मिट्टी के रूप में है । जब तक इससे घडा नही बनाया जाता, घड़े की कोई स्थिति नहीं है । अगर यह कहा जाए कि घडे का निर्माण करने वाले परमाणु वही हैं जो मिट्टी को बनाते हैं तो इसे स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नहीं है । पर इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि घडा इन परमाणुओ मे विद्यमान है । मिट्टी की यह योग्यता है कि वह कुम्हार के द्वारा अन्य साधनो के योग से घडे के रूप मे परिवर्तित की जा सकती है । पर यह योग्यता कार्य-प्रभाव नही है । योग्यता को कार्य नही कहा जा सकता । यदि यह मान लिया जाए तो इसका अर्थ होगा कि घडे से घडे की उत्पत्ति हुई । साख्य का यह मत भी कि द्रव्य और उसके गुण एक ही तत्त्व है, उचित प्रतीत नहीं होता । यह तो साधारण अनुभव से ही सिद्ध है कि गति और गुण द्रव्य

के धर्म हैं, गुण के नहीं। सांख्य का यह मत भी बड़ा हास्यास्पद है कि बुद्धि और चेतना (चित्) अलग-अलग है। बुद्धि को अचेतन या चेतनाहीन मानना अर्थहीन है। फिर इस व्यर्थ की कल्पना से क्या लाभ है कि बुद्धि के गुण-तत्त्व से 'पुरुष' प्रकाशित होता है और फिर यह अपना प्रकाश बुद्धि को देता है। हमारे सारे अनुभवों के आधार पर यह स्पष्ट दिखाई देता है कि आत्मा (आत्मन्) ज्ञान को प्राप्त करता है, संवेदना और संकल्प भी आत्मा का विषय है। इस साधारण तथ्य को सांख्य को स्वीकार कर लेना चाहिए कि संवेदना, संकल्प और ज्ञान तीनों बुद्धि के धर्म हैं। फिर अनुभव की व्याख्या के लिए सांख्य को दुहरे परावर्तन (प्रतिबिम्ब) की तरह कल्पना का आश्रय लेना पड़ा। सांख्य की कल्पना में प्रकृति 'चित्' रूप में नहीं है, जड़ है। 'पुरुष' इस प्रकृति के पाश में बंधा हुआ मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस बात का क्या प्रमाण है कि यह जड़ प्रकृति पुरुष को अपने बन्धन से मुक्त कर देगी और इसका भी कैसे विश्वास किया जाए कि प्रज्ञावान् पुरुष को यह प्रकृति पुनः अपने बन्धन में नहीं जकड़ लेगी और सदैव के लिए मुक्त कर कर देगी। पुनः यह ...र्य है कि यह बुद्धिमान चेतन 'पुरुष' इस जड़ प्रकृति के बन्धन मे कैसे बंध जाता है। ...न का उपभोग अनेक 'पुरुष' कर रहे हैं। क्या प्रकृति कोई सुकोमल अभिजात किशोरी है ...पुरुष' को उसके नग्न स्वरूप का पता लगते ही लजा कर छोड़ जाएगी। फिर, सुख, ... और मोह, आत्मा की संवेदनात्मक अनुभूतियाँ हैं, इनको सांख्य ने किस प्रकार भौतिक तत्त्वों के रूप में मानने का दुःसाहस किया है। इसके अतिरिक्त सृष्टि रचना के सिद्धान्त में 'महत्', अहंकार', 'तन्मात्रा' आदि की कल्पना का कोई ठोस, युक्ति-संगत आधार नहीं है। यह केवल प्रमाणहीन मानसिक कल्पना है जिनको अनुभव या किसी प्रत्यक्ष आधार पर सिद्ध नही किया जा सकता। यह सब तथ्यहीन भ्रान्तियाँ हैं। अनुभव के यथार्थ रूप को जानने के लिए यह अनावश्यक है कि युक्तियुक्त और व्यावहारिक दृष्टिकोण से इसका समुचित विवेचन किया जाए क्योंकि यह विवेचन अन्य मतों में नहीं मिलता (न्याय मंजरी पृ० 452–466 और 490-496 देखिए)।

न्याय और वैशेषिक सूत्र

सम्भवतः 'न्याय' शब्द की उत्पत्ति अनेक विद्वानों के द्वारा वेदविषक वार्ताओं और विवादादि के संदर्भ में हुई होगी अथवा उस समय अनेक मत मतान्तर, शाखा-प्रशाखाएँ ऐसी थीं, जो दूसरों को हराकर अपनी मान्यता स्थापित करवाने के लिए विशेष रूप से शास्त्रार्थ किया करती थी। यह भी सम्भव हो सकता है कि इन शास्त्रार्थों के लिए एक युक्ति-संगत विधि निर्माण करने के प्रसंग में न्याय ने जन्म लिया हो। यह जानकारी हमको उपलब्ध है कि उपनिषदों के अर्थादि विषयों को लेकर शास्त्रार्थ हुआ करते थे और शास्त्रार्थ की विधि का अध्ययन करना एक विशेष विद्या मानी जाती थी। सम्भवतः यह 'विद्या' उस समय 'वाकोवाक्य' की संज्ञा से जानी जाती थी। बूहलर के मतानुसार आपस्तंब नाम के विद्वान् का कार्यकाल इसी से तीन शताब्दी पूर्व होना चाहिए। श्री बोडास का कथन है कि

आपस्तव ने 'न्याय' शब्द का प्रयोग मीमासा के रूप मे किया है।[1] इस शब्द 'न्याय' की उत्पत्ति सस्कृत की 'नी' धातु से हुई है। इसके अर्थ की विवेचना करते हुए यह कहा जाता है कि इसी के द्वारा शब्दों और वाक्यों के निश्चित अर्थो का वोध होता है। इस न्याय के आधार पर ही वैदिक शब्दों का उच्चारण निश्चित किया जाता है। इस उच्चारण और स्वर-वल के आधार पर सस्कृत शब्दो के सन्धि-विच्छेद मे सहायता मिलती है जिससे इन सन्धिगत शब्दों के सही स्वरूप का निरूपण हो सके। अत वैदिक शब्दो के उच्चारण को भी 'न्याय' की सज्ञा दी जाती थी।[2] कौटिल्य ने 'विद्याओ (विज्ञान) की सूची मे 'आन्वीक्षिकी' (प्रत्यक्ष और शास्त्रीय ज्ञान की विविध परीक्षाओ द्वारा सत्यासत्य विवेचन का विज्ञान), 2 त्रयी (तीनों वेद), 3 वार्ता (कृषि एव पशुपालन विज्ञान) 4 दण्डनीति (राजनीति) इन चार विद्याओ का वर्णन दिया है। दर्शनो मे उन्होंने 'साख्य', 'योग', 'लोकायत' और 'आन्वीक्षिकी' इन चार दर्शनों का उल्लेख किया है। इसके आधार पर प्रोफेसर जैकोवी ऐसी कल्पना करते हैं कि ईसा से 300 वर्ष पूर्व कौटिल्य के समय तक न्याय सूत्र का निर्माण नहीं हुआ था।[3] कौटिल्य ने न्याय के लिए आन्वीक्षिकी शब्द का प्रयोग किया है। अत प्रोफेसर जैकोवी को उपर्युक्त भ्रान्ति हुई है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि उस समय तक न्याय शब्द का प्रचलन कम हो पाया था। इसी प्रकार उनको वात्स्यायन के कथन को समझने मे भी भ्रांति हुई है। वात्स्यायन कहते हैं न्याय वही विद्या है जो कौटिल्य के समय में आन्वीक्षिकी के नाम से प्रसिद्ध थी। न्याय सूत्र I 1.I प्रोफेसर जैकोवी ने इसका अर्थ यह समझा कि वात्स्यायन इन दोनो में भेद वतलाते हैं। प्रोफेसर जैकोवी ने यह अनुमान किया कि 'आन्वीक्षिकी' का अर्थ तर्कशास्त्र से है और न्याय का विषय तर्कशास्त्र और आध्यात्मिक दर्शन दोनों हैं। वात्स्यायन इसके विपरीत निश्चित रूप से न्याय और आन्वीक्षिकी एक ही विद्या मानते हैं और कहते हैं कि यही विद्या कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी रूप से अभिहित की है। वे दोनो को अभिन्न मानते हैं। हाँ, वे यह अवश्य करते हैं कि केवल तर्कशास्त्र के कुछ अगो को निश्चित रूप देकर उनको अलग से स्थापित करना चाहते हैं जैसे सशय (शका) आदि। साधारण रूप से ये पारिभाषिक शब्द 'प्रमाण' (सज्ञान के साधन) और 'प्रमेय' (सज्ञान के विषय) मे सम्मिलित हैं। श्रीवात्स्यायन का मत है कि जव तक इन परिभाषात्मक शब्दों को निश्चित रूप नही दिया जावेगा न्यायशास्त्र

---

1 'आपस्तव' ग्रन्थ की भूमिका श्री वुहलर द्वारा अनुवाद मे इन्ट्रोडक्शन पेज XXXVII देखिए। साथ ही श्री वोडास का लेख, वाम्बे शाखा के जे० आर० ए० एस० वाल्यूम XIX में 'हिस्टोरिकल सर्वे आफ इण्डियन लौजिक' देखिए।

2 कालिदास के कुमारसम्भव में कहा है 'उद्घाते प्रणवो यासाम् न्यायैस्त्रिभिरूदीरणम्।'
(इस पर मल्लिनाथ की टीका भी देखिए)।

3 प्रोफेसर जैकोवी द्वारा लिखित पुस्तक "दि अरली हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी" एन्टीक्विटी 1918 देखिए।

भी उपनिपदो की तरह 'अध्यात्म विद्या' में परिवर्तित हो जाएगा। इस हेतु न्याय के विशिष्ट शब्दों की एवं उपशाखाओं की पृथक् स्थापना अत्यन्तावश्यक है। 'न्याय' का प्राचीन अर्थ है 'उचित अर्थो का निश्चय करना'। इससे वात्स्यायन भी सहमत हैं। श्री वाचस्पति मिश्र ने भी अपनी 'न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका' (I iv) मे इस अर्थ को स्वीकार किया है। वाचस्पति 'न्याय' शब्द का अर्थ, तर्क एवं प्रमाण के आधार पर किसी वस्तु का परीक्षण करना वतलाते हैं—'**प्रमाणैरर्थ परीक्षणम्**।' इस अर्थ की तुलना वे आन्वीक्षिकी शब्द के धातुगत अर्थ से करते हैं। 'आन्वीक्षिकी' का धातुगत अर्थ प्रत्यक्ष और शास्त्रो से प्राप्त ज्ञान का यथार्थ परीक्षण करना है। वात्स्यायन साथ ही यह कहते हैं कि न्याय के तार्किक अंग का क्षेत्र वड़ा व्यापक है। सारे प्राणियों, उनकी सारी क्रियाओं और सारी विद्याओं का अध्ययन तर्कशास्त्र द्वारा किया जा सकता है।[1] कौटिल्य का उद्धरण देते हुए वे कहते हैं कि न्याय की इस क्षमता से सारी विद्याएँ प्रकाशित होती है और सारे शास्त्रो का आधार न्याय है। अध्यात्म दर्शन के समुचित निरूपण और सत्य के स्वरूप को जानने में इससे जो सहायता मिलती है, उसके कारण यह मोक्ष का साधन है। प्रोफेसर जैकोवी का यह मत है कि अध्यात्म, न्याय मे आरम्भ में सम्मिलित नही था, अपितु वाद में जोड़ा गया है। यह मत वहुत अंशो में सच हो सकता है। वात्स्यायन स्वयं भी तर्कशास्त्र की पृथक् शाखा "पृथक्-प्रस्थान" के रूप मे उल्लेख करते हैं पर इन सवसे यह अर्थ नही निकलता कि कौटिल्य के समय मे न्याय की स्थापना हुई थी अथवा अध्यात्म, कौटिल्य के काल मे न्याय का अंग नही था। वात्स्यायन ने तर्क पर विशेष वल दिया है। उसका कारण स्पष्ट है। अध्यात्म के महत्त्व को सभी स्वीकार करते थे पर तर्क शास्त्र के महत्त्व को वह स्थान प्राप्त नही था। इसका प्रतिपादन वेद, धर्मशास्त्र उपनिषद् के आधार पर नही किया जा सकता था। अतः वात्स्यायन को कौटिल्य की सहायता लेनी पड़ी। कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी को विद्याओं मे ही सम्मिलित नही किया है पर दर्शन की सूची मे भी पुनः 'आन्वीक्षिकी' का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि कौटिल्य इसको अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विद्या और दर्शन मानते थे। इससे यह भी धारणा वनती है कि सम्भवतः 'न्याय' की उस समय दो शाखाएँ होगी। एक शाखा 'अध्यात्म' और दूसरी शाखा 'तर्क' का निरूपण करती होगी। यह भी सम्भव है कि तर्कशास्त्र के साथ अध्यात्म का अंग वाद मे जोड़ा गया हो जिसका उद्देश्य न्याय के नीरस विषय को अधिक रुचिकर ग्राह्य वनाने का रहा हो। इन दोनों अगो का संगठन कुछ शिथिल

'येन प्रयुक्ता. प्रवर्तन्ते तत् प्रयोजनम्' (जिसके द्वारा प्रेरित प्राणी कर्म करता है वह ...जन (प्रयोजनम्) है यमर्थम् अभीप्सन् जिहासन् वा कर्म आरभते तेनानेन सर्वे ...र्वाणि कर्माणि सर्वाश्च विद्याः तदाश्रयश्च न्यायः प्रवर्तते' (जिस अर्थ से ...वस्तु की प्राप्ति के लिए कर्म करता है अथवा जिससे प्रेरित कार्य का 'प्रयोजन' है, अतः मनुष्य के सारे क्रिया व्यापार और सारी ... आती है। ये सारे प्रयोजन 'न्याय' का विषय है।

—वात्स्यायन भाष्य।

सा है जिससे उपर्युक्त कथन को और भी वल मिलता है। प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने "जरनल ऑफ दि वगाल एशियाटिक सोसायटी 1805" में एक लेख मे कहा है कि वाचस्पति ने न्याय सूत्रो का सकलन करने के लिए दो प्रयत्न किए हैं। पहले प्रयत्न मे उसने 'न्याय सूची' ग्रन्थ की रचना की और दूसरे मे 'न्याय सूत्रोद्धार' ग्रन्थ की। ऐसा प्रतीत होता है कि वाचस्पति के समय मे वह स्वय भी निश्चित रूप से नहीं कह सकता था कि इनमे कौन से सूत्र मूल न्याय शास्त्र के न होकर क्षेपक मात्र हैं। इसका भी निश्चित प्रमाण मिलता है कि अनेक सूत्र क्षेपक के रूप मे 'न्याय सूत्र' में सम्मिलित कर दिये गये हैं। श्री हरप्रसाद शास्त्री इस प्रसग मे जापान और चीन की वौद्ध, परम्परागत किंवदन्ती का वर्णन करते हैं जिसकी यह मान्यता है कि श्री मिरोक ने 'न्याय और योग' दोनों को भ्रान्तिवश सम्मिलित कर दिया है। उनके अनुसार न्याय सूत्रो के दो सस्करण, एक किसी वौद्ध के द्वारा और दूसरा किसी हिन्दू के द्वारा सपादित किए गए होगे। हिन्दू सम्पादक ने वौद्धो के विचारो का खण्डन करते हुए हिन्दू मत की पुष्टि की है। श्री शास्त्री के मत में काफी सत्य हो सकता है। परन्तु हमारे पास ऐसा कोई आधार नही है जिसमे हम क्षेपको के समय का निर्धारण कर सकें। इस तथ्य से कि न्याय सूत्र में अनेक क्षेपक हैं, इसके रचना काल का निश्चय करना और भी कठिन हो जाता है। वौद्ध उद्धरणो से भी कोई सहायता नही मिलती। प्रो० जैकोबी ने वौद्ध शून्यवादी उद्धरणो के आधार पर इसके रचना काल का निश्चय करने का जो प्रयत्न किया है, उसका भी उपर्युक्त सदर्भ के प्रकाश मे कोई महत्त्व नही रह जाता। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि शून्यवादी प्रसग के कारण 'न्याय सूत्र' की रचना श्री नागार्जुन के वाद हुई होगी। पर इसको भी निश्चित रूप से नही माना जा सकता क्योकि नागार्जुन से पूर्व लिखे हुए महायान-सूत्रो मे भी शून्यवादी प्रसगो का उल्लेख मिलता है।

स्वर्गीय डा० विद्याभूषण जे० आर० ए० एस० 1918 मे लिखे एक लेख मे ऐसा उल्लेख करते हैं कि न्याय का पूर्व भाग गौतम ने 550 ईसवी पूर्व लिखा है और श्री अक्षपाद के द्वारा न्याय सूत्र की रचना सन् 150 (ई० पश्चात्) की गई होगी। 'महाभारत' I. I 67 1 70 42-51 मे 'न्याय' शब्द का प्रयोग तर्क के अर्थ मे किया गया है। श्री विद्याभूषण के मतानुसार इसे क्षेपक समझना चाहिए। इस धारणा के लिए वे कोई प्रमाण प्रस्तुत नही करते हैं। उनके विषय विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी प्रकार यह सिद्ध करना चाहते थे कि श्री अक्षपाद ने अरिस्टोटल से प्रभावित होकर 'न्याय सूत्र' की रचना की और इस हेतु उन्होंने अक्षपाद द्वारा न्याय सूत्र रचना काल का निर्धारण 150 ईसवी पूर्व किया है। उनकी इस कपोल कल्पना का कोई विशेष प्रतिवाद करने की आवश्यकता प्रतीत नही होती। परन्तु हमारा ध्येय 'न्याय सूत्र' की रचना काल का वास्तविक समय निर्धारण करना है जिस पर उपर्युक्त विवाद से कोई निश्चित प्रकाश नही पडता।

श्री गोल्ड-स्टुकर के मतानुसार पतजलि (140 ई० पू०) और कात्यायन

चौथी शताब्दी) दोनों को न्याय सूत्र का ज्ञान था।[1] हम ये भी जानते हैं कि कौटिल्य भी न्याय को आन्वीक्षिकी के रूप में जानते थे और उनका काल 300 ई० पू० है। अतः इन आधारों पर यह कहा जा सकता है कि न्याय सूत्र की रचना ईसा मसीह के 400 वर्ष पूर्व हुई होगी। परन्तु कुछ अन्य कारणों के आधार पर मेरा मत है कि न्याय सूत्र के प्रस्तुत सूत्रों मे से कुछ अवश्य ही दूसरी शताब्दी में लिखे गये हैं। श्री वोडास का कथन है कि बादरायण सूत्रों मे जो सकेत मिलते हैं वे वैशेषिक दर्शन के प्रसंग मे हैं और न्याय से उनका कोई सम्बन्ध नही है। इस आधार पर उनका विचार है कि वैशेषिक सूत्रों की रचना बादरायण के 'ब्रह्म-सूत्र' के पूर्व हुई है और न्यायसूत्र तत्पश्चात् लिखे गये हैं। श्री चन्द्रकांत तर्कालंकार भी अपने वैशेषिक दर्शन के संस्करण में ऐसा अभिमत प्रकट करते हैं कि वैशेषिक सूत्र न्याय से पूर्व लिखे गये हैं। लेखक के अनुसार यह पूर्ण निश्चित है कि वैशेषिक सूत्रों की रचना चरक (80 ई० पश्चात्) के पूर्व हुई है क्योंकि चरक ने स्थान-स्थान पर वैशेषिक सूत्रों के उद्धरण दिये हैं और उसकी चिकित्सा मे सम्पूर्ण औषध-शास्त्रीय भौतिक विज्ञान का आधार वैशेषिक दर्शन मे वर्णित भौतिकी है।[2] 'लकावतार सूत्र' भी इस परमाणु विज्ञान का उल्लेख करता है और क्योकि इसका उद्धरण अश्वघोष ने किया है अतः यह निश्चित रूप से 80 ई० से पूर्व का ग्रन्थ होना चाहिए। कुछ अन्य भी ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण पाये जाते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैशेषिक सूत्रों की रचना बौद्धकाल के पूर्व हुई है।[3]

यह भी निश्चित है कि न्याय के तर्क अंग की रचना के पूर्व भी अन्य दर्शनों व मतों में तर्क के सम्बन्ध मे अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार की विवेचनाएँ की है। इस प्रकार स्वयं वात्स्यायन न्याय सूत्र के 32वें सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यह सूत्र जिसमें हेत्वनुमान के पाँच आधार वाक्यों (अवयवों) का उल्लेख किया है, उन लोगों की धारणा का खण्डन करने के लिए लिखा है जो ये मानते हैं कि हेतुमत् अनुमान में दस अवयव होते हैं।[4] वैशेषिक सूत्र मे भी अनुमान के प्रारम्भिक विवेचन के प्रसग मिलते हैं, परन्तु इन प्रसगों मे 'न्याय' अनुमान सिद्धान्त की जानकारी नही दिखाई देती।[5]

क्या मीमांसा का प्राचीन दर्शन ही वैशेषिक दर्शन है ?

वैशेषिक दर्शन का न्याय के साथ ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि साधारणतया यह कल्पना करना असम्भव-सा लगता है कि यह मीमासा के प्राचीन दर्शन का ही स्वरूप है

---

1. गोल्ड स्टकर—'पाणिनि' पृष्ठ 157।
2. चरक 'शरीर' 39।
3. अगला अनुभाग देखिए।
4. न्याय सूत्र, I i. 32 पर वात्स्यायन भाष्य। यह संकेत 'दश वैकालिक निर्युक्ति' में वर्णित जैन दृष्टिकोण की ओर है जैसा हम पहले देख चुके हैं।
5. न्याय सूत्र I i. 5 और वैशेषिक सूत्र XI ii I-2, 4-5 और III i. 8-17।

नही है। यहाँ सारा तर्क इस तथ्य पर किया गया है कि आत्मा का वोध 'अनुमान' से होता है अथवा 'अहम्' के स्वतः ज्ञान से होता है। इन विवेचनो मे किसी अन्य दर्शन का भी कोई उल्लेख या प्रसंग नही पाया जाता।

केवल प्राचीन मीमांसा सिद्धान्तों का अथवा कही-कही सांख्य का प्रसंग अवश्य मिलता है। यह विश्वास करने का भी कोई आधार नही मिलता कि जिन मीमासा-सिद्धातो के सकेत इस सूत्र मे मिलते हैं वे जैमिनि के 'मीमांसा सूत्र' के आधार पर दिए गए हैं। अनुमान की जो व्याख्या दी गई है उससे पता चलता है कि 'पूर्ववत्' और 'शेषवत्'की न्याय-शब्दावली का ज्ञान उस समय नही था। 'वैशेपिक सूत्र' अनेक स्थानों पर ऐसा उल्लेख करते हैं कि काल ही आदि और अन्तिम महाकारण है।[1] हमको यह भी मालूम है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् मे उन दार्शनिकों का प्रसंग आता है जो काल को आदि कारण मानते हैं, लेकिन किसी भी दर्शन ने इस प्राचीन दृष्टिकोण को मान्यता नहीं दी है।[2] इन सारे कारणों से और शैली के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये सूत्र वौद्ध-दर्शन से पूर्ववर्ती और वैशेपिक दर्शन पर प्राचीनतम उपलब्ध सूत्र है।

'वैशेपिक सूत्र' का प्रारम्भ इस उक्ति के साथ होता है कि इस सूत्र का उद्देश्य 'धर्म' की व्याख्या करना है। इस प्रकार की व्याख्या करना वास्तव मे 'मीमांसा' का काम है और हम यह भी जानते हैं कि जैमिनि अपने मीमासा सूत्र का प्रारम्भ धर्म की परिभाषा से करते हैं जो अन्य दर्शन-ग्रन्थों की विधि नही है। यह प्रथम दृष्टि मे आप्रसंगिक लगता है कि वैशेपिक दर्शन जिसका क्षेत्र पदार्थ की व्याख्या करना है, धर्म व्याख्या ग्रन्थ का प्रारम्भ करता है।[3] वैशेपिक दर्शन मे धर्म की परिभापा के सम्वन्ध में कहा है कि धर्म वह है जिससे अभ्युदय और 'निश्रेयस्' (कल्याण) की प्राप्ति होती है क्योकि वेदो के आदेश पालन से 'अभ्युदय' और निश्रेयस् की प्राप्ति होती है, अतः वेद को प्रामाणिक मानना चाहिए। पुस्तक के अन्त मे कहा है कि वैदिक कर्म अज्ञात रूप से मनुष्य की समृद्धि में सहायक होते हैं। साधारण वैदिक कृत्य जिनको हम नित्य किसी कामना के विना ही करते रहते हैं, उनसे भी सासारिक वृद्धि, अभ्युदय आदि प्राप्त होते है यद्यपि हमको उनमें निहित यह शक्ति साधारण वुद्धि से समझ में नही आती है। अतः वेदों को प्रामाणिक मानकर उसकी आज्ञाओं

---

1. वैशेपिक सूत्र (II ii 9) और v.ii. 26।
2. श्वेताश्वतर i. i. 2।
3. 'कालाप व्याकरण' के प्राचीन भाष्य मे एक श्लोक मुझे ऐसा याद पड़ता है जिसमें कहा गया है कि कणाद के द्वारा अपने 'वैशेषिक सूत्र' मे धर्म की व्याख्या करने का मन्तव्य प्रकट करने के पश्चात् पट्गुणों की व्याख्या करना अप्रासंगिक है। यह तो ऐसा ही हुआ जैसे यह कहा जाए कि हम हिमालय की ओर प्रस्थान करेंगे और फिर समुद्र की ओर चल दिया जाए। 'धर्मम् व्याख्यातुकामस्य सत्पदार्थोपवर्णनम्—हिमवद्गन्तुकामस्य सागरागमनोपमम्।'

का पालन करना चाहिए।[1] वैशेपिक सूत्र (दर्शन) का प्रारम्भ इस कथन के साथ होता है कि इस सूत्र मे धर्म की व्याख्या की जावेगी। लेखक फिर द्रव्य, गुण, तत्त्वो के स्वरूप, कर्म आदि का विवेचन करता है। वैदिक कृत्यो के करने से धर्म मे गति होती है, धर्म से (अदृष्ट) फलो की प्राप्ति होती है। 'अदृष्ट' फल वे हैं जो धर्म कार्य करने से अज्ञात रूप से हमको प्राप्त होते हं। पुस्तक के अन्त मे कणाद मुनि कहते हैं कि वैदिक कर्मो के दृष्ट और अदृष्ट दो प्रकार के फल होते हैं। कुछ फलो का लाभ तत्काल दिखाई देता है। कुछ कर्म ऐसे होते है जिनका फल हमे अदृष्ट रूप से मिलता है। कणाद का तात्पर्य यह है कि द्रव्य, गुण, तत्त्व आदि भौतिक क्रियाओ से धर्म के अनेक अगो की व्याख्या की जा सकती है और उसके प्रकाश मे सारी घटनाओ के कारण आदि को समझा जा सकता है, परन्तु धर्म का एक अज्ञात अदृष्ट रूप भी है। जो व्यापार साधारण बुद्धि के समक्ष मे नही आते वे धर्म के अदृष्ट फल हैं। तत्त्व मीमासा इस अर्थ मे प्रासगिक है कि भौतिक नियमो के आधार पर ससार की अनेक क्रियाओ को समझने मे सहायता मिलती है साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक को भी केवल भौतिक सिद्धान्तो के आधार पर ही नही समझा जा सकता। कुछ व्यापार इन्द्रियातीत हैं। ये तथ्य वैदिक कर्मो के करने से उपार्जित कर्म के अदृष्ट फल के आधार पर ही समझे जा सकते हैं। सूचिका का चुम्बक के प्रति आकर्पण (वै० सू० V 1. 15) वनस्पति मे जल का सचार (V 11 7), अग्नि की ऊर्ध्व दिशा मे गति (आग की लपटो का ऊपर आकाश की ओर उठना), वायु का यत्र-तत्र सचरण अणुओ की वह गति जिनसे अनेक सयोगो के कारण विभिन्न द्रव्य बनते है (V 11 13, IV 11 7) और बुद्धि की (प्रारम्भिक) गति, यह सब अदृष्ट का फल है। इसी प्रकार वैशेपिक सूत्र के अनुसार मृत्यु के अनन्तर आत्मा की गति और स्थिति, अन्य शरीरो व योनियो मे आत्मा का प्रवेश, खाने पीने की क्रिया मे भोजन और पेय का सम्यक् पाचनादि, अन्य प्रकार के सयोग, (गर्भ मे भ्रूण का स्वस्थ विकास 'उपस्कार' के अनुसार), यह भी अदृष्ट है। अदृष्ट के नाश होने से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। अदृष्ट के नाश होने से सारे ससर्गों से और पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति मिलती है। वैशेपिक 'दृष्ट' और अदृष्ट के भेद को विशेप रूप से स्पष्ट करता है। वे सारे कर्म जो सासारिक अनुभव के आधार पर समझे जा सकते हैं जिनकी ज्ञात तथ्यो और घटना क्रम के सादृश्य से व्याख्या की जा सकती है 'दृष्ट' हैं। जो हमारे सासारिक अनुभव और ज्ञान से परे है जो इन्द्रियातीत हैं, जहाँ व्यावहारिक बुद्धि की गति नही है वह अदृष्ट हैं। समस्त वनस्पति और पशुओ मे जीवन-प्रक्रिया अणुओ परमाणुओ की स्थिति और सृष्टि पिण्डो की रचना, अग्नि और वायु की गति और प्रवाह, मृत्यु और जन्म (VI 11 15), हमारे भाग्य को प्रभावित करने वाली

---

1 उपस्कार ने वैशेपिक सूत्र—'तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम्' की व्याख्या इस प्रकार की है—वेद को ईश्वरीय ज्ञान (वचन) होने से मान्य समझना चाहिए। परन्तु उपरोक्त वाक्य मे ईश्वर शब्द का उल्लेख न होने से इस वैशेपिक वाक्य का अर्थ न्याय के आधार पर करने का प्रयत्न है। सूत्र X 11 8 सूत्र VI 11 I की पुनरावृत्तिमात्र है।

का पालन करना चाहिए।[1] वैशेषिक सूत्र (दर्शन) का प्रारम्भ इस कथन के साथ होता है कि इस सूत्र मे धर्म की व्याख्या की जावेगी। लेखक फिर द्रव्य, गुण, तत्वो के स्वरूप, कर्म आदि का विवेचन करता है। वैदिक कृत्यो के करने से धर्म में गति होती है, धर्म से (अदृष्ट) फलो की प्राप्ति होती है। 'अदृष्ट' फल वे हैं जो धर्म कार्य करने से अज्ञात रूप से हमको प्राप्त होते हैं। पुस्तक के अन्त मे कणाद मुनि कहते हैं कि वैदिक कर्मो के दृष्ट और अदृष्ट दो प्रकार के फल होते हैं। कुछ फलो का लाभ तत्काल दिखाई देता है। कुछ कर्म ऐसे होते है जिनका फल हमे अदृष्ट रूप से मिलता है। कणाद का तात्पर्य यह है कि द्रव्य, गुण, तत्त्व आदि भौतिक क्रियाओ से धर्म के अनेक अगो की व्याख्या की जा सकती है और उसके प्रकाश मे सारी घटनाओ के कारण आदि को समझा जा सकता है, परन्तु धर्म का एक अज्ञात अदृष्ट रूप भी है। जो व्यापार साधारण बुद्धि के समक्ष मे नही आते वे धर्म के अदृष्ट फल हैं। तत्त्व मीमासा इस अर्थ मे प्रासगिक है कि भौतिक नियमो के आधार पर ससार की अनेक क्रियाओ को समझने मे सहायता मिलती है साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक को भी केवल भौतिक सिद्धान्तो के आधार पर ही नहीं समझा जा सकता। कुछ व्यापार इन्द्रियातीत हैं। ये तथ्य वैदिक कर्मो के करने से उपार्जित कर्म के अदृष्ट फल के आधार पर ही समझे जा सकते हैं। सूचिका का चुम्बक के प्रति आकर्षण (वै० सू० V 1. 15) वनस्पति मे जल का सचार (V II 7), अग्नि की ऊर्ध्व दिशा मे गति (आग की लपटो का ऊपर आकाश की ओर उठना), वायु का यत्र-तत्र सचरण अणुओ की वह गति जिनसे अनेक सयोगो के कारण विभिन्न द्रव्य बनते हैं (V II 13, IV II 7) और बुद्धि की (प्रारम्भिक) गति, यह सब अदृष्ट का फल है। इसी प्रकार वैशेषिक सूत्र के अनुसार मृत्यु के अनन्तर आत्मा की गति और स्थिति, अन्य शरीरो व योनियो मे आत्मा का प्रवेश, खाने पीने की क्रिया मे भोजन और पेय का सम्यक् पाचनादि, अन्य प्रकार के सयोग, (गर्भ मे भ्रूण का स्वस्थ विकास 'उपस्कार' के अनुसार), यह भी अदृष्ट है। अदृष्ट के नाश होने से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। अदृष्ट के नाश होने से सारे ससर्गो से और पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति मिलती है। वैशेषिक 'दृष्ट' और अदृष्ट के भेद को विशेष रूप से स्पष्ट करता है। वे,सारे कर्म जो सासारिक अनुभव के आधार पर समझे जा सकते हैं जिनकी ज्ञात तथ्यों और घटना क्रम के सादृश्य से व्याख्या की जा सकती है 'दृष्ट' हैं। जो हमारे सासारिक अनुभव और ज्ञान से परे है जो इन्द्रियातीत हैं, जहाँ व्यावहारिक बुद्धि की गति नही है वह अदृष्ट हैं। समस्त वनस्पति और पशुओ मे जीवन-प्रक्रिया अणुओ परमाणुओं की स्थिति और सृष्टि पिण्डों की रचना, अग्नि और वायु की गति और प्रवाह, मृत्यु और जन्म (VI II 15), हमारे भाग्य को प्रभावित करने वाली

---

1 उपस्कार ने वैशेषिक सूत्र—'तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम्' की व्याख्या इस प्रकार की है—वेद को ईश्वरीय ज्ञान (वचन) होने से मान्य समझना चाहिए। परन्तु उपरोक्त वाक्य मे ईश्वर शब्द का उल्लेख न होने से इस वैशेषिक वाक्य का अर्थ न्याय के आधार पर करने का प्रयत्न है। सूत्र X II 8 सूत्र VI II I की पुनरावृत्तिमात्र है।

सारी भौतिक घटनाएँ (v. ii. 2) वह सब 'अदृष्ट' का ही फल है। कणाद के दर्शन में, हमारे अनुभव के आधार पर जिन द्रव्यों, गुणों और कर्मों की व्याख्या नही की जा सकती वे सब 'अदृष्ट' के रूप मे ही माने गये है। पर प्रश्न यह है कि 'अदृष्ट' का हेतु क्या है ? 'अदृष्ट' किस प्रकार वनता है इसके उत्तर में कणाद ऋषि पाप, पुण्य आदि की व्याख्या नही करते, शुभ और अशुभ का भी उल्लेख नही करते। वे वैदिक कर्मों का महत्त्व स्थापित करते हैं। स्नान, व्रत, ब्रह्मचर्य (पवित्र विद्यार्थी जीवन), 'गुरुकुलवास', 'वानप्रस्थ' (वन मे संसार से विरक्त होकर निवास करना), 'यजन' (यज्ञ) दान' शुभ मुहूर्त और शुभ वेला मे यज्ञादि अनुष्ठान करना, मन्त्रपाठ आदि करने योग्य वैदिक कर्म हैं (v.ii 2) जिनसे 'अदृष्ट' भाग्य का निर्माण होता है।

कणाद मुनि ने पवित्र और अपवित्र भोजन का वर्णन किया है। यज्ञ मे हविष्य के रूप में अर्पित किया हुआ यागपूत अवशिष्ट भोजन पवित्र है, उसे खाने से अदृष्ट के द्वारा अभ्युदय प्राप्त होता है (vi. ii 5)। साथ ही वह यह भी सकेत करते हैं कि अदृष्ट के द्वारा ही मोह, ममता और रागादि की उत्पत्ति होती है। वैशेषिक सूत्र vi, i के अधिकांश भाग में दान की महिमा, किन अवस्थाओं में दान सार्थक होता है, और दान कव किस प्रकार और किससे ग्रहण करना चाहिए, इसका वर्णन किया गया है। मीमांसाकार द्रव्य, गुण आदि के अधिकांश सिद्धांतो से सहमत हैं। केवल इन विषयों में मीमांसा का वैशेषिक से मतभेद है (1) वेद स्वतः प्रमाण है, इन्हे किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही है (2) वेद अनादि अनन्त है (3) किसी स्रष्टा या परमात्मा में अविश्वास (4) शब्द अनन्त है (5) (कुमारिल के मतानुसार) अहम् की भावना में स्वातम का प्रत्यक्ष वोध। उपर्युक्त विषयों में से प्रथम दो के ऊपर वैशेषिक ने किसी प्रकार का विचार-विमर्श नही किया है। ईश्वर का वैशेषिक मे कही भी उल्लेख नही किया गया है और क्योंकि अदृष्ट की उत्पत्ति वैदिक कर्मों के करने से ही मानी गई है अतः हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि इन विन्दुओं पर वैशेषिक का मीमासा से कोई विशेष मतभेद नही है किसी प्रकार का मतभेद इन सूत्रो में नही पाए जाने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवतः इन सूत्रो के रचना काल तक कोई विशेष मतभेद उत्पन्न नही हुआ था। यह सम्भव है कि कणाद का यह विश्वास रहा हो कि वेदों की रचना विशिष्ट प्राप्त उच्च पुरुषों के द्वारा अथवा ब्रह्मर्षियों द्वारा की गई है (II. I. 18 III 1-1-ii)। क्योकि मीमांसाकारों से इस विषय पर किसी प्रकार का संघर्ष अथवा विचार भेद नही पाया जाता। इससे यह स्पष्ट है कि वेद 'अपौरुपेय' है किसी पुरुष के द्वारा नही लिखे गए, यह मत वैशेषिक सूत्रों की रचना के पश्चात् स्थापित हुआ होगा। इन सूत्रों में ईश्वर का वर्णन न होने से और वैदिक कर्मों के करने से सारे फलो की प्राप्ति अदृष्ट के हेतु से होने से यह कहा जा सकता है कि परवर्ती मीमांसा की तरह वैशेषिक भी ऐसा दर्शन है जिसमे किसी देवता की या ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। 'शब्द' शाश्वत अनन्त हैं अथवा नही इस पर वैशेपिक न्याय, और मीमांसा दार्शनिकों में उत्तरकाल मे तीव्र मतभेद रहा है। इस विषय में कणाद ने (II. 11, 25-30) प्रारम्भ में कहा है कि 'शब्द' शाश्वत नही है परन्तु II ii 33 के पश्चात् अध्याय की समाप्ति तक

उन्होंने यह सिद्ध किया है कि शब्द अनन्त और शाश्वत है। यह मीमांसा दर्शन का दृष्टि-कोण है जैसा कि हमको उत्तरकालीन मीमांसा लेखकों से पता चलता है।[1]

दूसरा मुख्य विषय 'आत्मा' के अस्तित्व के प्रमाण का है। न्याय का दृष्टिकोण यह रहा है कि आत्मा के अस्तित्व को अनुमान से जाना जाता है क्योंकि आत्मा ही सुख, दुःख और सज्ञान का केन्द्र है। वैशेषिक का भी परम्परागत दृष्टिकोण यही माना जाता है। परन्तु वैशेषिक सूत्र III मे आत्मा के अस्तित्व का अनुमान पहले इसकी क्रिया और सुख दुःख कष्ट आदि की अनुभूति के आधार पर किया गया है। पुनः III मे इस अनुमान का खण्डन करते हुए कहा है कि यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि सारी क्रिया या कर्म आत्मा के द्वारा सम्पन्न होता है। कर्म आत्मा का धर्म है या शरीर का। फिर III/8 मे सुझाव दिया है कि यथा शास्त्र (आगम) के प्रमाण के आधार पर आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए। अन्तिम रूप से वैशेषिक दर्शन ने आत्मा के अस्तित्व को यह कह कर सिद्ध किया है कि हम जब 'अहम्' भावना का अनुभव करते हैं, जब हम 'मैं' कहते हैं तो शरीर से भिन्न किसी वस्तु की ओर सकेत करते हैं। यह अहम् ही हमारी शरीर स्थित आत्मा है जिसका हम प्रत्येक क्षण प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। इसमें किसी शास्त्र के प्रमाण की आवश्य-कता नहीं है। इसके अस्तित्व का अनुमान से सिद्ध होना इसकी स्थिति का एक और प्रमाण है (III II, 10-18 IX। II) अन्यथा यह हमारे अहम् के प्रत्यक्ष-बोध से स्वयं-सिद्ध है।

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि वैशेषिक दर्शन मीमांसा दर्शन की ही एक शाखा होनी चाहिए जो वैदिक दर्शन का मडन और पुष्टि करता है।

वैशेषिक सूत्रो का दर्शन पक्ष

वैशेषिक दर्शन का प्रारम्भ 'धर्म' की व्याख्या से होता है। 'धर्म' वह है जिससे 'अभ्युदय' (सांसारिक उन्नति) और निश्रेयस (आत्मिक कल्याण) की प्राप्ति होती है। वेद इस अभ्युदय और निश्रेयस की प्राप्ति का उपदेश करते हैं और इनकी सहायता से निश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। अतः यह प्रामाणिक है। पुनः दूसरे सूत्र में वैशेषिक दर्शन यह मत प्रकट करता है कि सत्य ज्ञान से ही 'निश्रेयस' की प्राप्ति सम्भव है। सत्य, ज्ञान, उत्तम

1 मेरे मत मे श्री शकर मिश्र ने अपने ग्रन्थ 'उपस्कार' मे अन्तिम दो सूत्रो II।1 36-37 की व्याख्या गलत की है। II।1 36 मे 'अपि' शब्द को जोडने से अर्थ बदल गया है और II।1 37 में सधिविच्छेद ठीक नही किया गया है। 'सख्याभाव' का विच्छेद सख्या और 'भाव' किया जबकि यह सख्या और अभाव होना चाहिए था। इस प्रकार श्री शकर ने इन सूत्रो का अर्थ शब्द के शाश्वत (नित्य) न होने के पक्ष में किया है जो उत्तरकालीन न्याय वैशेषिक दृष्टिकोण है।

धर्म के पालन से उपलब्ध होता है। इसके साथ ही सत्य ज्ञान के लिए 'द्रव्य', 'गुण', 'सामान्य' (जाति-विचार) 'विशेष' (विशिष्ट वस्तु विचार) और 'समवाय' (अन्तर्निहित सम्बन्ध—व्याप्ति सम्बन्ध) का भी उत्तम विवेक आवश्यक है।[1] द्रव्यों में—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और बुद्धि (मन) की गणना की गई है। 'गुण' निम्न प्रकार है—रंग (रूप), रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या परिमाण (मात्रा), पृथक्त्व वियुक्ति या (अलग-अलग होना) संयुक्ति, जाति अथवा किसी जाति-विशेष से सम्बन्ध होने का गुण।[2] 'कर्म' गति है। ऊर्ध्व—गति, अधोगति, सकोचक गति (अन्तर्गति), प्रसारक गति (वाह्य गति) और समस्तरीय गति। ये सब 5 कर्म के भेद हैं। द्रव्य, गुण और कर्म तीनो में समान रूप से लक्षण निम्न है। इनका अस्तित्व है, ये अशाश्वत (अनित्य या अस्थायी) हैं, सारभूत हैं कारण और कार्य हैं और सामान्य विशेष लक्षणों से युक्त हैं। द्रव्यों से अन्य द्रव्यो की और गुण से अन्य गुण की उत्पत्ति होती है परन्तु कर्म से अन्य कर्म की उत्पत्ति आवश्यक नही है। द्रव्य इसके कारण कार्य को विनष्ट नही करता है पर गुण कारण और कार्य रूप में नष्ट हो जाते हैं। कर्म से कर्म का नाश होता है। द्रव्य मे गुण और कर्म दोनों का ही समावेश होता है और यह कार्य का समवायिकारण कहा जाता है। गुण द्रव्य में व्याप्त रहते हैं, अन्य गुणों को धारण करने मे स्वय असमर्थ हैं और ये संयोग या वियोग के कारण नहीं हो सकते। कर्म मे गुण की स्थिति नही है। कर्म (गति) एक समय मे एक ही वस्तु में नियोजित या स्थित होता है। द्रव्य मे ही इसकी व्याप्ति है और यह संयोग और विभाग स्वतन्त्र कारण है। द्रव्य संजात द्रव्य, गुण और कर्म का समवायि कारण है। गुण-द्रव्य, गुण और कर्म का असमवायि कारण है। कर्म (गति) संयोग, वियोग और वेग में अवस्थितित्व का सामान्य कारण है। कर्म द्रव्य का कारण नही है क्योंकि द्रव्य, कर्म के विना भी उत्पन्न हो सकता है।[3] द्रव्य, द्रव्य द्वारा ही सामान्य प्रभाव है। कर्म गुण से इस दृष्टि से भिन्न है कि कर्म स्वयं कर्म को उत्पन्न नही करता। एक, दो, तीन आदि मात्राएँ पृथकत्व संयोग

---

1. 'उपस्कार' के मतानुसार 'विशेष' से यहाँ अर्थ वस्तुओं के विभेद करने से है, वस्तुओं की जातियो में भेद से नही है। इस मत का एक विशेष सिद्धान्त यह है उसी तत्त्व के अविभाज्य परमाणुओ मे से प्रत्येक परमाणु दूसरे परमाणु से अपनी विशेषता अथवा स्वरूप के अनुसार भिन्न है।
2. इस विवेचन मे, 'गुरुत्व' (भारीपन), द्रवत्व (तरलता), स्नेह (चिकनापन जुड़ापन), संस्कार (लोच), धर्म (अच्छापन), अधर्म आदि प्रसिद्ध गुणों का कोई उल्लेख नही किया गया है। उत्तरकालीन वैशेषिक ग्रन्थों और भाष्यो मे इनकी भी गणना की गई है। यह उल्लेखनीय है कि वैशेषिक मे 'गुण' लक्षण गुणों के अर्थ में प्रयोग किया गया है, सांख्य योग की तरह (तन्मात्रा) गूढ तत्त्व के रूप में नही। जिसे योग धर्म कहता है वही वैशेषिक मे कमोवेश गुण कहा गया है।
3. क्योकि धर्म की समाप्ति पर ही द्रव्य उत्पन्न होता है (उपस्कार 1/1/22)।

विभाग एक से अधिक द्रव्यो के प्रभाव से सम्भव होती है । कर्म (गति) का सम्बन्ध एक ही द्रव्य से होने से उसकी उत्पत्ति एक से अधिक वस्तु से नही होती ।[1] द्रव्य अनेक परमाणुओ के सयोग का फल है । एक वर्ण (रग) अनेक वर्णो के सयोग से भी बन सकता है । ऊर्ध्व गति, गुरुत्व प्रयत्न और सयोग का फल है । सयोग और विभाग भी कर्म का फल है । कर्म के कारण रूप को न मानने का अर्थ यह है कि कर्म द्रव्य और कर्म का कारण नहीं है ।[2]

कणाद प्रथम भाग के द्वितीय अध्याय मे कहते हैं कारण के विना कार्य सम्भव नही है परन्तु कार्य की स्थिति के विना या उसके पूर्व भी कारण की स्थिति हो सकती है । पुन वे कहते हैं कि 'सामान्य' (जाति) और 'विशेष' (III) (जाति की इकाई) दोनो बुद्धि सापेक्ष हैं अर्थात् जिस दृष्टि से विचार किया जाए उसी दृष्टि से सामान्य और विशेष रूप को समझा जाता है । किसी वस्तु का अस्तित्व या 'भाव' उसके सातत्य या निरन्तरता का निर्देश करता है अत यह सातत्य उस वस्तु के सामान्य भाव का द्योतक है । द्रव्य, गुण और कर्म का सार्वत्रिक या व्यापक भाव सामान्य और विशेष दोनो हो सकते हैं परन्तु 'विशेष' वस्तुओं में (परमाणु) भिन्नता के अन्तिम तथ्यो के रूप मे सदैव स्थित रहता है । इसकी स्थिति पर्यवेक्षक (देखने वाले) की अपेक्षा नही रखती वह स्वतन्त्र रूप से स्थित है । अन्तिम अथवा सर्वव्यापक जाति सत्ता है । अन्य सारी जाति, उपजाति, वर्ग आदि इस 'सत्ता' के अग या उससे सम्बन्धित माने जा सकते हैं । 'सत्ता' का अपना विशेष वर्ग है क्योकि यह द्रव्य, गुण और कर्म से भिन्न है और फिर भी उनमे स्थित है । इसका कोई वश या उपवश 'सामान्य' या 'विशेष' नही । इस तथ्य से यह कल्पना सजीव होती है कि 'भाव' या 'सत्ता' का एक विशेष प्रकार है जो सबमे भिन्न है क्योकि इसका अपना कोई विशेष लक्षण नहीं है, यह समान रूप से द्रव्य, गुण कर्म मे स्थित है और फिर भी इसकी व्याप्ति के कारण किसी विशेष लक्षण या धर्म की उत्पत्ति नही होती । 'द्रव्यत्व', 'गुणत्व' और कर्मत्व रूपी विशिष्ट व्यापक भाव (सामान्य रूप) भी भिन्न वर्ग है जो 'सत्ता' से भिन्न है, इनकी भी कोई अलग से सामान्य जाति नहीं है और फिर भी एक दूसरे से इनका अन्तर जाना जा सकता है । परन्तु 'भाव' या 'सत्ता' इन सब में समान रूप से व्याप्त है ।

द्वितीय भाग के प्रथम अध्याय मे कणाद मुनि द्रव्यो की व्याख्या करते हैं । पृथ्वी तत्त्व मे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श होता है । जल मे रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व (तरलता) और स्निग्धता (स्निग्ध) होती है । अग्नि मे रूप रग एव स्पर्श, वायु में स्पर्श होता है पर आकाश मे इनमे से कोई भी गुण नहीं पाया जाता । तरलता जल का विशेष गुण है क्योंकि मक्खन, लाख, मोम, सीसा, लोहा, चाँदी और स्वर्ण गर्म किये जाने पर तरल बनते हैं, पर

---

1 यदि कर्म का सयोग, एक से अधिक वस्तु से होता तो एक की गति से हम यह अनुभव करते कि कई वस्तुओ में गति हो रही है ।

2 यह ध्यान देने योग्य है कि यहाँ 'कर्म' शब्द का अर्थ सामान्य रूप मे प्रयुक्त कर्म शब्द से भिन्न है जिसके शुभ-अशुभ होने से मोक्ष अथवा पुनर्जन्म का फल मिलता है ।

जल स्वयंमेव तरल होता है।[1] वायु को देखा नहीं जा सकता परन्तु इसकी स्थिति का अनुमान स्पर्श से किया जा सकता है जैसे गाय की जाति के सामान्य गुणों यथा सीग, पूँछ आदि की तुलना में गाय होने का अनुमान किया जाता है। वायु का अनुमान स्पर्श से होता है, इसमें गति और गुण दोनों हैं और यह अन्य वस्तु मे व्याप्त नही है। अतः वायु को द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है।[2] कुछ ज्ञात लक्षणों से वायु का अनुमान उन वस्तुओं के अनुमान का उदाहरण हैं जो स्थूल रूप से नही देखी जा सकती। इन ज्ञात सामान्य लक्षणों के आधार पर अनुमान को 'सामान्यतो दृष्ट' कहा है। 'वायु' नाम शास्त्रों से लिया गया है। हमसे भिन्न अन्य वस्तुओं की भी स्थिति है, 'अस्मदविशिष्टानाम्' अर्थात् हमसे अन्य विशिष्ट वस्तुओं का भी अस्तित्व है इसको 'संज्ञा कर्म' या अन्य वस्तुओं का नामकरण करने के लिए स्वीकार करना आवश्यक है और इसे स्वीकार करना चाहिए क्योंकि नामकरण की पद्धति पहले से चली आ रही है।[3] हमने इसका प्रचलन नही किया है। गति एक समय में एक ही वस्तु मे स्थापित होती है इसके अनुसार कोई भी वस्तु किसी भी रिक्त स्थान में गति कर सकती है और उस स्थान को घेर सकती है पर इस तथ्य से आकाश की स्थिति का अनुमान नहीं करना चाहिए। 'आकाश' वह काल्पनिक तत्त्व है जिसमें शब्द गुण की व्याप्ति है। शब्द किसी स्थूल वस्तु का गुण नही है जिसको स्पर्श किया जा सके क्योकि शब्द स्वयं एक गुण है, द्रव्य नही है अतः उस द्रव्य का होना आवश्यक है जिसका शब्द गुण है। वह द्रव्य आकाश है। आकाश द्रव्य है और वायु के समान शाश्वत है। जैसे 'भाव' या 'सत्ता' एक है उसी प्रकार आकाश भी एक है।[4] दूसरी पुस्तक के दूसरे अध्याय में कणाद मुनि ने यह सिद्ध किया है कि पृथ्वी द्रव्य का विशेष गुण गन्ध है। अग्नि का विशेष गुण ताप और जल का विशेष गुण शीतलता है। काल वह है जो युवाजनों को यौवन की भावना प्रदान करता है, जो समकालिकता और त्वरा की कल्पना को उत्पन्न करता है। 'भाव' या 'सत्ता' के समान यह भी एक है। काल ही सारी अस्थायी और अशाश्वत वस्तुओं का कारण होता है, जो कि नित्य या शाश्वत वस्तुओं में काल की स्थिति का अभाव होता है। जो अनन्त है, उसमें काल की गति का कोई महत्त्व नही है। स्थान (दिक्) से एक वस्तु

---

1. इस व्याख्या में पारद (पारा) का कहीं उल्लेख नहीं आया है। यह ध्यान देने योग्य है क्योंकि पारे का ज्ञान चरक के पश्चात् हुआ ऐसा समझा जाता है।

2. द्रव्य वह है जिसमें गुण और गति (क्रिया) है। मैंने II i. 13 में 'अद्रव्यत्वेन' शब्द का अर्थ 'अद्रव्यवत्वेन' के रूप में लिया है।

3. मैं 'संज्ञाकर्म' की व्याख्या में 'उपस्कार' की व्याख्या से सहमत नही हूँ। उपस्कार इस शब्द की व्याख्या द्वन्द्व समास के रूप में करते हैं और मुझे इसकी व्याख्या सम्बन्धकारक के रूप मे ठीक लगती है। उपस्कार की व्याख्या प्रासंगिक प्रतीत नही होती वह इसको परमात्मा की सत्ता के तर्क के रूप में उपस्थित करना चाहते हैं।

4. यह व्याख्या शंकर मिश्र के 'उपस्कार' भाष्य के आधार पर है।

यह ज्ञात होता है कि जिसके लिए 'मैं' शब्द का प्रयोग किया जाता है वह शरीर नही है वह शरीर से भिन्न कोई वस्तु है, वह आत्मा है। पुन: सुख, दु:ख ज्ञान आदि का अनुभव सभी मनुष्य समान रूप से करते हैं, अत: यह स्पष्ट है कि सभी प्राणियो मे आत्मा समान है, एक रूप है। सब मे एक ही आत्मा का निवास है। पर साथ ही यह व्यक्ति से सीमित होकर अनेक-रूपा भी है। प्रत्येक व्यक्ति में आत्मा सीमित होने से यह अनेक है। यह भी शास्त्र से सिद्ध है।[1]

चतुर्थ पुस्तक के प्रथम अध्याय मे यह कहा गया है कि जिस वस्तु का अस्तित्व है पर जिसका कारण नही है उसे 'नित्य' शाश्वत मानना चाहिए। यह कार्य मे अथवा उसके प्रभाव से अनुमान लगाना चाहिए। कोई भी कार्य, कारण के अभाव मे सम्भव नही है। जब हम किसी वस्तु के सम्बन्ध मे यह कहते हैं कि यह अनित्य है तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि यह 'नित्य' का निषेधात्मक या नकारात्मक रूप है। अत यह सिद्ध होता है कि कोई न कोई वस्तु नित्य अवश्य है। यहाँ अभाव से भाव की सिद्धि है। 'अविद्या'[2] (अज्ञान) अनित्य है। सयुक्त और 'महत्' में 'रूप' (वर्ण) होता है। वायु मे कोई रूप रग नही होता, यद्यपि यह 'महत्' है और अनेक अगो से बनी हुई है। वायु मे 'रूप सस्कार' नही है (वायु के अव्यक्त रूप मे ही रूप होता है)। विशेष अवस्था और गुण के होने पर ही रूप दृष्टि-गोचर होता है।[3] इसी प्रकार रस, गन्ध और स्पर्श की व्याख्या की गई हैं। मात्रा, (सख्या), परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग उच्च और निम्न स्थान या वर्ग मे होने का गुण और क्रिया ये सब यदि ऐसे पदार्थो मे सम्बद्ध हैं जिनका कोई रूप है तो यह नेत्रों से दिखाई देता है अन्यथा जहाँ रूप-रग नहीं है वहाँ दृष्टि कार्य नही कर सकती। दृष्टि रूप को ही देख सकती है। परन्तु 'भाव' (अस्तित्व) और गुणत्व (गुणों की व्याप्ति) का बोध सारी

---

1 'उपस्कार' मे दिए हुए अर्थ से मैं सहमत नही हो पा रहा हूँ। इस सम्बन्ध मे तीन सूत्र दिए गए हैं–(1) सुख-दु:ख-ज्ञान-निष्पत्य-विशेषादैकात्यम्' (2) 'व्यवस्थातो नाना' और (3) शास्त्र सामर्थ्यात् च' इन तीनो सूत्रों का अर्थ मूल रूप मे यही था कि आत्मा एक है यद्यपि व्यक्ति की सीमा मे निबद्ध और शास्त्रानुसार धार्मिक क्रियाओ के करने के निमित्त, यह अनेक मानी जाती है।

2 इस स्थान पर भी मेरा 'उपस्कार' से मतभेद है। उपस्कार के अनुसार 'अविद्या' सूत्र का अर्थ है कि हम ऐसा कोई कारण नही जानते जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि परमाणु अनित्य हैं।

3 उत्तरकालीन विवेचन में—'उद्भूतरूपवत्व' और 'अनुद्भूतरूपवत्व' का यही अर्थ प्रतीत होता है। वैशेषिक दर्शन मे 'सस्कार' अनेक अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ-अचलता, लचीलापन, एकत्र करना (समवाय), उत्पन्न होना (उद्भव) और [illegible] से अभिभूत नहीं होना (अनभिभाव) है।

इन्द्रियों के द्वारा होता है। उदाहरण के लिए रूप, रस, गन्ध स्पर्श आदि इन्द्रियों के द्वारा, सुख, दु'ख ज्ञान आदि मन के द्वारा और मात्रा आदि दृष्टि और स्पर्श चेतना से जानी जाती है।[1]

चतुर्थ भाग के दूसरे अध्याय में कहा है कि पृथ्वी आदि के अस्तित्व के तीन स्वरूप है, शरीर, इन्द्रिय और पदार्थ। पंच तत्त्व का कोई योग या मिश्रण नहीं हो सकता परन्तु यदि इन तत्त्वों का निर्माण करने वाले परमाणुओं में से कोई परमाणु केन्द्रीय मूलांकुर के रूप में कार्य करे जिसे 'उपष्टम्भक' कहा है तो अन्य तत्त्वों के परमाणुओं का संयोग हो सकता है। पिण्ड दो प्रकार के होते है। एक वे जो अंडाशय से उत्पन्न होते हैं, दूसरे वे जो परमाणुओं के योग से अपने विशेप धर्मों के साथ उत्पन्न होते है, विशेप धर्मों के अनुकूल ही परमाणुओं के योग से पिंडों का निर्माण होता है। प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना धर्म (गुण) है और उसी के अनुसार उसका प्रयोग है। कतिपय अति-सांसारिक पिण्डों का भी अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है। सम्भवत: इनका नामकरण भी ऐसे व्यक्तियों द्वारा किया गया होगा जो दिव्य हैं अथवा यदि इनका आधार वेद-सम्मत है तो यह प्रमाणरूपेण स्वीकार करना पड़ेगा।

पाँचवें भाग के प्रथम अध्याय में 'कर्म' की व्याख्या की गई है। धान को कूटने का उदाहरण देते हुए यह वताया गया है कि हाथ आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर गति करता है। परन्तु जव मूसल ओखली में चोट देकर वापस उछलता है तो यह हाथ की प्रेरणा से नही उछलता और मूसल को पकड़े हुए हाथ जव ऊपर उठता है तो वह आत्मा के प्रयत्न और प्रेरणा से ऊपर नही उठता। यदि हाथ मूसल को छोड़ दे तो वह गुरुत्व के कारण वापस गिरेगा। वस्तुओं में ऊपर की ओर अथवा पार्श्व की ओर गति विशेष कार्य-प्रेरणा (नोदन विशेष) से होती है। निद्रावस्था में विशेप प्रयत्न के विना भी शरीर थोड़ी गति कर सकता है। चुम्वक की ओर लोहे की सुई का आकर्पण अज्ञात कारण से (अदृष्ट-कारणक) होता है। विशेप दिशा में प्रेरित किया हुआ वाण पहले उस दिशा में गति प्राप्त करता है फिर यह गति अवस्थिततत्व वल के कारण स्थिर रहती है अर्थात् यह वाण 'वेग-संस्कार' के कारण कुछ समय तक उसी दिशा में गति करता रहता हैं और इस संस्कार की समाप्ति पर गुरूत्वाकर्षण से भूमि पर गिर जाता है।

---

1. यह संदर्भ शंकर मिश्र के 'उपस्कार' से लिया गया है जो कणाद के वैशेपिक सूत्र पर लिखा गया है। इस सम्वन्ध में ध्यान देने योग्य वात यह है कि वैशेषिक में मात्रा की कल्पना वुद्धि की अपेक्षा पर है जिसे "अपेक्षा-वुद्धि-जन्य' कहा है। परन्तु यह मानसिक अपेक्षा की प्रक्रिया का प्रारम्भ जव होता है जव उस वस्तु को देखा जाता है या स्पर्श किया जाता है और इस अर्थ में यह कहा गया है कि मात्रा या संख्या की कल्पना दृष्टि या स्पर्श चेतना पर निर्भर करती है। अर्थात् जो संख्या चक्र क्रम आँखो से नहीं देखा जा सकता अथवा जिसको स्पर्श से नही जाना जा सकता, वह पृथक्-पृथक् नही दिखाई देने से एक ही रहेगी और इसमे एक से अधिक होने की भी कल्पना नही की जा सकती।

दूसरे अध्याय मे भौतिक घटनाओ की व्याख्या की गई है जिनका कोई दार्शनिक महत्त्व नहीं है। प्रकृति के अनेक व्यापार जो साधारण बुद्धि से समक्ष मे नही आते हैं उनके लिए कहा गया है कि ये अदृष्ट कारणों मे (अदृष्ट-कारितम्) होते हैं। इस अदृष्ट के स्वरूप की कोई व्याख्या नही की गई है। यह अवश्य कहा गया है कि 'अदृष्ट' के अभाव मे आत्मा और शरीर का सम्पर्क नही होता, पुनर्जन्म नही होता और मोक्ष की प्राप्ति होती है। आत्मा, मन, इन्द्रिय और विषयो के सयोग से सुख, दु'ख होते हैं। 'योग' वह है जिसमे चित्त (मन) केवल आत्मा स्थित हो जाता है, चित्त स्थिर होकर निर्विषय हो जाता है, शरीर के दु खों की समाप्ति हो जाती है। स्थान, काल, आकाश निष्क्रिय तत्त्व है।

छठे भाग मे दान और श्रौत (वेद सम्मत) कर्मों की व्याख्या की गई है। दान दया से नही पर शास्त्रो के आदेशानुसार योग्य पात्रो को कर्त्तव्य समझ कर देना चाहिए। फिर इस पुस्तक मे वेद विहित क्या कर्त्तव्य हैं इनका उल्लेख है। उन कर्त्तव्यो का निर्देश है जिससे 'अदृष्ट' की प्राप्ति होती है। शुभ और अशुभ कर्म, शुचिता और अशुचिता की व्याख्या है। कभी-कभी रागादि अदृष्ट से भी उत्पन्न होता है। धर्म और अधर्म मे जीवन और मृत्यु और आत्मा के प्रयत्न से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सातवें भाग मे उल्लेख है कि शाश्वत (नित्य) वस्तुओं के गुण भी नित्य (शाश्वत) होते हैं और अनित्य वस्तुओ के गुण भी अनित्य होते हैं। पृथ्वी तत्त्व मे ताप से गुण परिवर्तन कारण-रूप अणुओं के परिवर्तन से होता है। परमाणु रूप अदृश्य होता है पर महत् आकार दिखाई देता है। अनेक कारणो से होने के कारण ही द्रव्य दृश्यमान होता है या यह कहना चाहिए कि अनेक कारणो से निर्माण के कारण ही द्रव्य में दृश्यता का गुण होता है।[1] परमाणु महदाकार वस्तुओ से भिन्न है। यह सूक्ष्म और अदृश्य है। एक ही वस्तु को दृष्टि की अपेक्षा से या तुलनात्मक दृष्टि से महत् और लघु कहा जा सकता है। 'अणुत्व' और महत्त्व के आधार पर भी लघु और महत् की व्याख्या की जाती है। 'परिमण्डल' (गोलाकार) का अनन्त गोलाकार रूप ही अणु का रूप है। 'आकाश' और 'आत्मा' को 'महान्' और 'परम महान्' कहा जाता है। मानस महत् रूप नहीं है, यह अणु के समान सूक्ष्म रूप है। स्थान और काल का परिणाम भी 'परम्-महत्' कहा गया है। अणुओ का 'परिमण्डल' तथा दिक्, काल, आत्मा और 'आकाश' का महत् परम परिमण्डल नित्य एव अनन्त माने गए हैं।

द्वितीय अध्याय मे सयोग और पृथकत्व अन्य गुणों से भिन्न माने गए हैं। गति और गुण में मात्रा या सख्या नहीं होती। उनमे सख्या की कल्पना भ्रान्त है। कारण और कार्य न एक हैं न उनमें विशेष अलगाव (एक-पृथक्त्व) है। एकत्व की कल्पना द्वैत की कल्पना का कारण है। सयोग या सस्पर्श एक दो या अधिक वस्तुओ की क्रिया से हो सकता है अथवा किसी अन्य सयोग के फलस्वरूप भी हो सकता है। इसी प्रकार विभाग के लिए भी

---

1. इस सूत्र के निर्वचन में मैंने 'उपस्कार' से अलग मार्ग ही अपनाया है।

समझना चाहिए । कारण और कार्य मे संयोग अथवा विभाग सम्भव नही है क्योंकि कारण या कार्य का स्वतन्त्र अस्तित्व नही है (युतसिद्ध्यभावात्) । आठवें भाग में यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा और मन को प्रत्यक्ष नही देखा जा सकता । इन दोनों को इनके गुणों के आधार पर ही जाना जा सकता है । इसके गुणो का, क्रिया का, इनके सामान्य और विशेष धर्मों का भी प्रत्यक्ष बोध नही होता । इनका बोध इनके अन्य वस्तुओं के संसर्ग के कारण ही होता है । पृथ्वी तत्त्व से गन्ध का बोध होता है, जल, अग्नि और वायु से क्रमशः रस (स्वाद), रूप (रंग) और स्पर्श का बोध होता है ।[1]

नवे भाग में अभाव (नकारात्मकभाव) की व्याख्या की गई है । जिसका अस्तित्व नही है, जो असत् है, उसमे न क्रिया सम्भव है न उसका कोई गुण हो सकता है वह क्रिया-हीन और गुणविहीन है । जो सत् है जिसका अस्तित्व है वह असत् हो सकता है, उसके अस्तित्व का लोप हो सकता है । जो एक प्रकार मे सत् है वह दूसरे प्रकार से असत् भी हो सकता है । परन्तु इनके अतिरिक्त भी एक अन्य प्रकार का अभाव है जो ऊपर लिखे सत् असत्-भाव से भिन्न है ।[1] अभाव का प्रत्यक्ष बोध स्मृति के आधार पर होता है जो पहले देखी हुई वस्तु की स्मृति रखती है और उसका लोप होने पर अभाव का बोध प्रदर्शित करती है । इस सम्बन्ध मे योगियो की विशिष्ट ज्ञान दृष्टि का भी उल्लेख किया गया है । इस सम्बन्ध मे योगियों की विशिष्ट ज्ञान दृष्टि का भी उल्लेख किया गया है । योगियों में ऐसी दिव्य-दृष्टि होती है कि वे अतीन्द्रिय रूप से विशेष बोध प्राप्त करने में समर्थ होते है ।

दूसरे अध्याय मे 'हेतु' (कारण) की व्याख्या की गई है । ऐसा कहा गया है कि किसी भी वस्तु का दूसरी वस्तु से सम्बन्ध, चाहे वह कार्य के रूप में हो या कारण के रूप मे सम्पर्क या पृथक्त्व रूप मे अथवा उससे विशेष सलग्नकता रूप मे हो उस वस्तु के लिंग के रूप मे जाना जावेगा । जैसे अग्नि और धूम के सम्बन्ध मे, धूम, अग्नि के 'लिंग' के रूप मे जाना जाता है । मुख्य आधार यह निश्चय होता है कि यह वस्तु इस वस्तु से संलग्न है, अथवा इनमे कारण-कार्य सम्बन्ध है । तर्क वाक्यो के आधार पर हेतु की स्थापना करने के पश्चात् एक निश्चित हेत्वनुमान की रचना उपर्युक्त दशाओं को पूर्ण करने वाले तर्क वाक्यो के साथ की जा सकती है । मौखिक संज्ञान के लिए किसी अनुमान की आवश्यकता नहीं होती । असत्य ज्ञान (अविद्या) का कारण इन्द्रिय दोष, अथवा पूर्ण-सस्कार के कारण भ्रांत

---

1. उपस्कार की व्याख्यानुसार इन विशिष्ट तत्त्वों से तत् सम्बन्धी इन्द्रिय चेतना का उद्भव होता है पर सूत्रो मे इस प्रकार का कोई अर्थ प्रकट नही होता ।

2 पहले तीन प्रकार के अभावो मे निम्न तीन वर्णन किया है—(1) प्रागभाव (v) (उद्भव के पूर्व ही अभाव) (2) ध्वंसाभाव (vi) (विध्वंस के पश्चात् अभाव) (3) अन्योन्याभाव (एक दूसरे के द्वारा पारस्परिक अभाव) । चौथा अभाव (vii) सामान्याभाव है (व्यापक रूप से सामान्य अभाव) ।

दृष्टि है जो अपनी इच्छा के प्रवाह के अनुसार ही घटनाओ को उनके मिथ्या रूप मे देखती है । इसका दूसरा विपरीत अग सत्य ज्ञान (विद्या) है । दसवें भाग मे कहा गया है कि सुख और दु ख सज्ञान नही हैं क्योकि इनका सदेह (सदिग्ध अवस्था) अथवा निश्चय से कोई सम्बन्ध नही है । अर्थ यह है कि सज्ञान मे वस्तु विशेष के विषय मे या तो निश्चयात्मक ज्ञान होता है अथवा उसके सम्बन्ध मे कोई संदेह होता है । क्योकि सुख दु ख के विषय मे किसी निश्चय या सदेह की भावना का आधार नहीं है अत यह सज्ञान नही हो सकता ।

द्रव्य का उद्भव-कारण कभी-कभी अन्तर्व्याप्ति भी हो सकती है । ऐसी अवस्था मे कार्य की प्रभाव क्रिया अन्तर्निहित होने से दूसरी वस्तु के योग से प्रकाश मे आती है । सरल शब्दो मे कभी-कभी अन्य वस्तु के योग से द्रव्य मे प्रभावक्रिया उत्पन्न होती है क्योकि यह प्रभावी क्रिया दोनो वस्तुओ मे अन्तर्निहित होती है, अत यह कहा गया है कि द्रव्य का कारण, क्रिया की अन्तर्व्याप्ति है । इसी प्रकार कर्म (गति) स्वय भी कारण है क्योकि इसमे कारण की व्याप्ति है, सयोग या सम्पर्क, कारण के व्याप्ति भाव से स्वय कारण रूप हैं । कारण के कारण मे व्याप्त सयुक्ति जब किसी कार्य के होने में सहायक होती है, तब भी यह कारण है । अग्नि का ताप रूपी विशेष गुण भी कारण है ।

शास्त्रो के आदेशानुसार जो कार्य किए जाते हैं उनका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नही दिखाई देता परन्तु वे समृद्धि और अभ्युदय के कारण होते हैं क्योंकि ये कार्य वेदो के आदेश के अनुसार किए जाते हैं, अत ये प्रामाणिक भी हैं ।

न्याय-सूत्रो का दर्शन[1]

न्याय सूत्रों का प्रारम्भ सोलह पदार्थो के उल्लेख के साथ होता है जो इस प्रकार वर्णित हैं—(1) 'प्रमाण' (सत्यज्ञान) (2) प्रमाण का विषय 'प्रमेय' (3) 'सशय' (सन्देह) (4) 'प्रयोजन' (अर्थ कारण) (5) 'दृष्टान्त' (कथा आदि प्रसग से समझाना) (6) 'सिद्धान्त' (जिन निष्कर्षों को स्वीकार कर लिया गया है) (7) 'अवयव' (अग तर्क के) (8) 'तर्क' (युक्तियाँ प्रस्तुत करना) (9) 'निर्णय' (निश्चय करना) (10) 'वाद' (बहस या वार्तालाप करना) (11('जल्प' (विरोध करना, नही मानना), (12) 'वितडा'

---

1 यहाँ न्याय सूत्रो के आधार पर न्याय दर्शन का सक्षिप्त सा विवेचन देने का प्रयत्न किया गया है जिसमे कही-कही वात्स्यायन के विचारो के आधार पर विशेष प्रकाश डाला गया है । वात्स्यायन ने न्याय सूत्र का भाष्य लिखा है । इस संक्षिप्त वृत्त को न्याय सूत्रो के विषय क्रम के अनुसार लिखा गया है और इसमे उत्तरकालीन न्याय व्याख्याओं का समावेश नही किया गया है । न्याय वैशेषिक के सयुक्त वर्णन में उत्तरकालीन लेखको और भाष्यकारो की व्याख्या और मत का आधार लिया गया है ।

(कटु आलोचना करना ध्वंसात्मक दृष्टि से) (13) 'हेत्वाभास' (सदोपतर्क) (14) 'छल' (शब्दों के अर्थों में द्वयर्थक बात करना) (15) 'जाति' (तर्क से खंडन करना) (16) 'निग्रह स्थान' (विपक्षी को बांध देने वाले विन्दु, ताकि उसकी हार सुनिश्चित हो जाए)। इसके साथ ही न्याय सूत्र का कथन है कि इन विषयों का ज्ञान होने से 'निश्रेयस्' कल्याण और मोक्ष की प्राप्ति होती है। दूसरे सूत्र में पुनः कहा है कि इनके अध्ययन से 'अपवर्ग' की प्राप्ति (मोक्ष की प्राप्ति) होती है क्योंकि शनैः-शनैः 'मिथ्या ज्ञान' (भ्रान्तज्ञान), 'दोष' 'प्रवृत्ति' (रागात्मक लगाव, 'जन्म' और 'दुःख' का क्रमशः विनाश होता जाता है। फिर प्रमाण की व्याख्या की गई है। प्रमाण चार प्रकार के होते है (1) प्रत्यक्ष (इन्द्रियों द्वारा स्पष्ट बोध) (2) अनुमान (परोक्ष कल्पना से अनुमान करना) (3) उपमान (किसी अन्य वस्तु के सादृश्य से सिद्ध करना) (4) शब्द किसी आप्त व्यक्ति द्वारा कथन)। इन्द्रियों के द्वारा विषय-सम्पर्क से सुनिश्चित बोध जिसका नाम आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है, प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। 'अनुमान' तीन प्रकार का होता है—कारण से कार्य का अनुमान (पूर्ववत्)—कार्य से कारण का अनुमान (शेषवत्) और सामान्य गुण धर्म के आधार पर अनुमान (सामान्यतोदृष्ट)। 'उपमान' किसी ज्ञात वस्तु के साथ तुलना कर किसी वस्तु या तथ्य का विनिश्चयन है।

'शब्द' (आप्त) आप्त पुरुषों के वाक्य के आधार पर निश्चय करना है। शब्द से अर्थ आप्त (सम्माननीय) व्यक्ति द्वारा जो अधिकारी एवं विशेषज्ञ माना जाता है उसके द्वारा किसी तथ्य का कथन है।[1] ऐसा आप्त पुरुषो का कथन हमको उन विषयों के सम्बन्ध में भी, जो हमारे अनुभव के वृत्त मे आते है अथवा जो हमारे अनुभव के परे हैं उनके सम्बन्ध में भी उचित ज्ञान दे सकते हैं। आत्मा, शरीर, इन्द्रियाँ, इन्द्रियार्थ (इन्द्रियों के विषय), 'बुद्धि' 'मन' 'प्रवृत्ति' पुनर्जन्म, आनन्द का उपभोग, और दुःख का भोग एवं मोक्ष ज्ञान के विषय हैं। कामना, घृणा, प्रयत्न, सुख और दुःख एवं ज्ञान आत्मा के अस्तित्व के द्योतक हैं। शरीर पिण्ड वह है जो गति और इन्द्रियों को धारण करता है, जिसमें इन्द्रिय विषयक सुख और दुःख की उत्पत्ति होती है। शरीर इन सबका माध्यम है।[2] पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु और आकाश इन पंचभूतों से पाँचों इन्द्रिय चेतनाओं का प्रादुर्भाव होता है। गंध, रस, रंग और शब्द, इन पांचो तत्त्वों के गुण हैं। यही पाँचों इन्द्रियों के विषय हैं। एक ही समय में एक साथ अनेक वस्तुओ का संज्ञानात्मक बोध नही होता। इससे 'मन' की स्थिति का पता चलता है। अर्थात् जिस ओर मन इन्द्रियों को नियोजित करता है उसी विषय पर इन्द्रियाँ केन्द्रित होकर उसका ज्ञान प्राप्त करती हैं। वाणी, शरीर और बुद्धि (या मन) से जो कुछ क्रिया की जाती है, वह 'प्रयत्न' है। 'दोष' (राग द्वेष आदि) वे हैं जिससे मनुष्य

---

1. वात्स्यायन कहते हैं कि 'आर्य', ऋषि अथवा म्लेच्छ (दूसरे देश का व्यक्ति) 'आप्त' हो सकता है। यह कथन काफी रोचक और विचारणीय है।
2. यहाँ वात्स्यायन के मत के अनुसार वर्णन किया गया है।

शुभ अथवा अशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है। दुःख वह है जिससे कष्ट होता है।[1] दुःख से अन्तिम निवृत्ति ही मोक्ष (अपवर्ग) है।[2] जब किसी विषय मे एक ही प्रकार के मत प्रकट किए जाते हैं अथवा जब एक दूसरे से भिन्न मत प्रस्तुत किए जाते हैं और जिज्ञासु इन विभिन्न मतो मे से एक निश्चित मत पर पहुँचना चाहता है तो 'संदेह' (संशय) की उत्पत्ति होती है, कि इनमे से कौन सा विकल्प सत्य है। मनुष्य जब किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए अथवा उसके परित्याग के लिए किसी कर्म मे प्रवृत्त होता है तो वह उसका 'प्रयोजन' कहलाता है। जिस अर्थ के लिए कार्य किया जावे वह अर्थ ही प्रयोजन है।

'दृष्टान्त' वह है जिसके सम्बन्ध मे साधारण मनुष्य और विशेषज्ञ (परीक्षक) दोनो एक मत हैं। 'सिद्धान्त' (जिन निर्णयो को स्वीकार कर लिया गया है) के सम्बन्ध में कहा गया है कि सिद्धान्त चार प्रकार के होते हैं। (1) सर्व तन्त्र सिद्धान्त (वे सिद्धान्त जो सारे मतो द्वारा स्वीकृत कर लिए गए हैं)। (2) वे जिनको एक शाखा (मत) विशेष ही मानता है और अन्य इसका विरोध करते हैं, इनको 'प्रतितन्त्र सिद्धान्त' कहते हैं। (3) वे सिद्धान्त जिनको स्वीकार करने के पश्चात् उनमे अन्य निष्कर्ष भी स्वतः स्वीकार करने होंगे। इनको 'अधिकरण सिद्धान्त' कहते हैं। (4) विपक्षी का वह मत जो वादी के द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है और फिर उसी के आधार पर विपक्षी के मत का कुशलता से खडन किया जाता है, ऐसे स्वीकार किए हुए सिद्धान्त को 'अभ्युपगम-सिद्धान्त' कहते हैं।[3]

'अवयव' (तर्कांग) पाँच प्रकार के होते हैं। (1) 'प्रतिज्ञा' जिस वस्तु को सिद्ध करना है उसका कथन। (2) 'हेतु' वह कारण या युक्ति जिसके द्वारा किसी वस्तु से तुलना या अन्तर कर अपने पक्ष की पुष्टि का निर्णय प्रस्तुत किया जाता है। (3) उदाहरण-पक्ष या विपक्ष की युक्ति की पुष्टि अथवा खडन के लिए किसी दृष्टान्त को प्रस्तुत करना (4) उपनय, दृष्टान्त के द्वारा पुष्टि (5) 'निगमन', सिद्ध किए हुए तथ्यो के आधार पर अन्तिम निष्कर्ष को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना। इसके पश्चात् तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान आदि शब्दो की परिभाषाएँ दोहराई हैं जिसका उल्लेख प्रथम सूत्र मे किया गया है।

'दूसरे भाग मे 'प्रमाण' (सत्य विद्या) के साधनो के विरोध मे उठाई शकाओ का खडन किया गया है। विरोधियों द्वारा कहा जाता है कि 'संशय' के लिए कोई स्थान नही है क्योंकि दो वस्तुओं मे जिनके सम्बन्ध मे सदेह होता है सदैव ही कुछ न कुछ अन्तर होता

---

1. वात्स्यायन की व्याख्या के अनुसार, मनुष्य सारी वस्तुओं को दुःख का कारण मानकर दुःख से बचना चाहता है। जन्म से भी दुःख होता है अतः वह जीवन के प्रति विरक्त हो जाता है और इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करता है।
4 वात्स्यायन यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि मोक्ष मे 'आनन्द' की स्थिति नहीं है केवल दुःख से निवृत्ति है। उस स्थिति में दुःख नहीं है।
3. उपर्युक्त वर्णन वात्स्यायन की व्याख्या के अनुसार है।

है अतः उनके बारे मे संशय करना व्यर्थ है । इसके उत्तर में कहा गया है कि जब दो वस्तुओं के अन्तर उत्पन्न करने वाले विशिष्ट गुण, लक्षण व अन्य चिह्न ध्यानपूर्वक मनन नहीं किए जाते तो उनके स्वरूप के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न होता है । इसके अतिरिक्त कुछ विरोधी, सम्भवतः बौद्ध लोग, 'प्रमाण' की सत्यता पर शंका करते हैं । उनके मत से प्रमाण को विश्वस्त नही माना जा सकता । विशेष रूप से इन्द्रियो के ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष बोध का भी खण्डन करते है । उनका मत है कि यदि वह बोध इन्द्रियो के विषय के साथ सम्पर्क से पूर्व ही उत्पन्न होता हैं तो वह ज्ञान इन्द्रिय-चेतना के कारण नही हो सकता । यदि इन्द्रिय संस्पर्श के पश्चात् यह ज्ञान उत्पन्न होता है तो इन्द्रियाँ, वस्तु विषय के स्वरूप का निर्धारण नही कर सकतीं क्योंकि यही प्रथम अनुभूति है । यदि यह संज्ञान इन्द्रिय संस्पर्श के साथ ही हो जाता है तो इसका अर्थ है कि हमारी संज्ञान की प्रक्रिया में कोई क्रम,कोई पौर्वापर्य-व्यवस्था नहीं है । इस सम्बन्ध में न्याय का उत्तर है कि यदि सत्य ज्ञान की प्राप्ति का कोई साधन नही है, तब शंकालु के पास भी सत्य ज्ञान तक पहुँचने का कोई साधन नही है, उसके पास कोई प्रमाण साधन न होने से सत्य ज्ञान के प्रमाणों का खडन करने का भी साधन नही हो सकता । यदि विपक्षी का यह मत है कि वह किसी साधन या युक्ति के आधार पर सत्य ज्ञान तक पहुँच सकता है तो वह यह नही कह सकता कि सत्यज्ञान की संपुष्टि के लिए कोई प्रमाण, युक्ति अथवा साधन नही हो सकता । जैसे अनेक संगीत वाद्यों की सगीत ध्वनि से, विभिन्न प्रकार के संगीत वाद्यो के होने का अनुमान लगाया जा सकता है, उसी प्रकार अनेक पदार्थो के सम्बन्ध मे हमारे पूर्वज्ञान के आधार पर हम इन्द्रिय सस्पर्श से उन वस्तुओं के पूर्व अस्तित्व का अनुमान कर सकते हैं ।[1]

सत्य ज्ञान के साधन जैसे इन्द्रिय चेतना आदि जिनसे अन्य विषयों का उचित संज्ञान होता है स्वयं भी संज्ञान के विषय हो सकते है । ऐसा कोई नियम नही है कि जो ज्ञान के साधन हैं वे साध्य नही हो सकते । जो प्रमाण के साधन हैं उन्हे अन्य साधनों की आवश्यकता नही है । वे स्वयं साधन भी हैं और ज्ञान का विषय भी हैं । उदाहरण के लिए जो दीपक अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है वह स्वयं भी अपने अस्तित्व को प्रकट करता है—अपने ही प्रकाश से वह स्वयं भी प्रकाशित होता है ।

प्रत्यक्ष बोध की परिभाषा की सत्यता की विवेचना में कहा है कि इस परिभाषा में आत्मा और चित्त के सम्पर्क की कल्पना की गई है ।[2] फिर अवयव और अवयवीभाव की

---

1. यथा पश्चात् सिद्धेन शब्देन पूर्वं सिद्धम् आतोद्यमनुमीयते साध्यं च आतोद्यम्, साधनम् च शब्दः अन्तर्हिते ह्यातोद्ये स्वनतः अनुमानम् भवतीति, वीणा वाद्यते, वेणुः पूर्यते इति स्वनविशेषेण आतोद्यविशेषम् प्रतिपाद्यते तथा पूर्वसिद्धम् उपलब्धिविषयम्, पश्चात्सिद्धेन उपलब्धिहेतुना प्रतिपाद्यते । वात्स्यायन भाष्य 11.1.15 ।
2. इस प्रसंग में दिए हुए सूत्र II.i. 20-28 सम्भवतः प्रत्यक्ष की परिभाषा के शब्दों के प्रति आलोचना का निराकरण करने की दृष्टि से बाद में क्षेपक रूप मे सम्मिलित किए गए हैं । यह परिभाषा न्याय सूत्र में दी गई है ।

विवेचना की गई है। कहा गया है कि यद्यपि हम एक भाग 'अवयव' को ही देख पाते हैं पर यह स्वय सिद्ध है कि यदि अवयव है, एक भाग है, तो 'अवयवी' अवश्य होगा जिसका भाग वह अवयव है। पुन यह पूर्णता या अवयवी केवल विभिन्न भागो का समूह मात्र नही है यदि ऐसा होता तो हम यह कहते कि हमने परमाणुओ को देखा है।[1] जैसे हम रेत के ढेर को देखकर किसी अन्य पूर्णता का अनुभव नहीं करते, केवल यह कहते हैं कि रेत का ढेर देखा है उसी प्रकार यह कह देते हैं कि हमने परमाणुओं की ढेरी देखी है अत यह अवयवी केवल अवयवो का समूह मात्र नही है, सम्पूर्ण अस्तित्व है। कुछ विपक्षी ऐसी शका करते हैं कि कार्य से कारण का अनुमान करना उचित नहीं है क्योंकि एक कार्य की सम्पन्नता मे अनेक कारण होते हैं अतः यह नहीं कहा जा सकता कि इस कार्य विशेष का यह विशेष कारण है। इस शका के समाधान मे न्याय कहता है कि प्रत्येक कार्य की अपनी एक विशेषता होती है। इस विशेषता का ध्यानपूर्वक मनन करने मे उस कार्य विशेष का विशिष्ट कारण सरलता से जाना जा सकता है।[2] जो काल की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं और यह तर्क करते हैं कि काल की सत्ता अपेक्षाजन्य है उसके समाधान मे न्याय यह उत्तर देता है कि यदि वर्तमान की स्थिति नही होती तो इसका प्रत्यक्ष बोध भी सम्भव नही होता। यदि भूत और भविष्य नही है तो हम यह नही कह सकते कि यह कार्य भूतकाल मे या पहले आरम्भ किया गया था और अब भविष्य में भी होगा। जब किसी कार्य के पहले होने का या भविष्य मे होने का बोध होता है, तो यह निश्चित है कि काल का भूत, वर्तमान और भविष्य है। इसके पश्चात् न्याय, ज्ञान के लिए 'उपमान' (साम्यानुमान सादृश्य) की प्रामाणिकता और वेदो की प्रामाणिकता की व्याख्या करता है। इसके पश्चात् न्याय-सूत्र यह सिद्ध करते हैं कि इसके द्वारा वर्णित चार प्रकार के प्रमाण प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और शब्द किसी प्रकार के निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए पर्याप्त हैं, किसी अन्य प्रकार के प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। प्रमाण के अन्य प्रकार व्यर्थ हैं। प्रमाण के अन्य प्रकार निम्न हैं—(1) अर्थापत्ति

---

1 यह बौद्ध मत का खडन है जो 'अवयवी' या सम्पूर्ण की सत्ता को नहीं मानते। इनके सम्बन्ध मे पण्डित अशोक (नवी शताब्दी) द्वारा लिखा हुआ बौद्ध लेख 'अवयवी निराकरण' का अध्ययन प्रासगिक होगा। यह 'सिक्स बुधिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स' में देखा जा सकता है।

2 पूर्वोदक-विशिष्ट खलु वर्षोदक शीघ्रतरम् स्त्रोतसा वहुतर-फेन-फलपर्ण-काष्ठादि वहन चोपलभमान पूर्णत्वेन नद्या उपरि वृष्टो देव इत्यनुमिनोति नोदकवृद्धि मात्रेण। वात्स्यायन भाष्य II 1-38। जब यह अनुमान किया जाता है कि नदी के ऊपर के भाग में विशेष रूप से वर्षा हुई है तो यह अनुमान केवल जल की वृद्धि के आधार पर नहीं किया जाता वरन् नदी में जल का पूर्वस्तर, जल के बढ़ते हुए प्रवाह मे फल, फूल, पत्ते, फेन आदि वस्तुओं को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि इस नदी के ऊपरी भाग मे अवश्य विशेष वर्षा हुई है।

(अभिप्रेत अर्थ, लक्ष्यार्थ) (2) ऐतिह्य (परम्परा) (3) सम्भव (दीर्घ में लघु की स्थिति को स्वीकार करना जैसे एक क्विंटल अनाज यदि है तो यह निश्चित है कि उसमें एक मन अनाज अवश्य होगा) (4) अभाव (अस्तित्वहीनता)। न्याय का मत है कि इन अन्य प्रकारों की कोई अलग स्थिति नही है। अतः इन्हें अलग से प्रमाण मानना व्यर्थ है क्योंकि परम्परा या ऐतिह्य, 'शब्द' प्रमाण में अन्तर्भूत हो जाता है और अर्थापत्ति, सम्भव और 'अभाव' अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत आ जाते हैं।

प्रमाणों के रूप में यद्यपि इनका महत्त्व स्वीकार किया गया है पर ये उप-प्रमाण प्रमाण के चार भेदों में स्वतः ही आ जाते हैं, अतः अलग से गणना करने की आवश्यकता प्रतीत नही होती। फिर 'शब्द' नित्य है इस मत का खण्डन किया गया है और अनेक युक्तियों और प्रमाणों द्वारा शब्द की अनित्यता सिद्ध की गई है। फिर यह बताया गया है संज्ञा शब्दों का अर्थ 'जाति', 'व्यक्ति' और आकृति को प्रकट करते हैं। आकृति के 'जाति' का विनश्चयन होता है। (समानप्रसवात्मिका जातिः) अर्थात् जिसके कारण एक जाति के व्यक्तियों मे समानता का बोध हो ऐसी आकृति ही तो है।

तीसरे भाग में आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रमाण दिए गए हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना-अपना विषय क्षेत्र है परन्तु इन इन्द्रियों के अतिरिक्त कोई अन्य अस्तित्व होना चाहिए जो इन इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सारे बोध-बिम्बों को ग्रहण कर इन सबसे एक सम्पूर्ण बोधात्मक चित्र को निर्मित कर उससे पूर्ण विषय का संज्ञान करता है। यह कार्य आत्मा का है जो इन्द्रिय चेतना के विभिन्न क्षेत्रों में समन्वय स्थापित करती है। यदि आत्मा का अस्तित्व नही होता तो किसी भी शरीर को क्षति पहुँचाने में कोई पाप नही लगता, क्योंकि आत्माविहीन शरीर अन्य वस्तुओ के समान ही जड़ वस्तु है। यदि आत्मा का स्थायी अस्तित्व न हो तो पहले देखी हुई वस्तुओं की स्मृति से नयी वस्तुओं को पहचानने वाली शक्ति कहाँ होती। यदि आत्मा का अस्तित्व न हो तो दोनों नेत्रों से देखी गई एक ही वस्तु के दो बिम्बों को एक रूप मे देखना भी सम्भव नही होता।[1] यदि कोई स्थायी संज्ञानात्मक शक्ति नही होती तो खट्टे फल को देखकर यह पहचानना भी सम्भव नही हो पाता कि यह फल खट्टा है। यदि ज्ञान चेतना केवल इन्द्रियों की होती तो किसी वस्तु के पहचान का प्रश्न ही नही उठता क्योंकि एक इन्द्रिय की अनुभूति को दूसरी इन्द्रिय के द्वारा जानना असम्भव हो जाता। यदि यह कहा जावे कि इन्द्रिय चेतना का समन्वय मन के द्वारा किया जाता है, तो फिर यह मन वही कार्य करता है जो आत्मा करती है और फिर यह विवाद केवल नाम के ऊपर रह जाता है। चाहे इसे आत्मा कहा जाए या मन कहा जाए यह एक ही बात होगी। पुनः जो जानने वाली शक्ति है, जो संज्ञान अथवा अभिज्ञान प्राप्त करती है, उसके पास कोई ऐसा साधन होना चाहिए जो इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त विभिन्न विषयों के अभिज्ञान में

---

1. वात्स्यायन का मत है कि दोनों नेत्रो में दो अलग-अलग इन्द्रिय चेतना हैं। उद्योत-कर विपरीत मत रखते हैं कि दृश्य चेतना एक है पर दोनो के माध्यम से यह कार्य करती हैं।

सामजस्य और समन्वय स्थापित करता है, जो सज्ञान की उत्पत्ति करता है । यदि मन को आत्मा का साधन नही माना जाए तो सम्भवत इन्द्रियो की क्रियाओ व अनुभूति को समझा जा सकता है, पर यह समझना कठिन होगा कि विचार-विमर्श कौन करता है, कल्पना, चिन्तन और मनन कौन करता है । यह कार्य मन का है जो आत्मा का साधन है । शिशु प्रारम्भिक अवस्था मे भी आनन्द और दु ख के चिह्न प्रकट करते हैं जो इस जन्म की अनुभूति के प्रकाश मे सम्भव नहीं है । अत यह स्पष्ट है कि कोई ऐसी ज्ञानवान शक्ति है जो पिछले जन्म के अनुभवों के आधार पर बालक मे आनन्द और प्रसन्नता या कष्ट का प्रादुर्भाव करती है । इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्राणी कुछ कामनाओ के साथ उत्पन्न होता है, ऐसा कोई प्राणी नही है जो कामना के साथ उत्पन्न नहीं होता । यह कामना मोह आदि पिछले जन्म के मोह और अनुरक्ति के फलस्वरूप आत्मा के साथ ही दूसरे जन्म मे पुन उत्पन्न होती है।

शरीर क्षिति तत्त्व से निर्मित है । दृष्टि-चेतना भौतिक है ।[1] साथ यह भी असत्य है कि केवल त्वचा ही संवेदना का एकमात्र साधन है । पृथ्वी तत्त्व मे चार गुण हैं, जल मे तीन गुण हैं । अग्नि मे दो और वायु व आकाश मे एक-एक गुण है । गन्ध, रस, रूप और स्पर्श क्रमश पृथ्वी आदि तत्त्वो से निर्मित हैं और जिस स्थूल तत्त्व से इनका निर्माण हुआ है उसके स्वानुकूल ही विशेष गुण को विशेष रूप से ग्रहण कर सकते हैं । जैसे गन्ध पृथ्वी तत्त्व से निर्मित है । पृथ्वी के चार गुण हैं परन्तु घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी के गन्ध को ही ग्रहण कर सकने मे समर्थ होती हैं अन्य गुणो को नही ।

साख्य परम्परा के विपरीत न्याय 'बुद्धि' (सज्ञान शक्ति) और 'चित्' (शुद्ध चेतना) में कोई अन्तर नही मानता । इसके मतानुसार 'बुद्धि' जो (चित्) एक ही है । हमारे चेतना में पार्थिव एव अपार्थिव दो प्रकार के तत्त्व नहीं पाये जाते । चेतना सम्पूर्ण रूप मे एक ही है । न्याय दर्शन साख्य की इस 'ज्ञान-मीमासा' को भी स्वीकार नहीं करता कि सज्ञान-प्रक्रिया में 'अन्त करण' अनेक रूप धारण कर लेता है । यह केवल मन का आत्मा, इन्द्रिय और विषयवस्तु से सम्पर्कमात्र है । सांख्य का एक और मत है कि जिस प्रकार कोई स्फटिक इसके पास पडे हुए रगीन वस्तुओ के विभिन्न वर्गो को प्रतिभासित करता है उसी प्रकार अन्त करण भी बाह्य पदार्थों के प्रतिबिम्बित प्रकाश को ग्रहण करता है । बौद्ध दर्शन इसका प्रतिवाद करता है । उसका मत है कि यह सब एक क्षणिक प्रक्रिया है जिसमें एक क्षण के लिए स्फटिक के समान प्रकाश बिम्ब ग्रहण किया जाता है । कोई स्थायी तत्त्व स्फटिक के समान नही है जो ससार के बाह्य पदार्थों के प्रकाश बिम्ब को ग्रहण कर परावर्तित करता

---

1 साम्ख्य की यह मान्यता नहीं थी कि इन्द्रिय-चेतना भौतिक है जो स्थूल तत्त्वो से निर्मित है । परन्तु 'आत्रेय सहिता' (चरक भाष्य) मे प्रतिपादित मत के अनुसार, इन्द्रिय चेतना भौतिक और स्थूल तत्त्वो से निर्मित है । यह दूसरा मत साख्य-योग का है ।

रहता है। न्याय दर्शन सांख्य और वौद्ध दोनों मतों का खंडन करता है। न्याय का मत है कि यह नही कहा जा सकता कि सारी वस्तुएँ अथवा उत्पन्न पदार्थ क्षणिक है। अधिक से अधिक यह स्वीकार किया जा सकता है कि जो वस्तुएँ हमारे अनुभव में या व्यवहार में क्षणिक दिखाई देती हैं वे सब क्षणिक हैं। जैसे दूध जब दही में वदलता है तो नए गुण विशेष रूप से उत्पन्न नही होते, न पुराने गुणों का लोप होता है। वास्तव में दूध का लोप होकर दही का निर्माण होता है। मन का आत्मा के साथ सम्पर्क आन्तरिक है। यह सम्पर्क शरीर के वाहर स्थित किसी आत्मा से नहीं है। ज्ञान आत्मा का विषय है और उसी का धर्म है। यह इन्द्रिय या पदार्थ का धर्म नही है क्योंकि उनके नष्ट हो जाने के पश्चात् भी ज्ञान वना रहता है। नये संज्ञान के साथ पुराने संज्ञान का लोप हो जाता है। कामना और विरक्ति दोनों आत्मा के विषय हैं। ये शरीर अथवा मन के धर्म नही हैं। मन की अपनी कोई पृथक् चेतना (भोक्तृत्व) नही है क्योंकि यह अपनी चेतना के लिए आत्मा पर निर्भर है। फिर यदि यह मन चेतन होता तो इसके द्वारा किए हुए कर्मों का जो फल आत्मा को भोगना पड़ता है वह कैसे होता क्योंकि यह नियम विरुद्ध है कि किसी अन्य के लिए कर्मों का फल अन्य को भोगना पड़े। स्मृति के निम्न हेतु वतलाए गए हैं—(1) ध्यान (2) प्रसंग (3)पुनरावृत्ति (4) संकेत (5) सम्पर्क (6) साम्य (7) स्वत्व रखने वाले और स्वत्व जिस पर हैं उनका सम्वन्ध अथवा स्वामी सेवक सम्वन्ध या स्थायी क्रमिक सम्वन्ध (8) वियोग, जैसे पति-पत्नी विच्छेद (9) साधारण कार्य (10) विरोध(11) आधिक्य (12) वह जिससे किसी वस्तु की प्राप्ति हो सकती है। (13) ढकने वाला और ढक जाने वाला पदार्थ (14) सुख और दुःख जिसके द्वारा पूर्व स्मृति की जागृति होती है (15) भय (16) प्रार्थना (17) कोई कर्म जिससे स्मृति उत्पन्न होती हो जैसे, रथ के द्वारा रथी का ध्यान जाना। (18) प्रेम (19) गुण और अवगुण।[1] फिर यह कहा गया है कि ज्ञान शरीर का धर्म नही है और तत्पश्चात् अदृष्ट के कारण शरीर के जन्म की व्याख्या की गई है। पुनः यह कहा गया है कि कर्म के विनाश से मन की आत्मा से वियुक्ति या स्थायी सम्बन्ध-विच्छेद होता है जिसके कारण 'अपवर्ग' (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

'दोष' परीक्षा के प्रसंग मे चतुर्थ पुस्तक में कहा गया है कि 'मोह' ही 'राग' और 'द्वेष' का मूल है। वौद्ध दृष्टिकोण के अनुसार किसी वस्तु की उत्पत्ति, विनाश से ही होती है। न्याय इसके विपरीत यह कहता है कि उत्पत्ति की प्रक्रिया मे विनाश एक क्रम मात्र है। फिर कहा है कि मनुष्य के द्वारा किये हुए कर्मों के फल ईश्वर की इच्छा से प्राप्त होते हैं। ईश्वर ही फल प्राप्ति में मूल कारण है क्योंकि मनुष्य के कर्मों से सदैव ही इच्छानुसार अथवा कर्मानुसार फल की प्राप्ति नही होती है। तत्पश्चात् उन दार्शनिकों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है जो यह कहते हैं कि संसार के सारे पदार्थ विना किसी कारण के उत्पन्न होते हैं। इस मत का खंडन किया गया है कि संसार विना किसी कारण के (अनिमित्त) उत्पन्न हुआ है। यह असम्भव वताया गया है क्योंकि इस आधार पर 'अनिमित्त' ही संसार का निमित्त सिद्ध होगा जो हास्यास्पद है।

1. न्याय सूत्र III.ii. 44।

फिर उन लोगो के मत का खडन किया है जो यह कहते हैं कि ससार मे सारी ही वस्तुएँ नित्य हैं। न्याय का कथन है कि यह व्यावहारिक वुद्धि और अनुभव के प्रतिकूल है क्योकि हम सदैव ही यह देखते हैं कि वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और नष्ट हो जाती हैं। उसके पश्चात् शून्यवादी वौद्धो के इस सिद्धान्त का खडन किया गया है कि समार मे सभी वस्तुओ की स्थिति, दूसरी वस्तुओ की अपेक्षा से है अपना स्वतन्त्र अस्तित्व किसी वस्तु का नही है। इसके पश्चात् अन्य वौद्धो के इस सिद्धान्त का भी खडन किया गया है कि पदार्थों के गुण मात्र का अस्तित्व है, द्रव्य स्वय में कुछ नही है और 'अवयवी' की या सम्पूर्ण की कोई स्थिति नहीं है 'अवयव' (भाग) मात्र की ही स्थिति है। कर्मफल के सम्वन्ध मे कहा गया है कि वह वृक्षो पर लगने वाले फलो के समान है जो पकने मे कुछ समय लेते हैं। फिर जन्म के सम्वन्ध मे कहा है कि यह सदैव दु खमय है। यहाँ वहाँ थोडे से आनन्द के क्षण कदाचित् दिखाई देते हैं तो वह क्षणिक है। जीवन में दु ख ही दु ख हैं। कभी-कभी प्राणी दु ख को ही सुख मानकर प्रसन्न हो लेता है। जैसे स्वप्नरहित प्रगाढ निद्रा मे दु ख की कोई स्थिति नहीं रहती, इसी प्रकार 'अपवर्ग' प्राप्त करने पर 'क्लेश' से मुक्ति मिल जाती है।[1] इस स्थिति के प्राप्त करने पर सारी 'प्रवृत्तियो' की सदैव के लिए समाप्ति हो जाती है। यद्यपि प्रवृत्तियाँ अनादि काल से चली आ रही हैं परन्तु इनका अस्तित्व राग-द्वेषादि के कारण है। अपने दोषो के ज्ञान से 'अहकार' का नाश हो जाता है। इसके पश्चात् अवयव और अवयवार्थ का विवेचन है और 'अणु' की व्याख्या की गई है जो अविभाज्य तत्त्व है। पुन विज्ञानवादी वौद्धो के इस सिद्धान्त का प्रतिपाद किया गया है कि ससार मे कल्पना या विचार से भिन्न किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है अर्थात् सभी वस्तुएँ मनुष्य की कल्पना या विचार में ही अवस्थित है उनका कोई वास्तविक अस्तित्व नही है। इसी क्रम मे प्रसगवश सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए 'योग' का भी प्रसग आया है।

पाँचवें भाग मे विभिन्न प्रकार के 'निग्रह स्थान' (प्रतिवाद विन्दु) एव 'जाति' (व्यर्थ की युक्तियों) का वर्णन है जो परवर्ती मालूम होता है।

चरक न्याय-सूत्र और वैशेषिक सूत्र

'न्याय सूत्र' की 'वैशेपिक सूत्रों' से तुलना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि न्याय सूत्रो मे दो तीन प्रकार की विचारधाराओ का समावेश हुआ है परन्तु वैशेपिक सूत्र प्रारम्भ से अन्त तक एक ही विपय को प्रतिपादित करता है। न्याय सूत्र मे अपने प्रतिद्वन्द्वी को हराने के लिए तर्क की प्रक्रियाओं की विशद व्याख्या की गई है। तर्कशास्त्र को जीवन की एक व्यावहारिक कला के रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इस सवके अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह सव सामग्री किसी अन्य प्राचीन तर्कशास्त्र से ली गई होगी

---

1 वात्स्यायन के अनुसार यह मोक्ष उस प्राणी का है जिसने ब्रह्म को जान लिया है।
—वात्स्यायन IV 1 63।

जिसका हिन्दू और बौद्ध समान रूप से शास्त्रार्थ की सफलता के लिए अध्ययन करते थे।[1] चरक के द्वारा लिखे हुए आयुर्वेदविज्ञान के ग्रन्थ (4,5) में 'जाति', 'छल' आदि तर्कशास्त्र के शब्दों की तुलना न्याय सूत्र में पायी जाने वाली शब्दावली से करने पर उपर्युक्त मत की और भी अधिक संपुष्टि हो जाती है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में न्यायसूत्र और चरक-संहिता के अतिरिक्त, और कोई ग्रन्थ ऐसे उपलब्ध नहीं होते जिसमें तर्कशास्त्र का इस प्रकार विवेचन किया गया हो। चरक में दृष्टान्त, प्रयोजन, प्रतिज्ञा और वितण्डा की परिभाषा और तर्क के अंगों का जो वर्गीकरण किया गया है वह न्याय सूत्र की व्याख्या से मिलता-जुलता है। साथ ही दोनों ग्रन्थों में 'जल्प' छल, निग्रहस्थान आदि की परिभाषाओं में काफी अन्तर भी पाया जाता है। इसके अतिरिक्त चरक में तर्क के कुछ ऐसे अंगों या वर्गों की विवेचना की गई है जो न्याय सूत्र में नहीं पाये जाते है। उदाहरण के लिए प्रतिष्ठापना, जिज्ञासा, व्यवसाय, वाक्यदोष, 'वाक्यप्रशंसा', उपलम्भ, परिहार, अभ्यनुज्ञा, आदि केवल चरक संहिता में ही वर्णित हैं।[2] इसी प्रकार न्याय सूत्र में 'जाति' और निग्रहस्थान की जो व्याख्या की गई है वह चरक में नहीं पाई जाती है। कुछ शब्द या पद ऐसे हैं जो भिन्न रूपों में हैं पर एक से अर्थ में दोनों ग्रन्थों में प्रयोग किए गए हैं। चरक के 'औपम्य' को न्याय सूत्र में 'उपमान' कहा है। न्याय सूत्र के 'अर्थापत्ति' के अर्थ में, चरक ने अर्थप्राप्ति पद का प्रयोग किया गया है। स्पष्ट ही है कि चरक को इस विषय में न्याय सूत्र नामक ग्रन्थ की जानकारी नहीं थी। चरक का विवेचन भी न्याय सूत्र से अधिक सरल और सुस्पष्ट है। यदि पाँचवीं पुस्तक में 'जाति' आदि के भेद की ओर ध्यान न दिया जाए तो चरक और न्याय सूत्र दोनों में पर्याप्त साम्य पाया जाता है। इन दोनों ग्रन्थों में चरक-संहिता पहले लिखी गई है और न्याय सूत्र बाद में लिखा गया है जब तर्क, खण्डन-मण्डन और शास्त्रार्थ का विशेष प्रचलन हो गया था, और इसके कारण न्याय में तर्क के पदों और प्रक्रियाओं का और भी विशद रूप में वर्णन करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि न्याय सूत्र का यह भाग दूसरी शताब्दी से पूर्व लिखा हुआ नही होना चाहिए। न्याय सूत्र में दूसरी धारा तत्कालीन बौद्ध मत की सौत्रांतिक, विज्ञानवादी, शून्यवादी विचारधाराओ के प्रतिवाद से सम्बन्ध रखती है। इसके अतिरिक्त सांख्य, चार्वाक व अन्य अज्ञात मतों का भी खंडन किया गया है। वैशेषिक सूत्र में केवल मीमांसा सिद्धान्तों से मतभेद प्रकट किया गया है और अन्त में उनके कई सिद्धांतों को अंशतः स्वीकार कर लिया गया है। न्याय सूत्र में भी वैशेषिक के

---

1. 'सुवर्ण प्रभास सूत्र' मे एक प्रसंग मे ज्ञात होता है कि बौद्ध भिक्षु शास्त्रार्थ में स्वर को अधिक सशक्त बनाने के लिए विशेष प्रकार के योग (औषध) का सेवन करते थे। इन भिक्षुओं ने सरस्वती (विद्या की अधिष्ठात्री देवी) की भी उपासना करना प्रारम्भ कर दिया था जिससे शास्त्रार्थ के समय उनको प्रत्युत्पन्नमति बनाने में सरस्वती देवी सहायता करें।
2. वैशेषिक के समान ही चरक मे भी अनुमान के तीन भेद पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट का उल्लेख नही मिलता है।

के समान ही मीमांसा के शब्द की 'नित्यता' के सिद्धान्त पर तीव्र मतभेद मिलता है। उत्तर मीमांसा और उत्तर न्याय मे मुख्य मतभेद मीमांसा के 'स्वत प्रामाण्यवाद' (ज्ञान का स्वय प्रमाण होना) और भ्रान्ति के 'अख्याति' सिद्धान्त के विषय मे पाया जाता है पर 'न्यायसूत्र' मे इसका कोई उल्लेख नहीं है। 'न्याय सूत्र' मे (IV 2 38-42,46) योग साधन प्रसग भी उसकी सामान्य विचारधारा से साम्य नही रखता है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह बाद को क्षेपक रूप में सम्मिलित किया गया है। जापान मे अनेक पीढियो से प्रचलित यह जन-श्रुति कि यह प्रसग मिरोक(Mirok) ने बाद में जोड दिया है, सत्य प्रतीत होता है जैसा कि महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने सकेत किया है।[1]

वैशेषिक सूत्र 3 1 18 और 3 2 1 के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति आत्मा इन्द्रिय और इन्द्रिय-विषयो के सम्पर्क के कारण होती है। साथ ही इस सिद्धान्त का भी दृढतापूर्वक प्रतिपादन किया गया है कि रूप विशेष 'सस्कार' में ही दिखाई दे सकता है अर्थात् जब तक उचित प्रकार की अवस्थाओ का मेल नही होगा तब तक किसी स्वरूप या रूप को देखना सम्भव नही है। न्याय और वैशेषिक 'मन' का अस्तित्व है इस बात का 'अयौगपद्य' के आधार पर अनुमान करते हैं। इसमे ये दोनो एक मत हैं। विभिन्न वस्तुओ का सज्ञान एक ही समय, एक साथ नहीं होता और न तत्काल प्रयत्न का प्रारम्भ होता है अत यह स्पष्ट है कि अधिक सज्ञान क्रिया और मनन के पश्चात् प्रयत्न किसी ऐसे तत्त्व की स्थिति के कारण होना चाहिए जो इन्द्रियो से प्राप्त ज्ञान का सामजस्य निरूपण और मनन करता है। यह कार्य आत्मा नही कर सकती। यही 'अयौगपद्य' है। अत यह स्पष्ट है कि आत्मा के अलावा मन का भी अस्तित्व है। न्याय सूत्र, प्रत्यक्ष की शास्त्रीय व्याख्या करते हैं परन्तु वैशेषिक के समान 'सस्कार' या 'उद्भूतरूपवत्त्व का उल्लेख नही करते। न्याय सूत्र 'अनुमान' के तीन भेद 'पूर्ववत्' 'शेषवत्' और 'सामान्यतोदृष्ट' का उल्लेख करते हैं परन्तु इनकी कोई परिभाषा नहीं देते हैं। वैशेषिक मे इन भेदो का कोई वर्णन नहीं मिलता। इसमें केवल अनुमान के विभिन्न उदाहरण मात्र दिए गए हैं (वैशेषिक सूत्र 3 1 7-17,ixII, 1-2, 4-5) किसी वस्तु का किसी अन्य वस्तु से सम्बन्ध होने की स्थिति मे ही 'अनुमान' किया जा सकता है अथवा उस अवस्था में अनुमान प्रमाण कार्य मे लाया जाता है जब एक वस्तु की दूसरे मे 'अन्तर्व्याप्ति' हो अथवा एक तीसरी वस्तु मे व्याप्ति हो। एक प्रभाव से या कार्य से भी किसी अन्य समानधर्मा कार्य या प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है। ये सब उदाहरण एक स्थान पर एकत्रित कर प्रस्तुत किए गए हैं पर इनसे किसी सामान्य सिद्धान्त पर पहुँचने का प्रयत्न नहीं किया गया है। उत्तर न्याय मे 'व्याप्ति' सिद्धात विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण माना जाता है परन्तु 'हेतु' और 'साध्य' की सह-व्याप्ति के इस सिद्धात का विशेष निरूपण न न्याय मे किया है और न वैशेषिक मे। वैशेषिक सूत्र (iii 1 24) में हेतु और साध्य की व्याप्ति की बात को साधारण रूप से ('प्रसिद्धिपूर्वकत्वात् अपदेशस्य') स्वीकार कर लिया है। परन्तु 'व्याप्ति' पद का कहीं उल्लेख नहीं है, न इसकी जानकारी

---

1 जे० ए० एस० बी० 1905।

ही दिखाई देती है। 'प्रसिद्धिपूर्वकत्वात्' पद का पारिभाषिक अर्थ भी वैशेषिक में ऐसा नहीं प्रतीत होता जैसा उत्तरकालीन न्याय में स्पष्ट और शास्त्रीय हो गया है। इसी प्रकार वैशेषिक सूत्र 'शब्द' को (शब्दों को) अलग से प्रमाण के रूप में स्वीकार नही करते परन्तु वेदों को असंदिग्ध रूप से प्रामाणिक मानते हैं। न्याय सूत्र में शब्द को प्रमाण माना है और शब्द प्रमाण न केवल वेदों के लिए प्रयुक्त हुआ है पर किसी भी आप्त पुरुष की वाणी या साक्ष्य को 'शब्द' प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। वात्स्यायन ने ऋषि, आर्य और म्लेच्छ तीन प्रकार के आप्त पुरुषों का वर्णन किया है। पुनः संज्ञान की सत्यता के प्रमाण के लिए न्याय ने 'उपमान' का विशेष महत्त्व माना है पर वैशेषिक मे इसकी कोई जानकारी नही दिखाई देती। इसी प्रकार न्याय सूत्रों में 'अर्थापत्ति', 'सम्भव' और 'ऐतिह्य' का अन्य प्रमाणों के रूप में उल्लेख आता है यद्यपि इन सबको प्रमाणो के स्वीकृत भेदों में ही सम्मिलित माना गया है। परन्तु वैशेषिक में इनका कहीं भी प्रसंग तक नही आता।[1] जिस अधिकरण या संस्थिति मे अभाव स्थित है उसकी अपेक्षा से वैशेषिक सूत्र 'अभाव' के बोध को मान्य समझते हैं अर्थात् अभाव का प्रत्यक्ष केवल उसी संस्थिति के रूप में मानते हैं (ix, 1-10-10)। इसके विपरीत न्याय का मत है (II, 11.1.2.7.12) कि 'अभाव' किसी वस्तु की अस्तित्वहीनता के रूप में प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है। जब कोई व्यक्ति किसी को यह कहता है कि वे वस्त्र उठा लाओ जिन पर कोई चिह्न नही है तो वह व्यक्ति, यह देखता है कि कुछ वस्त्रों पर कोई चिह्न नही है और उन्हे उठाकर ले आता है। अतः न्याय का यह तर्क है कि 'अभाव' का बोध सीधा, प्रत्यक्ष रूप से किया जाताहै।[2] न्याय और वैशेषिक इस प्रकार 'अभाव' की बोध स्थिति के सम्बन्ध में एक मत है। परन्तु इसके निरूपण और बोध प्रक्रिया के सम्बन्ध मे मतभेद है। वैशेषिक दर्शन मे द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष और 'समवाय' के भेदो की विशद व्याख्या की गई है। परन्तु न्याय में इनके सम्बन्ध में कुछ भी नही कहा गया है।[3] पुनः न्याय-सूत्र इन्द्रिय-चेतना को द्रव्य के रूप मे सिद्ध करने का विशेष प्रयत्न करते हैं पर वैशेषिक सूत्र इसको कोई महत्त्व नही देते। केवल एक स्थल पर इसका अत्यन्त स्वल्प प्रसग आया है (viii, 2.5.6) जो पर्याप्त नही है। वैशेपिक में 'ईश्वर' शब्द का कही भी प्रयोग नहीं किया गया है पर न्याय सूत्र ईश्वर के अस्तित्व को पिछले घटनाक्रम के आधार पर सिद्ध करने का अथक प्रयत्न करते हैं। न्याय सूत्र में आत्मा के अस्तित्व सम्बन्धी कारणो मे इन्द्रिय-चेतनात्मक संज्ञान की एकरूपता और अभिज्ञान की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है जिस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। परन्तु वैशेषिक यह तर्क

---

1. प्राचीन ग्रन्थों मे केवल चरक में इनका उल्लेख मिलता है परन्तु चरक 'सम्भव' की एक अन्य व्याख्या देते हैं और 'अर्थपत्ति' को अर्थप्राप्ति की संज्ञा दी गई है।
2. इस उदाहरण को वात्स्यायन भाष्य मे उद्धृत किया गया है।
3. प्रसगवश न्यायसूत्र 'जाति' की परिभाषा करते हुए यह उल्लेख अवश्य करते हैं कि 'समान प्रसवात्मिका जातिः।' (II ii. 71)

करता है कि आत्मचेतना ही ज्ञान का अग है अर्थात् आत्मा प्रत्यक्ष रूप से बोध प्राप्त कर जिस चैतन्य को ग्रहण करती है वह आत्म चेतना ही सज्ञान है। न्याय और वैशेपिक दोनो ही अणुओ के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं परन्तु उत्तरकालीन न्याय वैशेपिक मे पाये जाने वाले अणु के निर्माण और स्वरूप की व्याख्या का इस काल मे नितान्त अभाव है। वैशेपिक मोक्ष को 'निश्रेयस' और न्याय सूत्र 'अपवर्ग' कहते हैं। वैशेपिक मे मोक्ष देह के बन्धन से मुक्ति है तो न्याय मे अपवर्ग दु खो से मुक्ति है।[1] उत्तरकाल में न्याय और वैशेपिक मे विशेप मतभेद संख्या की कल्पना और ताप मिट्टी के अणुओं मे रग परिवर्तन आदि के सम्बन्ध मे पाया जाता है। इस प्रकार वैशेपिक का मत है कि सख्या का बोध मस्तिष्क की एक विशेप प्रक्रिया के कारण होता है। सख्या के प्रत्यक्ष बोध मे पहले इन्द्रियो का वस्तु विशेप से सम्पर्क होता है फिर वस्तु एक है इसका बोध होता है फिर 'अपेक्षा बुद्धि' से 'द्वैत' और पुनः त्रैत आदि का बोध होता है। इसी प्रकार 'पीलुपाक' सिद्धान्त है जिसका अर्थ होता है अग्निसयोग के द्वारा पृथ्वी के रूप में परिवर्तन। वैशेपिक का मत है कि अग्निसंयोग के कारण पृथ्वी के परमाणुओ के गुणों मे अन्तर आ जाता है पर न्याय का मत है कि यह अन्तर अणुओ मे उत्पन्न होता है। वैशेपिक मत को नैयायिक मानने को तैयार नही थे।[2] प्रारम्भिक न्याय और वैशेपिक दर्शन मे अन्तर समझना इसलिए कठिन है कि न्याय सूत्रों मे सब उत्तरकालीन विवादो की कोई पृष्ठभूमि नहीं मिलती। क्योकि न्याय सूत्र इन सब विषयो पर कोई प्रकाश नही डालते इसलिए इस पर कुछ भी कहना सम्भव नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मतभेद न्याय और वैशेपिक के भाष्यकारों और व्याख्या करने वालो मे प्रारम्भ हुए होंगे। प्रशस्तपाद भाष्य (छठी शताब्दी) के द्वारा प्रस्तुत वैशेपिक दर्शन और उद्योतकर द्वारा निरूपित न्याय दर्शन को लगभग एक से दर्शन के रूप मे ही स्वीकार किया जाता है जिनमे यत्र-तत्र साधारण मतान्तर पाया जाता है अत न्याय वैशेपिक का वर्णन साथ-साथ ही किया गया है। अत इस अध्याय में छठी शताब्दी के पश्चात् जो न्याय वैशेपिक दर्शन उपलब्ध होता है इसकी व्याख्या की गई है।

वैशेषिक और न्याय साहित्य

कणाद ऋषि ने वैशेपिक सूत्रो की रचना की है। ये उलूक के पुत्र थे और इसलिए

---

1 'सक्षेप शकरजय' (16/68-69) और 'भासर्वज्ञ (पृ० 39-41) नैयायिक जो एक लेखक था, से जे० ए० एस० बी० 1905 व 1914 मे एक सन्दर्भ उद्धृत करते हुए श्री प्रो० वनमाली वेदान्ततीर्थ कहते हैं कि प्राचीन नैयायिक यह मानते थे कि मुक्ति मे एक प्रकार के सुख की भावना है परन्तु वैशेपिक इसको अस्वीकार करते थे। न्याय या वैशेपिक सूत्रों में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता है जब तक कि दु ख से निवृत्ति को सुख नहीं मान लिया जावे।

1 माधव रचित 'सर्व दर्शन सग्रह' मे औलूक्य दर्शन देखिए।

इनको औलूक्य भी कहा जाता है। वैशेषिक सूत्रों की रचना तिथि निश्चित करना कठिन है। परन्तु यह निश्चित है कि ये बौद्ध काल से पूर्व की रचना है। 'वायुपुराण' के अनुसार इनका जन्म द्वारका के निकट प्रभास में हुआ था और यह आचार्य सोम शर्मा के शिष्य थे। वैशेपिक सूत्रों पर प्रशस्तपाद ने भाष्य लिखा है पर यह भाष्य अन्य भाष्यो से भिन्न है। अन्य भाष्यों में पहले मूलसूत्र और उनके अर्थ दिए जाते है और उस पर टीका की जाती है जिसमें भाष्यकार अपना मत प्रकट करता है। परन्तु प्रशस्तपादभाष्य मे मूल सूत्रादि न देकर स्वतंत्र रूप से वैशेषिक सूत्रो के दर्शन का आधार लेकर व्याख्या की गई है। यह व्याख्या एक प्रकार से स्वतंत्र व्याख्या है।[1] दुर्भाग्यवश प्रशस्तपाद के जीवन काल का भी समय निश्चित करना कठिन है। प्रशस्तपाद भाष्य के अतिरिक्त वैशेपिक पर दो और भाष्य लिखे गए जिनका नाम 'रावणभाष्य' और 'भारद्वाज वृत्ति' है परन्तु ये दोनो ग्रन्थ सम्भवत लुप्त हो गए हैं। रावणभाष्य का उल्लेख पद्मनाभ मिश्र की 'किरणावली भास्कर' और इसके अलावा 'रत्नप्रभा' (II 2.2) मे भी पाया जाता है। प्रशस्तपाद भाष्य पर चार टीकाएँ और लिखी गई है जिनका नाम व्योमशेखराचार्य रचित 'व्योमवती', श्रीधर रचित 'न्याय कंदली', उदयन रचित किरणावलि (984, ए. डी) और श्रीवत्साचार्य रचित 'लीलावती' है। इनके अतिरिक्त नवद्वीप के जगदीश भट्टाचार्य और शंकर मिश्र ने क्रमश: 'भाष्यसूक्ति' और 'कणादरहस्य' नाम की दो टीकाएँ और लिखी है। शंकर मिश्र ने (1425 ए. डी) वैशेपिक सूत्र पर एक भाष्य लिखा है जो 'उपस्कार' नाम से प्रसिद्ध है। इन सब ग्रन्थों मे श्रीधर रचित 'न्याय कंदली' अपने प्रसाद गुण और विशद व्याख्या के कारण वैशेपिक दर्शन के जिज्ञासुओं के लिए श्रेष्ठतम टीका है। इसके लेखक श्रीधर वंगाल (राध) के भूरि सृष्टि ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम वलदेव और माँ का नाम अच्चोका था। ग्रन्थ के अन्त मे दिए हुए संवत् के अनुसार उन्होने इस ग्रन्थ की रचना शकसंवत 913 (990 ए. डी) मे की है।

---

1. प्रशस्तपाद के भाष्य को कठिनाई से ही भाष्य की संज्ञा दी जा सकती है। वह स्वयं भी इसको वैशेषिक भाष्य के रूप में नही मानता है। वह अपने ग्रन्थ को पदार्थ के धर्मों की व्याख्या की संज्ञा देता है। उसने इसे 'पदार्थ धर्म संग्रह' का नाम दिया है। द्रव्य, गुण, कर्म, समवाय, विशेप और सामान्य, पदों के विभिन्न भेदो पर अपना स्वतंत्र मत प्रकट किया है। उत्तरकाल के न्याय वैशेषिक दर्शन के मुख्य सिद्धान्तो का उल्लेख पहली वार इस संग्रह में पाया जाता है। उदाहरण के लिए सृष्टि रचना और प्रलय, संख्या का सिद्धान्त, अनेक परमाणुओ से अणु के परिमाण का विनिश्चयन, ताप से मही के वर्ण परिवर्तन का 'पीलुपाक' सिद्धान्त, इन सवका वर्णन पहली वार इस ग्रन्थ मे ही पाया जाता है। वैशेपिक सूत्रों मे इनका कोई उल्लेख नही है। प्रशस्तपाद के जीवनकाल के संवंध मे भी कोई निश्चित उल्लेख नही मिलता है। वैशेषिक दर्शन की प्रथम व्याख्या प्रशस्तपाद ने ही की है और सम्भवतया इनका जीवन काल पाँचवी या छठी शताव्दी मे रहा होगा।

न्याय सूत्र की रचना अक्षपाद ने की है जो गौतम के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके ऊपर सर्वप्रथम भाष्य वात्स्यायन ने लिखा है जो 'वात्स्यायन भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। वात्स्यायन के काल के सम्बन्ध मे भी कोई मत निश्चित नहीं हो सका है पर ऐसा विश्वास किया जाता है कि वह चतुर्थ शताब्दी के प्रथम भाग मे हुआ होगा। जैकोबी इसका समय सन् 300 ईसवी निश्चित करते हैं। न्याय सिद्धान्तो के प्रतिपादन के लिए और बौद्ध तर्काचार्य दिङ्नाग (500 ईसवी) के ग्रन्थ 'प्रमाण समुच्चय' मे दी आलोचनाओ का प्रतिवाद करने के लिए, उद्योतकर ने (635 ई०) वात्स्यायन भाष्य के ऊपर एक 'वार्तिक' लिखा है। वाचस्पति ने उद्योतकर के 'न्याय वार्तिक' पर एक टीका 'न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका' नाम से सन् 840 मे लिखी है। इसका उद्देश्य उद्योतकर के न्यायवार्तिक की प्रतिष्ठा की पुन स्थापना है जैसा कि लेखक ने कहा है कि अज्ञानपूर्ण कटु आलोचनाओ के कारण इस ग्रन्थ की प्रतिष्ठा पंकिल हो रही थी (दुस्तर्क-निवन्ध-पकमग्नानानाम्)। पुन. उदयन ने (194 ए डी) 'तात्पर्य टीका' पर एक उप टीका 'तात्पर्य टीका परिशुद्धि' नाम से लिखी है। इस पर वर्धमान ने सन् 1225 ई० मे एक उप टीका 'न्याय निवन्ध प्रकाश' नाम से लिखी है फिर इसके ऊपर एक उप टीका 'वर्धमानेन्दु' नाम से पद्मनाभ ने लिखी है। इस पर शकर मिश्र ने एक और उप टीका 'न्याय तात्पर्य मडन' नाम की लिखी हैं। सत्रहवीं शताब्दी मे विश्वनाथ ने न्यायसूत्र पर एक स्वतन्त्र टीका 'विश्वनाथ वृत्ति' नाम की लिखी और राधामोहन ने न्यायसूत्र पर एक और टीका लिखी है जिसका नाम 'न्यायसूत्र विवरण' है। इनके अतिरिक्त भी न्याय दर्शन के ऊपर कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गए हैं। इनमे से एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'न्याय मजरी' है जिसकी रचना जयन्त (880 ए डी) ने की है। जयन्त का काल वाचस्पति मिश्र के पश्चात् है। जयन्त ने न्यायसूत्रों के कुछ सूत्रो की व्याख्या करते हुए न्याय दर्शन का स्वतन्त्र ढग से निरूपण किया है और अन्य मतो का खडन भी किया है। वाचस्पति मिश्र की 'तात्पर्य-टीका' से यह अधिक सुस्पष्ट और विशद है। इसकी शैली भी सरल और विद्वत्तापूर्ण है। दूसरा सुन्दर ग्रन्थ उदयन रचित 'कुसुमांजलि' है जिसमे उसने 'ईश्वर' के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस पुस्तक का अध्ययन इसकी वर्धमान रचित (1225 ईसवी) टीका 'प्रकाश' और उसकी उपटीका 'मकरन्द' (1275 ई०) के साथ करना चाहिए। उदयन ने बौद्ध दर्शन के आत्मा सम्बन्धी सिद्धांतो का खडन करने हेतु और न्याय के आत्मा सिद्धान्त की स्थापना करने के लिए 'आत्म तत्त्व विवेक' नाम का ग्रन्थ लिखा है। इनके अतिरिक्त भी न्याय दर्शन पर उत्तर मध्यकालीन युग में कई सुन्दर और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे गये हैं। प्रस्तुत-प्रसग में इनमे से कुछ मुख्य ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं— विश्वनाथ रचित 'भाषा परिच्छेद' उस पर 'मुक्तावली' दिनकरी' और 'रामरुद्री तर्क सग्रह' और उसकी टीका 'न्याय निर्णय' केशव मिश्र की तर्क भाषा और इसकी टीका न्याय प्रदीप, शिवदत्त रचित 'सप्तपदार्थी' वरदराज की 'तार्किकरक्षा' और उसकी मल्लिनाथ रचित टीका 'निष्कटक' धार निवासी माधवदेव रचित 'न्याय सार' और जानकीनाथ भट्टाचार्य द्वारा लिखी 'न्याय सिद्धात मजरी' और उस पर यादवाचार्य द्वारा लिखी टीका 'न्याय मजरी सार' और शशधर रचित 'न्याय सिद्धान्त दीप' और शेषानन्ताचार्य द्वारा लिखी हुई टीका 'प्रभा' इस विषय के प्रसिद्ध ग्रन्थो मे से हैं।

न्याय दर्शन की नयी शाखा जो 'नव्य न्याय' कहलाती है लगभग सन् 1200 ई० में प्रारम्भ हुई। इसके प्रवर्तक मिथिला के गंगेश उपाध्याय थे। न्याय द्वारा मान्य 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'उपमान' और 'शब्द' इन चार प्रमाणों की ही व्याख्या गंगेश ने अपने नव्य न्याय में की है। उन्होंने न्याय के अन्य अध्यात्मिक तत्त्वों के विषय मे कुछ नहीं कहा है। परन्तु गंगेश के ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' ने नवद्वीप के विद्वानों का विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया और तत्पश्चात् अनुमान के निरूपण पर अनेक ग्रन्थ, टीकाएँ और उप टीकाएँ नवद्वीप (बंगाल) के तार्किको द्वारा लिखी गई। इस प्रदेश में इसके अतिरिक्त भी न्याय पर स्वतन्त्र रूप से, अनेक ग्रन्थ लिखे गये यहाँ तक कि कुछ शताब्दियों के लिए नवद्वीप नैयायिकों का गढ़ माना जाने लगा। रघुनाथ शिरोमणि (1500 ई०) मथुरा भट्टाचार्य (1580 ई०) गदाधर भट्टाचार्य (1680) और जगदीश भट्टाचार्य (1590 ई०) द्वारा लिखी हुई टीकाएँ बंगाल मे विशेष रूप से प्रचलित हैं। इसके अलावा 'तत्त्व चिन्तामणि' परशिरोमणि टीका पर भी अनेक उपटीकाओ की रचना हुई जो बंगाल में विशेष रूप से पढ़ी जाती है। नवद्वीप 'नव्य न्याय' का घर हो गया और नव्य न्याय पर इस प्रदेश मे विशाल साहित्य की रचना हुई।[1] नवद्वीप मे इस शाखा के प्रचलन की मुख्य विशेषता यह रही है कि इसमे अध्यात्मिक अथवा धार्मिक अंगों पर कोई चर्चा नही की गई है। केवल तर्क की दृष्टि से भाषा के पदों को ऐसा परिष्कृत किया गयाहै कि किसी भी विचार को अथवा कल्पना को विशुद्ध निश्चित अर्थो में प्रस्तुत किया जा सके और समझा जा सके।[2]

उदाहरण के लिए जब वे एक संकल्पना का दूसरी संकल्पना से सम्बन्ध और व्याप्ति का उल्लेख करना चाहते हैं (जैसे धूम्र और अग्नि की सहव्याप्ति) तो वे ऐसे स्पष्ट और निश्चित अर्थ वाले पारिभाषिक शब्दों और पदो का प्रयोग करेंगे जिससे इस व्याप्ति भाव की सही प्रकृति के समझने में कोई संदेह नही रहे। इस न्याय साहित्य में सूक्ष्म मार्मिक विश्लेषण पद्धति और निश्चयार्थक पारिभाषिक शब्दों का आश्चर्यजनक विकास हुआ है। इन शास्त्रीय पदो और पारिभाषिक शब्दों को सभी मतो ने तार्किकवार्ताओं और शास्त्रार्थों के निमित्त स्वीकार कर लिया था पर अब संस्कृत भाषा में शास्त्रीय लेखन के ह्रास के साथ ही इस विद्या का भी ह्रास हो गया है।

न्याय दर्शन में तर्कशास्त्र की प्रथम विशद विवेचना अक्षपाद ने की है, पर जैन और

---

1. बारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे न्याय की इस नवीन शाखा का उदय बिहार के मिथिला प्रदेश में हुआ—जहाँ इसका प्रचलन सोलहवी शताब्दी के तृतीय चरण तक रहा। फिर पन्द्रहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक बंगाल का नवद्वीप प्रदेश नव्य-न्याय का घर रहा। जे० ए० एस० बी० 915 मे श्री चक्रवर्ती का शोधपत्र देखिए। प्रस्तुत वर्णन में कुछ तिथियाँ उपरोक्त शोधपत्र से ही ली गई हैं।
2. श्री रघुनाथ द्वारा लिखा हुआ ग्रन्थ 'ईश्वरानुमान' और 'पदार्थतत्त्व निरूपण' ही इसके अपवाद हैं जिनमे अध्यात्मचर्चा भी की गई है।

बौद्ध विद्वानो ने भी मध्य युग मे स्वतन्त्र रूप से न्याय के तर्क सिद्धांतों की आलोचना प्रत्यालोचना कर अपने ढग पर नवीन तर्क प्रणालियो की स्थापना की है। जैन तर्क साहित्य मे भद्रवाहु रचित 'दशवैकालिक-निर्युक्ति' (357 ईसापूर्व), उमास्वाति का 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' सिद्धसेन दिवाकर रचित 'न्यायावतार' (533 ईसवी) माणिक्यनन्दी (800 ई०) का 'परीक्षामुख सूत्र' और देवसूरि (1159 ई०) रचित 'प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार और प्रभाचन्द्र रचित 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' कुछ मुख्य रचनाएँ हैं। इसी प्रकार बौद्ध तर्कशास्त्र के मुख्य ग्रन्थ दिङ्नाग (500 ई०) रचित 'प्रमाण समुच्चय' और 'न्याय-प्रवेश' धर्मकीर्ति द्वारा लिखे हुए प्रमाण वार्तिक कारिका और 'न्याय बिन्दु' हैं। 'न्याय बिन्दु' पर धर्मोत्तर की एक सुन्दर टीका भी उपलब्ध है। हिन्दू, बौद्ध और जैन न्याय के सूक्ष्म बिन्दुओ और विभेदो पर प्रकाश डालना प्रस्तुत पुस्तक मे सम्भव नही है क्योंकि यह अपने आप मे ही एक स्वतन्त्र विशद विषय है। इस विषय मे एक रोचक तथ्य यह है कि 'वात्स्यायन-भाष्य' और उद्योतकर के 'वार्तिक' के बीच तर्कशास्त्र पर हिन्दू दर्शन मे किसी भी उत्तम ग्रन्थ की रचना नही हुई। सम्भवतः इस अवधि मे तर्क का अध्ययन जैन और बौद्ध विद्वानो ने अपने मत की पुष्टि के लिए विशेष रूप से अपना लिया था। जब दिङ्नाग ने हिन्दू न्याय पर विशेष आक्षेप किए और उसका खण्डन करना प्रारम्भ कर दिया तब उद्योतकर ने हिन्दू न्याय के मण्डन के लिए 'वार्तिक' की रचना की। इसके अतिरिक्त उस समय में जैन दार्शनिको की पद्धति 'तर्क' को अध्यात्म और धर्म से अलग विषय मानने की थी। यह मत हिन्दू दार्शनिको को मान्य नहीं था। तर्क का अध्यात्म के एक अग के रूप मे ही अध्ययन किया जाता था। मिथिला के गगेश ने ही इस प्रथा का प्रचलन नव्य-न्याय के प्रवर्तन के द्वारा किया जिसमे न्याय का केवल विशुद्ध तर्क विज्ञान के रूप मे अध्ययन किया जाने लगा। बौद्ध शैली मे न्याय पर भासर्वज्ञ रचित 'न्याय-सार' नाम का एक ही हिन्दू ग्रन्थ उपलब्ध है। अन्य हिन्दू न्याय ग्रन्थो मे 'अनुमान' आदि का अध्यात्म विषय के साथ विवेचन किया गया है।[1]

न्याय और वैशेषिक दर्शन के मुख्य सिद्धान्त

न्याय और वैशेपिक दर्शन ने बौद्ध 'क्षणिकत्व' के सिद्धान्त को अमान्य समझते हुए, वस्तुओ के अस्तित्व के सम्बन्ध मे व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार वस्तुओ का स्थायी स्वतन्त्र अस्तित्व है। जब तक ऐसी परिस्थितियाँ नही हो जाती कि उन वस्तुओ का विनाश हो जाए, उनकी स्थिति रहती हैं। जब तक इस प्रकार का सयोग

---

1 प्रस्तुत पुस्तक मे इस अध्याय के लिखने मे न्याय वैशेपिक दर्शन के लगभग सभी मुख्य ग्रन्थो की सहायता ली गई है। इस विषय पर यदि और अधिक अध्ययन करना है तो चक्रवर्ती द्वारा लिखे हुए शोध-पत्र (बगाल मे नव्य-न्याय का इतिहास) "दि हिस्ट्री ऑफ नव्य न्याय इन बगाल" का अध्ययन कीजिए जो जे०ए०एस०बी० 1915 मे छपा है।

नही बनता वस्तु का अस्तित्व भी स्थिर रहता है। घड़ा जब तक घडे के रूप में स्थित रहता है जब तक वह गिरकर अथवा किसी लकड़ी आदि के आघात से फूट न जाए। वस्तुओं की स्थिति हमारे ऊपर रहने वाले उनके प्रभाव तक ही सीमित नही रहता जैसाकि बौद्ध दार्शनिकों का मत है कि प्रत्येक वस्तु प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जब तक हमारे कार्य की सिद्धि करती है अथवा उस क्षण तक जब तक उसका प्रभाव रहता है विद्यमान रहती है। उस क्षण के पश्चात् उस वस्तु का विनाश हो जाता है। परन्तु न्याय के अनुसार हमारे मन अथवा बुद्धि की चेतना से स्वतन्त्र, वस्तु की सत्ता है। सत्ता वस्तु का गुण है। इसके लिए किसी अन्य की अपेक्षा नही है। देखने वाला या व्यक्ति विशेप रहे या न रहे, इससे वस्तु की सत्ता पर कोई प्रभाव नही पड़ता वस्तु का प्रभाव किसी व्यक्ति पर या उसके आस-पास के वातावरण पर क्या पड़ता है यह भी महत्त्वहीन है। वस्तुओं का अस्तित्व या सत्ता उनका एक सामान्य गुण है। इसी गुण के आधार पर हम अपनी साधारण व्यवहार बुद्धि और अनुभव से उनकी सत्ता को मानते हैं।[1]

इसी प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव और व्यावहारिक दृष्टिकोण के आधार पर न्याप वैशेपिक दर्शन ने सांख्य की सृष्टि रचना की कल्पना को अस्वीकार कर दिया। इसके स्थान पर चार तत्त्वों (भूत) 'क्षिति', 'अप्', 'तेजस' और 'मरुत' (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु) के परमाणु सिद्धात को अपनाया। ये तत्त्व शाश्वत हैं। इनके अतिरिक्त पाँचवाँ तत्त्व आकाश है। जो व्यापक और नित्य (शाश्वत) है। आकाश शब्द के प्रसार और सचार का हेतु है। आकाश सर्वत्र व्यापक है और सभी मनुष्यों के कानो के सम्पर्क मे है परन्तु शब्द कर्ण कुहरो मे ही व्यक्त होता है अर्थात् यद्यपि शब्द की व्याप्ति सारे आकाश में है पर यह कानों के ही द्वारा सुनाई देता है। श्रुति की यह अभिव्यक्ति (सुनने वाले) श्रोता के स्वयं के गुण पर निर्भर है। बधिर(बहरा) व्यक्ति के कर्ण कुहरों मे यद्यपि आकाश की व्याप्ति है जो श्रुति-चेतना का साधन है परन्तु बधिर अपने स्वय के अवगुण के कारण 'शब्द' नही सुन सकता।[2] इसके अतिरिक्त न्याय वैशेषिक दर्शन ने 'काल' के अस्तित्व को भी माना है। काल भूतकाल से चला आ रहा है, वर्तमान मे भी इसकी स्थिति है और इसका विस्तार अनन्त भविष्य है। यदि 'काल' का अस्तित्व नही होता तो हमको इसका कुछ भी ज्ञान नही होता, हमे समय की कोई कल्पना नही होती और न परिवर्तन के सम्बन्ध में ही हम समय की गणना करते। साख्य ने काल को वास्तविक स्वतन्त्र अस्तित्व, के रूप मे स्वीकार नही किया है।

---

1. न्याय और वैशेपिक दर्शन को एक ही दर्शन प्रणाली के रूप मे मानकर प्रस्तुत किया गया है। इन दोनों मे प्रारम्भिक काल मे कुछ अन्तर रहा है जिसकी विशद व्याख्या पूर्व पृष्ठों मे पहले ही की जा चुकी है। सन् 600 ईसवी से ये दोनो दर्शन धाराएँ एक ही मानी जा रही हैं। इन दोनो दर्शनों के सिद्धान्त न केवल एक-दूसरे की पुष्टि करते हैं पर एक-दूसरे के पूरक भी हैं।
2. न्याय कदली पृ० 59-64 देखिए।

साख्य के अनुसार एक परमाणु द्वारा जितना स्थान घेरा जाता है उतने स्थान को दूसरा परमाणु जितने समय मे पार कर लेता है उतना समय काल की इकाई है। परमाणुओं की गति से अलग काल का कोई अस्तित्व नही है। काल की कल्पना हमारी बुद्धि की अपनी कल्पना है जिसे 'बुद्धि निर्माण' की सज्ञा दी गई है। परन्तु वैशेषिक दर्शन मे काल को एक ऐसा तत्त्व माना है जिसकी स्वतन्त्र सत्ता है। वस्तुओं के परिवर्तन से हमें काल की भूतकालिकता, वर्तमान और भविष्य की सत्ता का ज्ञान होता है। साख्य 'काल' को प्रकृति विकास की विभिन्न ज्ञात अवस्थाओ मे (अध्वन्) वस्तुओं के निर्माण या सगठन मे, (भूत, भविष्य और वर्तमान) प्रक्रिया मात्र समझता है। अर्थात् काल क्रम से प्रकृति की सामान्य अवस्था मे विकृति होकर वस्तुओ का सगठन प्रारम्भ होता है और सृष्टि विकास का क्रम प्रारम्भ होता है। इस व्यक्त प्रकृति के विकास की अवस्थाओ मे वस्तुओ का सयोग, सगठन परमाणुओ के सन्निवेश से होता है। इस परमाणु सन्निवेश की प्रक्रिया ही 'काल' है, परमाणु की परमाणु-प्रदेश तक गति ही काल की इकाई है। ज्योतिर्विद इस 'काल' की उत्पत्ति ग्रहो की गति के कारण मानते हैं। परन्तु इन सबके विपरीत न्याय-वैशेषिक काल को सर्वव्यापक, सम्पूर्ण अवयवहीन तत्त्व मानता है जो इससे सम्बन्धित वस्तुओं मे परिवर्तन की अपेक्षा से अनेक दिखाई देता है।[1]

सातवाँ तत्त्व दिक् (दिशा) है। यह वह तत्त्व है जिसके कारण हम वस्तुओं को दाएँ, बाएँ, पूर्व, पश्चिम मे या ऊपर नीचे देखते हैं। काल के समान ही 'दिक्' तत्त्व भी एक है। परन्तु परम्परा के अनुसार इसके दस प्रकार माने जाते हैं जिनमे आठ प्रकार, आठ दिशाओ के परिचायक हैं और दो ऊर्ध्व (ऊपर) और ध्रुव (नीचे की दिशा) माने जाते हैं।[2] आठवाँ तत्त्व 'आत्मा' है जो सर्वव्यापक है। प्रत्येक पुरुष की आत्मा पृथक्-पृथक् है। ज्ञान, सुख और दुःख की अनुभूति, इच्छा आदि आत्मा के गुण हैं। 'मन' नवाँ तत्त्व है। 'मन' परमाणु के समान सूक्ष्म है और स्मृति का आधार है। ज्ञान अनुभूति और सकल्प आत्मा मे मन के सयोग से उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक बार जब मन का आत्मा के साथ सम्पर्क होता है तो आत्मा मे एक नवीन भावना या अनुभूति का प्रादुर्भाव होता है, इस प्रकार हमारे सारे मानसिक अनुभव और बौद्धिक चेतना एक क्रम मे उत्पन्न होती हैं, एक साथ ही अनेक अनुभूतियो का आविर्भाव नही हो सकता। इन सब तत्त्वो के ऊपर सर्वोपरि 'ईश्वर' की स्थिति है। द्रव्य की परिभाषा यह है कि इसकी स्वतन्त्र स्थिति है, परन्तु द्रव्येतर अन्य वस्तुएँ बिना किसी आधार के अपने आपको व्यक्त नही कर सकतीं जैसे गुण, कर्म सामान्य, विशेष 'समवाय' आदि द्रव्य की सहायता के बिना दिखाई नहीं दे सकते। इस प्रकार द्रव्य इस सबका 'आश्रय' है जिन पर ये वस्तुएँ 'आश्रित' हैं। 'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य' 'विशेष'

---

1 'न्याय कदलि' पृ० 64-66 और 'न्याय मजरी' पृ० 136-139 देखिए। वैशेषिक काल को परिवर्तनशील वस्तुओं का कारण मानता है पर नित्य शाश्वत वस्तुएँ काल की गति मे परे हैं, ऐसा उल्लेख करता है।

2 'कदलि' पृष्ठ 66-69 और न्याय मजरी पृ० 140 देखिये।

और 'समवाय' वह मूल तत्त्व है जिनसे संसार के पदार्थ निर्मित हैं।[1] जव मनुष्य सत्यज्ञान के मार्ग में प्रवृत्त होकर, दोपादि को जानकर उपर्युक्त तत्त्वों के वास्तविक स्वरूप को समझ लेता है, तो वह वाह्य विपयों से विरक्त होकर, आतमज्ञान के अभ्यास से वन्धनो से मुक्त हो जाता है।[2] न्याय वैशेपिक एक वहुवादी दर्शन है जो अनुभव की विविधता को न एक सर्व-व्यापी सिद्धांत में वाँधना चाहता है और न तर्क के प्रवाह में व्यावहारिक सत्यों को छोड़कर काल्पनिक अभूत विचारों का प्रश्रय लेता है। जो तथ्य स्थूल रूप से प्रत्यक्ष, दृष्टिगोचर होते हैं, उन अनुभव–सिद्ध तथ्यों की ओर से आँख मूँद लेना यह उचित नही समझता। इसका मूल सिद्धांत यह है कि प्रत्येक प्रकार के वोध के पीछे निश्चित रूप से वह वस्तु मूर्त-रूप में होनी चाहिए जिसमे वोध प्रारम्भ होता है, जो इन्द्रिय वोध का आधार है। न्याय वैशेपिक ने अनुभव के प्रत्यक्ष और प्रत्ययों को कई प्रकारों में (पदार्थ-प्रकार को अन्तिम इकाई) विभक्त किया है। ये द्रव्य, गुण आदि पदार्थ संख्या मे दस हैं। यदि हम प्रत्यक्ष का उदाहरण लेकर यह कहते हैं कि मैं एक लाल पुस्तक देखता हूँ तो यह स्पष्ट है कि पुस्तक की स्वतन्त्र सत्ता है जिसमे एकत्व की और लाली की संकल्पना (अवधारणा) का आश्रय है। अतः पुस्तक एक द्रव्य है जो अन्य गुण संकलपनाओ का आधार (आश्रय) हैं। द्रव्य वह है जिसमे 'द्रव्यत्व' हो। इसी प्रकार 'गुण' और कर्म की परिभापा है। द्रव्य के भेद या प्रकार करते हुए भी उसी सिद्धांत को अपनाया गया है। उदाहरण के लिए वौद्धों और सांख्य के मतानुसार संवेदना की एक इकाई के पीछे वे एक सत् अस्तित्व की कल्पना करते थे जैसे 'श्वेतता' की अनुभूति संवेदना की प्रत्येक इकाई श्वेतता की इकाई के अस्तित्व की द्योतक है परन्तु न्याय वैशेपिक के अनुसार सम्पूर्ण श्वेत वस्तु की एक वस्तुपरक इकाई है जो श्वेत गुण उत्पन्न करने वाले परमाणुओ से वनी है।[3] यहाँ विशेष ध्यान देने की वात यह है कि न्याय वैशेपिक ने जहाँ भी सामान्य नियम का व्यापक भाव देखा है, उन वस्तुओं का एक वर्ग अलग से निश्चित

---

1. वैशेपिक सूत्रों मे 'अभाव' का आश्रय 'भाव' में है ऐसा उल्लेख आया है। परन्तु वाद को उदयन आदि लेखकों ने 'अभाव' को पृथक् पदार्थ के रूप में माना है। इसके विपरीत उदयन के समकालीन श्रीधर का मत है कि प्रशस्तपाद ने 'अभाव' को पदार्थ के रूप में नहीं माना है क्योंकि यह 'भाव' पर आश्रित है—अभावस्य पृथगनुपदेशः भावपारतंत्र्यात् न त्वभावात्। 'न्याय कंदली' पृ० 6 और 'लक्षणावलि' पृ० 2।

2. 'तत्त्वतो ज्ञातेपु वाह्याध्यात्मिकेपु विषयेपु दोपदर्शनात् विरक्तस्य समीहानिवृत्तौ आत्मज्ञस्य तदर्थानि कर्माण्यकुर्वतः तत्परित्यागसाधनानि श्रुति-स्मृत्युदितानि असंकल्पित फलानि उपाददानस्य आत्मज्ञानम् अभ्यस्यत. प्रकृष्ट निवर्तक-धर्मोपचये सति परिपक्वात्मज्ञानस्यात्यान्तिक शरीर वियोगस्य भावात्।'

'न्याय कंदलि' व 'लक्षणावली'।

3. ये प्रसंग सौत्रांतिक वौद्ध दर्शन की ओर सकेत करता है, "यो यो विरुद्धाध्यासवान् नासावेकः।" पण्डिताशोक की 'अवयविनिराकरण' 'सिक्स वुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स मे देखिए।

कर दिया है जिसे 'पदार्थ' की सज्ञा दी है। वस्तुओ की प्रकृति का निरूपण करते हुए जिस कल्पना को कई वस्तुओं को अन्तिम रूप से एक समान अनुभव करते थे वहीं इसके पण्डित विश्लेपणात्मक पद्धति के अनुसरण मे नये पदार्थो का वर्ग स्थापित कर देते थे।

षट्-पदार्थ-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय

'द्रव्य' की व्याख्या पूर्व प्रसग मे पहले ही की जा चुकी है। द्रव्य षट् पदार्थों में से एक है।[1] गुणो मे प्रथम 'रूप' है। 'रूप' का अर्थ वर्ण से है। 'रूप' वह है जो केवल नेत्रो से देखा जा सकता है और किसी इन्द्रिय से जिसका ज्ञान सम्भव नहीं है। रूप निम्न हैं—श्वेत, नील, पीत, लोहित (लाल), वादामी और विविध वर्ण ('चित्र')। 'क्षिति'(पृथ्वी), 'अप्' (जल) और 'तेजस्' (अग्नि) मे ही वर्ण पाये जाते हैं। जल और अग्नि के वर्ण स्थायी (नित्य') हैं पर क्षिति का वर्ण ताप मे परिवर्तित होता है। श्रीधर के अनुसार ताप से परमाणु गठन में परिवर्तन हो जाता है और इस कारण मिट्टी का रग ताप से वदल जाता है। ताप से द्रव्य के परमाणु-सन्निवेश में परिवर्तन के कारण, इसका पूर्व रग विनष्ट हो जाता है और नये परमाणु सन्निवेश मे नवीन वर्ण का आविर्भाव हो जाता है, 'रूप' विशिष्ट रगों की सामान्य सज्ञा है। 'रूपत्व' सामान्य भाव है। इसका आधार या प्रश्रय 'रूप' गुण है। 'रूप' स्वय मूर्त है जिसको नेत्रो से देखा जा सकता है। 'रूपत्व' अमूर्त है। यह भाव-वाचक है।

दूसरा गुण 'रस' है। 'रस'(स्वाद)वह है जो रसना (जिह्वा) से जाना जाता है। 'रस' मधुर, अम्ल (खट्टा) 'कटु', 'कषाय' (कसेला) और 'तिक्त' (चरपरा) है। 'क्षिति' और 'अप्' मे ही रस होता है। अप् का स्वाभाविक रस(स्वाद) मधुर है। 'रूप' के समान ही रस भी 'रसत्व' के भाव को प्रकट करता है। 'रस' शब्द गुणवाचक और भाववाचक दोनों ही के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। विशिष्ट रस का और 'रसत्व' दोनो का जिह्वा से ही वोध होता है।

तीसरा गुण 'गन्ध' है। इस गुण का वोध नासिका से होता है। गन्ध केवल 'क्षिति' का गुण है। वायु या जल मे गन्ध क्षिति के प्रभाव से उत्पन्न होती है। क्षिति के सूक्ष्मतत्त्व जव वायु या जल मे मिल जाते हैं, तो उसमें गन्ध उत्पन्न हो जाती है।

चौथा गुण 'स्पर्श है। स्पर्श-वोध का साधन त्वचा है। स्पर्श तीन प्रकार का है, उष्ण, शीत और शीतोष्ण या अनुष्णाशीत। क्षिति, अप् तेजस् और वायु मे स्पर्श गुण पाया जाता है। पाँचवाँ गुण शब्द है जो आकाश का गुण है। यदि आकाश नही होता तो शब्द भी नहीं होता। आकाश, शब्द का आधार है।

छठा गुण 'सख्या' है। सख्या वह गुण है जिसमे हम वस्तुओ की गणना करते हैं। वस्तुओ मे सख्या की कल्पना वुद्धि गति की अपेक्षा से है अथवा 'अपेक्षावुद्धि' के कारण है।

---

1 'पदार्थ' का वास्तविक अर्थ शब्द (पद) की व्याख्या है।

उदाहरण के लिए जब दो घड़े दिखाई देते हैं तो हम सोचते हैं कि यह पहला घड़ा है और यह दूसरा है। यही 'अपेक्षाबुद्धि' है। घड़ों को पहली दृष्टि में देखने पर घड़ो में 'द्वित्व' भाव की उत्पत्ति होती है, और फिर हमारी बुद्धि मे अनिश्चयात्मक द्वैत कल्पना ('निर्विकल्प द्वित्व गुण') की जागृति होती है और फिर एक क्षण में यह निश्चयात्मक बोध हो उठता है कि ये दो घड़े हैं। इसी प्रकार अन्य संख्याओं का भी निर्विकल्प और सविकल्प क्रिया से बोध होता है।[1]

सातवाँ गुण 'परिमिति' है। यह वह गुणवत्ता है जिससे हम वस्तुओं को बड़े, छोटे स्वरूप में देखते हैं और उनको तदनुसार संज्ञा देते है। अखंड, अविभाज्य, गोल परमाणुओं का माप 'परिमण्डल परिमाण' कहलाता है। यह 'परिमाण' नित्य (शाश्वत) है, इससे किसी अन्य परिमाण की उत्पत्ति नही हो सकती। यह सूक्ष्मतम परिमाण है। जब दो परमाणुओं के मेल से 'द्वयणुक' (दो परमाणुओं द्वारा बना द्रव्य) का निर्माण होता है तब परमाणु के परिमाण से इस 'द्वयणुक' के परिमाण की उत्पत्ति नहीं होती है। 'द्व्यणुक' का परिमाण भिन्न प्रकार का है, यह परिमाण 'ह्रस्व' है। यदि 'परिमण्डल परिमाण' से 'द्वयणुक परिमाण की उत्पत्ति होती तो यह परिमाण, आणविक परिमाण से भी छोटा होता।[2] दो अणु मिलकर एक 'द्व्यणुक' का सृजन करते हैं पर इन दोनों के मिलने से एक अन्य प्रकार के परिमाण 'ह्रस्व' की उत्पत्ति होती है जब तीन द्व्यणुक मिलकर एक 'त्र्यणुक' का निर्माण करते हैं तब उनकी संख्या 'महत्' परिमाण का कारण होती है। द्व्यणुक के ह्रस्व परिमाण महत् का हेतु नही हैं। परन्तु जब हम इन स्थूल 'त्र्यणुक' से द्रव्यनिर्माण की कल्पना करते हैं तो इन 'त्र्यणुक' के महत् परिमाण से अन्य स्थूल द्रव्यों के परिमाण भी महत् रूप ग्रहण करते हैं। जितने अधिक त्र्यणुक द्वारा एक वस्तु बनती है, उतना ही बड़ा स्वरूप (महत् परिमाण) उस स्थूल वस्तु का हो जाता है। इन 'त्र्यणुक' का माप केवल 'महत्' ही नही होता पर 'दीर्घ' (लम्बा) भी होता है। यह इसके परिमाप की दूसरी दिशा है। त्र्यणुक की सख्या जैसे किसी स्थूल संयोग में बढ़ती जाती है वैसे ही उसकी 'परमिति' दीर्घ या 'महत्' होती जाती है। क्योंकि 'त्र्यणुक' अणुओ से बने है अतः अणु के समूह से बनने के कारण इन स्थूल वस्तुओं का परिमाण इन अणुओं में निश्चित रूप से महत् और दीर्घ होगा। परन्तु द्व्यणुक का परिमाण जो ह्रस्व कहलाता है अपने आप में भिन्न है, यह

---

1. यह निश्चित रूप से वैशेपिक दृष्टिकोण है जिसका सूत्रपात प्रशस्तपाद ने किया है। शंकर मिश्र का 'उपस्कार' देखिये।

2. ध्यान देने योग्य बात यह है कि आणविक माप के दो स्वरूप हैं, परमाणु में यह नित्य शाश्वत परिमाण है और द्व्यणुक में यह अनित्य-अस्थायी है। 'परिमण्डल परिमाण' 'अणुपरिमाण' का एक प्रकार है। ये दोनों परिमाण द्वयणुक परिमाण के दो परिमाण या विमिति है। जैसे 'त्र्यणुक' में महत् और दीर्घ दो प्रकार के परिमाण है।

—न्याय कंदलि पृ० 133।

परिमाण का एक विशिष्ट प्रकार है जो महत् आदि से भिन्न है। उदाहरण के लिए स्थूल, महत् और दीर्घ तत्त्वो की वृद्धि होने पर और अधिक स्थूलता, महत्ता 'या दीर्घता मे वृद्धि होती है, उसी आधार पर द्व्यणुक जिनका परिमाण 'ह्रस्व' है, उनके समूह की वृद्धि से ह्रस्वता मे वृद्धि होनी चाहिए। यदि महत् के योग से महत् की वृद्धि होती है तो उसी आधार पर ह्रस्व से ह्रस्व की वृद्धि होनी चाहिए। इस युक्ति से त्र्यणुक जो द्व्यणुक से बने मान लिये जाएँ तो फिर वे द्व्यणुक से 'ह्रस्व' (छोटे) होने चाहिए। इसी प्रकार आणविक और 'परिमण्डल'(गोलाकार) परिमाण से द्व्यणुक के परिमाण की उत्पत्ति होने से द्व्यणुक का परिमाण और भी अधिक आणविक होना चाहिए। इस विरोधाभास से स्पष्ट है कि आणविक परिमाण को अन्य परिमाण मे भिन्न और विशिष्ट मानना चाहिए। यह समझना उचित नही है कि आणविक परिमाण की समूह वृद्धि से महत् या दीर्घ परिमाणो की उत्पत्ति होगी। द्व्यणुक और त्र्यणुक अणुओ से निर्मित हैं पर अपने कारण के परिमाण गुण से भिन्न परिमाण गुण वाले हैं। अणु और द्व्यणुक के परिमाण उनके कार्य रूप त्र्यणुक के परिमाण की उत्पत्ति नही करते हैं। वास्तव मे उनकी सख्या से त्र्यणुक का परिमाण विनिश्चित होता है। इनमे अणु परिमाण, दीर्घ-परिमाण का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। आकाश, काल, दिक् और आत्मा जो सर्वव्यापक हैं, उनका परिमाग 'परममहत्' माना जाता है। अणु, आकाश, काल, दिक्, मन और आत्मा का परिमाण नित्य (शाश्वत) माना जाता है। अन्य सब अनित्य वस्तुओ के परिणाम भी अनित्य माने जाते हैं।

आठवाँ गुण 'पृथक्त्व' है। इससे वस्तुओ की भिन्नता का ज्ञान होता है यथा यह वस्तु इससे भिन्न है। यह भिन्नता हमें निश्चित रूप से प्रतीत होती है। यह नकारात्मक गुण नहीं है—यह नहीं समझा जाता कि यह घडा वह घडा नही है। यह एक निश्चयात्मक स्थिति का बोध करता है कि यह घडा उस घडे से 'पृथक्' है।

नवाँ गुण 'सयोग' है। इस गुण से वस्तुओ के सम्बन्ध या सयुक्ति का ज्ञान होता है।

दसवाँ गुण 'विभाग' है जो सम्बन्ध को नष्ट कर नियुक्ति कर देता है।

ग्यारहवाँ और बारहवाँ गुण 'परत्व' और 'अपरत्व' है जिसके द्वारा हमे अधिक और कम समय और निकटता और दूरी का बोध होता है।

अन्य दूसरे गुण 'बुद्धि' (ज्ञान) सुख, दु ख, 'इच्छा', 'द्वेप' और 'यत्न' हैं जो केवल आत्मा के गुण हैं।

'गुरुत्व' वह गुण है जिसके कारण वस्तुएँ पृथ्वी पर गिरती हैं। 'स्नेह' (तरलता) का गुण जल का है। 'सस्कार' गुण तीन प्रकार के होते हैं। पहला 'वेग' जिसके कारण विभिन्न वस्तुएँ विभिन्न दिशाओ में गतिमान रहती हैं। दूसरा 'स्थिति-स्थापक' जिसके अनुसार कोई भी स्थूल द्रव्य स्थिति भग होने के पश्चात् अपनी पूर्व स्थिति को प्राप्त होना चाहता है। तीसरा 'भावना' आत्मा का गुण है। यह वह गुण है जिससे जिन वस्तुओ का

हम अनुभव करते हैं उनकी स्मृति रखते हुए उनको पुन. पहचानते है।[1] 'धर्म' वह गुण है जिससे आत्मा को आनन्द और मोक्ष की प्राप्ति होती है।[2] 'अधर्म' वह गुण है जिससे मनुष्य दु:ख के वन्धन में बंधता जाता है। 'अदृष्ट' वस्तुओं और आत्मा का वह गुण है जिससे इस समस्त ब्रह्माण्ड की व्यवस्था की स्थापना होती है और जो आत्मा को उसके गुणानुसार भोग मे प्रवृत्त करती है। अर्थात् आत्मा अदृष्ट के कारण अपने कर्मों का फल भोगती है।

'कर्म' का अर्थ गति है। द्रव्य और गुण के समान इसकी भी स्वतन्त्रता है। गति पाँच प्रकार की है (1) ऊर्ध्वगति (2) अधोगति (3) संकुचन (4) प्रसरण (5) सामान्य गति। गुणों के समान कर्म का भी आश्रय द्रव्य है, कर्म से ही द्रव्य में गति उत्पन्न होती है।

'सामान्य' चौथा वर्ग है। इसका तात्पर्य है 'जाति' या अनेक वस्तुओं में पाया जाने वाला समान भाव। एक से गुणों वाली वस्तुओं की एक जाति होगी। उदाहरण के लिए गायों के वर्ण अलग-अलग हो सकते हैं पर उन सब में सामान्य रूप से एक से गुण पाए जाते

---

1. प्रशस्तपाद कहते है कि—'भावना' आत्मा का वह विशेष गुण है जिसके द्वारा आत्मा वस्तुओं को देखती है, उनकी स्मृति रखती है और फिर उनको पहचानी है। यह दु:ख, ज्ञान आदि से भिन्न है। आशातीत दृश्य जैसे दक्षिण भारतीय द्वारा ऊँट को देखना, पुनरावृत्ति (पढ़ाई आदि में) और प्रवलजिज्ञासा के कारण संस्कार प्रवल हो जाते हैं। देखिए 'न्याय कंदलि' पृ० 268 2-II। कणाद इस विषय पर मूक है। उनका केवल इतना ही कथन है कि वुद्धि एवं आत्मा के सम्पर्क से और संस्कार के कारण 'स्मृति' उत्पन्न होती है।

2. प्रशस्तपाद के अनुसार धर्म आत्मा का गुण है। इस पर श्रीधर यह संकेत करते हैं कि यदि यह सही है तो फिर धर्म को कर्म की सामर्थ्य से अलग मानना पड़ेगा। (न कर्मसामर्थ्यम्)। प्रशस्तपाद का मत है कि यज्ञ आदि 'धर्म' नही है क्योंकि ये कर्म क्षणिक हैं अत: इनसे उस प्रभाव की उत्पत्ति नही हो सकती जिसका फल भविष्य मे प्राप्त होगा। यदि कर्म समाप्त हो जाता है तो उसकी 'सामर्थ्य' स्थायी नही रह सकती। अत: 'धर्म' गुण है जो कुछ शुभ कर्मो से आत्मा में उत्पन्न होता है। स्थान-काल आदि के अवस्था संयोग से आनन्द की प्राप्ति होती है। श्रद्धा, अहिंसा, प्राणिमात्र का हितचिन्तन (परोपकार), पवित्र आहार, शास्त्रानुसार कर्त्तव्यों का पालन, वर्ण (जाति) और अवस्था के अनुसार अपने धर्म का पालन वे कर्त्तव्य हैं जिनको अपनाने से प्रशस्तपाद के अनुसार धर्म की उत्पत्ति होती है। जो व्यक्ति उपर्युक्त कर्त्तव्यों को जीवन का अंग वनाकर (पातजल योग के अनुसार) यम-नियमों का पालन करते हैं, जो षट् पदार्थों का ध्यान कर योग साधना करते हैं वे धर्म को प्राप्त कर मोक्ष लाभ करते हैं। श्रीधर मोक्ष-प्राप्ति के लिए, 'सांख्ययोग' दर्शन में वर्णित योग पद्धति का निदर्शन करते हैं। 'न्याय-कदलि' पृ० 272-280। वल्लभ रचित 'न्याय-लीलावती' पृ० (74-75) (वम्वई 1915) भी देखिए।

हैं अत उनको गौ जाति या गौ वश के नाम से पुकारते हैं जिससे उस जाति के वर्ग का वोध होता है । इसी प्रकार अनेक प्रकार की विभिन्नता होते हुए भी वस्तुओं में 'सत्ता' का सर्व-निष्ठ गुण पाया जाता है, अत इनको 'सत्' की मज्ञा दी है वह 'सत्' है जिसका अस्तित्व है । 'सत्' द्रव्य, कर्म और गुण तीनों मे पाया जाता है । उच्चतम जाति 'सत्ता' है जिसे 'पर जाति' कहते हैं, यह उच्चतम सार्वदेशिक, सार्वत्रिक स्थिति है । इसके पश्चात् वीच की मध्यम जाति है, जिसे 'अपरजाति कहते हैं, द्रव्य, गुण, कर्म आदि इस 'अपरजाति' की श्रेणी में आते हैं । इससे भी नीचे की श्रेणी मे अन्य जातियाँ हैं जैसे 'गोत्व जाति'(गाय की जाति 'नीलत्वजाति' (नीलेपन की जाति) जिनसे एक सामान्य भाव का वोध होता है । य 'गोत्व' एक वर्ग परिवार के रूप मे दिखाई देता है परन्तु यह भी जाति है । एक दृष्टि जो वर्ग है दूसरे से वही जाति है इस प्रकार 'सामान्य' की एक स्वतन्त्र सत्ता है यद्यपि ? कर्म, गुण और द्रव्य में पाया जाता है । वौद्ध 'सामान्य' की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं कर थे । उनके अनुसार गाय का सामान्य अन्य प्राणियों का नकारात्मक स्वरूप है । गाय सामान्य चेतना मे 'अगोत्व' का निषेध मात्र है । अत निषेध के आधार पर किसी वस्तु स्वतन्त्र सत्ता नहीं हो सकती । इस सामान्य का अस्तित्व यदि निषेध के ऊपर है तो इस के अनुसार किसी भी वस्तु की सत्ता हास्यास्पद के निषेध पर सत्ता को स्वीकार करता वह अपने सिर पर दो सीगो की भी सत्ता मान सकता है । अत सामान्य की अपनी क सत्ता नहीं हो सकती ।[1] यह 'जाति' नित्य और अविनाभावी है क्योंकि जाति विशेष म

---

1 वौद्ध विद्वान् पण्डिताशोक का कथन है कि विभिन्न व्यक्तियो में कोई भी ऐसा गुण नहीं हो सकता जो सर्वनिष्ठ हो जिसके आधार पर 'सामान्य' की स्थिति की स्थापना की जा सके । यदि ऐसी कोई वस्तु होती तो हम रसोईये (पाचक) को देखकर वि उसके कार्य को देखे ही तत्काल कह देते कि यह पाचक है । 'सामान्य' उनके म मे है । यदि रसोइयों के कार्य मे समानता है तो इस कर्म के सामान्य से रसोइय की एक जाति नही हो सकती क्योकि सामान्य भाव रसोइयो मे न होकर अन्य वस्तु मे अर्थात् उनके कर्म मे है । यदि गाय की विशिष्टताओ मे कोई एक सामान्य घटक (उपादान) के स्थापित करने की आवश्यकता है तो फिर इन घटको मे पुन एक सर्वनिष्ठ घटक की आवश्यकता होगी और फिर उनमे किसी सामान्य घटक को ढूंढना होगा । इस क्रिया का कोई अन्त नहीं होगा, यह केवल अनवस्था-दोष होगा । जो वस्तु वोधगम्य है और वोधित नहीं होती उसका अस्तित्व नही हो सकता । 'यद्यद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तम् सन्नोपलभ्यते तत्तदसत्' क्योंकि 'सामान्य' ऐसा है और वह वोधित नहीं होता अत यह असत् है इसका कोई अस्तित्व नहीं है । सामान्य की कोई सत्ता नही हो सकती । अस्तित्व और अनस्तित्व के पूर्व सस्कारो के कारण इस प्रकार की कल्पना की उत्पत्ति होती है जिसे वाह्य वस्तुओ मे आरोपित कर दिया जाता है । इसके अतिरिक्त सामान्य के किसी वाह्य स्वरूप का भी वोध नही होता । ('सामान्यदूषणदिक्प्रसारिता' सिक्स वुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स मे देखिए)वेदान्त

इकाई के नाश हो जाने पर भी उस जाति का नाश नही होता। इस प्रकार जाति शाश्वत है।[1]

'विशेष' से वस्तुओं में भिन्नता का बोध होता है। वाह्य जगत् से प्राप्त प्रत्येक संवेदना अन्य संवेदनाओं से भिन्न होती है। जो वस्तुएँ इन संवेदनाओं का स्रोत हैं, निश्चय ही उनके परमाणुओं मे कुछ अन्तर होना चाहिए जिसके कारण इनमे यह भिन्नता उत्पन्न होती है। इन परमाणुओं में ये विशिष्ट भेद शाश्वत हैं, चूँकि मुक्त आत्मा और बुद्धि की सत्ता शाश्वत है। इस 'विशेष' भेद के कारण ही योगी-गण अणुओं के अन्तर को सहज ही जान लेते है।

'समवाय' व्याप्ति सम्बन्ध है। 'समवाय' के द्वारा दो विभिन्न वस्तुओ मे ऐसा सम्बन्ध स्थापित होता है जिससे दोनों वस्तुएँ अविभाज्य दिखाई देती है। द्रव्य और उसके गुण में, द्रव्य और कर्म (गति) में, द्रव्य और सामान्य में, कारण और कार्य में, परमाणु और 'विशेष' में, समवाय सम्बन्ध के कारण ऐसा दिखाई देता है कि ये एक ही हैं। इस सम्बन्ध का कारण एक विशेष प्रकार की लक्षणात्मक अन्त:व्याप्ति है जो सदैव, सर्वत्र, सर्वपरिस्थितियों में अन्तर्निहित रहती है। वस्तु विशेष के नाश होने से भी व्याप्ति-भाव में अन्तर नही आता। संयोग अथवा सम्पर्क से यह भिन्न है। सम्पर्क या संयोग के कारण दो वस्तुओं मे कुछ समय के लिए सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जो पहले नही था जैसे लेखनी को मेज पर रख देने से इन दोनों का संयोग हो गया। ये पहले अलग-अलग थीं फिर दोनों का संयोग हुआ ('युतसिद्ध')। संयोग यहाँ पर ऐसा गुण विशेष है जिसके कारण थोड़े समय के लिए दोनो मे सम्बन्ध स्थापित होता दिखाई देता है। परन्तु समवाय के कारण भिन्न वस्तुएँ जैसे द्रव्य, गुण, कर्म एवं कारण और कार्य (मिट्टी और घडा) एक ही दिखाई देती हैं उनमें भेद नही दिखाई देता जिसे 'अयुतसिद्ध' की संज्ञा दी गई है। अत: यह सम्बन्ध एक भिन्न वर्ग का है। यह संयोग की तरह अस्थायी नही है। यह नित्य सम्बन्ध है क्योंकि इसका कारण नही है। वस्तु विशेष का नाश हो सकता है पर इस समवाय सम्बन्ध का नाश नही होता क्योंकि समवाय सम्बन्ध किसी के द्वारा स्थापित नही किया गया। यह वस्तुओं में प्रकृति रूप से पाया जाने वाला शाश्वत सम्बन्ध है। अत: समवाय (व्याप्ति) को नित्य मानते हैं।[2]

का भी यह मत है कि हम 'जाति' को एक स्वतन्त्र अस्तित्व के रूप में न 'प्रत्यक्ष' से और न 'अनुमान' से, स्वीकार कर सकते हैं। अत: यह भी 'जाति' को अस्वीकार करता है। इस विषय मे वेदान्त 'परिभाषा', 'शिखामणि', 'मणिप्रभा' पृ० 60-71 देखिए। श्री हर्ष का 'खंडनखंडखाद्य' पृ० 1079-1086 भी देखें।

1. 'सादृश्य' को अतिरिक्त या पृथक् के रूप मे नही देखते हैं क्योंकि यह भिन्नता में एकता है ('तदभिन्नत्वे सति तदगतभूयोधर्मवत्त्वम्')।
2. वेदान्ती दो भिन्न वस्तुओं में (द्रव्य और गुण) समवाय सम्बन्ध को स्वीकार नही करते हैं। 'ब्रह्मसूत्र' मे शंकराचार्य का कथन है कि यदि दो भिन्न वस्तुओं के संबंध

ये छै वर्ग 'षट् पदार्थों' के नाम से जाने जाते हैं। इनका बोध प्रत्यक्ष अनुभव से होता है और इनको दार्शनिक साहित्य में स्वतन्त्र सत्ता के रूप मे स्वीकार किया गया है।

कारणवाद सिद्धान्त

न्याय वैशेषिक दर्शन का दृष्टिकोण जीवन के सामान्य अनुभवों और उनसे ज्ञात सत्यो पर आधारित है। ये सत्य वे हैं जिनको हम साधारण रूप से नित्य प्रति के सामान्य अनुभव के द्वारा प्राप्त करते हैं और वाणी द्वारा प्रकट करते हैं। इस प्रकार न्याय वैशेषिक ने 'द्रव्य' 'गुण' 'कर्म' और 'सामान्य' को स्वीकार किया है। 'विशेष' को भी इस दर्शन ने परमाणुओं के विशेष सगठन के रूप मे स्वीकार किया है। परन्तु न्याय वैशेषिक ने इसे स्वीकार नहीं किया कि वस्तुओं में सदैव परिवर्तन होता रहता है अथवा किसी भी वस्तु के परमाणु-सगठन या वशानुक्रम मे परिवर्तन करने से किसी भी अन्य वस्तु का निर्माण किया जा सकता है। न्याय वैशेषिक यह भी नहीं मानते कि कार्य की कारण मे पूर्व स्थिति है। इस दर्शन का मत है कि किसी भी कार्य की सिद्धि में कुछ क्षमता, उपादान कारण में (जैसे मिट्टी मे), और कुछ क्षमता नैमित्तिक कारणों में (जैसे कुम्हार का चक्र, लकडी आदि) में होती है। इन विभिन्न कारणों की सम्मिलित क्षमता मे कारण का लोप होकर नए कार्य की उत्पत्ति होती है। इस कार्य की पहले कोई स्थिति नहीं थी। यह सर्वथा नवीन अस्तित्व है। यह 'असत्कार्यवाद' कहलाता है। साख्य के सिद्धांत से यह एकदम विपरीत है। साख्य के अनुसार जिसका अस्तित्व है उसका अनस्तित्व नहीं हो सकता। अर्थात् जो 'सत्' है वह 'असत्' नही हो सकता। 'नाभावो विद्यते सत'। इसके साथ ही साख्य मतानुसार जिसका अस्तित्व नही है वह उत्पन्न नहीं किया जा सकता। 'नासतो विद्यते भाव'। जो नही है, वह, जिसका अभाव है, स्थिति ही नही है वह फिर कैसे उत्पन्न हो सकता है। यदि यह मान लिया जाए कि जो 'असत्' है उसकी भी उत्पत्ति हो सकती है तो फिर खरगोश (खरहे) के सर पर सीग भी उत्पन्न हो सकते हैं। न्याय वैशेषिक का मत है कि उसका दृष्टिको यह नहीं है कि कोई भी वस्तु जिसका अस्तित्व नहीं है उत्पन्न की जा सकती हैं। दृष्टिकोण यह है कि जो वस्तु उत्पन्न हुई है पहले उसका अभाव था।

मीमासा का कथन है कि कारण में एक ऐसी अज्ञात क्षमता और शक्ति है जिससे कार्य सम्पन्न होता है। न्याय का मत है कि यह न तो प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है न इसे

के लिए 'समवाय' को स्वीकार किया जाता है तो फिर इस समवाय और वस्तु विशेष के सम्पर्क के लिए कोई और समवाय ढूंढना पडेगा और फिर उस तीसरे को जोड़ने के लिए चौथा समवाय और इस प्रकार 'अनवस्था दोष' की उत्पत्ति होगी। न्याय इसको दोषपूर्ण नहीं मानता। भारतीय दर्शन प्रणाली मे दो प्रकार की 'अनवस्था का उल्लेख है। पहला 'प्रामाणिकी' अनवस्था है जो प्रमाण के कारण मान्य 'अनवस्था' है और दूसरी 'अप्रामाणिकी अनवस्था' है जिसमें एक अन्तहीन शृंखला का क्रम चलता है।

किसी वैध प्राक्कल्पना के रूप मे ही स्वीकार किया जा सकता है। कारण की प्रक्रिया में किसी इन्द्रियातीत तत्त्व की कल्पना अस्वाभाविक सी लगती है। क्योंकि इन प्रक्रियाओं को आणविक क्रिया (परिस्पन्द) के द्वारा सरलता से समझा जा सकता है। कारण-कार्य के मध्य केवल स्थायी पूर्ववर्तिता और अनुवर्तिता सम्बन्ध है। परन्तु किसी कार्य के कारण के के लिए केवल 'पूर्ववर्तिता' सम्बन्ध ही पर्याप्त नही हैं। यह अनन्य-पूर्ववर्तिता होनी चाहिए— "अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता ।" 'कार्य-कारण भाव' में निरुपाधिता और स्थायी 'निरपवादिता' आवश्यक है। कार्य विशेष का कारण विशिष्ट एवं निश्चित होगा। इसमें न अपवाद का प्रश्न उठता है और न किसी प्रकार की अन्य उपाधि या शर्त का। किसी निश्चित पूर्ववर्ती कारण के साथ अन्य छोटे-मोटे तत्त्व भी हो सकते हैं और ये भी एक प्रकार से उस कारण के समान ही निश्चित और अपरिवर्तनशील माने जा सकते हैं पर ये तत्त्व गौण और समपार्श्वी हैं पूर्ववर्तिता अन्य कारण पर निर्भर है, यह स्थिति स्वतंत्र नही है (न स्वातंत्र्येण)। कुम्हार की छड़ी घड़े के निर्माण मे निश्चित एवं अपरिवर्तनीय पूर्ववर्तिता का स्थान रखती है। इसमे किसी अपवाद का स्थान नही है। घडे के निर्माण मे उसकी पूर्ववर्तिता निरपवाद एवं निरूपाधि है। परन्तु यह बात उस छड़ी के रग अथवा आकार के लिए नही कही जा सकती है। उसके रंग या लम्बाई में अन्तर हो सकता है, वह किसी प्रकार की लकड़ी का दण्ड हो सकता है, अत. यद्यपि इस दण्ड का रंग-रूप गौण रूप से निर्माण में सहायक हुआ है अथवा समपार्श्वी रहा है परन्तु यह रंग या बनावट घड़े के निर्माण का कारण नही हो सकती। इसी प्रकार पूर्ववर्ती कारणो के साथ कई प्रकार के संचारी भाव भी संलग्न हो जाते हैं और यह भी सम्भव है कि ये संचारी भाव भी अपरिवर्तनशील-पूर्ववर्तिता का रूप धारण कर लें पर ये स्वयं निरुपाधिक नही हो सकते क्योंकि ये भी अपनी स्थिति के लिए मुख्य भाव पर निर्भर है। उदाहरण के लिए घड़े के निर्माण में कुम्हार की छड़ी अथवा उसके चाक की ध्वनि उत्पन्न होती है, आकाश मे वायु के द्वारा इस ध्वनि का सचरण होता है। परन्तु यह ध्वनि, आकाश एवं वायु घडे के निर्माण के कारण रूप मे स्वीकार नही की जा सकती। इसी प्रकार कारण के कारणो को भी कारण के रूप मे स्वीकार करना उचित नही है। कुम्हार घड़े का पूर्ववर्ती कारण है, परन्तु कुम्हार का पिता जो कुम्हार का कारण है, घड़े के पूर्ववर्ती कारण के रूप में स्वीकार नही किया जा सकता। अत· यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्ववर्तिता अपरिवर्तनशील और निरुपाधिक ही नही वरन् तात्कालिक भी होनी चाहिए। निश्चित रूप से उस कार्य विशेष की पृष्ठभूमि में जिसकी प्रत्यक्ष एवं तात्कालिक स्थिति है वही पूर्ववर्तिता कारण रूप मे स्वीकार की जा सकती है। वे सब तत्त्व जो बाह्य दृष्टि से पूर्ववर्ती दृष्टिगोचर होते है, परन्तु जिनको गौण मान कर छोड़ा जा सकता है, कारण-तत्त्वो के रूप मे अस्वीकार्य समझे जाने चाहिए।

डाक्टर सील इस सम्बन्ध की बड़े सुन्दर शब्दो मे व्याख्या करते हुए कहते हैं— 'इस तथ्य का निश्चय करने में कि कौन सा तत्त्व किसी कार्य-विशेष के कारण रूप मे स्वीकार करना चाहिए, और कौन से तत्व गौण, समपार्श्वी, अनावश्यक, अपेक्षाधिक एव अक्रिय माने जाने चाहिए, सबसे बड़ा परीक्षण शक्ति के व्यय का है। ऊर्जा के व्यय की इस

कसौटी को न्याय स्पष्ट भौतिक- दृष्टि से उस क्रिया के रूप मे देखता है जिसमे आणविक क्रिया के रूप मे ऊर्जा का व्यय होता है, जिसको न्याय ने परिस्पन्द क्रिया का नाम दिया है । न्याय किसी अन्य दैवी अथवा अतीन्द्रिय शक्ति को कारण तत्त्व के रूप मे स्वीकार नही करता । ('परिस्पन्द एव भौतिको व्यापार करोत्यर्थं' अतीन्द्रियस्तु व्यापारो नास्ति ।' जयन्त रचित मजरी आहृनिक प्रथम) ।[1]

न्याय के अनुसार ऊर्जा का स्रोत गति है । अर्थात् सारी ऊर्जा गतिज है । किसी भी कार्य की सृष्टि मे, कारण क्रिया अवश्यभावी है । कारण क्रिया गतिज है अर्थात् यह एक भौतिक प्रक्रिया है जिसमे कार्य विशेप के लिए निश्चित आणविक आन्दोलन अथवा परिस्पन्द होता है । यह गति के रूप मे होता है, इस गति मे ऊर्जा का व्यय होता है । इस प्रकार ऊर्जा का न्याय अथवा निश्चित गतिज प्रक्रिया ही किसी कार्य का हेतु बनती है। यह न्याय का निश्चित मत है । साख्य के द्वारा जिस उत्पादक शक्ति की एक अतीन्द्रिय कल्पना की गई है उसका न्याय विरोध करता है । किसी कार्य के पीछे किसी रहस्यमयी अथवा इन्द्रियातीत शक्ति की कल्पना न्याय के अनुसार बुद्धिसगत नहीं दिखाई देती । 'कारण-सामग्री' कई अपरिवर्तनशील, निरुपाधिक तत्त्व हो सकते हैं परन्तु यह निश्चित है कि प्रत्येक कार्य, पूर्ववर्ती परिस्थितियों की सम्मिलित क्रिया के द्वारा सम्पन्न होता है ।[2] प्रत्येक प्रभाव या क्रिया की पृष्ठभूमि मे कुछ सामान्य परिस्थितियाँ भी विद्यमान हो सकती हैं । उदाहरण के लिए 'दिक्' (दिशाएँ) काल, ईश्वरेच्छा, अदृष्ट आदि सभी कार्यो में सर्वनिष्ठ रूप से विद्यमान हैं । इनको 'कार्यत्व प्रयोजक' की सज्ञा दी गई है । ये 'साधारण कारण' के रूप मे हैं जो सभी कार्यो के लिए समान हैं । विशिष्ट कार्य के लिए विशिष्ट कारण आवश्यक है । ये विशिष्ट कारण 'असाधारण कारण' के रूप में जाने जाते हैं । न्याय के दृष्टिकोण से प्रकृति के व्यापार मे किसी इन्द्रियातीत शक्ति का स्थान नही है, परन्तु यह धर्म' को स्वीकार करता है । 'धर्म' प्रकृति की प्रक्रिया मे व्याप्त है । प्रकृति के क्रम मे धर्म के अनुसार गति होती है, प्रत्येक वस्तु का अपना एक नैतिक आधार है, इस नैतिक आधार के व्यवहार की पूर्ति प्रकृति की क्रिया के माध्यम से होती है ।

जिस प्रकार वशानुक्रम से जातिविशेप मे विशिष्टता क्रम पाया जाता है उसी प्रकार कारण की व्याप्ति कार्य में पायी जाती है जिसका विनिश्चयन कार्य विशेप मे भाव और अभाव की एकरमता के माध्यम से अपवादरहित अनुभूति के आधार पर सम्भव है । (सरल - ~ कारण में जिस भाव-अभाव की स्थिति है, कार्य मे उसका क्या स्वरूप है, इसके .न और अनुभव से व्याप्ति का विनिश्चयन हो सकता है) । इस विशिष्ट व्याप्ति के आधार पर ही विशिष्ट कारण का ज्ञान होता है किसी पूर्व निश्चित सिद्धान्त के आधार पर

---

1 डॉ० पी०सी० राय 'हिन्दू कैमिस्ट्री' 1900 पृ० 249-250 ।

2 डॉ पी०सी० राय 'हिन्दू कैमिस्ट्री' 1900 पृ० 249-250 ।

हम किसी सामान्य-निगमन प्रक्रिया द्वारा कारण की केवल तर्क कल्पना से सिद्ध नहीं कर सकते ।[1]

मिट्टी के द्वारा घड़े का निर्माण होता है । यह मिट्टी घड़े का 'समवायि कारण' कही जाती है । 'समवाय' का अर्थ विशिष्ट अन्तर्व्याप्ति सम्बन्ध है जो अपरिवर्तनीय है । कारण द्रव्य कार्य में अपृथक् रूप से पाया जाता है तो वह समवायी कारण कहलाता है । द्रव्य अथवा सामग्री के माध्यम मे यदि किसी विशेष गुण का कार्य में प्रादुर्भाव होता है तो यह असमवायी कारण कहलाता है । उदाहरण के लिए घड़े के रंग का कारण मिट्टी नहीं है । परन्तु मिट्टी के रंग के कारण घड़े के रंग का आविर्भाव होता है । मिट्टी का रंग अविभाज्य है । घड़े का रंग इस गुण का परिणाम है । मिट्टी का यह रंग घड़े का असमवायी कारण कहा जाता है । समवायी कारण के गुण विशेष के द्वारा कार्य मे गुण की उत्पत्ति होती है, वह असमवायी कारण के रूप में जाना जाता है । 'निमित्त कारण' और 'सहकारी कारण' वे कहलाते है जिनके द्वारा उपादान कारण की द्रव्य विशेष के कार्य मे परिणति होती है । इस प्रकार मिट्टी उपादान कारण है, कुम्हार, उसका चाक, छड़ी आदि निमित्त और सहकारी कारण माने जाते हैं ।

न्याय वैशेषिक कारण की गति-प्रक्रिया के पूर्व कार्य की स्थिति को स्वीकार नहीं करता है । परन्तु इस दर्शन की यह मान्यता अवश्य है कि कारण के गुणों द्वारा कार्य के गुणों का आविर्भाव होता है । मिट्टी के काले रंग से घड़े में काला रंग उत्पन्न होता है । अर्थात् घड़े के काले रंग का कारण मिट्टी का काला रंग है । पर अन्य अवस्थाओं और कारणों से इस रंग में परिवर्तन हो सकता है जैसे अग्नि के ताप से काला रंग लाल रंग में बदल जाता है । दूसरा अपवाद द्व्यणुक और त्रसरेणु के परिमाण मे हैं जो अणु और द्व्यणुक के परिमाण से निर्धारित नहीं होता । इस सम्बन्ध में हम पहले ही अध्ययन कर चुके हैं कि इनका परिमाण अणु और द्व्यणुक की संख्या से निश्चित होता है ।

प्रलय और सृष्टि

मीमांसा के अतिरिक्त सभी हिन्दू-दर्शनों में प्रलय के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है । न्याय वैशेषिक के दृष्टिकोण के अनुसार ईश्वर सभी प्राणियों को शान्ति और विश्राम देने के लिए प्रलय की इच्छा करता है—'संहारेच्छो भवति' । इसके साथ ही सारी आत्माओं, शरीर, इन्द्रियादि स्थूल तत्त्वों में निवास करने वाली अदृष्ट शक्ति का लोप हो

---

1. इस प्रसंग में डाक्टर वी० एन० सील द्वारा लिखी हुई पुस्तक 'पाजिटिव साइन्सेज आव एनशियेन्ट हिन्दूज' पृ० 263-266 देखिए । इनके अतिरिक्त ये ग्रन्थ भी देखिए : बौद्ध मत पर 'सर्वदर्शन संग्रह', 'न्याय मंजरी', 'भाषा परिच्छेद', दिनकरी एवं मुक्तावली और तर्क-संग्रह । गंगेश के समय से ही अन्यथा सिद्धि के सिद्धांत का सुचारु रूप से विकास हुआ था ।

जाता है, जिसे न्याय में शक्ति प्रतिबन्ध कहा है। इस प्रकार उत्पत्ति का क्रम समाप्त हो जाता है। इसके साथ ही ईश्वर की इच्छा से प्रलय की प्रक्रिया का प्रारम्भ हो जाता है जिसमे सृष्टि की समस्त सूक्ष्म और स्थूल वस्तुओ का आणविक विघटन होने लगता है। सारी पृथ्वी और सारी सृष्टि विघटित होकर अणुओ मे परिवर्तित हो जाती है। फिर ये अणु जल, तेजस और अन्तत वायु के रूप मे स्थित हो जाते हैं। यह पार्थिव अणु और आत्मा तत्त्व धर्म, अधर्म और पूर्व सस्कारो के साथ निर्जीव अवस्था मे अवस्थित रहते हैं। आत्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति मे निर्जीव, ज्ञानहीन एव चेतनाविहीन है। शरीर के साथ सम्बन्धित होने पर मन के सयोग से ही आत्मा मे ज्ञान चेतना का उदय होता है। प्रलय की स्थिति में आत्मा के अदृष्ट के कारण अणु सघटन नही होने पाता, अत आत्मा विघटित रूप मे रहती है। प्रलय ईश्वर की क्रूरता का द्योतक नही है। वह प्रभु तो सांसारिक प्राणियो को उनके दु ख से छुटकारा देने के लिए थोड़े समय के लिए प्रलय की व्यवस्था करता है।

सृष्टि रचना के समय ईश्वर सृष्टि के निर्माण की इच्छा करता है। वह ईश्वरेच्छा सारी आत्माओ मे 'अदृष्ट' के रूप में व्याप्त होकर एक नवीन स्पन्दन का प्रारम्भ करती है। इस अदृष्ट के स्पन्दन से सर्वप्रथम वायु के अणु प्रभावित होते हैं। आत्मा के साथ इन अणुओ का सयोग होता है। गतिज अदृष्ट ऊर्जा के अणु मिलकर द्व्यणुक और ये मिलकर त्र्यणुक की सृष्टि करते हैं, इनके द्वारा वायु का सचरण होता है। वायु के पश्चात् जलाणुओ के समुच्चय से जल और फिर तेजस् की सृष्टि होती है। इसके पश्चात् पृथ्वी तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार अणुओं के सयोग से जब इन चार तत्त्वो का निर्माण हो जाता है तो फिर 'ईश्वर' सारे स्थूल ब्रह्मांड और ब्रह्म की सृष्टि करता है। ईश्वर द्वारा नियोजित ब्रह्म, पुन सृष्टि-क्रम-सचालन का कार्यभार ग्रहण करता है। कर्मों के फलस्वरूप सुख, दु ख एव अन्य नियमों की व्यवस्था करता है। ईश्वर किसी स्वार्थ की दृष्टि से सृष्टि का निर्माण नही करता। वह सारे प्राणियो के हित के लिए, ज्ञान और आनन्द के लिए सृष्टि का निर्माण करता है। मनुष्य के धर्म और अधर्म के अनुसार ही वह सुख दु ख आदि भोगो की व्यवस्था करता है। जिस प्रकार एक स्वामी अच्छे और बुरे कर्मों के लिए पारितोषिक और दण्ड का विधान बनाता है। ईश्वर की अनादि अनन्त इच्छा से ही प्रलय और सृष्टि का क्रम चलता रहता है। जब वह प्रलय की इच्छा करता है तो सर्वभूत पचतत्त्व आदि विलीन होकर अनन्त आकाश मे लुप्त हो जाते हैं। स्थूल प्रकृति का क्षय हो जाता है। उसकी यह इच्छा ही आत्मा में व्याप्त होकर अदृष्ट का रूप ग्रहण करती है। सृष्टि रचना मे 'अदृष्ट' ही नवीन उत्पत्ति में सहायक होता है, और प्रलय-काल मे ईश्वरेच्छा से यहा अदृष्ट निष्क्रिय स्थिति में रहता। उस ईश्वर की महान् इच्छा पर ही सृष्टि का क्रम निर्भर है।[1]

---

1. देखिए, न्याय कदली, पृ० 48 से 54।

न्याय के अनेक विद्वान् मनुष्य के कर्मों के अनुसार अच्छे बुरे फलों के भोग के निरीक्षक के रूप मे ब्रह्मा की कल्पना को स्वीकार नहीं करते। मनुष्य के कर्मों के आधार पर ही प्रलय और सृष्टि का विधान नियमित होता है। सृष्टि और प्रलय उस परम ईश्वर की 'लीला' मात्र है। ईश्वर एक है। उसकी इच्छा से न केवल प्रलय और सृष्टि होती है वरन् संसार के सारे कार्य कलाप उसकी इच्छा पर ही आधारित है। हमारे कर्मो का फल सुख, दु.ख, और वाह्य जगत् के सुव्यवस्थित नियमन और परिवर्तन सब मे उसी की इच्छा व्याप्त है। धर्म, अधर्म और मनुष्यों के कर्मो के अनुरूप ही वाह्य जगत् की व्यवस्था होती है। न्याय वैशेषिक मे यह ईश्वरेच्छा की कल्पना योग दर्शन मे वर्णित ईश्वरीय इच्छा के अधिक समतुल्य है।

ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण

सांख्य का मत है कि प्रकृति का व्यवस्था-क्रम स्वचालित है जिसका प्रत्येक अंग अपनी क्रियाओं मे आत्म-निर्भर एवं सशक्त है। इसके संचालन के लिए किसी अन्य शक्ति की आवश्यकता नही है। मीमांसक, वौद्ध, जैन और चार्वाक के अनुयायी सभी ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करते हैं। न्याय का विश्वास है कि अनन्त शाश्वत अणुओं के उपादान से ईश्वर ने अपनी इच्छा शक्ति से विश्व का निर्माण किया है। प्रत्येक कार्य का कोई निमित्त कारण होना चाहिए। जैसे घड़े की रचना कुम्हार के विना नही हो सकती। इसी प्रकार इतनी विशद व्यवस्थित सृष्टि की रचना का भी कोई निमित्त कारण होना चाहिए। यह कारण 'ईश्वर' है। वौद्ध दृष्टि से यह ससार क्षणिक है पर वास्तव में ऐसा नही है, अणु रूप मे यह विश्व शाश्वत है, अणु समुच्चय के रूप में यह, प्रभाव अथवा कार्य रूप है। घडे के समान ही यह अनेक तत्वो से निर्मित है। अत: यह निश्चित है कि इस कार्य रूपी विश्व का कोई कारण अवश्य होना चाहिए। इस मत के विरोध में यह कहा जाता है कि हमारे नित्य प्रति के अनुभव के अनुसार यह सत्य है कि प्रत्येक साधारण कार्य या प्रभाव का कोई कारण होता है, पर यह संसार इतना विशाल है कि नदियो, पहाड़ो और अनन्त समुद्रों वाले इस विश्व के लिए यह नियम सत्य नही हो सकता। यह हमारी अनुभूति और कल्पना का अतिक्रमण करता है? इस कल्पनातीत विशद विश्व के लिए हमारे तुच्छ अनुभव पर आधारित साधारण नियम सत्य नही हो सकते। न्याय का उत्तर है कि जव हम दो वस्तुओ मे सह व्याप्ति के सिद्धान्त से किसी निष्कर्ष पर पहुँचते है तो हमे सह व्याप्ति के सामान्य तत्त्व को आधार वनानां चाहिए। उन वस्तुओं की अन्य विशिष्टताओ से भ्रान्ति में नही पड़ना चाहिए। उदाहरण के लिए हम प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर अनुभव करते हैं कि धुएँ की अग्नि के साथ सहव्याप्ति है। इससे हमने सिद्धान्त वनाया कि जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ अग्नि होनी चाहिए। क्या इसका अर्थ यह है कि छोटे आकार का धुआँ देख कर अग्नि की कल्पना ही उचित है और यदि धुएँ के विशाल वादल दिखाई दें जो जंगल की आग से उत्पन्न हुए है तो हमें इस धूम्र समूह को देखकर जंगल मे लगी अग्नि का अनुमान नही करना चाहिए? अत: हमारा निष्कर्ष यह कदापि नही हो सकता कि कारण-नियम केवल छोटी-छोटी वस्तुओ में ही लगता है और वड़ी क्रियाएँ कारण-नियम से मुक्त हैं। प्रत्येक

कार्य की पृष्ठभूमि मे निश्चित रूप से अपरिवर्तनीय निरूपाधि कारण की स्थिति है, यह नियम सर्वनिष्ठ है। इस ससार की स्थिति है, यह कार्यरूप मे स्थित है अत इसका कारण अवश्यम्भावी है और यह कारण ईश्वर है। ईश्वर निराकार है, अकाय है अत हम उसे देख नही सकते। वह हमे दृष्टिगोचर नही होता इसका यह अर्थ नहीं कि उसका अस्तित्व ही नही हैं। कुछ लोगों का पक्ष है कि हम नित्य बीज से कोपलो और पत्तियो को अकुरित होते देखते हैं, यह प्रकृति की सामान्य प्रक्रिया है, इसमे ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। न्याय का उत्तर यह है कि सृष्टि मे सारा व्यापार ईश्वर की ही इच्छा से होता है, बीज और फल सब उसकी इच्छा के बिना नही होते। उसकी इच्छा और शक्ति ही मूल कारण है, जब तक कोई अन्यथा सिद्ध नही करता इसके न मानने का कोई कारण नही है। वह महान् ईश्वर दयालु और अनन्त ज्ञानमय है। सृष्टि के प्रारम्भ मे उसने वेदों की रचना की। वह हमारे पिता के समान है जो बालको के हित-चिन्तन मे ही कार्यरत रहता है।[1]

न्याय वैशेषिक का भौतिकशास्त्र

जल, पृथ्वी, अग्नि और वायु इनके परमाणु होते हैं, इस प्रकार चार प्रकार के परमाणु होते हैं। इन परमाणुओं मे द्रव्यमान, सख्या, भार, तरलता या कठोरता, श्यानता (चिप-चिपापन), अश्यानता, वेग, विशिष्ट वर्ण, स्वाद, गन्ध, स्पर्श होता है। आकाश निष्क्रिय एव सरचना-हीन है अर्थात् इसमें न गति है न इसकी कोई विशेष बनावट। आकाश मे शब्द-तरग प्रवहमान होती है और वायु के माध्यम से ध्वनि प्रकट होती है। चार तत्त्वो के साथ ही आणविक सयोग सम्भव है। सृष्टिकाल मे परमाणु स्वतन्त्र, असबद्ध अवस्था मे स्थित नहीं रह सकते। परन्तु ये परमाणु उच्चस्तरीय (ऊपर) वातावरण मे असबद्ध अवस्था मे अवस्थित रह सकते हैं।

दो परमाणुओ के मेल से द्व्यणुक का निर्माण होता है। दो-तीन चार या पाँच द्व्यणुको के मेल से त्र्यणुक,चतुरणुक आदि का सघटन होता है।[2] इस साधारण रूप से प्रचलित मत के अतिरिक्त डाक्टर बी एन सील अपनी पुस्तक "पोजिटिव साइन्सेज ऑफ दि एन्शियेन्ट हिन्दूज" मे एक अन्य दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। वे लिखते हैं कि सूक्ष्म अध्ययन से यह मत मिलता है कि 'परमाणुओ' मे सघटित होने की स्वाभाविक क्षमता और रुचि है। और वे दो, तीन, चार के युग्म मे सम्मिलित होते हैं अथवा पूर्ववर्ती परमाणुओ की सख्या के योग में एक और परमाणु के मेल से नया सन्निवेश या नया युग्म बनता है।[3] परमाणुओ

---

1. इस प्रसग मे देखिए जयन्त रचित 'न्याय मजरी' पृ० 190-204, उदयन रचित 'कुसुमांजलि प्रकाश' के साथ, और रघुनाथ द्वारा लिखी 'ईश्वरानुमान'।
2. 'कदाचित् त्रिभिरारभ्यते इति त्र्यणुकमित्युच्यते, कदाचित् चतुर्भिराभ्यते कदाचित् पचभिरिति यथेष्टम् कल्पना।' 'न्याय कदली' पृ० 32।
3. 'बृहत् सहिता' पर उत्पल भाष्य देखिए, 11 7।

के सम्बन्ध मे धारणा है कि इनमें सतत स्पन्दन होता रहता है। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि सारे व्यापार के पीछे अदृष्ट को नहीं भुलाया जा सकता। इस अदृष्ट के कारण ही परमाणु स्पन्दित होते हैं, उनमें गति होती है और उनके अनेक सन्निवेश या युग्म बनते है। यह अदृष्ट, ईश्वर की इच्छा से प्रेरित हुआ संसार को नियमित रूप से धर्मानुकूल सचालित करता है, इस ऋतु के अनुकूल ही विश्व की व्यवस्था का नियमन होता है। यह नियमन अथवा ऋत, कर्म फल के सामंजस्य में सृष्टि-प्रक्रिया को अनुचालित करता है। भौतिक दृष्टि से किसी भी परमाणु के संयोग से बने साधारण द्रव्य में ताप के प्रभाव से गुणात्मक परिवर्तन हो सकता है। ताप के प्रभाव से द्व्यणुक मे परमाणु विघटन सम्भव है और इस विघटन के कारण और पुन. ताप के कारण उस युग्म के स्वभाव या गुण में परिवर्तन होता है। अणु विघटित होकर नए युग्म बना लेते हैं और इस प्रकार नए सन्निवेशों अथवा गुणों की उत्पत्ति होती है। वैशेषिक का मत है कि ताप के कारण पहले किसी भी अणु युग्म का विघटन प्राथमिक परमाणुओं से होता है, फिर आणविक गुणों में परिवर्तन होता है और फिर अन्तिम संघटन होकर सन्निवेश का निर्माण होता है। इस सिद्धान्त को 'पीलुपाक' (अणु को ताप देना) सिद्धान्त कहते हैं। न्याय का मत है कि ताप से परमाणुओं का विघटन हो, यह आवश्यक नही है। केवल अणुयुग्मों के गुण स्वभाव में आवश्यक परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार न्याय के अनुसार ताप परमाणुओं में किसी प्रकार का परिवर्तन न करते हुए अणु युग्मों को सीधा प्रभावित करता है और उनके गुण स्वभाव में परिवर्तन कर सकता है। ऊष्मा के सूक्ष्मकण द्रव्य के सरंध्र पिण्ड में प्रवेश कर उसमे वर्णपरिवर्तन कर देते हैं। इस प्रक्रिया में सारे द्रव्य का परमाणुओं मे विघटन नही होता क्योकि अनुभव और परीक्षण से ऐसा नही पाया जाता। इस प्रक्रिया को 'पिठरपाक' (अणु को नरम करने की क्रिया) सिद्धान्त कहा जाता है। उत्तरकालीन न्याय दर्शन और वैशेषिक में कुछ थोड़े से ऐसे सन्दर्भो में साधारण अन्तर पाया जाता है।[1]

एक ही 'भूत' या अनेक 'भूतों' (पृथ्वी, जल आदि) के परमाणुओं से रासायनिक यौगिक बनाना सम्भव है। न्याय के दृष्टिकोण से एक ही भूत के परमाणुओं में कोई अन्तर नही होता। एक ही भूत के यौगिकों मे जो गुण स्वभाव का अन्तर पाया जाता है वह इन परमाणुओ के विभिन्न समूहात्मक संयोगक्रम के कारण दिखाई देता है। उद्योतकर का कथन है (3 1.4) कि जौ और चावल के दाने में पाए जाने वाले परमाणुओं में कोई अन्तर नहीं

1. डॉ० पी. सी. राय द्वारा लिखी 'हिन्दू कैमिस्ट्री' पुस्तक में डॉ० बी. एन. सील का मत देखिए। पृ० 190-191। 'न्याय मंजरी' पृ० 438 और उद्योतकर की 'वार्तिक' भी देखिए। न्याय और वैशेषिक सूत्र मे उपर्युक्त दृष्टिकोण के अन्तर के सम्बन्ध में कोई विशेष स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। वैशेषिक सूत्र (7.1) मे थोड़ा संकेत पाया जाता है पर न्याय सूत्र इस विषय पर सर्वथा मौन है। सम्भवतः सृष्टि रचना और आणविक संयोग से द्रव्य निर्माण सिद्धान्त का विकास वात्स्यायन के पश्चात् हुआ होगा।

है क्योकि वे दोनो ही एक भूत पृथ्वी तत्त्व से निर्मित हैं। ताप के सतत प्रभाव के कारण परमाणुओ के स्वभाव मे परिवर्तन होता रहता है। रग, रूप, वर्ण, रस (स्वाद) आदि का एक ही भूत के परमाणुओ मे जो परिवर्तन होता है, उसका एक मात्र कारण ताप है। ताप की मात्रा 'तेजस्' कणो के प्रकार और सम्पर्क में जाने वाले द्रव्यो के स्वभाव के अनुसार वर्णादि मे परिवर्तन होता है। परिपाक (तापक्रिया) से द्रव्य परमाणुओं मे खडित होकर नवीन रूप और गुण वाले द्रव्यो मे परिवर्तित हो जाता है।

वैशेपिक के भाष्यकार श्री प्रशस्तपाद का मत है कि एक भूत के उच्चस्तरीय यौगिको में आन्तरिक ऊष्मा (ताप) के कारण जो परिवर्तन होता है वह यौगिक अणुओ मे न होकर इसका निर्माण करने वाले घटक परमाणुओं में होता है। जव दूध दही मे परिवर्तित हो जाता है तो दूध के परमाणु में यह परिवर्तन होता है। आवश्यक नही है कि दूध के अणुओ का विघटन होकर उनका परिवर्तन मूलभूत परमाणुओं मे हो जाए। इस प्रकार परिवर्तन दुग्ध परमाणु में होता है। दुग्धाणु की क्षिति परमाणु मे विघटित होने की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार ससेचित-अडाणु (ओवम्) में, जीवाणु और अडाणु द्रव्य, सभागी क्षिति परमाणुओ मे विभाजित होकर शारीरिक ऊष्मा एव प्राणवायु के प्रभाव से नवीन रासायनिक यौगिक जीवाणु का ('कलल') रूप धारण करते हैं। वैशेपिक दर्शन के अनुसार जीवाणु एव अडाणु द्रव्य दोनो ही क्षिति के समवायी तत्त्व हैं जिसमे अन्य भूतो का भी समावेश है। जव जनन द्रव्य (वीज) विकसित होने लगता है और अपना भोजन माँ के रुधिर से प्राप्त करने लगता है तो शारीरिक ऊष्मा जनन-द्रव्य के अणुओ को खडित कर घटक परमाणुओ में वदल देती है। ये घटक जनन द्रव्य परमाणु आहार सरचक परमाणुओं के साथ रासायनिक मिश्रण द्वारा कोशिकाओं और ऊतको (टिशू) का निर्माण करते हैं।[1] परमाणुओं के इस योग को 'आरम्भ सयोग' कहते हैं।

वहु-भौतिक या द्वि-भौतिक यौगिको मे एक अन्य प्रकार का सयोग होता है जिसे 'उपष्टम्भ' योग कहते हैं। इस प्रकार तेल, घी, फलो के रस आदि में पृथ्वी के परमाणु तव तक नही मिल सकते जव तक कि जल के परमाणु वीच में न हो। ये जल के परमाणु पृथ्वी

---

1 डॉ० वी एन सील की 'पोजिटिव साइन्सेंज' नामक पुस्तक पृ० 104-108 और 'न्याय कदली' पृ० 33-34 देखिए—'शरीरारभे परमाणव एव कारणम्, न शुक्र शोणित सन्निपात। क्रियाविभागादिन्यायेन तयोर्विनाशे सति उत्पन्न पाकजै परमाणुभिरारभात्। न च शुक्रशोणितपरमाणूनाम् कश्चिदविशेप, पार्थिवत्वाविशेपात्" पितु: शुक्रम् मातु शोणितम् तयो सन्निपातानन्तरम् जठरानलसम्वन्धात् शुक्र-शोणितारभकेपु परमाणुपु पूर्वरूपादिविनाशे समानगुणान्तरोत्पत्तौ द्व्यणुकादिक्रमेण कललशरीरोत्पत्ति तत्रान्त करणप्रवेशो" तत्र पुनर्जठरानलसम्वन्धात् कललारभक-परमाणुपु क्रियाविभागादिन्यायेन कललशरीरे नष्टे समुत्पन्नपाकजै कललारभकपरमाणुभिरदृष्टवशादुपजातक्रियैराहारपरमाणुभि सह सभूय शरीरान्तरमारभ्यते।"

के परमाणुओं को घेरे रहते हैं। ऊष्मा कणों के संघात से और अवपरमाणविक वल के कारण पृथ्वी के परमाणु विशिष्ट गुणों को धारण करते है। इसी प्रकार अन्य यौगिकों का भी निर्माण होता है जहाँ अप् (जल), तेजस् और वायु के परमाणु आन्तरिक मूलांकुर या केन्द्र के रूप में अवस्थित होते है और पृथ्वी के कण उपष्टम्भक के रूप में आस-पास स्पन्दित होते रहते हैं। पृथ्वी तत्त्व के जल में मिले इस प्रकार के सम्मिश्रण या घोल भौतिक-मिश्रण कहलाते हैं।

उदयन का मत है कि रासायनिक-प्रक्रिया के लिए आवश्यक सारी ऊष्मा का स्रोत सूर्य का ताप है। परन्तु परिपाक क्रिया में अन्तर है। ताप के सूक्ष्म कणों के सम्पर्क और ऊष्मा के प्रकार विभिन्न है। जिस पाक क्रिया से वर्ण परिवर्तन होता है और जिससे रस परिवर्तन होता है वे निश्चय ही एक-दूसरे से भिन्न है।

ऊष्मा और प्रकाश की किरणे अत्यन्त सूक्ष्म कणों से वनी हुई होती हैं। ये तीव्र गति एवं वेग से ऋजु रेखीय स्तर पर सारी दिशाओं में प्रवाहित होती है। ताप परमाणु सन्धि मे सहज ही प्रवेश कर जाता है जैसा तापचालन की क्रिया मे पाया जाता है। अग्नि पर पात्र मे जव जल गरम किया जाता है तो पात्र के परमाणुओं की सन्धि मे प्रवेश कर ताप जल तक सहज ही पहुँच जाता है। प्रकाश किरणें पारदर्शक पदार्थ में 'परिस्पन्द' के द्वारा परमाणु सन्धि से प्रवेश कर विक्षेप अथवा अपवर्तन की अवस्था को प्राप्त करती है जिसे 'तिर्यक्गमन' कहा है। अन्य अवस्थाओं मे ऊष्मा या प्रकाश की किरणे परमाणुओं से टकराकर प्रत्यावर्तित हो जाती हैं।

ताप की विशेष क्रिया से अन्य अवस्थाओ मे परमाणु छिन्न-भिन्न होकर विघटित हो जाते हैं। निरन्तर परिपाक से इन विघटित परमाणुओं के भौतिक रासायनिक गुणों मे परिवर्तन हो जाता है और इनका पुनः सयोग संघटन होकर नवीन रासायनिक द्रव्यो का निर्माण हो जाता है।[1]

उत्तरकालीन नैयायिक गोवर्धन का कथन है कि 'पाक' का अर्थ विभिन्न प्रकार की ऊष्मा का प्रभाव है। वह ऊष्मा जिससे फल के रंग में परिवर्तन होता है, उस ऊष्मा से भिन्न है जिसके द्वारा रस में परिवर्तन होता हैं।

गाय के द्वारा खाया हुआ घास सूक्ष्म परमाणुओ मे वदल जाता है और फिर ऊष्मा प्रकाश के प्रभाव से उसके रस, रूप, गन्धादि में अनेक रासायनिक परिवर्तन होते हैं जिससे वह दूध के रूप मे परिवर्तित हो जाता है।[2]

न्याय वैशेपिक दर्शन में द्रव्य की अन्य द्रव्य पर क्रिया एक भौतिक गति क्रिया है। प्रयत्न और गति दोनो में अन्तर है। सांख्य की दृष्टि इसके विपरीत है। सांख्य के अनुसार

---

1. डा० सील रचित 'पौजिटिव साइन्सेज ऑफ हिन्दूज।'
2. गोवर्धन रचित 'न्यायवोधिनी' टीका पृ० 9.10 जो 'तर्क संग्रह' पर लिखी गई है।

'पुरुष' के अतिरिक्त (चित्) अन्य सब पदार्थ सृष्टि के विकास के क्रम में उत्पन्न होते हैं और उनमें स्वत स्पन्दन होता रहता है।

ज्ञान का मूल (प्रमाण)

भारतीय दर्शन मे ज्ञानबोध किस प्रकार होता है इस पर बडा विचार किया गया है। सांख्य योग मे बुद्धि प्रत्यक्ष दर्शन की विषय वस्तु का स्वरूप ग्रहण कर लेती है और वह फिर निर्मल चित् (पुरुष) के प्रकाश से प्रकाशित होकर बोधज्ञान के रूप मे ग्रहण की जाती है। जैन दर्शन न सर्वज्ञानमयी स्वात्मा पर कर्म का अवगुण्ठन ज्ञान के दर्पण को मलिन किए रहता है। इस मलिनता के आवरण के हटते ही आत्मा मे ज्ञान का प्रकाश स्पष्ट हो उठता है।

न्याय वैशेषिक दर्शन में प्रत्येक कार्य या प्रभाव की पृष्ठ-भूमि मे कारण वह सयोग है जो कार्य से पूर्ववर्ती है, जो आवश्यक और अपरिवर्तनशील है। अत जिस सामग्री से ज्ञान की क्रिया होती है उसमें कुछ चेतन और कुछ अचेतन तत्त्व हैं। इन तत्त्वों के सम्मिलित प्रभाव से निश्चित ज्ञान की उपलब्धि होती है। यह सामग्री प्रमाण कहलाती है जो कि ज्ञान की प्राप्ति का या ज्ञानबोध का सुनिश्चित कारण है।[1]

किसी एकांगी तत्त्व को मुख्य कारण नही समझा जा सकता क्योंकि सारे पूर्ववर्ती कारणो के सयोग से कार्य सम्भव होता है। कभी-कभी एक तत्त्व के न होने से सारा कार्य रुक जाता है। अत कारण सामग्री के सारे तत्त्व मिलकर कार्य विशेष की उत्पत्ति करते हैं। ज्ञान के प्रमाण में भी यही बात सत्य है। इस सामग्री मे सारे बौद्धिक चेतना तत्त्व (उदाहरण के लिए सुनिश्चित प्रत्यक्ष बोध मे अनिश्चित बोध की प्राथमिक विशेषणात्मक क्रिया, अनुमान मे लिंग का ज्ञान, उपमान में एकरूपता और शब्द मे ध्वनि का सुनना) के अतिरिक्त भौतिक सामग्री का भी यथोचित सामजस्य आवश्यक है। उदाहरणार्थ देखी जाने वाली

---

1 अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धार्थोपलब्धिम् विदधाति बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम् 'न्याय मजरी' पृ० 12। उद्योतकर ने 'प्रमाण' को उपलब्धि हेतु (ज्ञान का कारण) कहकर समझाया है। यह दृष्टिकोण जयन्त के दृष्टिकोण का विरोधी नही है। पर यह 'इन्द्रिय व्यापार' के पक्ष पर बल देता है। इन्द्रियो के सम्पर्क मे वस्तुओं के आने से ज्ञान की प्राप्ति होती है। वाचस्पति ने लिखा है—सिद्धमिन्द्रियादि असिद्ध च तत् सन्निकर्षादि व्यापारयन्नुत्पादयन् करणएव चरितार्थं करणम् त्विन्द्रियादि तत्सन्निकर्षादि वा नान्यत्र चरितार्थमिति साक्षादुपलब्धावेव फले व्याप्रियते। (तात्पर्य टीका पृ० 15)। इस प्रकार ज्ञान बोध मे इन्द्रियों की क्रिया प्रमाण है परन्तु यह बोध, वस्तु और वस्तु के सम्पर्क मे आने वाले अभाव मे नही हो सकता अत कारण सामग्री या प्रमाण में इनको भी सम्मिलित किया गया है।

'प्रमातृ प्रमेययो प्रमाणे चरितार्थत्वम् प्रमाणस्य तस्मात् तदेव फलहेतु। प्रमातृ प्रमेयेतु फलोद्देशेन प्रवृत्ते इति तदहेतु कथचित्।' 'तात्पर्य टीका' पृ० 16।

वस्तु सामीप्य, प्रकाश, इन्द्रिय की क्षमता आदि सभी वाह्य तत्वों के उचित स्थिति में होने पर, समुचित ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है। वोध ज्ञानात्मक सभी चेतन और वाह्य भौतिक तत्त्व एक ही तल पर सम्मिलित रूप मे जब क्रिया करते हैं, तब ये सब मिलकर ज्ञान के प्रमाण रूप में जाने जाते है।

न्याय, सांख्य मत की आलोचना करता हुआ कहता है कि सांख्य के अनुसार बुद्धि की एक विशेप अवस्था में पुरुप के किसी अतीन्द्रिय प्रभाव से वस्तुवोध होता है। यह वात आसानी से समझ में नही आती है। ज्ञान वुद्धि का विपय नहीं है क्योंकि बुद्धि चेतन नहीं है यद्यपि यह विषय वस्तु के स्वरूप और कल्पना को धारण करती है। पुरुप जो चेतना है, जिसको विपय ज्ञान होना चाहिए वह सदैव सांख्य मत के अनुसार इन्द्रियातीत, शुद्ध, चेतन अवस्था में रहता है, अतः न यह सांसारिक अर्थो में सुनता है, न देखता है, न जानता है, न किसी अन्य प्रकार की ज्ञानानुभूति करता है। यदि इस चेतन पुरुप का वुद्धि के साथ संपर्क केवल एक प्रतिभा मात्र है, यह केवल एक प्रतिविम्व रूप माया है तो फिर सत्यज्ञान का कोई अस्तित्व ही नही है। यदि सारा ही ज्ञान मिथ्या है तो फिर सांख्य मतावलम्वी सत्य ज्ञान-उत्पत्ति की कल्पना नहीं कर सकते।

इसी प्रकार वौद्ध मत वाले यह सिद्ध करते हैं कि वस्तु की उत्पत्ति के साथ ही तद्-विपयक ज्ञान की उत्पत्ति होती है और उसकी समाप्ति के साथ ही अगले क्षण में इस ज्ञान की समाप्ति हो जाती है। न ज्ञान, वस्तु से उत्पन्न होता है और न वस्तु ज्ञान से उत्पन्न होती है। साथ ही ज्ञान के उत्पन्न होते ही उस ज्ञान की वस्तु का उदय होता है। यह समझ मे नही आता कि ज्ञान और ज्ञान के विपय का सामंजस्य कैसे होता है, वह एक साथ कैसे उत्पन्न होते हैं, और ज्ञान कैसे उस वस्तु को जान लेता है ? विज्ञानवादियों का मत है कि ज्ञान ही स्वय वस्तु और उसका वोध, दोनो के रूप में,प्रकट होता है। यह भी युक्तिसंगत नही दिखाई देता कि ज्ञान एक साथ वस्तु और उसके वोध के रूप में कैसे विभाजित हो जाता है। वस्तु रूपी ज्ञान को प्रकाशित करने के लिए फिर किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता होनी चाहिए। और इस ज्ञान को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता हो तो फिर इस क्रम का कही अन्त नही हो सकता। यदि वौद्धमतानुसार 'प्रमाण' को 'प्रापण' (प्राप्त करने की क्षमता) के रूप में समझा जाए तो यह भी उचित नहीं होगा क्योकि वौद्ध दृष्टि से सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं और क्षण मात्र में नष्ट हो जाती हैं। अतः, इस क्षण मे नष्ट होते हुए संसार में प्राप्त करने योग्य कुछ भी नही है। इन सब दृष्टियों से ज्ञान की उत्पत्ति पर कोई प्रकाश नही पड़ता। अत. न्याय का कथन है कि ज्ञान भी एक कार्य या प्रभाव है जो अन्य प्रभाव के समान ही कारण सामग्री के द्वारा अर्थात् भौतिक और वौद्धिक कारणों के संयोग से उत्पन्न होता है। ज्ञान की उत्पत्ति में कोई इन्द्रियातीत, दैविक तत्त्व नही है। यह उसी प्रकार उत्पन्न होता है जैसे कारण संयोग से अन्य भौतिक प्रभावों की उत्पत्ति होती है।[1]

---

1. ख्याति प्राप्त उत्तरकालीन नैयायिक गगेश ने ज्ञान की प्रामाणिकता की मीमांसा

न्याय के चार प्रमाण

ज्ञान के प्रामाणिक या वैध आधार के रूप में चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही प्रमाण मानते हैं। बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान को स्वीकार करते हैं।[1] साङ्ख्य ने 'शब्द' को तीसरे प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत किया और न्याय ने एक और प्रमाण 'उपमान' को मान्यता दी। इस प्रकार न्याय ने चार प्रमाणो को माना है। इन चार प्रमाणो का आधार न्याय के अनुसार यह है कि ज्ञान बोध एक कार्य है जो कारण के अभाव मे नही हो सकता। कारण पूर्ववर्ती कारण सामग्री से निर्मित है जैसा पहले कहा जा चुका है। ज्ञान की उपलब्धि कारण सामग्री की विविधता से विविधरूपा हो सकती है। इस विविधता के साथ ही चारो अवस्थाओ मे ज्ञान का स्वरूप और स्वभाव भी भिन्न होता है। ज्ञान की उपलब्धि के साधन, वस्तु विशेष को प्रकाश मे लाने वाली अवस्थाएँ और प्रकार भिन्न होते हैं। अत जो वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई देती है, उसी वस्तु के सम्बन्ध मे अनुमान भी किया जा सकता है। किसी आप्त पुरुष के कहने पर भी विश्वास किया जा सकता है और किसी उपमेय द्वारा भी उसे जाना जा सकता है। इस अवस्था भेद के कारण ही न्याय 'शब्द' और 'उपमान' को 'अनुमान' से भिन्न प्रमाण मानता है।[2]

की है। उनका कथन है कि किसी वस्तु के अवयव के साथ ही जिस क्रिया के कारण हम इस अवगम अथवा प्रत्यक्ष बोध के लिए प्रेरित हुए हैं, इन दोनो के उचित सबध के आधार पर जो अनुमान या निष्कर्ष निकाला जाता है वह प्रामाणिक होता है। जब यह विश्वास होता है जिसका मैंने प्रत्यक्ष (अवगम) किया है उस प्रत्यक्ष के आधार पर कर्म करने से मुझे सफलता मिलेगी तो वह ज्ञान प्रामाणिक होना चाहिए। देखिए 'तत्त्व चिन्तामणि' (के तर्कवागीश का सस्करण) प्रामाण्यवाद।

1. वैशेषिक सूत्र—'वेदो' को स्पष्ट रूप से प्रमाण मानते हैं। यह मान्यता सदैव से चली आती है कि वैशेषिक केवल दो प्रमाण मानता है एक अवगम (प्रत्यक्ष) और दूसरा 'अनुमान'। प्रत्यक्षमेकम् चार्वाका कणादसुगतौ पुन अनुमानं च तच्चापि आदि। प्रशस्तपाद सारे बोध (बुद्धि) को विद्या और अविद्या मे विभाजित करते हैं। सत्य ज्ञान विद्या है, अज्ञान अविद्या है। 'सशय' विपर्यय (भ्रांति), अनध्यवसाय (निश्चित ज्ञान का अभाव जैसे आपको प्रथम बार देखने से आश्चर्य कि यह क्या है) और 'स्वप्न', इन सबको अविद्या माना है। विद्या अथवा सत्य ज्ञान चार प्रकार का है—'अवगम' (प्रत्यक्ष बोध) अनुमान, स्मृति और ऋषियों का विशिष्ट दिव्य ज्ञान जिसे 'आर्ष' कहा है। वैशेषिक सूत्रो की (1 1 3) व्याख्या करते हुए, प्रशस्तपाद ने कहा है कि वेदों की प्रामाणिकता का आधार उनके लेखक का विश्वसनीय व्यक्तित्व है। वेद स्वय मे प्रामाणिक नहीं है। 'अर्थापत्ति' (तात्पर्य) अनुपलब्धि (किसी का प्रत्यक्ष बोध नही हो पाता) को अनुमान की श्रेणी में मानते हैं। 'उपमान' (उदाहरण से एकरूपता) और 'ऐतिह्य' (परम्परा) विश्वसनीय व्यक्तियों में श्रद्धा, इनको भी 'अनुमान' ही माना है।
2. सामग्रीभेदात् फलभेदाच्च प्रमाणभेद.।

प्रत्यक्ष

नैयायिक केवल पाँच ज्ञानेन्द्रियों को मानते हैं। न्याय मत के अनुसार ये पांच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच मूल भूतों (पाँच तत्त्व) से निर्मित हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने विशिष्ट तत्त्व के सम्पर्क में जाती है और तद्जनित ज्ञान को ग्रहण करती है। जैसे श्रोत्र इन्द्रिय (कान) आकाश तत्त्व से निर्मित है तो यह आकाश के गुण शब्द को सहज ही ग्रहण करती है। नेत्र प्रकाश को, वर्णादि को ग्रहण करते हैं। वे स्वयं प्रकाश की किरणों से स्थान विशेष को आविष्ट कर देते हैं, वे तेजस् तत्त्व से ही तेजवान् हैं। न्याय सांख्य के समान अन्य पाँच इन्द्रियों को अर्थात् कर्मेन्द्रियों को नही मानता। सांख्य के अनुसार ये पांच कर्मेन्द्रियाँ 'वाक्' 'पाणि', 'पाद', 'पायु' और 'उपस्थ' हैं। न्याय का मत है इन पाँचों का कर्म शरीर की प्राण शक्ति के द्वारा सम्पादित होता है, अत. इनकी गणना इन्द्रियों मे नही की जा सकती।

ज्ञानेन्द्रिय के वस्तु विशेष के सम्पर्क में आने से जिस सत्य ज्ञान की प्राप्ति होती है वही प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष में किसी प्रकार का संशय अथवा भ्रान्ति नही होनी चाहिए, प्रत्यक्ष दर्शन के समय किसी अन्य द्वारा उच्चरित ध्वनि, नाम आदि का सम्पर्क नहीं होना चाहिए।[1] जैसे यदि हम गाय को देखते हैं और उसी समय कोई अन्य व्यक्ति कहता है कि यह गाय है तो गाय के सम्वन्ध में ज्ञान का आधार 'शब्द प्रमाण' है, प्रत्यक्ष प्रमाण नही है। प्रत्यक्ष को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष और सविकल्प प्रत्यक्ष। निर्विकल्प प्रत्यक्ष किसी वस्तु की इन्द्रियों के सम्पर्क में आने की वह अनिश्चित अवस्था है जव हम उसके विशिष्ट गुणों का, नाम आदि का विनिश्चयन नही कर पाते हैं। केवल उसके सामान्य जाति सूचक गुणों को ही प्रथम दृष्टि में देख पाते हैं। इस अवस्था के पश्चात् सविकल्प अवस्था आती है जब हम उपर्युक्त इन्द्रिय सम्पर्क और अनिश्चित ज्ञान के पश्चात् विशिष्ट गुणों को ध्यान मे लाकर नामादि का निश्चय कर लेते हैं। उत्तरकालीन नैयायिकों का कथन है कि निर्विकल्प अवस्था का हमको साधारणतया बोध नही होता पर यह वह अवस्था है जो सविकल्प प्रत्यक्ष के पूर्व आती है और जिसके अभाव मे सविकल्प प्रत्यक्ष होना सम्भव नही है। इन्द्रियों का अपने विषय के साथ सम्पर्क छः प्रकार का है— (1) द्रव्य के साथ सम्पर्क जिसे संयोग सज्ञा दी गई है (2) वस्तु के माध्यम से गुणों के साथ सम्पर्क 'संयुक्त समवाय' इसमे उन गुणो की अन्तर्व्याप्ति को जाना जाता है जो वस्तु से अलग नही की जा सकती। (3) सामान्य गुणो के साथ सम्पर्क जिसमें वस्तुविशेष के गुणों के सार्वत्रिक जाति रूप गुणों की व्याप्ति समवाय की ओर ध्यान दिया जाता है। इसे 'संयुक्त समवेत

अन्ये एव हि सामग्री-फले प्रत्यक्षलिंगयो:।
अन्ये एवच सामग्री-फले शब्दोपमानयो:। न्याय मंजरी पृ० 33।

1. गगेश नाम के ख्याति प्राप्त नैयायिक प्रत्यक्ष को तात्कालिक साक्षात्कार (उसी समय देखकर जानना) कहकर व्याख्या करते हैं— 'प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वम् लक्षणम्।"

समवाय' कहा जाता है। उदाहरण के लिए नेत्र वस्तु विशेष के सम्पर्क में आते हैं, वस्तु मे वर्ण का समवाय सम्बन्ध है, पुन वर्ण मे सार्वत्रिक रूप का अथवा जिस जाति का वह रूप है उसका व्याप्ति समवाय है, उस रूपत्व के साथ सम्पर्क होता है। (4) समवेत समवाय— 'शब्द' की स्थिति आकाश मे है। अत शब्द का समवाय आकाश से है, जिस आकाश के माध्यम से शब्द का ज्ञान होता है वह समवेत समवाय है। (5) शब्द के स्वय के गुण 'शब्दत्व' से विशेषता की जानकारी समवेत समवाय के माध्यम से होती है। (6) एक अन्य सम्पर्क के द्वारा किसी विषय के 'अभाव' का ज्ञान होता है इसे सयुक्त विशेषण कहते हैं। यह ऐसा इन्द्रिय सम्पर्क है जो वस्तु विशेष के न होने की विशेषता बतलाता है। नेत्र किसी स्थान विशेष को देखते हैं। इस स्थान का विशेषण उसकी रिक्तता है अथवा वस्तु-विशेष का अभाव है। उदाहरण के लिए दृष्टि यह देखती है कि स्थान विशेष पर घडा नही है। यहाँ दृष्टि रिक्त स्थान के सम्पर्क मे आकर केवल उसका सम्पर्क करती है। उस स्थान की यह विशेषता भी अनुभव करती है कि यहाँ अन्य वस्तु का अभाव है। इस प्रकार न्याय केवल वस्तु और उसके गुण को ही प्रत्यक्ष नही देखता परन्तु सारे सम्बन्ध समवाय भी वास्तविक मानकर उनको प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए मान्य समझता है।

न्याय वैशेषिक दर्शन के प्रत्यक्षवाद मे यही सबसे मुख्य बात है कि यह केवल वस्तु तक ही प्रत्यक्ष को समाप्त नहीं कर देता। इन्द्रिय सम्पर्क की क्रिया से प्रारम्भ होकर, उसका विनिश्चयन और उसके गुण दोष दर्शन तक प्रत्यक्ष की परिधि मे आ जाते हैं। इस प्रकार समस्त ज्ञान 'अर्थप्रकाश' है अर्थात् वस्तु का सम्यक् ज्ञान है। सभी ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क से विषय का पूर्ण ज्ञान ही प्रत्यक्ष 'अर्थ-प्रकाश' है। इन इन्द्रियों की समस्त क्रिया भौतिक है और उनकी उपलब्धि भी भौतिक तल पर है। अतीन्द्रिय या दैविक शक्ति की कोई कल्पना न्याय वैशेषिक इस प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए स्वीकार नही करता। केवल भौतिक स्पन्दन, गति और क्रिया ही इन्द्रिय बोध के लिए ग्राह्य और मान्य है।[1] इस प्रकार अन्य भौतिक कारणो की प्रक्रिया और कारण सयोग से जिस प्रकार अन्य किसी कार्य की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार ज्ञान भी निश्चित भौतिक कारण सामग्री और प्रक्रिया पर निर्भर है। नारगी को देखने पर दृष्टि एव स्पर्श से इसके रूप, रग, कठोरता आदि का प्राथमिक भान होता है। साथ ही उसके सार्वत्रिक, सामान्य जातिरूप गुणों का जिसकी नारगियो मे व्याप्ति होती है उसका भी बोध होता है। यह प्रथम सम्पर्क 'आलोचन-ज्ञान' है। इस 'आलोचन-ज्ञान' के साथ ही नारगी के मधुर स्वाद, गुण आदि की स्मृति का उदय होता है जो सुखकर प्रतीत होता है जिसका 'सुख साधनत्व स्मृति' के रूप में वर्णन किया गया है।[2] स्मृति के इस

---

1. न खल्वितीन्द्रिया शक्तिरस्माभिरुपगम्यते
   यया सह न कार्य्यस्य सम्बन्ध ज्ञान सभव । न्याय मजरी पृ० 69 ।
2. सुखादि मनसा बुद्ध्या, कपित्थादि च चक्षुषा ।
   तस्य कारणता तत्र मनसैवावगम्यते ।
   सम्बन्ध-ग्रहण-काले यत्तत्कपित्थादिविषयमक्षज

सहकारि-कारण से नारंगी के मधुर होने की विवेचना भी प्रत्यक्ष का स्पष्ट फल है। यद्यपि यह मत बुद्धि से जाना जाता है कि नारंगी सुखकर मधुर पदार्थ है, पर यह प्रक्रिया इन्द्रिय सम्पर्क के कारण प्रारम्भ हुई और इस ज्ञान का स्रोत इन्द्रिय सम्पर्क है। अतः यह ज्ञान प्रत्यक्ष की परिभाषा में स्वीकार किया जाएगा। प्रत्यक्ष की मुख्य उपाधि इन्द्रिय सम्पर्क है। यह सम्पर्क न केवल विषय वस्तु, उसके विशिष्ट सामान्य और सार्वत्रिक गुणों को ही ग्रहण करता है वरन् उसके 'अभाव' को भी दृष्टिगत करता है। यदि किसी वस्तु में ऐसे गुण का वर्णन किया जाए जो उसमें नहीं है तो वह प्रत्यक्ष भ्रान्तिमूलक होगा, उसे प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में वह प्रत्यक्ष ही नही है जो ऐसा गुण भ्रान्ति से देखता है जो वस्तु विशेष में है ही नही (अतस्मिंस्तदिति) इसी प्रकार 'प्रमा' (सत्यज्ञान) वह है जो वस्तु को उस स्वरूप और गुण में प्रस्तुत करती है जो उसमें है जैसाकि उल्लेख है '(तद्वति तत्प्रकारकानुभवः' ।[1] प्रत्यक्ष भ्रान्ति में इन्द्रियों का सम्पर्क तो सही विषय-वस्तु से ही होता है परन्तु अन्य परिस्थितियों और उपाधि कारणों से (वातावरण दोष से) उसके गुण स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। अन्य अप्रासंगिक बाह्य प्रत्यक्षों के कारण ही वस्तु विशेष को अन्य रूप में देखने की भ्रान्ति उत्पन्न होती है जैसे सूर्य रश्मियों को मरुभूमि में देखने पर नदी की भ्रान्ति होती है। इसमें दृष्टि सम्पर्क वास्तव में सूर्य रश्मियों से ही होता है, इस निर्विकल्प अवस्था में कोई भ्रान्ति नही होती पर दूसरी सविकल्प अवस्था में, विनिश्चयन करते समय बालू की चमक के गुण से जल के इसी गुण से एकरूपता होने के कारण नदी की भ्रान्ति होती है।[2] जयन्त का कथन है कि इन्द्रिय दोष से अथवा उसी प्रकार की वस्तु की स्मृति से जो वस्तु देखी जा रही है, उसमें पूर्व वस्तु के गुणों का निक्षेप हो जाता है और इस प्रकार भ्रम हो जाता है।[3] मनोभ्रान्ति में इन्द्रिय सम्पर्क आवश्यक नहीं है। अप्रासंगिक स्मृतियों के स्फुरण मात्र से ऐसी भ्रान्ति होती है।[4] मानसिक भ्रान्ति के इस सिद्धान्त को 'विपरीत ख्याति' या 'अन्यथा ख्याति' कहते हैं। जो मनोकल्पना के रूप में पहले से ही स्थित था वह विषय वस्तु के रूप में दिखाई देने लगता है—"हृदये-परिस्फुरतोअर्थस्य वहिरवभासनम्।"[5] उत्तरकालीन वैशेषिक जिसकी प्रशस्तपाद

ज्ञानं तदुपादेयादिज्ञानफलमिति, भाष्यकृतश्चेतसि स्थितम् सुख-साधनत्व-ज्ञानमुपादेय ज्ञानम्। न्याय मंजरी, पृ० 69-70।

1. इस प्रसंग में उद्योतकर की 'न्याय वार्तिक' पृ० 37 और गंगेश रचित तत्त्वचिन्तामणि पृ० 40 देखिए। विविलिओथीका इन्डिका।
2. इन्द्रियेणालोच्य मरीचिन उच्चावचमुच्चलतो निर्विकल्पेन गृहीत्वा पश्चात् तत्तोपधा तदोपात विपर्य्येति, सविकल्पकोत्य प्रत्ययो भ्रान्तो जायते तस्माद्विज्ञानस्य व्यभिचारो नार्थस्य।
3. न्याय मंजरी पृ० 88।
4. न्याय मंजरी पृ० 89-184।
5. न्याय मंजरी पृ० 184।

और श्रीधर ने व्याख्या की है, इस सम्बन्ध में न्याय से सहमत है कि 'भ्रम' (न्याय) अथवा 'विपर्यय' (वैशेषिक) की अवस्था में इन्द्रियों का सम्पर्क सदैव सही वस्तु से ही होता है परन्तु किसी अन्य के गुणों को उस वस्तु में स्थापित कर देने से यह भ्रम उत्पन्न होता है।[1] न्याय प्रत्यक्ष को 'निर्विकल्प' और सविकल्प इन दो भागों में विभाजित करता है जैसा पूर्व प्रसग में स्पष्ट किया जा चुका है। वाचस्पति का कथन है कि पहली अवस्था मे वस्तु का विशेष वस्तु के रूप में ज्ञान होता है अर्थात् उसके व्यक्तिगत रूप का वोध होता है। इस अविकल्प या निर्विकल्प अवस्था में उसके विशिष्ट गुण का ही वोध नही होता वरन् जाति आदि सार्वत्रिक सामान्य गुणो का भी वोध होता है, उसके रूप, रग एव रूपत्व आदि का एक दृष्टि से वोध हो जाता है, परन्तु वलपूर्वक यह कहने के लिए कि यह नारगी है, सविकल्प अवस्था की आवश्यकता होती है जहाँ नामादि का विनिश्चयन होता है। अर्थात् प्रथम दृष्टि में सारे विषय का एक विहगम अवलोकन हो जाता है पर वस्तु और उसके गुण का निश्चित सम्बन्ध, विशेष्य विशेषण सम्बन्ध का अवगाहन नहीं हो पाता "जात्यादिस्वरूपावगाही न तु जात्यादीनामिथो विशेषणविशेष्य-भावावगाहीति यावत्।"[2] वाचस्पति का मत है कि प्रथम अवस्था में जहाँ प्रत्यक्ष दर्शन केवल विहगम दृष्टि तक सीमित रहता है, न केवल वालक और मूक व्यक्ति इस निर्विकल्प प्रत्यक्ष की उपलब्धि कर सकते हैं अपितु जन साधारण भी ऐसा कर सकते हैं क्योंकि सविकल्प अवस्था, जिसमें सस्कार युक्त विवेचन की आवश्यकता होती है प्रत्यक्ष वोध का दूसरा चरण है।[3] श्रीधर वैशेपिक मत की व्याख्या करते हुए वाचस्पति के उपर्युक्त मत से सहमत हैं। श्रीधर के मत के अनुसार प्रथम निर्विकल्प दर्शन मे जात्यादि स्वभाव के साथ ही गुण आदि अन्तर भी दृष्टिगत होता है पर इस अवस्था मे पहले देखे या जाने हुए विपय की स्मृति के न होने से भेदाभेद विवेचन नही हो पाता जो केवल तुलनात्मक 'आलोचना' से ही हो सकता है। अत. जो गुण, जाति आदि की प्रथम अवस्था मे प्रत्यक्ष होता है उसका ज्ञानक्रम मे निश्चित स्थान नहीं हो सकता जो विवेक द्वारा वस्तुओ के अन्तर के अनुसन्धान द्वारा ही सविकल्प अवस्था में होता है।[4] वाचस्पति

---

1 न्याय कदलि पृ० 177-181 "शुक्ति-सयुक्तेनेन्द्रियेण दोपासहकारिणा रजत-सस्कार सचिवेन सादृश्यमनुरुन्धता शुक्तिकाविपमो रजताध्यवसाय कृत।"

2 तात्पर्य टीका पृ० 82 और पृ० 91। "प्रथममालोचितोर्थ सामान्य-विशेपवान्।"

3 तात्पर्य टीका पृ० 84 तस्माद्व्युत्पन्नस्यापि नामधेय स्मरणाय पूर्वमेपितव्यो, विनैव नाम ध्येयमर्थं प्रत्यय।

4 'न्याय कदलि' पृ० 189 'अत सविकल्पमिच्छता निर्विकल्पकमप्येपितव्यम् तच्च न सामान्य मात्रम् गृह्णाति भेदस्यापि प्रतिभासनात्। नापि स्वलक्षणमात्रम् सामान्याकारस्यापि सवेदनात् व्यक्त्यन्तरदर्शने प्रतिसधानाच्च। किन्तु सामान्यम् विशेपञ्चोभयमपि गृह्णाति यदि परमिद सामान्यमय विशेप इत्येव विविच्य न प्रत्येति वस्त्वन्तरानुसन्धानविरहान् पिण्डान्तरानुवृत्तिग्रहणाद्धि सामान्यम् विविच्यते, व्यावृत्ति-ग्रहणादविशेपोयमिति विवेक।

ने अपने मत में तुलनात्मक आलोचना के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। 'सविकल्प' अवस्था में सुनिश्चित विशेष विशेष्य सम्बन्ध और नाम आदि विनिश्चयन के पश्चात् स्पष्ट ज्ञान होता है, ऐसा कहा है। उत्तरकालीन न्याय लेखक, जो गंगेश के मत को अधिक मान्य समझते हैं, इस सम्बन्ध में एक और व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार निर्विकल्प अवस्था केवल वस्तु विशेष की विशेषता का ज्ञान है जो विशेष्य या विशेषण से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। परन्तु इसका परीक्षण अनुभव से नही हो सकता। निर्विकल्प अवस्था प्रत्यक्ष बोध के क्रम में एक निश्चित युक्तिसगत चरण है, यह कोई मनोवैज्ञानिक दशा नही है। परन्तु इस अवस्था को जिसे केवल युक्ति से ही जाना जाता है, सहज ही नही भुलाया जा सकता। किसी भी वस्तु का ज्ञान, उसके विशेषणो के पूर्व ज्ञान के अभाव मे नही हो सकता। उसकी विशिष्टता का ज्ञान होना आवश्यक है जैसा कहा है–विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानं प्रति हि विशेषण-तावच्छेदकप्रकारम् ज्ञानं कारणम्।[1] इस प्रकार इस निश्चित निर्धारित ज्ञान के पूर्व कि यह गाय है एक अनिर्धारित अवस्था आती है, जिसमें अनिर्धारित असम्बन्धित वैशिष्ट्य का ही ज्ञान होता है जो जाति आदि के बोध से पृथक् है—'यज्ज्ञानं जात्यादि रहितम् वैशिष्ट्यनव-गाहि निष्प्रकारकम् निर्विकल्पकम्।[2] लेकिन इस अवस्था की अनुभूति हमें भूत मे नहीं हो पाती। यह एक प्रकार से 'अतीन्द्रिय' अवस्था है जो केवल तर्क या युक्ति से जानी जाती है। यह तर्क की प्रक्रिया में विशेषण विशेष्य को सम्बन्धित करने वाली प्रकृति है जो साध्य की कल्पना के साथ जुडी हुई है। अपनी पुस्तक न्याय-सिद्धान्त मुक्तावली में विश्वनाथ का कथन है कि 'वह ज्ञान बोध जिसमे परस्पर सम्बन्ध स्थापित नही किया जाता, प्रत्यक्ष मैं जानता हूँ कि 'यह घड़ा है', इस स्वरूप में होता है। यहाँ बोध का सम्बन्ध जानने वाले के साथ है, घड़े के साथ है। फिर घड़े का सम्बन्ध घड़े पर (पात्रत्व) से है। यह पात्रत्व ही घड़े का वैशिष्ट्य है। यह पात्रत्व ही मुख्य विषय एवं घट की विशेपता ('विशेपणतावच्छेदक') है। घडे का वैशिष्ट्य ही उसकी अन्तर्वस्तु है, उसके अभाव मे हमे घड़े का पूर्ण प्रत्यक्ष नही हो सकता।[3] परन्तु घडे के प्रत्यक्ष बोध के पूर्व निर्विकल्प अवस्था आवश्यक है, इसको हम अनुभूति में से नही देख पाते पर युक्ति से सहज ही समझ सकते हैं।

न्याय की नवीन और प्राचीन सभी शाखाओं ने सविकल्प प्रत्यक्ष को स्वीकार किया है जिसको बौद्ध दर्शन नही मानता। न्याय के अनुसार द्रव्य (वस्तु) क्षणिक स्वभाव के नही होते। सभी द्रव्यो की अपनी-अपनी विशेषता है जिनके आधार पर उनकी जाति का निर्धारण होता है। यह तभी हो सकता है जबकि उनके गुणो का स्थायित्व हो। इस प्रकार वस्तुओ के प्रत्यक्ष-दर्शन के आधार पर सचित जाति कल्पना मिथ्या नही हो सकती। बौद्ध मत इसके विपरीत है। उनका मत है कि 'सविकल्प' प्रत्यक्ष की भ्रांति का कारण यह है कि

1. तत्त्व चिन्तामणि पृ० 812।
2. तत्त्व चिन्तामणि पृ० 809-
3. 'भाषा परिच्छेद कारिका' पर 'सिद्धान्त मुक्तावली' पृ० 58 देखिए।

हम वस्तुओं मे भ्रम के कारण 'जाति', 'गुण', 'किस्म', 'नाम' और 'द्रव्य' की कल्पना कर लेते हैं ।[1] जाति और जिसकी जाति है, वह एक दूसरे से पृथक् वस्तु नही है, इसी प्रकार द्रव्य और गुण पृथक् न होकर एक ही अस्तित्व है, अत किसी वस्तु के विशेषण की पृथक् से वात करना मिथ्या विचार है। इसी प्रकार गति और गति करने वाली वस्तु का कोई भेद नही किया जा सकता। यद्यपि नाम वस्तु से भिन्न होता है पर नाम से ही वस्तु जानी जाती है और उन दोनों की समरूपता है। पहले तीन आक्षेपो के सम्वन्ध मे यह कहा जा सकता है कि वौद्ध और न्याय वैशेषिक के सत्ता मीमासीय दृष्टिकोण का अन्तर है। हम यह भली-भाँति जानते हैं न्याय वैशेषिक जाति, गुण क्रिया को द्रव्य से भिन्न मानते हैं अत वस्तु के विशिष्ट गुणो के रूप मे उनकी आलोचना और उसके द्वारा सविकल्प अवस्था मे वोध निर्धारण प्रक्रिया को अनुचित नही समझा जा सकता। चौथे आक्षेप के सम्वन्ध मे वाचस्पति का मत है कि किसी वस्तु को देखकर उसके सम्वन्ध मे पूर्व स्मृति के उदय होने से और उस पूर्व सस्कार के आधार पर उस वस्तु के विनिश्चयन मे कोई भ्राति नही होती। यदि यह समझ लिया जाए कि नाम और वस्तु एक ही नही है अपितु नाम वस्तु के वाद ग्रहण किया जाता है तो फिर यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि पूर्व सस्कार के आधार पर यह ध्यान आ जाएगा कि इस प्रकार, गुण रूप वाली वस्तु ने इस प्रकार का नाम प्राप्त किया है और समरूपता होने से इस वस्तु का भी यही नाम होना चाहिए। लेकिन वौद्धो का एक और आक्षेप है कि ऐसा कोई कारण नही है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि जिस वस्तु को इस समय देखा जाता है वह वही है जिसे पहले देखा था या उन दोनों की समरूपता है क्योंकि प्रत्यक्ष यह उद्देश्य ही नही है कि किसी प्रकार की समरूपता स्थापित की जाए। वाचस्पति का कथन है कि स्मृति या पूर्व सस्कार के आधार पर प्रत्यक्षवोध का यदि यह उद्देश्य मान भी लिया जाये तो कोई हानि नही है क्योकि जव इन्द्रिय सम्पर्क की मुख्य विषयवस्तु उपस्थित है तो समरूपता का प्रत्यक्ष इसके फलस्वरूप ही मानना चाहिए। चाहे वह सहकारी कारण के रूप मे ही हो। लेकिन वौद्ध पुन आक्षेप करते हैं पूर्व अनुभव उस समय, स्थान और काल का अग है, उस स्मृति को प्रस्तुत क्षण की अनुभूति के साथ जोड देना उचित नही प्रतीत होता। वाचस्पति का उत्तर विशेष सन्तोषजनक नही है क्योकि यह अन्त मे उस सीधे प्रत्यक्षवोध के आधार की ओर सकेत करता है जिसे वौद्धो ने अमान्य समझा है।[2] अन्त मे यह स्पष्ट है कि न्याय वैशेषिक सविकल्प प्रत्यक्ष को अमान्य नही समझते हैं और प्रत्यक्ष दर्शन की क्रमिक विकास की प्रक्रिया का वुद्धिसगत विश्लेषण करते हैं। वेदान्त की भाँति वह यह भी नही मानते थे कि सही प्रत्यक्ष वह है जो पूर्व अर्जित ज्ञान का आश्रय न

---

1 न्याय मजरी पृ० 93-100 'पच चैते कल्पना भवन्ति-जातिकल्पना, गुण-कल्पना, क्रिया-कल्पना, नाम-कल्पना, द्रव्य-कल्पना चेति, तास्च क्वचिद्भेदेऽपि भेदकल्पनात् क्वचिच्च भेदेप्यभेदकल्पनात् कल्पना उच्यन्ते'। धर्मकीर्ति की प्रत्यक्ष-सिद्धान्त व्याख्या पृ० 151-4 इस पुस्तक मे भी 409-10 देखिए।

2 'तात्पर्य टीका' पृ० 88-95।

लेकर, जो वोध इन्द्रिय सम्पर्क से वर्तमान में होता है उसी को प्रस्तुत करे। न्याय वैशेषिक के अनुसार ज्ञानोपलब्धि की विविधता का मूल कारण, कारण सामग्री की विविधता है।

न्याय के अनुसार मन (चित्त) छठी ज्ञानेन्द्रिय है। यह मन सुख, दुःख, राग, विराग और इच्छा के सम्पर्क मे आता है। उत्तरकालीन नैयायिक तीन प्रकार के अन्य अतीन्द्रिय सम्पर्क का उल्लेख करते हैं (1) सामान्य लक्षण, (2) ज्ञान लक्षण, (3) योगज (अद्भुत)। सामान्य लक्षण के द्वारा जव हम किसी विशेष वस्तु के सम्पर्क में आते हैं तो हम 'अलौकिक' ढग से उस जाति की सभी वस्तुओं से एक सामान्य सम्पर्क स्थापित कर लेते हैं। जैसे जव किसी एक स्थान पर धुआं देखते हैं तो उसके माध्यम से धुएँ से सम्वन्धित सारे सार्वत्रिक जात्यादि गुणों के ध्यान के साथ ही, हमारी नेत्रेन्द्रिय सामान्यतया अलौकिक रूप मे सारे ही धुएँ को दृष्टिगत कर लेती हैं। ज्ञान लक्षण के द्वारा हमको जव वस्तु विशेष के किसी गुण का एक इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान होता है तो हम अन्य इन्द्रियों के प्रत्यक्ष को स्वतः ही संलग्न कर लेते हैं। उदाहरण के लिए जव हम चंदन के काष्ठ खंड को देखते हैं तो हमारी दृष्टि केवल उसकी पीत आभा को देखती है परन्तु उसके साथ ही हम उसके गन्ध का भी प्रत्यक्ष अनुभव कर लेते हैं यद्यपि हमारी घ्राणेन्द्रिय के सम्पर्क में वह श्रीकाष्ठ (चन्दन) नही आया है। यह अतीन्द्रिय सम्पर्क है जिसे ('अलौकिक सन्निकर्ष') नैयायिकों ने 'ज्ञान लक्षण' के नाम से वर्णित किया है। परन्तु जो ज्ञान इस प्रकार प्राप्त होता है उसे वे प्रत्यक्ष ज्ञान मानते हैं।[1]

सुख और दुःख ज्ञान से भिन्न हैं। ज्ञान कल्पना, वोध और प्रकाश का साधन है परन्तु सुख से किसी प्रकार का वोध नही होता। सत्य तो यह है कि सुख, दुःख का वोध भी ज्ञान के द्वारा होता है। सुख, दुःख स्वयं अपने आपको प्रकट करने वाले (स्वप्रकाशी) भी नही हैं। स्वयं ज्ञान भी इस संज्ञा में नहीं आता। यदि सुख स्वयं प्रकाशित होता तो वह सवको एक ही स्वरूप में दिखाई देता। परन्तु एक ही वस्तु एक व्यक्ति के लिए सुख और अन्य के लिए दु.खमय होती है। तर्क के लिए यदि यह मान भी लिया जाए कि ज्ञान ही

---

1. 'कारिका' 63 व 64 पर 'सिद्धांत मुक्तावली' का मत देखिए। ध्यान देने योग्य वात यह है कि गंगेश ने 'न्याय सूत्र' में दी हुई 'प्रत्यक्ष' की परिभाषा को अस्वीकार कर दिया। उनके मत से प्रत्यक्ष वह वोध है जिसे वुद्धि प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण करती है। उनके मत से इन्द्रिय सम्पर्क की पुरानी परिभाषा से अन्योन्याश्रय दोष द्वारा तर्क हानि होती है। तत्त्व चिन्तामणि (पृ० 538-546)। यद्यपि वह ये मानते हैं कि इन्द्रिय सम्पर्क वुद्धि के द्वारा वोध का कारण है पर वह परिभाषा में शामिल नहीं किया जाना चाहिए। वह इन्द्रिय सम्पर्क के छः भेद भी स्वीकार करते हैं जिनका वर्णन सर्वप्रथम उद्योतकर ने किया है।

स्वय सुख और दु ख के रूप मे प्रकट होता है तो सुख और दु ख की अनुभूतियों मे अन्तर आवश्यक है। अत एक अवस्था में ज्ञान सुख के साथ और दूसरी मे दु ख के साथ सलग्न था। जो वस्तु सलग्न है वह सुख-दु ख से भिन्न होनी चाहिए, अत स्पष्ट है कि सुख और दु ख ज्ञान नहीं है। वास्तविक तथ्य यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियो के सयोग से सुख और दु ख होता है जो स्मृति अथवा प्रत्यक्ष के रूप मे प्रकट होता है। धर्म और अधर्म, सुख और दु'ख की उत्पत्ति मे सहकारी कारण हैं।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि योगियो को इन्द्रियो के परे दूरस्थ वस्तुओ और घटनाओं का प्रत्यक्षवोध सहज ही हो जाता है। ध्यान के द्वारा वह इस शक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। यह चित्त को एकाग्र कर सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओ और भविष्य की गतिविधियों को देख लेने में समर्थ होते हैं। कभी-कभी हमे भी भविष्य की घटनाओं का ऐसा भान हो सकता है जो वाद मे जाकर सही सिद्ध हो। जैसे "कल मेरा भाई आएगा" और वह सच निकले। यह एक प्रकार की विशिष्ट अन्तर्दृष्टि है। यह 'प्रतिभान ज्ञान' कहलाता है। यह मन का प्रत्यक्ष-वोध है। परन्तु यह मानस प्रत्यक्ष से भिन्न है। मानस प्रत्यक्ष में हम पूर्व प्रत्यक्ष की स्मृति के आधार पर किसी वस्तु के वर्तमान प्रत्यक्ष में पहले जाने हुए गुणो को प्रत्यक्ष देखने लगते हैं। जैसे गुलाव के फूल को देखने पर सुगन्ध का प्रत्यक्ष, सुगन्ध न सूघते हुए भी पूर्व स्मृति के ही आधार पर होता है। पूर्व प्राप्त ज्ञान को स्मृति से पुन जीवित कर वर्तमान के साथ नियोजित कर देना ही 'मानस प्रत्यक्ष' है। वेदान्तियों के मत से यह केवल 'अनुमान' की प्रक्रिया है। परन्तु भविष्य की घटनाओ को प्रत्यक्ष देखना 'प्रतिभा प्रत्यक्ष' कहलाता है।

जब किसी वस्तु का वोध होता है तो वह साधारणतया वस्तुनिष्ठ होता है। उदाहरण के लिए हमको वोध होता है—'यह एक घडा है।' पर फिर हम इसका सम्वन्ध अपने साथ करते हुए सोचते हैं—'मैं इसे जानता हूँ।' इस दूसरी क्रिया में मन पुन उस घडे के पास लौटकर एक व्यक्तिनिष्ठ सम्वन्ध स्थापित करता है। यह दूसरा 'आत्मवोध' 'अनुव्यवसाय' कहलाता है। सारा व्यावहारिक कार्य, इस 'अनुव्यवसाय' के आधार पर ही सम्पन्न होता है।[1]

---

1 उत्तर न्याय का यह सिद्धात कि वोध के साथ आत्मनिष्ठ सम्पर्क दूसरे क्षण में होता है' प्रभाकर के 'त्रिपुटी-प्रत्यक्ष' से भिन्न है। 'त्रिपुटी-प्रत्यक्ष' सिद्धात के अनुसार प्रत्यक्षवोध में, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनो का एक ही वोधात्मक क्षण मे सामजस्य होता है। गगेश के अनुसार 'व्यवसाय' (निर्धारक वोध) केवल वस्तु का वोध देता है। 'मैं इस वस्तु को जानता हूँ' यह दूसरी प्रतिक्रिया है और 'व्यवसाय' के पीछे आने से 'अनु'-'व्यवसाय' कहलाती है—'इदमहं जानामीति व्यवसाये न भासते तदवोध-केन्द्रीय-सन्निकर्षाभावात् किन्त्विदं विषयक-ज्ञानत्व-विशिष्टस्य ज्ञानस्य वैशिष्ट्यमात्मनि भासते, न च स्वप्रकाशे व्यवसाये तादृश स्वस्य वैशिष्ट्य भासितु-

अनुमान

प्रमाण का दूसरा मुख्य साधन 'अनुमान' है। किसी वस्तु के 'लिंग' (विशिष्ट चिह्न) के आधार पर निश्चित मन्तव्य स्थापित करना ही 'अनुमान' है। उदाहरण के लिए किसी पर्वत पर उठते हुए धुएँ को देखकर यह अनुमान होता है कि अग्नि के विना धुआं नही हो सकता। अत पहाड़ी पर अग्नि होनी चाहिए। इस उदाहरण में धूम्र अग्नि का 'लिंग' अथवा 'हेतु' है। जिसके सम्बन्ध मे मन्तव्य स्थापित किया जाता है वह 'पक्ष' होता है। यहा पर पहाड़ी पक्ष है। इसमे जो मन्तव्य स्थापित किया गया है (अर्थात् अग्नि) 'साध्य' है। सत्य 'अनुमान' के लिए 'पक्ष' मे 'लिंग' का होना आवश्यक है, साथ ही 'पक्ष' से समता रखने वाली अन्य सब वस्तुओं मे साध्य की स्थिति 'सपक्षसत्ता' (पक्ष की समरूप स्थिति मे साध्य का होना) सभव होनी चाहिए। 'लिंग' साध्य के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु मे नही होना चाहिए अर्थात् जहां 'साध्य' की स्थिति नही है वहाँ 'लिंग' नही पाया जाना चाहिए। न्याय के शब्दों मे 'विपक्ष व्यावृत्ति' (विपक्ष में स्थिति नही) होनी चाहिए। 'विपक्ष' वह है जिसमे साध्य नही है। जहां साध्य नही वहा 'लिंग' भी नही होना चाहिए। 'अनुमान' के आधार पर जो मन्तव्य स्थापित किया जाये वह ऐसा होना चाहिए कि वह 'प्रत्यक्ष' से अप्रमाणित न हो। अनुमान 'शास्त्र' के विरुद्ध भी नही होना चाहिए—इसको 'अवाधित विषयत्व' होना चाहिए कि जिससे विपक्ष के मत की पुष्टि से भी निष्कर्ष निकलता हो, अर्थात् 'असत् प्रतिपक्ष' वाला हेतु नहीं होना चाहिए। उपर्युक्त उपाधियों में एक की भी कमी होने पर वह हेतु अनुमान प्रमाण द्वारा सत्य का विनिश्चयन करने में समर्थ नही हो सकेगा और इस प्रकार 'हेत्वाभास' उत्पन्न हो जाएगा। 'हेत्वाभास' का अर्थ है—हेतु का मिथ्या आभास, जो वास्तव मे हेतु नही है उसको भ्राति से हेतु मानना। इससे सही अनुमान पर नही पहुँचा जा सकता। उदाहरण के लिए यह 'अनुमान' कि 'ध्वनि या शब्द अनन्त है क्योकि यह दिखाई देता है', असत्य है क्योंकि स्थूल नेत्रो से दीखना (दृश्यता) ध्वनि का गुण नही है—यहां पक्ष का जो लिंग है हा नहीं उसके आधार पर अनुमान किया गया है अतः यह अप्रामाणिक है।[1] इस प्रकार के हेत्वाभास को 'असिद्ध-हेतु' कहते हैं। दूसरे प्रकार का हेत्वाभास 'विरुद्ध हेतु' है। उदाहरण के लिए कहा जाए कि शब्द शाश्वत है क्योकि इसकी उत्पत्ति होती है यहाँ यह हेतु 'उत्पत्ति होती है' साध्य के विपरीत पक्ष मे

मर्हति, पूर्वं विशेषणस्य तस्याज्ञानात्। तस्मादिदमहं जानामीति न व्यवसायः किन्तु अनुव्यवसायः 'तत्त्वचिन्तामणि' पृ० 795।

1. न्याय शब्द की अनन्तता में विश्वास नही रखता जैसाकि मीमासा का मत है। मीमांसा के अनुसार ध्वनि या नाद नित्य या अनन्त अर्थात् कभी नष्ट न होने वाले तत्त्वो मे से है जो विशेप अवस्था मे कर्णेन्द्रिय के संयोग से प्रकट मात्र होता है। जैसे कान के निकट वाद्य का वजना या गले की मांसपेशियों की गति होने से शब्द का प्रकट होना।

'विपक्ष' में पाया जाता है। विपरीत पक्ष है 'अशाश्वत' होना। यह सर्वविदित है कि जितनी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं वे अशाश्वत हैं। एक अन्य हेत्वाभास 'अनैकान्तिक हेतु' है। जैसे, कहा जाए कि शब्द शाश्वत है क्योंकि यह ज्ञान की वस्तु है। ज्ञान की वस्तु होना 'प्रमेयत्व' यहाँ पर हेतु है परन्तु यह शाश्वत (साध्य) और अशाश्वत (जो साध्य नही है) उन दोनो मे पाया जाता है अत साध्य मे यह हेतु ऐकान्तिक नही है। अर्थात् हेतु की सह-व्याप्ति केवल साध्य मे ही हो ऐसी बात नही है। यह हेतु 'अनेकान्तिक' हुआ। चतुर्थ हेत्वाभास 'कालात्ययापदिष्ट' है। अग्नि उष्ण नही है क्योकि यह घडे के समान ही मनुष्य द्वारा उत्पन्न की जाती है। यहाँ प्रत्यक्ष अनुभव से स्पष्ट मालूम होता है कि अग्नि उष्ण होती है अत हेतु दोषपूर्ण (सदोष) है। पाचवा हेत्वाभास 'प्रकरणसम' है। इस हेत्वाभास मे एक ही समय में दो विरोधी हेतु दो विरोधी अनुमान के लिए उपलब्ध होते हैं जैसे, ध्वनि घडे के समान ही क्षणिक है क्योकि इसमे कोई शाश्वत गुण नही पाए जाते हैं और ध्वनि आकाश के समान ही अनन्त, शाश्वत है क्योकि आकाश से कोई अशाश्वत तत्त्व या गुण नहीं पाया जाता।

चार्वाक आदि ने अनुमान को प्रमाण मानने मे अनेक आपत्तियाँ उपस्थित की थी। उनके उत्तर मे बौद्ध नैयायिको का कथन है कि अनुमान के आधार पर जो तथ्य निरूपित किए जाते हैं वे प्रामाणिक हैं। अनुमान के आधार पर जो तर्क किया जाता है वह प्रकृति की दो प्रकार की एकरूपता के समवाय के अनुसार है—'तादात्म्य' (आवश्यक समरूपता) और 'तदुत्पत्ति' (कारण कार्य अनुक्रम)। 'तादात्म्य' वर्ग और जाति का सम्बन्ध है, यह कारण कार्य सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए हम जानते हैं कि सारे नीम वृक्ष हैं। क्योकि यह नीम है अत यह वृक्ष होना चाहिए। यहाँ वृक्ष और नीम जाति और वर्ग सम्बन्ध से जुडे हुए हैं। यहाँ वृक्ष के जाति गुण और नीम के वर्ग गुण मे तादात्म्य है। तदुत्पत्ति मे कारण कार्य अनुक्रम की एकरूपता पाई जाती है जैसाकि अग्नि से धुएँ का सम्बन्ध।

न्याय का मत है कि अनुमान लिंग अथवा हेतु के सर्वदा साहचर्य नियम अर्थात् व्याप्ति के आधार पर किया जाता है, तादात्म्य एव तदुत्पत्ति सम्बन्ध के कारण नहीं किया जाता। अनुमान प्रमाण की सत्यता का आधार लिंग (हेतु) का साध्य के साथ अपरिवर्तनीय सम्बन्ध है। यह 'नियम' ही प्रामाणिकता का कारण है जिसको पूर्व वर्णित पच उपाधियो से और भी अधिक सुनिश्चित कर दिया गया है। वृक्ष और नीम में आवश्यक समरूपता के कारण यदि यह अनुमान किया जाता है कि क्योकि यह नीम है इसलिए यह वृक्ष है तो इसी समरूपता के आधार पर (तादात्म्य के अनुसार) इसके विपरीत यह सत्य भी होना चाहिए कि क्योकि यह वृक्ष है इसलिए यह नीम होना चाहिए। समरूपता दोनो पक्षो में समान होनी चाहिए। इनके उत्तर में यदि यह कहा जाता है कि वृक्ष के लाक्षणिक गुण नीम में पाए जाते हैं परन्तु नीम के लाक्षणिक गुण वृक्ष में नहीं पाए जाते तो फिर यह तर्क समरूपता पर आधारित न होकर 'लिंगज' (लिंग को धारण करने वाला) के साथ लिंग के अपरिवर्तनीय सम्बन्ध पर निर्भर है जिसे 'नियम' की सज्ञा दी गई है। यह सिद्धान्त कारण-

कार्य अनुमान एवं अन्य अनुमानों[1] की प्रक्रिया को उचित रूप से समझने में सहायक है। इस प्रकार प्रामाणिक अनुमान का आधार उपाधियों से रक्षित 'लिंग' का 'लिंगिन्' (लिंगी) के साथ अविच्छेद 'व्याप्ति' सम्बन्ध है।[2]

कई स्थानों पर हमने यह अनुभव किया कि धूम्र (लिंग) अग्नि (लिंगिन्) के साथ पाया जाता है। अतः हमने यह धारणा बनाई कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि होती है। जब हमने पर्वत पर धुआँ उठते देखा तो हमने धुएँ की अग्नि के साथ 'व्याप्ति' का स्मरण करते हुए यह अनुमान किया कि इस पर्वत पर अग्नि होनी चाहिए। पर्वत पर लिंग (धूम्र) को देखकर अग्नि के साथ इसकी सर्वदा व्याप्ति का स्मरण ('तृतीय लिंग परामर्श') ही अग्नि के अनुमान (अनुमिति) का कारण (अनुमिति कारण) है। धूम्र का अग्नि के साथ सम्बन्ध न्याय की भाषा में 'व्याप्ति' की संज्ञा से जाना जाता है। जब यह सम्बन्ध अन्य अवस्थाओं से या परिस्थितियों में अग्नि के साथ धूम्र की व्याप्ति के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो इसे 'वहिर्व्याप्ति' कहते हैं। पर जब अन्य अवस्थाओं या परि-स्थितियों को दृष्टिगत न करते हुए विश्वासपूर्वक, स्थिति विशेष में धूम्र की व्याप्ति अग्नि के साथ बताई जाती है तो यह अन्तर्व्याप्ति सम्बन्ध कहा जाता है। बौद्ध दार्शनिक सामान्य आदि नहीं मानते अतः वे वहिर्व्याप्ति की कल्पना में विश्वास नहीं रखते अतः वे अनुमान के लिए 'अन्तर्व्याप्ति' को ही प्रामाणिक मानते थे।[3]

अनुमान की प्रामाणिकता का आधार 'हेतु' की 'साध्य' में 'व्याप्ति' है। प्रश्न यह है कि व्याप्ति सम्बन्ध (व्याप्तिग्रह) की सत्यता और जिस अनुभव के आधार पर हमने व्याप्ति विशेष को सामान्य नियम माना है उसकी सत्यता का क्या प्रमाण है। दूसरे शब्दों में, साध्य में जिस व्याप्ति का हमने उल्लेख किया है वह व्याप्ति है या नहीं या उस सम्बन्ध में भ्रांति है। पुन. व्याप्ति नियम की स्थापना का आधार अनुभव और प्रेक्षण है। यह प्रेक्षण पर आधारित अनुभव कहां तक प्रामाणिक है यह भी निश्चय करना आवश्यक है। मीमांसा का मत है कि यदि ऐसा कोई उदाहरण हमारे प्रेक्षण मे नहीं आया है जिसमें धूम्र है पर अग्नि नही है और जितने भी ज्ञात उदाहरण हैं उनमें धूम्र के साथ अग्नि देखी गई है तो फिर इस सिद्धांत का निरूपण किया जा सकता है कि अग्नि में धूम्र की व्याप्ति पाई जाती है। न्याय का मत है कि यह नियम इतना यथेष्ट नहीं है। उपर्युक्त निरूपण के लिए यह भी आवश्यक है कि जहाँ अग्नि नही है वहाँ धूम्र कभी नही पाया गया इस तथ्य को भी प्रेक्षण से सिद्ध किया जाए। दूसरे शब्दों में, इतना ही आवश्यक नही है कि जहाँ-जहाँ धूम्र है वहाँ-वहाँ अग्नि है पर यह भी सत्य होना चाहिए कि जहाँ अग्नि नही है वहाँ धूम्र

---

1. अनुमान पर 'न्याय मंजरी' देखिए।
2. कारण कार्य अनुमान के अतिरिक्त अन्य अनुमान का उदाहरण इस प्रकार है—'सूर्य छिप गया है अतः तारे उदय हो गए होंगे।'
3. मिक्स बुद्धिस्ट ट्रैक्ट्स में रत्नाकर शान्ति द्वारा लिखित 'अन्तर्व्याप्ति समर्थन' देखिए। विब्लिओथीका इंडिका 1910।

भी नहीं हैं। पहली अवस्था 'अन्वय-व्याप्ति' और दूसरी स्थिति 'व्यतिरेक-व्याप्ति' है। लेकिन इतना भी पर्याप्त नही हैं। ऐसा भी सभव हो सकता है कि एकसी अवस्थाओं में जब-जब मैंने धुआं देखा वहाँ गधा भी साथ ही देखा और अन्य एक सी स्थितियो में गधा और धुआ दोनो ही नही देखे, परन्तु इससे गधे और धुएँ मे कारण-कार्य सम्बन्ध अथवा व्याप्ति सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। यह सम्भव हो सकता है कि किसी व्यक्ति ने धूम्र को गर्दभ की अनुपस्थिति मे नही देखा हो अथवा किसी गधे को विना धुएँ की अनुवर्तिता के नहीं देखा हो। इस प्रसंग मे आवश्यक तथ्य यह है कि जब कभी हमने गधे को उपस्थित किया हो तभी धुएँ की उत्पत्ति होती हो और अन्य सब परिस्थितियो के उसी प्रकार रहने पर जैसे गधे को हटाया हो और धुएँ का लोप हो गया हो तभी हम यह कह सकते हैं कि धूम्र और गधे में व्याप्ति-सम्बन्ध है।[1] ('यस्मिन् सति भवन यतो विना न भवनम् इति भूयोदर्शनम्', न्याय मजरी, पृ० 122)।

यह भी सम्भव हो सकता है कि 'अन्वय-व्यतिरेक' के आधार पर हमने जिस हेतु को सत्य समझा हो वह सही नहीं हो और उसके साथ ऐसी अन्य उपाधि सलग्न हो जो वास्तविक रूप में हेतु हो। इस प्रकार हम यह जानते हैं कि गीले इंधन में (आर्द्रेन्धन-सयोग) *अग्नि प्रज्वलित करने पर धुआं होता है। पर हम यह सन्देह कर सकते हैं कि हरे* इंधन मे अग्नि के कारण धुआं नहीं होता। यह धुआं तो किसी राक्षस या प्रेत द्वारा उत्पन्न किया जाता है। परन्तु ऐसे सदेहों का कोई अन्त नहीं है। यदि ऐसे निरर्थक सशयो की ओर ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया जाए तो हमारे सारे कार्यों और क्रियाकलाप में व्यवधान (व्याघात) पड़ जाएगा।[2]

बौद्ध और नैयायिक व्याप्ति कल्पना (व्याप्तिग्रह) के स्वरूप और प्रकार के सबध में लगभग एक मत थे परन्तु बौद्ध दृष्टि से व्याप्ति की प्रामाणिकता का आधार कारण कार्य सम्बन्ध और जाति, वर्ग की समरूपता है। नैयायिक का मत है कि कारण कार्य सम्बन्ध और इस समरूपता के अतिरिक्त भी अन्य अनेक अवस्थाएँ हैं जिनमें अनुमान के द्वारा सत्य निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। उपर्युक्त व्याप्ति अनुमान प्रमाण के विशद क्षेत्र के कुछ प्रसगो को ही प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए 'चन्द्रमा के उदय के साथ समुद्र में ज्वार आता है।' सत्व की समरूपता अर्थात् तात्त्विक रूप से समानता माने विना भी प्रकृति के नियमो मे एक विशेष प्रकार की व्याप्ति पाई जाती है।

कभी-कभी ऐसा भी पाया जाता है कि अनेक विभिन्न कारणो से एक से ही प्रभाव की उत्पत्ति होती है। ऐसी अवस्था में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कौन से कारण से यह फल हुआ है। नैयायिकों का मत है कि यदि ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया जाए तो एक कारण विशेष के फलस्वरूप उत्पन्न प्रमाण मे अन्य कारण द्वारा उत्पन्न प्रभाव में सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट दिखाई देगा। इसके लिए उस विशेष प्रभाव के विशिष्ट गुण लक्षणादि,

---

1 'अनुमान' और 'व्याप्तिग्रह' पर 'तात्पर्यटीका' देखिए।

2. 'व्याप्तिग्रह' पर 'तात्पर्यटीका' और गगेश रचित 'तत्त्वचिंतामणि' देखिए।

वैशिष्ट्य और अन्य सहवर्ती परिस्थितियों को ध्यानपूर्वक देखने की आवश्यकता है। किसी भी मार्ग पर नदी के जल में आधिक्य से अथक भीषण वर्षा से बाढ आ सकती है। परन्तु सूक्ष्म दर्शन द्वारा उन दोनों प्रकारों की बाढ़ों का अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। वर्षा के कारण आई बाढ़ में आस-पास के निवास स्थानों की अवस्था, छोटी-छोटी धाराओं में जल के एकत्रित होने का साक्ष्य, छप्परों से जल का झरना आदि सभी संकेत, कारण को स्पष्ट कर देंगे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि न्याय प्रकृति के नियमों की अपवादहीन एकरूपता के आधार पर अनुभवाश्रित आगमन को ही विश्वसनीय मानता है। बौद्ध केवल कारणता और सत्व समरूपता के सिद्धांतों का आश्रय लेते हैं। अतः उत्तरकालीन न्याय ग्रन्थों में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि हेतु के साथ कोई ऐसी उपाधि संश्लिष्ट नहीं होनी चाहिए जिससे मिथ्या व्याप्ति की भावना का जन्म हो। हेतु का साध्य के साथ अविच्छेद, अपरिवर्तनीय सम्बन्ध होना चाहिये तब ही व्याप्ति प्रामाणिक समझी जा सकती है। यह विश्वास केवल व्यापक अनुभव (भूयोदर्शन) के आधार पर ही सम्भव है।

प्रशस्तपाद अनुमान की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि "अनुमान लिंग के दर्शन से लिंग (धूम्र) के साथ सम्बन्धित वस्तु (अग्नि) का ज्ञान है।" प्रामाणिक लिंग वह है जो 'अनुमेय' (जिसके सम्बन्ध में अनुमान किया जाता है) के साथ संयुक्त है, तो जहाँ-जहाँ 'अनुमेय' पाया जाता है वहाँ अनिवार्य रूप से पाया जाता है और जहाँ अनुमेय नही है वहाँ किसी भी दशा में नही पाया जाता। यह परिभाषा न्याय के द्वारा वर्णित प्रामाणिक हेतु के 'पक्ष सत्व', 'सपक्ष सत्व' एवं 'विपक्षासत्व' की परिभाषा के समान है। प्रशस्तपाद ने एक श्लोक उद्धृत करते हुए पुनः कहा है कि यह व्याख्या कणाद (काश्यप) की व्याख्या के अनुरूप है। कणाद कहते हैं कि हम कार्य से कारण का अनुमान कर सकते हैं, कारण से कार्य का, और एक दूसरे से सम्बन्धित होने की अवस्था में एक से दूसरे का अनुमान कर सकते हैं, अनुक्रम व्याप्ति या इसके विपरीत भी अनुमान कर सकते हैं (iv, II, 1 और 3 i 9) जब हेतु से सहज ही अनुमान कर सकते हैं क्योंकि इसका अनुमेय से बंध, निश्चित ('प्रसिद्धिपूर्वकत्व') सम्बन्ध है। जिस स्थान पर यह निश्चित बंध सम्बन्ध नही होगा, वहाँ अनुमेय में या तो हेतु का अभाव होगा, या उसके साथ किसी प्रकार की व्याप्ति नही होनी चाहिए। (अप्रसिद्ध हेतु) अथवा यह हेतु संदिग्ध होना चाहिए। संक्षेप मे हेतु का अनुमेय से 'प्रसिद्धपूर्वकत्व' सम्बन्ध होना चाहिए। जहाँ यह सम्बन्ध नही है, वहाँ हेतु का अनुमेय में अथवा 'संदिग्धता' होनी चाहिए। उदाहरण के लिए यदि यह कहा जाए कि यह गधा घोड़ा है क्योंकि इसके सीग हैं, तो यह सदोष तर्क होगा क्योंकि घोड़ा और गधा दोनों के ही सींग नही होते। पुनः, यदि मैं यह कहूँ कि यह गाय है क्योंकि इसके सीग है तो यह भी सदोष होगा क्योंकि गाय और सींग की सहव्याप्ति नहीं है। पहला हेत्वाभास पक्ष सत्व और 'सपक्ष सत्व दोनों का उदाहरण है क्योंकि न केवल 'पक्ष' (गधों) के सीग नही पाए जाते पर घोड़े के भी सीग नहीं होते। दूसरा उदाहरण 'विपक्ष सत्व' का है, क्योकि जो गाय नही है उनके भी सीग होते हैं (जैसे, भैंस)। इस प्रकार प्रशस्तपाद, कणाद के दृष्टिकोण को ही अनुमोदित करते हैं। परन्तु प्रशस्तपाद का यह भी मत है कि अनुमान केवल कणाद द्वारा वर्णित वर्गों तक ही सीमित नही है। इसके अन्य भी कितने ही प्रकार है। यह तो केवल थोड़े से दृष्टान्त मात्र हैं। वह अनुमान प्रमाण को दो भागों में विभाजित करता है—पहला 'दृष्ट'

और दूसरा सामान्यतोदृष्ट। 'दृष्ट' (देखी हुई वस्तु मे समानता का साम्य) वहाँ होता है जहाँ पहले देखी हुई वस्तु और इस समय जिस वस्तु के सम्बन्ध में कोई अनुमान किया जा रहा है उसका वर्ग एक ही हो। दृष्ट वस्तु और अनुमेय साम्य के आधार पर अनुमान उसी अवस्था मे सत्य होगा जहाँ वर्ग मे समानता हो। उदाहरण के लिए यह देखकर कि केवल गाय के गले मे ही लटकता हुआ मास का थैला-सा ('सास्ना') होता है, मैं जहाँ कही ऐसी सास्ना देखूं वहा यह अनुमान करूँ कि यह गाय है। परन्तु जब दो विभिन्न वर्ग की वस्तुओ मे किसी एक से गुण (सामान्य गुण) के आधार पर कोई निष्कर्ष निकाल कर अनुमान किया जाता है तो यह 'सामान्यतोदृष्ट' कहलाता है। उदाहरण के लिए यह देख कर कि किसान अपनी मेहनत का फल अच्छी फसल के रूप मे प्राप्त करता है, यह अनुमान करना कि इसी प्रकार यज्ञादि पौरोहित्य कर्म करने का फल भी उत्तम पारितोपिक के रूप मे प्राप्त होगा (अर्थात् उन्हें स्वर्ग सुख मिलेगा)।

जब किसी विद्वान् के द्वारा कोई निष्कर्ष निश्चित कर लिया जाता है तो वह 'स्व-निश्चितार्थ' ऐसे लोगो के लाभ के लिए जो अज्ञानी हैं अथवा सशय मे पडे हैं, पाँच तर्क-वाक्यो द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार पच तर्क-वाक्यो मे प्रस्तुत निष्कर्ष 'परार्था-नुमान' कहलाता है। 'स्वार्थानुमान' और 'परमार्थानुमान' का भेद जैन और बौद्ध दार्शनिको ने किया था। प्रशस्तपाद यद्यपि इन दोनो मे कोई विशिष्ट भेद नही मानते पर यह स्वीकार करते हैं कि जिस वस्तु का अनुमान किया गया है उसे दूसरे कोसमझाने के लिए पाच तर्क-वाक्यों में प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसी अवस्था-से इसे परार्थानुमान कह सकते हैं। लेकिन यह प्रशस्तपाद का कही कोई नवीन अभिमत नहीं है। कणाद ने भी (9 2) इसका उल्लेख किया है (अस्येदम् कार्य-कारणसम्बन्धश्चावयवाद् भवति)।

न्याय दर्शन के अनुसार उपर्युक्त पाँच आधारवाक्य 'प्रतिज्ञा', 'हेतु', 'दृष्टान्त', 'उपनय' और 'निगमन' है। यही वैशेषिक मे 'प्रतिज्ञा', 'निदर्शन', 'अपदेश' 'अनुसधान'और 'प्रत्यामनाय' कहलाते हैं। कणाद 'अपदेश' का ही उल्लेख करते हैं अन्य आधार वाक्यों का कहीं नाम नहीं देते। वैशेषिक दर्शन मे 'प्रतिज्ञा' न्याय के समान ही है और 'निदर्शन' दृष्टान्त से मिलता-जुलता है। पर अन्तिम दो पद अनुसधान और 'प्रत्याम्नाय' एकदम भिन्न हैं। निदर्शन के दो प्रकार हैं—(1) भाव मे साम्य। उदाहरण के लिए 'जिसमें गति है वह द्रव्य है जैसा कि तीर के उदाहरण मे पाया जाता है।' (2) अभाव में साम्य। उदाहरण—जो द्रव्य नही है उसमें गति नही है जैसे—विश्व व्यापक आत्मा।[1] इसी प्रकार प्रशस्तपाद ने

---

1. डा० विद्याभूषण का कथन है कि दिङ्नाग के पूर्व 'उदाहरण' एक परिचित तथ्य के रूप मे स्पष्टीकरण के हेतु प्रस्तुत किया जाता था। जैसे—पर्वत अग्निमय है क्योकि वह धूमाच्छादित है, जैसे रसोई होती है (उदाहरण)। असग ने इसको अधिक तर्क-सगत बनाने का प्रयत्न किया था, परन्तु दिङ्नाग ने इसे सार्वत्रिक तर्क-वाक्य का रूप दे दिया जो मुख्य पद और मध्यम पद के बीच स्थायी सम्बन्ध को प्रकट करता है। उदाहरण के लिए— 'पर्वत अग्निमय है, क्योकि उस पर धुआँ है, जहाँ

पांच तर्क वाक्यों और दृष्टान्त-दोषों की भी व्याख्या की है। वैशेषिक के पांच तर्क वाक्यों के नामों में अन्तिम दो के नाम परम्परागत पदो (नामो) से इतने भिन्न है कि सम्भवतः प्रशस्तपाद ने इन्हें किन्ही अन्य वैशेषिक ग्रन्थ से लिया होगा जो अब लुप्त हो गया है। इससे यह भी स्पष्ट है कि वैशेषिक दर्शन में न्याय से अलग अनुमान की समस्या पर स्वतन्त्र-रूपेण विचार किया जा रहा था। प्रोफेसर कीथ और श्चेरवात्स्की के इस मत में भी कोई सार नही दिखाई देता कि प्रशस्तपाद ने दिङ्नाग के इन विचारों और तर्कों को लिया है क्योकि प्रशस्तपाद स्वयं इस सम्बन्ध मे स्थान-स्थान पर कणाद का उदाहरण देते हैं। इस प्रकार 'निदर्शन' (दृष्टान्त) दोष अर्थात् निदर्शनाभास के सम्बन्ध मे भी यह नही कहा जा सकता कि प्रशस्तपाद दिङ्नाग का ऋणी है जब तक यह सिद्ध नहीं कर दिया जाए कि दिङ्नाग निश्चित रूप से प्रशस्तपाद से पूर्व उत्पन्न हुए थे।[1]

अनुमान मे सबसे मुख्य भाग व्याप्ति के अस्तित्व और स्वरूप का विनिश्चयन है। वात्स्यायन का कथन है कि लिंग को देखकर हेतु (लिंग) और साध्य के सम्बन्ध के पूर्व ज्ञान की स्मृति का अनुमान किया जाता है। उद्योतकर शंका करते हैं कि वर्तमान में हेतु को देखकर अनुमान किया जाता है अथवा अनुमान का आधार साध्य और हेतु के सम्बन्ध की पूर्व स्मृति है। वात्स्यायन का उत्तर है कि दोनों ही अनुमान स्थापित करने मे सहायता देते हैं किन्तु तुरन्त अनुमान तक पहुँचाने वाला 'लिंग-परामर्श' है। 'लिंग-परामर्श' का अर्थ 'पक्ष' में हेतु का एतत्कालीन दर्शन और फिर साध्य के साथ उस हेतु के सम्बन्ध की स्मृति है। अनुमान हेतु-सम्बन्ध की पूर्व-स्मृति मात्र से सम्भव नही होता। इसके लिए हेतु का (विनिश्चयन) निरूपण और उसके साध्य-सम्बन्ध की पूर्व-स्मृति, दोनो आवश्यक हैं—'स्मृत्यानुगृहीतो लिंग परामर्शः।' परन्तु व्याप्ति के स्वरूपादि के विषय में वात्स्यायन ने कोई चर्चा नही की है। 'तादात्म्य' और 'तदुत्पत्ति' का सिद्धात सम्भवतः बौद्ध दर्शन में धर्मकीति ने प्रचलित किया होगा। धर्मकीर्ति का कथन है कि हेतु और साध्य मे सम्बन्ध का मुख्य आधार यह है कि हेतु स्वरूपेण या तो साध्य से समरूप होना चाहिए अथवा साध्य का प्रभाव (फल) होना चाहिए। जब तक इस तथ्य को नही समझा जाएगा तब तक भाव व अभाव के उदाहरण एकत्र करने से इस सम्बन्ध के स्वरूप का ज्ञान नही हो सकता।[2] वाचस्पति इस मत का खंडन करते हुए कहते हैं कि कारण-कार्य सम्बन्ध को इस दृष्टि से

धुआँ होता है वह रसोई के समान अग्निमय होता है।' (इण्डियन लोजिक पृ० 95-96) यह सत्य है कि वात्स्यायन ने इसको अस्पष्ट उदाहरण के तौर पर प्रयोग किया है 'रसोई की तरह' (शब्द. उत्पत्ति-धर्मकत्वाद-नित्यः स्थाल्यादिवत्) लेकिन प्रशस्तपाद ने इसको सही रूप में प्रस्तुत किया है। यह स्पष्टनही है कि प्रशस्तपाद ने इसे दिङ्नाग से लिया है अथवा दिङनाग इस प्रसंग मे प्रशस्तपाद का ऋणी है।

1. न्याय कंदलि पृ० 200-255 और प्रशस्तपाद-भाष्य।
2. कार्य-कारण भावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्। अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्। तात्पर्य टीका, पृ० 105।

भिन्न रूप मे नहीं देखा जा सकता। यदि 'कारणता' (कारणवादिता) का यही अर्थ है कि यह अपरिवर्तनीय तात्कालिक पूर्ववर्तिता है जैसे धुएँ के पूर्व अग्नि की पूर्ववर्तिता तो यह नही कहा जा सकना कि प्रत्येक अवस्था मे धुआँ अग्नि के ही कारण उत्पन्न हुआ था, और यह किमी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं हुआ था। जब तक यह निश्चित नही कर लिया जाता कि कोई अदृष्ट कारण नहीं है तब तक यह भी निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि धुआँ अग्नि से ही उत्पन्न हुआ है। यदि तर्क के लिए यह मान भी लिया जाए कि कारणता का विनिश्चयन हो सकता है तो भी यह नही कहा जा सकता कि कार्य कारण के साथ हुआ है, क्योंकि कारण सदैव कार्य से पूर्ववर्ती होता है। अग्नि के पश्चात् धूम्र दिखाई देता है अत धूम्र को देखकर यही अनुमान लगाया जाएगा कि अग्नि पहले प्रज्वलित हुई होगी फिर धुआँ निकला होगा। इसके अतिरिक्त ऐसी कितनी ही घटनाएँ होती हैं जिनके सम्बन्ध मे एक घटना से दूसरी घटना का अनुमान किया जा सकता है परन्तु उनमे न तो कारण-कार्य-सम्बन्ध होता है, न उनमे सत्य की समरूपता होती है अर्थात् किसी का अन्तर्निहित साम्य नहीं होता है। उदाहरण के लिए आज के सूर्योदय के समय से कल के सूर्योदय के समय का अनुमान किया जा सकता है परन्तु यह धर्मकीर्ति के द्वारा निरूपित किसी विषय के अन्तर्गत नही आता। पुन 'तादात्म्य' (समरूपता) के आधार पर किसी प्रकार का अनुमान नही किया जा सकता, क्योकि एक वस्तु से दूसरी वस्तु का अनुमान (नीम और वृक्ष) किया जाता है, परन्तु यदि दोनो मे तादात्म्य (समरूपता एक ही होना) है तो फिर एक से दूसरे में अनुमान का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार व्याप्ति के स्वरूप को 'तादात्म्य' अथवा 'तदुत्पत्ति' से निरूपित करना कठिन है। एक शका यह भी की जाती है कि कुछ ऐसी अज्ञात परिस्थितियाँ या उपाधियाँ हो सकती हैं जिनके फलस्वरूप अनुमान की प्रामाणिकता मे अन्तर आ जाए। वाचस्पति का मत है कि यदि सूक्ष्म निरीक्षण और प्रेक्षण से किसी ऐसी 'उपाधि' का पता नही चलता तो यह मान लेना चाहिए कि ऐसा कोई दोष नही है और लिंग का साध्य से स्वाभाविक सम्बन्ध है।

उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिकों ने कारण सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए 'पचकारणी' सिद्धान्त को अपनाया था। कारण सम्बन्ध प्रकट करने वाली पाँच उपाधियाँ इस प्रकार हैं—(1) न तो कारण ही दिखाई देता है और न कार्य ही दिखाई देता है अर्थात् कारण-कार्य दोनो का ही बोध नहीं होता (2) करण स्पष्ट दिखाई देता है (3) तत्काल फल दिखाई देता है (4) कारण का लोप हो जाता है (5) तत्काल प्रभाव या फल का लोप हो जाता है। न्याय का मत है कि इस पचकारिणी-सिद्धान्त के आश्रय से भी कारण-कार्य-सम्बन्ध का सभी अवस्थाओ मे निश्चित रूप से बिना किसी अपवाद के निश्चय करना सम्भव नही है तो फिर यह अधिक उचित होगा कि अनुमान को कारण-कार्य-सम्बन्ध की सीमाओ मे न बाँधकर जो स्वाभाविक सम्बन्ध है उसी के आधार पर अध्ययन किया जाए।

प्रारम्भिक न्याय-ग्रन्थो मे अनुमान तीन प्रकार के बताए गए हैं—(1) 'पूर्ववत्' कारण से कार्य (फल) का अनुमान है। जैसे काले घने बादलो को देखकर वर्षा का अनुमान, (2) 'शेषवत्' कार्य अथवा फल के कारण का अनुमान है जैसे नदी मे विशेष जल की वृद्धि

और वाढ़ से उसके ऊपरी क्षेत्र मे वर्षा का अनुमान । (3) सामान्यतोदृष्ट, जहाँ प्रत्यक्ष कारण-कार्य-सम्वन्ध नहीं पाया जाता है, उन सव अन्य अवस्थाओ में अनुमान को सामान्यतोदृष्ट-अनुमान कहते हैं । इन तीन प्रकार के अनुमानों के अतिरिक्त 'न्याय-मंजरी' एक और प्रकार के अनुमान 'परिशेषमान' का उल्लेख करती है । यह हास्यास्पद निष्कर्ष पर पहुँचने का नाम है । इसमे किसी भी वस्तु के लिए कोई भी अन्य मत प्रकट कर दिया जाता है । जैसे चैतन्य आत्मा का गुण है क्योंकि चैतन्य शरीर के अन्य किसी अग में नही पाया जाता क्योकि चैतन्य अन्य और किसी वस्तु में नही पाया जाता अतः यह निश्चित रूप से आत्मा का गुण होना चाहिए । इन सव प्रकारों मे एक समानता पाई जाती है कि सभी में साध्य का अनुमान व्याप्ति के आधार पर किया जाता है जिसे व्याप्ति-नियम कहते हैं । नव्य-न्याय शाखा में अनुमान के तीन प्रकारों की विशेष व्याख्या की गई है । नव्य न्याय के अनुसार ये भेद इस प्रकार हैं : (1) अन्वयव्यतिरेकी (2) केवलान्वयी (3) केवलव्यतिरेकी । 'अन्वय व्यतिरेकी' उसे कहते जहाँ अनेक अवस्थाओं में प्रेक्षण के द्वारा भाव मे और अभाव में व्याप्ति नियम की एकरूपता पाई जाए । दूसरे शब्दों में, जहाँ लिग है वहाँ लिगिन् (साध्य) की उपस्थिति है । जहाँ लिगी नहीं है वहाँ लिग नही है । उदाहरण के लिए जहाँ-जहाँ धूम्र है वहाँ अग्नि है (अन्वय), जहाँ अग्नि नही है वहाँ धूम्र भी नहीं है (व्यतिरेक) । अनुमान स्वयं के लिए (स्वार्थानुमान) या दूसरों को विश्वास दिलाने के लिए (परार्थानुमान) हो सकता है । दूसरी अवस्था में अनुमान की असंदिग्ध स्पष्टता के लिए, इसे पाँच अंगों में (अवयवो) में विभाजित करना पड़ता है—

(1) प्रतिज्ञा (यथा—पर्वत अग्निमय है) ।
(2) हेतु (यथा—क्योंकि पर्वत पर धुआँ है) ।
(3) उदाहरण (जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि होती है, जैसे रसोई में) ।
(4) उपनय (इस पर्वत पर धुआँ है) ।
(5) निगमन (अतः यह पर्वत अग्निमान् है) ।

केवलान्वयी वह अनुमान है जहाँ किसी अभाव के दृष्टान्त में व्याप्ति सम्भव नही है । उदाहरण के लिए इस वस्तु का नाम है क्योकि वह वस्तु ज्ञेय है—'इदं वाच्यम् प्रमेयत्वात् ।' ऐसा कोई उदाहरण नही मिलता जहाँ कोई वस्तु ज्ञेय (जिसको जाना जाता है) न हो । हम ऐसा कोई दृष्टान्त दे नही सकते जहाँ कोई वस्तु ज्ञान का विपय न हो अथवा जिसमें 'प्रमेयत्व' न हो और जिसका नाम (वाच्यत्व) न हो । अतः सिद्ध है कि जहाँ प्रमेयत्व है वहाँ वाच्यत्व होगा । यहाँ व्याप्ति का आधार भाव में समानता है । तीसरा अनुमान 'केवल व्यतिरेकी' है । केवल-व्यतिरेकी अनुमान 'व्यतिरेक' साम्य पर आधारित है अर्थात् इसमें व्याप्ति, अभाव की समानता पर आश्रित है । इसमें भाव-साम्य सम्भव नही है अर्थात् भाव-स्थिति में व्याप्ति नही होती । सरल शब्दों में, यह कहना उचित होगा कि इस अनुमान में व्याप्ति का आश्रय अनुपस्थिति अथवा निषेधात्मक स्थिति में है । जो वस्तु-विशेप की एकाकी (केवली) स्थिति के कारण है, उस वस्तु का विशेप गुण अन्यथा नही पाया जाता । अतः 'व्यतिरेक' की स्थिति भी केवली है । उदाहरण के लिए—पृथ्वी तत्व अन्य तत्त्वों से गन्ध

का विशेष गुण होने के कारण भिन्न है, क्योंकि जो अन्य तत्त्वों से भिन्न नही है वह पृथ्वी तत्त्व नहीं है जैसे जल । यहाँ यह स्पष्ट है कि व्याप्ति निषेधात्मक स्थिति मे है इस प्रकार हमारे अनुमान के आधार का एक ही उदाहरण है कि "पृथ्वी अन्य तत्त्वो से भिन्न है क्योंकि इसमे पृथ्वी तत्त्व के विशिष्ट गुण हैं ।" यह अनुमान केवल वहीं कार्य मे लिया जा सकता है जहाँ हम, एकमात्र वस्तु के विशिष्ट गुण के आधार पर अनुमान करते हैं क्योंकि उस प्रकार का गुण और किसी मे पाया ही नहीं जाता, इसीलिए यह 'केवल-व्यतिरेकी' कहलाता है ।

उपमान अरौ शब्द

न्याय-दर्शन के अनुसार तीसरा प्रमाण 'उपमान' है । वैशेषिक दर्शन इसको स्वीकार नहीं करता । जिस वस्तु से कोई पूर्व परिचय नही है, उसको अन्य वस्तु की उपमा से प्रत्यक्ष होने पर पहचानना ही उपमान है । किसी व्यक्ति से यह सुनकर कि अमुक वस्तु अमुक वस्तु के समान होती है, उस वस्तु को पुन देखने पर उसे पहले न जानते हुए भी, उपमेय के आधार पर उसकी 'वाच्यता' या नामादि को निश्चित करना उपमान है । जैसे किसी नगर-निवासी ने कभी किसी जगली गाय को नही देखा है । वह वन मे जाकर वहा के किसी अरण्यवासी से पूछता है कि जगली गाय ('गवय') कैसी होती है । वह वताता है कि वह गाय के समान ही होती है । तत्पश्चात् 'गवय' को देखकर वह निश्चित करता है कि यही 'गवय' होना चाहिए । अज्ञात को ज्ञात के उदाहरण से जानना ही उपमान है । यदि वनपाल किसी 'गवय' को प्रत्यक्ष ही किसी नगर-निवासी को दिखाकर कहता है कि यह गवय है तव भी वह आसानी से उसे जान लेता पर फिर यह उपमान प्रमाण न रह कर 'शब्द' प्रमाण वन जाता है । नैयायिको का दृष्टिकोण वस्तुवादी है अत वह यह स्वीकार नही करते कि सादृश्य केवल विचार के आधार पर आत्मनिष्ठ रूप से स्थापित कर किसी वस्तु को जाना जा सकता है । उनका मत है कि किसी तत्समान वस्तु को देखकर व उसके सम्वन्ध में सकेत, वर्णन आदि सुनकर जानने की क्रिया एक भिन्न अग है और यही उपमान प्रमाण है ।[1]

---

1. 'उपमान' पर 'न्याय मजरी' का मनन कीजिए । पुराना न्याय-मत यह है कि वनपाल के द्वारा गवय का जो वर्णन किया जाता है और जिसको सुनकर अज्ञानी प्राणी को गवय रूप जानना सम्भव हो वही उपमान प्रमाण है । उसे प्रत्यक्ष देखकर जानना, यह अवयव, उपमान के लिए आवश्यक नहीं है । जव प्रशस्तपाद ने यह विवेचन किया कि 'उपमान' को आप्त-वचन' के रूप में स्वीकार करना चाहिए तव सम्भवत' यही दृष्टिकोण रहा होगा । उद्योतकर और वाचस्पति का मत है कि वनपाल के वर्णन मात्र से 'गवय' नाम को गवय के साथ नहीं जोडा जाता, परन्तु इसके अतिरिक्त समानता का प्रत्यक्ष दर्शन भी इस ज्ञान का अग है । अत उपमान में सादृश्य एव वनपाल द्वारा दिए हुए सकेत की स्मृति दोनों ही सम्मिलित हैं । वात्स्यायन

'शब्द-प्रमाण' अथवा साक्ष्य वह ज्ञान है जो हम विश्वसनीय, सत्यवक्ता, श्रद्धेय, एवं सम्माननीय व्यक्तियों के कथन (शब्द) से द्वारा प्राप्त करते हैं। ऐसे व्यक्तियों का कथन निश्चित ही प्रमाणस्वरूप है। वेदों से प्राप्त किया हुआ ज्ञान प्रामाणिक है क्योंकि वेद ईश्वरीय ज्ञान है। वेद का महत्त्व इसलिए है कि वे 'ईश्वर' के द्वारा दिया हुआ सत्य ज्ञान है। वैशेषिक शब्द को स्वयं में (अलग से) प्रमाण नहीं मानता। शब्द की प्रामाणिकता का आधार वैशेपिक के अनुसार 'अनुमान' है क्योंकि हम किसी आप्त पुरुष के कथन को सत्य मानकर यह अनुमान करते हैं कि उसका साक्ष्य उस पुरुप की आप्तता के कारण प्रामाणिक होना चाहिए।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'अभाव' का स्वरूप

भारतीय दर्शन में 'अभाव' की स्थिति पर विशेष रूप से विचार किया गया है। अभाव की व्याख्या और तत्सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोण बड़े रोचक हैं पर सभी मतों को प्रस्तुत करना यहाँ सम्भव नहीं है। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल[1] तथा उसके अनुयायियों (जिनकी चर्चा हम अगले अध्याय मे करेंगे) का मत है कि किसी वस्तु की स्थिति के सम्बन्ध में निश्चित प्रमाण (सत्परिच्छेदकम्) नही होने पर हम उसका वोध एक विशेष अन्तर्दृष्टि (मानम्) के द्वारा करते है। कुमारिल और उनके अनुयायियों का कथन है कि अभाव का वोध प्रत्यक्ष के द्वारा नही हो सकता, क्योंकि अभाव में इन्द्रियो और वस्तु का कोई सम्पर्क ही नही होता। यह सत्य है कि घड़े के अभाव की स्थिति मे जव हम भूमि को देखते हैं तो वहाँ हम भूमि को और घड़े के अभाव दोनों को देखते हैं और जव नेत्र वन्द कर लेते हैं तो दोनों ही नही दिखाई देते। अतः यह कहा जा सकता है कि जब हम भूमि का प्रत्यक्ष करते हैं तो साथ ही घड़े के अभाव का भी प्रत्यक्ष वोध करते है। परन्तु जव हम किसी घड़े के अभाव का वोध करते हैं, तो वह प्रत्यक्ष इन्द्रिय-सम्पर्क के द्वारा न कर, घड़े की स्मृति के

का क्या मंतव्य था यह स्पष्ट नही है। परन्तु दिङ्नाग के अनुसार उपमान का अर्थ सादृश्य अथवा वस्तुओं में सादृश्य का ज्ञान है। यह निश्चित है कि उपमान का तात्पर्य किसी नवीन वस्तु के साथ संज्ञा (नाम) सम्वन्ध स्थापित करना है या सरल शब्दो मे कहा जाए तो किसी नवीन वस्तु को पहचान कर उसका निश्चित नाम रखना ही उपमान है—'समाख्या-सम्वन्ध-प्रतिपत्तिरुपमानार्थ.' वात्स्यायन। जयन्त का मत है कि सादृश्य (समानता) के आधार पर हम किसी वस्तु को पहचान कर उसे निश्चित नाम देते हैं अत. वनपाल के निर्देशन को प्रत्यक्ष कारण नही माना जा सकता अतः यह 'शब्द' की परिभाषा मे नही आता। प्रशस्तपाद और 'न्याय मंजरी' पृ० 220-22, वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति और जयन्त का मत 'उपमान' के सम्वन्ध मे देखिए।

1. कुमारिल का 'अभाव' के सम्वन्ध में मत श्लोक-वार्तिक (पृ० 473–492) में देखिए।

आधार पर करते हैं। हम भूमि को देखते हैं, साथ ही घड़े की स्मृति हमारे मन मे है। उस स्मृति को आधार न मिलने पर हम अभाव की कल्पना करते हैं। जैसे किसी स्थान पर कोई व्यक्ति बैठा हुआ है। वहाँ पर शेर नही है। उसको शेर के भाव-अभाव की कोई कल्पना नही है। सध्या को कोई व्यक्ति उससे पूछता है कि आपने प्रात इस स्थान पर शेर तो नही देखा। तब वह विचार करता है और उस स्थान को पुन' देखे बिना ही शेर के अभाव की कल्पना कर लेता है। इस बोध मे शेर के अभाव की स्मृति की भी कोई विशेष क्रिया नहीं है। इस उदाहरण से यह भी स्पष्ट है कि यह बोध 'अनुमान' प्रमाण से भी नही होता क्योंकि यहाँ किसी प्रकार की व्याप्ति नहीं पाई जाती। भूमि अथवा घडे की अप्रत्यक्षता मे किसी प्रकार का हेतु, लिंग आदि का भी प्रश्न नही उठता। घडे की अप्रत्यक्षता का सम्बन्ध घडे से है, घडे के अभाव से नही है। घडे के अभाव मे और उसके न देखे जाने मे किसी प्रकार की व्याप्ति का प्रश्न नही उठता। अत अभाव का ज्ञान-बोध एक स्वतन्त्र प्रक्रिया है।

लेकिन न्याय का मत है कि घडे के अभाव का प्रत्यक्ष कि घडा नही है, प्रत्यक्ष की एकात्मक दृष्टि मे होता है ठीक उसी प्रकार जैसे घडे की भाव-स्थिति भी ऐसी एकात्मक दृष्टि से जानी जाती है जिसमे स्थिति के सारे अगो का समावेश है। जब हमको यह बोध होता है कि घडा है तो हम घडा भूमि आदि सारी स्थिति एक ही दृष्टि से हृदयगम कर लेते हैं। जब भाव के सम्बन्ध मे यह दृष्टि है तो अभाव के सम्बन्ध मे अन्यथा कहना उचित नहीं लगता कि इस दूसरी स्थिति मे हम केवल भूमि का प्रत्यक्ष करते हैं, घडे के भाव के अभाव का कोई प्रत्यक्ष नही होता। प्रत्यक्ष बोध के लिए इन्द्रिय-सम्पर्क का सिद्धांत 'भाव' की स्थिति के ही लिए है। वस्तु के न होने से इन्द्रिय-सम्पर्क का प्रश्न नही उठता। अभाव कोई स्थूल वस्तु नहीं है। इस सम्बन्ध मे एक आक्षेप यह हो सकता है कि यदि अभाव के लिए इन्द्रिय-सम्पर्क की कोई आवश्यकता नही है तो कोई भी व्यक्ति सहज ही दूरस्थ वस्तुओं के अभाव की कल्पना कर सकता है कि वे दूरस्थ वस्तुएँ, जिनको वह नही देख रहा है, हैं ही नहीं, उनका अभाव है। इसके समाधान मे कहा जाता है कि अभाव के बोध के लिए यह आवश्यक है कि हम उस स्थान और स्थिति को देखें। हम वस्तु और उसके गुण को भिन्न जानते हैं, लेकिन गुण वस्तु के साथ ही देखे जा सकते हैं। उसी तरह अभाव भी भाव के स्थान के बोध के माध्यम से ही जाना जा सकता है। इस प्रकार न्याय के अनुसार 'अभाव' का बोध भी भाव के बोध के समान ही होता है। 'अभाव' केवल शून्य या रिक्तता मात्र नही है। अभाव एक ऐसी निश्चयात्मक स्थिति है जिसका आधार भाव की स्थिति है और इसी आधार पर हम 'अभाव' का निश्चयात्मक बोध प्राप्त करते हैं।

बौद्ध दार्शनिक 'अभाव' की स्थिति को स्वीकार नही करते। उनका मत है कि हम अभाव को 'स्थान' व 'काल' के प्रसग में देखते हैं जैसे यह वस्तु इस स्थान पर इस समय नही है। पर उस प्रकार की बोध-ग्राह्यता के होने पर भी हम अभाव का, 'स्थान' व 'काल' के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नही स्थापित कर सकते। अभाव का इसके 'प्रतियोगी' के साथ भी कोई सम्बन्ध नही माना जा सकता। 'प्रतियोगी' का अर्थ उस वस्तु से है जिसका

अभाव है जैसे घडे के अभाव में घड़ा 'प्रतियोगी' है। उक्त सम्वन्ध न मानने का कारण यह है कि जव प्रतियोगी है तो अभाव नही है। जव अभाव है तो प्रतियोगी नही है। इनमे 'विरोध' सम्वन्ध भी नही समझा जा सकता क्योकि उस अवस्था मे अभाव की स्थिति पूर्व-वर्ती होनी चाहिए थी जो घड़े के भाव का विरोध करती। परन्तु यह विरोध जिसका कोई प्रतिफल नही है समझ में नही आता। फिर यह प्रश्न उठता है कि क्या यह कोई वस्तु-विशेष है या ऐसा पदार्थ है जो उत्पन्न होता है, यह ज्ञात है या अज्ञात ? असत् है या सत्? पहली अवस्था (विकल्प) मे यह अन्य वस्तुओ के समान ही होगा जिनका निश्चित अस्तित्व है। दूसरे विकल्प मे यह शाश्वत, चिरस्थायी, अनादि अनन्त होगा जिसका किसी अभाव से कोई सम्वन्ध नही हो सकता। परन्तु प्रत्यक्ष वोध न होने के अथवा किसी वस्तु के दृष्टिगत न होने के (अनुपलब्धि) के कई प्रकार हैं। यथा—(1) स्वभावानुपलब्धि (स्वाभाविक अप्रत्यक्षता) उदाहरण के लिए घड़ा नही है। अतः वह दिखाई नही देता। (2) 'कारणा-नुपलब्धि' (कारण प्रत्यक्ष न होना) जैसे—यहाँ धुआँ नही है क्योकि यहाँ अग्नि नहीं है। (3) 'व्यापकानुलब्धि' (जाति के प्रत्यक्ष न होने से वर्ग के न होने का निष्कर्ष) जैसे यहाँ कोई वृक्ष नही है अतः किसी चीड़ के वृक्ष के न होने का प्रश्न नही उठता। (4) 'कार्या-नुपलब्धि' (प्रभाव या फल का प्रत्यक्ष न होना) जैसे यहाँ धुआँ होने के कोई कारण नही हैं क्योंकि यहाँ धुआँ ही नही है (5) 'स्वभावविरुद्धोपलब्धि' (विरुद्ध स्वभाव वाली वस्तुओं का प्रत्यक्ष) जैसे यहाँ ठण्ड नही है क्योकि यहाँ अग्नि है। (6) 'विरुद्धकार्योपलब्धि' (विरोधी प्रभावों का दिखाई देना) जैसे धुएँ के कारण यहाँ शीतस्पर्श नही है।(7)'विरुद्ध-व्याप्तोपलब्धि' (व्याप्ति मे विरोध का प्रत्यक्ष) जैसे–यह आवश्यक नही है कि भूत सदैव नष्ट ही हो जाएँ क्योकि वह अन्य कारणो पर निर्भर है। (8) 'कार्यविरुद्धोपलब्धि' (प्रभाव मे विरोध) जैसे—यहाँ अग्नि होने से शीत उत्पन्न करने वाले कारण नही हैं। (9)'व्यापक-विरुद्धोपलब्धि'(व्यापक लिंग मे विरोध) अग्नि के कारण यहाँ हिम नही है। (10) 'कारण विरुद्धोपलब्धि' (कारणो का विरोधी होना) जैसे—शीत के कारण कम्प नही है क्योंकि वह अग्नि के समीप है। (11) 'कारण विरुद्ध कार्योपलब्धि' (विरोधी कारणो का प्रभाव या कार्य) जैसे शीत से कम्पित मनुष्यों की भीड इस स्थान पर नही है, क्योकि यह स्थान धुएँ से भरा हुआ है।[1]

बौद्ध दर्शन पुन व्याख्या करता है कि इसमे कोई सन्देह नहीं है कि हम उपर्युक्त प्रकार के अभाव का वातचीत मे व्यवहार करते है, परन्तु इस वार्तालाप से अभाव की सिद्धि नहीं होती, अभाव के वोध का कोई हेतु ही नही है—(हेतुर्नाभाव-सम्विद.)। हम केवल यह कह सकते है कि कुछ ऐसी अवस्थाएँ हैं जो अभावात्मक विशेषणो के प्रयोग के लिए अधिक उपयुक्त अथवा योग्य हैं। लेकिन यह 'योग्यता' निश्चयात्मक, सत्-पक्षीय (अस्ति-पक्षीय) है। जिसको हम साधारण प्रयोग में अप्रत्यक्ष (दृष्टिगत न होना) कहते हैं वह किसी स्थिति का निश्चित प्रत्यक्ष वोध है। अभाव का वोध इस प्रकार अभाव की स्थिति

1. 'न्यायबिन्दु' पृ० 11 एवं 'न्याय मंजरी' पृ० 53-7 देखिए।

को सिद्ध नहीं करता, केवल यह प्रकट करता है कि वस्तु विशेष के भाव को देखना अवस्था, काल, स्थान आदि के प्रसग में सम्भव नहीं हो सका है। यह केवल यह सिद्ध करता है कि कुछ इस प्रकार के प्रत्यक्ष बोध होते हैं जो अभाव की सज्ञा से स्पष्ट किए जा सकते हैं। भूमि मे निश्चित प्रत्यक्ष के आधार पर ही हम यह कहते हैं कि वहाँ पर घडे का अभाव है "अनुपलभ अभावम् व्यवहारयति।"[1]

न्याय इसके उत्तर मे कहता है कि भाव का प्रत्यक्ष उतना ही वास्तविक है जितना कि अभाव का। यह नही कहा जा सकता कि भाव का ही प्रत्यक्ष सत्य है अभाव का सत्य नही है। यह कहा जाता है कि भूमि पर घडे के 'अप्रत्यक्ष' का अर्थ घडे के बिना भूमि का देखा जाना है। इस दृष्टि मे घडे के अभाव का कोई प्रश्न नही है। न्याय प्रश्न करता है कि यह घडे का 'भाव' भूमि ही है अथवा अन्यथा कुछ है, यदि घडा और भूमि का तादात्म्य है, दोनो एक ही है, तो घडा भूमि ही है। तब घडे के होने पर भी हम उसके होने की आशा कर सकते हैं। यदि भूमि मे अन्य कुछ है तो केवल नाम के ऊपर ही विवाद है क्योकि इसे किसी भी नाम से पुकारा जाए, यह एक निश्चित भिन्न वर्ग है फिर चाहे आप इसे घट-हीन भूमि कहे या घटता के अभाव वाली भूमि कहें, कोई अन्तर नही पडता क्योंकि यहाँ एक निश्चित भिन्न वर्ग को स्वीकार कर लिया गया है। अभाव का भी भाव के समान ही प्रत्यक्ष होता है। भाव के प्रत्यक्ष बोध मे भी भिन्न-भिन्न रग, रूप आदि दिखाई देते हैं उसी प्रकार जिन वस्तुओ का अभाव है उनका भी प्रत्यक्ष स्वरूप भिन्न-भिन्न है। स्थान, काल आदि का सम्बन्ध अभाव के प्रसग में दिखाई देता है वह तो केवल 'विशेष्य-विशेषण' सम्बन्ध है। अभाव और 'प्रतियोगी' का सम्बन्ध विरोधात्मक है क्योकि जहाँ एक है वहाँ दूसरा नही हो सकता। 'वैशेषिक सूत्र' (IX, 1 6) मे अभाव की व्याख्या उसी प्रकार की गई जैसी कि प्रसिद्ध मीमासक कुमारिल ने की है यद्यपि वैशेषिक भाष्यकर्त्ताओ ने इनकी टीका का निर्वचन दूसरी तरह ही करने का प्रयत्न किया है।[2]

वैशेषिक चार प्रकार के अभावो का उल्लेख करता है—

(1) 'प्रागभाव'—वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व जो उसका अभाव है वह प्रागभाव कहलाता है। उदाहरण के लिए घट के निर्माण के पूर्व घट का अभाव।

---

1 न्यायबिन्दु टीक पृ० 34 तथा आगे, न्याय मजरी पृ० 48-63 देखें।

2 प्रशस्तपाद का कथन है कि जिस प्रकार प्रभाव या फल के होने से कारण के अस्तित्व को जाना जाता है उसी प्रकार फल न होना कारण के न होने का चिह्न है। श्रीधर इस पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि किसी भी इन्द्रिय-विषयक वस्तु का अप्रत्यक्ष उसके अभाव का लिंग है। पर इससे सन्तुष्ट न होकर उन्होंने पुन कहा है कि अभाव का भी इन्द्रियो के द्वारा प्रत्यक्ष बोध होता है। (भाववद अभावोऽपीन्द्रियग्रहणयोग्य)। अभाव के साथ ही इन्द्रियो का सम्पर्क (सन्निकर्ष) होता है और यह सम्पर्क ही अभाव के प्रत्यक्ष बोध की कारण सामग्री है—'अभावेन्द्रियसन्निकर्षोऽपि अभाव-ग्रहण सामग्री।' न्याय कदलि, पृ० 225-30

(2) 'ध्वंसाभाव'—किसी वस्तु विशेष के ध्वंस या नाश होने के कारण अभाव जैसे घड़े को लकड़ी से फोड़े जाने पर उसका अभाव है ।

(3) 'अन्योन्याभाव'—पारस्परिक अथवा एक मे दूसरे का अभाव जैसे घोड़े में गाय का अभाव है, गाय में घोड़े का अभाव है ।

(4) 'अत्यन्ताभाव'—सदैव रहने वाला अभाव उदाहरण के लिए घड़े का एक स्थान पर होने से, उसका अन्य स्थान पर अभाव नही मिट सकता अर्थात् अन्य स्थान पर उसका अभाव सदैव रहेगा ।[1]

मोक्षाकांक्षियों के लिए तर्क का महत्व

सम्भवत. न्याय दर्शन का प्रादुर्भाव तर्क और शास्त्रार्थ के युग में हुआ होगा । इस दर्शन मे न केवल तर्क का विशिष्ट निरूपण किया गया है वरन् तत्सम्बन्धी अनेक पारिभाषिक शब्दों का निर्माण एव प्रयोग भी इसमे पाया जाता है । उदाहरण के लिए यहाँ 'तर्क', 'निर्णय', 'वाद', 'जल्प', 'वितडा', 'हेत्वाभास', 'छल', 'जाति', 'निग्रह' और 'स्थान' अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग स्थान-स्थान पर किया गया है ।

किसी भी विषय के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए विचार-विमर्श करना ही तर्क है । अत: किसी एक तथ्य को सिद्ध करने के लिए जो प्रमाण उपस्थित किए जाते हैं वही तर्क है । जब कभी किसी विषय मे 'संशय' होता है तो उस संशय को दूर करने के लिए बुद्धि की जो वैचारिक प्रतिक्रिया होती है, वह तर्क का प्रारम्भ है । सशय को नष्ट करने के लिए तर्क का आश्रय लेना पडता है । जब दो विरोधी दल अपने मत के पक्ष में प्रमाण प्रस्तुत करते है तो प्रत्येक 'वाद' कहलाता है जब विरोधी अपने विपक्षी को हराने के लिए चुभने वाले एवं मर्मभेदी प्रत्युत्तर देते हैं तो वह 'जल्प' कहलाता है । 'वितण्डा' वह 'जल्प' है जिसमे अपने पक्ष को पुष्ट करने की चिन्ता न करते हुए विरोधी को हराने की दृष्टि से, कटु आक्षेप एव खंडनात्मक आलोचना की जाती है । 'हेत्वाभास' में 'हेतु' (कारण) का भ्रम होता है, वास्तव मे वह हेतु नही होता । न्याय मे पाँच प्रकार के 'हेत्वाभास' का का उल्लेख किया गया है—(1) सव्यभिचार (अस्पष्ट व अनियत) (2) विरुद्ध (विरोधी) (3) प्रकरण सम (समानार्थक) (4) साध्य सम (अपुष्ट या असिद्ध हेतु) (5) कालातीत (असामयिक) । सव्यभिचार हेत्वाभास वहाँ होता है जहाँ एक ही हेतु से विरोधी निष्कर्ष निकलते हैं जैसे शब्द शाश्वत हैं क्योकि यह परमाणुओ की भाँति ही अमूर्त है, जो शाश्वत है या शब्द अशाश्वत हैं क्योकि यह बोध चेतना के समान ही क्षणिक है । 'विरुद्ध' हेत्वाभास वहाँ उत्पन्न होता है जहाँ कारण साध्य विषय का विरोधी होता है—उदाहरण के लिए घड़ा शाश्वत है क्योकि यह उत्पन्न होता है । 'प्रकरणसम' वहाँ होता है जहाँ कारण साध्य को दूसरे रूप में प्रस्तुत कर देता है । उदाहरणार्थ—शब्द अशाश्वत हैं क्योंकि इनमे शाश्वत गुण

---

1 अभाव के न्याय और तर्क मे अनेक आयाम, प्रकार एव मूल्यदृष्टियाँ है जिनका वर्णन इस सक्षिप्त विवेचन मे सम्भव नही है ।

नहीं है। साध्यसम मे स्वय कारण को सिद्ध करने की आवश्यकता होती है जैसे छाया पदार्थ है क्योकि इसमे गति होती है। परन्तु यहाँ यह सिद्ध करना आवश्यक है कि छाया मे गति होती या नही। कालातीत वह मिथ्या दृष्टात या तुलना है जो समयानुकूल नही है। जहाँ समय की दृष्टि से तुलना अप्रासगिक होती है वहाँ कालातीत हेत्वाभास होता है, जैसे यह कहा जाए कि शब्द शाश्वत हैं क्योकि यह वर्ण के समान सम्पर्क से उत्पन्न होता है जैसे वर्ण, प्रकाश और वस्तु के सघात से उत्पन्न होता है इसी प्रकार शब्द लकडी और ढोल के सघात से उत्पन्न होना है अत शाश्वत है। इस उदाहरण मे तर्क-दोष इस प्रकार है कि प्रकाश के पडते ही वर्ण दिखाई देता है। यह वर्ण पहले से ही स्थित था और प्रकाश के सम्पर्क से दिखाई देने लगा। उधर शब्द की स्थिति भिन्न है। शब्द लकडी के द्वारा ढोल पर आघात किये जाने से उत्पन्न होता है अत यह इस अघात के कारण उत्पन्न वस्तु है। जो वस्तु उत्पन्न होती है वह नाश को भी प्राप्त होती है अत वह अशाश्वत है। वर्ण के समान इसकी पूर्व स्थिति नही है।

उत्तर न्याय 'सव्यभिचार' के तीन भेदों का उल्लेख करता है। (1) 'साधारण' जैसे पर्वत अग्निमय है क्योकि यह ज्ञान की वस्तु है, परन्तु झील जो अग्नि से विपरीत है वह भी ज्ञान का विषय है। (2) असाधारण' (अत्यन्त न्यून) जैसे शब्द शाश्वत है क्योकि इसमे शब्द की प्रकृति है। यह कारण नहीं हो सकता क्योकि शब्द की प्रकृति शब्द के अतिरिक्त और कही नही पाई जाती। (3) 'अनुपसहारिन्' (अनुनय) प्रत्येक वस्तु अस्थायी है क्योकि सभी वस्तुएँ ज्ञान का विषय हैं। इसमे हेत्वाभास इस अर्थ मे है कि ऐसी कोई वस्तु नही है जो ज्ञान का विषय न हो, अत इसके विपरीत निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है।

'सत्प्रतिपक्ष' वह हेत्वाभास है जिसमे हेतु या कारण विरोधी होने के कारण विरोधी निष्कर्ष निकलता है जैसे शब्द शाश्वत है क्योकि यह सुनाई देता है शब्द अशाश्वत है क्योकि यह फलमात्र है। 'असिद्ध- नाम का हेत्वाभास भी तीन प्रकार का होता है। (1) 'आश्रया-सिद्ध' आकाश-कमल सुगन्धित है क्योकि यह भी अन्य कमल पुरुपो के समान है। इस उदाहरण में स्पष्ट है कि आकाश-कमल नाम की कोई वस्तु हो ही नही सकती। (2)'स्व-रूपासिद्ध' शब्द गुण है क्योंकि वह दिखाई देता है। परन्तु इस उदाहरण मे भी स्पष्ट है कि शब्द दिखाई नहीं देता। (3) 'व्याप्यत्वासिद्ध' यह हेत्वाभास वहाँ होता है जहाँ हेतु और कार्य मे व्याप्ति स्थिर एव अपरिवर्तनीय नही होती, उदाहरण—पर्वत पर धुआँ है क्योकि वहाँ अग्नि है। लेकिन कभी-कभी अग्नि धूम्रहीन भी हो सकती है जैसे लोहे के अग्नि-तप्तपिण्ड (गोले) मे केवल हरी लकडियों के जलाने पर ही सदैव धुआँ होता है अत केवल हरी लकडी की अग्नि मे ही धुएँ की अपरिवर्तनीय व्याप्ति है। 'वाधित' वह दोप है जहाँ ऐसा तर्क उपस्थित किया जाए जो प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध हो। जैसे, अग्नि तापहीन है क्योकि यह पदार्थ है।

वैशेपिक द्वारा वर्णित हेत्वाभास की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। न्याय-मत के विपरीत प्रशस्तपाद 'उदाहरण' नाम के दोप का भी उल्लेख करते हैं। दिङ्नाग भी दृष्टात-

दोप को मानते हैं जैसे शब्द शाश्वत है क्योंकि यह निराकार है, जो निराकार है जैसे अणु वह शाश्वत है। इस उदाहरण मे दृष्टांत-दोप है क्योंकि अणु निराकार नही है। धर्मकीर्ति 'पक्ष' के दोप को भी मानते थे। परन्तु न्याय का मत यह था कि यदि हेतु के दोप से मुक्त रहा जाए तो उचित अनुमान पर पहुँचा जा सकता है अन्य सव दोप केवल पिष्टपेषण मात्र हैं।

'छल' केवल जीतने के लिए विरोधी पक्ष के तर्क की टेढ़ी-मेढ़ी व्याख्या करने को कहते हैं। 'जाति' विरोधी को हराने की दृष्टि से उल्टे-सीधे, झूठे विपय विन्दुओं को बीच-बीच में प्रस्तुत करना और कभी एकपक्षीय, कभी दूसरे पक्ष के झूठे निष्कर्षो को आधार बनाकर तर्क करने को कहते है। 'निग्रहस्थान' तर्क में वह विन्दु है जहाँ विरोधी मत के तर्क के विरोधाभास, दोप आदि को स्पष्ट कर यह निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया जाता है विरोधी पक्ष सारहीन है और इस प्रकार विरोधी पक्ष की हार व पक्ष की जीत का सबके समक्ष निर्णय करने के लिए अन्तिम तर्क प्रस्तुत कर दिया जाता है। 'न्याय मंजरी' में जयन्त यह स्पष्ट करते है कि सात्विक पक्ष की रक्षा और शिष्यों के सामने विद्वानों को हतप्रभ होने को रोकने के लिए ही तर्क की विशद जानकारी आवश्यक है। दम्भी और उद्दण्ड व्यक्ति कई वार विद्वानो को अपमानित करने की दृष्टि से शास्त्रार्थ करते हैं। इससे वचने के लिए ही तर्क की सव गहनताओं और सूक्ष्मताओ को समझने की आवश्यकता है। अत. जो धार्मिक व्यक्ति मोक्ष की जिज्ञासा में रत हैं उन्हे भी चाहिए कि तर्क का अध्ययन करें जिससे शिष्यों की श्रद्धा और ज्ञान में व्यर्थ व्यवधान और संशय उत्पन्न न हों। अतः 'न्याय-सूत्र' में मोक्ष के साधनो में तर्क और न्याय को भी विशिष्ट स्थान दिया गया है।[1]

आत्मा का सिद्धान्त

'धूर्त्त' चार्वाक आत्मा के अस्तित्व को ही नही मानते थे। उनका मत था कि चेतना और प्राण भौतिक एवं शारीरिक परिवर्तनो के कारण उत्पन्न होते हैं। यह एक भौतिक प्रक्रिया मात्र है। अन्य चार्वाकों मे 'सुशिक्षित चार्वाक' मुख्य हैं। उनके अनुसार आत्मा का अस्तित्व शरीर के साथ ही समाप्त हो जाता है। अर्थात् आत्मा का अस्तित्व तो है पर शरीर के साथ आत्मा भी नष्ट हो जाती हैं, वौद्ध भी आत्मा के शाश्वत अस्तित्व को स्वीकार नही करते हैं। नैयायिक दर्शन के सभी सिद्धान्तों को प्रत्यक्ष अनुभव या तज्जनित अनुमान की कसौटी पर कसते थे। उनका मत था कि सुख, दु ख, आनन्द, चेतना और संकल्प आदि शरीर के या इन्द्रियों के गुण नही हो सकते, अतः इनसे भिन्न कोई अन्य वस्तु होनी चाहिए जिसके कारण हमको इन सवकी अनुभूति व प्रेरणा होती है। न्याय के अनुसार आत्मा का अस्तित्व केवल स्वचेतना के ऊपर ही निर्भर नही हो सकता जैसा कि मीमासा का मत है। क्योंकि कभी-कभी वह आत्म-चेतना मिथ्या भी हो सकती है, जैसे हम यह कहते हैं कि मैं श्वेत या काला हूँ। पर यह निश्चित है कि आत्मा का कोई वर्ण नही हो सकता।

---

1. 'न्याय-मंजरी' पृ० 586-659 और तार्किकरक्षा (वरदराज), निष्कंटक (मल्लिनाथ) पृ० 185 तथा आगे देखिए।

अत यह चेतना असत्य है। परन्तु हम आत्मा के सम्बन्ध मे एक निश्चयात्मक अनुमान कर सकते हैं कि सुख-दु ख अनुभूति आदि जिसके अग हैं वही आत्मा होनी चाहिए। ये सुख-दु ख अनुभूति आदि अनेक सघातो के कारण आत्मा मे उत्पन्न होते हैं। परन्तु स्वय आत्मा की उत्पत्ति या विनाश का कभी अनुभव नही हो पाया है अत आत्मा शाश्वत प्रतीत होती है। यह शरीर के किसी विशेष अग मे केन्द्रीभूत नही है, यह सर्वव्यापक है, 'विभु' है। यह शरीर के साथ नहीं चलती परन्तु सर्वत्र विद्यमान है। इस प्रकार आत्मा शरीर से भिन्न होते हुए भी शरीर मे इसके द्वारा सारी क्रिया सम्पादित होती है जिनके द्वारा इसे पहचाना जाता है। यह स्वय चेतनाहीन है परन्तु उचित सस्थितियो मे यह चेतनामय हो जाती है।[1]

जन्म के समय बच्चे अपने मुख के आकृतिभाव से सुख-दु ख को तथा हर्ष-विषाद आदि को प्रकट करते हैं। यह भावना पूर्वजन्म की स्मृति के फलस्वरूप ही होनी चाहिए क्योंकि सद्योजात बालक मे इस जन्म की सवेदनाओ की अनुभूति का कोई प्रश्न ही नही उठता। इस जन्म मे कोई दु खी है और कोई सुखी है, कोई आनन्द उठाता है और कोई कष्ट। यह सब अन्तर क्यो है ? इसका एकमात्र समाधान भी यही है कि पूर्वजन्म के कर्मो के अनुसार ही इस जन्म के सुखादि निर्धारित होते हैं। अपने-अपने कर्म के अनुसार ही इस जन्म में भोग-व्यवस्था होती है। इस विश्व मे प्राणी-प्राणी के भोगादि मे जो इतना अन्तर पाया जाता है उसके लिए कर्म की कल्पना ही तर्क-सगत प्रतीत होती है। यह कहना उचित नहीं होगा कि यह केवल भाग्य की बात है, एक सयोग मात्र है।

ईश्वर और मोक्ष

साख्य, जैन, बौद्ध आदि ईश्वर के अस्तित्व को नही मानते हैं। न्याय ईश्वर की सत्ता मे विश्वास करता है। अनुमान के आधार पर न्याय ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए उपर्युक्त दर्शनो के नास्तिकवाद (निरीश्वरवाद) का खडन करता है। न्याय ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान का प्रयोग करता है।

जैन और अन्य नास्तिक यह कहते है कि ससार मे वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती रहती हैं, परन्तु यह सारा विश्व कभी एक साथ उत्पन्न हुआ हो ऐसा प्रमाण नही मिलता। यह सम्पूर्ण ससार कभी एक साथ उत्पन्न ही नहीं हुआ अत यह किसी ऐसे कार्य या प्रभाव के रूप मे नही माना जा सकता जिसका कोई कारण होना चाहिए। इसके विरुद्ध न्याय का मत है कि अन्य कार्यो के समान यह ससार भी कार्य रूप है। पृथ्वीतल मे अनेक अन्तर्भौमिक परिवर्तन, भूमि स्खलन आदि होते रहते हैं। इस विनाशकारी प्रक्रिया से ससार नष्ट-भ्रष्ट होता रहता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ससार भी उत्पत्ति और विनाश के क्रम का एक अग है। यह शाश्वत नहीं है। यदि नास्तिक यह भी स्वीकार न करें, तो मानना ही पडेगा कि यह विश्व एक विशेष व्यवस्था और नियम के अनुसार सचालित होता है। परन्तु वे फिर यह तर्क उपस्थित कर सकते है कि मनुष्य के द्वारा उत्पा-

1 'ज्ञानसमवायनिबधनमेवात्मनश्चेतयितृत्वम्' आदि। —न्याय मजरी पृ०432।

दन के क्रम और पद्धति में, जैसे घड़े के उत्पादन मे, और प्रकृति की व्यवस्था और नियम में अन्तर है। मनुष्य द्वारा उत्पादन के क्रम में किसी उत्पादक की कल्पना की जा सकती है पर विश्व के व्यवस्थाक्रम ('सन्निवेश विशिष्टता') से किसी रचयिता या उत्पादक का अनुमान नही किया जा सकता। न्याय का तर्क है कि विश्व की व्यवस्था, क्रम और नियम व स्रष्टा के अस्तित्व के सम्बन्ध मे सामान्य रूप में व्याप्ति देखना चाहिए, न विशेष अवस्था में, क्योंकि विशिष्ट अवस्था में प्रत्येक दशा में ऐसी विशिष्टता होगी जो सदैव सामान्य परिस्थितियों से भिन्न होगी। जैसे रसोई में जो अग्नि है वह वन की अग्नि से भिन्न है—दोनों को अपनी विशिष्टता है, पर इस विशिष्टता की ओर ध्यान न देते हुए सामान्य रूप में प्रत्येक अवस्था में हम अग्नि और धुएँ की व्याप्ति देखते हैं। इसी आधार पर विशिष्टता के होते हुए भी हम विश्व-सन्निवेश से. व्यवस्था, नियमन आदि से स्रष्टा की कल्पना सहज ही कर सकते हैं। वृक्षों के सम्वन्ध में नास्तिकों द्वारा कहा जाता है कि हम उनको नित्य-प्रति उगते हुए देखते हैं परन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि उनका कोई स्रष्टा नही है। अत इस अनुमान में सन्देह का कोई कारण नहीं है कि इस सृष्टि का कोई स्रष्टा है क्योंकि यह कार्य रूप है, इसमें विशेप व्यवस्था व क्रम है और यह निश्चित नियमों के अनुसार संचालित होती है। जिस प्रकार एक कुम्हार घड़ों को उत्पन्न करता है और यह जानता है कि उनका क्या उद्देश्य है, वे किस काम के लिए हैं, इसी प्रकार परमात्मा विश्व के उद्देश्य और कार्य का ज्ञाता है, वह सर्वज्ञ है, वह प्रत्येक समय प्रत्येक वस्तु को जानता है, उसे किसी प्रकार की स्मृति की आवश्यकता नही है। परमात्मा को सव कुछ प्रत्यक्ष है, उसे मन-इन्द्रियों आदि की आवश्यकता नही है। वह सदैव आनन्दमय है। उसकी अनन्त इच्छा से मनुष्य के कर्मानुसार, सृष्टि का आदि-अन्त, प्रलयादि होते हैं। वही कर्त्ता, धर्ता और विधाता है, उसकी इच्छानुसार ही मनुष्य अपने कर्मों का फल सृष्टि के भिन्न-भिन्न कर्मो में भोगते हैं। हमारी आत्मा अमूर्त और शरीरहीन है, पर वह इच्छा से शरीर में अनेक परिवर्तन कर, वाह्य संसार पर भी इसके क्रिया-कलाप में प्रभाव डालती है, उसी प्रकार 'ईश्वर' भी शरीरहीन होते हुए भी, अपनी इच्छा से संसार को उत्पन्न करता है। कुछ लोगों का मत है कि ईश्वर के साथ शरीर का सम्वन्ध होना ही चाहिए तो यह परमाणविक प्रकृति ही उसका शरीर मानना चाहिए। इस प्रकार उसकी इच्छा मात्र से परमाणु-प्रकृति में स्पन्दन की क्रिया होने लगती है जिसके द्वारा परिवर्तन होता रहता है।[1]

अन्य भारतीय दर्शनो के समान ही नैयायिक भी ससार को घोर दुःखमय समझते थे। उनके अनुसार ससार में दु ख ही दु ख है, थोड़ा-थोड़ा आनन्द जो कुछ दिखाई भी देता है, उससे दु.ख की अनुभूति और भी अधिक मुखर हो जाती है। इस प्रकार बुद्धिमान व्यक्तियों के लिए संसार मे प्रत्येक वस्तु दु.खमय दिखाई देती है–'सर्वम् दु खम् विवेकिन'।' अतः बुद्धिमान लोग सांसारिक सुखो से विरक्त रहने का प्रयत्न करते हैं क्योंकि इन सुखों से अन्ततः दु ख ही मिलता है।

---

1. 'न्याय मंजरी' पृ० 190-204। इसके अतिरिक्त रघुनाथ शिरोमणि रचित 'ईश्वरानुमान' और उदयन द्वारा लिखी 'कुसुमाजलि' देखिए।

सांसारिक बन्धन 'मिथ्याज्ञान' के कारण है जिसके कारण मनुष्य शरीर, इन्द्रिय, मन, वेदना, बुद्धि आदि को ही अपना 'आपा' समझ बैठता है, इसी को वह अपनी आत्मा या अपना अह समझकर ममता के बधन मे फँस जाता है। परन्तु जब सत्यज्ञान का उदय होता है, जब षट् पदार्थों, प्रमाण, प्रमेय (ज्ञान के विषय) आदि का ज्ञान होकर विवेक जागृत होता है, तो मिथ्या ज्ञान स्वयमेव नष्ट हो जाता है। मिथ्या ज्ञान को नष्ट करने के लिए इसके विरोधी पक्ष का मनन करना चाहिए जिसे 'प्रतिपक्ष भावना' के नाम से सम्बोधित किया है। यह वस्तुओं के यथार्थ रूप का मनन है। जब हमे किसी वस्तु का मोह अथवा कोई सुख की तृष्णा आकर्षित करे, तब हमें सोचना चाहिए कि यह सुख वास्तव मे दु ख का मूल है, इस प्रकार सत्य-ज्ञान का उदय होगा, हम उसके मोह से छूट जाएँगे। मोह, तृष्णा और अज्ञान से मुक्त होने का यही मार्ग है।

मोह-तृष्णा के विनाश के साथ ही वासना नष्ट हो जाती है और कर्मों मे प्रवृत्ति का भी नाश स्वयमेव हो जाता है इससे पुनर्जन्म से मुक्ति मिलती है और उसके साथ ही दु ख से मुक्ति प्राप्त होती है। मिथ्याज्ञान और तृष्णा के अभाव से कर्मो के बधन मे मनुष्य लिप्त नही होता अर्थात् उसके कर्म उसे किसी बन्धन मे नही बाँधते। जन्म, मरण से मुक्त होकर आत्मा, शान्त, गुणातीत अवस्था को प्राप्त होती है जिसमे व्यक्ति वीतराग हो जाता है। न्याय वैशेषिक के अनुसार मुक्ति न तो पूर्ण ज्ञान की स्थिति है न पूर्णानन्द की। यह वह गुणातीत अवस्था है जिसमें आत्मा अपनी आदि पवित्र, निर्मल, विकारहीन अवस्था मे स्थित हो जाती है। कभी-कभी दु खविहीन अवस्था को अर्थ-क्रम से पूर्णानन्द की अवस्था के नाम से सम्बोधित किया जाता है परन्तु न्याय के अनुसार यह वास्तव मे आत्मा की वह निष्क्रिय शान्त अवस्था है जब यह अपनी विकारहीन नैसर्गिक पवित्रता को प्राप्त करती है जिसमे किसी प्रकार के ज्ञान, आनन्द, सुख-दु ख, सकल्प आदि का स्थान ही नही रह जाता है।[1]

1 न्याय मजरी, पृ० 499-533।

अध्याय 9

मीमांसा दर्शन

तुलनात्मक विवेचन

जीवन की दैनिक अनुभूतियों के सम्बन्ध में न्याय वैशेषिक का दृष्टिकोण युक्तिसंगत, व्यावहारिक और बौद्धिक है। सांख्य के समान इसका दृष्टिकोण एकात्मक नही है कि हमारे अनुभव और बुद्धि का आधार कोई आदि प्रकृति है। काल, आकाश, चतुर्भूत (चारों तत्त्व) आत्मा आदि सभी को इस दर्शन ने स्थूल वस्तुओं के रूप में माना है। द्रव्यों मे पाये जाने वाले गुण भी अपना अलग अस्तित्व रखते हैं पर इनको वस्तुओं अथवा द्रव्यों के साथ ही देखा जा सकता है। कर्म स्वयं एक अस्तित्व है और इसी प्रकार जाति या वर्गत्व का भी एक अपना अस्तित्व है परन्तु इसकी व्याप्ति स्थूल द्रव्यो मे है। 'ज्ञान' जो सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है आत्मा का गुण है। अनेक कारणों के योग से कार्य हुआ करता है। जैसे प्रकृति मे अन्य सब कार्य-कारण, संयोग से होते है उसी प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति भी कारण-योग से हुआ करती है। जैसे अनेक निमित्त, उपादान आदि कारणो से घडे की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार इन्द्रिय, बुद्धि, विषय, आत्मा आदि के सम्पर्क और संयोग से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। न्याय के अनुसार आत्मा तत्त्व एक निश्चेतन, निष्क्रिय इकाई है जिसमें ज्ञान की व्याप्ति होती है। द्रव्य का गुण, कर्म, जाति मे सम्बन्ध भी दार्शनिक दृष्टि से एक अपना महत्त्व रखता है क्योंकि इसके अस्तित्व को स्वीकार किए बिना हम किसी सिद्धांत को सम्पूर्ण दृष्टि से नही देख सकते है।

साख्य-सिद्धांत के अनुसार सारे पदार्थ तीन गुणों से युक्त अनन्त तत्त्वों से बने है। इन तत्त्वो के अनेकविध योग से विभिन्न पदार्थों का निर्माण होता है। गुण, द्रव्य, कर्म में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि ये विविध गुण-संयुक्त तत्त्वों के विभिन्न संयोग के ही रूप हैं। प्रकृति तत्त्वो मे, द्रव्य, ज्ञान, संवेदना, कामना आदि बीज रूप मे विद्यमान है। मूल प्रकृति में भूत-तत्त्वो के अनेक योग, सन्निवेश प्रतिक्षण उत्पन्न होते रहते हैं जिनसे अनेक पदार्थों का निर्माण होता रहता है पर इस निर्माण की प्रक्रिया मे कुछ भी नया नही है जो पूर्व मे ही कारण-प्रकृति में विद्यमान नही रहा हो। कारण-प्रकृति बीज रूप में समस्त सृष्टि के कार्य-रूप को अपने मे धारण करती है। ज्ञान एक प्रकाश-पुंज मात्र है—यह ऐसा तत्त्व है जो वस्तुओं को प्रकाशित करता है परन्तु यह अन्य द्रव्यो के समान ही एक द्रव्य है। संख्या के अनुसार चित्-तत्त्व शुद्ध इन्द्रियातीत है। यह इन्द्रियातीत चेतन

तत्त्व, मनस्तत्त्व के सम्पर्क मे आकर उसको प्रकाशित करता है, यह चित् ही मनस्तत्त्व साथ मिल कर अर्धशुद्ध व्यक्तिगत अनुभूतियो और संवेदनाओ को व्यक्ति के चेतन विचार या अनुभूति के रूप मे परिवर्तित करता है।

न्याय की दृष्टि से ऐसे शुद्ध चित की कल्पना जीवन के साधारण अनुभव से परे है। यह हमारे दैनिक सामान्य ज्ञान के द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता कि इस प्रकार का कोई चित्-तत्त्व हो सकता है। साख्य ने भी इस चिद्रूप पुरुष की कल्पना को साधारण ज्ञान और अनुभव से परे माना है। इसे इन्द्रियातीत कहा है। साख्य के अनुसार यह वह शाश्वत तत्त्व है जिसमे ज्ञान की उत्पत्ति, विकास और लय होते है। ससार के नियमन और 'ऋत' के मूल स्रोत के रूप मे पुरुष को देखा गया है। पुरुष और प्रकृति की कल्पना मे पुरुष को शाश्वत, अपरिवर्तनीय ऐसे शुद्ध चेतन तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया गया है जो जड-परिवर्तन, बुद्धि का आधार और प्रकाशक है।

न्याय को भी आत्मा को सिद्ध करने के लिए इस तर्क का सहारा लेना पडा है कि ज्ञान गुण रूप है। गुण किसी द्रव्य मे ही रह सकता है। गुण की व्याप्ति के लिए किसी न किसी प्रकार के तत्त्व की आवश्यकता है। इस युक्ति का आधार एक अन्य मान्यता है कि द्रव्य और गुण दोनो अलग पदार्थ हैं। गुण की यह प्रकृति है कि उसकी व्याप्ति किसी द्रव्य में ही हो सकती है। ज्ञान भी एक गुण है और अन्य गुणो के समान ही इसकी व्याप्ति भी किसी द्रव्य मे होनी चाहिए अत यह युक्ति-सम्मत है कि ज्ञान के आधार के रूप में आत्मा को स्वीकार किया जाए। आश्चर्य यह है कि किसी भी दर्शन ने हमारी सामान्य आत्मचेतना के आधार पर जिस ज्ञान का प्रवाह चलता रहता है उसका विश्लेषण करने का प्रयत्न नही किया और न इस चेतना-प्रवाह के आधार पर किसी नतीजे पर पहुँचने का यत्न किया। सभवत साख्य चित्तत्त्व के विश्लेषण के आधार पर इस दृष्टिकोण के अधिक निकट पहुँचा है, परन्तु इसने भी ज्ञान और चेतना को ऐसा पृथक् रूप दे दिया है जो साधारण बुद्धि और अनुभव से युक्तिसगत प्रतीत नही होता। जहाँ साख्य ने सामान्य दैनिक जीवन के अनुभव को छोड केवल कल्पना के आधार पर अपने मत का विवेचन किया है वहाँ न्याय के केवल कुछ तर्क अनुमान के आधार पर प्रस्तुत किए हैं। इन तर्कों को जिन मूलभूत मान्यता से प्रारभ किया गया है उसका स्वय का कोई निश्चित आधार नही है। द्रव्य और गुण पृथक् हैं और गुण का आधार द्रव्य है, यह ऐसी धारणा के रूप मे स्वीकार कर लिया गया है जिसकी कोई पूर्व परीक्षा नही की गई है। इसे सामान्य अनुभव के रूप मे स्वीकार कर ज्ञान और आत्मा के व्याप्ति सम्बन्ध को सिद्ध किया गया है। ऐसे निर्बल आधार पर इतने बडे सिद्धान्त का निर्माण इसके महत्त्व को कुछ कम कर देता है। आवश्यकता इस बात की भी है कि जिस बुद्धि और चेतना से सतत् स्वयमेव ज्ञान उत्पन्न होता रहता है उसको अधिक महत्त्व दिया जाता। इसकी प्रक्रियाओ का विशेष रूप से विश्लेषण और विवेचन किया जाता और इसकी सतत् दैनिक अनुभूति को प्रामाणिक मान कर कुछ निष्कर्ष पर पहुँचा जाता। इस दिशा मे सर्वप्रथम प्रयास मीमासा दर्शन ने किया। मीमासा-सूत्रो की रचना

महर्षि जैमिनि ने की है। इसका भाष्य शवर ने किया है। परन्तु मीमांसा दर्शन को क्रमबद्ध युक्ति-युक्त ढंग से प्रस्तुत करने का श्रेय कुमारिल को है जो प्रभाकर के गुरु और शंराचार्य के पूर्ववर्ती थे।

मीमांसा साहित्य

भारत के ब्राह्मणों मे यज्ञादि द्वारा उपासना और पूजा की परम्परा किस प्रकार प्रचलित हुई यह अभी भी शोध का विषय है परन्तु यह निश्चित है कि कर्मकांडीय पूजा-विधियो का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। यज्ञ की सफलता कर्मकांड के यथा-विधि सम्पन्न करने पर निर्भर थी, अतः इस पर विशेष बल दिया जाने लगा। इन विधियों की विधिवत शिक्षा शिष्य लोग प्रारम्भ में मौखिक रूप से ग्रहण करते थे। शनैः शनैः इन विधियो को स्मृति में रखने के लिए लिपिबद्ध किया जाने लगा। इस प्रकार स्मृति-साहित्य का जन्म हुआ। विधि और कर्मकाड पर अनेक शंकाएँ और विवाद भी होने लगे क्योकि विद्वान् याज्ञिक और अपनी-अपनी विद्या-वुद्धि के अनुसार कर्मकाड की परम्पराओं की व्याख्या और निदेशन करने लगे। अतः यह आवश्यक हो गया कि विधियों की युक्तियुक्त मीमांसा की जाए। यहाँ से मीमांसा साहित्य का सूत्रपात हुआ। मीमांसा शब्द का अर्थ ही युक्ति-युक्त बौद्धिक विश्लेषण है। यह भी सम्भव है कि उस समय मीमासा की भी अनेक शाखाएँ रही होंगी पर उस समय का अधिकांश मीमांसा-साहित्य लुप्त हो गया है। इस समय मीमांसा-दर्शन का आधार महर्षि जैमिनि कृत मीमांसा-सूत्र है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक शाखा विशेष के मन्तव्य का विधिवत संकलन है क्योकि इसमे अनेक अन्य मतो के उद्धरण और उनकी आलोचना प्राप्त होती है। ये अन्य ग्रन्थ अब उपलब्ध नही है। यह भी कहना कठिन है कि महर्षि जैमिनि के मीमांसा-सूत्रों मे कितना अंश अन्य दर्शन-ग्रन्थो के आधार पर लिखा गया है और कितना उनकी मौलिक रचना है। लेकिन ये मीमांसा-सूत्र इतने विद्वत्तापूर्ण और प्रभावशाली ढंग से लिखे गए हैं कि पिछले 2000 वर्षों से ये मीमांसा-दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाते है। ये सूत्र सम्भवतः ईसा से 200 वर्ष पूर्व लिखे गए थे। अनेक विद्वानों ने इन सूत्रों पर भाष्य लिखे हैं। 'न्याय रत्नाकर' मे 'श्लोकवार्तिक' के दसवे श्लोक में भर्तृमित्र के भाष्य का प्रसंग आता है। इसी प्रकार भवदास, हरि और उपवर्ष ने भी मीमांसा-सूत्रों पर जो भाष्य लिखे हैं उनका उल्लेख 'प्रतिज्ञासूत्र' (भवदास) और 'शास्त्र-दीपिका' (हरि और उपवर्ष) में मिलता है। सबसे प्रसिद्ध भाष्य शबर-भाष्य है जिसके लेखक शवर थे। सम्भव है ऊपर के भाष्यों में कुछ शवर- भाष्य से पूर्व लिखे गए हों। शवर-भाष्य के समय के सम्बन्ध में अनेक धारणाएँ हैं। डा० गंगानाथ झा का मत है कि सम्भवतः शवर 57 ई० पू० के आस-पास हुए होगे क्योकि एक श्लोक मे ऐसा उल्लेख किया गया है कि विक्रमादित्य क्षत्रिय पत्नी से उत्पन्न शवर-स्वामी के पुत्र थे। उत्तर-कालीन मीमासा-दर्शन पर लिखे ग्रन्थों का मुख्य आधार शवर-भाष्य ही रहा है। शवर-भाष्य पर भी एक प्रसिद्ध टीका लिखी गई है जिसके लेखक अज्ञात हैं। प्रभाकर ने इस विशिष्ट टीकाकार को 'वार्तिक कार' नाम मे उद्धृत किया और कुमारिल ने केवल 'यथाहुः' (जैसा वे कहते है) कहकर उल्लेख किया है। डा० गंगानाथ झा का मत है कि प्रभाकर की 'वृहती'

नामक टीका का आधार वार्तिककार की शवर-भाष्य टीका है। शालिक नाथ मिश्र ने प्रभाकर की 'वृहती' पर एक और टीका लिखी है जिसका नाम 'ऋजुविमला' है। मीमासा-दर्शन पर प्रभाकर की (व्याख्या) उक्तियो के सकलन के रूप मे मिस्र ने एक और ग्रन्थ लिखा है जो प्रकरण-पचिका के नाम से जाना जाता है। ऐसा कहा जाता है कि प्रभाकर जो निवधकार के नाम से प्रसिद्ध है और जिनके मत को 'गुरुमत के रूप मे जाना जाता है, कुमारिल के शिष्य थे। कुमारिल भट्ट शकर के समकालीन (ज्येष्ठ) थे। इनका जन्म शकर से कुछ पूर्व हुआ था। शकर का समय सन् 788 ईसवी निश्चित किया गया है। कुमारिल ने शवर-भाष्य के ऊपर स्वतत्र दृष्टि से विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखी है, जो तीन भागो मे विभाजित हैं। शवर-भाष्य के प्रथम भाग के प्रथम अध्याय मे दर्शन-सिद्धान्तो का निरूपण किया गया है जो 'तर्कपाद' कहलाता है। कुमारिल की प्रथम टीका तर्कपाद पर लिखी गई है जो 'श्लोकवार्तिक' के नाम से प्रसिद्ध है। इस टीका का दूसरा भाग 'तत्रवार्तिक' कहलाता है जो शवर-भाष्य की प्रथम पुस्तक के अवशिष्ट अध्यायो और दूसरी व तीसरी पुस्तक पर लिखा गया है। टीका का तीसरा भाग 'टुप टीका' नाम से जाना जाता है जिसमे शवर-भाष्य के शेप नौ भागो पर सक्षिप्त टिप्पिणियाँ दी गई हैं।[1] कुमारिलको उनके उत्तरवर्ती विद्वानो ने भट्ट, भट्टपाद और वार्तिककार आदि नामो से पुकारा है। कुमारिल के पश्चात् मीमामा-दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् मंडन मिश्र ने 'विधि विवेक' एव 'मीमासा-अनुक्रमणी नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके साथ ही उन्होंने 'तन्त्रवार्तिक' पर भी एक टीका लिखी। अपने जीवन के उत्तरकाल मे ये आचार्य शकर से शास्त्रार्थ मे पराजित हुए और इस प्रकार वेदान्त के अनुयायी वन गए। परन्तु कुमारिल के पश्चात अन्य अनेक प्रसिद्ध विद्वानों ने मीमासा-दर्शन पर सुन्दर ग्रन्थ लिखे हैं। कुमारिल के अनुयायियो मे सवसे प्रसिद्ध नवीं शताब्दी में उत्पन्न पार्थसारथि मिश्र हैं जिन्होंने 'शास्त्रदीपिका' 'तन्त्ररत्न' और 'न्याय रत्नमाला' की रचना की है। सुचरित मिश्र ने 'काशिका' और सोमेश्वर ने न्याय-सुधा' नामक ग्रन्थ लिखे। इसके अतिरिक्त रामकृष्ण भट्ट ने शास्त्रदीपिका के तर्कपाद पर एक वृहत् एव विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है जिसका नाम 'युक्तिस्नेह-पूरणी सिद्धान्त-चन्द्रिका' है। 'शास्त्र दीपिका' के अवशेप भागो पर सोमनाथ ने 'मयूखमालिका' नामक टीका लिखी है। मीमांसा-दर्शन के अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थो मे माधव रचित 'न्याय माला-विस्तार', शकर भट्ट की 'सुवोधिनी' व 'मीमासा-वल-प्रकाश', वाचस्पति मिश्र की 'न्याय-कणिका' कृष्ण यज्वन रचित 'मीमासा-परिभापा', अनन्तदेव की 'मीमांसा-न्यायप्रकाश', गागा भट्ट रचित भट्ट चिंतामणि' आदि मुख्य हैं। इन पुस्तकों में से अधिकाश का मनन इस अध्याय की विपय-वस्तु के सम्वन्ध मे किया गया है। हिन्दुओं के जीवन में मीमासा-दर्शन का विशिष्ट स्थान है। नित्य-प्रति के धार्मिक कृत्य, पूजा-अनुष्ठान आदि की व्यवस्था मीमासा मे की गई है। स्मृति, जो धार्मिक नियमो का सकलन है, उसका आधार मीमासा दर्शन ही है। ब्रिटिश-

1. 'मिक्स वुद्धिस्ट ट्रैक्ट्स' मे महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने यह मत प्रकट किया है कि कुमारिल शकर से सम्भवत दो पीढ़ी पूर्व हुए थे।

काल में हिन्दुओं के सामाजिक जीवन मे नियमन के लिए जिस विधि और कानून का निर्माण किया गया है वह भी इसके द्वारा निरूपित स्मृति और दर्शन के आधार पर ही हुआ है। उत्तराधिकार, सम्पत्ति-सम्बन्धी सारी व्यवस्था भी इसी दर्शन पर आधारित है।

मीमांसा से वेदान्त-दर्शन में क्या साम्य और भेद है इसकी विशद व्याख्या अगले अध्याय में की गई है, पर अन्य दर्शनों से इसका कही-कही मतभेद है यह इस अध्याय में भली-भाँति स्पष्ट कर दिया गया है। इस दर्शन की स्वयं की भी दो शाखाएँ है जो प्रभाकर और कुमारिल के द्वारा प्रारम्भ की गई थी। इन दोनों शाखाओ पर इस अध्याय में सम्यक् प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। उत्तरकाल मे प्रभाकर का मत लुप्तप्राय हो गया था पर कुमारिल के समय मे प्रभाकर कुमारिल का प्रसिद्ध प्रतिद्वन्द्वी माना जाने लगा था।[1] यज्ञादि करने के निमित्त वैदिक संहिताओं के अर्थ और व्याख्या सबंधी सिद्धान्तों पर मीमांसा-सूत्रों में प्रकाश डाला गया है। इनका अपना दर्शन बहुत थोड़ा है जिसका स्थान-स्थान से ग्रहण करना ही उपाय रह जाता है। शबर ने भी दर्शन सम्बन्धी व्याख्या बहुत कम की है। जो व्याख्या की भी है वह अस्पष्ट है। कुमारिल और प्रभाकर के उल्लेखों से ही हमको वार्तिककार के मत का पता चलता है। अतः मीमांसा-दर्शन के लिए हमारा मुख्य स्रोत कुमारिल और प्रभाकर की ही रचनाएँ हैं क्योकि उनके पश्चात् इस दर्शन पर जो भी ग्रन्थ लिखे गए हैं वे टीका-टिप्पणी के रूप मे ही लिखे गए हैं। अँग्रेजी मे भी डॉ. गगानाथ झा के अतिरिक्त और भी किसी ने इस दर्शन पर कोई प्रामाणिक रचना नही की है। डॉ. झा ने 'प्रभाकर-मीमांसा' नामक जो ग्रन्थ लिखा है उससे इस अध्याय को लिखने मे बड़ी सहायता मिली है।

न्याय का 'परतःप्रामाण्य' सिद्धान्त और मीमांसा का 'स्वतः-प्रामाण्य' सिद्धान्त

मीमांसा-दर्शन का मुख्य आधारस्तम्भ ज्ञान का स्वतः-प्रामाण्य सिद्धान्त है। ज्ञान अपने आप स्वय-सिद्ध है इसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। मीमासा के अनुसार केवल स्मृति के लिए प्रमाण की आवश्यकता हो सकती है क्योकि पूर्वप्रसग को

1. कुमारिल के सम्बन्ध मे एक किवदन्ती प्रचलित है कि जब वे अपने शिष्य प्रभाकर को हराकर किसी प्रकार भी अपने मत में मिलाने मे असमर्थ रहे तो उन्होने एक युक्ति का उपयोग किया। उनके शिष्यो ने झूठमूठ ही यह प्रसिद्ध कर दिया कि कुमारिल की मृत्यु हो गई है। फिर प्रभाकर को बुलाकर पूछा कि अन्तिम संस्कार किसके मतानुसार करना चाहिए, किसके मत को सत्य मानना चाहिए। प्रभाकर ने उत्तर दिया कि उनके गुरु का मत ही सत्य है, उनके अनुसार ही अन्तिम संस्कार होना चाहिए। यह सुनकर कुमारिल उठ बैठे और उन्होंने घोषित किया कि प्रभाकर हार गए। प्रभाकर ने उत्तर दिया कि जब तक कुमारिल जीवित हैं वे हार मानने को तैयार नही हैं (मरकर ही वे जीत सकते हैं, मृत्वाजितम्) पर इस कहानी का कोई एतिहासिक महत्त्व नही है।

पूर्णतया याद रखने से कहीं भूल हो सकती है परन्तु इसके अतिरिक्त किसी भी ज्ञान के विषय को प्रमाणित करने के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नही है। ज्ञान अपनी सत्यता का स्वय ही सत्यापन करता है। इसके लिए किसी अन्य वाह्य परिस्थिति अथवा वाह्य ज्ञान का आश्रय आवश्यक नही है। न्याय का मत है कि ज्ञान का स्वत-प्रामाण्य मानने के पहले इस पर विचार करने की आवश्यकता है। यह सत्य है कि कुछ परिस्थिति विशेष मे हमे किसी वस्तु का स्वत. ज्ञान होता है, पर यह कहना कहाँ तक युक्ति-सगत है कि इस ज्ञान की सत्यता का प्रमाण यह स्वय ही है। उदाहरण के लिए दृष्टि-सम्पर्क के द्वारा हमें नीले रग का बोध होता है। परन्तु यह दृष्टि-सम्पर्क यह प्रमाणित नहीं कर सकता कि जो ज्ञान उत्पन्न हुआ है वह सत्य है क्योंकि दृष्टि-सम्पर्क का उस ज्ञान से जो उसके द्वारा उत्पन्न हुआ है, कोई सम्बन्ध नही है। फिर ज्ञान मन का विषय है, आत्मपरक है, यह वस्तुपरक दृष्टि से कैसे सिद्ध कर सकता है कि जिस वस्तु के सम्बन्ध मे नीलेपन का बोध हुआ है वह वास्तव मे नीली है। नीलिमा-बोध के पश्चात् ऐसा कोई अन्य प्रत्यक्ष बोध नही होता जिससे यह कहा जा सके कि जो वस्तु मैंने देखी है वह वस्तुनिष्ठ रूप मे नीली ही है। इस प्रकार किसी प्रकार के अन्य प्रत्यक्ष से इसकी सत्यता का प्रमाण नही दिया जा सकता। प्रत्यक्ष की क्रिया अथवा इन्द्रिय-सम्पर्क से जो मन मे ज्ञान उत्पन्न होता है यह कितना सत्य है, कितना प्रामाणिक है, इसका कोई साक्ष्य उस ज्ञान मे नही होता। यदि ज्ञान की उत्पत्ति मात्र से प्रामाणिकता और सत्यता स्थापित हो जाती तो फिर भ्रान्ति मिथ्यात्व आदि का प्रश्न ही नही उठता। हम-मृग-मरीचिका को देख कर भी उसके सम्बन्ध में कोई सदेह नहीं करते। परन्तु वास्तव मे अनेक बार हम यह प्रश्न करते हैं कि हमारा प्रत्यक्ष कहाँ तक सत्य है ? प्रत्यक्ष को प्रामाणिक मानने के लिए हम भविष्य के व्यावहारिक अनुभव का आश्रय लेते हैं। अर्थात् जो प्रत्यक्ष व्यवहार मे अनुभव से सिद्ध होता है उसे ही प्रामाणिक मानते हैं। फिर ज्ञान का प्रत्येक अग कुछ कारण सस्थिति पर निर्भर करता है। पूर्ववर्ती कारण और परिस्थितियो के अभाव में ज्ञान की उत्पत्ति नही हो सकती। ज्ञान की सत्यता का अर्थ यह है कि उस ज्ञान के प्रकाश मे जो कार्य किया जाए उसके द्वारा हम तद-नुसार व्यावहारिक सफलता प्राप्त कर सकें। जो ज्ञान व्यावहारिक अनुभव से सत्य सिद्ध हो वही प्रामाणिक है। हम मृग-मरीचिका को मिथ्या भ्रान्ति इसलिए कहते हैं कि इस ज्ञान के आधार पर गति करने से जल की प्राप्ति नही हो सकती। जिस ज्ञान से ज्ञाता को फल प्राप्ति हो वही प्रामाणिक है वही 'अर्थक्रियाज्ञान' या 'फलज्ञान' है। इस प्रकार ज्ञान का 'स्वत प्रामाण्य' सिद्ध नही होता। इसकी सत्यता 'सम्वाद' के द्वारा प्रमाणित होती है। यहाँ सम्वाद का अर्थ व्यावहारिक अनुभव के आधार पर सत्यता का परीक्षण है। इस परीक्षण के फल से, यदि प्राप्त ज्ञान का सामजस्य है तो ज्ञान का व्यवहार से 'सम्वाद' (मेल) स्थापित होता है, अन्यथा नहीं।[1]

न्याय का यह प्रतिवाद इस सकल्पना पर आधारित है कि ज्ञान निश्चित वस्तुनिष्ठ परिस्थितियों और उपाधियो से सलग्न कारण-समूह द्वारा होता है। इस प्रकार जो ज्ञान

1 'न्याय मजरी' पृ० 160-173 देखिए।

उत्पन्न होता है, उसके परीक्षण के लिए अथवा उसकी वैधता जानने के लिए तथ्यों से उसका सामंजस्य ज्ञात करना पड़ता है। लेकिन ज्ञान-उत्पत्ति का यह सिद्धान्त केवल एक संकल्पना मात्र है, क्योंकि मनुष्य के अनुभव से ऐसा कोई प्रमाण प्राप्त नही होता जिससे यह कहा जा सके कि ज्ञान किन्हीं पूर्ववर्ती कारण समूह से उत्पन्न होता है। हम किसी वस्तु पर दृष्टि डालते है और तत्काल हम स्थूल वस्तुओं के स्वरूप को और तथ्यों को हृदयंगम करते हैं, उनसे अवगत हो जाते है। या यह कहना चाहिए कि इन्द्रिय-सम्पर्क होते ही हममे एक वस्तुपरक चेतना हो उठती है। ज्ञान स्थूल जगत् के तथ्यों को प्रकाशित करता है, उनके बारे मे हमे तत्काल विशिष्ट जानकारी प्राप्त हो जाती है। परन्तु इससे यह कहना कि स्थूल जगत् हम मे किसी प्रकार का ज्ञान उत्पन्न करता है, अनुभवसिद्ध नही है, अतः यह एक कल्पित धारणा मात्र है। केवल ज्ञान की ही यह शक्ति है कि वह अन्य सब वस्तुओं को प्रकाशित करता है, स्पष्ट करता है। ज्ञान संसार के अन्य कार्यों के समान कोई कार्य-विशेष या घटना-विशेष नहीं है। जब हम यह कहते हैं कि पदार्थों के बाह्य योग से (घटनाक्रम से) हम को ज्ञान-बोध होता है तब हम भ्रान्ति के कारण ऐसा कहते हैं। क्योंकि जड़-संयोग ज्ञान का प्रेरक नही हो सकता। ज्ञान प्रकृति की घटना अथवा वस्तुओं को मन पर चित्रित कर देता है, परन्तु किसी भी अनुभव के आधार पर हम यह नही कह सकते कि प्रकृति की किसी क्रिया अथवा घटना से हम में ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ज्ञान के सम्बन्ध में कारण-सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता। ज्ञान प्रकृति के सभी जड़-व्यापारों से भिन्न और उच्चतर है क्योंकि यह इस जड़-व्यापार को प्रकाशित करता है, इस व्यापार की व्याख्या प्रस्तुत करता है जिससे हम उसको समझ सकें। पदार्थों में या वस्तुओ मे किसी प्रकार की वैधता का प्रश्न नही उठता। सत्यता अथवा वैधता पदार्थों की न होकर ज्ञान की हुआ करती है। हम सत्य एवं प्रामाणिक शब्द का प्रयोग ज्ञान के लिए करते है, न कि पदार्थ के लिए। जब हम कहते हैं कि यह ज्ञान वस्तुनिष्ठ अनुभव से सत्य प्रतीत होता है तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि पूर्वज्ञान के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि यह ज्ञान-बोध सत्य है। पूर्वज्ञान से प्रस्तुत ज्ञान की तुलना कर उनके साम्य के आधार पर हम वैधता की बात कहते हैं। कोई भी तथ्य अथवा घटना हम तक सीधी नही पहुँच सकती, हम उसको बोधात्मक रूप मे ज्ञान के द्वारा ग्रहण करते हैं। उसका ज्ञान न होने पर हमारे लिए उसका कोई वास्तविक अस्तित्व ही नही रहता। उसका सत्यापन और वैधता ज्ञान पर निर्भर है, ज्ञान के अतिरिक्त उसकी किसी वैधता का प्रश्न ही नहीं उठता। यह सत्य है कि समय-समय पर अनेक वस्तुओं के सम्बन्ध में हमे भिन्न-भिन्न प्रकार ज्ञान उत्पन्न होता है पर यह ज्ञान वस्तुओं के द्वारा उत्पन्न नही किया जा सकता ज्ञान के बिना हम किसी भी पदार्थ को जानने में असमर्थ रहते हैं। ज्ञान भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं को प्रकाशित करता है, कभी-कभी एक ही वस्तु के ज्ञान-बोध में अन्तर होता है। ऐसा क्यों होता है यह कहना कठिन है। अनुभव केवल यही सिद्ध करता है कि ज्ञान से प्रकृति के पदार्थों का बोध होता है, परन्तु ऐसा क्यो होता है यह हमारे अनुभव की गति से परे है। लेकिन किसी भी अवस्था मे ज्ञान अपने अस्तित्व के लिए प्रकृति की किसी भी घटना

अथवा वस्तु पर निर्भर नही है, इसके विपरीत ज्ञान के द्वारा ही सारा घटनाक्रम प्रकाशित होता है। यही ज्ञान का 'स्वत प्रामाण्य' है। जैसे ही ज्ञान की 'उत्पत्ति' होती है हमको वस्तु-बोध होता है। ज्ञान उत्पत्ति और वस्तु-बोध के बीच मे और कोई ऐसी कडी या अवस्था नही है जिसके ऊपर ज्ञान वस्तु को प्रकाशित करने के लिए आश्रित हो। ज्ञान न केवल स्वतन्त्र रूप मे उदय होता है पर यह अपने कार्य-क्षेत्र मे भी स्वतन्त्र है जैसा कहा है "स्वकार्यकरणे स्वत प्रामाण्य ज्ञानस्य।" जब कभी किसी प्रकार के ज्ञान का उदय होता है, हम उसको सत्य मानकर तदनुसार 'प्रवृत्ति' करते हैं। जब यह ज्ञान उत्पन्न होता है हमारे मन मे इसके सम्बन्ध मे किसी प्रकार का सन्देह नही होता, हम इसे प्रामाणिक मानते हैं। ज्ञान का उदय, वस्तु-बोध, वस्तु-स्थिति और बोधानुकूल प्रवृत्ति के निश्चयात्मक मन्तव्य के साथ ही होता है। परन्तु जब हमारा वस्तु-बोध भ्रान्तिमय होता है, तो उसके पश्चात् इस सज्ञान का उदय होता है कि हमारा पहला बोध सम्भवत सत्य नही था। इस प्रकार यह सम्भव है कि ज्ञान के उदय के पश्चात् हमारे अनुभव या अन्य प्रत्यक्ष से हम इस नतीजे पर पहुँचे कि हमारा पहला ज्ञान सत्य नही था, परन्तु जब तत्सबधी ज्ञान पहली बार उदय होता है तो हम उसे सत्य और प्रामाणिक मानते हैं और उसी की प्रेरणा के अनुसार कर्म करते हैं। मीमासा का स्पष्ट मन्तव्य यही है कि ज्ञान का उदय इसकी प्रामाणिकता और सत्यता के समावेश के साथ होता है। यह हो सकता है कि फिर अन्य तथ्यो अथवा अनुभवो के आधार पर यह ज्ञान असत्य अथवा अवैध दिखाई पडे (ज्ञानस्य प्रामाण्यम् स्वत. अप्रामाण्यम् परत)। विपरीत अनुभव (बाधक ज्ञान) के कारण या इन्द्रिय दोष से (कारण दोष ज्ञान) जो बोध का एक समय हुआ है वह बाद को मिथ्या सिद्ध हो सकता है। इस उदित ज्ञान के सत्य को सदेह की दृष्टि से देखने का कोई कारण नही है विशेष रूप से जब किसी प्रकार का इन्द्रिय-दोष न हो और जब वह अनुभव से ही सत्य दिखाई देता हो। यहाँ स्मृति को कोई स्थान नही दिया गया है क्योंकि स्मृति स्वतन्त्र तत्त्व नहीं हैं। स्मृति किसी पूर्वानुभव पर निर्भर है। स्मृति के प्रसुप्त सस्कार स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न नही माने जा सकते। इनका आधार पूर्वोत्पन्न ज्ञान-बोध है।

प्रत्यक्ष (बोध) में ज्ञानेन्द्रियों का स्थान

न्याय-दर्शन मे ज्ञान की उत्पति का आधार इन्द्रिय-सम्पर्क माना गया है। मीमासा का मत इससे एकदम भिन्न है। इसके अनुसार ज्ञान की उत्पत्ति स्वयमेव होती है, यह किसी वस्तु पर आश्रित नही है। इस प्रकार इन्द्रिय-सम्पर्क से ज्ञान की उत्पत्ति को मीमांसा स्वीकार नही करता। पर यदि ऐसा है तो इसमे यह स्पष्ट नही होता कि ज्ञान-बोध में इतनी विविधता क्यो होती है। साथ ही न्याय-दर्शन के इन्द्रिय-जनित ज्ञान के सिद्धान्त का विवेचन भी मीमांसा-दर्शन के दृष्टि-कोण को समझ ने के लिए आवश्यक है। मीमासा का मत है कि 'इन्द्रियों के सम्पर्क के कारण ज्ञान उत्पन्न होता है' यह केवल अनुमान और कल्पना का विषय है। क्योंकि जब हम रे मन मे किसी विषय-वस्तु के सम्बन्ध मे ज्ञान होता है तो हम यह अनुमान लगाते हैं कि सभवत इन्द्रियो की सहायता से ऐसा हुआ होगा।

ज्ञान की उत्पत्ति के समय इन्द्रियों की क्रिया का कोई ध्यान नहीं होता। ज्ञान की उत्पत्ति सर्वथा स्वतन्त्र है, केवल एक हो उदाहरण ऐसा है जहाँ ज्ञान किसी अन्य पर आश्रित दिखाई देता है और वह भी तब जब वह किसी पूर्वज्ञान की स्मृति का आश्रय लेता है। अन्य अवस्थाओ मे ज्ञान के उदय के पूर्व, ज्ञान को मूर्त रूप देने वाले किसी भौतिक संयोग का अथवा उनकी किसी प्रक्रिया का पता नही चलता। ज्ञान के उदय के पश्चात् जो भी इच्छा हो अनुमान किया जा सकता। सर्वप्रथम हमको ज्ञान-बोध होता है। इस प्रकार इन्द्रियो का विषय-वस्तु से सम्पर्क ज्ञान के उदय के लिए अनेक उपाधियो मे से एक भले ही मान ली जाए परन्तु यह निश्चित है कि ज्ञान का बोध और उसकी प्रामाणिकता ज्ञान-बोध मे ही निहित होती है। यह बोध तात्कालिक निश्चयात्मक, अनाश्रित, स्वतन्त्र और प्रत्यक्ष होता है।

प्रभाकर ज्ञानेन्द्रियों की स्थिति और अस्तित्व के सम्बन्ध में अपना मत प्रस्तुत करते हैं कि किस प्रकार इन इन्द्रियो के अस्तित्व की कल्पना की जाती है। हम देखते हैं कि वस्तुओ के सम्बन्ध मे हमारा बोध या सज्ञान एक समय और एक जैसा नही होता, विभिन्न क्षणों मे होने वाले हमारे बोध में काफी विविधता होती है। यह संज्ञान आत्मा में होते हैं, अतः हम आत्मा को बोध का उपादान कारण (समवायि कारण) कह सकते हैं। पर इसके साथ ही अन्य विशिष्ट कारण अथवा संलग्न कारण भी होने चाहिए (असमवायि कारण) जिसके द्वारा बोध-विशेष की उत्पत्ति होती है। ऐसे अमूर्त कारण या तो उपादान कारण के कारण (हेतु) दिए होते हैं या उपादान कारण मे निहित होते हैं। जैसे कपडे के सफेद रंग मे, धागे का सफेद रग, सफेदी का कारण है, साथ ही वह धागा वस्त्र का उपादान कारण भी है। इस प्रकार इस उपादान कारण में या इसके भी कारण मे यह अमूर्त कारण निहित हैं। दूसरे उदाहरण में उपादान कारण मे ही यह अमूर्त अथवा अपार्थिव कारण छिपा हुआ है जैसे अग्नि के ताप से नयी गन्ध की उत्पत्ति। यहां नयी गन्ध का अमूर्त कारण अग्नि-संस्पर्श है। यह उस गन्ध में ही निहित है जिसको तपाकर नयी गन्ध बनाई जाती है। आत्मा अनन्त है। आत्मा का कोई अन्य हेतु (कारण) नही है। इस धारणा को लेकर चलने में कोई हानि नहीं है कि संज्ञान (बोध) के (असमवीय) अमूर्त कारण की व्याप्ति आत्मा मे ही होनी चाहिए और इस कारण गुण रूप होना चाहिए। अर्थात् संज्ञानात्मक ज्ञान-बोध आत्मा का गुण है। किसी भी शाश्वत अनन्त वस्तु मे गुण की व्याप्ति किसी अन्य तत्त्व के सम्पर्क से ही हो सकती है। संज्ञान आत्मा का व्याप्ति (अर्जित) गुण है। यह व्याप्ति किसी तत्त्व के सम्पर्क से होनी चाहिए। अनन्त शाश्वत तत्त्व की व्याप्ति का हेतु भी अनन्त होना चाहिए। आत्मा मे संज्ञान व्याप्ति है अत इसकी उत्पत्ति किसी ऐसे ही तत्त्व के सम्पर्क से होनी चाहिए। अनन्त तत्त्व तीन हैं—समय, (काल), स्थान (आकाश) और परमाणु। इनमें से काल और आकाश सर्वव्यापक हैं, इनमे आत्मा का सम्पर्क सदैव ही रहता है। अत परमाणु ही ऐसा तत्त्व है जिसके सम्पर्क से आत्मा में (गुणरूप) संज्ञान की समय-समय पर उत्पत्ति भिन्न-भिन्न रूप से हो सकती है। आत्मा के साथ सम्पर्क होने के कारण यह परमाणु ऐसा होना चाहिए जो शरीर में सदैव सूक्ष्म रूप मे विद्यमान रहता हो। इस पर-

माणु तत्त्व को इच्छा-अनिच्छा की अनुभूति मन के द्वारा ही होती है। परन्तु मन स्वय वर्ण, गन्ध आदि गुणो से रहित है और स्वतन्त्र रूप से आत्मा को इनका सज्ञान नहीं करा सकता। अत ऐसे अवयवो की आवश्यकता होगी जो इन गुणो को ग्रहण करते हैं। वर्ण प्रकाश (तेजस्) का गुण है, इसको नेत्र ग्रहण करते हैं, गन्ध पृथ्वी तत्त्व का गुण है जिसे नासिका ग्रहण करती है, रस, जल, (अप) का गुण है और रसना ही इसे ग्रहण करने में समर्थ है। आकाश-तत्त्व से निर्मित कर्णेन्द्रिय है जो शब्द को ग्रहण करती है। अन्त मे वायु के माध्यम से स्पर्श की अनुभूति होती है। त्वचा (त्वक्) स्पर्शेन्द्रिय है। इस प्रकार किसी भी सज्ञान से पूर्व चार सम्पर्क आवश्यक हैं। (1) ज्ञानेन्द्रियों का विषय-वस्तु मे सम्पर्क, (2) ज्ञानेन्द्रियो का विषय-वस्तु के गुणों से सम्पर्क, (3) मन का ज्ञानेन्द्रियो से सम्पर्क, (4) मन का आत्मा से सम्पर्क। प्रत्यक्ष से विषय तीन हैं—तत्त्व, गुण, जाति (वर्ग)। द्रव अथवा मूर्त (गोचर) या स्थूल पदार्थ अग्नि, जल, पृथ्वी और वायु हैं जिनको उनके महत् रूप मे ही स्थूल पदार्थों के रूप में देखा जा सकता है। जब ये तत्त्व सूक्ष्म रूप के परमाणुओं मे परिवर्तित हो जाते हैं, तब उनका बोध सम्भव नहीं है। गुणो की सज्ञा इस प्रकार है—रगरूप (वर्ण), रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, आकार, प्रकार, पृथक्त्व, योग (युति), विभाजन, पूर्वत्व, पश्चता, सुख, दु ख, इच्छा, अनिच्छा और प्रवृत्ति।[1]

सज्ञान-प्रक्रिया मे ज्ञानेन्द्रियो के स्थान और उनकी विषय-वस्तु के सम्पर्क के सम्बन्ध मे सम्भवत कुमारिल भट्ट किसी निश्चित मतव्य पर नही पहुँच पाए थे। उनके अनुसार इन्द्रियो के तीन ही रूप सम्भव हो सकते हैं। इन्द्रियो को या तो हम प्रवृत्ति के रूप मे मान सकते हैं अथवा इन्द्रियो को हम ऐसी अन्त शक्ति मान सकते हैं जो विषयो के वास्तविक सम्पर्क मे आए बिना ही उनका बोध प्राप्त करती है, अथवा वे ऐसी शक्ति हैं जो पदार्थों के सम्पर्क मे आती हैं और उनके बोध मे एक उपाधि का कार्य करती हैं।[2] कुमारिल इस अन्तिम दृष्टिकोण को अधिक मान्य समझते थे।

निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष बोध की दो अवस्थाएँ हैं। पहली निर्विकल्प प्रत्यक्ष है और दूसरी अवस्था

---

1 'प्रकरण पचिका' पृ० 52 देखिए। इसके अतिरिक्त डा० गगानाथ रचित 'प्रभाकर-मीमासा' पृ० 35 देखिए।

2 इस सदर्भ मे 'श्लोकवार्तिक', 'प्रत्यक्षसूत्र', पृ० 40 और 'न्यायरत्नाकर' देखिए। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि न्याय की भाँति साख्य यह नही मानता कि इन्द्रिया उनके विषयो को ग्रहण करने के लिए (प्राप्यकारित्व) उन तक जाती थी परन्तु साख्य का मत है कि इन्द्रियो मे ऐसी विशेष शक्ति ('वृत्ति') है जिसके कारण दूरस्थ स्थानो पर पहुँचकर सूर्य, चन्द्र आदि तक को भी ग्रहण कर लेती हैं। इन्द्रियो की इस प्रकार की प्रवृत्ति है। इस 'वृत्ति' को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया है, जिस पर पार्थसारथी ने आक्षेप करते हुए कहा है कि यह वृत्ति अन्य तत्त्व है ('तत्त्वान्तर')।

सविकल्प प्रत्यक्ष है। पहली अवस्था प्रत्यक्ष की वह प्रारम्भिक अवस्था है जब इन्द्रियाँ विषय के प्रथम सम्पर्क में आती हैं। इस अवस्था में वस्तुओं की केवल चेतना मात्र होती है। यह चेतना उसी प्रकार की होती है जैसे बालक को प्रथम दृष्टि में अपने आसपास के संसार की होती है। इसमें जाति या विशिष्ट गुणों के अन्तर का कोई स्थान नहीं होता।[2] कुमारिल भट्ट का मत है कि प्रत्यक्ष की यह निर्विकल्प अवस्था केवल 'आलोचना' मात्र है। यह दृष्टिकोण बौद्ध दृष्टिकोण से विशेष रूप से साम्य रखता है जिसके अनुसार निर्विकल्प प्रत्यक्ष को व्यक्ति-विशेष की दृष्टि से 'स्वलक्षण' माना जाता है। यह व्यक्तित्व बोध ही सत्य एवं वैध है अन्य सब काल्पनिक है, ऐसा बौद्ध मत है। परन्तु कुमारिल और प्रभाकर दोनो का ही मत है कि हम निर्विकल्प प्रत्यक्ष में सामान्य और विशिष्ट दोनों को ही ग्रहण करते है परन्तु ये दोनों हमारे बोध-ज्ञान में स्पष्ट रूप इसलिए नहीं पाते कि पूर्व-दृष्ट (पहले देखी हुई) वस्तुओ की स्मृति उस समय जागृत नही होती जिनकी तुलना से उनके विशिष्ट या सामान्य गुणों की तुलना कर उसे विशिष्ट नाम दे सकें। जब पूर्वदृष्ट वस्तु के आधार पर हम यह निश्चित कर लेते हैं कि इसके रूप गुण का साम्य उस विशिष्ट वस्तु से है, तब हम उसका वर्गीकरण कर उसे पहचान लेते हैं। जब तक अन्य देखी हुई वस्तुओं की स्मृति नही होती तब तक तत्सम्बन्धी आधार सामग्री से तुलनात्मक विनिश्चयन का प्रश्न नहीं उठता, और इस प्रकार इस प्रथम अवस्था में दृष्ट वस्तु अस्पष्ट, निर्विकल्प रहती है। पर दूसरी अवस्था मे स्वात्मा, पूर्व-संस्कार और स्मृति के आधार पर गुणो को जाँचकर सामान्य और विशिष्ट के भेद को स्पष्ट रूप से समझ लेती है, उसके रूप, नाम आदि का निश्चयन कर लेती है, यह निश्चय बोध ही 'सविकल्प प्रत्यक्ष' है। सविकल्प प्रत्यक्ष का आधार निर्विकल्प प्रत्यक्ष है परन्तु सविकल्प प्रत्यक्ष भी अनेक ऐसे तथ्यों को प्रथम बार ग्रहण करता है जिनका बोध निर्विकल्प अवस्था में नहीं हो पाया था। अतः सविकल्प अवस्था में भी संज्ञान होता है और यह संज्ञान भी उतना ही वैध है जितना प्रथम अवस्था मे उत्पन्न हुआ संज्ञान।[2] कुमारिल भी प्रभाकर के मत से सहमत हैं कि सविकल्प एवं निर्विकल्प ये दोनों ही प्रत्यक्ष वैध हैं।

प्रत्यक्ष (बोध) सिद्धांत से सम्बद्ध कुछ दार्शनिक समस्याएँ

निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्ष में अन्तर (भेद) का आधार एक दृष्टि से जाति का विनिश्चयन भी माना जा सकता है। अर्थात् निर्विकल्प प्रत्यक्ष में जाति का बोध नही केवल किसी वस्तु का सामान्य बोध होता है, जबकि सविकल्प प्रत्यक्ष मे विशिष्ट गुणो के आधार पर जाति का निश्चय कर लिया जाता है। भारतीय दर्शन में 'जाति' की व्याख्या के पहले 'अवयव', 'अवयवी' पदों का विवेचन अपेक्षित है। 'स्वतः प्रामाण्यवाद' की व्याख्या

---

1. इस विषय में प्रस्तुत दृष्टिकोण की तुलना वैशेषिक दृष्टिकोण से कीजिए जिसकी व्याख्या श्रीधर ने की है।
2. 'प्रभाकर पंचिका और शास्त्र दीपिका'।

करते हुए प्रभाकर कहते हैं कि किसी वस्तु के अस्तित्व का प्रमाण उसके प्रत्यक्ष-बोध मे है। जिस वस्तु को अपनी चेतना मे ग्रहण करते हैं उसे हम साम्य समझते हैं। उसकी स्थिति के लिए अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता है? इस प्रकार मनन करने से यह कहा जा सकता है कि जितने पार्थिव स्थूल पदार्थ हैं, उन सबका वास्तविक अस्तित्व है क्योंकि हम उनको प्रत्यक्ष देखते हैं। सूक्ष्म परमाणु उपादान कारण हैं और उनका योग (सयोग) 'असमवायि कारण' है। सूक्ष्म परमाणुओ के 'सयोग' के कारण ही अवयवी, अवयव से भिन्न होता है। है। यद्यपि अवयवी अवयवों के समवाय सयोग से निर्मित होता है पर सयोग के प्रकार से परमाणु निर्मित वस्तुएँ भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेती है। फिर यह आवश्यक नही होता कि सम्पूर्ण पदार्थ को समझने के भिन्न-भिन्न अवयवो को अलग-अलग समझा जाए। अवयवी (सम्पूर्ण) का प्रत्यक्ष अवयव से स्वतन्त्र है। कुमारिल का मत है कि यह बहुत कुछ हमारे दृष्टिकोण पर निर्भर है कि हम एक वस्तु को भिन्न-भिन्न अवयवो के योग से बना हुआ देखते हैं अथवा उसको सम्पूर्ण अवयवी के रूप मे देखते हैं। उनके मतानुसार अवयवी और अवयव वास्तव मे एक ही हैं। जब हम एक वस्तु के भागो अथवा बनाने वाले हिस्सो पर विशेष दृष्टि डालते हैं तो वह वस्तु हमे अवयवो के सयोग के रूप मे दिखाई देती है। परन्तु यदि हम उसी वस्तु को एक दृष्टि से देखते हैं, तो हमको वही वस्तु सम्पूर्ण अवयवी के रूप मे दिखाई देती है जिसके कई भाग या सयोजक तत्त्व हो सकते हैं। उनका यह दृष्टिकोण 'श्लोकवार्तिक' और 'वनवाद' मे स्पष्ट किया गया है।[1]

---

1 साख्य योग के अनुसार एक वस्तु सामान्य और विशेष का योग है ('सामान्यविशेष-समुदायो द्रव्यम्' व्यास-भाष्य 3/44)। इस मत की पुष्टि मे कहा है कि द्रव्य के अतिरिक्त अन्य कोई स्थिति ऐसी नही है जिसमें द्रव्य के विशेषत्व अथवा सामान्यत्व की व्याप्ति हो। यहाँ तक न्याय ने माना है। सयोग दो प्रकार का हो सकता है एक सयोग ऐसा होता है जिसमें उसके भाग या अवयव दूर-दूर स्थित होते हैं (निरन्तरा हि तदवयवा) उदाहरण के लिए जगल लिया जा सकता है जिसमे उसके अवयव वृक्ष दूर-दूर होते हैं। दूसरे प्रकार के सयोग मे अवयवों में कोई अन्तर या दूरी नहीं होती। वे एक-दूसरे से सयुक्त होते हैं जिसे द्रव्य कहते हैं। (अयुतसिद्धावयव। लेकिन द्रव्य मे भी अवयवो से भिन्न अवयवी की कोई स्थिति नहीं है। इस द्रव्य में भी इसके भाग सयुक्त होते हैं। वे इस प्रकार जुड़े होते हैं कि उनके बीच किसी प्रकार की सन्धि नही दिखाई देती। पण्डिताशोक के समान बौद्ध दर्शन भी अवयवी की भिन्न या स्वतन्त्र स्थिति नहीं मानता। बौद्ध मतानुसार अणु-सयोग ही उस विशेष स्थान घेरने से अवयवी के रूप मे दिखाई देता है परन्तु इसकी कोई वास्तविक स्थिति नही है। (परमाणव एव हि पररूप-देश-परिहारेणोत्पन्ना, परस्परसहिता अवभासमाना देशवितानवन्तो भवन्ति) इस प्रकार अवयवी कल्पना मात्र है जिसकी कोई स्थिति नहीं है। (देखिए 'अवयवीनिराकरण' सिक्स बुद्धिस्ट न्याय टैक्स्ट्स)। न्याय का मत है कि परमाणु अवयवहीन है, यह 'निरवयव' हैं। यह कहना उचित नही है कि जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो हम परमाणु को

'जाति' मे भी अनेक इकाइयाँ सम्मिलित है लेकिन यह 'अवयवी' से भिन्न हैं। जाति-गुण प्रत्येक इकाई या अवयव में पाए जाते हैं। अर्थात् जो वस्तु जिस जाति का अंग है, उस जाति के सारे गुण उस अवयव मे निश्चित रूप से पाए जाते हैं—'व्यासज्यवृत्ति'। अवयवी की स्थिति से जाति की स्थिति में कोई अन्तर नही पड़ता। जाति नित्य (शाश्वत) है। जाति-विशेष की एक इकाई के नष्ट होने से जाति नष्ट नही होती। यह अन्य इकाइयो मे अवस्थित रहती है और एक इकाई नष्ट होने पर जाति की स्थिति पूर्ववत् रहती है। उदाहरण के लिए गाय एक जाति-विशेष है। एक गाय की मृत्यु से जाति पर कोई प्रभाव नही पड़ता। जब जन्म होता है तो गाय के बछड़े मे जाति गुणों की व्याप्ति स्वयमेव होती है और उसकी मृत्यु के पश्चात् यह जाति गुण का 'समवाय' उस इकाई मे समाप्त हो जाता है। श्री प्रभाकर के अनुसार समवाय (व्याप्ति) स्वय मे अनन्त अस्तित्व नही है। यह जिस वस्तु मे स्थित है, उसकी शाश्वत या अशाश्वत स्थिति के अनुसार स्थायी अथवा अस्थायी होती है। न्याय जाति को एक इकाई के रूप मे स्वीकार करता है पर प्रभाकर का कथन है कि जाति एक नही अनेक हैं। जाति पदार्थों की सख्या के समान ही सख्यातीत है। जब एक इकाई नष्ट हो जाती है, तव जाति गुण नष्ट नही होता और न किसी अन्य वस्तु मे चला जाता है। उस वस्तु विशेष में भी वह नहीं रहता है, केवल उसका समवाय-सम्बन्ध (व्याप्ति सम्बन्ध) उस वस्तु मे समाप्त हो जाता है। इस प्रकार एक इकाई की उत्पत्ति अथवा समाप्ति से उस जाति-गुण का समवाय उत्पन्न हो जाता है या नष्ट हो जाता है परन्तु जाति का वस्तुविशेष से भिन्न अस्तित्व नही है जैसाकि न्याय का मत है। प्रभाकर के अनुसार जाति का बोध, वस्तुविशेष के उन गुणो का वोध है जो उसी प्रकार की वस्तुओ मे पाये जाते हैं और जिनके आधार पर हम उस वस्तु को जाति विशेष की इकाई के रूप मे देखते है। प्रभाकर न्याय के उस मत को नही मानते, जिसमें प्रत्येक जाति की अपनी 'सत्ता' स्वीकृत हुई है जो वस्तु विशेष से भिन्न और उच्च है, जो वस्तु से सीमित और संक्रमित नही है। प्रभाकर का कथन है कि जाति-गुणो को इसीलिए पहचानते हैं कि हम उन गुणो को सर्वनिष्ठ रूप से जाति की सारी इकाइयो मे देखते है। हम वस्तुओ को 'सत्' इसीलिए कहते हैं कि उनकी वही स्थिति है जिसे हम अपने अनुभव से स्पष्ट देखते हैं। परन्तु वस्तुओ से भिन्न हमारे व्यावहारिक अनुभव से किसी अन्य 'सत्ता' का वोध नही होता। जब हम यह कहते हैं कि यह वस्तु 'सत्' है तो हम यह नही कहते कि इसमे इस जाति की 'सत्ता' है। 'सत्ता' से हमारा अर्थ 'स्वरूप सत्ता' से है अर्थात् हम यह कहते हैं कि इसकी स्थिति इस रूप मे है। इस प्रकार प्रभाकर न्याय के इस दृष्टिकोण का खण्डन करते है कि वस्तुओ के गुण-विकृति-रहित (गुणो से भिन्न) शुद्ध रूप के बोध को प्रत्यक्ष कहा

देखते हैं। अवयवी के अस्तित्व को हम सम्पूर्ण रूप में देखते है, उसी प्रकार उसका वोध होता है और इस वोध को असत्य मानने का कोई कारण नही है। "अदृष्ट-करणोद्भूत मनाविर्भूतबाधकम्। असदिग्धञ्च विज्ञानं कथ मिथ्येति कथ्यते।"

—न्याय-मजरी पृ० 550।

जाए। हम वस्तुओं की शुद्ध सत्ता को पहले देखते हैं यही वास्तविक प्रत्यक्ष है ('सन्मात्र-विषयम् प्रत्यक्षम्') इसके विपरीत प्रभाकर का मत है कि जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो उसके सम्पूर्ण गुणो के सहित उसे देखते हैं। गुणो के अभाव मे वस्तु की कोई स्थिति नही है। सम्पूर्ण गुणो के साथ वस्तु का सज्ञान ही प्रत्यक्ष है।

कुमारिल के अनुसार जाति वस्तुओ से पृथक् नही है। जाति-बोध वस्तु-बोध के साथ ही होता है। जाति-बोध के लिए किसी अन्य बीच की अवस्था की आवश्यकता नही है। कुमारिल का दृष्टिकोण सांख्य-दृष्टिकोण के अनुरूप ही है। सांख्य का मत है कि जब हम व्यक्ति-विशेष को व्यक्ति के दृष्टिकोण से देखते हैं तो हमारी चेतना मे व्यक्तित्व (रूप) अधिक स्पष्ट दिखाई देता है, जाति रूप उस समय अन्तर्हित (सुप्त) हो जाता है। पर जब हम उसी इकाई को या व्यक्ति को जाति के दृष्टिकोण से देखते हैं तो हमारी चेतना मे जाति-गुणो का स्पष्ट भाव जागृत हो उठता है, उस समय व्यक्तित्व जाति-गुणो के आवरण मे निगूढ (अन्तर्हित) हो जाता है। इस प्रकार यह केवल दृष्टिकोण का ही अन्तर है कि हम एक ही वस्तु को जाति या व्यक्ति के रूप मे देखते हैं। इसी मत के अनुरूप कुमारिल कहते हैं कि गुणो की व्याप्ति या उनका समवाय-सम्बन्ध वस्तु से भिन्न नही हैं। गुणो का समवाय वस्तु का ही एक पक्ष है, उसी का ही एक रूप है ('अभेदात् समवायोऽस्तु स्वरूप धर्मधर्मिणो' श्लोक वार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र 149, 150)। कुमारिल प्रभाकर के इस दृष्टिकोण से सहमत हैं कि जाति का प्रत्यक्ष इन्द्रियो द्वारा होता है (तर्वक-बुद्धिनिर्गाह्या जातिरिन्द्रियगोचरा)।

प्रभाकर की व्याख्या के आधार पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मीमासा-दर्शन कणादीय शाखा द्वारा मान्य 'विशेष' को भिन्न वर्ग के रूप मे स्वीकार नही करता। नित्य (शाश्वत व अनन्त) वस्तुओं का एक अलग से विशेष वर्ग माना गया है परन्तु मीमासा के अनुसार इसकी कोई आवश्यकता नही है। साधारण गुणों के अन्तर से जैसे अन्य वस्तुओं को पृथक् पृथक् जानते हैं उसी प्रकार शाश्वत या स्थायी वस्तुओ के भेद का भी बोध सहज हो सकता है, उसके लिए भिन्न वर्ग बनाने की आवश्यकता नहीं है। परमाणुओ की सरचना भेद से, या परमाणु पृथक्त्व से भिन्न-भिन्न वस्तुओ का भिन्न-भिन्न बोध होता है, यही बात उन वस्तुओ के लिए भी सही है जिसे कणाद 'विशेष' के वर्ग मे रखना चाहते हैं।

ज्ञान का स्वरूप

ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों के सयोग से वस्तुविशेष का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रत्यक्ष मे ज्ञाता की स्थिति विशिष्ट है। ज्ञान में, चाहे वह प्रत्यक्ष हो अथवा परोक्ष, ज्ञाता का व्यक्तित्व सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक ज्ञान के पीछे ज्ञाता का व्यक्तित्व अन्तर्हित होता है। दूसरे शब्दो में यह कहा जा सकता है व्यक्ति के दृष्टिकोण के अनुसार जो प्रत्यक्ष-बोध होता है वही ज्ञान है। ज्ञेय वस्तुओं के ज्ञान-बोध के प्रकार के आधार पर प्रमाणो का वर्गीकरण प्रत्यक्ष, अनुमान आदि के रूप मे किया गया है। 'आत्म' तत्त्व मे किसी वस्तु को प्रकाशित करने की अथवा उसका बोध कराने की (प्रकट

करने की) शक्ति नही है क्योंकि वह स्वयं अथवा आत्मा की सुपुप्तावस्था में भी विद्यमान रहता है। परन्तु सोते समय में किसी प्रकार का संज्ञान (वोध) नहीं होता। केवल स्वप्नों की स्मृति से यह अवश्य सिद्ध होता है कि हमारा स्व सुप्तावस्था मे स्वप्नों को देखकर उसका 'आकलन' करता रहा है। वास्तव मे ज्ञान (संविद्) ही उत्पन्न होकर ज्ञाता रूपी आत्मा को और ज्ञेय को प्रकट करता है। सरल शब्दों मे, ज्ञान के द्वारा ही हम ज्ञेय और ज्ञाता के व्यक्तित्व को जान पाते हैं। ज्ञान के इस स्व-प्रकाशी गुण की आलोचना करते हुए ऐसी शंका की जाती है कि हमारा वोध (सज्ञान) उन वस्तुओ के अनुरूप ही होता है जिनका वोध होता है। जव हम दोनों एक रूप हैं तो हम यह भी कह सकते हैं कि उनमे कोई अन्तर नही है। वे एक ही है। मीमासा इसका उत्तर देते हुए स्पष्ट कहती है कि यदि ये दोनो एक ही होते तो हमको संज्ञान और जिस वस्तु का सज्ञान होता है (ज्ञेयवस्तु) भिन्न-भिन्न प्रतीत नही होते। हमारी अनुभूति दोनो को स्पष्ट रूप से पृथक् देखती हैं, हम यह अनुभव करते हैं कि ज्ञेय वस्तु का हमको सज्ञान होता है। सवेदन के (सज्ञानो) द्वारा हमारे 'स्व' के ऊपर वस्तु विशेप के धर्म (गुण) का सस्कार अकित होकर 'स्व' को वस्तु विशेप के संदर्भ मे सक्रिय कर देता है। अतः दूसरे शब्दो मे, हम यह कह सकते हैं कि जिस वस्तु की ओर यह स्व प्रेरित होता है वह ही ज्ञेय वस्तु है जिसका हमे वोध होता है। सज्ञान का कोई रूप नही है यह कहना भी उचित नही होगा। वस्तुओ को प्रकाश में लाकर उनका वोध कराना ही संज्ञान-गुण है, यही उसका रूप है जिसके द्वारा हमे वस्तु-वोध होता है। रूप-गुण वास्तव मे वस्तुओं मे ही होते हैं। इनका रूप-गुण वही है जिसे ज्ञान प्रकट करता है। यहाँ तक कि स्वप्न-वोध भी उन वस्तुओं के सम्वन्ध मे होता है जिनको हम पहले जानते हैं। अचेतन मन मे स्थित इनके सस्कारो को, 'अदृष्ट' स्वप्नावस्था में पुन-र्जीवित कर देता है। मनुष्य इन सक्रिय सस्कारो से स्वप्नावस्था मे उतना ही कष्ट या आनन्द प्राप्त करता है जितना उसके प्रारब्ध मे उसके पाप-पुण्यानुसार लिखा हुआ है। इस प्रकार अदृष्ट के द्वारा स्वप्नवोध मे भी जो सज्ञानात्मक प्रक्रिया का सचालन होता है उसका आधार भी पूर्व सवेदना के (वोध) अनुसार गृहीत वस्तु-रूप ही होता है।

प्रभाकर मीमांसा के इस मत का भी खंडन करता है कि हमारे वस्तु-वोध का संज्ञान भी किसी अन्य संवेदन (संज्ञान) द्वारा होता है। प्रभाकर का मत है कि यह सम्भव नहीं है, क्योकि हमको इस प्रकार के दोहरे संज्ञान की कोई अनुभूति नही होती। फिर यदि इसे मान लिया जाए तो उसी युक्ति से यह मानना पडेगा कि इस दूसरे सज्ञान के वोध के लिए किसी तीसरे सज्ञान की आवश्यकता है और फिर इसको जानने के लिए किसी चौथे सज्ञान की। इस प्रकार दूषित तर्क के चक्र का कही अन्त ही नही होगा। यदि इस सज्ञान के वोध के लिए किसी अन्य सज्ञान की आवश्यकता होगी तो फिर यह स्वतः प्रमाणित नही माना जा सकता। जव हमें संज्ञान के द्वारा किसी वस्तु का वोध होता है तो साथ ही हमें संज्ञान की भी अनुभूति होती है। वस्तु के प्रकाश मे आते ही हम संज्ञान की उत्पत्ति का सहज ही अनुमान लगा लेते हैं। परन्तु यह अनुमान सज्ञान का न होकर सज्ञान की उत्पत्ति अथवा स्थिति का होता है। अनुमान के द्वारा हमे किसी वस्तु के होने का (भाव का)

सकेत मिलता है, परन्तु उसके प्रत्यक्ष रूप का बोध नही हो सकता । स्वरूप का बोध केवल प्रत्यक्ष द्वारा ही हो सकता है । प्रभाकर इस सम्बन्ध मे बडी सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत करते हैं । वस्तु के प्रत्यक्ष को वे 'सवेद्यत्व' की सज्ञा देते हैं और वस्तु के ज्ञान को 'प्रमेयत्व' की । 'सवेद्यत्व' और 'प्रमेयत्व' मे बडा अन्तर है । किसी वस्तु के सम्बन्ध मे हम अनुमान से यह जान सकते हैं कि ऐसी वस्तु होनी चाहिए या अमुक वस्तु है, यह वस्तु का प्रमेयत्व है । उसके वास्तविक रूप का अनुभव अनुमान से नहीं कर सकते उसके लिए प्रत्यक्षबोध की या सवेद्यत्व की आवश्यकता है । इस प्रकार अनुमान हमारे सज्ञान की स्थिति का सकेतमात्र कर सकता है, वह सज्ञान के प्रत्यक्ष स्वरूप को ग्रहण करने में असमर्थ है ।[1]

कुमारिल भी एक प्रभाकर से इस विषय मे एकमत है कि प्रत्यक्ष-बोध किसी अन्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता । परन्तु कुमारिल के अनुसार प्रत्यक्षदर्शी और प्रत्यक्ष की विषय-वस्तु मे एक सम्बन्ध होता है, जिसमें प्रत्यक्षदर्शी द्वारा सक्रियता से वस्तु का प्रत्यक्ष होता है, वही सज्ञान है । यह मत प्रभाकर के मत से भिन्न है जिसके अनुसार ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान एक ही क्षण मे प्रकट होकर प्रकाश मे जाते हैं । यह 'त्रिपुटी प्रत्यक्ष सिद्धांत' कहलाता है ।[2]

भ्रांति का मनोविज्ञान

भारतीय दर्शन मे भ्रान्ति सम्बन्धी मीमासा का विशाल साहित्य पाया जाता है । सभी मतो के दार्शनिकों का यह प्रिय विषय रहा है । यहाँ मीमासा-दर्शन के मत का विवेचन करते हुए यह शका होती है कि यदि सारा सज्ञान स्वत प्रमाणित है, यदि यह स्वयसिद्ध सत्य है, तो भ्रान्ति होने का क्या कारण है ।

जैन दर्शन में भ्रांति मीमांसा 'सत्ख्याति' नाम से की गई है । इस विषय पर जैन दर्शन के प्रसग में पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है । वेदान्त दर्शन मे जो भ्रांति की व्याख्या हुई है उसका विवेचन अगले अध्याय में प्रसगानुसार किया जाएगा । दोनों दर्शनों को छोडकर अन्य दर्शनों में भ्रांति के तीन सिद्धान्त पाए जाते हैं (1) आत्मख्याति (2) विपरीतख्याति या अन्यथाख्याति । (3) अख्याति । 'विपरीतख्याति' को न्याय-वैशेषिक और योग दर्शन ने स्वीकार किया है । 'आत्मख्याति' बौद्ध दर्शन मे स्वीकृत है और 'अख्याति' सिद्धात सांख्य और मीमासा ने प्रतिपादित किया है ।

भारतीय दर्शन मे बहुचर्चित भ्रांति का उदाहरण शुक्ति (सीप) मे रजत (चाँदी) की भ्रान्ति का है । सीपी के टूटे हुए टुकडे को देखकर सहज ही यह बोध होता है कि यह चाँदी का टुकडा पडा हुआ है । इस भ्रांतिमय बोध का क्या कारण है इसका विवेचन करने का प्रयत्न प्रत्येक दर्शन ने किया है । इस तथ्य पर सभी एक मत हैं कि इस प्रकार की

---

1 डाक्टर गगानाथ झा द्वारा रचित 'प्रभाकर-मीमांसा' का अवलोकन करिए ।

2. उल्लिखित कृति मे पृ० 26-28 देखिए ।

भ्रान्ति होती है। प्रश्न इस भ्रांति के मनोवैज्ञानिक पक्ष का है। आदर्शवादी बौद्ध दर्शन पार्थिव जगत् के स्थूल पदार्थों की सत्ता को स्वीकार नही करता। पिछले अनन्त जन्मों के कर्मों के सचित सस्कारों के आधार पर ही वर्तमान जीवन में बाह्य जगत् का ज्ञानबोध होता है। 'स्वचित्' मे ही सारे बोध का उदय होता है, यह बोध का प्रकट होना ही हमारे वर्तमान के प्रत्यक्ष का आधार है। झील में उठने वाली लहरों के समान ही हमारे मन में विज्ञान-प्रवृत्ति प्रकट होती है। परिस्थितियों के संयोग से उस काल विशेष मे ऐसा बोध होता है जिसे हम सत्य मानते है और कभी ऐसा बोध होता है जिसे हम भ्रान्तिमय समझते हैं। ज्ञानोदय मे इस बौद्ध दृष्टिकोण से बाह्य स्थूल जगत् का कोई महत्त्व नही है। तदनुसार यदि यह मान भी लिया जाए कि स्थूल जगत् की सत्ता है तो क्या कारण है कि कभी वस्तु का प्रत्यक्ष सत्य कहा जाता है और कभी उसी का प्रत्यक्ष-बोध भ्रान्तिमय कहा जाता है। वास्तव मे तथ्य यह है कि विज्ञान-प्रवृत्ति (विज्ञान का प्रवाह) के कारण ही दृश्य और द्रष्टा का उदय होता है। इस प्रवृत्ति के कारण ही दोनों मे एक सम्बन्ध स्थापित होता है। भ्रातिमय प्रत्यक्षबोध और सत्यबोध दोनों में ही यही मानसिक प्रक्रिया होती है। न्याय इस मत को स्वीकार नही करता। न्याय का मत है कि बाह्य परिस्थितियो की यदि कोई सत्ता नही है, यदि ज्ञान स्वय में ही उदित होकर भ्रान्त कल्पना उत्पन्न कर देता है तो इस कल्पना का रूप यह होना चाहिए कि मैं चाँदी हूँ, न कि यह रजत है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त का पहले ही खडन किया जा चुका है कि सारा ज्ञान आत्मनिष्ठ है और इसे किसी बाह्य वस्तु की अपेक्षा नही है, कि बाह्य जगत् की कोई सत्ता नही है।

'विपरीतख्याति' अथवा 'अन्यथाख्याति' भ्रान्ति सिद्धान्त के अनुसार हमारी भ्रान्ति का कारण यह है कि हम वस्तु विशेप को उचित रूप से नही देख पाते। यह एक प्रकार से प्रेक्षण-दोप है। शुक्ति की चमक से और उसके रगरूप के कारण चाँदी के टुकड़े का ध्यान आ जाता है। इस सहसा चाँदी के ध्यान का कारण यह है कि पहले चाँदी का टुकड़ा देखा हुआ है अत. चाँदी की भ्रान्ति शुक्ति मे हो जाती है। इस भ्रान्ति मे सीप के टुकड़े को हम एक वस्तु के रूप मे देखते हैं क्योकि सीप के रूप गुणों को हम नही देख पाते। दूसरी बात यह है कि जिसकी हमें भ्रान्ति होती है उसका वास्तविक अस्तित्त्व है। यद्यपि इस स्थान पर चाँदी विद्यमान नही है पर अन्य स्थान पर चाँदी नाम की वस्तु अवश्य है। दोष केवल इतना है कि पूर्व स्मृति के आधार पर हम सीप को अन्यथा रूप में पहचान कर उसे भ्रान्त रूप दे देते हैं यही भ्रान्ति 'अन्यथाख्याति' है। इसी को विपरीतख्याति कहते हैं क्योंकि हमने वस्तु को वास्तविक रूप में न देखकर विपरीत नाम दे दिया है।

उपर्युक्त भ्रान्ति मे विशेप बात यह नही है कि हम वस्तु विशेप को पहचान नही पाए या उसमें कोई भेद नही कर पाते। विशिष्ट बात यह है कि हमको सीपी मे चाँदी की भ्रान्ति होती है हम उसको निश्चयात्मक दृष्टि से मिथ्या रूप मे देखते हैं, परन्तु जिस रूप मे हम देखते हैं, वह अन्यत्र विद्यमान है, उसकी भी वास्तविक स्थिति है।

मीमांसा दर्शन के अख्याति-सिद्धान्त के अनुसार यह कहना उचित नही है कि हमको सीपी का बोध चाँदी की भाँति होता है क्योकि हमारे इस प्रत्यक्ष के समय हमको सीपी

नाम की वस्तु नही दिखाई देती है, न उसका किसी प्रकार का बोध होता है। हम सीपी (शुक्ति) के रूप गुण की विशेषताओं को नहीं देख पाते हैं, न उनका ध्यान ही आता है। अत स्पष्ट तथ्य यह है कि हमको सीपी का कोई प्रत्यक्ष (बोध) ही नही होता। बुद्धि व मन की दुर्बलता के कारण हम चाँदी की तत्कालीन स्मृति, और जो वस्तु (सीपी) देख रहे हैं, उनके रूप गुणो के अन्तर को नहीं समझ पाते। इस प्रकार हम पूर्व-स्मृति को ही प्रत्यक्ष समझ कर तदनुसार सीपी के स्थान पर चाँदी को ही देख लेते हैं जो केवल स्मृति का प्रत्यक्ष है वस्तु का नही। इस प्रकार इस भ्रान्तिमय प्रत्यक्ष के दो रूप सामने आते हैं, एक रूप जिसका आधार स्मृति है और दूसरा रूप जिसमे ग्राह्यता है। पूर्व वस्तु की स्मृति और प्रस्तुत वस्तु के प्रत्यक्ष मे अन्तर है। इस अन्तर का ध्यान न रहने से ही भ्रान्ति उत्पन्न होती है। इस भ्रान्ति मे ग्राह्यता प्रस्तुत वस्तु की न होकर पूर्व स्मृति वस्तु की है। अतः जिस समय इस प्रकार चाँदी का बोध होता है, उस समय इस बोध को (प्रत्यक्ष को) प्रामाणिक समझा जाता है। अत इस आधार पर ही ज्ञाता अपने प्रत्यक्ष के अनुसार काम करता है। वह इसको सत्य मानकर ही सीपी को उठाने के लिए तत्पर होता है। यही इस बात का द्योतक है कि ज्ञाता अपने प्रत्यक्ष को प्रामाणिक समझता है।

कुमारिल भी प्रभाकर द्वारा प्रतिपादित इस दृष्टिकोण को मान्य समझते हैं। उनका मन्तव्य है कि भ्रान्त प्रत्यक्ष भी प्रत्यक्ष कर्त्ता के लिए उतना ही सत्य है जितना अन्य (सत्य) प्रत्यक्ष। फिर यदि किसी अन्य अनुभूति से यह प्रमाणित होता है कि पूर्व ज्ञान असत्य था, तो उसमे कोई अन्तर नही पड़ता है। मीमांसा इस तथ्य को स्वीकार करती है कि किसी भी ज्ञान की सत्यता का पुन परीक्षण किया जा सकता है और यदि किसी अन्य अनुभव के आधार पर वह अप्रामाणिक दिखाई देता है तो उसे अस्वीकार किया जा सकता है।[1] मीमांसा का एक सिद्धात यह है कि प्रत्येक सज्ञान उत्पत्ति के समय सत्य एव प्रामाणिक होता है। उपर्युक्त दृष्टिकोण का आधार भी यही सिद्धांत है। अख्याति-सिद्धान्त इस तथ्य को प्रतिपादित करने का प्रयत्न करता है कि भ्रान्ति का कारण सज्ञान की असत्यता या अवैधता नही है। वास्तव में इसका कारण सही वस्तु की अग्राह्यता है, हम वास्तविक वस्तु को देख ही नही पाते, अत यह स्थिति निषेधात्मक स्थिति है, जिसमे वस्तु विशेष का प्रत्यक्ष ही नही होता। यह स्थिति मन बुद्धि की निर्बलता के कारण उत्पन्न होती है। इस प्रकार इस भ्रान्ति मे सज्ञान के दो भाग पाये जाते हैं। एक भाग पूर्व स्मृति का है और दूसरा इस समय के प्रत्यक्ष का है। जहाँ सज्ञान मे सदेह होता है वहाँ मनुष्य यह प्रश्न करता है कि 'यह मनुष्य अथवा स्तम्भ है।' यहाँ हमको केवल एक ऊँची वस्तु दिखाई देती है और उस प्रत्यक्ष मे किसी प्रकार के सन्देह का स्थान नहीं है। परन्तु कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब इस प्रत्यक्ष के कारण दो प्रकार की स्मृति का उदय होता है और इस प्रकार सदेह उत्पन्न होता है। अत यह स्पष्ट है कि सज्ञान में जितनी बोध-ग्राह्यता तत्काल होती है वह वैध होती है।

---

1 'प्रकरण पचिका', 'शास्त्रदीपिका' और 'श्लोकवार्तिक' सूत्र 2 देखिए।

अनुमान

शवर का कथन है कि जब हम दो वस्तुओं मे किसी प्रकार का स्थायी सहसम्बन्ध देखते है तो हम साधारणतया एक ही उपस्थिति से दूसरे का अनुमान कर सकते हैं। जब हम इस सम्बन्ध के आधार पर दूसरी वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त करते है तो इसको दर्शनशास्त्र मे अनुमान प्रमाण कहते हैं। कुमारिल का मन्तव्य है कि जब हम किन्ही दो वस्तुओं को जिनका सदैव सहअस्तित्व पाया जाता है किसी तीसरे स्थान पर देखते हैं और जब उनका यह सहअस्तित्व स्वतन्त्र और निरुपाधिक होता है, तो इस 'अनुमान' के द्वारा स्थान विशेप पर वस्तु विशेप का सत्य बोध कर सकते है। उदाहरण के लिए रसोई में अग्नि और धुएँ का सहअस्तित्व पाया जाता है अत: यहाँ धुएँ को देखकर यह उचित अनुमान किया जा सकता है कि रसोई में अग्नि जल रही है। जब दो वस्तुओ का सम्बन्ध अधिकांश अवस्थाओं मे देखा जाता है तो हमारा अनुभव हमें तत्काल इस बोध की प्रेरणा देता है कि इस स्थान पर अमुक वस्तु होने से (धूम्र) 'व्याप्य' का व्यापक (अग्नि) अवश्य ही इस स्थान (पर्वत) पर होना चाहिए।

हमारे अनुभव के अनुसार दो वस्तुओ के अनेक प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं। सह-अस्तित्व मे एक प्रकार वह है जब एक वस्तु की पृष्ठभूमि में दूसरी वस्तु का अस्तित्व सदा ही देखा जाता है जैसे रोहिणी के साथ ही कृत्तिका नक्षत्र का उदय होता है, अथवा यह सम्बन्ध कार्य-कारण सम्बन्ध हो सकता है जिसमें कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है। जाति और उपजाति में इसी प्रकार का एकात्मक सम्बन्ध पाया जाता है। संक्षेप में हमारा अनुभव उन वस्तुओं के सहसम्बन्ध की निश्चित निरपवाद धारणा के आधार पर यह मार्गदर्शन करता है कि जहाँ पर 'व्याप्य' या 'गमक' (धूम्र) है वहाँ पर पक्ष में (पर्वत पर) 'व्यापक' या 'गम्य' (अग्नि) अवश्य ही होना चाहिए। साथ ही यह भी ध्यान रखने योग्य है कि सामान्य प्रस्ताव में व्याप्य की व्यापक में सर्वनिष्ठ व्याप्ति किसी अनुमान का कारण या आधार नही हो सकती, क्योकि यह स्वयं अनुमान का उदाहरण है। जैसे 'जहाँ-जहाँ धुआँ पाया जाता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है' (यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः) यह स्वयं अनुभव के आधार पर एक उदाहरण मात्र है। अनुमान में हमारी स्मृति किसी 'पक्ष' में (स्थान आदि) दो वस्तुओं के निरपवाद स्थायी सहअस्तित्व (धूम्र और अग्नि) का सकेत करती है। परन्तु यह तृतीय वस्तु जो स्थान अथवा पक्ष है, स्थायी सहव्याप्ति का सामान्य आधार मात्र है। इस प्रकार हम पक्ष में (पर्वत) व्याप्य (धूम्र) को देखकर 'व्यापक' (अग्नि)की स्थिति का अनुमान सहज ही करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक स्थिति मे अनुमान का आधार प्रेक्षण या प्रत्यक्ष विशेप हुआ करता है सामान्य प्रस्ताव या सिद्धांत नही। सामान्य प्रस्ताव तो अनुमान के लिए केवल सिद्धांत-वाक्य मात्र होता है। कुमारिल का मत है कि अनुमान मे पक्ष के साथ साध्य का सम्बन्ध ज्ञान होता है न कि केवल साध्य मात्र का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए हम केवल मात्र अग्नि का अनुमान नही करते वरन् धूम्र के हेतु से पर्वत (पक्ष) पर अग्नि का अनुमान करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक स्थिति में अनुमान के

द्वारा हमको नवीन बोध होता है। उपर्युक्त उदाहरण मे अमुक पर्वत पर अग्नि है, यह नवीन बोध हमको होता है यद्यपि यह तथ्य हम पहले से जानते हैं कि जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि भी हुआ करती है।' ("देशकालाधिक्याद्युक्तमगृहीत-ग्राहित्वम् अनुमानस्य", न्याय-रत्नाकर पृष्ठ 363)[1] ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि दो वस्तुओ के स्थायी सह-सम्बन्ध के साथ-साथ ही तीसरी वस्तु का भी ध्यान होना चाहिए जहाँ पर उपर्युक्त व्याप्ति पायी जाती है। साथ ही इस व्याप्ति की धारणा के लिए यह आवश्यक है कि अनेक उदाहरणों मे इस प्रकार की व्याप्ति अनुभव के आधार पर पूर्वसिद्ध हो परन्तु यह आवश्यक नही है कि इस व्याप्ति के अपवादस्वरूप उदाहरणो का प्रेक्षण कर उनकी तालिका बनाई जाए जैसा कि बौद्ध दर्शन का मत है।[2]

पूर्वानुभव से हम यह सहज ही आशा करते हैं कि यहाँ गमक की स्थिति है अत इस स्थान पर गम्य अवश्य ही होना चाहिए क्योकि पहले भी ऐसे स्थानो पर ऐसा प्रेक्षण किया गया है। इसके अतिरिक्त जहाँ गमक और गम्य एकात्मक हैं वहाँ प्रत्येक दूसरे के लिए गमक का कार्य करता है अर्थात् एक वस्तु की स्थिति से दूसरे का अनुमान[3] किया जा सकता है। इस प्रकार यह अनुमान कार्य और कारण की स्थितियो और व्यक्ति और जाति की स्थितियो मे ही नहीं, सब तरह के साहचर्य की स्थितियो को शामिल कर लेता है।

उपर्युक्त विषय मे एक शका यह उत्पन्न होती है कि यदि अनुमान व्याप्ति-सम्बन्ध की पूर्व स्मृति के आधार पर किया जाता है तो यह कहाँ तक प्रामाणिक माना जा सकता है क्योकि स्मृति को स्वत प्रमाणित नही माना गया है। कुमारिल का मत है कि स्मृति अवैध नहीं है पर इसको प्रमाण के रूप मे स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योकि इससे किसी नवीन ज्ञान की उत्पत्ति नही होती। अनुमान से नवीन ज्ञान की उत्पत्ति होती है अत यह प्रमाण की श्रेणी में आता है। उपर्युक्त उदाहरण मे हमे यह ज्ञान तो था कि जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि हुआ करती है परन्तु यह ज्ञान नहीं था कि अमुक पर्वत पर अग्नि है। गमक को देखकर यह अनुमान किया कि वहाँ (गम्य) अग्नि अवश्य होनी चाहिए। यह

---

1 यह सम्भव है कि कुमारिल ने उपर्युक्त मन्तव्य दिङ्नाग के तर्क के आधार पर स्थिर किया हो। दिङ्नाग का कथन है कि अनुमान के द्वारा न तो हम अग्नि का अनुमान करते हैं न हम अग्नि और पर्वत के सम्बन्ध का अनुमान करते हैं। वरन् हम अग्निमय पर्वत का अनुमान द्वारा नवीन सज्ञान प्राप्त करते हैं। देखिए, विद्याभूषण रचित पुस्तक 'इण्डियन लॉजिक' पृ० स० 8 एव तात्पर्य-टीका पृ० 120।

2 कुमारिल इस बौद्ध मत का विरोध करते हैं कि व्याप्ति का विनिश्चयन केवल अपवाद के उदाहरणों से होता है (कि कितनी अवस्थाओं मे व्याप्ति विशेष का अपवाद पाया जाता है) न कि उत्सर्ग का सिद्धात के उदाहरणो से।

3 तस्मादनवगतेऽपि सर्वत्रान्वये, सर्वतश्च व्यतिरेके, बहुश साहित्यावगममात्रादेव व्यभिचारादर्शनसनाथादनुमानोत्पत्तिरङ्गीकर्तव्या। न्याय रत्नाकर, पृ० 288।

नवीन ज्ञान है जिसका हमको प्रत्यक्ष अनुभव नही हुआ है और जिसको हमने अनुमान से जाना है । यदि अग्नि स्वयमेव दिखाई दे जाए तो फिर यह अनुमान न रहकर प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाएगा ।

कुमारिल और प्रभाकर के मतानुसार अनुमान की सिद्धि के लिए (परार्थानुमान) केवल तीन तर्क वाक्य पर्याप्त है : 'प्रतिज्ञा', 'हेतु' और 'दृष्टान्त' । इन तीन के द्वारा हम अनुमान को सहज ही किसी अन्य के समक्ष भी प्रमाणित कर सकते है ।

कुमारिल के अनुसार अनुमान के दो प्रकार हैं—(1) प्रत्यक्षतोदृष्ट सम्बन्ध और (2) सामान्यतोदृष्ट सम्बन्ध । पहले प्रकार में दो स्थूल वस्तुओं मे स्थायी सम्बन्ध के आधार पर अनुमान किया जाता है । दूसरे प्रकार मे अर्थात् 'सामान्यतोदृष्ट सम्बन्ध' मे स्थूल वस्तुओं के सह-सम्बन्ध के स्थान पर दो सामान्य कल्पनाओ के आधार पर अनुमान किया जाता है । जैसे जहाँ स्थान-परिवर्तन होता है, वहाँ अवश्य कुछ गति हुआ करती है, ऐसा देखा गया है । अतः सूर्य के स्थान-परिवर्तन के कारण यह अनुमान करना उचित है कि यह स्थान-परिवर्तन की पृष्ठभूमि मे किसी प्रकार की गति अवश्य होनी चाहिए । अतः यह कहा जाता है कि अन्य सामान्य अनुमानों के समान ही उपर्युक्त अनुमान भी प्रामाणिक है ।[1]

प्रभाकर के अनुसार अनुमान के लिए दो वस्तुओं में स्थायी सम्बन्ध ही महत्त्वपूर्ण है, यह स्थायी सम्बन्ध कहाँ पाया जाता है इसकी विशेप अपेक्षा नही है । स्थान और काल केवल उन दो वस्तुओं के सम्बन्ध के विशेपण मात्र हैं । स्थान और काल से हमारे अनुमान की प्रक्रिया मे कोई अन्तर नही पड़ता । हम जानते हैं कि जहाँ धुआँ है वहाँ अग्नि होनी चाहिए, अतः धुएँ को देखकर हम तत्काल अग्नि का अनुमान कर लेते हैं । यहाँ किसी अन्य उपाधि की आवश्यकता नही है ।[2] इसके अतिरिक्त प्रभाकर 'हेतु' के तर्क-दोष के साथ ही 'पक्ष', प्रतिज्ञा' और दृष्टान्त' के भी तर्क-दोषों की व्याख्या करते है और जिन्हें दृष्टान्ताभास की संज्ञा दी गई है । इससे प्रतीत होता है कि मीमासा के अनुमान सम्बन्धी स्थापना में वौद्ध दर्शन का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है । धूम्र के संज्ञान मे अग्नि का संज्ञान स्वयमेव ही अन्तर्निहित है, अत. प्रभाकर के मतानुसार किसी अन्य अनुमान का स्थान नही रह जाता, परन्तु प्रभाकर इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि प्रमाण के लिए यह आवश्यक नही है कि उसके द्वारा हमे किसी नवीन ज्ञान की प्राप्ति हो । जिससे हमें ज्ञान की ग्राह्यता हो, वही प्रमाण है । इस प्रकार अनुमान के द्वारा ज्ञात वस्तु के सम्बन्ध मे सज्ञान(वोध) प्राप्त होता

---

1. श्लोकवार्तिक, न्यायरत्नाकर, शास्त्रदीपिका, युक्तिस्नेह-पूरिणी, सिद्धान्त चन्द्रिका नामक ग्रन्थों में अनुमान-मीमांसा देखिए ।
2. उपाधि के सम्बन्ध में (अर्थात् इस वारे मे कि किस प्रकार हम आश्वस्त हो कि अनुमान सदोष तो नही है)प्रभाकर ने कोई नवीन तथ्य प्रस्तुत नही किया है । जहाँ प्रयत्न करने पर भी कोई ऐसा अपवाद या उपाधि नही दिखाई देती जिससे हमारा अनुमान दूपित हो वहाँ मान लेना चाहिए कि कोई उपाधि नही है('प्रयत्नेनान्विष्य-माणे औपाधिकत्वानवगमात्' प्रकरण-पञ्चिका पृ० 71) ।

है, वह प्रमाण ही है क्योकि इससे हमको तथ्यविशेष का बोध होता है। तथ्य-ग्राह्यता ही प्रमाण है, ऐसा उनका मत है।

उपमान, अर्थापत्ति

मीमासा का उपमान सम्बन्धी दृष्टिकोण न्याय से थोडा भिन्न है। मीमासा के अनुसार एक मनुष्य जिसने घर मे या नगर मे गाय देखी है, वन मे जाता है वहाँ वह 'गवय' (जगली बैल या नीलगाय) देखता है और 'गवय' के रूप गुण की गाय से तुलना करता है। यह गाय उस समय उसके समक्ष उपस्थित नही है। तुलना से वह गवय के और गाय के रूप-गुण मे साम्य देखता है। गवय को गाय के अनुरूप गुणों वाला देखकर वह समझता है कि यह गाय के ही समान है। इस समानता का बोध ही उपमान है। गाय की उपमा मे गवय को पहचानना ही उपमान प्रमाण है। यह अन्य प्रमाणो से भिन्न अपने आप मे प्रमाण है। गवय के देखने के समय गाय उपस्थित नही थी। यह स्मृति भी नही है क्योकि गाय देखने के समय गवय नहीं देखा गया था अत दोनो के साम्य की स्मृति का प्रश्न नही उठता। अत इसे स्वतन्त्र प्रमाण के रूप मे स्वीकार किया गया है। प्रभाकर और कुमारिल मे इस विषय मे मतभेद है।

कुमारिल साम्य को एक ऐसे गुण के रूप मे मानते हैं जो कई वस्तुओं में एक से गुणो को स्पष्ट करता है। प्रभाकर इसे एक विशिष्ट वर्ग के रूप में देखते हैं।

'अर्थापत्ति' प्रमाण का एक और वर्ग है जिसे मीमासा ने स्वीकार किया है। जब हम यह जानते हैं कि देवदत्त नामक व्यक्ति जीवित है, और उसके घर पर उसे नहीं पाते, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह अवश्य ही कही अन्यत्र होगा। देवदत्त के अन्यत्र होने के बोध की यह विधि ही 'अर्थापत्ति-प्रमाण' है।

अर्थापत्ति-प्रमाण की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में भी कुमारिल और प्रभाकर एकमत नहीं हैं। प्रभाकर का कथन है कि हम यह जानते हैं कि देवदत्त जीवित है। उसके पश्चात् हम उसके घर जाकर पता लगाते हैं और यह देखते हैं कि वह घर पर नहीं है। अत इस तथ्य से हम सीधे ही इस अर्थ पर नही पहुँचते कि देवदत्त कही अन्यत्र होगा। उसकी अनुपस्थिति से सर्वप्रथम हमारे पूर्वज्ञान पर सन्देह होता है कि कही ऐसा तो नहीं है कि देवदत्त इसी बीच में मर गया हो। इस सन्देह के पश्चात् हम यह प्रकल्पना करते हैं कि सम्भव है कि वह जीवित हो और किसी अन्य स्थान पर हो। इस प्रकार देवदत्त की अनुपस्थिति से पहले सन्देह और पुन यह प्रकल्पना होती है कि वह कहीं अन्यत्र हो सकता है। अनुमान के सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं है क्योकि धूम्र की स्थिति का निश्चय करने के पश्चात् अग्नि का अनुमान भी निश्चयात्मक होता है। लेकिन घर में देवदत्त की अनुपस्थिति, उसके जीवित रहने के विषय में सन्देह उत्पन्न कर देता है और इससे उसके अन्यत्र होने की प्रकल्पना मात्र ही होती है।[1]

---

1 प्रकरण-पंचिका 113-5।

कुमारिल प्रभाकर की इस व्याख्या को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि यदि देवदत्त की घर में अनुपस्थिति होने में कोई सन्देह होता है तो यह अधिक अच्छा होगा कि उस सन्देह को यह मानकर मिटा लिया जाए कि देवदत्त मर गया। इस सन्देह को बनाए रखकर यह सोचना उचित नहीं होगा कि देवदत्त अन्यत्र होगा। सन्देह का कारण उसकी घर से अनुपस्थिति है, अतः इसी कारण घर से उसकी मृत्यु के सन्देह के निवारण का प्रश्न ही नहीं उठता जिसमें यह पुनः प्रकल्पना की जाए कि वह अन्यत्र होगा। जो सन्देह का कारण है वही निवारण का कारण नहीं हो सकता। वास्तव में स्थिति दूसरी है। हमारे पूर्व-ज्ञान से या अन्य साधन से हम निश्चित रूप से जानते हैं कि देवदत्त जीवित है। अतः यदि 'वह घर पर नहीं है तो अन्यत्र होगा' यह प्रकल्पना बिना किसी सन्देह के उत्पन्न होती है। देवदत्त के जीवित होने और उसके घर पर न होने से जो विरोधात्मक स्थिति बनती है उससे मनमस्तिष्क तब तक संतुष्ट नहीं होता जब तक वह उस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचता कि देवदत्त घर के बाहर कहीं अन्यत्र होगा। यही अर्थापत्ति है। यदि यह नहीं माना जाता तो फिर अनुमान-प्रमाण भी प्रकल्पना मात्र रह जाएगा क्योंकि हम जानते हैं कि जहाँ धुआँ होता है वहीं अग्नि होती है। हम पहाड़ी पर धुएँ को देखते है पर अग्नि को नहीं देखते। अत अग्नि का न होना भी सम्भव हो सकता है अर्थात् अग्नि के न होने में सन्देह होना है, अतः हम यह प्रकल्पना करते हैं कि अग्नि होनी चाहिए। यह तर्क उचित होता यदि धुएँ और अग्नि की सहव्याप्ति अनुमान के अतिरिक्त किसी प्रकार से जानी जा सकती, पर हम अनुमान से जानते हैं कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। अनुमान का कारण है कि यह व्याप्ति विशिष्ट उदाहरणों में ही देखी गई है। सामान्य प्रस्ताव के अभाव में विशिष्ट उदाहरणों में भी कोई विरोधाभास दृष्टिगत नहीं होता। अतः इस विरोधाभास के अभाव में अर्थापत्ति की आवश्यकता नहीं होती जैसे कि पूर्व उदाहरण में विरोधाभास के कारण देवदत्त के अन्यत्र होने की बात मान्य समझी गई थी। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ अनुमान-प्रमाण ही मान्य होता है, अर्थापत्ति प्रमाण से काम नहीं चलता। पर यह सम्भव है कि किसी वस्तु की स्थितिविशेष का ज्ञान अर्थापत्ति और अनुमान दोनों से ही सम्भव हो।

इसी प्रकार अनुमान-प्रमाण अर्थापत्ति-प्रमाण का स्थान नहीं ले सकता। अनुमान-प्रमाण में पहले हेतु का ज्ञान होता है फिर उस हेतु से साध्य का ज्ञान होता है। पर हेतु और साध्य दोनों का ज्ञान एक साथ नहीं हो सकता। यह भेद ही अनुमान और अर्थापत्ति प्रमाण में मुख्य भेद है। अर्थापत्ति में देवदत्त की घर से अनुपस्थिति को उसके अन्यत्र होने की कल्पना के बिना समझा ही नहीं जा सकता। यदि देवदत्त जीवित है तो या तो वह घर के अन्दर होना चाहिए या वह घर के बाहर होना चाहिए। उसके जीवित होने और उसकी अनुपस्थिति—इस विरोधात्मक स्थिति को बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकती। इस विरोधात्मक स्थिति का एक ही हल है और वह यह है कि देवदत्त घर के अतिरिक्त कहीं और होना चाहिए। इस प्रकार अर्थापत्ति वास्तव में 'अर्थानुपपत्ति' का फल है। पूर्व प्राप्त ज्ञान से जब हमारे वर्तमान के प्रत्यक्ष का विरोध दिखाई देता है तो 'अर्थानुपपत्ति' होती है। इस

'अर्थानुपपत्ति' से हम विशिष्ट निष्कर्ष पर पहुँचते हैं जिसको अर्थापत्ति कहते हैं। अर्थापत्ति से ही हम यह कह सकते हैं कि बीज मे वह शक्ति अवश्य विद्यमान होगी जिससे पौधे उत्पन्न होते हैं, अथवा यज्ञादि शुभ कर्मो में ऐसी शक्ति है जिससे शुभ फल होता है।

शब्द-प्रमाण

बौद्ध, जैन, चार्वाक और वैशेषिक के अतिरिक्त सभी प्रसिद्ध भारतीय दर्शन 'शब्द' प्रमाण को मान्य समझते हैं। दर्शन की दृष्टि से इस पर विचार-विमर्श अधिक महत्त्व का नही लगता अत साख्य और न्याय के अध्यायों मे हमने इस पर विचार नही किया था। लगभग सभी हिन्दू दार्शनिक वेदों को शब्द प्रमाण के रूप में सत्य एव प्रामाणिक समझते हैं। प्राचीन काल मे बौद्धो और हिन्दुओं मे इस विषय पर अनेक शास्त्रार्थ हुआ करते थे। जहाँ हिन्दू दार्शनिकों ने वेदो को ईश्वरीय ज्ञान का स्रोत समझकर इन्हे प्रमाण मानने की घोषणा की, वहाँ बौद्धो ने इनको प्रामाणिक नहीं समझा। कुछ दर्शन वेदो को अपौरुषेय, अनन्त एव अनादि मानते हैं। मीमासा दर्शन का भी यही मत है। वास्तव मे मीमासा ने इसी मत की पुष्टि करते हुए उन सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है जिनके आधार पर वेद-मन्त्रो की युक्तियुक्त व्याख्या की जा सके। वेदो के अर्थो को ठीक से समझकर उनके अनुसार यज्ञ, कर्मकाण्ड, धर्माचरण किया जा सके, यही मीमासा का विशेष उद्देश्य रहा है। मीमांसा मे शब्द-प्रमाण की विशेष रूप से युक्तियुक्त व्याख्या की गई है क्योंकि वेदो को शब्द-प्रमाण के रूप मे स्वीकार करते हुए मीमांसा ने इनको सत्य और प्रामाणिक सिद्ध करने का यत्न किया है।

जिन वस्तुओ को हम प्रत्यक्ष रूप से नही देखते उनके विषय मे हम अन्य स्रोतो से ज्ञान प्राप्त करने का यत्न करते हैं। कुछ वस्तुओ का ज्ञान हमे अप्रत्यक्ष रूप से उनके वर्णन से होता है। यह वर्णन शब्दो से निर्मित वाक्यो के द्वारा किया जाता है। यदि हम शब्दो को भलीभाँति समझकर विचारपूर्वक वर्णित विषय का मनन करें तो हम प्रत्यक्ष के अभाव मे तद्विषयक जानकारी प्राप्त कर लेते हैं। यही शब्द-प्रमाण है। ये शब्द मानवीय (पौरुषेय) और वैदिक दो प्रकार के हो सकते हैं। यदि मानवीय शब्द आप्त, सत्यवक्ता व्यक्ति के द्वारा कहे गये हैं, तो हम उनको प्रामाणिक मानते हैं। वैदिक शब्द स्वयमेव प्रामाणिक हैं। वाक्यो का अर्थ समझने के लिए शब्दो के अर्थ, उनका परस्पर सम्बन्ध जानना आवश्यक है। इसके लिए कोई अन्य प्रमाण सहायक नही हो सकता। वक्ता को जाने बिना भी हम शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध, और उनके अर्थों का मनन कर वस्तुविशेष का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

प्रभाकर का मत है कि सारे शब्द ध्वनि रूप हैं। इन ध्वनियों का मूल अक्षर हैं। अक्षर के अभाव में शब्द-ध्वनि सम्भव नहीं है। परन्तु अक्षर स्वय में अर्थहीन हैं। जब अक्षर मिलकर शब्द की उत्पत्ति करते हैं तभी उसका कुछ अर्थ प्रकट होता है। परन्तु शब्द को उचित रूप से ग्रहण करने के लिए अक्षर-ध्वनि का आश्रय लेना पड़ता है। प्रत्येक अक्षर-ध्वनि की अपनी-अपनी ध्वनि-क्षमता है। एक अक्षर के उच्चारण के साथ हम उस ध्वनि को सुनकर हृदयगम करते हैं और साथ ही उस ध्वनि का लोप होकर दूसरी अक्षर-ध्वनि

का प्रारम्भ होता है। इस प्रकार इन अक्षर-ध्वनियों से सम्पूर्ण शब्द का निर्माण होता है। इस शब्द की अपनी अर्थक्षमता है। शब्दों की क्षमता अक्षर-क्षमता पर निर्भर है। इस प्रकार मौखिक संज्ञान का कारण मूल अक्षर-क्षमता है। अक्षर-शक्ति ही सारे शब्द, अर्थ, संज्ञान का मूलाधार है। कुमारिल और प्रभाकर इस विषय में एकमत हैं।

एक अन्य सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक शब्द की अपनी-अपनी सहजात अर्थक्षमता है। यह शब्द में मूलरूपेण विद्यमान है। यह क्षमता सुनने वाले की क्षमता पर निर्भर नही है। यह सही है कि यदि सुनने वाले को यह ज्ञान नही है कि इस शब्द का यह अर्थ होता है तो वह उस अर्थ को नही समझेगा परन्तु शब्द में अर्थ अभिव्यक्त करने की क्षमता नित्य, सहजात एवं स्थायी है। श्रुति-क्षमता से अथवा सुनने वाले की अज्ञता मे शब्द की अर्थ-शक्ति प्रभावित नही होती। सरल शब्दो में सुनने वाले के समझने से अथवा न समझने से शब्द की अपनी अर्थ-क्षमता मे कोई अन्तर नहीं पड़ता। मीमांसा के अनुसार शब्दों के अर्थ किसी मानवीय परम्परा के द्वारा प्रभावित नही होते अर्थात् शब्दों के अर्थ मनुष्य द्वारा निर्मित नही है।[1] परम्परा से व्यक्तिवाचक शब्दों का निर्माण हो सकता है। परन्तु अन्य शब्द और उनके अर्थ पहले से विद्यमान है। प्रत्येक शब्द की अपनी-अपनी अर्थक्षमता है। शब्द शाश्वत है। शब्द सदैव से विद्यमान हैं। उनको प्रकट करने के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता होती है। मनुष्य जब इन शब्दों का उच्चारण करता है तो ये उस प्रयत्न के फलस्वरूप प्रकट होते है। न्याय का मत है कि मनुष्य के शब्द-उच्चारण के प्रयत्न के कारण शब्द की उत्पत्ति होती है। मीमासा का मत है कि शब्द शाश्वत हैं और पहले से ही विद्यमान है। ये अनादि अनन्त है। जब हम किसी शब्द का उच्चारण करते हैं तो यह शब्द हमारे माध्यम से श्रोता के लिए पुन. प्रकट होता है।

हम शब्दों के अर्थों का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त करते हैं इसका उदाहरण देते हुए प्रभाकर कहते है कि आदेशात्मक वाक्यो के द्वारा ही हमें अर्थों का उचित बोध होता है। कोई वरिष्ठ व्यक्ति जब किसी भृत्य को आज्ञा देता है कि "जाओ, इस घोडे को बांध दो। इस गाय को ले जाओ।" तब बालक इस आज्ञा को सुनकर और भृत्य द्वारा उसके पालन किये जाने से यह समझ लेता है कि घोडे का या गाय का क्या अर्थ है। इस प्रकार के शब्दो के अर्थ, इस आज्ञार्थक वाक्य के अन्य अशों के प्रसंग मे स्पष्ट होते है। शब्दों का तात्पर्य अन्य वाक्याशो के प्रसग मे ही समझा जा सकता है। वाक्य से पृथक्, शब्द का अर्थ नही समझा जा सकता है। इसको 'अन्विताभिधानवाद' कहा जाता है। उदाहरण के लिए 'गाम्' शब्द 'गो' (गाय) का कर्मकारक है। इस 'गाम्' (गाय को) से केवल इतना समझा जाता है कि गाय के सम्बन्ध में कुछ कहा गया है। परन्तु जब पूरा वाक्य 'गाम् आनय' कहा जाता है तो यह अर्थ स्पष्ट होता है कि 'गाय को लाओ'। परन्तु कुमारिल का मत है

---

1. न्याय के अनुसार सारे शब्दो का निर्माण परमात्मा के द्वारा किया गया है और उसी प्रभु ने प्रत्येक शब्द की अर्थक्षमता निर्धारित की है, अर्थात् परमात्मा ने ही शब्द और उनके अर्थों का निर्माण किया है।

कि शब्द स्वतन्त्र रूप से सार्थक होते है। प्रत्येक शब्द का अपना स्वतन्त्र अर्थ होता है। शब्दो से मिलकर वाक्य बनता है। शब्दों के समूह सयुक्त होकर वाक्य रूप मे परिवर्तित हो प्रसग के अनुसार अर्थमय होते हैं। यह शब्दो की स्वतन्त्र अर्थसत्ता और उनके मेल से विशेष विचार कल्पना की उत्पत्ति ही 'अभिहितान्वयवाद' कहलाता है। इस प्रकार कुमारिल के मतानुसार 'गाम् आनय' मे गाम् का अर्थ स्पष्ट है कि यह 'गो' का कर्मकारक है और 'आनय' का अर्थ है 'लाओ'। दोनो शब्दो के मिलने से 'गाय लाओ' यह अर्थ स्पष्ट हो गया। यही मत न्याय का भी है। इसी को न्याय मे भी 'अभिहितान्वयवाद' कहते हैं।[1]

अन्त मे प्रभाकर का मत है कि केवल वेद ही शब्द प्रमाण के रूप मे माने जा सकते हैं। वेद मे भी केवल वे वाक्य शब्द-प्रमाण हैं जो आज्ञार्थक (आदेशात्मक) हैं। अन्य सभी स्थितियो मे वक्ता की आप्तता और चरित्र के आधार पर ही शब्द प्रमाण की वैधता और सत्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु कुमारिल सभी सच्चरित्र व श्रद्धेय पुरुषो के शब्दो को प्रामाणिक मानते हैं।

अनुपलब्धि प्रमाण

कुमारिल उपर्युक्त प्रमाणो के अतिरिक्त 'अनुपलब्धि' प्रमाण को पाँचवाँ प्रमाण मानते हैं। अनुपलब्धि का अर्थ है उपलब्धि का न होना। जिस विषय की प्रत्यक्ष उपलब्धि न हो सके, अर्थात् जो वस्तु प्रत्यक्ष रूप से दिखाई न पडे वहाँ उस वस्तु की अनुपलब्धि है। वस्तु का यह अभाव जिस प्रमाण से जाना जाए वह अनुपलब्धि-प्रमाण है। उदाहरण के लिए कक्ष मे घडा नही है। उस घडे के अभाव को इन्द्रियो से नही जाना जा सकता, क्योकि ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है जिसके साथ इन्द्रिय सम्पर्क हो सके। कुछ लोगो का मत है कि यह अभाव अनुमान-प्रमाण से जाना जा सकता है। जब किसी वस्तु की स्थिति (भाव) होती है तो हमे उसका बोध दृश्य रूप मे होता है, जब उसका अभाव होता है तो उसको नही देखा जा सकता। परन्तु कठिनाई यह है कि इस अनुमान मे अभाव की और वस्तु के दृश्यमान न होने की पूर्वकल्पना की गई है। प्रश्न यह है कि इस अभाव को और इस अप्रत्यक्ष को किस

---

1 इस विषय मे डा० गगानाथ झा रचित 'प्रभाकरमीमासा' और एस०एन० दासगुप्ता द्वारा लिखी 'स्टडी आफ पतजलि' का परिशिष्ट देखिए। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि मीमांसा 'स्फोट' सिद्धान्त मे विश्वास नहीं रखती। स्फोट-सिद्धान्त के अनुसार अक्षरो की ध्वनि के अतिरिक्त सम्पूर्ण शब्द का एक अपना 'स्फोट' होता है जिससे शब्द अपने स्वतन्त्र रूप मे प्रकट होता है। यह 'स्फोट' (शब्द प्राकट्य) क्रम से समाप्त होने वाली अक्षर ध्वनि से भिन्न है और सम्पूर्ण शब्द का ध्वन्यात्मक एकाकी रूप है। अक्षर-ध्वनि का कार्य शब्द-स्फोट का आधार बनकर उसको प्रकट करना मात्र है। इस सम्बन्ध मे वाचस्पति रचित 'तत्त्वबिन्दु', 'श्लोकवार्तिक' और 'प्रकरण पचिका' देखिए। 'अन्विताभिधान' सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिए शालिकनाथ रचित 'वाक्यार्थमातृका-वृत्ति' देखिए।

प्रमाण से जाना जाए। ये दोनों स्वयं अपने ही लिये अनुमान के आधार नहीं हो सकते। इस अभाव का प्रत्यक्ष भी नहीं किया जा सकता। अतः इसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता है।

किसी भी स्थान पर किसी भी वस्तु का अस्तित्व 'सद्रूप' (भाव) में अथवा 'असद्-रूप' (अभाव) में, जिसे धनात्मक या ऋणात्मक रूप कहा जा सकता है, हुआ करता है। सरल शब्दों मे, स्थान विशेष पर किसी वस्तु का या तो भाव होता है या अभाव। यह भाव या अभाव उस स्थान-विशेष के परिप्रेक्ष्य में होता है। जब किसी वस्तु का सद्रूप होता है तो हमारी इन्द्रियां उससे सम्पर्क कर उसका प्रत्यक्ष करती हैं। परन्तु वस्तु के अभाव के प्रत्यक्ष के लिए मन की क्रिया भिन्न प्रकार से होती है जिसे हम अनुपलब्धि-प्रमाण कहते हैं। प्रभाकर का मत है किसी स्थान विशेष पर किसी दृश्यमान वस्तु का अप्रत्यक्ष केवल रिक्त स्थान का प्रत्यक्ष है। अतः इसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इस रिक्त स्थान से क्या अर्थ है? यदि यह युक्ति दी जाती है कि घड़े के अभाव के प्रत्यक्ष के लिए पूर्णरूपेण रिक्त स्थान होना चाहिए और यदि उस स्थान पर एक पत्थर पड़ा हुआ है तो घड़े के अभाव का बोध नहीं होना चाहिए। यदि रिक्त स्थान की परिभाषा यह की जाती है कि रिक्त स्थान वह स्थान है जहां घड़े का अभाव है तो फिर अभाव को एक भिन्न वर्ग के रूप में स्वतः ही स्वीकार कर लिया जाता है। यदि रिक्त स्थान के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि जिस क्षण मे उस रिक्त स्थान को देखते हैं, उस क्षण मे घड़े के होने का (भाव का) बोध नही होता तो भी हम घड़े के अभाव का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। किसी भी दृष्टि से इस तथ्य को देखा जाए हम घड़े के अभाव का या उसके ज्ञान के अभाव के अस्तित्व को अलग से स्वीकार करते हैं। इस अभाव को वाह्य दृष्टि से वस्तु का अभाव और आत्मनिष्ठ दृष्टि से उसके ज्ञान के अभाव के रूप में स्वीकार करना पड़ता है। शंका के रूप मे यह कहा जाता है कि पहले क्षण मे हम केवल भूमि को देखते हैं, फिर दूसरे क्षण मे हम घड़े के अभाव को देखते हैं। परन्तु भूमि को देखने से कोई अर्थ नहीं निकलता। इससे किसी प्रकार की रिक्तता का स्वयमेव बोध नहीं होता। भूमि के देखने से घड़े के न होने का संज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रकार यह कहना कि हम केवल भूमि को देखते हैं, निरर्थक है जब तक कि हम यह न कहें कि अमुक वस्तु इस स्थान पर नही है। यह वस्तु के अभाव की भावना हम में पहले से विद्यमान है जिसको हम भूमि के विशेषण के तौर पर प्रयोग करते हैं। यह अभाव की भावना किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकती। साथ ही यह भी सत्य है कि इन्द्रिय-विषयक पदार्थ के अप्रत्यक्ष से उस वस्तु के अभाव की कल्पना तत्काल उत्पन्न होती है, इस संज्ञान के लिए किसी अन्य अभाव की आवश्यकता नही है। यह केवल वर्तमान के लिए सत्य ही नही है वरन् भूतकाल मे भी वस्तुओं के अभाव के लिए सत्य है। उदाहरणार्थ जब हम यह सोचते है कि यहां पर उस समय हमने घड़ा नही देखा था। इस प्रकार इन्द्रियार्थ वस्तुओं के अभाव का बोध अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। अत इसे स्वतन्त्र प्रमाण माना गया।

आत्मा, परमात्मा और मोक्ष

मीमासा-दर्शन को शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार इसलिए भी करना पडा कि अलग से आत्मा को माने बिना वैदिक कर्मकाण्ड की, उससे स्वर्ग की प्राप्ति की अर्थवत्ता अन्यथा कैसे सिद्ध हो सकती थी ? आत्मा, मन, बुद्धि और शरीर से भिन्न है। आत्मा शाश्वत व्यापक और अनेक हैं। प्रत्येक शरीरवान् प्राणी में भिन्न-भिन्न आत्माएँ हैं। प्रभाकर का कथन है कि प्रत्येक सज्ञान मे हमे आत्मा का बोध होता है क्योकि बोध शरीर के द्वारा न होकर इस आत्मा के द्वारा ही होता है, यह बोधात्मक आत्म-भावना सदैव विद्यमान रहता है जिसके परिप्रेक्ष्य मे ही हम सारे सज्ञान और प्रत्यक्ष ग्रहण करते हैं। सच तो यह है कि यह तथ्य ही आत्मा का शरीर से भिन्न होने का प्रमाण भी है। परन्तु कुमारिल इस विश्लेपण से सहमत नही है कि प्रत्येक सज्ञान मे अपने 'स्व' या आत्मा की चेतना अवचेतना रूप मे सन्निहित होती हैं। कुमारिल का मत है कि हमे अपने आपका या आत्मा का प्रत्येक ममय ध्यान रहता है। हम यह जानते हैं कि हम शरीरधारी प्राणी हैं। हमको अपने मज्ञान मे अपने आपका और शरीर का दोनो का ध्यान रहता है। अत यह कहना उचित नही है कि हमारे बोध-ज्ञान मे केवल आत्मा का भान होता है। शरीर की कोई चेतना नहीं रहती। सत्य यह है कि सकल्प-विकल्प, ज्ञान, सुख-दु ख, गति, स्पन्दन आदि शरीर के नही आत्मा के अग हैं क्योंकि मृत्यु के पश्चात् शरीर विद्यमान रहता है परन्तु ये सारी क्रिया और अनुभूतिया समाप्त हो जाती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर के अतिरिक्त कोई अन्य अस्तित्व होना चाहिए जो सुखदु खादि का अनुभव करता है। वह कोई भिन्न तत्त्व होना चाहिए जिसके कारण शरीर गति करता है। ज्ञान, संवेदना आदि को आत्मा सहज हो ग्रहण करती है, ये आत्मा के अग हैं, शरीर के अग के रूप में किसी को भी दिखाई नहीं देते। कारणवाद का यह साधारण सिद्धान्त है कि कारणतत्त्वो के गुण कार्य मे भी दिखाई देते हैं। शरीर पृथ्वी तत्त्व से बना हुआ है। पृथ्वी तत्त्व में ज्ञानादि गुण नही है अत शरीर मे ज्ञानादि गुण होने का प्रश्न ही नही उठता। इससे भी यह प्रमाणित होता है कि शरीर से भिन्न कोई ज्ञान का माध्यम होता है। कभी-कभी यह शका उपस्थित की जाती है कि यदि आत्मा सर्वव्यापक है तो यह कर्त्ता और गतिवान् कैसे हो सकती है। इसके समाधान मे मीमासादर्शन का मत है कि यह आत्मा क्रिया या गति को परमाणु-स्पन्दन के रूप मे स्वीकार नही करता। क्रिया या गति का आधार वह शक्ति है जो परमाणुओ को गति प्रदान करती है, अत क्रिया या गति ऊर्जा है, परमाणु नहीं है। आत्मा ही वह ऊर्जा या शक्ति है जिससे शरीर मे गति उत्पन्न होती है। आत्मा ही शरीर की प्रेरक शक्ति और कर्त्ता है। यह आत्मा इन्द्रियो से भी भिन्न है। इन्द्रिय-दोप होने पर भी शरीर के अन्य व्यापार यथावत् चलते रहते हैं। यदि आत्मा और इन्द्रियां एक ही होते तो इन्द्रियो के साथ ही शरीर की सारी क्रिया समाप्त हो जातीं। परन्तु ऐसा नहीं है अत स्पप्ट है कि आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है।

इसके पश्चात् यह शका होती है कि आत्मा का बोध कैसे होता है। प्रभाकर का मत है कि आत्मा ज्ञाता है। सम्पूर्ण ज्ञान-बोध आत्मा के द्वारा ग्रहण किया जाता है। ज्ञाता

का ज्ञान ज्ञेय के विना सम्भव नही है । ज्ञेय की स्थिति से ही ज्ञाता को जाना जा सकता है । किसी भी पदार्थ का वोध ज्ञाता के अभाव में नही हो सकता । ज्ञाता से ज्ञेय, ज्ञेय से ज्ञाता का ज्ञान होता है । अर्थात् ज्ञान के प्रकाश से ज्ञाता और ज्ञेय दोनो प्रकाशित होते हैं । अत. इन तीनों का प्रत्यक्ष एक साथ होता है, यही 'त्रिपुटी प्रत्यक्ष' (तीनों का एक साथ वोध) सिद्धान्त है जिसका वर्णन पहले भी किया जा चुका है । ज्ञान की क्रिया का मुख्याधार आत्मा है पर साधारणतया कर्त्ता के रूप में प्रकट होता है । संज्ञान आत्मा नही है परन्तु आत्मा संज्ञान का अधिष्ठान है जो प्रत्येक संज्ञान मे अहम् के रूप में सन्निहित रहता है और जिसके अभाव मे कोई भी संज्ञान या वोध सम्भव नही है । गहरी निद्रा मे (सुषुप्तावस्था) जव हम किसी पदार्थ को नही देखते हैं तो आत्मा का ध्यान भी नही जाता ।

कुमारिल का मत है कि हम आत्मा को अपने मन मे देखते है । (मानस प्रत्यक्ष) आत्मा शरीर से भिन्न मनुष्य की अहम्-चेतना का आधार है । अर्थात् यह 'मैं' शरीर से भिन्न कोई अन्य तत्त्व है । यह आत्मा ही हमारे चेतन और अवचेतन मन में अहम् के रूप में विद्यमान रहती है । आत्मा के इस वोध को इसीलिए कुमारिल ने 'मानस-प्रत्यक्ष' की संज्ञा दी है । प्रभाकर ने कहा है कि आत्मा ही ज्ञाता है और प्रत्येक वस्तु के संज्ञान के साथ ही आत्मा का वोध होता है । आत्मा और वस्तु दोनो ही ज्ञान से प्रकाशित होते हैं । प्रत्येक वार जव हम किसी वस्तु को देखते हैं, तो उस ज्ञान के प्रकाश में हम ज्ञाता रूप आत्मा को भी देखते है । उनके अनुसार यह सत्य है कि अहम् की पृष्ठभूमि मे आत्मा का अस्तित्व छिपा हुआ है परन्तु आत्मा का ज्ञान वस्तु के ज्ञान के साथ नही होता । यह आत्मा प्रत्येक संज्ञान मे ज्ञाता (कर्त्ता) के रूप मे प्रकट नही होती । आत्मा का ज्ञान एक भिन्न मानसिक प्रक्रिया के द्वारा होता है । अहम्-चेतना के मनन और मन्थन से शरीर से भिन्न किसी तत्त्व का वोध होता है । आत्मा स्वयं अपने आपको प्रकाशित नही करती इस पर प्रभाकर और कुमारिल दोनो एकमत हैं । दोनों का मत है कि आत्मा 'स्वयं प्रकाश' नही है । यदि आत्मा स्वयंप्रकाश होती तो हम गहरी निद्रा मे भी इसके कार्य को देख पाते जव इन्द्रियादि का सारा व्यापार निष्पद हो जाता है । गहरी निद्रा एक अचेतन अवस्था है जिसमे किसी प्रकार की चेतना और आनन्द का वोध नही होता । यदि यह आनन्द की अवस्था होती तो मनुष्य यह शिकायत नही करते कि असामयिक निद्रा ने हमको इस आनन्द से वंचित कर दिया । जव साधारणतया यह कहा जाता है कि मैं वड़े आनन्द से सोया तो उसका अर्थ यह होता है कि सोते समय कोई कष्ट नही हुआ । मनुष्य ऐसा भी कहते है कि मैं ऐसी गहरी नीद में सोया कि मुझे अपने आपका भी होश नही था । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आत्मा सुषुप्तावस्था में न अपने आपको प्रकाशित करती है न यह आनन्द की स्थिति होती है । आत्मा परमाणुवत् नही है क्योंकि हम एक साथ शरीर के भिन्न-भिन्न अंशों मे सवेदनाओं का अनुभव करते हैं । यदि यह परमाणु के समान होती तो एक समय मे एक ही स्थान पर हम संवेदना की अनुभूति करते । जैन मत के अनुसार आत्मा शरीर के अनुसार आकार वाली होती है और शरीर के आकार के अनुरूप वढ़ती-घटती है । परन्तु यह भी सत्य नही है ।

सत्य यह है कि आत्मा व्यापक तत्त्व है, जैसाकि वेदों में वर्णित है। यह आत्मा भिन्न जीवों में भिन्न-भिन्न होनी चाहिए अन्यथा सभी लोगों का दृष्टिकोण और अनुभूति एक ही प्रकार की होती।[1]

कुमारिल आत्मा को ज्ञान शक्ति[2] के रूप में देखते हैं। मन और इन्द्रियों की क्रिया से मंज्ञान होता है। आत्मा का भी ज्ञान मन के द्वारा होता है। मोक्ष के बाद मन व इन्द्रियों की क्रिया समाप्त हो जाने के पश्चात् आत्मा शुद्ध ज्ञान-शक्ति के रूप में अव्यक्त अवस्था में रहती है। इस समय में यह सुख-दुःख, आनन्दादि सबसे परे होती है। वेदान्त दर्शन ने मोक्ष के पश्चात् आत्मा की स्थिति को आनन्दमय माना है परन्तु यह सत्य नहीं है क्योंकि आनन्दादि मन-इन्द्रिय की क्रिया से उत्पन्न होते हैं। मोक्ष के पश्चात् आत्मा विशुद्ध ज्ञान-शक्ति के रूप में अवस्थित होती है। मोक्ष के सम्बन्ध में प्रभाकर का भी यही मत है।

अच्छे-बुरे कर्मों के कर्मफल का पूर्ण उपभोग कर मनुष्य 'काम्य कर्मों' का परित्याग कर देता है, जब निष्काम रूप से सध्यादि नित्यकर्म करता हुआ सारे फलदायक कर्मों से उपरत हो जाता है तब वह मोक्ष प्राप्त करता है। नित्य कर्म वे हैं जिनके न करने से पाप का भागी होना पड़ता है, परन्तु जिनके निष्काम रूप से करने से किसी फल की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार मनुष्य जन्म-मरण रूप शरीर के बन्धन को छोड़कर मोक्ष गति प्राप्त करता है।

मीमांसा इस संसार के रचयिता या प्रलयकर्त्ता के रूप में परमात्मा की स्थिति को स्वीकार नहीं करता। यह संसार अनादि और अनन्त है। यह शाश्वत है, इसी प्रकार चल रहा है। प्राणियों की उत्पत्ति में परमात्मा की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि जीवमात्र की उत्पत्ति, जनन क्रिया नियमों के अनुसार माता-पिता के द्वारा होती है। परमात्मा कोई बढ़ई या लुहार नहीं है जो बैठकर इस संसार को गढ़ता रहता है। न्याय के अनुसार धर्म-

---

1 'श्लोक वार्तिक' में आत्मवाद और शास्त्रदीपिका में आत्मवाद और मोक्षवाद देखिए।

2 मीमांसा-दर्शन न्याय के समान सारी क्रियाओं को अणु-स्पंदन के रूप में (परिस्पन्द) स्वीकार नहीं करता। मीमांसा दर्शन शक्ति को एक भिन्न रूप में मानते हुए सिद्ध करता है कि इस ऊर्जा के द्वारा ही सारी गति-क्रिया सम्पन्न होती है। आत्मा स्वयं शक्ति है। स्वयं गतिहीन रहते हुए शरीर को गति प्रदान करती है। जब कभी किसी प्रकार की क्रिया दिखाई देती है तो स्पष्ट है कि किसी प्रकार की ऊर्जा का वस्तु के साथ सम्बन्ध हुआ है। परन्तु न्याय किसी भी अतीन्द्रिय शक्ति या ऊर्जा के सिद्धांत को नहीं मानता। न्याय के अनुसार सारी क्रिया का आधार परमाणविक परिस्पन्द है।

अधर्म के लिए किसी व्यवस्थापक की आवश्यकता है पर मीमांसा का मत है कि धर्म और अधर्म का सम्बन्ध मनुष्य से है न कि परमात्मा से। परमात्मा से धर्म-अधर्म का किसी प्रकार का भी 'समवाय' या संयोग नहीं है। सृष्टि की उत्पत्ति के लिए बढई की तरह उसके पास कोई औजार भी नहीं है। दूसरे, सृष्टि की उत्पत्ति करने के लिए क्यों प्रेरित हुआ ? क्या कोई करुणा थी ? सृष्टि और प्रलय के लिए परमात्मा की दया या क्रूरता का कोई कारण प्रतीत नहीं होता क्योंकि इसी तर्क से यदि सृष्टि के आदि में परमात्मा ने प्राणियों को दया कर उत्पन्न किया तो जब प्राणियों का अस्तित्व ही नहीं था तो उसने दया किन पर की, यह समझ में नहीं आता। फिर यदि परमात्मा स्वयं सृष्टिकर्त्ता है तो उसका भी कोई वास्तव में कर्त्ता होना चाहिए। सत्य यह है कि यह सृष्टि अनादि अनन्त है। न प्रलय होता है और न सृष्टि। संसार इसी प्रकार अनन्त काल से चला आ रहा है। वास्तव में न कोई स्रष्टा है न सृष्टि, न सृष्टि रचना होती है और न प्रलय।

मीमांसा का दर्शन और कर्म-कांड के रूप में प्रयोग

मीमासा-दर्शन मुख्यतया वैशेषिक दर्शन के भौतिक सिद्धान्तों को मान्य करके चलता है। साख्य और वैशेषिक ही ऐसे हिन्दू दर्शन हैं जिन्होंने अपने दर्शन में भौतिकी के सिद्धान्तों को मान्यता देते हुए उनकी विशद् व्याख्या की है। अन्य दर्शनों ने उनको साधारणतया यथावत् स्वीकार कर लिया है। कुमारिल और प्रभाकर ने भी प्रायः उन्हीं सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया है। न्याय-वैशेषिक के दृष्टिकोण को इस प्रकार प्रभाकर और कुमारिल दोनो ने ही मान लिया है जो कर्मकांड आदि के लिए बुद्धि-संगत भी प्रतीत होता है।

मीमासा और न्याय मे मुख्य सैद्धांतिक अन्तर ज्ञान-सिद्धात के सम्बन्ध में है। मीमांसा का मत है कि वेद स्वतः प्रमाण है, इनके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही है। वेदों की प्रामाणिकता के लिए परमात्मा का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं है। सारा ही ज्ञान स्वत. प्रमाणित और सत्य है, अतः वैदिक आदेश और व्यवस्था भी स्वतः सिद्ध, सत्य और प्रामाणिक हैं। धर्म का प्रत्यक्ष किसी अन्य प्रमाण के द्वारा नही हो सकता। धर्म कोई ऐसी स्थूल वस्तु नहीं है जिसका प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा किया जा सके। वेद-विहित ढंग से उसकी आज्ञाओं के अनुसार कर्मकाण्ड आदि करने से धर्म की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार धर्म और अधर्म के ज्ञान के लिए शब्द-प्रमाण ही मुख्य आधार है। इसके अतिरिक्त उचित सज्ञान के लिए अन्य प्रमाणों की भी आवश्यकता है जिससे वेदमंत्रों के अर्थ में जहां सन्देह है उनको ठीक रूप से समझा जा सके। सृष्टि और प्रलय के सिद्धांत को भी मीमांसा-दर्शन ने इस भय से स्वीकार नहीं किया है कि इससे वेदों के शाश्वत अनादि होने के सिद्धान्त का खंडन होता है। यहां तक कि परमात्मा के अस्तित्व को भी इसी हेतु स्वीकार नहीं किया गया है।

वेदो की व्याख्या करते हुए मीमासा-दर्शन ने वेदो और 'मत्रो' और 'ब्राह्मणों' का सकलन कहा है। 'ब्राह्मण' को 'विधि' (वैदिक आदेश) भी कहा है।

इन विधियों (आदेशो) के तीन प्रकार हैं—(1) अपूर्व विधि, (2) नियम विधि; (3) परिसख्या विधि। अपूर्व विधि वह आदेश या विधि है जिसका हमे कोई पूर्व-ज्ञान नही है और जिसे हम आदेश के कारण ही जान पाते हैं। उदाहरण के लिए, जब यह विधि बतलाई जाए कि अक्षतों को धोकर प्रयोग मे लाना चाहिए तो हमको इस आज्ञा से ही यह बोध होता है कि यह विधि आवश्यक है। 'नियम' विधि अनेक विकल्पो में एक निश्चित विधान स्थापित करती है। उदाहरण के लिए, धान का छिलका कई विधियों से उतारा जा सकता है, यहाँ तक कि नाखून से भी छीला जा सकता है, परन्तु नियम-विधि एक निश्चित ढग बताती है कि कूट कर साफ करो। नियम-विधि में जो आदेश दिया गया है उसको हम पहले से जानते हैं पर हम उसे कई विकल्पों में से एक के रूप मे जानते हैं, अत नियम-विधि इनमे से एक चुनने का निश्चित आदेश देती है। 'अपूर्व विधि' उस विधि का आदेश देती है जिसका हमको कोई पता ही नही था और यदि यह आदेश ही नही मिलता तो वह विधि सम्पन्न ही नही होती। परिसंख्या-विधि वह विधि है जो अनेक क्रियाओ में की जा सकती है, जिसकी हमको जानकारी है, पर जो निश्चित प्रसग में ही करना उचित है। उदाहरण के लिए मैं रास (लगाम) को ग्रहण करता हूँ" (इमाम् अगृभ्णाम् रशनाम्) ऐसे अर्थ वाले मत्र मे किसी भी जानवर की रास को ग्रहण करने या पकडने का उल्लेख होता है, पर परिसख्या विधि के अनुसार गधे की रास पकडना निषिद्ध है, या गधे की रास को पकडते हुए इस मत्र का पढना वर्जित है।

वैदिक मन्त्र-वाक्यों की व्याख्या करने के तीन मुख्य सिद्धांत हैं—(1) जब वैदिक मत्रो के शब्द ऐसे हों कि उनको एक साथ पढ़कर ही पूर्ण अर्थ की प्राप्ति होती है तो उनको एकसाथ पढना और अर्थ करना उचित होता है। यदि अलग-अलग अर्धवाक्यो का अर्थ स्पष्ट हो जाता हो तो उनको मिलाना या एक दूसरे के अर्थ के लिए सयुक्त करना उचित नहीं है, यह दूसरा सिद्धान्त है। (2) उन वाक्यों को जो स्वय में पूर्ण नहीं है, या आधे वाक्य हैं, उनके लिए पूर्व वाले वाक्यों से प्रसगानुसार पूरक शब्दो को व्यवहार मे लाकर अर्थ करना चाहिए।

धर्म का आधार विधि-विहित वेद-व्याख्या है। वेदो के सारे मन्त्रो को विधि-सहिता के रूप में हृदयगम करना चाहिए। वेदों के सारे मन्त्र करणीय विधि के रूप में मानने चाहिए और इस आदेशात्मक दृष्टि से ही उनकी व्याख्या करनी चाहिए। जिन मत्रों के द्वारा देवी देवताओं की प्रशसा और माहात्म्य कहा गया है वे इन देवताओं की स्तुति और अर्चना की विधि हैं। इस प्रकार जो भी मत्र विधि की प्रशसा या अन्य वर्णन के रूप (अर्थवाद) में मिलते हैं उनको भी विधि वाक्य के रूप में स्वीकार करना चाहिए अन्यथा उनको अवैदिक समझकर उनका परित्याग कर देना चाहिए। वेदो का महत्त्व इसी में है कि उनकी आज्ञा के अनुसार आचरण करते हुए धर्म को प्राप्त करें।

वैदिक विधि-विधान के अनुसार किए हुए यज्ञ के कारण एक अद्भुत-शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। यह शक्ति कर्म मे अथवा कर्त्ता में सन्निहित होती है। इस शक्ति को ही 'अपूर्व' (जो पहले नही थी) कहते हैं। यह यज्ञकर्त्ता को अभीष्ट फल देती है। इससे पुण्यों का संचय होता है और पुण्य-धर्म से स्वर्ग प्राप्त होता है। यह 'अपूर्व' तब तक यज्ञकर्त्ता में निवास करता है जब तक उसका अभीप्सित फल उसे प्राप्त नही हो जाता।[1]

कुमारिल और शबर के ग्रन्थों में यज्ञादि अनुष्ठानों और उनकी विधि के सम्बन्ध में विशद् व्याख्या तथा अन्य विविध विवरण मिलते हैं, जिन सबका वर्णन करना दर्शन की दृष्टि से विशेष सार्थक नहीं होगा।

1. डा० गंगानाथ झा रचित 'प्रभाकर मीमांसा' और माधव-रचित न्याय-माला-विस्तार देखिए।

अध्याय 10

शंकर का वेदान्त दर्शन

तर्क की अपेक्षा दार्शनिक तर्क-बोध का महत्त्व

संस्कृत में 'प्रमाण' का अर्थ वह साधन है जिसके द्वारा किसी विषय का ज्ञान प्राप्त होता है। 'प्रमाण' वह व्यक्ति है जो ज्ञान प्राप्त करता है। प्रमाण से जो प्राप्त होता है वह सत्य ज्ञान 'प्रमा' कहलाता है। यथार्थ ज्ञान के विषय को 'प्रमेय' कहते हैं। 'प्रामाण्य' प्राप्त ज्ञान की वैधता स्थापित करना है। प्राप्त ज्ञान यदि तथ्यों के आधार पर सत्य प्रतीत होता है तो वह ज्ञान वैध है। यथार्थता का दूसरा अर्थ है प्रमाता के मस्तिष्क में ज्ञान की की विषय यथार्थता का ज्ञान। ज्ञान की यथार्थता से कभी यह तात्पर्य भी लिया जाता है कि ज्ञान (प्रमेय) के साथ तदनुरूपता हो अथवा कभी-कभी यह अर्थ भी लिया जाता है कि–"मेरे विचार सत्य हैं।" इस प्रकार ज्ञान-सिद्धांत ज्ञान-मीमांसा और मनस्तत्त्व के क्षेत्र में भी आता है, तत्त्व-मीमांसा के क्षेत्र में भी। प्रमाता प्राप्त ज्ञान को यदि सत्य मानता है तो उसी के अनुसार सुख-दुःख के लिए या दुःख के निवारण के लिए कर्म करता है, अतः प्रत्येक व्यक्ति जब कोई कर्म करता है तो वह अपने प्रत्यक्ष को वैध मानकर ही उस कर्म की ओर प्रेरित होता है। इसमें एक ओर मनोवैज्ञानिक अनुभव के विश्लेषण पर आश्रित (आधारित) एक ज्ञान-सिद्धान्त आता है, दूसरी ओर ज्ञान-सिद्धान्त के अनुरूप एक दार्शनिक स्थिति इंगित होती है। ज्ञान का प्रामाण्य किसमें रहता है–यह प्रश्न प्रमाण-शास्त्र व मनोविज्ञान की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, अपितु इसकी दार्शनिक महत्ता भी है। ज्ञान के प्रामाण्य में मनोवैज्ञानिक और (तत्त्वपरक) तात्त्विक मीमांसा दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। दार्शनिक सम्प्रदायों ने अपने-अपने ढंग से ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता, प्रमाण आदि विषयों की विस्तृत व्याख्या की है। इस व्याख्या और विश्लेषण में अनेक प्रकार के तर्क प्रस्तुत किए गए हैं, यहाँ तक कि तर्क शास्त्र स्वयं में यह एक विषय बन गया है, परन्तु वे तर्क विषय-वस्तु के ज्ञान के लिए साधन मात्र हैं। वास्तव में विशेष महत्त्व उन दार्शनिक तत्त्वबिन्दुओं का है जिनको सिद्ध करने के लिए जटिल तर्कपद्धति का आश्रय लिया गया है।

प्राचीन दर्शन विद्वानों के विचार मन्थन की परम्परा यह थी कि विभिन्न शास्त्रों के विद्वान समाजों में एकत्र होते थे और परस्पर शास्त्रार्थ करते थे। शास्त्रार्थों में एक शाखा के विद्वान अन्य शाखा के विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित करने का प्रयत्न करते थे। इन शास्त्रार्थों में विजय-पराजय का उस शाखा के विद्वानों के सम्मान-अपमान पर गहरा प्रभाव पड़ता था। उदाहरणार्थ, कोई बौद्ध दार्शनिक यदि किसी शास्त्रार्थ में, जहाँ विभिन्न विद्वान एकत्र रहे हों, किसी नैयायिक या मीमांसक को हरा देता था तो उसकी ख्याति देश के कोने-कोने में फैल जाती थी, वहीं उसके अनेक शिष्य बन जाते थे। इस प्रकार के शास्त्रार्थों

के लिए विद्वान दूर-दूर की यात्राएँ भी करते थे और प्रतिपक्षियों को शास्त्रार्थ में हराने और अपनी शाखा के अनुयायियों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार ऐसे शास्त्रार्थ सत्य की खोज के प्रयत्न में निष्पक्ष दार्शनिक विचार-मंथन की बजाय अपने पक्ष की विजय के प्रयत्न के उद्देश्य से अधिक किये जाते थे। अतः शास्त्रार्थ महारथी के मन में अपने पक्ष को विजय दिलाने की इच्छा ही उसे शास्त्रार्थ में प्रवृत्त करती रहती थी। यही कारण है कि संस्कृत के अनेक दर्शन ग्रन्थों में अपने प्रतिपक्षी के तर्कों में युक्तियों द्वारा विरोध बताकर तथा तर्कों द्वारा असंगतियाँ सिद्ध कर कभी उसे अपना पक्ष स्थापित करने को कहकर फिर उसी मे कुछ दोष सिद्ध कर उसका खंडन करने की प्रवृत्ति बहुधा पाई जाती है। तत्कालीन दर्शन ग्रन्थों में इसी प्रकार के खडन-मंडन, वितंडा, वाद आदि का साहित्य बहुत मिलता है। इन सब के फलस्वरूप अन्त मे जाकर कही एक दर्शन का सिद्धान्त प्रतिपादित मिलता है, आधुनिक दर्शन जिज्ञासु को जो किसी पक्ष के प्रति रुझान नही रखता और निष्पक्ष रूप से दर्शन की शाखा विशेष में ज्ञान का क्या सिद्धांत था यह जानना चाहता है, महत्त्व के बिंदु यही है कि उनके पक्षों में कहाँ 2 दोष हैं, कहाँ 2 गहरा विश्लेषण हुआ है और दर्शन को उनका योगदान क्या है, वेद्धान्त दर्शन का विवेचन आते-आते हमारे ग्रन्थ को यह भाग समाप्त हो जाएगा अतः यहाँ इसका संक्षिप्त विवरण देना भी अप्रासंगिक नही होगा कि ज्ञान सिद्धान्त की दृष्टि से विभिन्न शाखाओं ने किस प्रकार मत-मतान्तर स्थापित किये थे और उनके बीच शांकर दर्शन का क्या स्थान था। यह ज्ञानसिद्धान्त 'प्रमाण्यवाद' के रूप में विवेचित मिलता है।

तत्कालीन दार्शनिक स्थिति की समीक्षा

जिस दार्शनिक पृष्ठभूमि में आचार्य शंकर द्वारा निरूपित वेदान्त दर्शन का उदय हुआ उसे ठीक रूप से समझना आवश्यक है। इस पृष्ठभूमि की समीक्षा से विभिन्न दृष्टि-कोणो के संदर्भ में वेदान्त दर्शन के सिद्धान्तों का मनन करने में बडी सहायता मिलेगी।

तत्कालीन मुख्य दर्शनो मे बौद्ध दर्शन का विशेष स्थान है। इसकी भी कई शाखाएँ अपने-अपने ढंग से धर्म और मोक्ष की व्याख्याएँ प्रस्तुत करती हैं। सौत्रान्तिक तक बौद्धों का कथन है कि मनुष्य 'पुरुषार्थ' के द्वारा अपनी इच्छाओ और कामनाओ को पूरा करना चाहता है। 'सम्यग्ज्ञान' (सत्यज्ञान) के अभाव में यह पुरुषार्थ सम्भव नहीं हैं। यह पुरुषार्थ सम्यग्ज्ञान, जो व्यक्तियो के समक्ष वस्तुओं को यथार्थ रूप मे प्रस्तुत करता है, से ही सम्भव हो सकता है। ज्ञान तभी सत्य कहा जा सकता है जबकि हमे वस्तुओं की ठीक उसी रूप में प्राप्ति हो जिस रूप मे हमने उनको देखा है। हमारे प्रत्यक्ष से हमको पदार्थों का बोध होता है। जहाँ तक प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञानप्राप्ति का सम्बन्ध है वहाँ किसी प्रकार की आलोचना का प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु हम सब यह जानना चाहते हैं कि हमारा प्रत्यक्ष कहाँ तक सत्य है। हम कर्म करते हैं। यदि प्रत्यक्ष मिथ्या है या भ्रान्तिपूर्ण है तो निश्चित है कि हमे तद्नुसार कर्म करने से इच्छित फल की प्राप्ति नही होगी, अतः 'अर्थ-प्रापकत्व' की कसौटी ही ज्ञान की वैधता को प्रमाणित कर सकती है। हमारा प्रत्यक्ष उसी दशा में 'अभ्रान्त' (सत्य) कहा जा सकता है जब प्रत्यक्ष के द्वारा अर्थ-प्राप्ति हो, जब

हमारे सज्ञान और वाह्यजगत् की वस्तुओ के तथ्यों मे 'सवादकत्व' हो । तथ्यो और प्रत्यक्ष मे साम्य होना चाहिए । दूसरे शब्दो में, जो प्रत्यक्ष वस्तुपरक है, जो केवल कल्पना पर आधारित नही है वही वैध सत्य (यथार्थ) कहा जा सकता है । जब यह कहा जाता है कि 'यही वह गाय है जिसको मैंने पहले देखा था' तब मैं एक ऐसी वस्तु देखता हूँ जिसके भूरा वर्ण, चार पाँव, पूँछ, सीग आदि हैं, किन्तु 'यह गाय कहलाती है' अथवा 'यह इतने वर्षो से जीवित है' यह तथ्य चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष नही होता क्योंकि यह ज्ञान चाक्षुप प्रत्यक्ष के विपय से उत्पन्न नही होता है । हमारी दृष्टि की यह सामर्थ्य नहीं है कि हम उसके द्वारा गाय के पूर्व अस्तित्व का प्रयत्क्ष कर सकें । ससार मे सारी वस्तुएँ क्षणिक हैं । जिस वस्तु को मैं इस समय, इस क्षण मे देख रहा हूँ वह पहले नही थी, अत यह नाम और स्थायित्व की भावना काल्पनिक है । यह ज्ञान 'कल्पना' (अभिलाप) का विपय है, अत हमारा प्रत्यक्ष गाय के सम्बन्ध मे उतने अश अक सत्य है जहाँ तक 'अभिलाप' का समावेश नहीं होता । जहाँ तक हमे चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, वहाँ तक तो वह सत्य है परन्तु जहाँ 'कल्पनापोढ' प्रसग उत्पन्न होता है वहाँ स्पष्ट ही वह भ्रान्त है क्योंकि हमारा प्रत्यक्षानुभव उस विपय का भाग नही है वह तो कल्पित है । अत ऐसे प्रत्यक्ष मे भी होता यह है कि साधारणतया हम अभिलाप या कल्पना को भी प्रत्यक्ष अनुभव के रूप मे स्वीकार कर लेते हैं । वास्तव मे हमारा प्रत्यक्ष 'निर्विकल्प' स्थिति तक सीमित है । 'निर्विकल्प प्रत्यक्ष' वह अवस्था है जब हम नाम आदि का निर्धारण नही कर पाते हैं । इसी प्रकार इस प्रत्यक्ष के द्वारा ही 'मनोविज्ञान' (सुख, दु ख का मानसिक वोध) का विनिश्चयन होता है । किसी विशेप क्षण मे हम एक वस्तु को प्रत्यक्ष के द्वारा 'ग्राह्य' रूप मे देखते हैं और फिर दूसरे क्षण मे हम उसे वाह्य-जगत् मे साधनो के द्वारा प्राप्त करने योग्य समझकर तदनुसार कार्य करते हैं । वास्तव मे प्रत्यक्ष का विपय (प्रत्यक्षविपय)[1] वस्तु का अपने महज रूप मे (स्वलक्षण) दिखाई देना है । उस वस्तु को प्राप्त करने की कल्पना और प्राप्ति के साधन,

1. धर्मकीर्ति के 'स्वलक्षण' शब्द के अर्थ के वारे में मेरे आदरणीय मित्र प्रो श्चेरवात्स्की और मेरे वीच कुछ मतभेद है । प्रो साहव मानते हैं कि धर्मकीर्ति का यह मत है कि प्रत्यक्ष के क्षण मे वसु का लक्षण लगभग शून्य रहता है । उन्होंने मुझे लिखा है—"आपके निर्वचन अनुसार स्वलक्षण से अभिप्राय है वह विपय (अथवा विज्ञान-वादियों के शब्दो मे प्रत्यक्ष) जिसमें समस्त भूत और समस्त भविप्य निरस्त कर दिया गया है । मैं इसका विरोध नहीं करता पर मेरा यह कहना है कि यदि समस्त भूत और समस्त भविप्य हटा दिया जाता है तो क्या वचेगा ? वर्तमान ही तो, और वर्तमान एक क्षण है अर्थात् कुछ नहीं .. .क्षण के विपरीत होता है क्षण-सन्तान अथवा केवल सन्तान और प्रत्येक सन्तान मे भूत और भविप्य क्षणो का एकीभाव या समन्वय होता है जो वुद्धि द्वारा निर्मित है (वुद्धि-निश्चय-कल्पना अध्य-वसाय) घट के प्रत्यक्ष मे कुछ ऐसा तत्त्व होता है (ऐन्द्रिय ज्ञान का एक क्षण) जिसे हमे घट के प्रत्यक्ष से विभिन्न ही समझना चाहिए (क्योंकि वह हमेशा एक

प्रत्यक्ष का फल (प्रत्यक्षफल) हैं। 'प्रत्यक्षफल' में हम उस विषय के स्वरूप और उसको प्राप्त करने के साधनों की जानकारी करते हैं–'येन कृतेन अर्थः प्रापितो भवति'। इस प्रकार

सन्तान के रूप में होपा है और सदा विकल्पित ही होता है), और यदि हम पूर्णतः निरूपाधिक रूप में उस प्रत्यय को हटा देते हैं तो कोई ज्ञान नही वचता; क्षणस्य ज्ञानेन प्रापयितु मशक्यत्वात्। यही 'अववोध के संश्लेषण' वाला (सिंथेसिस ऑव एप्रीहेन्शन) कान्ट का सिद्धांत है। इसलिए प्रत्यक्ष, ज्ञान का अनुभवातीत स्रोत है–क्योंकि इस दृष्टि से देखा जाय तो यह वस्तुतः कोई ज्ञान नही देता। यह प्रमाण असत्कल्प है। कान्ट का कहना है कि अन्त.प्रज्ञा (ऐन्द्रिय-ज्ञान-प्रत्यक्ष-कल्पनापोढ़) के तत्त्वों के विना हमारे संज्ञान खोजने होंगे और वुद्धि (कल्पना-वुद्धि-समन्वय या संश्लेपण-एकीभाव) के बिना वे अंधे होंगे। आनुभाविक रूप से दोनों हमेशा संयुक्त होते हैं। ठीक यही धर्मकीर्ति का सिद्धांत है। जहाँ तक मैं उसे समझा हूँ वह विज्ञानवादी है क्योकि वह मानता है कि केवल विज्ञान ही संज्ञेय है परन्तु यथार्थ हमारे ज्ञान का एक असज्ञेय आधार है। वह मानता है कि यह वाह्य है, यह अर्थ है, यह अर्थक्रियाक्षण है अर्थात् स्वलक्षण है। यही कारण है कि उसे कभी-कभी सौत्रांतिक भी कह दिया जाता है और उसके सिद्धांतको कभी-कभी सौत्रांति विज्ञानवाद कहा जाता है जो अश्वघोष आर्य संग के विज्ञानवाद से विपरीत है जिसमें संज्ञान की कोई स्पष्ट परिभाषा नही है। यदि घट, जैसा वह हमारी प्रतिति में स्थित है–स्वलक्षण और परमार्थसत् है तो विज्ञानवाद का क्या वनेगा? किन्तु उसके हिसाव से घट का प्रत्यक्ष, घट के शुद्ध प्रत्यय (जिसे वे शुद्ध कल्पना कहते हैं) से विभिन्न है, वह यथार्थ है, ऐन्द्रिय क्षण है जो हमे ऐन्द्रिय ज्ञान द्वारा दिया जाता है। कान्ट के शब्दों मे अपने आप में एक चीज (थिंग इन इटसेल्फ) भी एक क्षण ही है और शुद्ध इन्द्रिय का ऐन्द्रिय ज्ञान है जो शुद्ध तर्कवुद्धि से विभिन्न है। धर्मकीर्ति भी शुद्ध कल्पना और शुद्ध प्रत्यक्षम् को अलग-अलग मानते हैं। सबसे ज्यादा दिलचस्पी की चीज प्रत्यक्ष और अनुमान में वताया गया भेद है, प्रत्यक्ष क्षण से संतान की ओर ले जाता है–और अनुमान सन्तान के क्षण की ओर लाता है; यही कारण है कि भ्रांत होने पर भी अनुमान प्रमाण है क्योकि इसके द्वारा हम अप्रत्यक्ष रूप से भी क्षण तक अर्थक्रियाक्षण तक पहुँच जाते हैं। यह प्रत्यक्ष रूप से भ्रांत है और अप्रत्यक्ष रूप से प्रमाण, जवकि प्रत्यक्ष प्रत्यक्षतः प्रमाण है और अप्रत्यक्ष रूप से भ्रान्त है (असत्कल्प)।"

जहाँ तक पो. श्चेरवात्स्की द्वारा सन्दर्भित उद्धरणों का प्रश्न है मेरा उनसे कोई मतभेद नहीं हैं पर मेरी यह धारणा है कि वे इस सारे निर्वचन को कान्ट के सिद्धांतो के जरूरत से ज्यादा निकट ले जाने के चक्कर मे पड़ गए हैं। जव मैं यह प्रत्यक्ष करता हूँ कि 'यह नील है' तो इस प्रत्यक्ष के दो भाग होते हैं, ऐन्द्रिय ज्ञान का वास्तविक लक्षणात्मक तत्त्व और निश्चय। यहाँ तक मुझ में और श्चेरवात्स्की

'प्रमाण' प्राप्त ज्ञान का तथ्यों से ऐसा साम्य है जिसके आधार पर हम अपने प्रत्यक्ष को सत्य मानते हुए अर्थ की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं। पर यह दूसरी अवस्था जिसमें हम फल के साधन हेतु विचार और कर्म करते हैं, 'प्रमाण फल' है। यह प्रमाण नहीं है। यह अन्तिम अवस्था प्रमाण-फल है न कि प्रमाण जो कि वस्तु के निर्विकल्प प्रत्यक्ष से सम्बन्धित है और जो दृष्टा की दृष्ट वस्तु के प्रति प्रवृत्ति को विनिश्चित करता है। प्रमाण का अर्थ केवल वस्तु का ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष है जिसमे हम केवल विषय को कल्पनाविहीन दृष्टि से देखते हैं और जिसके द्वारा देखने वाला (प्रत्यक्षकर्त्ता) उस विषय के सम्बन्ध में अपना मत निर्धारण करता है। इस प्रकार प्रमाण केवल नवीन ज्ञान (अनधिगताधिगन्तृ) मात्र है, परन्तु उपर्युक्त व्याख्या से यह प्रमाणशास्त्रीय प्रश्न स्पष्ट नहीं होता कि वाह्य जगत् से ज्ञान क्योंकर उत्पन्न

मे ऐकमत्य है, लेकिन प्रो श्चेरवात्स्की कहते हैं कि यह ऐन्द्रिक ज्ञान केवल एक क्षण है और शून्य है। मैं भी यह तो मानता हूँ कि यह क्षण है लेकिन यह मानता हूँ कि वह शून्य केवल इस मायने मे है कि वह उतना निश्चयात्मक नहीं है जितना 'यह नील है' इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान। दूसरे क्षणों मे होने वाला निश्चयात्मक ज्ञान पहले क्षण के द्रत्यक्ष के वल पर उत्पन्न है (प्रत्यक्ष-वलोत्पन्न, न्या टी पृ० 20) परन्तु यह प्रत्यक्ष वल वाद के क्षणों के निश्चयात्मक ज्ञान के फल से नितात रहित होकर निर्लक्षण नहीं हो जाता यद्यपि हम इसका लक्षण वता नही सकते, ज्योही हम उसकी अभिव्यक्ति करने का प्रयत्न करते हैं, निश्चयात्मक ज्ञान के साथ सम्वद्ध सज्ञाएँ और दूसरे प्रत्यय उसके साथ जुड जाते हैं जो प्रत्यक्ष के क्षण के भाग नही हैं। इस प्रकार इसकी अपनी प्रकृति अलग ही है, अनूठी है अर्थात् स्वलक्षण। किन्तु यह अनूठी प्रकृति क्या है ? इस पर धर्मकीर्ति का यह उत्तर है कि अनूठी प्रकृति से उसका तात्पर्य है विषय के वे विशिष्ट लक्षण जो उस विषय के निकट होने पर स्पष्ट दिखाई दे जाते हैं और दूर होने पर धुँधले हो जाते हैं (यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्याम् प्रतिभासभेदस्तत् स्वलक्षणम् न्या ० पृ ० 1 तथा न्या ० टी ० पृ ० 16) इस प्रकार ऐन्द्रिय ज्ञान हमको विषय के विशिष्ट लक्षण का वोध, कराता है और इसका वही रूप होता है जो उस विषय का, यह 'नील' की अपने विशिष्ट रूप में मस्तिष्क में प्रतीति ही है और जव यह प्रतीति निश्चयात्मक और प्रत्ययात्मक प्रक्रिया से युक्त हो जाती है तो उसका फल होता है 'यह नील है' इस प्रकार का ज्ञान। नीलसरूपम् प्रत्यक्षमनुभूयमान् नीलवोधरूप मवस्थाप्यते... ... नीलसारूप्यमस्य प्रमाणम् नीलविकल्पनरूप त्वस्य प्रमाणफल, न्या ० टी ० पृ ० 22)। पदलक्षण मे नील का प्रतिभास होता है (नीलनिर्भास हि विज्ञानम् न्या ० टी ० पृ ० 19) और यह साक्षात् ज्ञान होता है (यत् किंचित् अर्थस्य साक्षात्कारि ज्ञान त्० प्रत्यक्ष मुच्यते, न्या० टी० पृ० 7) और यह ज्ञान यथार्थ (परमार्थसत्) और वैध होता है। यह नील की प्रतीति 'यह नील है,' इस प्रकार के बोध से विभिन्न होती है (नील वोध न्या० टी० पृ० 22) जो प्रतीति का परिणाम

होता है अथवा यह ज्ञान क्या है। पार्थिव जगत् का ज्ञान की उत्पत्ति में क्या स्थान है? ये सारे प्रश्न अस्पष्ट ही रह जाते हैं। ज्ञान-प्राप्ति के उपर्युक्त विवेचन से केवल यही स्पष्ट होता है कि हमारा ज्ञान तथ्यों के आधार पर सत्य है अथवा नही और इस ज्ञान का फल-प्राप्ति के लिए कितना महत्त्व है। ज्ञान वाह्य-जगत् से कितना सम्बद्ध है और वाह्य-जगत् का ज्ञान की उत्पत्ति और विनिश्चयन में क्या स्थान है, इसकी कोई मीमांसा नही की गई है।

योगाचार शाखा भी सौत्रान्तिक बौद्धों के समान ही अपने ज्ञान-सिद्धान्त में वाह्य जगत् को कोई महत्त्व नही देती है। इस शाखा का मत है कि हमारा सम्पर्क केवल ज्ञान से ही होता है। वाह्य-जगत् के सम्पर्क मे हम ज्ञान के द्वारा ही आते हैं। हमारा वाह्य-जगत् से कोई सीधा प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है। हम यह कहते हैं कि वाह्य-जगत् के प्रतिविंब को हम अपने ज्ञान में पाते हैं। वेदना अनुभूति का आधार वाह्य-जगत् है, परन्तु यदि यह कह दिया जाए कि हमारे लिए केवल यह वेदना ही सत्य है तो क्या हानि है। हम किसी वस्तु के सम्पर्क में इस वेदनानुभूति के अभाव मे नही आ सकते। ज्ञान के उदय के साथ ही वाह्य-जगत् की वस्तुओं का उदय होता है, अत: ज्ञान और वस्तु एक ही होनी चाहिए। वस्तु-ज्ञान से भिन्न नही हो सकती (सहोपलभनियमात् अभेदो नीलतद्धियो:) ज्ञान का ही प्रतिविंव वाह्य-जगत् है। हम स्वप्न में भी ज्ञान प्राप्त करते हैं और स्वप्न मे किसी पार्थिव जगत् का अस्तित्व नहीं होता। इसी प्रकार हमारे ज्ञान से भिन्न कोई पार्थिव जगत् नही है। कुछ लोग यह शंका करते हैं कि यदि पार्थिव जगत् नही है तो ज्ञान के इतने भिन्न-भिन्न स्वरूप कैसे उत्पन्न होते हैं। हमारे ज्ञान की अनुभूतियों की भिन्नता से हमको पार्थिव जगत् को मानना ही पडता है, परन्तु इस मत के अनुसार यह मानना पड़ेगा कि पार्थिव जगत् की विभिन्न वस्तुओं में हमारे ज्ञान को अनन्तरूपेण प्रभावित और सुनिश्चित करने की अपार शक्ति है। यदि

होता है (प्रमाणफल) जो कि निश्चयात्मक प्रक्रिया (अध्यवसाय) से जुड़ने के कारण निकलता है और अशुद्ध माना जाता है क्योंकि उसमें उस तत्त्व के अलावा भी कुछ तत्व होते हैं जो प्रत्यक्ष के समय इन्द्रिय के सन्निकृष्ट होता है, इसलिए उसे विकल्प प्रत्यय कहा जाता है। इस प्रकार मेरे मत में स्वलक्षण का अभिप्राय हुआ—प्रत्यक्ष के क्षण में विषय अपने विशिष्ट लक्षण की प्रतीति और धर्मकीर्ति के अनुसार यही वह ज्ञान है जो प्रत्यक्ष मे शुद्ध होता है और उसके वाद जो प्रत्यय वनता है वह विकल्प प्रत्यक्ष अथवा प्रमाण-फल होता है। लेकिन यद्यपि यह फल विषय का ही परिणाम होता है फिर भी चूँकि वह अगले क्षणों से जन्मा होता है इसलिए पहले क्षण में जो प्रतिभास होता है उसकी शुद्ध स्थिति को वह नही पहुँचाता (क्षणस्य प्रापयितु मशक्यत्वात्—न्या० टी० पृ० 16)।

—न्या० टी० —न्यायविन्दु टीका, न्या—न्याय बिन्दु (पीटरसन संस्करण)।

ऐसा है तो यह कहना पड़ेगा कि अनन्त काल से जिस ज्ञान का प्रवाह हो रहा है, उस ज्ञान के पूर्व स्थित क्षणो की क्षमता द्वारा भविष्य के ज्ञान-क्रम का निर्धारण हो रहा है। यह क्षमता ज्ञान मे ही निहित है, अत पूर्व-ज्ञान की आन्तरिक विशिष्ट क्षमता उत्तर-कालीन ज्ञान का आधार है। इस प्रकार केवल ज्ञान ही वास्तविक अस्तित्व है। यह पार्थिव जगत् मिथ्या है, यह ज्ञान का ही मायावी प्रतिविंव है। अनादि 'वासना' के कारण ही हमे वाह्य पार्थिव जगत् का भ्रम होता है। पूर्वज्ञान से ही वर्तमान ज्ञान का विनिश्चयन होता है और यह क्रम इसी प्रकार चलता रहता है। सुख-दु ख आदि ऐसे गुण नही हैं जिनके लिए किसी स्थायी अस्तित्व की आवश्यकता हो। ये ज्ञान के ही भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। इनको भ्रान्ति से आत्मा के गुण के रूप में मान लिया जाता है।

जव इन शब्दों का उच्चारण किया जाता है कि 'मैं किसी नीली वस्तु को देखता हूँ' तो भ्रान्ति से किसी शाश्वत अस्तित्व की कल्पना करली जाती है जो नीली वस्तु का द्रष्टा है, परन्तु यह वास्तव मे ज्ञान का ही एक स्वरूप है। सारे सज्ञान क्षणिक हैं, परन्तु जव इस प्रकार का वोध-ज्ञान-प्रवाह चलता रहता है तो पहले क्षणो मे हुई वोध-अनुभूति की स्मृति से और स्मृति के आधार पर, पूर्वदृष्ट वस्तु के पुनर्वोध से, ऐसा प्रतीत होता है कि यह वस्तु पूर्ववत् है, स्थायी है, परन्तु वस्तु या ज्ञानक्षण (जो कुछ भी हो) का उत्पत्ति के उत्तरक्षण से नाश हो जाता है। वस्तु का अपना कोई अस्तित्व नही है, जो कुछ हमको वोध होता है वह केवल वस्तु का ज्ञान मात्र है। इस प्रकार वस्तु और ज्ञान को हम एक ही मान सकते हैं क्योकि वस्तु के ज्ञान से भिन्न वस्तु का कोई अस्तित्व नही है। ज्ञान-क्षण के नष्ट होने के साथ ही वस्तु का भी लोप हो जाता है। इस प्रकार ज्ञाता या वोधकर्त्ता का भी कोई शाश्वत या स्थायी अस्तित्व नहीं है। सज्ञानात्मक प्रवाह के क्रम के कारण कभी-कभी व्यक्ति-विशेष के स्थायित्व की भ्रान्ति होती है, प्ररन्तु प्रत्येक वोध-क्षण का भिन्न अस्तित्व है। वह एक क्षण के लिए उत्पन्न होता है, और फिर नष्ट हो जाता है। ससार की सभी वस्तुऍ इन ज्ञानक्षणो मे ही निहित है, इनके साथ ही उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं। वास्तव मे न कोई ज्ञाता है, न ज्ञेय न ज्ञान। यह सव इन्हीं ज्ञान-क्षणो मे समाहित हैं।

इस प्रकार के वौद्ध प्रत्ययवादी सिद्धान्त के अनुसार वस्तु-परक दृष्टिकोण का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। न्याय, साख्य और मीमासा दर्शन आत्मा और प्रकृति के द्वैत को स्वीकार करते हैं और अपने दर्शन मे इनके पारस्परिक सवध का विश्लेषण करने का प्रयत्न करते हैं। हिन्दू दार्शनिको की दृष्टि मे ज्ञान की व्यावहारिक उपयोगिता ही महत्त्वपूर्ण नहीं थी, प्रत्युत् ज्ञान का स्वरूप और जिस ढग से यह अस्तित्व मे आया, इन तथ्यों को भी महत्त्वपूर्ण माना गया।

न्याय के अनुसार प्रमाण वह है जिससे ज्ञान की सत्यता और उसकी निर्भ्रान्त सिद्धि का निर्णय होता है। सत्यज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक साधन 'वोध' (वस्तुचेतना) और विशिष्ट कारण तत्त्व है (वोधावोध स्वभाव)। इस प्रकार सज्ञानात्मक प्रक्रिया में प्रत्यक्ष के प्रथम क्षण में चक्षुरिन्द्रिय का वस्तुविशेष (घट) से सम्पर्क होने पर एक अनिश्चित

चेतना का (घटत्व) उदय होता है जिसे निर्विकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं। फिर अन्य कारण-तत्त्वों की निश्चित दृष्टि के आधार पर निश्चित ज्ञान हो जाता है कि यह घड़ा है। 'घटत्व' के, विशेषण ज्ञान' से ही 'घट' की 'विशिष्ट वुद्धि' का उदय होता है। पहला क्षण निर्विकल्प अवस्था का और दूसरा सविकल्प ज्ञान का होता है।

अनुमान प्रमाण में 'लिंग' के आधार पर और उपमान में वस्तु-साम्य से ज्ञेय को जाना जाता है, परन्तु वौद्ध दर्शन में ज्ञान ही को प्रमाण माना जाता है। सत्य ज्ञान ही प्रमाण है, क्योंकि ज्ञान ही ज्ञेय वस्तु का सत्य स्वरूप है। वाह्य वस्तु के रूप के अनुरूप ही ज्ञान के रूप का होना ही उसकी सहायता का प्रमाण है, अर्थात् जिस वाह्य नीली वस्तु को हम देखते हैं वह ज्ञान के रूप में ही दिखाई देती है। उस वस्तु के नीलत्व (नीलिमा) का प्रमाण हमारा ज्ञान ही है। वाह्य वस्तुओं के सम्वन्ध में, जिससे हमारे ज्ञान का विनिश्चयन होता है, वह प्रमाण है और जव हम अपनी दृष्टि और व्यवहार का निश्चय इस ज्ञान के आधार पर करते हैं तो वह 'प्रमाण फल' कहा जाता है। वौद्ध दर्शन में ज्ञान का महत्त्व वाह्य जगत् को ठीक-ठीक समझने और तद्नुसार अपने व्यवहार को निश्चित करने (अध्यवसाय) की दृष्टि से है।

इसके विपरीत न्याय-दर्शन ने इस तथ्य का विश्लेपण करने का प्रयत्न किया है कि ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है। न्याय के अनुसार ज्ञान अन्य गुणों के समान हमारी आत्मा का गुण है। यह आत्मा से भिन्न है पर कारण-संयोग से उत्पन्न होकर आत्मा के साथ संयुक्त होता है, जैसे संसार में कारण-संयोग से वस्तुविशेष में विशेप गुणों का समावेश होता है। प्रमाण के द्वारा नए ज्ञान की उत्पत्ति नही होती (अनधिगताधिगन्तृ) जैसा कि वौद्ध दर्शन का मन्तव्य है, परन्तु अनेक प्रमाणों के योग से हम नवीन अथवा पहले से पूर्वाविगत (जाने हुए) ज्ञान को भी ग्रहण करते हैं। सरल शब्दों में, जिस प्रकार संसार में कारण-संयोग से अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार ज्ञान भी कारण-सामग्री के योग और गति से उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए, 'आत्मा' और 'मन' मन और इन्द्रियों, इन्द्रियों और वस्तुओं के संयोग से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। न्याय की इस दृष्टि में कई अस्पष्ट तत्त्व हैं। पार्थिव जगत् की घटनाओं और ज्ञान के अन्तर को समझने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। न्याय, वास्तव में ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है, यह स्पष्ट नहीं कर सका है। इस ज्ञान का वाह्य जगत् से क्या सम्वन्ध है यह भी स्पष्ट नही हैं। न्याय के अनुसार सुख दु ख इच्छा आदि आत्मा के गुण हैं। आत्मा की व्याख्या करते हुए कहा है कि आत्मा वह तत्त्व है जो निर्गुण है। आत्मा का इस निर्गुण रूप में जानना प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। इसको इसके गुणों के द्वारा ही अनुमान से जाना जा सकता है। गुणों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, परन्तु जैसे ही किसी नवीन वस्तु का प्रादुर्भाव होता है, उसमें गुणों का समावेश हो जाता है। न्याय दर्शन में अनुमान प्रमाण पर विशेप आग्रह है। न्याय का सारा आधार तार्किक रहा है। सम्भवतः तर्क और अनुमान की विशिष्ट दृष्टि से ही दार्शनिक विश्लेपण करते हुए सारी मान्यताओं को स्थिर किया गया होगा। इस दृष्टि से आन्तरिक मनोवैज्ञानिक अनुभूति का स्थान केवल इतना ही रह गया कि वह अनुमान से जाने

तथ्यो का सत्यापन मात्र कर दे। तार्किक प्रत्यक्ष के सामने अनुभव का स्थान गौण हो गया, यह स्पष्ट है।[1]

उधर सांख्य ने ज्ञान और बाह्य घटनाओ के अन्तर को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। बाह्य वस्तुओ का सस्कार एक विशेष सत्वपटल पर पड़ता है। इस सत्वपटल की विशेषता यह है कि यह अत्यन्त सूक्ष्म पारभासक तत्त्व है जिस पर बाह्य जगत् की वस्तुओ की छाप अकित हो जाती है। यह सूक्ष्म ज्ञान का ही अग है। इस पारभासक सत्व मे बाह्य जगत् की घटनाओ का निरन्तर बिम्ब पडता रहता है, अनेक रूप मे परिवर्तित व सस्कारित यह सूक्ष्म तत्त्व 'चिद्' (पुरुष) द्वारा प्रकाशित होता है।

यह चेतन आत्म तत्त्व है जो पारभासक सत्व मे प्रतिबिम्बित बाह्य घटनाओ को प्रकाशित कर उन्हें अर्थवान् करता है। शुद्ध चेतन 'पुरुष' से प्रकाशित बाह्य घटनाओं के बिंब, बुद्धि ग्रहण करती है। सरल शब्दो में, अतीन्द्रिय चेतन 'पुरुष' की शक्ति से प्रकाशमान बाह्य वस्तुओं का स्वरूप, मानसपटल पर पडते हुए, बुद्धि के द्वारा ग्रहण किए हुए ज्ञान की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता (स्वतः प्रामाण्य एव स्वत. अप्रामाण्य) बाह्य वस्तुओ की अपेक्षा भविष्य मे ग्रहण किए बुद्धि-रूपों पर निर्भर करती हैं। ज्ञान का बुद्धिरूप ही प्रमाण है। प्रमाण के द्वारा 'प्रमा' तक पहुँचा जा सकता है, इसके लिए आवश्यक है कि प्रमाण (ज्ञान का साधन और क्रिया) 'पुरुष' के द्वारा प्रकाशित हो। 'पुरुष' का बुद्धि के साथ सम्पर्क अतीन्द्रिय है। साख्य दर्शन में अलौकिक पुरुष के अभाव से ही प्रकृति की सारी गति उत्पन्न होती है। जड़ बुद्धि को चेतना देने वाली शक्ति भी यह 'पुरुष' है। साख्य ने बाह्य जगत् के अस्तित्व को स्वीकार किया, उससे मन पर पड़ते हुए बिंबो को सहज रूप में समझा, मानस-पटल का विशिष्ट सत्व के रूप से देखते हुए यह व्याख्या की कि बाह्य जगत् की सारी घटनाओ और आकारो की प्रतिकृति इस सूक्ष्म पारभासक पटल पर अकित हो जाती है, परन्तु जड, प्रतिबिंब यदि बाहर अर्थहीन है तो अन्दर भी अर्थहीन है, जब तक किसी चेतन के प्रकाश में यह अर्थवान न हो। यह चेतन प्रकाश तत्त्व ही वह अलौकिक अतीन्द्रिय 'पुरुष' है जो भौतिक जगत् की स्थिति से भिन्न है। इस प्रकार ज्ञान-चेतना की उत्पत्ति का आधार भौतिक और अतिन्द्रिय दोनों ही हैं।

मीमांसाकार प्रभाकर न्याय के इस मत से सहमत हैं कि ज्ञान का उदय इन्द्रियों के पार्थिव भौतिक जगत् के सम्पर्क में आने से होता है। पर साथ ही उनकी यह मान्यता है कि ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय तीनों एक ही क्षण में प्रकट होते हैं। ज्ञान की यह क्षमता है कि वह अपने आपको प्रकट करने के साथ ही ज्ञाता और ज्ञेय को भी प्रकाशित करता है। क्योंकि वास्तव में ज्ञान ही वह वस्तु है जो संसार के सारे पदार्थों को प्रकट करती है, यही प्रमाण है जिसमें हम भौतिक पदार्थों को देखते और समझते हैं। इस दृष्टि से 'प्रमा' या 'प्रमिति' (ज्ञान) और 'प्रमाण' एक ही हैं, जिसके द्वारा हम घटना-क्रम को उचित संदर्भों में समझते हैं। कारण-सामग्री भी प्रमाण प्रमाण हो सकती है क्योंकि

1. 'न्याय मजरी' मे प्रमाण की व्याख्या देखिए।

इसके द्वारा 'प्रमा' की प्राप्ति होती है। प्रमा अथवा सत्यज्ञान की कभी भी नवीन उत्पत्ति नही होती। सत्यविद्या सदैव से विद्यमान है, परन्तु परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप मे दिखाई देती है। ज्ञान का प्रामाण्य भौतिक वस्तुओं के प्रति निश्चित मन्तव्य पर पहुँचना है, अर्थात् ज्ञान के उदय के साथ ही हम वस्तु विशेष के प्रति अपना मत निर्धारित कर लेते हैं और तद्नुसार कार्य करते हैं। हम किसी अन्य प्रमाण की प्रतीक्षा नही करते। यही ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य है। निर्विकल्प ज्ञान वस्तु विशेष का सम्पूर्ण ज्ञान है। इसका अर्थ असंवेदनीय परिकल्पनात्मक अनिश्चित बोध नही है जैसाकि न्याय दर्शन ने माना है। सविकल्प ज्ञान तब होता है जब हम निर्विकल्प ज्ञान की अवस्था में प्राप्त ज्ञान की पूर्व स्मृति का सम्बन्ध अन्य वस्तुओं से जोड़ते हैं तथा पुनः यह निश्चय करते हैं कि हमारा पूर्व ज्ञान सत्य है। यह निर्विकल्प और सविकल्प अवस्था प्रत्यक्ष का अंग हैं, और ज्ञान की प्रक्रिया मे लगभग एक साथ ही कार्य करती हैं, यद्यपि इस विनिश्चयन के क्रम में निर्विकल्प अवस्था पहले और सविकल्प निर्विकल्प के पश्चात् कार्य करती है।[1]

सांख्य दर्शन के इस मत के अनुसार चेतना के दो अंग हैं, पहला, अतीन्द्रिय शुद्ध चित् और दूसरा, पार्थिव बुद्धि। प्रभाकर ने सांख्य के इस मत को अस्वीकार करते हुए कहा है कि बोध चेतना एक ऐसी विलक्षण वस्तु है जो ज्ञेय और ज्ञाता को विद्युत् की तरह एक ही कौंध में प्रकट कर देती है। ज्ञान का प्रामाण्य बाह्य वस्तुओं को तदनुसार प्रदर्शित करने में (प्रदर्शकत्व) न होकर 'अनुभूति' के आधार पर कार्य-प्रेरणा मे है। जब हम किसी प्राप्त ज्ञान के आधार पर निःसंशय एवं निश्चित मन से किसी कार्य को करने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं तो यह निश्चित है कि उस ज्ञान को हम सत्य मानते हैं जो हमारी अनुभूति से हमको प्राप्त हुआ है। यही ज्ञान का प्रामाण्य है। ज्ञान स्वतः प्रकाशित स्वतन्त्र सत्ता है जिसे किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नही है, परन्तु इस सम्बन्ध में प्रभाकर ने कोई विशेष विवेचन प्रस्तुत नही किया है कि ज्ञान अपने स्वतः प्रकाश्य स्वरूप से परे और क्या है?

कुमारिल भट्ट ज्ञान को एक ऐसी मानसिक क्रिया के रूप में देखते हैं जो भौतिक पदार्थों की चेतना या 'ज्ञातता' उत्पन्न करती है। ज्ञान को केवल इस मानसिक क्रिया के आधार पर ही अनुमान से जाना जा सकता है। ज्ञान को स्वयं को प्रत्यक्ष रूप में नही जाना जा सकता। ज्ञान वह गति या क्रिया है जिसमें बाह्य वस्तुओं को बोध-चेतना या 'ज्ञातता' होती है। यह गति या क्रिया जिससे ज्ञान का प्रवाह होता है केवल आणविक स्पन्दन नही है वरन् ऐसी अतीन्द्रिय क्रिया है जिसके फलस्वरूप परमाणविक स्पन्दन सम्भव

---

1. सांख्य का मत है कि 'निर्विकल्प ज्ञान' चित् के संज्ञान की प्रथम या अस्पष्ट अवस्था है। जब हम प्रथम बार किसी वस्तु को देखते हैं तो उसके सम्बन्ध में एक साधारण, सामान्य भावना मन में स्थापित करते हैं, पर दूसरे ही क्षण जब यह भावना स्पष्ट हो उठती है तब यह सविकल्प ज्ञान की अवस्था हो जाती है।

है। ज्ञान कारण संयोग से उत्पन्न फल न होकर स्वयं एक क्रिया है। ये नैयायिक मत की गत्यात्मकता को स्वीकार नहीं करते क्योंकि उनका मत है कि मन में जब इच्छा इत्यादि का प्रादुर्भाव होता है तब ऐसे कारण उत्पन्न होते हैं जिनकी क्रिया से ज्ञान उत्पन्न होता है। पर कुमारिल इस कारण-संयोग के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार ज्ञान फल न होकर स्वयं एक क्रिया है। ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य के सम्बन्ध में प्रभाकर और कुमारिल एक मत हैं। अनुभूति द्वारा जिस ज्ञान की उत्पत्ति के आधार पर पूर्वज्ञान के सत्यापन की बात अन्य दर्शनों द्वारा कही जाती है वह केवल उत्तरकालीन ज्ञान है और इससे पूर्व प्राप्त ज्ञान के प्रामाण्य का प्रश्न ही नहीं उठता।[1]

अनुभव के आधार पर जिस पुनः प्राप्त ज्ञान के आधार पर पूर्व ज्ञान की प्रामाणिकता को सिद्ध करना चाहते हैं उसमें और पहले प्राप्त ज्ञान में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। यदि पुन. प्राप्त ज्ञान प्रामाणिक है तो पूर्व प्राप्त ज्ञान भी उतना ही प्रामाणिक है, अतः 'सम्वादी' या उसी विषय पर पुनः प्राप्त ज्ञान का प्रमाण के रूप में स्वीकार करना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार अनेक परिस्थितियों के सन्निवेश के साथ ही 'स्वात्म' की गति से जब कोई बोध होता है तो उसे ज्ञान कहते हैं।[2] आत्म चेतना की मानसिक प्रक्रिया से हम इस स्वात्म की गति का अनुभव करते हैं। कुमारिल ज्ञान को पार्थिव वस्तुनिष्ठ चेतना न मानते हुए एक मानसिक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। यह ज्ञानरूपी मानसिक प्रक्रिया इन्द्रियों के द्वारा नहीं जानी जा सकती है, इसका केवल अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार कुमारिल इन्द्रियजन्य पार्थिव वस्तुनिष्ठ चेतना और ज्ञान की अतीन्द्रिय मानसिक क्रियात्मक स्थिति का स्पष्ट विश्लेषण करते हैं।

सांख्य मीमांसा और विज्ञानवादी बौद्ध दर्शन की प्रत्ययवादी धारा के अनुसार हमारा वास्तविक सम्पर्क केवल ज्ञानतत्त्व से ही होता है। विज्ञानवादी तो पार्थिव जगत् की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते, अतः ज्ञान के प्रामाण्य का कोई स्थान ही नहीं रहता। सांख्य बाह्य जगत् की भौतिक सत्ता को तो स्वीकार करता है परन्तु उसने 'प्रबुद्ध' 'चित्' और ज्ञान के विषय 'जगत्' इन दोनों में एक वैषम्य स्थापित कर दिया है। प्रभाकर ने इस अन्त को अनदेखा किया तथा कुमारिल अन्तर्दर्शन की इसी अभिव्यक्ति से सन्तुष्ट रहे कि ज्ञान एक ऐसी अद्भुत वस्तु है, जो ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय तीनों को एक साथ स्पष्ट करती है। कुमारिल ने हमारे 'वस्तुबोध' की पृष्ठभूमि में एक अतीन्द्रिय मानसिक प्रक्रिया की कल्पना की है, परन्तु ज्ञान को स्वात्मा से भिन्न तत्त्व माना है परन्तु इस तथ्य को किसी ने भी पूर्णतया स्पष्ट नहीं किया है कि ज्ञान का सम्बन्ध बाह्य जगत् की वस्तुओं से कैसे और किस प्रकार होता है। ज्ञान का विषय यह पार्थिव जगत् सत्य या असत्य ? वास्तविक सत्य क्या है, इस विषय का कोई विश्लेषण नहीं मिलता। हमारा ज्ञान पार्थिव जगत् की वस्तुओं के

---

1 'न्याय रत्नमाला' स्वतः प्रामाण्य निर्णय।

2 प्रमाण के प्रसंग में 'न्याय मंजरी', प्रत्यक्ष के प्रसंग में 'श्लोकवार्तिक' और गागाभट्ट रचित 'भट्ट-चिन्तामणि' में प्रत्यक्ष की व्याख्या देखिए।

अनुकूल है या नहीं, बाह्य तथ्यों के अनुसार हमारा ज्ञान प्रामाणिक माना जा सकता है अथवा नहीं, ज्ञान का उदय और सत्यापन किस प्रकार होता है, ऐसे विषयों पर ही विचार होता रहा है। परन्तु प्रश्न यह है कि वास्तविक सत्य क्या है ? वह क्या है जो इस भौतिक परिवर्तनशील जगत् का आधार है ? वह कौनसा सत्य है, वह कौनसा शाश्वत तत्त्व है जो हमारे सारे ज्ञान का आधार है ? इस चिरंतन परम सत्य की दार्शनिक जिज्ञासापूर्ण खोज ही हिन्दू दर्शन का लक्ष्य रहा है।

वेदान्त साहित्य

'ब्रह्म-सूत्र' का रचना-काल निश्चित नहीं है, परन्तु इसके अन्तःसाक्ष्य से यह कहा जा सकता है कि इसकी रचना का समय उपर्युक्त उन सब दर्शनों के पश्चात् रहा होगा जिनका खण्डन इसमें हुआ है। इसमें सारे भारतीय दर्शनों की मीमांसा और उनका प्रत्याख्यान पाया जाता है, यहाँ तक कि शून्यवादी बौद्ध दर्शन का भी (शांकर सिद्धान्तानुसार व्याख्यात) खंडन प्राप्त होता है। अतः यह कहना सत्य से बहुत दूर नहीं जाएगा कि 'ब्रह्म-सूत्र' की रचना सम्भवतः ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में हुई होगी। गौड़पाद ने लगभग सन् 780 ईसवी में मांडूक्य उपनिषद् पर एक रचना की थी जिसका नाम 'मांडूक्य-कारिका' है। गौड़पाद ने एकेश्वरवाद (ईश्वर एक है) के सिद्धान्त का पुनःस्थापन किया। गौड़पाद के शिष्य गोविन्दभगवत्पाद शंकर के गुरु थे। आचार्य शंकर का समय सन् 788 से 820 ईसवी माना जाता है। शंकर का ब्रह्म-सूत्र पर लिखा भाष्य सबसे प्रसिद्ध भाष्य माना जाता है जिसमें वेदान्त के सिद्धान्तों का विद्वतापूर्ण विश्लेषण किया गया है और जो अनेक वेदांतिक ग्रन्थों और टीका-साहित्य का आधार है। आचार्य शंकर के शिष्य आनन्दगिरि ने शांकरभाष्य पर 'न्याय-निर्णय' और गोविन्दानन्द ने 'रत्नप्रभा' नाम की टीका की रचना की। वाचस्पति मिश्र (सन् 841 ईसवी) ने 'भामती' टीका की रचना की। अमलानन्द ने (1247-1260) इस पर 'कल्पतरु' टीका लिखी और इस 'कल्पतरु' पर कांची के रंगराजाध्वरीन्द्र के पुत्र अप्पयदीक्षित (1550) ने 'कल्पतरु परिमल' नामक टीका की रचना की। शंकर के एक अन्य शिष्य पद्मपाद ने, जिनको सनन्दन भी कहते हैं, 'पंचपादिका' नाम के भाष्य की रचना की। इस पुस्तक के प्रारम्भिक पृष्ठों से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें सम्पूर्ण शांकर भाष्य का विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा किन्तु चतुर्थ-सूत्र के पश्चात् यह यकायक समाप्त हो जाती है। माधव (1350) ने 'शंकरविजय' में एक घटना का उल्लेख किया है जिसके अनुसार सुरेश्वर ने आचार्य शंकर से शंकर-भाष्य के ऊपर एक वार्तिक लिखने की आज्ञा प्राप्त की, परन्तु शंकराचार्य के अन्य शिष्यों ने इसका विरोध किया। सुरेश्वर मत-परिवर्तन के पूर्व प्रसिद्ध मीमांसा-दार्शनिक मंडन मिश्र के नाम से प्रख्यात थे। शंकर से शास्त्रार्थ में हारकर फिर उन्होंने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। शंकर के शिष्यों के अनुसार सुरेश्वर मीमांसा के पण्डित और पूर्व-अनुयायी होने की दृष्टि से इस प्रकार की वार्तिक रचना करने के लिए उपयुक्त अधिकारी नहीं थे, अतः सुरेश्वर ने निराश होकर 'नैष्कर्म्य सिद्धि' नाम के ग्रन्थ की रचना की। इसी प्रकार एक और मनोरंजक घटना का उल्लेख आता है जिसमें पद्मपाद के द्वारा लिखी हुई टीका का जब उनके चाचा ने द्वेष के कारण अग्नि-संस्कार कर

दिया तो आचार्य शकर ने स्मृति से इस टीका को पुन बोलकर लिखवा दिया। पद्मपा की इस टीका पर प्रकाशात्मन् (1200) ने एक अन्य टीका लिखी है जिसका नाम 'पच पादिका-विवरण' है। इसके अतिरिक्त अखण्डानन्द ने 'तत्त्वदीपन' की रचना की और उ पर प्रसिद्ध नृसिंहाश्रम मुनि ने (1500) 'विवरणभाव प्रकाशिका' नाम की टीका लिखी है। अमलानन्द और विद्यासागर ने भी पचपादिका पर 'पचपादिका-दर्पण' और 'पचपादिका टीका नाम की दो टीकाएँ लिखी हैं। इन सब टीकाओं में 'पचपादिका-विवरण' सबसे प्रसिद्ध और विद्वत्तापूर्ण मानी जाती है। इस टीका पर विस्तृत प्रकाश डालने की दृष्टि से विद्यारण्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विवरण प्रमेय-सग्रह'[1] की रचना की। विद्यारण्य के सम्बन्ध मे यह धारणा है कि माधव (1350) का ही यह दूसरा नाम था। विद्यारण्य ने वेदान्त के मुक्ति सिद्धान्त का निरूपण करते हुए अन्य ग्रन्थ की रचना की है जिसका नाम 'जीवन्मुक्तिविवेक है। सुरेश्वर (800) द्वारा रचित 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' सम्भवत शाकरभाष्य पर सर्वप्रथम स्वतन्त्र ग्रन्थ है जो इस भाष्य पर विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डालता है। इस पुस्तक की विवेचना ज्ञानोत्तम मिश्र ने एक अन्य ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। विद्यारण्य ने पद्यबद्धरूप मे 'पचदशी नाम के एक अन्य ग्रन्थ की रचना की है जो वेदान्त पर उत्कृष्ट ग्रन्थ है। शकराचार्य के प्रमुख उपदेशो का विवरण प्रस्तुत करते हुए सर्वज्ञात्म मुनि (900 ईसवी) ने भी एक अन्य पद्यबद्ध ग्रन्थ 'सक्षेप शारीरिक' की रचना की है। रामतीर्थ ने उपर्युक्त पुस्तक की टीका लिखी। श्रीहर्ष (1190 ईसवी) ने वेदान्त शास्त्रार्थ (न्याय) पर एक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ 'खडनखडखाद्य' नाम का प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ की टीका चित्सुख, जो हर्ष के शीघ्र पश्चात् प्रख्यात हुए, ने लिखी है। इसके अतिरिक्त चित्सुख ने वेदान्त न्याय पर एक और ग्रन्थ 'तत्त्वदीपिका' की रचना की है जिसकी टीका 'नयनप्रसादिनी' प्रत्यग्रूप ने लिखी है। शकर मिश्र और रघुनाथ ने भी पूर्वोक्त ग्रन्थ 'खडनखडखाद्य' पर सुन्दर टीकाओं की रचना की है। वेदान्त के मुख्य तत्त्वो और ज्ञान-सिद्धान्त के ऊपर 'वेदान्त-परिभाषा' नामक ग्रन्थ रचना धर्मराजाध्वरीन्द्र (1500) ने की। इस पर इनके पुत्र रामकृष्णाध्वरीन्द्र ने 'शिखामणि' नामक टीका की रचना की है और अमरदास ने 'मणिप्रभा' नाम की टीका लिखी है। इन दो टीकाओं सहित 'वेदान्त परिभाषा' से वेदान्त दर्शन के सिद्धान्तों को समझने में बडी सहायता मिलती है। धर्मराजाध्वरीन्द्र के पश्चात् मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैत सिद्धि' नाम का प्रसिद्ध एव अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखा है जो सम्भवत वेदान्त पर लिखा सबसे अन्तिम और महान् ग्रन्थ है। इस पर तीन टीकाएँ उपलब्ध हैं जिनके नाम क्रमश 'गौड ब्रह्मानन्दी', 'विट्ठलेशोपाध्यायी' और 'सिद्धि-व्याख्या' है। सदानन्द व्यास ने भी एक टीका लिखी है जिसका नाम 'अद्वैतसिद्धि सिद्धान्तसार' है। सदानन्द ने एक अन्य ग्रन्थ 'वेदान्तसार' की भी रचना की है। इस पर भी दो टीकाएँ 'सुबोधिनी' और विद्वन्मनोरजिनी' नाम से उपलब्ध हैं। सदानन्द यति ने एक ग्रन्थ 'अद्वैत ब्रह्म सिद्धि' नाम की रचना की है। यह पुस्तक 'अद्वैत सिद्धि' के समान विद्वत्तापूर्ण नहीं है परन्तु इसका अपना महत्त्व है, क्योंकि इसमें वेदान्त दर्शन के ऐसे स्थलों पर प्रकाश डाला गया है जो अन्यत्र नहीं पाये जाते हैं।

1. इण्डियन एन्टिक्वेरी 1916 में नरसिंहाचार्य का लेख देखिए।

आनन्दबोध भट्टाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'न्यायमकरन्द' में 'माया' के सिद्धान्त पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला है। 'अज्ञान', 'चित्' और दृष्टि 'सृष्टिवाद' का विवेचन प्रकाशानन्द ने अपने ग्रन्थ 'वेदान्त-सिद्धान्त मुक्तावली' में बड़े विद्वत्तापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार अप्पयदीक्षित ने अपने ग्रन्थ 'सिद्धान्तलेश' मे अनेक विद्वान् लेखकों के मतों का सारांश और उनका विवेचन किया है। वेदान्त-दर्शन का संक्षिप्त विवेचन 'सिद्धान्ततत्त्वदीपिका' और 'सिद्धान्ततत्त्व' में बड़ी सुन्दरता से किया गया है। वेदान्त न्याय के ऊपर नृसिंहाश्रम मुनि रचित 'भेदाधिकार' भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

इनके अतिरिक्त भी वेदान्त दर्शन पर अनेक ग्रन्थ पाये जाते हैं पर उपर्युक्त विवरण केवल महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का है जिनके अ धार पर इस दर्शन को समझने में सहायता मिलती है और जिनके आधार पर प्रस्तुत अध्याय में वेदान्त दर्शन का निरूपण किया गया है।

गौड़पाद का वेदान्त दर्शन

ब्रह्म सूत्र में वर्णित वेदान्त दर्शन का तत्त्व-निरूपण शांकर भाष्य का कोई प्रसंग दिए विना व्यर्थ-सा प्रतीत होता है। सम्भवतः ब्रह्म सूत्र पर कुछ टीकाएँ वैष्णवों ने सर्वप्रथम प्रस्तुत की थी। कई वैष्णव टीकाकारों ने अपने-अपने मत के अनुसार ब्रह्मसूत्र की व्याख्या की है। इन टीकाओं मे किसी प्रकार का मतैक्य नही पाया जाता है। सभी टीकाकार इस आग्रह को लेकर चलते हैं कि उनका मत ही शास्त्र के अनुकूल है और वही उपनिषदों और ब्रह्मसूत्र का सबसे सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं। शंकर के मत से उनके मतैक्य का तो प्रश्न ही नही उठता। वैष्णव लेखकों ने अधिकाश रूप से द्वैतवाद की अपनी दृष्टि के अनुसार ब्रह्मसूत्रों की टीका की है। यदि मैं स्वयं अपनी एक व्याख्या प्रस्तुत करूँ और उसके ही सही होने का दावा करूँ तो वह मात्र मेरा एक अतिरिक्त दृष्टिकोण होगा। फिर भी मुझे लगता है कि शांकर भाष्य की अपेक्षा वैष्णव आचार्यों की ब्रह्मसूत्र पर द्वैतात्मक व्याख्या सम्भवत ब्रह्मसूत्रों के अनुकूल थी।

श्रीमद्भगवद्गीता में, जो सम्भवत एकान्ती वैष्णवों का धर्म ग्रन्थ है, ब्रह्मसूत्र का मत अपने मत के अनुसार ही माना है।[1] प्रो० जैकोबी ब्रह्मसूत्र का रचनाकाल नागार्जुन के पश्चात् मानते है परन्तु यह सत्य प्रतीत नही होता। उन्होंने बताया है कि ब्रह्मसूत्र में बौद्ध दर्शन के सन्दर्भ वसुबन्धु के विज्ञानवाद की ओर न होकर नागार्जुन के शून्यवाद की ओर हैं। ब्रह्मसूत्र में शून्यवाद आदि का जो प्रसंग आया है, उससे यह नही समझना चाहिए कि वह नागार्जुन के शून्यवाद की ओर ही संकेत करता है। हिन्दू लेखकों को बौद्ध दर्शन के सिद्धांतों का सूक्ष्म परिचय था। डा० विद्याभूषण का यह मत उचित प्रतीत होता है कि शून्यवाद और योगाचार दर्शन 'प्रज्ञापारमिता'[2] से उत्पन्न हुआ है। शून्यवाद का विशद् वर्णन अश्वघोष

---

1. 'ब्रह्मसूत्र-पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितः' 'भगवद्गीता' गीता वैष्णव ग्रन्थ है, इसका विवेचन इस पुस्तक के दूसरे भाग में भगवद्गीता और उसके दर्शन से सम्बन्धित अध्याय में किया गया है।
2. इण्डियन एन्टिक्वैरी 1915।

के 'तथता' दर्शन और प्रज्ञापारमिता दर्शन मे भी पाया जाता है । अत ब्रह्मसूत्र मे शून्यवाद के प्रसग से यह नही कहा जा सकता कि इसकी रचना नागार्जुन के पश्चात् हुई होगी। हिन्दू दार्शनिको को महायान सूत्र का भी ज्ञान था जिसका प्रसग अनेक स्थलो पर पाया जाता है । वाचस्पति मिश्र ने 'शालिस्तम्भ' सूत्र का उद्धरण देते हुए 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के बौद्ध सिद्धान्त का वर्णन किया है ।[1] अत स्पष्ट है कि किसी भी बौद्ध सिद्धान्त के उल्लेख से किसी लेखक विशेष से अर्थ नही लिया जा सकता । निश्चित ही ब्रह्मसूत्र नागार्जुन से पूर्व-कालीन हैं । इसके अतिरिक्त भगवद्‌गीता मे ब्रह्मसूत्र का उल्लेख मिलने से कहा जा सकता है कि ब्रह्मसूत्रो की रचना भगवद्‌गीता मे पूर्व द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व मे अथवा ईसा से एक शताब्दी पूर्व हुई होगी । ब्रह्मसूत्र के ऊपर शकर और गौडपाद से पूर्व केवल द्वैतवादी टीकाएँ मिलती हैं। किसी भी अन्य अद्वैतवादी विद्वान की टीका शकर, गौडपाद के अतिरिक्त उपलब्ध नही है । अत यह अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवत ब्रह्मसूत्र द्वैतवादी दार्शनिको का आधार ग्रन्थ रहा होगा । उपनिषदो के एकेश्वरवाद का सुव्यवस्थित निरूपण किसी भी दार्शनिक ने गौडपाद से पूर्व नही किया ऐसा प्रतीत होता है। उपनिषदो के उत्तरकाल में द्वैतवादी भावना का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगा था जैसाकि श्वेताश्वतर उपनिषद् आदि में प्रकट होता है । साख्य का प्रादुर्भाव भी द्वैतवादी दर्शन से ही हुआ है यह स्पष्ट है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मसूत्र के रचयिता आस्तिक विचारो के विद्वान् थे और शकर की भाति अद्वैतवादी नही थे । उपनिषद्‌कार मनीषियों के पश्चात् उपनिषदो की एकेश्वरवादी विचारधारा का निरूपण सम्भवत आचार्य गौडपाद ने ही सर्वप्रथम किया था । उन्होंने स्वय भी किसी अन्य अद्वैतवादी ग्रन्थ या विद्वान् का वर्णन नही किया है । गौडपाद की 'माडूक्य कारिका' के अतिरिक्त अन्य कोई अद्वैतवादी उपनिषद् टीका इससे पूर्व नहीं पायी जाती । यहाँ तक कि इस सम्बन्ध मे गौडपाद ने वादरायण का भी उल्लेख नहीं किया हैं । इन सबसे यह स्पष्ट है कि आचार्य गौडपाद ही ऐकान्तिक अद्वैतवाद के प्रवर्तक प्रणेता थे । शकर ने भी यही कहा है कि आचार्य गौडपाद ने ही वेदों से अद्वैतवाद का ज्ञान प्राप्त कर इसका पुन स्थापन किया है । शंकर ने गौडपाद की कारिका की टीका के अन्त मे कहा है कि आचार्य गौडपाद ने अपनी बुद्धि से वेदो के अथाह सागर का मन्थन कर भवसागर में डूबते हुए मनुष्यो की रक्षा के हेतु, वेदामृत प्राप्त किया जो देवों को भी दुर्लभ है, ऐसे महान् गुरु के चरणो मे मैं नमस्कार अर्पित करता हूँ ।[2] उपनिषदो और वेदों के इस ज्ञान की रक्षा के लिए आचार्य शंकर गौडपाद की स्तुति करते हैं और वादरायण का कहीं भी उल्लेख नहीं करते, यह भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । शंकराचार्य गौडपाद के शिष्य गोविन्द के शिष्य थे, परन्तु उनका कथन है कि वे आचार्य गौडपाद से विशेष रूप से

---

1 ब्रह्मसूत्र के शाकर भाष्य पर भामति टीका देखिए 11-11 ।

2. 'गौड़पाद कारिका' पर शाकरभाष्य का आनन्दाश्रम सस्करण पृ० 214 देखिए ।

प्रभावित हुए है। उन्होने गौड़पाद के अन्य शिष्यो की प्रकांड विद्या, बुद्धि, संयम आदि का भी उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकर के शिष्यत्वकाल मे आचार्य गौड़पाद जीवित होगे। शंकर की जन्म-तिथि के सम्बन्ध मे कुछ मतभेद है पर भंडारकर, पाठक और ड्यूसेन के परामर्श के अनुसार यह मानने मे कोई आपत्ति नही है कि उनका जन्मकाल 788[1] ईसवी रहा होगा और यदि शकर को आचार्य गौड़पाद ने पढ़ाया है तो वे सन् 800 ईसवी तक जीवित रहे होगे।

अत: यह स्पष्ट है कि गौडपाद भी अश्वघोष, नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु आदि सारे महान् बौद्ध दार्शनिकों के पश्चात् हुए होगे। उनकी कारिकाओ को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि वह बौद्ध धर्म से विशेष प्रभावित रहे होगे। उनका विश्वास है कि बौद्ध धर्म और उपनिषदीय धर्म मे कोई विशेष अन्तर नही है, सिद्धान्तत: दोनों एक समान ही है। उनकी कारिका के चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि मैं उस महान् पुरुष की ('द्विपदां वरम्')की स्तुति करता हूँ जिसने अपने 'सम्बुद्ध' ज्ञान से उस सत्य का अनुभव किया कि ससार में सारे दृष्ट 'धर्म' (आभास) इस शून्य आकाश (गगनोपमम्)[2] के समान है। पुन: वे कहते है कि मैं उस महान् सन्त की उपासना करता हूँ जिसने यह उपदेश दिया है (देशिता) कि संसार के सारे संसर्गो से दूर रहने (असंपर्क होने)से ही मनुष्य का कल्याण है। इस संसार से लेशमात्र भी स्पर्श न रहे (अस्पर्श योग) इसमे ही मनुष्य का हित है। बौद्ध दर्शन से मेरा कही भी मतभेद नहीं है न मुझे इस दर्शन मे किसी प्रकार का विरोध ही प्रतीत होता है (अविवाद'अविरुद्धश्च) कुछ लोग विवाद करते हैं कि उत्पत्ति सत् तत्त्वों की ही होती है। अन्य लोग कहते हैं कि केवल उन तत्त्वों की उत्पत्ति होती है जो विद्यमान नही है। 'अभूत' अर्थात जो नही है वही उत्पन्न (जात.) होता है। कुछ अन्य कहते है कि भूत और अभूत दोनो की उत्पत्ति नही है, केवल एकाकी अभूत अजात तत्त्व है ('अद्वयम-जातिम्') मैं उनसे सहमत हूँ जो कहते हैं कि ससार मे कुछ भी 'जात' नही है।[3] उनकी कारिका के उन्नीसवें अध्याय में उन्होने पुन. कहा है कि किसी प्रकार की उत्पत्ति का प्रश्न ही नही है। कुछ भी जात नही है 'सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपित'।

पुन: गौडपाद अपनी कारिका के चतुर्थ अध्याय के 42वें श्लोक मे कहते है कि भगवान बुद्ध ने 'जाति' का कथन केवल 'वस्तुवादी' लोगो के लिए किया है जो यथार्थवाद की दृष्टि से इतने पीडित है कि 'अजात' अर्थात् अपने न होने की कल्पना से भी भयभीत हो जाते हैं। चतुर्थ अध्याय के 90वें छन्द मे उन्होने 'अग्रयान' का उल्लेख किया है जो

1. तैलंग का मत है कि आचार्य शंकर आठवी शताब्दी में उत्पन्न हुए होंगे। वैंकटेश का मत है कि वे सन् 805 से 897 तक रहे होंगे, क्योकि उनको यह विश्वास नही होता कि शकराचार्य केवल 32 वर्ष तक ही जीवित रहे होगे।
2. लंकावतार पृष्ठ 29 से तुलना कीजिए। 'कथम् च गगनोपमम्'।
3. गौड़पाद-कारिका चतुर्थ अध्याय का 2, 4 (दूसरा चौथा श्लोक)।

'महायान' का नाम है और 98वें और 99वें छन्द मे उन्होंने कहा है कि ससार में जो कुछ दिखाई देता है वह आभासमात्र है, भ्राति है, माया है। इस तथ्य को मुक्त पुरुष एव वुद्ध ही सर्वप्रथम जान पाते हैं। फिर वे अपनी कारिका को एक स्तोत्र के द्वारा समाप्त करते हैं जो सम्भवत. भगवान वुद्ध की स्तुति है।[1]

गौडपाद की कारिका के चार भाग हैं—(1) 'आगम' (शास्त्र) (2) 'वैतथ्य' (अयथार्थता) (3) 'अद्वैत' (एकता) (4)'अलात शान्ति'(जलते हुए अगारो का शमन)। प्रथम भाग मे मुख्यत माडूक्य उपनिपद् की व्याख्या है जिसके कारण इस ग्रन्थ को 'माडूक्य-कारिका' कहते हैं। अन्य तीन भागों मे गौडपाद ने अपने मत की स्थापना की है। इन भागो का मांडूक्य-उपनिपद् से कोई सम्वन्ध नहीं है।

प्रथम भाग मे गौडपाद ने आत्मा के तीन स्वरूपो का वर्णन किया है—(1) वह स्वरूप जव हम जाग्रत अवस्था मे ससार की प्रत्यक्षानुभूति करते हैं। यह विश्व के सम्पर्क मे आती हुई 'वैश्वानर आत्मा' है। दूसरा स्वरूप वह है, जव आत्मा स्वप्नावस्था मे अनुभूति करती है। इस अवस्था मे स्थूल विश्व से सम्पर्क विच्छेद हो जाता है परन्तु स्थूल शरीर से सम्पर्क रहता है यह 'तैजस आत्मा' है।(3) तीसरी अवस्था 'सुपुप्ति' अवस्था है। आत्मा का यह स्वरूप उस अनुभूति का है जव सारे स्थूल सम्वन्धो का विच्छेद हो जाता है। यह वह आनन्दमय 'प्रज्ञावस्था' है जव किसी प्रकार का सविकल्पक ज्ञान नहीं रहता है, सारे सविकल्प ज्ञान का लोप होकर एक निर्विकल्प, शुद्ध चेतन, आनन्दमय स्थिति हो जाती है। यही आत्मा का 'प्राज्ञ' स्वरूप है। जो इन तीनों अवस्थाओ को जानता है वह सासारिक कर्मानुभूतियो के वन्धन से मुक्त रहता है।

इसके पश्चात् गौडपाद सृष्टि-रचना सम्वन्धी विभिन्न मतो का विवेचन करते हैं। कुछ लोगों का मत है कि यह सृष्टि 'प्राण' से उत्पन्न हुई है। कुछ लोगो का मत है कि यह प्रकृति (उत्पत्ति के आदि कारण) की 'विभूति' (प्रसारित रूप) है। अन्य लोगों का मत है कि यह सृष्टि 'स्वप्न' मात्र है, यह केवल 'माया' है। कुछ कहते हैं कि परमात्मा की इच्छा मात्र मे सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। एक मत है कि यह प्रकृति समय-समय पर उत्पन्न और नष्ट होती रहती है। कुछ का मत है कि यह प्रभु की क्रीडामात्र है, कुछ कहते हैं कि यह केवल प्रभु का विलास है (क्रीडार्थम्) क्योंकि प्रभु का ऐसा 'स्वभाव' है। उनमे किसी कामना का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रभु तो पूर्णकाम हैं।

गौडपाद किसी भी पक्ष की ओर अपना मत प्रकट नही करते हैं। निष्पक्ष दृष्टि से व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि आत्मा का चतुर्थ स्वरूप 'अदृष्ट' (जो दिखाई नही देता)

---

1 गौडपाद-कारिका 4/100। मैंने अपने अनुवाद मे शकराचार्य के भाष्य का अवलम्वन नहीं किया है क्योंकि शकराचार्य ने इन सभी स्थलों की व्याख्या हिन्दू-दर्शन की दृष्टि से करने का प्रयत्न किया है और वुद्ध तथा वौद्ध दर्शन के स्पष्ट सन्दर्भों का भी अन्यथा व्याख्यात कर दिया है। अत मैंने गौडपाद की कारिका का जो अर्थ स्पष्ट दिखाई देता है उसी के अनुसार गौड़पाद के दर्शन का विवेचन किया है।

है । इसका किसी से कोई सम्बन्ध नही रहता है अतः यह सब व्यवहारों से परे (अव्यवहार्यम्) है । यह स्वरूप 'अग्राह्यम्' (जो ग्रहण नही किया जा सकता), लक्षणहीन (अलक्षण), कल्पनातीत (अचिन्त्यम्), वर्णनातीत (अव्यपदेश्य), सारभूत, एकात्मा रूप (एकात्मप्रत्ययसार) और प्रपंचहीन अर्थात् जिसमे किसी प्रकार की सांसारिक विकृति या माया का निवास नही है (प्रपचोपशम), शान्त (शान्तम्), कल्याणकारी (शिवम्) और एक (अद्वैत) है ।[1] कारिका के द्वितीय अध्याय में गौड़पाद कहते है कि संसार को स्वप्नवत् कहने से यह अर्थ है कि यह सारा संसार अयथार्थ है, इसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है । यदि इस संसारी माया (प्रपच) का कोई अस्तित्व होता तो इसका अन्त भी होता, परन्तु यह केवल भ्रान्तिमात्र है । केवल एक परमात्मा का ही अस्तित्व है, वही यथार्थ शाश्वत तत्त्व है, वही (परमार्थत·) परम अर्थ है । जिस प्रपंच का न आदि था, न अन्त है, उसके वर्तमान का प्रश्न ही नही उठता । पर हमारे अज्ञान से यह माया-रूपी ससार सत्य दिखाई देता है । यह माया हमारे मन मे उत्पन्न होती है और वही समाप्त हो जाती है । जिसका आदि और अन्त है वह निश्चित ही असत् है । जिस प्रकार हम स्वप्न में देखी वस्तुओ को उस क्षण मे सत्य मान लेते हैं उसी प्रकार हम वाह्य जगत् के दृश्यो और अनुभूतियों को कुछ देर के लिए सत्य मानकर भय, आशा आदि के ससार मे जीने लगते हैं, पर दोनों ही असत्य, कल्पनात्मक मायामय स्थितियाँ हैं। जो कुछ मन में कल्पना करते है अर्थात् जो स्वरूप हम अपने मन में स्थापित कर लेते हैं वही हम प्रत्यक्ष के क्षणों मे वाह्य जगत् मे देखने लगते हैं । वाह्य पदार्थो को हम दो क्षणो का अस्तित्व कह सकते है । एक क्षण वह जब हम उनको देखना प्रारम्भ करते हैं और दूसरा क्षण वह जब हम उनको देखते हैं। परन्तु यह सब हमारी अपनी कल्पना है । यथार्थ दृष्टि से किसी भी वस्तु का वास्तविक अस्तित्व नही है ।

जिस प्रकार अन्धकार मे रज्जु सर्प के समान दिखाई देती है उसी प्रकार अज्ञान के कारण आत्मा अपने स्वय के स्वरूप को अनेक भ्रान्त रूपो मे देखती है और पुनः वाह्य स्थितियो की भ्रान्त कल्पना करती है । वास्तविक सत्य यह है कि न उत्पत्ति है और न विनाश । (न विरोधो, न चोत्पत्तिः) न कोई वन्धन मे है, न किसी प्रकार का वन्धन है, न मुक्त होने का प्रयत्न करने वाला कोई व्यक्ति है, न कोई मुक्त होना चाहता है । यह सब

---

1. इसकी तुलना नागार्जुन की प्रथम कारिका मे वर्णित 'प्रपचोपशमम् शिवम्' से कीजिए। वह कहता है, 'अनिरोधम् अनुत्पादम् अनुच्छेदम् अशाश्वतम् । अनेकार्थम् अनानार्थमनागमम् अनिर्गमम् । यः प्रतीत्यसमुत्पादम् प्रपंचोपशमम् शिवम् । देशयामास संबुद्धस्तम् वन्दे वदताम् वरम् ।" नागार्जुन रचित 'निर्वाणपरीक्षा' अध्याय के इस कथन से भी इसकी तुलना कीजिए—
पूर्वोपलम्भोपशम प्रपचोपशम· शिव. । न क्वचित् कस्यचित् कश्चित् धर्मो बुद्धेन-देशित· ।
जहाँ तक मेरी जानकारी है, सम्भवत. वौद्ध दार्शनिकों ने ही सर्वप्रथम 'प्रपंचोपशमम् शिवम्' वाक्य का प्रयोग किया है ।

माया ही है।[1] मनुष्य का मन अस्तित्वहीन (अभूत) सत् (अस्तित्व) की कल्पना मे परम आनन्दानुभूति प्राप्त करता है। एकता की भावना से सुख का अनुभव करता है। एक या अनेक की सारी कल्पना असत्य है, 'अद्वय' की कल्पना भी भ्रान्ति है अर्थात् केवल कल्पनातीत एक सत्ता ही सत्य है। न अनेकता है, न पृथक्त्व है न अपृथक्त्व है, जैसा कहा है—'न नानेदम् न पृथक् नापृथक्'[2] वे साधु सन्त जो राग, द्वेष, भय आदि से मुक्त हो गये हैं जो क्रोधादि से उपरत हो गए हैं, जो वेदों के गहनतम ज्ञान को समाहित कर बन्धनमुक्त हो गए हैं, वे उसे क-पनातीत, माया प्रपच से निवृत्त, शान्त स्थिति के रूप मे देखते हैं जिसमे सारे ज्वरों का उपशमन हो गया है (निर्विकल्प प्रपचोपशम) वही अद्वितीय एकत्व है।[3]

तीसरे अध्याय में गौडपाद कहते हैं कि सत्य 'आकाश' के समान है। जिस प्रकार हम आकाश को कल्पना से जन्म, मरण आदि मे, शरीरो में, सभी स्थानों पर भिन्न-भिन्न रूप मे देखते हैं परन्तु वह सर्वत्र एक रूप आकाश तत्त्व ही है, उसी प्रकार सत्य भी सर्व-व्यापक अभिन्न तत्त्व है। 'माया' के कारण ही एक अद्वैत अनेक रूप मे दिखाई देता है। जो कुछ भिन्न-भिन्न द्वैत रूप दिखाई देता है, वह स्वप्न का फल है, मनुष्य दिवास्वप्न देखता हुआ अनेक कल्पनाएँ करता है जिसका यथार्थ कुछ भी नहीं है। जन्म, मृत्यु, अनेकरूपता सब माया का प्रपच है।[4] सत्य अमर है, इसमे किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है। पर स्वभावतः शाश्वत अपरिवर्तनशील है। सत्य का जन्म और मरण नही है। स्वप्न मे अनेक मनोकल्पनाएँ होती हैं उसी प्रकार जाग्रत अवस्था मे एक सत्य अनेक दिखाई देता है परन्तु जब मन की वृत्ति शान्त होती है तब सब भय, दु:ख आदि की समाप्ति होकर सब

---

1 नागार्जुन कारिका, माध्यमिकवृत्ति, बी० टी० एस० (पृ० 3) पर देखिए 'अनिरोध-मनुत्पादम्'' ।

2 ''माध्यमिक वृत्ति'' बी० टी० एस० (पृ० 3) मे इस वाक्य से तुलना कीजिए—'अनेकार्थम् अनानार्थम्' आदि ।

3 'लकावतार सूत्र' (पृ० 78) 'अद्वयासंसार-परिनिर्वाणवत् सर्वधर्मा । तस्मात् तर्हि महामते शून्यतानुत्पादाद्वयनि स्वभाव लक्षणे योग करणीय'। पुन पृ० 8, 46 पर देखिए। यदुत स्वचित्त विषयविकल्प दृष्ट्याऽनवबोधनात् विज्ञानानाम्, स्वचित्तदृश्य-मात्रानवतारेण महामते बालपृथग्जना भावाभावस्वभावपरमार्थदृष्टि द्वयवादिने भवन्ति ।

4 नागार्जुन कारिका (बी०टी०एस०) पृ० 196 से तुलना कीजिए—'आकाश शश-शृगश्च वन्ध्याया पुत्रएव च । असन्तश्चाभिव्यज्यन्ते तथाभावेन कल्पना' । और इसके समकक्ष गौडपाद कारिका तीसरे अध्याय का 28वां छन्द देखिए—

असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव जायते ।
वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते ॥

प्रपंचों का अन्त हो जाता है। यही मन की शाश्वत अवस्था है। सारी वस्तुओं और प्रपंचों को दुःख स्वरूप मानकर ('दुखं सर्वम् अनुस्मृत्या') सारी कामनाओं और वासनाओं आदि का परित्याग करना उचित है। यह चिन्तन करना चाहिए कि न किसी वस्तु का जन्म होता है और न मरण। यह सब माया का प्रपंच मात्र है। सारी कामनाओं और वासनाओं को छोड़कर चित्तवृत्तियों का निरोध करना चाहिए। शान्तमना होकर, उस महान् अद्वैत के साथ मन एवं हृदय को 'लय' करने का यत्न करना चाहिए। सुखादि की कामना का परित्याग कर, निर्विषय, विरक्त, स्थिर चित्त होने से प्रपंच और माया का लोप हो जाता है। ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट दिखाई देने लगता है। फिर मनुष्य 'सर्वज्ञ' हो जाता है, तब उसे कुछ भी जानने की इच्छा और आवश्यकता नही रहती।

'अलात शान्ति' नामक चतुर्थ अध्याय में गौड़पाद इस अन्तिम स्थिति का पुनः वर्णन करते हैं।[1] संसार में सारे 'धर्म' (सत्व आभास) यथावत् रहते हैं।[2] उनका नाश नही होता। इनके जन्म और मरण का प्रश्न ही नही उठता। जिसकी वास्तविक स्थिति ही नहीं है उसका ह्रास या विनाश कैसे हो सकता है। इस प्रकार अनेक तर्कों को उपस्थित करते हुए गौड़पाद कहते हैं कि जो कारण को कार्य रूप समझते है अर्थात् जो यह कहते है कि प्रत्येक कार्य बीजरूपेण कारण में निहित है वे कारण को अजन्मा ('अज') कैसे मान सकते हैं ? क्योंकि निश्चित ही उनके तर्क के अनुसार इस प्रकार कारण की उत्पत्ति होती है। जो जन्म लेने के कारण परिवर्तनशील है, वह शाश्वत नही कहा जा सकता। यदि यह कहा जाता है कि वस्तुओ का प्रादुर्भाव उस तत्त्व से होता है जिसकी स्वयं की कोई उत्पत्ति नही है तो इसका भी हमको संसार मे अन्य कोई उदाहरण नही मिलता। इस हेतु और फल के अनन्त दूषित चक्र का कही अन्त नही दिखाई देता। हेतु के विना फल नही हो सकता। फल के विना हेतु नही हो सकता। किसी भी अर्थ में विचार किया जाए, यह स्पष्ट है कि अपने आप 'स्वभावत:' हेतु या फल कुछ भी उत्पन्न नही हो सकता। जिसका कोई प्रारम्भ नही है, जो अनादि है, उसकी जन्म की कल्पना भी युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होती। सारा अनुभव (प्रज्ञप्ति) किसी न किसी कारण पर निर्भर प्रतीत होता है। कारण के विना न किसी प्रकार का अनुभव सम्भव होगा न किसी प्रकार का सुख या दुःख ('संक्लेश')। जब हम इस कार्य-कारण-क्रम की दृष्टि से विचार करते हैं तो हमको यह अनुभव होता है कि ये एक दूसरे पर निर्भर है, परन्तु जब हम यह खोजते हैं कि सत्य क्या है, तो हमको लगता है कि ये सब कारण मिथ्या हैं। हमारा मन (चित्) किसी भी वस्तु के सम्पर्क में ही नही

1. 'अलात शान्ति' शब्द भी बौद्ध दर्शन से लिया गया है। नागार्जुन कारिका (बी० टी० एस०) पृ० 206 देखिए जिसमें 'शतक' से एक श्लोक का उद्धरण दिया गया है।

2. 'धर्म' शब्द का भी 'आभास' या अस्तित्व के अर्थ मे प्रयोग बौद्ध दर्शन की परम्परा है। हिन्दू दर्शन मे इसका अर्थ जैमिनि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—'चोदनालक्षण: अर्थः धर्मः'। वेदो के आदेश से धर्म निश्चित होता है।

आता, क्योकि किसी भी वस्तु का अस्तित्व ही नही है। यह सब मन मे वस्तुओ का कल्पनात्मक आभास मात्र है जो अनेक रूपों मे अन्तर्मन मे ही तरगायित होता रहता है। इस अन्तर्मन से बाहर कुछ नही है। हम सारी भौतिक सृष्टि अपने मन मे ही कल्पना के आधार पर करते रहते हैं। न तो वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, न चित्त जो वस्तुओ का प्रत्यक्ष करता है। यह सारी उत्पत्ति शून्य मे ही (खे) प्रतिस्थापित है। यह सब असत्य है। जो अजात, अजन्मा है, उसे हम जात रूप में देखते हैं, यह निश्चित ही भ्रान्ति है क्योकि स्वभावत जो अजात है वह अपने स्वभाव को नहीं वदल सकता। तत्वत सत्य यह है कि उत्पत्ति की स्थिति ही नहीं है। ससार की सारी वस्तुएँ उस 'मायाहस्ती' के समान असत्य है जिसका कोई अस्तित्व ही नही है। इनका अस्तित्व उतनी ही देर के लिए है जितनी देर वे हमारे अनुभव मे स्थिर दिखाई देती हैं। जैसे ही उनका चित्ररूप हमारे मन से हटता है, उनकी कल्पना का भी लोप हो जाता है। परन्तु वह एक (विज्ञान) पूर्ण ज्ञानमय तत्त्व है न वह उत्पन्न होता है और न गति करता है, न चलता है और न किसी प्रकार का रूप ही धारण करता है। उसका कोई स्थूल रूप ही नही है, वह शान्त (शान्तम्) अवस्तुरूप (अवस्तुत्व) है। यह 'विज्ञान' ही मूल सत्य तत्त्व है। जिस प्रकार जलते हुए अगार को हम स्पन्दन करता देखते हैं परन्तु वास्तव मे उसकी कोई गति नही होती इसी प्रकार हमारी चेतना का स्पन्दन गतिशील (स्पन्दित) दिखाई देता है। सारी कल्पना के रूप इस चेतना पर प्रतिस्थापित कर दिए जाते हैं, यद्यपि चेतना में इन कल्पनाओं का कोई वास्तविक रूप नहीं होता। चेतना और इन काल्पनिक आभासो मे कोई कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं है। 'द्रव्य' का कारण 'द्रव्य' ही हो सकता है और जो द्रव्य नही है उसका कारण अद्रव्य होना चाहिए। परन्तु यह (माया) आभास न द्रव्य है न अद्रव्य। अत यह न चित् से उत्पन्न हो सकता है न चित् इस माया से उत्पन्न हो सकता है। इस कारण-कार्य के विचार से ही इस काल्पनिक ससार की उत्पत्ति होती है, जैसे ही इस कल्पना का अन्त हो जाता है ससार की भी समाप्ति हो जाती है। मनुष्य स्वय ही इस जाल को बुनकर उसमे फँसा रहता है। हम प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति किसी अन्य वस्तु के प्रसग मे करते हैं, इस आपेक्षिक कल्पना से भी सिद्ध है कि किसी भी वस्तु का अपना कोई 'शाश्वत' स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वस्तुओ का जब 'उत्पाद' ही नहीं होता तो 'उच्छेद' या विनाश का प्रश्न ही नही उठता। सारे धर्म (आभास) काल्पनिक हैं अत मायामय हैं। सारी वस्तुएँ मानो इन्द्रजाल के समान जादू से उत्पन्न हुई हैं। जैसे ही यह इन्द्रजाल टूटा कि सारी वस्तुओ का तमाशा समाप्त हो जाता है। जैसे स्वप्न या इन्द्रजाल में मनुष्य उत्पन्न होते हुए मरते हुए दिखाई देते हैं पर वास्तविक रूप में उनकी कोई स्थिति नहीं है। जिसकी स्थिति काल्पनिक एव आपेक्षिक है (कल्पित सवृत्ति) उसकी कोई 'पारमार्थिक' वास्तविक स्थिति नहीं हो सकती, क्योकि जिसका अस्तित्व किसी अन्य पर निर्भर है उसका अपना कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं हो सकता। यह सब निर्बुद्धि व मूर्ख मनुष्यो के मन की प्रवचना मात्र है जो इस प्रकार सोचते हैं कि वस्तुओ का अस्तित्व है, अस्तित्व है भी, नहीं भी है, किसी प्रकार का अस्तित्व ही नही है आदि। जो तत्त्व को जानते हैं उन्हें यह स्पष्ट है कि यह सब माया मात्र है। शून्य के अतिरिक्त और कुछ नही है।

उपर्युक्त विचार प्रवाह से यह स्पष्ट सा दिखाई देता है कि यह विचारधारा बौद्ध दर्शन मे नागार्जुन रचित कारिकाओं के 'माध्यमिक' दर्शन से और 'लंकावतार' में वर्णित विज्ञानवादी दर्शन से उद्धृत है। गौड़पाद ने विज्ञानवादी और शून्यवादी दर्शन के विचारों का मन्थन करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मूलतः यह उपनिषदों के तत्त्व ज्ञान से ही उत्पन्न हैं। गौड़पाद हिन्दू थे या बौद्ध—यह प्रश्न अनावश्यक है। यह निश्चित है कि बुद्ध एवं वे सिद्धान्त जिन्हे वे स्वमत के रूप मे समझते थे, के प्रति गौड़पाद का सर्वाधिक आदर था। उपनिषदों में वर्णित महान् परम आत्मा के ही स्वरूप को बौद्ध दर्शन में अवर्णनीय, अनिर्वचनीय, 'अरूप विज्ञान' के रूप में देखा गया है जो महाशून्य के समान सर्वत्र विद्यमान है। इस प्रकार आचार्य गौड़पाद ने उपनिषदो के अध्ययन की प्रेरणा उत्पन्न कर वैदिक और औपनिषदीय सत्यों की पुनः स्थापना करने का प्रयत्न किया है। आचार्य गौड़पाद के इस दृष्टिकोण को परिवर्तित कर उपनिषदों के सत्य के परीक्षण और स्थापन का कार्य उनके विद्वान् शिष्य शकर ने पूर्ण करने का संकल्प किया। आचार्य शंकर पर अपने गुरु गोविन्दाचार्य से भी अधिक गौड़पाद का प्रभाव था और वे चाहते थे कि आचार्य गौड़पाद के द्वारा प्रतिपादित वेदान्त-दर्शन का प्रसार सारे भारत मे किया जाए। अपने इस संकल्प मे वे कहाँ तक सफल हुए यह अगले पृष्ठों से स्पष्ट होगा।

वेदान्त और आचार्य शंकर (788-820)

वेदान्त-दर्शन की आधार-भूमि उपनिषदों मे वर्णित तत्त्व माना जाता है जिसको वादरायण ने 'ब्रह्म-सूत्र' मे सार रूप में सूत्रों के माध्यम से स्पष्ट किया है। वैदिक साहित्य में उपनिषद् सबसे अन्त मे आते है अतः उपनिषदों के दर्शन को 'उत्तर मीमांसा' के नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। आचार्य जैमिनि ने 'पूर्व मीमांसा-सूत्र' की रचना की है जो वेदों और 'ब्राह्मणों' की मीमासा है। इस प्रकार पूर्व मीमांसा दर्शन और उत्तर मीमांसा दर्शन वैदिक साहित्य के दो भाग हो गये है। उत्तर मीमांसा दर्शन का ही सारांश वादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' में वर्णित किया है। इन ब्रह्मसूत्रों की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है परन्तु आचार्य शंकर का भाष्य सबसे अधिक विद्वत्तापूर्ण और प्रामाणिक माना जाता है। आचार्य शंकर के महान् व्यक्तित्व के कारण भी शांकरभाष्य ने प्रसिद्धि और यश प्राप्त किया है। शंकराचार्य के भाष्य और उनके द्वारा प्रतिपादित वेदान्त दर्शन की ऐसी मान्यता है कि हम जब कभी वेदान्त दर्शन की चर्चा करते हैं तो उससे शकराचार्य के वेदान्त का ही अर्थ लिया जाता है। अर्थात् शांकरमत वेदान्त दर्शन का समानार्थक सा बन गया है। यदि अन्य किसी व्याख्या का प्रसंग आता है तो हम साधारणतया उन आचार्यों का नाम जोड़ देते हैं जो उस विशिष्ट मतांग के प्रवर्तक हैं जैसे रामानुजमत अथवा वल्लभमत आदि। प्रस्तुत अध्याय में शंकर और उनके अनुयायियों द्वारा प्रतिपादित वेदान्त दर्शन का निरूपण किया गया है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र और दस उपनिषदों पर भाष्य लिखे हैं। कई स्थानों पर इनके अर्थ जटिल दिखाई देते हैं, पर उनके शिष्य और अनुयायियो द्वारा भी शांकर भाष्य पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। ये सभी अनुयायी इस बात का आग्रह रखते हैं कि हमने शंकर के

विचारो का यथातथ्य अनुमोदन किया है। अत इस अध्याय मे इस सारे साहित्य के आधार पर शाकर वेदान्त की व्याख्या की गई है।

हिन्दू दर्शन के अन्य अगों का आधार केवल वे सूत्र हैं जिनके द्वारा मत विशेष की स्थापना की गई है जैसे जैमिनीय सूत्र, न्याय-सूत्र आदि। परन्तु वेदान्त दर्शन का मूल आधार वेद और उपनिषद माने गये हैं। सूत्र केवल उन वेद और उपनिषद् के उपदेशो का क्रमबद्ध साराश मात्र हैं। सूत्रो के द्वारा वैदिक दर्शन को व्यवस्थित ढग पर सूक्ष्म रूपेण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। शकराचार्य ने कभी भी किसी विशेष दर्शन के प्रणेता होने का दावा नही किया है। उन्होने तो यही व्याख्यात किया है कि किस प्रकार वेद और उपनिषदो में वर्णित ज्ञान-दर्शन का ही निरूपण बादरायण के ब्रह्मसूत्र में किया गया है। उपनिषद वेदो का ही भाग होने के कारण हिन्दूमात्र के आस्थापात्र थी। यदि कोई दर्शन उन पर आधारित हो तो वह भी उनका ही श्रद्धेय होगा। इसी दर्शन को उन्होंने हिन्दू मात्र के समक्ष प्रस्तुत किया है जो सभी हिन्दुओ को मान्य होना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक कठिनाई मीमासा दर्शन के दृष्टिकोण से भी आती है जो ये मानते थे कि वैदिक साहित्य दर्शन न होकर धार्मिक आचरण और अनुष्ठान के आदेश हैं जिनमें किसी प्रकार के ऊहापोह अथवा तर्क का स्थान ही नहीं है। शंकराचार्य ने इस सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि वैदिक साहित्य में ब्राह्मण-ग्रन्थो में अवश्य ही कर्मकाड की व्यवस्था आदेशात्मक ढग पर दी हुई है, पर यह सारे वैदिक साहित्य के लिए सत्य नही है। अन्य भागों में और उपनिषदो मे अद्वैत परमात्मा के महान् स्वरूप का निदर्शन किया गया है जिसके अध्ययन से बुद्धिमान लोग सहज ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। कर्मकाड और निषेधात्मक व्यवस्था साधारण व्यक्तियो के लिए है जो एक विषय से दूसरे विषय की ओर इन्द्रियानन्द की खोज में दौड़ते फिरते हैं। जिनका ध्येय परमात्मा के सत्य स्वरूप को जानने का है, जिन्होंने इन्द्रियो को जीत लिया है और जो ब्रह्म के शाश्वत, अप्रतिम, अद्वितीय शुद्ध प्रबुद्ध रूप को जानना चाहते हैं उनको उपनिषदों और वेदो का अध्ययन श्रेयस्कर है। शंकराचार्य ने कभी भी तर्कादि का आश्रय लेकर अपने मत या दर्शन की स्थापना करने का प्रयत्न नहीं किया। उनका ध्येय सदैव उपनिषदो के ज्ञान और दर्शन की स्थापना और उसका युक्तिसगत प्रतिपादन रहा है। जहाँ कहीं भी उपनिषदो के ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध मे किसी भी मत में उनको सन्देह दिखाई दिया, उन्होंने उसको मिटाने का प्रयत्न किया है। केवल इस निमित्त ही उन्होंने अन्य मतो का खण्डन किया है कि यह ब्रह्म-ज्ञान सर्वमान्य हो। अपने इस ब्रह्मज्ञान की स्थापना उन्होंने न केवल 'ब्रह्मसूत्र' के भाष्य द्वारा ही की प्रत्युत इस निमित्त उन्होंने उपनिषदों पर भी विद्वत्तापूर्ण भाष्य प्रस्तुत किए हैं। उनके मतानुसार सारे उपनिषदो में एक ही आस्तिक दर्शन पाया जाता है जिसमें एक ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन और उस तक पहुँचने का मार्ग निर्देश किया गया है। उनके शिष्यो ने भी अनन्य भक्ति से अपने गुरुदेव के मत का अक्षरश प्रतिपादन करने का यत्न किया है। जो स्थल शंकराचार्य ने केवल सकेत मात्र देकर छोड दिए हैं उनकी पूर्ण व्याख्या उनके शिष्यो न की है। इन सब ग्रन्थों में यह सिद्ध किया गया है कि न्यायादि दर्शन भ्रांतिपूर्ण और

आत्मविरोधी हैं। सांख्य में वर्णित महत्, प्रकृति आदि का उल्लेख किसी भी उपनिषद् या वैदिक साहित्य में नहीं पाया जाता है। शंकराचार्य के शिष्यों ने वेदान्त दर्शन की ज्ञान मीमांसा का भी विस्तृत विवेचन किया है जिसमें माया, ब्रह्म और संसार के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। हमारे प्रत्यक्ष अनुभव, युक्ति और तर्क से कहीं भी हम ब्रह्म दर्शन में कोई विरोधाभास नहीं देखते। हमारा तर्क केवल उपनिषदों के ज्ञान को समझने और ब्रह्म को जानने के लिए ही प्रयुक्त होना चाहिए। तर्कशास्त्र को केवल तर्क के लिए नियोजित करना व्यर्थ का श्रम है। उपनिषत्प्रकाशित सत्य को स्वीकार करने हेतु मस्तिष्क को ग्रहणशील बनाना ही तर्क का सच्चा प्रयोजन एवं कार्य है। उपनिषत्सम्मत सिद्धान्तों के उन्मूलन एवं विरोध के लिए तर्क का उपयोग करना तर्क का विनाश करना है। न्याय और तर्क का उपयोग ब्रह्म-दर्शन और ब्रह्म ज्ञान के निमित्त ही होना चाहिए।

संस्कृत में शंकराचार्य की अनेक जीवनियाँ लिखी गई है। इनमें 'शंकर दिग्विजय', 'शंकर विजय विलास' और शंकरजय प्रसिद्ध हैं। यह निश्चित सा ही है कि उनका जन्म मलाबार प्रान्त में सन् 700 से 800 ईसवी के बीच हुआ होगा। उनके पिता शिवगुरु तैत्तिरीय शाखा के यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। शंकर के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारपूर्ण कथाएँ और किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। ऐसा कहा जाता है कि वे भगवान् शंकर के अवतार थे। वे आठ वर्ष की अवस्था में साधु हो गए और आचार्य गोविन्द के शिष्य बने। आचार्य गोविन्द नर्मदा नदी के किनारे किसी पहाड़ की गुफा में निवास करते थे। इस आश्रम में रहकर शंकर ने अपने गुरु से दीक्षा ली और पुनः वाराणसी होते हुए बदरिकाश्रम चले गए। कहा जाता है कि उन्होंने ब्रह्मसूत्र का भाष्य केवल बारह वर्ष की अवस्था में लिखा था। दस उपनिषदों पर भाष्य इस ब्रह्मसूत्र के भाष्य के पश्चात् ही लिखे गये होंगे। पुनः वाराणसी आकर शंकर ने अखिल भारतवर्ष में वेदान्त मत का प्रचलन और अन्य अवैदिक मतों का खण्डन करने का संकल्प किया। इस हेतु वे सर्वप्रथम कुमारिल के पास गए। कहते हैं उस समय कुमारिल मृत्यु के निकट थे, अतः उन्होंने शंकर को अपने शिष्य मंडन मिश्र से शास्त्रार्थ करने की आज्ञा दी। आचार्य शंकर ने मंडन मिश्र को शास्त्रार्थ मे परास्त कर वेदान्त की दीक्षा दी और उन्हे अपना शिष्य बना लिया। मंडन मिश्र ने साथ ही उनसे प्रव्रज्या भी स्वीकार कर ली। इसके पश्चात् शंकराचार्य भारत भर में भ्रमण करते हुए वेदान्त दर्शन की पुष्टि ओर स्थापना मे संलग्न हो गये। अनेक नैयायिकों ओर तर्काचार्यों को शास्त्रार्थ मे हराकर उन्होंने वेदान्त मत के सत्य स्वरूप का निरूपण किया। भारत के धार्मिक जीवन मे शंकराचार्य का अपना अत्यन्त विशिष्ट स्थान है।

इस प्रकार शंकराचार्य ने आचार्य गौड़पाद द्वारा प्रतिपादित इस मत की स्थापना की कि इस संसार में केवल ब्रह्म की ही स्थिति है। उपनिषदों और ब्रह्म-सूत्र में केवल अद्वैत ब्रह्म का ही उपदेश प्राप्त होता है। अपने सारे भाष्यों में उन्होंने इसी मत की पुष्टि करने का प्रयत्न किया है।[1] ब्रह्मसूत्र के भाष्य में सर्वत्र ऐसा प्रतीत होता है कि अचार्य

1. शंकराचार्य के मुख्य ग्रन्थों में, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुडक, मांडूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, वृहदारण्यक और छान्दोग्य की टीकाएँ और 'ब्रह्मसूत्र' का भाष्य सम्मिलित हैं।

पाद किसी प्रचलित द्वैतधारा का खंडन करने का प्रयत्न कर रहे हैं जो आंशिक रूप मे साख्य की सृष्टि-रचना सिद्धान्त को मानते हुए प्रकृति और परमात्मा इन दोनों के अस्तित्व को भिन्न-भिन्न रूप में स्वीकार करती हैं। ब्रह्मसूत्र के किसी अन्य भाष्य में इस सिद्धान्त को ब्रह्मसूत्र के उद्धरणो से सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया होगा क्योंकि आचार्य शकर स्थान-स्थान पर यह सिद्ध करते हैं कि उपर्युक्त उद्धरणो में वाक्य विच्छेद या निर्वचन उचित ढग से नही किया गया है। एक स्थान पर शकराचार्य स्पष्ट रूप से ऐसा कहते हैं कि अन्य लोग ब्रह्मसूत्र और उपनिषदो की विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं। जिनसे अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इन भ्रान्तियो को नष्ट करने के लिए और जो आत्मा परमात्मा के एकत्व को नही मानते हैं (आत्मैकत्व) उनके मत का खण्डन करने के लिए ही मैं अपना 'शारीरिक' भाष्य प्रस्तुत कर रहा हूँ।[2] इन अन्य भाष्यो के सम्बन्ध में रामानुज के ग्रन्थो के उद्धरणों से कुछ जानकारी प्राप्त होती है। रामानुज ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य की भूमिका मे लिखा है कि उनके पूर्व अनेक विद्वानो ने आचार्य बोधायन के ब्रह्मसूत्र-भाष्य का सक्षिप्त सार प्रस्तुत किया है। मैं आचार्य बोधायन के परम्परागत मत के आधार पर ही ब्रह्मसूत्र की व्याख्या कर रहा हूँ। इसी प्रकार 'वेदार्थ-सग्रह' नामक ग्रन्थ में आचार्य रामानुज ने वेदान्त के प्रसिद्ध विद्वानो मे बोधायन, टक, गुहदेव कपर्दी, भारुचि का नल्लेख किया है और द्रविडाचार्य का नाम भाष्यकार के रूप मे उद्धृत किया है। छान्दोग्य उपनिषद् (3, 10, 4) के भाष्य मे जहाँ इस उपनिषद् मे सृष्टि-रचना-सिद्धान्त की व्याख्या की गई है, वहाँ विष्णु-पुराण' के सृष्टि रचना-सिद्धान्त से उपर्युक्त सिद्धान्तो के विरोधाभास को स्पष्ट करते हुए आचार्य शकर ने कहा है कि उपर्युक्त विषय मे 'आचार्य' का ऐसा मत है। (आप्तोक्त परिहार आचार्य)। आनन्दगिरी का कथन है कि यहाँ शकर का सकेत द्रविडाचार्य द्वैतवादी की ओर है। रामानुज के भाष्य से यह प्रकट होता है कि द्रविडाचार्य द्वैतवादी थे और शकर के उपर्युक्त कथन से यह भी स्पष्ट होता है कि द्रविडाचार्य ने छान्दोग्य उपनिषद् का भाष्य भी लिखा था।

बादरायण रचित 'ब्रह्मसूत्र' पर जितने भी भाष्य मिलते हैं उनसे यह प्रकट होता है कि लगभग सभी मत इस ग्रन्थ को उपनिषदो के सार के रूप में स्वीकार करते थे। परन्तु इन सूत्रों की व्याख्या करते हुए अपने मत के अनुसार विभिन्न मतव्य प्रकट करते हुए इस विषय पर मतभेद प्रस्तुत किया जाता था कि सूत्र विशेष उपनिषद् के किस श्लोक या छद के प्रसग मे लिखा गया है अथवा उसका विशिष्ट अर्थ या भावार्थ क्या है। यह ब्रह्मसूत्र चार भागो मे विभक्त है। इन चार 'अध्यायों' को पुन चार-चार 'पादो' (उप अध्यायों) में विभक्त किया गया है। प्रत्येक 'पाद' को फिर कई 'अधिकरणों' में (व्याख्या के विषय) विभाजित किया गया है। अनेक सूत्रो से मिलकर एक अधिकरण बनता है। इन सूत्रो मे प्रस्तुत विषय पर अनेक प्रश्न और व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं और तत्सम्बन्धी तर्कादि दिए गए हैं जिसके आधार पर किसी विशेष निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। शकर के अनुसार दूसरे भाग के प्रथम चार पदों को छोडकर शेष

1 ब्रह्मसूत्र पर शंकर-भाष्य 1 111 19।

सभी सूत्र उपनिषद् के छन्दों, गद्यांशों या अभिव्यक्तियों की व्याख्या के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। शंकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त-दर्शन की पुष्टि करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं। एक ब्रह्म ही एकमात्र शाश्वत तत्त्व है। दूसरी पुस्तक के प्रथम पाद में सांख्य के दृष्टिकोण की कठिनाइयों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। पुनः इस दूसरे भाग के दूसरे पाद में सांख्य, योग, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध, जैन, भागवत और शैव मत का खंडन किया गया है। प्रथम चार सूत्रों के भाष्य और इन दो पदों में हमे शंकर के अद्वैत दर्शन का स्वरूप स्पष्ट होता है। अद्वैत वेदान्त के मुख्य सिद्धान्तों का निरूपण दूसरे अध्याय के इन्ही दो पादों की टीका में विशेष रूप से किया गया है। शंकराचार्य के दर्शन में तर्क का महत्त्व केवल यही है कि यह हमें शास्त्रो के अध्ययन और उनके यथातथ्य अर्थों को समझने में सहायक होता है। वास्तविक सत्य केवल तर्क से नही ज्ञात हो सकता। जो अधिक कुशल तार्किक है वह सहज ही एक तथ्य को सत्य के रूप में प्रमाणित कर देता है। फिर उसी सत्य को दूसरा तार्किक अपनी विद्वता से असत्य प्रमाणित कर देता है। अतः सत्य केवल तर्क से नही जाना जा सकता। शाश्वत मूल्यों और एक सत्यज्ञान के लिए वेद-उपनिषद् का अध्ययन आवश्यक है। शंकर ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उनकी उपनिषदों की व्याख्या युक्तिसंगत और बौद्धिक अनुभव के अनुकूल है। जो ज्ञान अनुभव से युक्ति-संगत नही प्रतीत होता, उसे मान्य नही कहा जा सकता। उपनिषद् सत्य का भडार है पर उनका मनन करने के लिए जिस सूक्ष्म-दृष्टि की आवश्यकता है, वह दृष्टि शंकराचार्य ने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, ऐसा उनका अभिमत है। वह किसी स्वतन्त्र दर्शन की स्थापना करने का आग्रह नही रखते। उनका ध्येय केवल इतना सिद्ध करना ही है कि उपनिषदों की बौद्धिक और यौक्तिक व्याख्या उन्होंने प्रस्तुत की है जिससे उपनिषदो के सत्य को अनुभव के आधार पर सर्व-साधारण और विद्वज्जन स्पष्ट रूप से ग्रहण कर सके। शास्त्र और उपनिषद् ही अन्ततोगत्वा प्रामाणिक और मान्य हैं, किसी भी प्रामाणिकता का आधार तर्क नही हो सकता, वह तो केवल साधन मात्र है।

वे अपना दर्शन इस सिद्धांत से प्रारम्भ करते हैं कि भ्रमवश हम इन्द्रिय, शरीर अथवा विषयो के साथ हम अपने आपको इतना एकरस कर लेते है कि है कि हम शरीर और आत्मा के रहस्य को समझ ही नही पाते और इन्हें ही आत्मा समझ लेते हैं। माया के कारण हम समझते हैं कि सुख-दुःख आदि की अनुभूति हमारी आत्मा को होती है जो शरीर से भिन्न है। हम आत्मा और शरीर को एक ही मान लेते हैं। शंकर आत्मा को शुद्ध एवं चरम-सत्य के रूप में स्थापित करने के लिए तर्क आदि करते दिखाई नही देते क्योंकि वे मानते हैं कि उपनिषदो द्वारा यह प्रतिपादित है अतः वह तो अकाट्य है ही। आत्मा शुद्ध प्रबुद्ध, चित् रूप है, यह सर्वदा आनन्दमय है। सत्, चित् आनन्द रूप आत्मा सदैव निर्लिप्त और एकरस रहती है। माया के कारण अनादि भ्रान्ति से ग्रसित हम अपने आप को इन्द्रि-यादि शरीर से पृथक नही कर पाते हैं। जो केवल छाया के समान है, उसको सत्य मानकर अपने मन में ही सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। यह सारा विश्व मायामय है। इसको

उपनिषद, शास्त्रादि ने स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है, इसके लिए किसी तर्क या प्रमाण की आवश्यकता नही है । जो वस्तु शास्त्रसम्मत है उसमे तर्क का कोई स्थान ही नहीं है । यदि आत्मा ही एक मात्र सत्य और शाश्वत व्यापक तत्त्व है तो अन्य सब असत्य होना चाहिए । अत स्पष्ट है कि एक आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब माया है ।

मीमासा-दर्शन का मत है कि वेद कर्मकाड का आदेश देते हैं । अत उपनिषद् भी धार्मिक कर्मों का निर्देशन करते हैं क्योकि उपनिषद् वेदो का ही अग है । उपनिषदों में ब्रह्म की मीमांसा इस हेतु की गई है कि उसकी विधिवत् उपासना की जाए । ब्रह्म को परम आत्मा के समान समझ कर उसकी उपासना और ध्यान करना चाहिए, ऐसा आदेश समझना चाहिए । शंकराचार्य इस मत से पूर्णतया सहमत नहीं है । उनका कथन है कि उपनिषदों में अन्तिम सत्य का निरूपण किया गया है । ब्रह्म ही अन्तिम सत्य है । जिसने इस सत्य को सम्यग् रूप से जान लिया है, उसे अन्य किसी कर्मकाड की आवश्यकता नही है । वह स्वत ही पूर्णकाम प्रवुद्ध और शान्त हो जाता है । जिसने सत्य का दर्शन कर लिया है उसे फिर किस कर्म की आवश्यकता रह जाती है । कर्मकाड नियमादि वन्धन उन लोगों के लिए हैं जो निम्न श्रेणी मे हैं, जिन्होंने पूर्णज्ञान प्राप्त नही किया है, जो जिज्ञासु रूप मे अभी ज्ञान के निम्न सोपानो मे भटक रहे हैं । जिन्हें किसी भौतिक या दैविक सुख की आकाक्षा नही है, जिनकी तृष्णा का लोप हो गया है, जो कर्मकाड आदि की स्थिति से ऊपर उठकर वीतराग, उपरत हो चुके हैं, ऐसे प्रवुद्ध व्यक्तियो के लिए उपनिषद् का ज्ञान-कांड है । भगवद्गीता की टीका मे भी शंकराचार्य ने इस तथ्य पर विशेष वल दिया है कि कर्म का आधार कामना है । किसी कामना से प्रेरित होकर मनुष्य शुभ अथवा अशुभ कर्म करता है । जव मनुष्य कामना के वशीभूत होकर यज्ञादि कर्मकांड करता है, तो उसकी दृष्टि किसी फल की प्राप्ति की ओर रहती है । वेदो की आज्ञा मानकर नियमादि का पालन और अन्य कर्मो मे भी यही कामना प्रेरक शक्ति होती है । मनुष्य इस अवस्था मे कर्म के चक्र मे व्यथित रहता है । जैसे ही मनुष्य इस कर्म-मार्ग का परित्याग कर और ऊपर उठता है, वह ज्ञानमार्ग की ओर अग्रसर होता है । सारी कामनाओ का परित्याग कर, निष्काम, वीतराग होकर केवल ब्रह्म को जानने की इच्छा रखता हुआ उपनिषदो और वेदो के अध्ययन से सत्य को जानकर व्यक्ति स्वय ही मोक्ष की ओर उन्मुख हो उठता है । ऐसे व्यक्तियो के लिए ही वेदान्त का मनन श्रेयस्कर है । जो वेदान्त का अध्ययन करना चाहते हैं उनमे निम्न गुण होने आवश्यक हैं—

(1) नित्यानित्य वस्तुविवेक—शाश्वत और क्षणिक मूल्यो का अन्तर जानने की वुद्धि (2) 'इहामुत्रफल भोगविराग'—सासारिक और पारलौकिक फलो के भोगो के प्रति उदासीन वृत्ति (3) शम दमादिसाधन सम्पत्शम (शान्तमना) दम, सयम, त्याग, ध्यान, धैर्य और श्रद्धा की सम्पदा की प्राप्ति (4) 'मुमुक्षत्व'—मोक्ष की उत्कट अभिलाषा । जो व्यक्ति इन गुणों से विभूषित है वही सच्चे अर्थ मे वेद, उपनिषद् के पठन-पाठन का अधिकारी है । जैसे ही मुमुक्षु को आत्मा और परमात्मा का रहस्य स्पष्ट होकर यह सत्य ज्ञान प्राप्त होता है कि एक ब्रह्म ही सारे ससार मे विद्यमान है, आत्मा

ही परमात्मा है, ब्रह्म के अतिरिक्त सब मिथ्या माया है, वैसे ही उसे सही अर्थो में मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है वह वीतकाम होकर चिदानन्द में लीन हो जाता है, किसी कर्मकांड यज्ञादि की उसे अपेक्षा ही नहीं रहती। इस प्रकार 'ज्ञान' और 'कर्म' के मार्ग भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तियों (अधिकारियों) के लिए हैं। अपनी योग्यता के अनुसार ही वे ज्ञानमार्ग या कर्ममार्ग के अधिकारी बनते हैं। यह भी स्पष्ट है कि ज्ञान और कर्म के मार्ग को एक साथ संयोजित (ज्ञान-कर्म-समुच्चयाभाव:) भी नहीं किया जा सकता क्योंकि एक ही व्यक्ति दोनों मार्गो का अधिकारी नही बन सकता। आचार्य गौड़पाद और शंकर के वेदान्त दर्शन में यही अन्तर है कि शंकराचार्य ने आचार्य गौड़पाद के दर्शन से बौद्ध विचारों का पूर्ण-रूपेण परिष्कार कर प्राचीन उपनिषदो की सुव्यवस्थित, यौक्तिक व्याख्या के आधार पर वेदान्त दर्शन की स्थापना की है। उन्हें कई विद्वान् 'प्रच्छन्न बौद्ध' (छिपा हुआ बौद्ध) मानते थे परन्तु उनके विचारों का हिन्दू वेदान्त दर्शन पर विशिष्ट प्रभाव पड़ा है। यह कहना अनुचित नही होगा कि उनके शिष्यों, फिर उनके शिष्यों, प्रशिष्यो द्वारा इस प्रकार उनकी शिष्य-परम्परा के द्वारा भी इस दर्शन का सैद्धान्तिक पक्ष सुदृढ़ शास्त्रीय भित्ति पर शंकर की अपेक्षा भी अधिक दृढ़ता से निर्मित किया गया। इस पुस्तक मे जिस वेदान्त दर्शन का निरूपण किया गया है वह शकराचार्य की शिष्यपरम्परा के द्वारा प्रवर्तित और प्रस्थापित वेदान्त दर्शन है जो इस समय तक एक निश्चित सुबद्ध रूप को प्राप्त कर चुका है और जिसके अभाव में वेदान्त दर्शन को पूर्णरूपेण समझना कठिन होगा। यह उत्तर वेदान्त शंकराचार्य के सिद्धान्तों से कहीं भी भिन्न नही है। केवल जिन प्रश्नो को शंकराचार्य ने स्पष्ट नही किया है, उन सबको उनके शिष्यों के द्वारा विद्वत्तापूर्वक स्पष्ट किया गया है। प्रस्तुत अध्याय मे शंकराचार्य ने वेदान्त के जिन मुख्य सिद्धान्तों का निरूपण किया है उनकी चर्चा की गई है।

शंकर के अनुसार सारी सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश का आदि कारण ब्रह्म है। नाना रूपो में, अनेक नामों से जो कुछ यहाँ हम देखते हैं उन सबका आदि मूल वह ब्रह्म ही है। स्थान, काल, हेतु की अपेक्षा से नानाविध इस कल्पनातीत सृष्टि का ओर-छोर नही दिखाई देता। अनेक प्रकार के व्यक्ति, अनेक प्राणी यहाँ अनेक प्रकार के फलों का भोग करते हुए दिखाई देते हैं। उनको देखकर बुद्धि विस्मित और स्तम्भित रह जाती है। इस सारे ससार का सृष्टा पालक और संहारकर्त्ता वही एक ब्रह्म है।[1]

ब्रह्म की स्थिति और अस्तित्व के सम्बन्ध में शंकर का कथन तीन तर्कों पर आधारित है। वे ये है कि (1) यह सारा संसार ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है पर ब्रह्म किसी अन्य तत्त्व से उत्पन्न नही हुआ है अन्यथा इस दूषित चक्र का कोई अन्त नही होगा अर्थात् अनवस्था हो जाएगी। उपनिषदों के आधार पर यह विश्व किसी अन्य तत्त्व से उत्पन्न हुआ है, वह अन्य तत्त्व ब्रह्म ही हो सकता है। क्योकि ब्रह्म किसी और से पैदा हुआ है यह नही माना

1 शकर-भाष्य 1.1.2। इसके अतिरिक्त डयूसेन महोदय का सिस्टम आफ वेदान्त भी देखिए।

जा सकता । पुन॰ यह सारा विश्व एक विशिष्ट व्यवस्था-क्रम मे वधा हुआ है । कोई चेतन, ज्ञानमय शक्ति इस ससार का सचालन करती है वह ब्रह्म ही है । इसके अतिरिक्त हममे से प्रत्येक की ज्ञान-चेतना के रूप मे ब्रह्म विद्यमान है । हमारी आत्मा के रूप मे ब्रह्म सारे प्राणियो में ज्ञान के प्रकाश को उत्पन्न करता है । जिस चेतना से हम वस्तुओ को जानते हैं, उनका सज्ञान प्राप्त करते हैं वह भी ब्रह्म का रूप है । जो वस्तुएँ ज्ञात की जाती हैं वे भी ब्रह्म की शक्ति से प्रकाशित होती हैं । वह सज्ञान-प्रक्रिया मे ज्ञेय और ज्ञान और ज्ञाता रूपी आत्मा के रूप मे स्थित हैं । वही 'साक्षी' है, उमको जव हम नहीं मानते तब भी वह उस निषेध मे नही मानने वाली आत्मा के रूप मे स्पष्ट दिखाई देता है । वही सारभूत तत्त्व है, वही ससार में व्यापक आत्मा है ।

शकर के अनुसार ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द रूप है । यह ब्रह्म-तत्त्व ही आत्मा के रूप मे हमारे शरीर मे विद्यमान है । जागृत अवस्था में अनेक मायामय अनुभूतियो मे हम विचरण करते रहते हैं । हमारा अहम् प्रत्येक अनुभूति के साथ यह अनुभव करता है कि मैं ऐसा कर रहा हूँ, मैं यह सुख-दु ख भोग रहा हूँ । परन्तु जव हम गहरी निद्रा मे, सुपुप्त अवस्था मे, होते हैं तो हमारी आत्मा का शरीर और वाह्य भौतिक जगत् से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है । इस अवस्था में आशिक रूप से उस निर्मल आनन्द की स्थिति का आभास प्राप्त करते हैं जो ब्रह्मानन्द की स्थिति है । परन्तु प्राणिमात्र अपने भिन्न-भिन्न (नानाविध) रूपों में मायामात्र है । इन सवके अन्दर जो सत्, चित्, आनन्द तत्त्व व्याप्त है, वही सत्य ब्रह्म तत्त्व है ।

सारी सृष्टि माया है, परन्तु इम ससार को मायारूपी सृष्टि के रूप मे देखकर हम कह सकते हैं कि सम्भवत ईश्वर इस ससार को केवल क्रीडारूपेण अपने आनन्द के लिए वनाया है । जिम दृष्टि से हम सवका अस्तित्व है और इस विश्व का अस्तित्व दिखाई देता है उस दृष्टि से हम सृष्टा का भी अस्तित्व स्वीकार करते हैं कि ईश्वर ने ही इस ससार को बनाया है, वही सृष्टिकर्त्ता है । परन्तु यदि सृष्टि का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है, तो किसी सृष्टिकर्त्ता के भी अस्तित्व का कोई प्रश्न नहीं उठता । सत्य दृष्टि से न सृष्टि का अस्तित्व है न सृष्टिकर्त्ता का । ब्रह्म जो महान् आत्मा के रूप मे सर्वत्र स्थित है, वही इस विश्व का 'उपादान कारण' (तत्त्वरूप हेतु) और वही 'निमित्त कारण' (कर्त्तारूप) है । कारण-कार्य मे कोई भेद नही है । यह कार्य रूपी समार मायामय है । यह ब्रह्म की माया का प्रसार है, माया व्याप्ति के मूल मे ब्रह्म अवस्थित है । नाम, रूप, भेद से अनेक वस्तुएँ दिखाई देती हैं, पर तत्त्वरूपेण उनमे कोई अन्तर नही है । मिट्टी से चाहे घडा बनाया जाए, या कोई अन्य पात्र । सभी पात्रो में मिट्टी के अतिरिक्त और कुछ नही है । मिट्टी की स्थाली और घडे मे 'नामरूप' का ही अन्तर है । यह विश्व ब्रह्म रूप है, अत यही कार्य रूपेण अनेक 'नामरूपो' मे अवस्थित होता है । यह उसका 'व्यावहारिक' अस्तित्व है, परन्तु कारण रूप मे वह अपने सत्य स्वरूप 'पारमार्थिक' रूप मे शाश्वत ब्रह्म के रूप में स्थित है ।[1]

---

1 ब्रह्म-सूत्र के शाकर- भाष्य के मुख्य तत्त्वो का ड्यूसेन ने अपनी पुस्तक 'सिस्टम आफ

वेदान्त दर्शन के मुख्य तत्त्व

शंकर वेदान्त का मुख्य तत्त्व अद्वैतवाद है। प्राणिमात्र में जो भिन्न-भिन्न आत्मा दिखाई देती है, वह एक ही आत्मा है। यह एकात्मा ही शाश्वत सत्य है। अन्य सब मिथ्या है। प्राणियों से भिन्न जो पार्थिव जगत् है, वह भी असत्य है। आत्मा ही सत्य रूप है। सारे मानसिक और भौतिक व्यापार क्षणिक हैं। अन्य सारे दर्शन जीवन में वस्तु सत्य को खोजते हुए पार्थिव जगत् में हमारे व्यवहार के हेतु प्रामाणिक तथ्य उपस्थित करते हैं। उनकी दृष्टि वस्तुवादी और संसार की व्यावहारिक मर्यादाओं से सीमित है। परन्तु वेदान्त इस दृश्यमान जगत् को कोई महत्त्व न देते हुए इसे माया प्रतिबिंब मानकर उस मूल तत्त्व की ओर दृष्टिपात करता है जिससे यह सारा संसार प्रतिभासित हो रहा है। वेदान्त उस अन्तिम सत्य को खोजता है जो इस अनेकविध, सूक्ष्मतम पार्थिव व्यापार के मूल में अवस्थित है। श्वेतकेतु को शिक्षा देते हुए वेदान्त के एक प्रामाणिक ग्रन्थ 'महावाक्य' में कहा है, 'हे श्वेत केतोतत्वमसि' ! तुममें ही वह महान् निहित है। तुम ही वह सत्य हो। तुम ही आत्मा और ब्रह्म हो। 'तत् त्वम् असि' वेदान्त का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त वाक्य बन गया है। अपनी आत्मा के स्वरूप का यह ज्ञान ही सत्यज्ञान है। क्योंकि जैसे ही यह ज्ञान हो जाएगा, संसार की माया का स्वयमेव ही लोप हो जाएगा। इस ज्ञान के अभाव में ही मनुष्य इधर-उधर भटकता फिरता है। परन्तु जब तक मन में वासनाओं और तृष्णा का आवेग शान्त नहीं होता, हम इस महान सत्य को सच्चे अर्थों में ग्रहण नहीं कर पाते। शुद्ध चित्त होकर जब आत्मा मोक्ष की इच्छा से अन्तिम सत्य को खोजती है तब गुरु दीक्षा देता है कि तुम ही वह महान् सत्य हो (तत्वमसि)। इस दीक्षा से वह स्वयं उस सत्य के साथ आत्मसात् कर एकनिष्ठ हो जाता है। सत्, चित्, आनन्द रूप में रमता हुआ निर्धूम प्रकाश के समान जाज्वल्यमान हो उठता है। सारी अविद्या, ममत्व आदि का नाश हो जाता है। साधारण संज्ञान, मेरा-तेरा आदि का कोई महत्त्व ही नहीं रहता। यह संसार एक इन्द्रजाल के समान प्रतिबिंब रूप दिखाई देता है। माया के बन्धन स्वयमेव अलग हो जाते हैं। वह केवल ज्ञानी होकर निर्द्वन्द्व विचरण करता है।

अन्य भारतीय दर्शनों की यह मान्यता है कि मनुष्य मोक्ष प्राप्ति के अनन्तर सांसारिक सुख-दुःख आदि अनुभूतियों से ऊपर उठकर सारे संकल्प-विकल्पों के ऊहापोह का परित्याग कर वीतराग हो शुद्ध, निर्मल, आनन्दमय स्थिति को प्राप्त हो जाता है। यहाँ मूल कल्पना यह है कि कर्मों के बन्धन से छूटकर मनुष्य वासनादि के जंजाल से मुक्त होकर, एक ऐसी उन्नत अवस्था में पहुँच जाता है, जहाँ सांसारिक पार्थिव व्यापार का उसके लिए कोई महत्त्व नहीं है। वह वीतकाम, निर्बन्ध सत्ता होकर सारे सांसारिक जंजाल से मुक्ति

वेदान्त' में बड़े सुन्दर ढंग से निरूपण किया है अत: उस सबकी यहाँ पुनरावृत्ति अनावश्यक होगी। शंकराचार्य के अनुयायियों के दृष्टिकोण को विशेष रूप से ध्यान में रखकर, वेदान्त दर्शन की व्याख्या इन पृष्ठों में की गई हैं।

पा जाता है। उसने धर्मादि आचरण से अपने सारे सांसारिक बन्धनों का क्षय कर दिया है। वह परमहंस पद प्राप्त कर निर्बन्ध हो गया है। उस आनन्दमय स्थिति में उसे पार्थिव जगत के बन्धन से किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं है। पर अन्य सारे प्राणी इस पार्थिव जगत् के बन्धन से उसी प्रकार बधे हुए अनेक कर्म करते रहते हैं। पुराने कर्मों के भार से दबे हुए, आत्मा के स्वरूप को न जानते हुए, तृष्णा के जाल मे फँस कर मनुष्य अनेक कर्म करता रहता है। इस प्रकार इस संसार की गति चलती रहती है। मुक्ति का अर्थ अपने आपको इस ससार के बन्धनो से मुक्त करना माना जाता है जिसमे मनुष्य अपने मन में ही अनेक प्रकार के कष्ट पाता रहता है। न्याय वैशेषिक और मीमांसा मुक्ति को इस शुद्ध निर्मल स्थिति को अचेतन स्थिति मानते हैं और सांख्य एव योग इसे पूर्ण शुद्ध, निर्मल 'चित्' स्थिति मानते हैं।

परन्तु वेदान्त का मत यह है कि इस पार्थिव जगत् का कोई अस्तित्व ही नहीं है। यह केवल भ्रान्त कल्पना मात्र है। यह केवल उस क्षण तक रहता है जब तक हमको सत्य ज्ञान नहीं होता। ब्रह्म के स्वरूप का सही ज्ञान होते ही इस सांसारिक माया का लोप हो जाता है। माया ससार की समाप्ति का कारण यह नही है कि हम अपने आपको ससार से विरक्त कर लेते हैं, अथवा इससे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखते, परन्तु इसलिए कि इस पार्थिव व्यापार का कोई सत्याधार नही है। अनादि काल से चली आती हमारी ससार सम्बन्धी कल्पनाओ के पीछे कोई आधार ही नहीं है। ये भ्रांति मात्र हैं, कल्पनाएँ हैं और तभी तक हैं जब तक हमको न अपने सम्बन्ध में कुछ पता है, न इस ससार के सम्बन्ध मे। जो कुछ साधारण दृष्टि और अनुभव से हमको दिखाई देता है उसको ही हम सत्य मानकर अपने दैनिक कर्मों में प्रवृत्त हो जाते हैं। यह सत्य है कि इस सारे दृश्यमान् जगत् में एक व्यवस्था और क्रम दिखाई देता है। परन्तु यह व्यवस्थित नियमित ससार यदि हमारी अनुभूति के आधार पर सत्य दिखाई देता है तो यह सत्य एक आपेक्षित सत्य है। हमारी इन्द्रियानुभूति ही इस सत्य का आधार है। सीपी के टुकड़े को देखकर मनुष्य उसे अनेक बार चाँदी का टुकड़ा मान लेता है और उसे उठाने को भागता है। पर जैसे ही उसे सत्य-बोध होता है कि यह चाँदी का टुकड़ा न होकर सीपी मात्र है, वह उसे छोड़कर चल देता है। फिर वह पुन भ्रम में नहीं पड़ता। इसी प्रकार मनुष्य सत्यज्ञान के पूर्व संसार को सत्य समझ कर इसकी ओर दौड़ता है पर जैसे ही भ्रान्ति का लोप होता है वह सत्य को जानकर इससे विमुख हो जाता है। चाँदी के टुकड़े की भ्रान्ति कुछ क्षणों के लिए प्रामाणिक दिखाई देती है। वह जीवन के अन्य तथ्यों की तरह हृदय में अनेक प्रकार के सकल्प-विकल्प आशादि उत्पन्न करती है। इस पार्थिव सत्य से प्रेरित मनुष्य कर्म के लिए उद्यत होता है, परन्तु जब वह उसको हाथ में उठाता है, उसे वास्तविक सत्य का पता चलता है। वह तत्काल उसे दूर फेंक देता है उसके हृदय में फिर किसी प्रकार का मोह उस शुक्ति-खण्ड की ओर नहीं रहता। अत उपनिषद् का कथन है कि एक ब्रह्म ही सत्य है, अन्य सब मिथ्या है, भ्रान्त है। जो इस सत्य को छोड़कर अनेक प्रपचों मे फँसता है उसे दुःख और निराशा ही प्राप्त होती है। द्विधाओं मे फँसा मन ब्रह्म से विमुख हो जाता है।

अन्य दर्शनों का मत है कि मोक्ष की प्राप्ति के पश्चात् भी संसार इसी प्रकर चलता रहेगा। हमारे लिए इस संसार का अस्तित्व इसलिए नही रहता कि हम इन्द्रिय-जगत् से दूर हो जाते हैं। जब इन्द्रियों का कार्य-क्षेत्र समाप्त हो जाता है तो मोक्ष के अनन्तर हमारे लिए संसार का अस्तित्व नही रहता। सांख्य दर्शन में बुद्धि-तत्त्व के अलग हो जाने पर पुरुष विश्व का ज्ञान नही कर सकता। मोक्ष प्राप्त, 'पुरुष' शुद्ध रूप मे अवस्थित हो जाता है। बुद्धि तत्व 'पुरुष' से अलग होकर प्रकृति में लय हो जाता है। मीमांसा और न्याय दर्शन मे मोक्ष की स्थिति में आत्मा का मन से विच्छेद हो जाता है, परन्तु वेदान्त की स्थिति भिन्न है। जिसने ब्रह्म को पा लिया है, जिसने इस महान् सत्य का दर्शन कर लिया है, उसके लिए इस सांसारिक माया का मिथ्या रूप स्वयंमेव समाप्त हो जाता है। प्रारम्भ से ही इस माया-संसार का कोई वास्तविक अस्तित्व नही है। परन्तु हम अनादि काल से चली आ रही मिथ्या भ्रान्ति के कारण संसार को सत्य मान लेते हैं। जो सत्य है, उसे हम सत्य रूप में ग्रहण कर सकते हैं, पर जो असत्य है, मिथ्या है, वह सत्य के समक्ष ठहर ही नही सकता। जब सत्य ज्ञान की उत्पत्ति होती है, तो माया का लोप हो जाता है। उपनिषदों मे कहा है कि सत्य एक ही हो सकता है, अनेक सत्य नही हो सकते। ब्रह्म ही एक सत्य है। शंकराचार्य ने इस अनेक का अर्थ ब्रह्मेतर अन्य सारी वस्तुओं के रूप मे किया है, अतः इन सबको मिथ्या और असत्य माना है। क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त और सब असत्य, माया, भ्रान्ति है, अत इस एक सत्य को ग्रहण करने से माया का लोप हो जाता है। परन्तु एक शंका यह होती है कि माया और ब्रह्म का क्या सम्बन्ध है, माया ब्रह्म से कैसे संलग्न हो जाती है। वेदान्त इस शंका को वैध नही मानता है। यह सारहीन प्रश्न है, क्योंकि ब्रह्म का माया से कोई सम्बन्ध ही नही है। व्यक्ति अथवा ब्रह्मांड रूपी समष्टि के किसी भी प्रसंग में किसी भी काल मे माया का ब्रह्म से सम्बन्ध नहीं सोचा जा सकता। माया की उत्पत्ति से, अथवा किसी भी भ्रान्त कल्पना से सत्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। माया का अस्तित्व 'अविद्या' में है। सत्यज्ञान के उदय होने पर 'अविद्या' का लोप हो जाता है। जब तक भ्रान्ति रहती है, 'अविद्या' के कारण यह सब प्रपंच का आभास वास्तविक सा प्रतीत होता है। सत्यज्ञान के उदय के साथ ही यह आभास स्वप्नवत् दूर हो जाता है। इस संसार का अस्तित्व केवल 'प्रातीतिक सत्ता' अथवा 'प्रातिभासिक सत्ता' है, जब तक हम माया भ्रान्ति से ग्रसित रहते हैं, यह संसार सत्य प्रतीत होता है। माया का रूप-विचित्र है। यह साधारण तर्क के परे है। इसका भाव है अथवा अभाव, यह कहना भी कठिन है। माया है, या नही है, यह नहीं कहा जा सकता (तत्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीया)। स्वप्न के समान ही, हमारी सारी इन्द्रियानुभूति के आधार के रूप में यह माया सत्य प्रतीत होती है। इसका अस्तित्व हमारे प्रत्यक्ष में निहित है। इस प्रत्यक्ष के आधार पर यह अस्तित्व सत्य दिखाई देता है। परन्तु हमारे इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अनन्तर इसका कोई अस्तित्व नही है। अर्थात् हमारी मिथ्या दृष्टि से जो कुछ हमे दिखाई देता है, इस दृश्याभास के परे इसका कोई स्वतन्त्र अधार या अस्तित्व नही है। जैसे स्वप्न का सत्य उस क्षण तक ही वास्तविक प्रतीत होता है, जब तक वह स्वप्न भंग नही होता, इसी प्रकार हमारी मोह निद्रा का यह दृश्यमान जगत् भी उस समय तक सत्य रहता है जब तक हम इस निद्रा

में मग्न रहते हैं। यदि इस मिथ्या प्रत्यक्ष और सज्ञान का कोई अर्थ है तो वह भी उतना ही असत्य है, इम असत्य माया से ब्रह्म पर कोई प्रभाव नही होता। ब्रह्म परम सत्य है। सत्य का असत्य से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। ब्रह्म माया से परे है। माया शून्य है, ब्रह्म यथार्थ है। यथार्थ शून्य-रिक्तता से कभी भी प्रभावित नही हो सकता। इस ससार में ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सब शून्य के समान है। ब्रह्म ही मनन करने योग्य एक मात्र सत्य है।

जगत् प्रपंच का मिथ्या रूप

यह सारा ससार मिथ्या है। यह माया का रूप है। इस मिथ्या ससार का रूप भी अनिश्चित है। यह प्रपच कालापेक्षा से 'सत्' और 'असत्' दोनो ही है। काल की दृष्टि से यह ससार असत् है क्योकि इसका अस्तित्व शाश्वत नही है। इसका स्वरूप तक तक ही दिखाई देता है जब तक सत्य ज्ञान का उदय नही होता। सत्य ज्ञान के पश्चात् यह 'तुच्छ' प्रतीत होने लगता है। फिर इसका कोई अस्तित्व ही नही रहता। यह जगत् प्रपच 'सत्' भी है। यह सत् इस अर्थ मे है कि जब तक मिथ्या ज्ञान का अस्तित्व है, यह ससार वास्त-विक दिखाई देत' है। अत अज्ञान के क्षणों तक यह यथार्थ के रूप में प्रतिभासित होता है। परन्तु क्योकि इसकी सत्ता सभी काल मे सत्य नही है, यह शाश्वत सत्ता नही है, अत यह 'असत्' है। जब यथार्थ को इसके सत्यरूप मे जान लिया तो जो असत्य है उसका स्वयमेव लोप हो जाता है। तब यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ससार न कभी था, न है, न आगे कभी रहेगा। मिथ्या दृष्टि से जो सत् प्रतीत होता है, सत्य दृष्टि से वही भ्रान्ति के रूप मे दिखाई देता है। जैसे शुक्ति मे रजत का आभास होता है तो हम रजत की सत्ता को सत्य मानकर तदनुसार कर्म करते हैं परन्तु भ्रान्ति-निवारण के साथ ही हम समझ जाते हैं कि 'रजत' (चाँदी) खड न कभी था, न है, न रहेगा। ब्रह्मानुभूति के साथ ही ससार की निस्सारता का अनुभव होने लगता है। जैसे ही इन ज्ञान का उदय होता है कि ससार मिथ्या है, हमे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हमारा पूर्वज्ञान भी मिथ्या है। यह ससार 'असत्' है, इसके सम्बन्ध मे हमारी कल्पना भी असत् है। ससार माया है। परन्तु माया का भी स्वय कोई अस्तित्व नहीं है। माया और ब्रह्म दो वस्तुएँ नहीं हैं। अद्वैत ब्रह्म की ही शाश्वत स्थिति है। इस माया की विचित्रता यह है कि यह 'सत्' के साथ स्थित दिखाई देती है। परन्तु इसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। ससार की सत्ता हमको सत् रूप में दिखाई देती है, यही माया है। सत्य वह है जो सब काल में, सभी स्थितियों मे, सत्य हो। जो किसी भी समय मे प्रमाणो से असत्य सिद्ध न हो। एक वस्तु को हम सत्य तब तक ही मानते हैं जब तक उसको कोई अन्यथा सिद्ध न कर दे, परन्तु क्योंकि ज्ञान के उदय से यह ससार मायामय प्रतीत होता है, अत इसे सत् नही कहा जा सकता।[1] ब्रह्म ही इस ससार में एक शाश्वत सत्य है, वही सत् है, वही अद्वैत रूप में स्थित है। सत्य और मिथ्या का स्वरूप समझना आवश्यक है। मिथ्या को मिथ्या प्रमाणित करने से भी हम किसी सत्य पर नहीं पहुँच सकते। सत्य स्वय अपनी सत्ता से स्थित है, इसको किसी अन्य प्रतिरोधी सत्ता की अपेक्षा नहीं है। माया के कारण ब्रह्म की सत्ता नही है। माया असत्य है, माया के

मिथ्यात्व से भी ब्रह्म प्रमाणित नही होता। सत्यज्ञान से संसार की निस्सारता, मिथ्या ज्ञान की निस्सारता और माया का असत् इन सवका स्वयमेव बोध हो जाता है।

ब्रह्म की सत्ता के लिए किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नही है, ब्रह्म स्वयं प्रकाशित ('स्वप्रकाश') है। इसका कोई रूप नही है। अतः यह इन्द्रियों से नही जाना जा सकता। हम जिन वस्तुओं को, भावनाओं आदि को अपने ज्ञान से ग्रहण करते हैं वह 'दृश्य' की संज्ञा से जाना जाता है। 'ब्रह्म' स्वयं 'दृश्य' न होकर 'द्रष्टा' है। चित् वृत्ति के क्षेत्र में आकर सारी वस्तुएँ हमारे संज्ञान द्वारा ग्राह्य होती हैं। कोई भी पदार्थ स्वयं अपने आपको प्रकाशित नही कर सकता। जव हम अपनी चित्तवृत्ति को वस्तु विशेप की ओर केन्द्रित करते हैं तो वह हमारे ज्ञान का विपय वन जाती है। ब्रह्म को भी जव तक हम उपनिपदों में वर्णित विपय के रूप में देखते हैं, हम इसे इसी प्रकार जानते हैं। परन्तु जव वह अपने सत्य स्वरूप मे देखा जाता है, तो वह साधारण वस्तुओ से पृथक् दिखाई देता है। अपने शुद्ध स्वरूप मे वह निराकार, निर्गुण, स्वप्रकाशी एव द्रष्टा के रूप मे स्थित है। ब्रह्म का कोई रूप नही है। 'दृश्यता' की कल्पना में 'जड़त्व' की भावना निहित है। जिसे हम देखते हैं उसका भौतिक आधार होना चाहिए। इस 'जड़त्व' से निश्चित है कि वह वस्तु स्वयं प्रकाशित नही है, यह उसका 'अनात्मत्व' है, इसमे ही उसका 'अज्ञानत्व' निहित है। अर्थात् हमारे ज्ञान-क्षेत्र के सारे पदार्थ जड़ एवं किसी अन्य ज्ञान से प्रकाशित हैं, वे स्वय अपने आप से प्रकाशित नही है, क्योंकि उनमें स्वय मे अपने आपको प्रकाशित करने की शक्ति नही है। हमारा ज्ञान मिथ्या है, अतः उस ज्ञान-क्षेत्र से प्रकाशित सभी वस्तुएँ मिथ्या हैं। शुक्ति में रजत की भावना जैसे असत्य है उसी प्रकार हमारे ज्ञान का तात्कालिक रूप भी असत्य है। परन्तु यह ज्ञान जव शाश्वत तत्त्व के रूप में स्थित होता है, तव शाश्वत सत्य का दर्शन करता है। शुद्ध ज्ञान पर माया का ऐसा प्रभाव होता है कि वह सीमित क्षणिक 'परिच्छिन्न' पदार्थो को यथार्थ का रूप देकर मोहाविष्ट हो स्वयं सीमित हो जाता है। परन्तु ज्ञान निस्सीम है, अनन्त है, शाश्वत है। वह वस्तु-काल की सीमाओं से वंधा हुआ नही है। ज्ञान सर्वत्र स्थित है, सभी वस्तुओं में सभी कालों मे प्रवाहित होता रहता है। इस शुद्ध ज्ञान रूप में जड़ वस्तुओं का निक्षेप माया के कारण होने से मिथ्या संसार की कल्पना सत् दिखाई देने लगती है। जैसा कहा है कि 'घटादिकम् सदर्थे कल्पितम्, प्रत्येकम् तदनुविद्धत्वेन प्रतीयमानत्वात्'। अतः ब्रह्म से भिन्न यह संसार मिथ्या है। ब्रह्म वह उपादान कारण है जिसमें इस सारी माया का निक्षेप किया गया है। ब्रह्म ही सत्य है, यह संसार प्रपंच ब्रह्म से प्रकट, ब्रह्म में अत्यन्त भाव से स्थापित मिथ्या परिभास मात्र है। जैसा कि 'चित्सुख' कहता है, 'उपादान निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व लक्षणमिथ्यात्व सिद्धिः। एक ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है।

इस दृश्यमान जगत् (सांसारिक प्रपंच) का स्वरूप

यह सांसारिक प्रपंच माया है, हमारे मन की भ्रान्ति है। परन्तु यह भ्रान्ति शुक्ति

---

1. 'अद्वैत सिद्धि' और 'मिथ्यात्वनिरुक्ति' पुस्तक देखिए।

(सीपी) मे रजत की भ्रान्ति मे भिन्न है। शुक्ति मे रजत की भ्रान्ति 'प्रातिभासिकी भ्रान्ति है जो कुछ समय पश्चात् हमारे अन्य अनुभव मे असत्य सिद्ध हो जाती है। परन्तु इस सासारिक भ्रान्ति का इस ससार मे अन्त नहीं होता, हमारा सारा व्यवहार इस भ्रान्ति के परिप्रेक्ष्य में ही होता है। अत इस भ्रान्ति को 'व्यावहारिकी' भ्रान्ति कहते हैं। जब तक ब्रह्म सम्बन्धी सत्य ज्ञान का उदय नही होता हम इस ससार को ही सत्य मानकर तदनुकूल आचरण करते हैं। अनादि काल से चले आते हुए अनादि सामूहिक अनुभव से वह भ्रान्ति और भी अधिक घनीभूत हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य का एक सा ही अनुभव होने से हम सब ससार को यथार्थ के रूप मे देखने लगते हैं। परन्तु सत्य ज्ञान होने पर एक समय ऐसा आता है जब सांसारिक प्रपचो का हमारे निकट कोई अर्थ नहीं रहता। यह सब तुच्छ दिखाई देने लगता है। तब हम सहज ही यह कह उठते है कि यथार्थ की दृष्टि से उस ससार का कोई महत्त्व नही है, यह अवास्तविक है। फिर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सब केवल एक सामूहिक भ्रान्ति मात्र है। वेदान्त के इस मत के सम्बन्ध में एक शका यह उत्पन्न होती है कि जब हम ससार को 'सत्व' रूप में अपने सामने स्पष्ट रूप से देखते हैं अर्थात् इसका सत् होना देखते हैं तो हम इसकी यथार्थता को अस्वीकार किस प्रकार कर सकते हैं वेदान्त उस शका का समाधान करते हुए उत्तर देता है कि सत्य इन्द्रियो से नही जाना जा सकता। इन्द्रिय-ज्ञान का क्षेत्र सीमित है। न इसे हम सम्यक् ज्ञान का विषय कह सकते हैं क्योकि उस महान् सत्य को जाने बिना सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। शाश्वत सत्य, अपरिवर्तनीय स्वतन्त्र और सर्वोपरि होना चाहिए। इस सत्य को इन्द्रियो के अनुभव मे नहीं जाना जा सकता। इन्द्रियाँ अनुभूति का माध्यम हैं पर उस अनुभूति की प्रामाणिकता उनके क्षेत्र से बाहर है। जो कुछ हम इन्द्रियो के माध्यम से देखते हैं वह केवल दृश्यमात्र है और यह नही कहा जा सकता कि हमारी पुन दृष्टि से जो अभी देखा है वह ऐसा ही दिखाई देगा। इन सब इन्द्रिय-विषयो के मध्य मे कभी-कभी सत्य, प्रकाश की अद्भुत चमक के समान एक क्षण के लिए कौंध जाता है। हमारी चेतना में एक क्षण के लिए जिस सत्य की चमक दिखाई देती है वही ससार का आधार है। यह 'सत्' ही वह सत्ता है जो सारे ससार के सभी भौतिक-अभौतिक तत्त्वों मे सूत्र रूपेण निहित है। यह वही 'अधिष्ठान' है जिस पर इस दृश्यमान जगत् की स्थिति है। इस सत् पर ही ससार की अवस्थिति है। यही सारे कार्यों मे अनन्त धारा के रूप मे प्रवाहित होता रहता है। अत जिसकी वास्तविक सत्ता है वह यह 'सत्' है, इसके अनेक स्वरूपो का कोई महत्त्व नहीं है। सारी भौतिक घटनाओं एव दृश्यो के भीतर यह सत् ही शाश्वत सूत्र है (एकेनैव सर्वानुगतेन सर्वत्र सत्प्रतीति)। न्याय का कथन है कि वस्तुओ का अस्तित्व उनके स्वरूप को प्रकट करता है परन्तु न्याय का यह मत सत्य नहीं है। वस्तुओ का अस्तित्व एक आभास मात्र नहीं है। इस सारे आभास का आधार एक ही सत् तत्त्व है। इस सारी भ्रान्ति और माया का 'अधिष्ठान' यह 'सत्' है जो सर्वत्र व्यापक है। सारे आभास मे इसी की स्थिति है। यह सत् 'भिन्न-भिन्न' वस्तुओं मे भिन्न-भिन्न नहीं है। एक ही सत् भिन्न-भिन्न रूप में सबमे व्याप्त है। जो कुछ हमें दिखाई देता है उसे यदि प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर सत्य मानने का विचार भी किया जाए तो हमको यह सोचना पड़ेगा कि हमारा प्रत्यक्ष कितना विश्वसु-

नीय है। अनेक बार बुद्धि द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि जो प्रत्यक्ष हमको सत्य दिखाई देता है वह वास्तविकता से अत्यन्त दूर है। उदाहरण के लिए साधारण दृष्टि से सूर्य को देखकर हम समझते हैं कि यह एक लघु पिंड है पर हमारा यह प्रत्यक्ष कितना भ्रान्तिमय है इसको सिद्ध करने की आवश्यकता नही है। अतः हमारा प्रत्यक्ष अनुभव प्रामाणिक नही माना जा सकता। संसार को हम यथार्थ मानकर यह सोच सकते थे कि इससे परे और कुछ नही है, यही सत्य है जो हमारे प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है। परन्तु श्रुति और अनुमान का संकेत इससे भिन्न है। बुद्धि से भी यह जाना जाता है कि प्रत्यक्ष सदैव सत्य ही नही होता। यह भी सत्य है कि हम अपने सारे व्यवहार के लिए अपने प्रत्यक्ष पर निर्भर हैं, उसी के 'उपजीव्य' हैं। परन्तु हमारी निर्भरता (उपजीव्यता) प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं कर सकती। किसी वस्तु की वैधता उसकी 'परीक्षा' पर निर्भर करती है। विवेचन और विश्लेपण से हम यह अध्ययन करते हैं कि हमारे विश्वासों का आधार कहाँ तक सत्य है। यह भी सही है कि सभी व्यक्तियो के साक्ष्य से इस जगत् की सत्ता और स्थिति स्पष्ट प्रकट होती है। हमारे प्रत्यक्ष के आधार पर हम जो कर्म करते हैं उसके प्रतिफल से भी सांसारिक व्यापार की वैधता सिद्ध होती है। वेदान्त भी इसे अस्वीकार नहीं करता कि सांसारिक व्यापार की स्थिति है। वेदान्त का मत यह है कि यह व्यापार शाश्वत नही है। एक समय ऐसा आता है जब यह व्यापार अर्थहीन हो जाता है। यह नाशवान है। सांसारिक वस्तुओं की उपादेयता और अनुभूति हमारे किसी अन्य अनुभव के आधार पर मिथ्या सिद्ध हो जाती है। मुक्त पुरुप के लिए यह संसार माया मात्र दिखाई देता है। ब्रह्मज्ञानी के लिए यह सारा संसार निरर्थक प्रवंचना मात्र है जो स्वयं असत्य है और जो सत्य को देखने मे व्यवधान स्वरूप है। अत. स्पष्ट है कि हमारे प्रत्यक्ष से वेदान्त दर्शन के इस मत का कि ससार मिथ्या है, माया मात्र है, खडन नही हो सकता। शास्त्रोपनिषद् सभी एक मत हैं कि हमारे प्रत्यक्ष से जो नानाविध संसार दिखाई देता है वह शाश्वत सत्य नही है।

इसके अतिरिक्त एक अन्य दृष्टिकोण से भी यह संसार असत्य दिखाई देता है। ज्ञान चेतना ('दृक्') और इस चेतना की विषय वस्तुओं ('दृश्य') मे भी कोई वास्तविक सम्बन्ध दिखाई नही देता। हमारी चेतना के द्वारा वस्तु विशेष एक क्षण के लिए प्रकाशित हो उठती है जिससे उस वस्तु का संज्ञान प्राप्त होता है। अत. ज्ञान चेतना के इस सहसा प्रकाश की कौंध मे ही हम सब वस्तुओं को देखते हैं। परन्तु चेतना और इसके क्षेत्र की वस्तुओं में कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। न तो इन दोनो में कोई 'संयोग' सम्बन्ध है न 'समवाय' सम्बन्ध है। अर्थात् पहले (संयोग) सम्बन्ध में इन दोनो वस्तुओं का योग होना चाहिए और दूसरे (समवाय) में व्याप्ति। पर इन दोनों सम्बन्धो के अतिरिक्त हमे और किसी सम्बन्ध का पता नही चलता। ससार को सारी वस्तुओं मे यही दो सम्बन्ध पाये जाते हैं।

हम कहते हैं कि अमुक वस्तु हमारे ज्ञान का विषय है। ज्ञान की इस विषयात्मकता (वस्तुनिष्ठता) से क्या अर्थ है। इसका यह अर्थ नही हो सकता कि वस्तु विशेप में मीमांसा की 'ज्ञातता' के समान कोई विशेप गुण या प्रभाव उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि ऐसा कोई गुण या प्रभाव देखने मे नहीं आया। प्रभाकर की भाँति हम यह भी नही कह सकते कि

विषयात्मकता से व्यावहारिक अर्थ (उपादेयता) का बोध होता है क्योंकि कई वस्तुएँ ऐसी हैं जिनको हम देखते हैं पर वे हमारे किसी अर्थ की नही होती। उदाहरण के लिए आकाश हमारी ज्ञान-चेतना का विषय है पर हमारे लिए उपादेय नही है। इसी तरह हम यह भी नहीं कह सकते कि यह विषय-वस्तु हमारे विचारो की उत्प्रेरक है अथवा 'ज्ञान-कारण' है। क्योंकि यह व्याख्या उन वस्तुओं के लिए सत्य हो सकती है जिनको हम इस समय देखते हैं। परन्तु अनेक वस्तुएँ ऐसी हैं जो हमारी ज्ञान-चेतना से पूर्व काल से स्थित हैं। अत जो वस्तु तत्काल ज्ञान-चेतना के क्षेत्र मे नहीं आती वह ज्ञान-कारण नहीं हो सकती। वस्तुओ की इस अभिदृश्यता (वस्तुनिष्ठता) से यह भी अर्थ नहीं हो सकता कि ये वस्तुएँ ज्ञान-चेतना पर अपना बिम्ब प्रक्षेप करती हैं, और इसलिए यह ज्ञान का विषय मानी जाती हैं। यह उन वस्तुओ के लिए तो सत्य हो सकता है जो हमारे तत्काल प्रत्यक्ष का विषय हैं, परन्तु जो वस्तुएँ अनुमान से जानी जाती हैं उनके विषय मे हम ऐसा नही कह सकते। अनुमान की विषय-वस्तुएँ बहुत दूर होने के कारण हमारी चेतना को अपने बिम्ब-प्रक्षेप से प्रभावित नहीं कर सकती। इन प्रकार हम किसी भी दृष्टि से देखने का प्रयत्न करें हमारी समझ मे नही आता कि हमारे ज्ञान का इन बाह्य वस्तुओ से किस प्रकार का वास्तविक सम्बन्ध हो सकता है। अत इन सबको देखते हुए यही कहा जा सकता है कि ससार स्वप्न मे दिखाई देने वाले प्रतिबिम्ब के समान आभास मात्र है, ऐसी ऐन्द्रजालिक माया है जो दिखाई देती है, पर जो वास्तव में सारहीन, नि स्वत्व है।

यद्यपि यह सारा ससार और इस बाह्य जगत् की वस्तुएँ माया मात्र हैं फिर भी वस्तु विशेष के प्रकाश मे आने के लिए हमारी चित्तवृत्तियाँ उस ओर प्रवाहित होनी चाहिएँ जिसके द्वारा उस वस्तु से इन्द्रिय-सम्पर्क स्थापित होता है। सरल शब्दों मे हमारी इन्द्रियाँ उस वस्तु को ग्रहण करती है जिस ओर उस क्षण मे हमारी वृत्ति का झुकाव होता है। यदि ऐसा ही है तो फिर शका यह उठती है कि हम इन सब वस्तुओ और इस बाह्य जगत् को वास्तविक क्यो नहीं मान लेते। जो वस्तुएँ हमारी इन्द्रियो के द्वारा स्थूल रूप से ग्रहण की जाती हैं, उनकी 'सत्' स्थिति होनी ही चाहिए। वेदान्त का उत्तर जटिल है। वेदान्त का कथन है कि ससार की सारी वस्तुएँ सत् का प्रतिबिंब मात्र हैं। सत् है परन्तु यह सारे माया जगत् के अधिष्ठान के रूप में है। इस सत् के ऊपर मायामय आभास की स्थिति है। यह आभास या माया हर समय विद्यमान है। इसके किस अग को क्षण विशेष में दिखाई देना है यह हमारी चित् (चेतना) पर निर्भर करता है। जिस प्रकार जिस काल जैसी हमारी वृत्ति होती है, उसी वृत्ति के अनुरूप हमे माया का स्वरूप प्रतिभासित होने लगता है। यह इस प्रकार प्रकाशित होता है जैसे किसी दीपक के प्रकाश मे अन्धकार दूर होकर किसी वस्तु का सम्पूर्ण रूप दिखने लगता है। यह दृश्य सदैव ही क्यों नहीं दिखाई देता ? वेदान्त का उत्तर है कि यद्यपि यह मायामय रूप सदैव स्थित है परन्तु यह अज्ञान के आवरण से छिपा हुआ है। हमारे अज्ञान के आवरण के हटते ही सत् पर आक्षिप्त माया रूप और मायामय प्रपच दिखाई देने लगता है। चित् (चेतना) के नियोजित करने पर तद्विषयक ज्ञान का प्रकाश एकदम फैलकर इस आवरण को हटा देता है और वस्तु दिखाई देने लगती

है । इस प्रकार हमारी ज्ञान-चेतना एक ऐसे प्रकाश के रूप में स्थित है जो सदैव प्रज्वलित रहता है इसका क्रमिक उदय नही होता । हमारी चित्तवृत्ति के माध्यम से यह प्रकशा वस्तु विशेष को प्रकाशित करता है । जब शुक्ति खण्ड में रजत की भ्रान्ति होती है तो 'दोप' न वस्तु का है' न नेत्र का है और न अन्य किसी तत्त्व का है । सारा दोप हमारी वृत्ति का है जिससे हम प्रत्येक चमकने वाली शुक्ति को रजत के रूप में देखने लगते हैं । इस भ्रान्ति में, हमारी भ्रान्ति का आधार (अधिष्ठान) चित् है जो सीपी में चाँदी को देखता है । अत भ्रान्ति का कारण हमारा अज्ञान है, उचित संज्ञान के द्वारा हम सीपी को सीपी के रूप मे देखते हैं । अत भ्रान्ति का विपय विपय-वस्तु न होकर उसका ज्ञान है । विषय-वस्तु अर्थात् शुक्ति के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है, वह ज्यों का त्यों है । हमारे मन मे भ्रान्ति तद्विपयक ज्ञान के कारण है । इस प्रकार इस भौतिक प्रकृति का आधार सत् है । 'सत्' के ऊपर आधारित इस सारे संसार में 'चित्' व्याप्त है । वृत्ति (चित्तवृत्ति या मानस वृत्ति) के प्रवाह से यह जगत् ज्ञान के प्रकाश-क्षेत्र में आकर वृत्ति के अनुरूप दिखाई देने लगता है । जैसे ही हमारी वृत्ति के सम्पर्क में आकर अज्ञान का आवरण दूर होता है हम वस्तुओं को उनके विशिष्ट रूपों में देखने लगते हैं । कभी-कभी ऐसी शंका उपस्थित की जाती है कि जब सारा संसार चित्तवृत्तियों के अनुरूप ही दिखाई देता है तो फिर इस वृत्ति के अतिरिक्त अन्य किसी अन्य ('चित्') तत्त्व के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता । क्योंकि सारा संसार अथवा जो कुछ हम देखते हैं उसका तो सारा आधार हमारी अपनी चेतन वृत्ति है । वेदान्त का उत्तर है कि हमारी चेतना वृत्ति जिस यथार्थ को देखकर उसकी व्याख्या करती है, उसका होना आवश्यक है । यदि उसका कोई अस्तित्व ही न हो तो हमारी वृत्ति का भी कोई आधार नही रहेगा । अत. यह मानना पड़ेगा कि संसार में एक अनन्त, स्वप्रकाशित सत् तत्त्व है जो हमारी चित्तवृत्तियों की परिवर्तनशील अवस्थाओं से परे है । अनेक परिस्थितियों और उपाधियों के संसर्ग मे यह सत् तत्त्व अनेक रूपों में दिखाई देता है । इस 'सत्' तत्त्व से ही माया और अज्ञान प्रकट होता है । यही सत् रूप हमारे चित् का आधार है, उस चित् का जिसके द्वारा हम 'सत्' को जानते हैं । यह चित् ही हमारी सारी वृत्तियों मे व्याप्त है । यही सत्-चित् संसार मे शुद्ध चित् रूप में अवस्थित है । वस्तुतः सारी प्रकृति मे एक ही शुद्ध चित् रूप ओतप्रोत है जो सारी प्रकृति का आधार और आधेय है । यही प्रकृति है और यही चित् मे स्थित होकर प्रकृति को प्रकाशित कर रहा है । 'दृक्' (देखने वाला) और 'दृश्य' (जो कुछ दिखाई देता है) 'द्रष्टा' और प्रकृति मे कोई अन्तर नही है । इन दोनों मे एक ही सत् व्याप्त है । इस सत् तत्त्व पर ही सारी माया का आधार है ।

कभी-कभी यह शंका प्रस्तुत की जाती है कि साधारण मनोवैज्ञानिक भ्रान्ति में वस्तु विशेष के विशिष्ट गुणों की ओर ध्यान न देने में भ्रान्ति हुआ करती है । उदाहरण के लिए जब हम सीपी को देखकर कहते हैं कि यह चाँदी का टुकड़ा है, तो हमने जिसे यह कह कर संबोधन किया है उसके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अनिश्चित है, उसके सीपी होने के विशिष्ट गुणों को हम नही देख पाए हैं, अतः उसे चाँदी समझ लिया है । परन्तु ब्रह्म जो शुद्ध चित् स्वरूप है किसी प्रकार के निश्चित अथवा अनिश्चित गुण रूप नहीं है, वह निर्गुण है अतः

भ्रान्ति का कोई प्रश्न नही उठता। वेदान्त का उत्तर यह है कि जब ब्रह्म संसार के आधार (अधिष्ठान) के रूप मे स्थित होता है, तो उसका केवल 'सत्' रूप होता है। चित् रूप और आनन्द रूप उस समय अप्रकाशित रहता है। चिदानन्द रूप ब्रह्म का विशिष्ट रूप है। इस विशिष्ट रूप को न देख पाने में ही हमें भ्रान्ति होती है। माया का आवरण सत् रूप के ऊपर छाया हुआ है। जब ससार की किसी वस्तु को देखते हैं तो हम 'सत्' के वाह्य रूपों को देखकर उसी से अभिभूत हो जाते हैं। ससार के वाह्य आवरणो के नीचे जो एक सत् रूप व्याप्त है, हम उसको भी न देखकर केवल उसके अनेकविध वाह्य माया रूपो को देखकर उन्ही को सत्य मानकर व्यवहार करते हैं। हमारी पार्थिव चेतना मे ब्रह्म का सत् स्वरूप भी प्रकट नहीं हो पाता। जब हम यह कहते हैं कि यह घडा है तो 'यह' जिस 'सत्' को प्रकट करता है वह सत् का वाह्य रूप है। सत् एक है। यह एक ही सत् वाह्य प्रपच के अनेक रूपो में दिखाई देता है। ब्रह्म के सच्चिदानन्द रूप को न जानने के कारण ही भ्रान्ति हुआ करती है।

पुन यह कहा जाता है कि,जब यह जगत् हमारे सारे व्यावहारिक कर्मों के लिए पर्याप्त है और जब अन्य किसी वस्तु की इस ससार से परे आवश्यकता नही है, इसको ही यथार्थ मानना चाहिए। फिर इस ससार को ही सत् समझना उचित है। वेदान्त का कथन है कि बहुधा भ्रान्तिमय प्रत्यक्ष से भी अनेक व्यावहारिक क्रियाएँ सम्पन्न हो जाती हैं। जैसे रस्सी को जब हम सर्प के रूप मे देखते हैं तो उसमे वैसा ही भय लगता है, जैसाकि वास्तविक साँप को देखकर लगता है। स्वप्नो को देखकर हम दुख और सुख का अनुभव करते हैं। कभी-कभी स्वप्न के भय से हम जड़ीभूत हो जाते हैं, परन्तु हम इनको यथार्थ के रूप मे कदापि स्वीकार नहीं करते। अनादिकाल से सचित सस्कारो के कारण भ्रान्ति उत्पन्न होती रहती है। जैसे हमारी जाग्रत अवस्था मे अनुभूत प्रत्यक्ष के अन्तर्मन पर पडे सस्कारों से स्वप्नों की सृष्टि होती है, उसी प्रकार पूर्वजन्म के शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार हमारे सस्कारों का निर्माण होता है और तदनुकूल इस जन्म मे हमारी भोगानुभूति का विनिश्चयन होता है। प्रत्येक व्यक्ति के अपने कर्मो के अनुसार ही इस ससार में उसके अनुभूति-क्षेत्र का निर्माण होता है। एक व्यक्ति के सस्कारों से दूसरे व्यक्ति का अनुभूति-क्षेत्र अथवा भाग का विनिश्चयन नही हो सकता। परन्तु यह भोगानुभूति उसी प्रकार मिथ्या है जिस प्रकार स्वप्नानुभूति मिथ्या होती है। परन्तु साथ ही इस दृश्यमान जगत् की अनुभूति को हम केवल व्यक्तिनिष्ठ स्वानुभूति नही कह सकते। मनुष्य के अपने व्यक्तिगत सज्ञान के पूर्व भी इस प्रकृति का प्रवाह अनादिकाल से इसी प्रकार चला आ रहा है जिसका हमको स्वय कोई ज्ञान नहीं है। हमारे अपने अस्तित्व से अथवा अनुभूति से इस प्रकृति-प्रवाह पर कोई प्रभाव नहीं पडता। यह सांसारिक प्रपच इसी प्रकार युगों से चला आ रहा है (स्वेन अध्यस्तस्य संस्कारस्य वियदाद्यध्यासजनकत्वोपपत्तेः तत्प्रतीत्यभावेपि तदध्यासस्य पूर्वम् सत्त्वात् कृत्स्नस्यापि व्यावहारिक पदार्थस्य अज्ञात सत्त्वाभ्युपगमात्)।

कभी-कभी यह शका भी की जाती है कि अधिष्ठान (भूमि) और भ्रान्त कल्पना की वस्तु मे (मिथ्याज्ञात वस्तु) सादृश्य होने से भ्रान्ति उत्पन्न होती है। जैसे सीपी (अधिष्ठान) और कल्पना-वस्तु चाँदी में सादृश्य होने से भ्रान्ति होती है। परन्तु अधिष्ठान

रूप ब्रह्म और सांसारिक प्रपंच में कोई साम्य या सादृश्य नही है अतः भ्रान्ति का कोई प्रश्न नही उठता। लेकिन वेदान्त का उत्तर है कि भ्रान्ति केवल सादृश्य के ही कारण नहीं अन्य दोषों से भी भ्रान्ति हो जाती है। जैसे पित्त के आधिक्य से श्वेत शंख पीला दिखाई देता है। सादृश्य के कारण वस्तु विशेष की पूर्व स्मृति के संस्कार मन में स्पष्ट हो उठते हैं और इस प्रकार भ्रान्ति उत्पन्न होती है, परन्तु सादृश्य के अतिरिक्त भी अन्य कारणों से पूर्व संस्कारों की स्मृति जाग्रत हो जाती है। कभी-कभी 'अदृष्ट' से भी मनुष्य माया में फँसता है। यह अदृष्ट पूर्व-जन्म के शुभ-अशुभ कर्मो के कारण बनता है। इस 'अदृष्ट' को हम साधारण दृष्टि से नहीं देख पाते। साधारण भ्रान्ति के लिए किसी दोष की आवश्यकता है, परन्तु इस सांसारिक माया-भ्रान्ति के लिए किसी दोष की अपेक्षा नही है क्योकि अनादि-अनन्त काल से इसी प्रकार चली आ रही है और इसका एकमात्र कारण 'अविद्या' है जिससे हम सांसारिक माया-मोह में फँस कर ब्रह्म के वास्तविक सत् रूप को माया के आवरण में नहीं देख पाते। ब्रह्म ही वह अधिष्ठान है जिस पर माया का अवलम्ब है। माया-ससार में भी वही ब्रह्म अपने तेज स्वरूप में स्थित इस माया रूप को प्रतिभासित कर रहा है। माया के आवरण में भी वह स्वप्रकाशित ब्रह्म ही सारी माया के प्रत्यक्ष का कारण और आधार है। इस आधार (अधिष्ठान) को इसके सत्य स्वरूप मे देखने के लिए चित्तवृत्ति पर से अविद्या का आवरण हटाने की आवश्यकता है। जैसे ही इस सारे संसार के अधिष्ठान सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म का दर्शन होता है, माया स्वयमेव नष्ट हो जाती है। तेजस्वी स्वयं प्रकाशित परमब्रह्म को जैसे ही हम उसके सत्य स्वरूप में प्राप्त करते है वैसे ही माया का लोप हो जाता है।

अज्ञान की परिभाषा

सारी माया-भ्रान्ति का कारण अज्ञान है। यह अज्ञान अनादि है, यह भावरूप (जिसकी स्थिति है) परन्तु ज्ञान के द्वारा इसे दूर किया जा सकता है। अज्ञान के लिए कहा है 'अनादि-भावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम्।' समयापेक्षा से जितनी वस्तुएँ सादि (जिनका प्रादुर्भाव होता है) हैं, उन सबमें यह अनादि अज्ञान प्रकट होता है। सारे भौतिक पदार्थ इस अज्ञान-अन्धकार के आवरण से आवृत्त हैं। किसी भी वस्तु के प्रत्यक्ष के लिए अज्ञान को दूर करना आवश्यक है। अज्ञान 'चित्' का ही अभावात्मक रूप है और चित् के समान ही अनादि है। अज्ञान चित् से संपृक्त है। जहाँ ज्ञान नही है वहाँ अज्ञान है, 'चित्' की स्थिति अनादि अनन्त है। 'अज्ञान' भी चित् का ही अन्यथा रूप है। यह भावरूप है। 'भाव' यहाँ अभाव का विलोम न होकर अभाव से भिन्नता सूचित करता है (अभावविलक्षणत्व मात्रम् विवक्षितम्)। परन्तु अज्ञान की स्थिति अन्य पार्थिव वस्तुओ की स्थिति से भिन्न है। अज्ञान को भावरूप मे कहने का कारण एकमात्र यह है कि यह अभाव नही है। परन्तु साधारण भौतिक वस्तु के समान इसका पार्थिव भाव भी नही है। कभी-कभी यह शंका की जाती है कि अज्ञान किसी क्षणिक दोष से भ्रान्ति के रूप में उत्पन्न होता है अतः यह अनादि नहीं है। वेदान्त का मत है कि अज्ञान का कल्पनात्मक भ्रान्ति होने का अर्थ यह

नहीं है कि यह क्षणिक है। अज्ञान को क्षणिक तभी कहा जा सकता था जबकि इसका आधार माया (जिसका इस अज्ञान से सम्बन्ध है) भी क्षण भर के लिए ही उत्पन्न होती, परन्तु जैसे माया-प्रवाह का कोई आदि नही है, उसी प्रकार अज्ञान भी अनादि है। जैसे इसका अधिष्ठान चित्‌रूप ब्रह्म अनादि है उसी प्रकार ब्रह्म सम्बन्धी अज्ञान भी अनादि है। चित् ही सारी माया का आधार है, चित् सर्वदा भावी है, अत अज्ञान भी सदैव स्थित रहता है और इस प्रकार अनादि है। अज्ञानावरण से प्रत्येक वस्तु आच्छादित है, सारी अस्पष्टता, अनिश्चितता इसी अज्ञान के कारण हैं। अत यह अज्ञान न भाव है, न अभाव। यह निश्चयात्मकता से परे है। सभी कुछ अस्पष्ट, भ्रान्त व अनिश्चित है, यही अज्ञान का स्वरूप है जिसके कारण हम ससार मे भाव-अभाव की स्थिति को यथार्थ रूप मे नहीं देख पाते। परन्तु यह अज्ञान ज्ञान के द्वारा दूर किया जा सकता है। यद्यपि यह अनादि है परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि इससे मुक्त नही हुआ जा सकता। ज्ञान से सभी भ्रान्तियाँ और माया दूर हो जाती है। कुछ वेदान्तियो का मत है कि अज्ञान मायातत्त्व है। उनके अनुसार यद्यपि इसकी निश्चित भावात्मक सत्ता नही है परन्तु यह निश्चित रूप से वह तत्त्व है जिससे माया साकार होती है। यह आवश्यक नहीं है कि किसी वस्तु का आधार तत्त्व कोई निश्चित तत्त्व ही हो। किसी भी उपादान कारण तत्त्व के लिए केवल यह आवश्यक है कि मूल तत्त्व का भिन्न अवस्थाओ मे परिवर्तन नहीं होना चाहिए। यह भी सत्य नही है कि जिसका भाव है वही तत्त्व अनेक परिवर्तनो मे स्थित रहता है। जो भाव के लिए सत्य है वह अभाव के लिए भी सत्य है। अतः माया असत् है, माया का कारण अज्ञान भी असत् है और ये दोनो ही अनादि हैं।

प्रत्यक्ष और अनुमान से अज्ञान की सत्ता की स्थापना

जिस अज्ञान की परिभाषा हम यह कहकर करते हैं कि यह अनिश्चित है, इसका न भाव है, न अभाव, उसको हम प्रत्यक्ष अनुभव से भी जानते हैं। जब हम यह कहते हैं कि 'मैं अपने आपको या किसी को नहीं जानता' तो हम अज्ञान को प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि 'मैं गहरी निद्रा मे सो रहा था, मुझे कुछ पता नही है' तब भी हम अज्ञान की स्पष्ट सत्ता स्वीकार करते है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष मे हम किसी निश्चित भाव की कल्पना नही करते, न हम किसी निश्चित गुण रूप की बात कहते हैं और न हम किसी अभाव की ही कल्पना करते हैं। परन्तु फिर भी हम एक निश्चित बात कहते हैं कि मुझे अपने आपका कुछ पता नही है। यहाँ एक शंका यह उत्पन्न होती है कि 'मैं नहीं जानता' से किसी अनिश्चित 'अज्ञान' का अर्थ है, तात्पर्य यह है कि मुझे अमुक वस्तु का 'ज्ञान' नही है। यहाँ 'ज्ञान' के 'अभाव' से अर्थ है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वेदान्त का कथन है कि 'अभाव' मे एक निश्चित भाव है। यह किसी निश्चित वस्तु के अभाव का द्योतक है अतः 'अभाव' शब्द किसी वस्तु विशेष के गुण धर्म को ध्यान मे रखते हुए, उसके न होने का परिचायक है। परन्तु जब हम यह कहते हैं कि 'मैं नहीं जानता' या मुझे इसका कोई ज्ञान नहीं है तो उससे अर्थ एक अनिश्चित, वस्तुहीन अज्ञान से है जिसमे किसी विशेष

वस्तु के अभाव की संकल्पना नहीं होती। साथ ही यह अनिश्चित अज्ञान भावरूप भी है, क्योंकि 'अभाव' नही है। अभाव रूप न होने से 'भावत्व' स्पष्ट है। परन्तु यह 'भावत्व' अन्य पार्थिव वस्तुओं के 'भावत्व' से भिन्न है क्योकि यह अज्ञान-भाव केवल एक अनिश्चित, गुण-रूप विहीन न जानने की कल्पना है। अभाव का अर्थ सभी वस्तुओं के (सर्व साधारण) अभाव से न होकर विशिष्ट वस्तु के अभाव से हुआ करता है। उदाहरण के लिए यदि यह कहा जाए कि अभाव से अर्थ सामान्य अभाव से है तो भूमि पर घड़ा होते हुए भी हमको उसका अभाव मानना पड़ेगा, परन्तु ऐसा नही है। अतः विशिष्ट वस्तु के अभाव का अर्थ किसी सर्व सामान्य अभाव से नही है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि सामान्य अभाव-कल्पना विशिष्ट वस्तु से सम्बन्धित न होने से हमारी चेतना ग्रहण नही कर सकती। किसी भी अभाव की चेतना की उपलब्धि के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी निश्चित वस्तु के अभाव की द्योतक होनी चाहिए। अतः सामान्य अभाव मे विशिष्ट ज्ञान का कोई अर्थ नही रहता। सामान्य अभाव से अर्थ होगा किसी भी वस्तु का ज्ञान न होना। परन्तु 'अज्ञान' इससे भिन्न है। किसी वस्तु का ज्ञान होने पर भी 'अज्ञान' स्थित रह सकता है। अनेक वस्तुओ को जानते हुए भी 'अज्ञान' स्थिर रहता है। इस दृष्टि से यह कहना अनुचित नही होगा कि जब हम यह कहते हैं कि 'मैं नहीं जानता' तो यह एक विशिष्ट प्रकार का प्रत्यक्ष (उपलब्धि) है जो अनिश्चितता अथवा अज्ञान का सूचक है। हमारा यह भी अनुभव है कि हम यह जानकर कि इस विषय मे हमको निश्चित रूप से अज्ञान है, हम उस अज्ञान को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि अज्ञान का प्रत्यक्ष 'अभाव' के प्रत्यक्ष से भिन्न है। हमारी प्रत्यक्ष-चेतना (साक्षी चैतन्य) कुछ इस प्रकार की है कि यह ज्ञान और अज्ञान दोनो को ग्रहण करती है, दोनों को ही उनके अनेक रूपो में समझने में समर्थ है। हमारी चित्तवृत्ति जब एक दिशा में प्रेरित होती है तो हम उस वस्तु के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करते है जिसे 'वृत्तिज्ञान' कह सकते हैं। 'वृत्तिज्ञान' अज्ञान का विरोधी है। हमारे चैतन्य मन मे जो सभी वस्तुओं का प्रत्यक्षकर्त्ता (साक्षी चैतन्य) है ऐसी विशिष्टता है कि वह सारे 'भाव' को निश्चित ज्ञानात्मक रूप में अथवा अनिश्चित अज्ञान के रूप में ग्रहण करता है। परन्तु यह 'अभाव' को समझने मे असमर्थ है, क्योकि 'अभाव' प्रत्यक्ष नहीं है। 'अभाव' में किसी प्रकार का प्रत्यक्ष नहीं होता, यह वास्तव में प्रत्यक्ष की अनुपस्थिति अथवा 'अनुपलब्धि' है। परन्तु जब मैं यह कहता हूँ कि 'मैं नही जानता' तो अन्तश्चेतना में स्पष्ट ही नही जानने का प्रत्यक्ष होता है। न्याय-दर्शन की दृष्टि से एक और विशेष प्रकार की शंका उपस्थित की जाती है कि 'विशेषण' के बिना विशेष्य (विशिष्ट) का ज्ञान सम्भव नहीं है। वस्तु को जाने बिना उसके विषय में चेतना में किसी प्रकार का अनिश्चय नही हो सकता। वेदान्त का उत्तर है कि यह कथन मान्य नही है कि 'विशेषण' के बिना विशिष्ट वस्तु का ज्ञान सम्भव नही है। कई अवस्थाओं में हम पहले वस्तु को देखते हैं और फिर उसके गुण स्वभाव को जानते हैं। यहाँ 'अभाव' एक निश्चित अतिरिक्त तत्त्व न होकर केवल 'भाव' का ही अन्य रूप है। इस तर्क से नैयायिक भी सहमत होंगे कि जब हम यह कहते हैं कि 'यहाँ घड़े का अभाव नहीं है' तो हम किसी अभाव की अतिरिक्त तत्त्व के रूप में कल्पना

नहीं करते, क्योंकि घडा हमारे सामने पहले से ही स्थित है। जिस प्रकार उन वस्तुओ के सम्बन्ध मे हमे भ्रान्ति होती है जो अस्तित्वमय है जिनका निश्चित 'भाव' है, उसी प्रकार उन वस्तुओ के सम्बन्ध मे भी भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है, जिनका अभाव है। जैसे मृग-मरीचिका मे जल के अभाव मे जल की भ्रान्ति होती है। अत यह मानने मे कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि अभाव भी माया के कारण अनेक रूपो मे मन को भ्रान्त करता है। इस प्रकार अभाव का विषय भी भावरूप होने से यह कथन अमान्य नही कहा जा सकता कि 'मैं नही जानता' में किसी प्रकार का निश्चित प्रत्यक्ष नही है। इस वाक्य मे अनिश्चित अज्ञान का प्रत्यक्ष स्पष्ट है। इसी प्रकार 'मुझे पता नहीं है कि तुम क्या कहते हो' इस वाक्य मे किसी 'अभाव' का प्रत्यक्ष नही है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो पहले यह जानना आवश्यक था कि वक्ता ने निश्चित शब्दो मे क्या कहा है और यदि यह जान लिया है, तो यह उक्ति असम्भव है कि 'मैं नही जानता कि तुम क्या कहते हो।'

इसी प्रकार जब हम गहरी निद्रा से जगकर यह कहते हैं कि, 'मैं बडी देर से सो रहा था, मुझे कुछ पता नहीं है।' तो यह भी निद्रा मे अनिश्चित अज्ञान का प्रत्यक्ष है। कुछ लोगो का कथन है कि निद्रा में किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सम्भव नही है। जो कुछ जाग्रत अवस्था मे निद्रा की अवस्था के बारे मे कहा जाता है वह अनुमान मात्र है। अत यह कहना कि मुझे निद्रा के कारण कुछ पता नहीं है, अनुमान के आधार पर कहा जाता है। पर यह कथन असत्य है। जाग्रत अवस्था मे यह अनुमान करने का कोई आधार नहीं है कि सुषुप्तावस्था मे इन्द्रियो ने अपना सक्रिय व्यापार बन्द कर दिया था। दोनो अवस्थाओ मे किसी प्रकार की सहव्याप्ति नहीं है। निद्रा की अवस्था मे चित्वृत्ति में अनिश्चित 'अज्ञान' की अवस्था होती है और जाग्रत अवस्था मे उस अज्ञान के 'सस्कार' के आधार पर मनुष्य यह कहता है कि 'मुझे कुछ पता नही है'। यह निद्रावस्था में अज्ञान का प्रत्यक्ष है। यह 'ज्ञान भाव' के अभाव का द्योतक नही है, पर एक अन्य प्रत्यक्ष है। किसी वस्तु का ज्ञानभाव उस वस्तु के भौतिक अस्तित्व का परिचायक है। उसका विरोधी अभाव उस वस्तु विशेष के न होने का सूचक है। अत यह भावना कि मुझे कुछ पता नहीं है, इससे भिन्न प्रकार की अवस्था का प्रत्यक्ष है, जो जाग्रत और सुषुप्त दोनो अवस्थाओं में अज्ञान का सज्ञान कराता है।

'अज्ञान' की उपस्थिति का अनुमान इससे भी किया जा सकता है कि जब हम किसी विशेष सदर्भ में उस विषय का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, जिसके बारे मे हमने पहले यह कहा था कि हमको इस सम्बन्ध मे कुछ पता नही है, तो उस अज्ञान का निवारण हो जाता है। जैसे अधकार में प्रकाश की किरण प्रकट होती है उसी प्रकार अज्ञान अन्धकार के आवरण को हटाने वाले ज्ञान के प्रकाश का उदय होता है।[1] इसके अतिरिक्त अज्ञान के कारण ही माया की उत्पत्ति होती है। अज्ञान ही सारी भ्रान्ति का आधार है, अज्ञान ही

1 इस प्रसग में 'पचपादिका-विवरण', 'तत्त्वदीपन' और 'अद्वैतसिद्धि' नामक ग्रन्थ देखिए।

माया तत्त्व है। ब्रह्म को हम माया-तत्त्व नही कह सकते, क्योंकि वह शाश्वत, अपरिवर्तनशील, अनन्त तत्त्व है। इस अज्ञान के कारण ही वह हमको अपने सत्, चित्, आनन्द रूप मे प्रकट नही हो पाता। यदि अज्ञान नही होता, तो हमको वह सदैव ही प्रत्यक्ष दिखाई देता। यह अज्ञान हमको अपनी 'साक्षीचेतना' से, जिससे हम सभी सांसारिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हैं, दिखाई देता है। यह 'साक्षी चेतना' हमारे शुद्ध 'चित्' से भिन्न है। शुद्ध 'चित्' रूप ही 'अविद्या' के कारण 'साक्षीचेतना' के रूप में प्रकट होता है जिससे हम ससार के माया-व्यापार का प्रत्यक्ष करते रहते हैं। जैसे ही इस अविद्या का नाश होता है, शुद्ध चित् रूप सच्चिदानन्द ब्रह्म प्रकट हो जाता है।

'अज्ञान' 'अहंकार' और 'अन्तकरण' की संस्थिति और कार्य

'अज्ञान' का आधार 'चित्' है। 'चित्' प्रकाशमय है। जब शुद्ध चित् रूप मनुष्य की चित्तवृत्तियों द्वारा धारण किया जाता है तो अज्ञान का विनाश हो जाता है। इसके पूर्व चित् अज्ञान के आवरण मे छिपा रहता है। अज्ञान का अधिष्ठान शुद्ध चित् रूप है, माया के अभिभूत 'अहम्' या 'मैं' के पीछे जो 'चित्' है, वह स्वयं अज्ञान से उत्पन्न होता है। अर्थात् अहम्-भावना अज्ञान के कारण उत्पन्न होती है। परन्तु वाचस्पति मिश्र का कथन है कि शुद्ध चेतन रूप अज्ञान का आधार नही है। अज्ञान का आधार 'जीव' है। माधवाचार्य इन दोनों दृष्टियों का समन्वय करते हुए कहते हैं कि अज्ञान के कारण जीव के द्वारा चिन्मय रूप को देखने में बाधा पहुँचती है अतः वे इसे 'चित्' पर आश्रित होते हुए भी जीवाश्रित मानते हैं जैसा उन्होने 'विवरण प्रमेय' पृष्ठ 48 पर कहा है—चिन्मात्राश्रितम् अज्ञानम् जीवपक्षपातित्वात् जीवाश्रितम् उच्यते। यह भावना कि 'मैं कुछ नहीं जानता' अह और साक्षी चेतना के संयोग से उत्पन्न हुई प्रतीत होती है पर ऐसा है नहीं। वास्तव मे अन्तःकरण और अज्ञान के निकट सम्पर्क के कारण ऐसी भावना हमारे अन्दर होती है।

अज्ञान चित् पर आश्रित है और चित् ही इसका विषय है। स्वयप्रकाश-चित् अज्ञान के आवरण मे छिपा रहता है। इस आवरण से चित् के स्वप्रकाश स्वरूप में किसी प्रकार का ह्रास नहीं होता। न इस अज्ञान से 'चित्' रूप ब्रह्म का किसी प्रकार का अवरोध होता है और न अज्ञान चिन्मय ब्रह्म के किसी भी कार्य मे बाधा डाल सकता है। स्थिति यह है कि इस अज्ञान के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि न तो कोई स्वयंप्रकाशचित् नाम की वस्तु है और न उसका किसी प्रकार का प्रकाश्य रूप है—'नास्ति न प्रकाशते इति व्यवहारः। ब्रह्म अज्ञान के कारण छिपा हुआ है इसका यही अर्थ है कि अज्ञान की ऐसी योग्यता है (तद्योग्यता) कि वह ब्रह्म को उसी प्रकार छिपा लेता है जैसे निद्रा में हमारी ज्ञान-चेतना में किसी भी वस्तु का बोध नही होता। मनुष्य अज्ञान के कारण सुषुप्तावस्था में रहता है। जिससे यह यथार्थ को नही देख पाता। इस प्रकार अज्ञान के कारण सत्य का प्रकाश हम तक नही पहुँच पाता। यह अज्ञान न केवल चिन्मय रूप को, प्रत्युत ब्रह्म के आनन्द रूप को भी हमसे दूर रखता है जिससे हम क्षणिक भौतिक आनन्दों को ही सर्वोपरि सुख मानकर ब्रह्मानन्द से वंचित रहते हैं। अज्ञान के अनेक रूप है, अज्ञान एक होते हुए भी अनेक

प्रकार से हमारे अनुभव और व्यक्तित्व को आच्छादित किये रहता है। अज्ञान के इन अनेक रूपों को 'अवस्थाज्ञान' या 'तुलाज्ञान' कहते हैं। 'वृत्तिज्ञान' या ज्ञान-चेतना से अवस्थाज्ञान का नाश होकर यथार्थ का ज्ञान होता है ।

अज्ञान की प्रमुख भूमिका यह है कि वह शुद्ध चित् पर आवरण डालता है। अज्ञान के कारण ही मनुष्य मे अहकार ('अहम्' भावना) का जन्म होता है। मनुष्य का अहम् उसकी आत्मा, शरीर, पूर्व सस्कार, अनुभव और चित् का सयुक्त रूप है। अल्पज्ञ, पार्थिव सीमाओं मे आवद्ध इस अहम् के कारण ही अपार्थिव, निस्सीम, निर्गुण स्वन प्रकाश ब्रह्म को हम नहीं देख पाते। अनादि काल से चले आते हुए दूषित सस्कार और जन्म-जन्मान्तरो की प्रपचमयी वासनाएँ वास्तव और अवास्तव, सत्य और मिथ्या 'अन्त करण' मे सचित होती रहती हैं और ये हमारे अहम् को परिपुष्ट करती रहती है। हमारी प्रकाशमय आत्मा का ही अन्त करण वह रूप है जहाँ इन सब वासनाओ का और तज्जनित सस्कारो का निवास है। यह अन्त करण ही चित् के साथ अहम् का रूप धारण करता है । यह चित् हमारी 'साक्षी-चेतना' है। अत हम अहम् के दो स्वरूप देखते हैं। एक वह जो अपरिवर्तन-शील चित् रूप आत्म तत्त्व है, दूसरा वह जो अन्त करण है जो सारे सुख-दु ख, सवेदनाओ के साथ सम्बन्धित है, जिसमें सारी अनुभूतियो का निवास है, जो अशाश्वत परिवर्तनशील तत्त्व है। यह अन्त करण और चित् रूप साक्षी चेतना (आत्मा) दोनों ही मिलकर एक हो जाते हैं। जैसे हम जब यह कहते हैं कि यह लोहपिंड आग मे धधक रहा है तो अग्नि और लोहपिंड दोनों को एक साथ हम समझते हैं पर वास्तव मे वे दोनो अलग-अलग तत्त्व हैं । इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि 'मैं देखता हूँ' तो आत्मा का चित् रूप और अन्त करण दोनों आत्मा के अलग-अलग भाग के रूप में होते हैं, इन दोनो का सयोग हो जाता है। अत वे साधारण दृष्टि से एक ही दिखाई देते हैं। सुख-दु ख आदि, भौतिक परिवर्तनशील पदार्थ आदि, ये सब अन्त करण के भाग हैं और अपरिवर्तनशील चेतना चित् का भाग है जो साक्षी चैतन्य है। इस प्रकार अहम् कल्पना के दो भाग हैं एक सत् तत्त्व है और दूसरा असत् (अयथार्थ)।

प्रभाकर का मत है कि आत्मा और अन्त करण को हम भिन्न-भिन्न नही मान सकते। जलते हुए लोहपिंड की उपमा यहाँ अनुचित्त प्रतीत होती है क्योंकि अग्नि और लोहपिंड को हम भिन्न तत्त्वो के रूप में स्पष्टरूपेण देखते हैं, पर आत्मा और अन्त करण अलग-अलग कभी नहीं दिखाई देते। आत्मा स्वय प्रकाशित तत्त्व नहीं है। वास्तव मे ज्ञान की ऐसी क्षमता है कि यह एक ही क्षण मे ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता को प्रकाशित कर देता है। (त्रिपुटी सिद्धान्त) 'अनुभव' अथवा प्रत्यक्ष एक ऐसे प्रकाश की भाँति हैं जो वस्तु और आत्मा दोनो को स्पष्ट कर देता है तथा इसे किसी अन्य सहायता की अपेक्षा नहीं है। वेदान्त का इस मत से विरोध है। वेदान्त का कथन है कि प्रभाकर के मतानुसार ज्ञान और आत्मा मे किसी सम्बन्ध का प्रश्न ही नही उठता। यदि यह कहा जाए कि ज्ञान अपने आपको स्वय प्रकाशित करता है तो यही बात आत्मा के लिए भी कही जा सकती है। सत्य यह है कि चित् रूप आत्मा और ज्ञान मे कोई अन्तर नहीं है। कुमारिल 'अनुभव' (विचार

प्रत्यक्ष) को एक क्रिया के रूप में मानते हैं और प्रभाकर तथा न्याय दर्शन इसे आत्मा के गुण के रूप में देखते हैं।[1] परन्तु यदि यह 'अनुभव' अन्य क्रियाओं की भाँति एक क्रिया मात्र है तो यह अपने आपको प्रकाशित नहीं कर सकती। यदि यह तत्त्व है और परमाणु रूप है तो फिर यह एक वस्तु का अति सूक्ष्म भाग ही प्रकाशित कर सकती है। यदि यह सर्वव्यापक है, तो सभी वस्तुओं को एक साथ ही प्रकट कर देगी। यदि यह मध्याकार है तो इसे अन्य भागों की अपेक्षा होगी, न यह पूर्ण हो सकेगी और इस प्रकार इसे आत्मा की आवश्यकता नही होगी। यदि यह प्रकाश की भाँति आत्मा का गुण है तो भी यह मानना पड़ेगा कि यह आत्मा से उत्पन्न है। इस प्रकार सभी दृष्टियों से यह मानना पड़ता है कि आत्मा स्वप्रकाशित अस्तित्व है। अपने ज्ञान में किसी को भी सन्देह नहीं होता, सभी उसको सत्य मानते हैं। आत्मा ही वह है जिसे 'विज्ञान' कहा जाता है जो सदैव प्रकाशमय है शुद्ध बुद्ध चैतन्य है।[2]

जाग्रत और सुपुप्त अवस्था में 'चित् सर्वदा विद्यमान रहता है। पर प्रगाढ़ निद्रा मे अहंकार का लोप हो जाता है। गहरी नींद में अन्तःकरण और अहंकार दोनों ही अज्ञान मे समाविष्ट हो जाते हैं और केवल आत्मा और अज्ञान विद्यमान रहते है। पुनः जगने पर अन्तःकरण की वृत्ति के रूप में अहंकार फिर से उत्पन्न हो जाता है और तव यह अहं अज्ञान के प्रत्यक्ष को इन शब्दों में प्रकट करता है कि मैं गहरी तंद्रा मे निमग्न था, मुझे कुछ पता नही था। यह 'अहंकार', 'अन्तःकरण' की 'वृत्ति' है और 'अविद्या' के कारण उत्पन्न होती है। यह अहंकार आत्मा पर प्रतिस्थापित 'ज्ञान-शक्ति' और 'क्रिया-शक्ति' के रूप मे प्रकट होता है। इस अहंकार की क्रिया-शक्ति के कारण ही आत्मा सक्रिय तत्त्व के रूप में दिखाई देता है। अहं की माया से आत्मा आवृत्त होकर ऐसी प्रतीत होती है कि वही जव कार्यों को कर रही है, पर आत्मा चित् रूप है, अन्तःकरण की क्रियाशील तत्त्व 'अहं' पुरातन वासना संस्कारों से प्रेरित आत्मा पर सवार हो अनेक प्रकार के खेल खेलता है। यही अन्त.करण सन्देह-विवेक के सन्दर्भ में 'मन' ज्ञान की निश्चित उपलब्धि क्षमता के रूप मे 'बुद्धि' और धारणा शक्ति के रूप में 'चित्' नाम से जाना जाता है। अर्थात् 'मन' बुद्धि और चित् अन्त करण के ही विभिन्न रूप हैं।[3] इस अन्त.करण के संयोग से शुद्ध चित् रूप जव प्रकाशित होता है तो वह 'जीव' कहलाता है। उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि

---

1 न्याय के अनुसार आत्मा 'चित्' के सम्पर्क के कारण ही चेतन है परन्तु यह स्वयं 'चित्' नही है। उपयुक्त संयोग के कारण ही आत्मा चेतन है। आत्मा के स्वप्रकाशित होने के खडन मे न्याय मंजरी (पृ० सं० 432) मे कहा गया है—
''सचेतनश्चिता योगात्तद्योगेन विना जड़ः।
नार्थावभासादन्यद्धि चैतन्यम् नाम मन्महे॥

2 'न्याय मकरंद' पृ० 130, 140 चित्सुख और विवरण प्रमेय संग्रह' पृ. 53, 58 देखिए।

3 'वेदान्त परिभाषा' पृ० 88 वम्बई संस्करण देखिए।

अज्ञान कोरी काल्पनिक वस्तु नही है, सत् के आश्रय पर अज्ञान की स्थिति है, सारे प्रकृति प्रपच मे अन्तर्निहित मूल तत्व यह अज्ञान ही है। अर्थात् इस माया-प्रपच का कारण मूल अज्ञान है। शुद्ध चित् के द्वारा ही अज्ञान का वास्तविक रूप दिखाई देता है। इस माया प्रपच के नीचे सत्-चित्-रूप छिपा हुआ है वह भी इसी अज्ञान की गति से स्पष्ट होता है जब अन्त करण में शुद्ध वृत्ति के द्वारा ही हमें सत् चित् रूप दिखाई देता है। जीव के साथ ही अनादि काल से अनेक सशय, धर्म, अधर्म, संस्कारादि अनेक वृत्तियो को धारण करने वाला अन्त करण भी सलग्न हो जाता है और अनेक जन्म-जन्मान्तरों मे पूर्व सस्कारो के आधार पर नवीन माया-सृष्टि से उद्भ्रान्त होता रहता है।

अनिर्वाच्यवाद और वेदान्त की तर्क-पद्धति

वेदान्त के अनुसार अज्ञान के प्रत्यक्ष मे कोई कठिनाई नही है। इस विश्व मे केवल दो वर्ग हैं, एक सत् स्वप्रकाशित, तेजोमय, स्वत प्रकाश ब्रह्म और दूसरा अनिश्चित अज्ञान। इस अज्ञान की आधारभूमि माया है। ब्रह्म भी इस अज्ञान के कारण अनेक माया रूपो में और प्रकृति-प्रपच में नानाविध स्वरूपो मे प्रकट होता है। अर्थात् हम उस सत् रूप को उसके सत्य स्वरूप मे न देखकर माया और अज्ञान के कारण सांसारिक प्रपच को ही सत्य मान लेते हैं। यह अज्ञान भाव और अभाव दोनो से भिन्न है और जब ब्रह्म-ज्ञान का उदय होता है तो स्वयमेव दूर हो जाता है। साथ ही इस अज्ञान के विषय मे हम इसके अतिरिक्त और कुछ नही जानते हैं कि यह एक अनिश्चित रूप है। परन्तु यह सहज ही समझ में नहीं आता है कि संसार का यह सुव्यवस्थित क्रम, घटनाएँ अनेक प्रकार के सुन्दर सतुलित रूप और शरीरादि इस अनिश्चित अज्ञान से कैसे उत्पन्न होते हैं। मन, बुद्धि, प्राण और सारे भौतिक पदार्थ इस अज्ञान से कैसे विकसित होते हैं यह भी एक अबूझ प्रहेलिका सी प्रतीत होती है। यह कल्पना युक्ति-सगत प्रतीत नहीं होती कि ब्रह्मेतर सारे तत्व इसी से विकसित हुए हैं। वेदान्त के अनुसार यह भी ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि भौतिक ससार के सम्बन्ध में हमारी सारी धारणाएँ असत्य, मिथ्या और आधारहीन हैं। एक ब्रह्म ही वह प्रकाशमय तत्व है, अन्य सब अनिश्चित, अज्ञान स्वरूप माया-जगत् है। यदि यह मान लिया जाए तो फिर सारे ससार मे कोई निश्चित क्रम और व्यवस्था नहीं होनी चाहिए। अज्ञान का अव्यवस्थित, क्रमहीन, अनिश्चित स्वरूप ससार के कार्यों मे भी दिखाई देना चाहिए, फिर किसी प्रकार के भौतिक नियम अथवा किसी वस्तु के होने या न होने के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप मे कहना कठिन होना चाहिए। श्रीहर्ष और उनके भाष्यकार चित्सुख ने वेदान्त के इन मूल सिद्धान्तो की विशेष रूप से आलोचना की है, जिसका विवेचन इस अध्याय मे करना कठिन दिखाई देता है। यथार्थ सम्बन्धी विचार का यहाँ एक सक्षिप्त उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

'खण्डनखण्डखाद्य' नामक ग्रन्थ मे 'भेद' की कल्पनाओं का विवेचन किया गया है। इसके अनुसार वस्तुओं में भेद की केवल चार व्याख्याएँ की जा सकती हैं।

(1) 'स्वरूप-भेद'—जहाँ वस्तु विशेष के बाह्य रूप, गुण के आधार पर अन्तर देखा जाता हो जैसाकि प्रभाकर का मत है।

(2) 'अन्योन्याभाव'—इसके अनुसार दो वस्तुओं में भेद का अर्थ है कि एक का दूसरे में 'अभाव' है जैसा नैयायिकों का मत है।

(3) 'वैधर्म्य'—जिसमें गुणों का विरोध हो जैसाकि वैशेषिक का मत है।

(4) 'पृथक्त्व'—जिसमें भेद होना स्वयं में एक गुण हो जैसाकि न्याय में 'पृथक्त्व' एक गुण के रूप मे माना जाता है।

पहली व्याख्या के अनुसार यह कहा जाता है कि घट और पट दोनों अपने स्वरूप और अस्तित्व के आधार पर एक दूसरे से भिन्न है। परन्तु यदि केवल पट को देखकर हम यह कहते हैं कि यह घट से भिन्न है तो इसका अर्थ यह होगा कि पट के स्वरूप में कहीं घड़े का भी समावेश हो गया है अन्यथा केवल वस्तु को देखकर हम यह कैसे कह सकते हैं कि वस्त्र घड़े से भिन्न है। यदि भेद का प्रत्यक्ष इन्द्रियों के द्वारा किया जा सकता है तो इसका अर्थ यह होगा कि यह भेद किसी अन्य वस्तु से होना चाहिए और यदि इन्द्रियाँ उस दूसरी वस्तु का भी प्रत्यक्ष उसी क्षण नहीं करती हैं तो पहली वस्तु के गुण धर्म में किसी अन्य वस्तु का न्यास न होने से उस अन्तर का प्रत्यक्ष नही किया जा सकता। परन्तु यदि एक ही वस्तु के प्रत्यक्ष-क्षण में दो वस्तुओं के गुण-धर्म का रूप दिखाई देता है तो इसमें स्पष्ट ही विरोधाभास दिखाई देता है जो सम्भव नहीं है। अतः वस्त्र में भेद को हम एक अस्तित्व के रूप में नही देख सकते और यदि दूसरी वस्तु को हम एक साथ नहीं देख पाते है तो इस भेद के अस्तित्व को भी नहीं देख सकते। यदि यह कहा जाता है कि वस्त्र स्वयं ही वह अस्तित्व है जो घड़े के भेद को स्पष्ट करता है तो फिर यह पूछना पड़ेगा कि घड़े का स्वरूप क्या है, उसका गुण-धर्म कैसा है ? वस्त्र से भिन्न होना यदि घड़े का अपना गुण है तो फिर घड़े के स्वरूप में कही वस्त्र का रूप भी निहित होना चाहिए क्योंकि जब तक ऐसा न हो उस भेद का प्रत्यक्ष नही हो सकता। यदि यह कहा जाता है कि घड़ा शब्द के कहने से ही भेद का बोध होता है अर्थात् घड़ा ऐसा परिभाषिक शब्द है जिससे स्वयं भेद का बोध होता है तो यह भी समझ में नही आता क्योंकि ऐसा वाच्य शब्द कैसे हो सकता है जो भेद का बोध कराता है और जिसका किसी अन्य वस्तु से कोई सम्बन्ध नही है क्योंकि भेद किन्हीं दो वस्तुओं की तुलना में ही सम्भव है। स्वतन्त्र रूप में किसी भी भेदवाची शब्द की स्थिति सम्भव नहीं प्रतीत होती। पुनः यदि घड़े का गुण वस्त्र है तो घड़े के ऊपर वस्त्र आधारित होना चाहिए अथवा यह कहना चाहिए कि घड़ा वस्त्र-मंडित होना चाहिए। यह कहना भी कठिन है कि गुणों का वस्तुओं से क्या सम्बन्ध होता है, यदि इस सम्बन्ध का अभाव माना जाए तो फिर प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तु का गुण हो सकती है। और यदि किसी प्रकार का सम्बन्ध माना जाए तो फिर सम्बन्ध के लिए भी किसी अन्य सम्बन्ध की आवश्यकता होगी। फिर उस सम्बन्ध के लिए किसी अन्य सम्बन्ध की और इस दूषित चक्र का कहीं अन्त ही नही होगा। यदि यह कहा जाए कि घड़े को जब अन्य वस्तुओं के प्रसंग में देखा जाता है तो यह घड़े के रूप में दिखाई देता है, पर जब इसको वस्त्र के प्रसंग में देखते हैं तो यह भेद के रूप में दिखाई देता है। परन्तु यह सम्भव नही है क्योंकि घड़े का प्रत्यक्ष, भेद के प्रत्यक्ष से सदैव भिन्न रहेगा। सत्य तो यह है कि भेद का प्रत्यक्ष घड़े और वस्त्र

ो के प्रत्यक्ष से भिन्न है। घड़ा और वस्त्र दोनो का अस्तित्व है यह इस कथन से भिन्न
के इन दोनों मे भेद है। अत. घड़े को भेद अथवा भेद का प्रतीक नहीं कहा जा सकता।
के अस्तित्व के लिए किसी अन्य अस्तित्व की अपेक्षा नही है। उपर्युक्त तर्क से यह
ट है कि भेद किसी अन्य वस्तु का गुण नही हो सकता। हमारे वस्तु के प्रत्यक्ष मे भेद
कोई स्थान नहीं है।

भेद की दूसरी व्याख्या 'अन्योन्याभाव' है जिसमे यह कहा जाता है कि एक वस्तु
दूसरी वस्तु में अभाव है। जब यह कहा जाता है कि घड़े का वस्त्र में अभाव है या
का घडे में अभाव है तो इसका अर्थ यह है कि पहले वस्त्र का घडे मे या घड़े का
में भाव होना चाहिए और इस भाव की अब अनुपस्थिति होने से यह अभाव कहा जा
है और फिर अभाव से यह भेद उत्पन्न हुआ है। यदि वस्त्र में घड़े का भाव है, वस्त्र
घड़े मे होना पाया जाता है अथवा घडे मे वस्त्र का निवास है तो इसका अर्थ होगा कि
और वस्त्र का एक ही रूप है, दोनों एक ही हैं, दोनो में अस्तित्व-साम्य है। यदि यह
जाता है कि दोनो मे तादात्म्य है, दोनो में अस्तित्व-साम्य है, तो भेद रूप का विवेचन
ठन है, उन दोनो में किसी प्रकार का भेद नहीं किया जा सकता। यदि 'अन्योन्याभाव'
अर्थ वस्त्र मे घटत्व का अभाव या घट मे पटत्व का अभाव है तो कठिनाई यह है कि
त्व मे ऐसा कोई गुण नहीं है जिसका घट से भेद माना जा सके और न पटत्व मे ऐसा
है जिसे घटत्व के समरूप माना जा सके। यदि हमें पटत्व और घटत्व मे समरूपता
नते हैं तो हम यह भी कह सकते हैं कि वस्त्र मे वस्त्रत्व नहीं है घट में घटत्व नहीं है,
एक विचित्र विरोधात्मक उक्ति होगी।

भेद की तीसरे प्रकार की व्याख्या 'वैधर्म्य' है। वैधर्म्य से यह समझा जाता है कि
तु विशेष के गुण-धर्म में भिन्नता (अपसृति) है। प्रश्न यह उठता है कि क्या यह गुण-
की विषमता इस प्रकार की है कि यह अन्य वस्तु से इसके स्वाभाविक अन्तर को प्रकट
ती है। क्या घट का वैधर्म्य, वस्त्र के वैधर्म्य से अन्तर प्रकट करता है? यदि यह सत्य
तो प्रत्येक वस्तु के लिए अनन्त वैधर्म्य गुण चाहिए, जो इसे अन्य वस्तुओ से अलग
ते हैं, और फिर उस दूसरी वस्तु के लिए भी उसी क्रम में भेद के प्रतीक अनन्त वैधर्म्य
चाहिए, इस प्रकार इस क्रम का भी एक दूषित चक्र स्थापित हो जाएगा। यदि यह
हा जाता है कि घट और वस्त्र के वैधर्म्य गुण एक ही हैं तो फिर तादात्म्य के कारण दोनो
भेद की कोई स्थिति ही नहीं उठती। यदि यह कहा जाता है कि प्रत्येक वस्तु का स्वरूप
यमेव ही दूसरी वस्तु से भेद का परिचायक है क्योंकि प्रत्येक वस्तु दूसरे से भिन्न है और
सरे को स्वत. ही पृथक् कर देती है तो ये वस्तुएँ भेदरहित होकर 'नि स्वरूप' (आधार-
न) हो जाएगी। यदि इसके विपरीत यह कहा जाता है कि प्रत्येक वस्तु के स्वाभाविक
रूप से अर्थ उस 'स्वरूप विशेष' से है जो दूसरी वस्तुओ से विभेद का द्योतक है, तो इस
वशेष स्वरूप के अभाव में स्वाभाविक स्वरूप एक रूप या अनन्य दिखाई देना चाहिए।
सी प्रकार हम 'पृथक्त्व' के विवेचन से भी इसी निष्कर्ष पर पहुचेंगे कि पृथक्त्व नाम का
ी कोई गुण नहीं है जिसके आधार पर हम वस्तुओं के भेद को स्पष्ट कर सकें। पृथक्त्व

के सम्बन्ध में भी हमको यह विचार करना पड़ेगा कि यह पृथक्त्व एक ही वस्तु में पाया जाता है या भिन्न वस्तुओं में पाया जाता है। यह पृथक्त्व वस्तु मे निवास करता है या उसके बाहर। यह वस्तु से समरूप है या भिन्न रूप है ? इस सब विवेचन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि भेद का भेद पाना इतना सरल नहीं है जैसा प्रथम दृष्टि से प्रतीत होता है। इस प्रकार का सूक्ष्म तर्क भारतीय दर्शन में सर्वप्रथम 'कथावत्थु' के प्रथम अध्यायों में पाया जाता है। पाणिनि के 'महाभाष्य' में पतंजलि ने इसी प्रकार का तर्क प्रस्तुत किया है। परन्तु इसका विस्तृत प्रयोग सर्वप्रथम नागार्जुन ने किया है। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि संसार मे सभी कुछ निस्सार, अक्रम, व्यवस्थाहीन है जिसके बारे मे कुछ भी निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। सभी वस्तुओं मे एक ऐसा विरोधाभास है कि किसी भी वस्तु में कोई तथ्य नही है। सभी मिथ्या है और यह सब विश्व एक महाशून्य के अलावा और कुछ नही है। शंकराचार्य ने न्याय और बौद्ध दर्शन का खंडन करने के लिए इस तर्क पद्धति का आंशिक रूप से प्रयोग किया था परन्तु श्रीहर्ष ने उस पद्धति का पूर्ण-रूपेण प्रयोग कर अपने मार्मिक, सूक्ष्म तर्क से न्यायादि दर्शनों की सारी मान्यताओं को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और यह सिद्ध कर दिया कि दर्शन के आधार पर जिन वस्तुओं की परि-भाषा दी जाती है और जिनको महत्त्व दिया जाता है उनके सम्बन्ध मे यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे हैं या नहीं हैं। इस प्रकार न्याय की मान्यताओं के खंडन से यह सिद्ध कर दिया गया कि जिन वस्तुओं को हम सत्य मानते है, वे सत्य का आभास मात्र हैं, उनकी कोई वास्तविक स्थिति है ही नही। वेदान्त को इससे बड़ी सहायता मिली। वेदान्त ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि यही यथार्थ है। संसार का सारा ही व्यापार आभास मात्र है, यह हमें व्यवहार में सत्य दिखाई देता है पर वास्तव मे यह सब अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है जिसका अस्तित्व किसी तर्क की कसौटी पर सिद्ध नही हो सकता। तर्क की दृष्टि से माया भी 'अनिर्वचनीय' है। इस सारे प्रपंच को किसी भी प्रकार किसी भी परिभाषा में बांधना कठिन है, क्योकि जो आभास मात्र है उसका कोई भी सत् स्वरूप तर्क से सिद्ध करना असम्भव है। श्रीहर्ष के पश्चात् चित्सुख ने 'तत्त्वदीपिका' ग्रन्थ की रचना की जिसमें उसने श्रीहर्ष का अनुसरण किया। इस प्रकार वेदान्त दर्शन ने जहाँ एक ओर शून्यवाद का आश्रय लिया, वहाँ दूसरी ओर विज्ञानवाद का आश्रय लेकर यह स्थापना की कि ज्ञान स्व-प्रकाशित तत्त्व है और अन्त मे आत्मा या चित' ही अन्तिम ज्योतिर्मय स्वयंप्रकाश सत्य रूप है।

कारण-सिद्धान्त

वेदान्त दर्शन सतत परिवर्तित होने वाले घटनाक्रम का मनन करते हुए यह विवेचन करता है कि उस परिवर्तन का प्रत्येक क्षण में घटने वाली अनेक क्रियाओं का मूल कारण कहाँ छिपा हुआ है ? अन्य दर्शनो मे प्रत्येक घटना को किसी पूर्व कारण से सम्बद्ध किया है। कारण के अभाव में कार्य नहीं होता। कार्य विशेष की पृष्ठभूमि में अपरिवर्तनीय, निरुपाधिक कारण-संयोग अवश्य रहता है; जिसके अभाव में कोई भी कार्य सम्भव नही है। परन्तु वेदान्त दर्शन के लिए इतनी व्याख्या पर्याप्त नहीं है क्योंकि इससे यह समझ मे

नहीं आता कि एक विशिष्ट कारण-सयोग मे कार्य विशेष कैसे सम्भव होता है । यह कारण-कार्य-सयोग क्यों कर होता है यह जानने की आवश्यकता है । साधारण दृष्टि से जो कारण किसी कार्य का दिखाई देता है, वह उस सीमा तक ठीक है कि एक कारण-सामग्री से एक कार्य-विशेष सम्पन्न हो जाता है । अत हम केवल ऊपरी दृष्टि से कारण-कार्य के युग्मों से संतोष कर लेते हैं । परन्तु हम यह जानना चाहते हैं कि वह मूल कारण कौनसा है जिससे घटादि की उत्पत्ति होती है । यदि हम केवल दृश्यमान जगत् के स्थूल रूप से दिखाई देने वाले कारण से संतोष कर लेते हैं, तो फिर प्रत्येक घटनाक्रम के पीछे कुछ स्थूल रूप से जो साधारण कारण-सयोग दिखाई देता है वह पर्याप्त है । परन्तु इससे तो दार्शनिक दृष्टि से कोई प्रगति नहीं होती । न्याय की दृष्टि से इतना ही पर्याप्त हो सकता है परन्तु हमारे मूल प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता कि इस कारण-कार्य की सम्भावनाओं की पृष्ठभूमि में क्या है । न्याय-दृष्टि में काल की अपेक्षा से कारण का पूर्ववर्ती होना आवश्यक है । परन्तु न्याय के अनुसार काल सतत प्रवाहशील है, निरन्तर गतिमान् काल में कहीं व्यवधान नहीं है । काल का पूर्ववर्ती और अनुवर्ती होना घटना-क्रम की अपेक्षा से ही है । घटना के अभाव में काल के अनुवर्ती होने की कल्पना कठिन है । पुन समय का पौर्वापर्य और अनुक्रम में घटनाक्रम की अपेक्षा होने से इनमें 'अन्योन्याश्रय' भाव है । अत इनमें से किसी को भी स्वतन्त्र रूप में नहीं देखा जा सकता । जो किसी अन्य पर निर्भर है वह स्वतन्त्र कारण के रूप में नहीं माना जा सकता । किसी कार्य के लिए दूसरी उपाधि (शर्त) निरपवादिता अथवा अपरिवर्तनीयता है । यदि इस अपरिवर्तनशीलता से अर्थ किसी वस्तु की कार्य से पूर्व निरपवाद रूप से पूर्ववर्तिता है तो फिर यह घटना भी युक्ति-सगत होनी चाहिए कि धोबी के घर अग्नि का कारण अथवा धूम्र का कारण वैशाखनन्दन (गर्दभराज) होना चाहिए क्योंकि वह वहाँ निरपवाद रूप में उपस्थित रहता है । यदि इससे ऐसी पूर्ववर्तिता से अर्थ है जिसके द्वारा कार्य की सम्पन्नता में सहायता मिलती है तो यह समझना कठिन है कि ऐसी कौन सी वस्तु हो सकती है, क्योंकि केवल पूर्ववर्तिता ही बोधगम्य वस्तु दिखाई देती है । यदि इस अपरिवर्तनीयता से उस वस्तु की ओर सकेत किया जाता है जिसके उपस्थित रहने से कार्य होता है तो यह भी निरर्थक प्रतीत होता है । जैसे केवल बीज के होने से पौधा नहीं हो सकता । पुन यदि यह कहा जाता है कि कारण से कार्य की उत्पत्ति उसी दशा मे हो सकती है जब उसके सहयोगी साधन (सहकारीकारण) भी उसके साथ हो तो भी यह समझ मे नहीं आता कि कारण से क्या अर्थ है । यदि अनेक कारणो से कार्य होता है, तो फिर किसी एक कारण से कार्य के होने और न होने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि कौनसा मूल कारण है जिसके होने से कार्य अवश्य सम्पन्न होता है और न होने से नही होता । जहाँ अनेक कारणो से कोई कार्य होता है तब यह भी कहना कठिन है कि प्रत्येक कारण विशेष का कोई अपना विशिष्ट फल होता है (वात्स्यायन और न्याय-मजरी) क्योंकि मृत्तिका से ही एक ही प्रकार के घडा, स्थाली, पात्र आदि अनेक प्रकार की वस्तुओ की उत्पत्ति होती है । अब यदि कारण की परिभाषा से कारण-सयोग का उल्लेख किया जाता है, तो यह भी समझ में नहीं आता कि कारण-सयोग से क्या अर्थ है ? इस सयोग से अर्थ कारण सामग्री से है या उससे भिन्न किसी अन्य वस्तु से है

यदि इसका अर्थ कारण-सामग्री से है तो यह सामग्री संसार में सदैव ही उपस्थित है अतः फल होता ही रहना चाहिए। यदि इसका अर्थ किसी अन्य तत्त्व से है तो, वह भी सदैव उपस्थित रहनी है अतः फल होता ही रहना चाहिए। 'सामग्री' का अर्थ यदि कारण समूह की फल से पूर्ववर्ती अन्तिम क्रिया अर्थात् कार्य की उत्पत्ति से ठीक पूर्व वाली गति या क्रिया है तो कारण-सामग्री से इस क्रिया का सम्बन्ध समझ में नहीं आता। यदि क्रिया या गति ही कारण होती है तो वह क्यों होती है यह भी विचारणीय है। यदि कार्य विशेष इस क्रिया से ही होता है तो फिर कारण-सामग्री की कल्पना का कोई अर्थ नहीं रहता। यदि यह कहा जाता है कि कारण वह है जिससे कोई कार्य निश्चित रूप से होता है तो यह अवश्यंभावी कारण-वादिता भी तर्कसंगत दिखाई नही देती। इस प्रकार इस कारण-कार्य-शृंखला से हम किसी भी ऐसे सिद्धान्त का पता नहीं लगा सकते जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि इस सिद्धान्त के अनुसार कोई कार्य सिद्ध होता है। यह सारा कार्यरूप जगत् माया रूप है जिसका कोई निश्चित युक्ति-संगत कारण नही खोजा जा सकता। इसकी उत्पत्ति अज्ञान से है, अतः यह सब अनिश्चित आभास मात्र है। यह सब प्रपच एक दिवास्वप्न की तरह लोप हो जाएगा। इस सारे सासारिक प्रपंच का एक ही आधार-भूत मूल कारण वह ज्योतिर्मय सत् चित् ब्रह्म है जिसके ऊपर इस समस्त माया का न्याय होने से यह सब दिखाई देने लगता है। वही इस प्रकृति का आदिकारण है जो हमारे अनुभवों की पृष्ठभूमि के रूप मे अवस्थित है। अज्ञान अविद्या के कारण यह सारा माया-ससार हमारे अनुभव में सत् रूप दिखाई देता है परन्तु यह भ्रान्ति मात्र है। मिट्टी के पात्रों के अनेक रूप होते हैं, पर सभी पात्रों में एक मिट्टी ही मूल तत्त्व है, वही एक सत् है जो नाना प्रकार के पात्रों में समान रूप से विद्यमान है, अन्य सब रूप, बाह्य आभास मात्र हैं, असत् हैं। उसी प्रकार ब्रह्म ही एक मात्र सत् रूप है जो सारे माया रूपों का सांसारिक प्रपंच और दृश्यमान जगत् का आधार तत्त्व है। अन्य सब केवल मिथ्या रूप हैं जिसे भ्रान्ति के कारण वास्तविक मान कर जीव जीवन भर भ्रमित होता रहता है।

इस एक मूल कारण के सारे दृश्याभासों और प्रपचो मे स्थित होने के सिद्धान्त को 'विवर्त्तवाद' कहते हैं। यह सांख्य के 'परिणामवाद' से भिन्न है। परिणामवाद मे कार्य को सूक्ष्म कारण के महत् विकास के रूप मे माना गया है। इसमें कारण अपनी प्राथमिक अवस्था मे बीज रूपेण अवस्थित रहता है, इसका विकास कार्य रूप में सम्पन्न होता है, यह कार्यरूप ही विभवरूप कारण का क्षमता रूप है। जब किसी कारण के द्वारा कारण रूप से भिन्न फल होता है यह 'विवर्त' कहा जाता है। जब कारण से तदनुरूप परिणाम निकलता है तो उसे 'परिणाम' संज्ञा दी जाती है जैसा इस उक्ति से स्पष्ट है—"कारणस्वलक्षणान्यथाभावः परिणामः तद्विलक्षणोविवर्त्तः" या "वस्तुनस्तत्समसत्ताकोऽन्यथाभावः परिणामः तद्विपमसत्ताकः विवर्त्तः।" वेदान्त का न्याय के कारण-कार्य-सिद्धान्त से उतना ही विरोध है जितना कि साख्य के परिणामवादी कारण सिद्धान्त से। वेदान्त का कथन है कि गति, विकास, स्वरूप, विभव और वास्तविकता आदि तत्त्व तर्क से कही भी नहीं ठहरते, केवल शब्द मात्र रह जाते हैं, इन शब्दों से इस माया-प्रकृति के दृश्यमान रूप

का ही बोध होता है, इससे इस सासारिक प्रपच के कारण पर कोई प्रकाश नहीं पडता। ये सारे सिद्धान्त जो कुछ इन्द्रियों से प्रत्यक्ष दिखाई देता है केवल उसकी ही व्याख्या करते हैं। सत्य यह है कि यद्यपि यह सांसारिक प्रपच और इसका कारण एक ही नहीं है, परन्तु कारण के अभाव मे इस सारे प्रपच को किसी प्रकार नहीं समझा जा सकता, कारण के अर्थो में ही यह सारा प्रपच अर्थवान् है, अन्यथा यह सब अर्थहीन है—तदभेदम् विनैव, तद्व्यतिरेकेण दुर्वचम् कार्य्यम् विवर्त्तं।

ब्रह्म और ससार के इस सम्बन्ध के प्रकाश में वेदान्त दर्शन के अनेक विद्वान् सांसारिक माया के कारण की व्याख्या करते हुए कभी अविद्या-अज्ञान का विशेष विवेचन करते हैं तो कभी ब्रह्म का अथवा कभी इन दोनों को ही समान रूप से महत्त्वपूर्ण मानकर दोनो पर बल देते हैं। 'सक्षेप-शारीरक' के प्रसिद्ध लेखक 'सर्वज्ञात्ममुनि' और उनके अनुयायी ब्रह्म को इस प्रपच का उपादान कारण मानते हैं। प्रकाशात्मन् अखडानन्द और माधवाचार्य का मत है कि माया मे प्रतिभाषित (में स्थित) ब्रह्म अर्थात् जिससे माया का प्रादुर्भाव होता है वह 'ईश्वर' इस संसार का आदि कारण है। अर्थात् ससार की उत्पत्ति ब्रह्म अपनी माया के साथ करता है और यह रूप ईश्वर रूप कहलाता है। यह ससार ईश्वर मे स्थित माया का परिणाम है, ईश्वर स्वय विवर्त्त-कारण-तत्त्व है। कुछ अन्य विद्वानो का मत है कि माया वह है जो सारे ब्रह्मांड मे व्याप्त है, अविद्या माया का वह अश है जो जीव को भ्रमित करती है। यह सारा सांसारिक प्रपच माया-निर्मित है और व्यक्ति के मन मस्तिष्क को उत्पन्न करने वाली अविद्या है जिसमे जीव उपादान कारण है। सरल शब्दों मे 'अविद्या' की जीव के सन्दर्भ मे वही स्थिति है जो माया की इस प्रपच के सन्दर्भ में है। कुछ लोगो का मत है कि ईश्वर और उसकी माया जीव को ही दिखाई देती है, अत. यह अधिक उपयुक्त होगा कि हम जीव को ही अविद्या-अज्ञान से आच्छादित मान कर यह स्वीकार करें कि ईश्वर और माया की अभिव्यक्ति जीव के लिए ही होती है। अन्य लोगों का मत है कि ब्रह्म और माया दोनों को ही कारण मानना चाहिए, ब्रह्म शाश्वत कारण उपादान है और माया वह तत्त्व है जो परिणाम के रूप मे प्रकट होती है। वाचस्पति मिश्र का मत है कि इस सासारिक आभास का कारण माया-ब्रह्म ही है। माया सहकारी कारण है और ब्रह्म मूल कारण है। माया के कारण ही जीव को ब्रह्म सांसारिक आभास के रूप मे दिखाई देता है। 'वेदान्त सिद्धान्त' ग्रन्थ मे प्रकाशानन्द ने अपना मत स्पष्ट करते हुए कहा है कि ब्रह्म शुद्ध चेतन-रूप है। वह माया से प्रभावित नहीं होता। वह न माया रूप में प्रकट होता है, न कारण रूप ही धारण करता है। ब्रह्म इस ससार से परे शुद्ध प्रबुद्ध रूप है। ससार कारण केवल माया है। यही उपादान है और यही निमित्त। यह सांसारिक प्रपच माया से ही निर्मित और प्रेरित है।

वेदान्त के इन सारे मतो से एक बात स्पष्ट है कि वेदान्त दर्शन के अनुसार ब्रह्म ही अपरिवर्तनीय, शाश्वत आदि कारण है। उसके अनन्तर अन्य सब कार्य, प्रपच, क्षणिक अनिर्वचनीय, माया मात्र हैं। ऋग्वेद मे माया शब्द का प्रयोग अद्भुत क्षमता और दैविक

शक्ति के रूप में हुआ है। अथर्ववेद में उस शब्द का प्रयोग संसार में निहित रहस्य को विशेष रूप से प्रकट करने के लिए कई बार किया गया है। उसके पश्चात् यह रहस्य के साथ जादू के अर्थ मे प्रयोग में आने लगा। बृहदारण्यक, प्रश्न और श्वेताश्वतर उपनिषदों में इस शब्द का प्रयोग जादू के रूप में किया गया है। प्राचीन पाली ग्रन्थों में इसका प्रयोग प्रवंचना के अर्थ मे किया गया है। बुद्ध-घोष ने इसका ऐन्द्रजालिक शक्ति के अर्थ में प्रयोग किया परन्तु नागार्जुन रचित 'लंकावतार' में इसका अर्थ भ्रान्ति, आभास के रूप में किया गया है। शंकर ने इसका प्रयोग माया के प्रस्तुत अर्थ में किया है, इसे सृष्टि की उत्पादिका सहकारी कारण-शक्ति और प्रपच-सृष्टि दोनों ही रूपों में माना गया है। हिन्दू लेखकों में सर्वप्रथम गौड़पाद ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि संसार की कोई वास्तविक स्थिति नही है। यह माया मात्र है। जब परम सत्य का ज्ञान हो जाता है तो इस माया का स्वयमेव लोप हो जाता है क्योंकि यह अस्तित्वहीन प्रवंचनामात्र है, यह सत्य के प्रकाश में जल के बुदबुद की भाँति समाप्त हो जाती है। गौड़पाद ने ही यह तर्क प्रस्तुत किया है कि जाग्रतावस्था में दिखाई देने वाली संसार की सारी वस्तुएँ स्वप्नवत् हैं। यह एक स्वप्न संसार है जिसमें कुछ भी सारमय नही है। आत्मा ही द्रष्टा और दृश्य है। माया के कारण इस संसार की स्थिति केवल आत्मा में है। यह आत्मा ही मूल तत्त्व है। यही सत् है और अन्य सब द्वैत मिथ्या है। क्योंकि केवल आत्मा ही सत् है, अतः अन्य सारे अनुभव भी मिथ्या हैं। शंकराचार्य गौड़पाद के शिष्य गोविन्द के पट्ट शिष्य थे। उन्होंने गौड़पाद के दर्शन का विकास कर अपने 'ब्रह्मसूत्र' के भाष्य में इन सिद्धान्तों का विशद विवेचन प्रस्तुत कर वेदान्त दर्शन की स्थापना की, जो अब तक के विकसित वेदान्त दर्शन का मूल है।

वेदान्त का प्रत्यक्ष और अनुमान-सिद्धान्त[1]

'प्रमा' (यथार्थज्ञान) का साधन प्रमाण है। प्रमाण से सिद्ध होता है कि हमारा ज्ञान कितना सत्य है। यदि प्रमाण की परिभाषा मे स्मृति को स्थान न दिया जावे तो प्रमाण वह साधन है जिससे नवीन ज्ञान की प्राप्ति होती है अथवा यह कह सकते हैं कि प्रमाण से 'अनधिगत' (जो पहले से प्राप्त नहीं किया गया है) ज्ञान की प्राप्ति होती है। वेदान्त मे 'प्रमा' का अर्थ वह सत्य ज्ञान है जिसको किसी भी अनुभव से असत्य नही जाना

---

1 धर्मराजाध्वरीन्द्र और उनके पुत्र रामकृष्ण ने वेदान्त दर्शन में अनुमान और प्रत्यक्ष के सिद्धान्त की स्थापना की। ये सिद्धान्त वेदान्त दर्शन के मतानुकूल हैं। प्रारम्भ में वेदान्त विद्वान् संसार को माया, भ्रान्ति सिद्ध करने पर ही विशेष बल देते रहे और इसको युक्ति-संगत सम्पूर्ण दर्शन बनाने का प्रयत्न नही किया। अनुमान सिद्धान्त के प्रतिपादन में धर्मराजाध्वरीन्द्र ने मीमांसा-दर्शन का आश्रय लिया है। अर्थापत्ति, शब्द, उपमान, अनुपलब्धि आदि की व्याख्या और इनको वेदान्त में सम्मिलित करने के लिए भी धर्मराजाध्वरीन्द्र मीमांसा-दर्शन के आभारी है। धर्मराजाध्वरीन्द्र के पूर्व भी वेदान्ती विद्वान् अघोषित रूप मे ही सही मीमांसा का ही अनुसरण करते थे।

गया है अथवा जिसका खंडन नहीं किया गया है—(अबाधितार्थ विषय ज्ञानत्व) प्रमा में स्मृति को सम्मिलित नहीं किया जाता। इस सम्बन्ध में यह शंका की जाती है कि जब हम किसी वस्तु को एक क्षण विशेष में देखते हैं तो अन्य क्षणों में प्रथम क्षण के प्रत्यक्ष की रूप कल्पना की स्मृति बनी रहती है और उसके आधार पर ही हम प्रत्यक्ष दर्शन के प्रसंग मे उस ज्ञान को अभिव्यक्त करते हैं। अत यह नहीं कहा जा सकता कि प्रमा मे स्मृति सम्मिलित नहीं है। वेदान्त का समाधान यह है कि किसी वस्तु के प्रत्यक्ष में हमारी मनोवृत्ति, जब तक हम उस वस्तु को देखते हैं, एक सी ही रहती है, जब तक इस मनोवृत्ति की स्थिति में अन्तर नहीं आता, हम यह नहीं कह सकते कि प्रत्येक क्षण का प्रत्यक्ष भिन्न है और दूसरा क्षण पहले क्षण के प्रत्यक्ष का बिम्ब मात्र है। उदाहरण के लिए यदि एक व्यक्ति एक पुस्तक को दो क्षणों के लिए देखता है, तो इन दोनो क्षणों मे उसकी मनोदशा एक सी ही रहती है अत वह एक ही मनोदशा से सम्पूर्ण प्रत्यक्ष को आत्मसात् करता है। इस प्रकार जब तक विषय-वस्तु का परिवर्तन नहीं होता, मनोदशा मे कोई अन्तर नहीं आता। इस प्रत्यक्ष की क्रिया में समय के प्रवाह का भी अवचेतन मन मे ध्यान रहता है पर उससे प्रत्यक्ष पर कोई प्रभाव नही पडता। इस सारे काल मे मनोवृत्ति एक सी ही रहती है। अत प्रमा मे स्मृति का कोई स्थान नही रहता। जब तक उस परम ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता इस बाह्य जगत् की सारी वस्तुओं के अबाधित अनधिगत ज्ञान को प्रमा के रूप में मान्य समझना चाहिए।

जब इन्द्रियो के माध्यम से 'अन्त करण' (मन) का सम्पर्क बाह्य वस्तुओ से होता है तो मन उसी ओर प्रवृत्त हो जाता है और उस वस्तु के बिम्बरूप को ग्रहण कर लेता है, इस मनोदशा को 'वृत्ति' कहते हैं। विषय के अनुकूल ही 'वृत्ति' का निर्माण होता है।[1] अन्त करण जब किसी विषय को तदनुकूल वृत्ति द्वारा ग्रहण करता है तो तत्सबधी अज्ञान दूर हो जाता है। जो वस्तु उस समय तक अज्ञान-अन्धकार मे छिपी हुई थी वह अब 'चित्' के द्वारा प्रकाशित होकर स्पष्ट दिखाई देने लगती है। अज्ञान स्वय ही सांसारिक वस्तुओ की सृष्टि कर उनको विशिष्ट 'आवरण' से ढक देता है। यह प्रपच अज्ञान की 'विक्षेप' शक्ति का प्रतीक है और अन्धकार अज्ञान का आवरण है जिससे यह सृष्टि ढकी हुई है। वस्तु प्रत्यक्ष में अन्त करण की वृत्ति वस्तु विशेष की ओर आकर्षित होकर उसके रूप को ग्रहण करती है। इस वृत्ति के द्वारा 'चित्' का प्रकाश विषय-वस्तु पर केन्द्रित होकर उसे प्रकाशित कर देता है और इस प्रकार अज्ञानावरण को दूर कर देता है। यथार्थ मे बाह्या-न्तर कुछ भी नहीं है, पर अज्ञान की माया के कारण अनेक जीव, स्थान, काल आदि से

---

1. वेदान्त मन को इन्द्रियो से भिन्न मानता है। अन्त करण इसके अनेक क्रिया रूपो में 'मन', 'बुद्धि', 'अहकार' और 'चित्' मे जाना जाता है। सन्देह के प्रसग मे 'मन', सज्ञान क्रिया में 'बुद्धि', चेतना में अहभाव की उत्पत्ति होने से 'अहकार' और स्मृति की क्रिया में यही अन्त करण चित्तरूप मे जाना जाता है। यह चारों एक ही अन्त करण की चार वृत्तियां हैं। अन्त करण अज्ञान का ही एक रूप या वृत्ति है।

आवृत्त भौतिक प्रपंच-जगत् वास्तविक दिखाई देता है और यह सब भी पुनः अज्ञान आवरण से इस प्रकार ढका रहता है कि इसके प्रत्यक्ष के लिए भी इन्द्रियों को आत्मस्थ 'चित्' का आश्रय लेना पड़ता है, जिसके प्रकाश के अभाव में बाह्य जगत् की कोई भी वस्तु दिखाई नही देती। इस प्रकार आत्मपरक दृष्टि से प्रत्यक्ष आत्म-चेतना का वस्तु-चेतना से अभेद होने पर होता है। अर्थात् जब तक अन्तः चेतना, बाह्य चेतना के साथ संयोग नहीं करती और इसप्रकार इन्द्रिय विषयों का तदनुकूल चित्तवृत्ति के द्वारा ग्रहण नहीं करती वस्तु-का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। इस संयोग का अर्थ यह है कि द्रष्टा की आत्म-चेतना और बहिर्चेतना में कोई भेद नहीं रहता—तत्तदिन्द्रिययोग्यविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वम् तत्तदाकार-विषयावच्छिन्न ज्ञानस्य तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम्। अन्तःकरण में स्थित ज्ञान-चेतना को 'जीवसाक्षी' कहते हैं जो 'चित्' मे स्थित प्रत्यक्ष कर्त्ता तत्त्व है।

वेदान्त के अनुसार निश्चित पर्व 'संस्कार' के आधार पर दो वस्तुओं मे 'व्याप्ति ज्ञान' के द्वारा जब किसी वस्तु के बारे में निर्णय किया जाता है तो वह अनुमान प्रमाण है। उदाहरण के लिए हमारे पूर्व संस्कार से यह ज्ञात है कि धूम-अग्नि में व्याप्ति सम्बन्ध है। अतः जब पहाड़ी पर धुंआ दिखाई देता है तो अवचेतन मन में स्थित इस व्याप्ति-ज्ञान का संस्कार स्पष्ट हो उठता है और यह अनुमान सहज ही हो जाता है कि पर्वत पर अग्नि होनी चाहिए। यह अनुमान पर्वत और धूम के प्रत्यक्ष-ज्ञान के आधार पर है। व्याप्ति-ज्ञान से केवल धूम का अग्नि से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। सह व्याप्ति की कल्पना या ज्ञान का आधार यह है कि उक्त सम्बन्ध में कभी भी अपवाद (व्यभिचार ज्ञान) नहीं पाया जाता। इस अव्यभिचारी व्याप्ति का दर्शन मुख्य तथा व्यक्तिगत और आत्मपरक होने से, पुनः अनेक उदाहरणों के द्वारा इस व्याप्ति कल्पना की पुष्टि की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती जैसा कहा है—भूयोदर्शनम् सकृद्दर्शनम् वेति विशेषो नादरणीयः। वेदान्त के अनुसार यदि अपवाद नही तो एक ही उदाहरण में व्याप्ति का पाया जाना पर्याप्त है। यह व्याप्ति एक घटना में देखी गई है या शताधिक उदाहरणों में पायी जाती है इसका कोई महत्त्व नही है। व्याप्ति का दो वस्तुओं के भाव में पाया जाना ही वेदान्त के लिए मान्य और अभीष्ट है। अतः वेदान्त केवल 'अन्वय व्याप्ति' को ही स्वीकार करता है जिसमें दो वस्तुओं के भाव में व्याप्ति पायी जाती है, न्याय की 'अन्वय-व्यतिरेकी', 'केवलान्वयी' और 'केवलव्यतिरेकी' व्याप्ति को वेदान्त निरर्थक और अमान्य समझता है। वेदान्त किसी भी पूर्ण प्रमाण के लिए न्याय के पाँच तर्क वाक्यों के स्थान पर तीन ही तर्क वाक्य पर्याप्त समझता है। उदाहरण के लिए (1) प्रतिज्ञा—पर्वत पर अग्नि है (2) हेतु—क्योंकि पर्वत पर धूम है (3) दृष्टान्त—जैसे रसोई में धूम अग्नि के साथ पाया जाता है।[1] क्योंकि वेदान्त अनुमान के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त समझता है, अतः इसका मत है कि जिस प्रकार सीपी में चाँदी का आभास मिथ्या है, उसी प्रकार ब्रह्म के अतिरिक्त सारा संसार मिथ्या

1 वेदान्त केवल तीन आधार वाक्य मानता है। ये तीन या तो 'प्रतिज्ञा', 'हेतु', और उदाहरण होने चाहिए या उदाहरण, उपमय, निगमन होने चाहिए। न्याय पांच भाग करता है—'प्रतिज्ञा' 'हेतु' 'उदाहरण' 'उपमय' 'निगमन'।

है। उसके लिए किसी अन्य उदाहरण की आवश्यकता नहीं है। यह एक ही दृष्टांत संसार की मिथ्या निस्सारता के लिए पर्याप्त है।—ब्रह्मभिन्नम् सर्वम्मिथ्या ब्रह्मभिन्नत्वात् यदेवम् तदेवम् यथा शुक्तिरूप्यम्। उपर्युक्त अनुमान में पहला आधार वाक्य है[1] (1) प्रतिज्ञा—ब्रह्म के अतिरिक्त सब मिथ्या है—(2) हेतु-क्योंकि यह सब (प्रपंच) ब्रह्मेतर है, (3) दृष्टान्त—जैसे शुक्ति में रजत का आभास मात्र है, परन्तु शुक्ति से भिन्न यह रजत मिथ्या निस्सार है।

आत्मा, जीव, ईश्वर, एकजीववाद और दृष्टि-सृष्टि-वाद

सत्य के लिए कई बार कहा गया है कि यह 'स्वयप्रकाश' है। यह अपने आप ही प्रकाशित है। इसका अर्थ यह है कि इसको जानने का प्रयत्न करना आवश्यक नहीं है, यह सदैव ही हमारे सामने रहता है—अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वम्। अत वेदान्त के अनुसार 'स्वयप्रकाश' का अर्थ है कि यह हमारी अनुभूति चेतना में सदैव स्वत विद्यमान रहता है, इसको जानने के लिए चेतना के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। कुछ वस्तुएँ चेतना के द्वारा ग्रहण किए जाने वाले पदार्थ कहे जाते हैं, इसमें उन वस्तुओं के इस गुण की ओर संकेत होता है कि उनमें चेतना के द्वारा ग्राह्य किए जाने की योग्यता है। यह योग्यता किसी समय किसी वस्तु में उपस्थित या अनुपस्थित हो सकती है। अत यह वस्तु, इसकी उत्पत्ति या प्रकृति के लिए किसी अन्य तत्त्व पर निर्भर है। परन्तु अनुभूति-चेतना (चित्) एक ऐसी वस्तु है जो अपने प्राकट्य के लिए किसी अन्य पर निर्भर नहीं है। प्रत्युत् प्रत्येक वस्तु को स्वयं प्रकाशित करती है। संसार के सारे पदार्थ इस चित् 'अनुभूति' के द्वारा ही जाने जाते हैं। यदि इस अनुभूति-चेतना के ज्ञान के लिए किसी अन्य चेतना की आवश्यकता हो तो उस चेतना के लिए किसी तीसरी अनुभूति-चेतना की आवश्यकता होगी और इस क्रम का कहीं अन्त नहीं होगा जिससे अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। यदि यह अनुभूति चेतना वस्तु को देखने के समय (जब हम इसका ज्ञान प्राप्त करते हैं) प्रकट न हो तो हमको यह सन्देह होगा कि हमारा वस्तु-प्रत्यक्ष सही है अथवा नहीं। सरल शब्दों में जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं, हमारे अन्तर्मन में यह बात स्पष्ट रूप से रहती है कि हम अपनी अनुभूति-चेतना से इस वस्तु विशेष का ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। इस प्रकार हमारी अनुभूति अपने आप को स्वयमेव प्रकट करती हुई सारे सांसारिक अनुभवों को प्रतिभासित करती रहती है। यही हमारी अनुभूति-चेतना (चित्) का स्वप्रकाशित रूप है। यह उस दृष्टिकोण से भिन्न है जिसमें चेतना का अनुमान वस्तुओं की 'ज्ञातता' से किया जाता है।

वेदान्त का कथन है कि इस स्वप्रकाशित चेतना (चित्) और आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। यह 'चित्' ही आत्मा है जो सारी अनुभूतियों का केन्द्र है। यह आत्मा सारी

1 वेदान्त दर्शन में, उपमान, अर्थापत्ति, शब्द और अनुपलब्धि मीमांसा के ही समान हैं, अत उसके वर्णन की आवश्यकता नहीं है।

वस्तुओं को प्रकाशित करती है। यह स्वयं किसी ज्ञान का विषय नहीं है। किसी को भी अपनी आत्मा के होने के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रहता। सारी ज्ञान वृत्तियों में आत्मा का बोध निश्चित रूप से उपस्थित रहता है। जिसे हम आत्मा का बोध कहते हैं वह सांसारिक दृष्टि से आत्मा का अहम् रूप का बोध मात्र है। यह अहं ही हमारे नश्वर शरीर में आत्मरूप में जाना जाता है। शुद्ध चेतन महान् आत्मा सारे विश्व में एकरूपेण स्थित है, यह सर्वव्यापक विश्वात्मा के रूप में अवस्थित है। जब यह आत्मा शरीर में उपस्थित होकर सांसारिक अनुभूतियों का विषय बनती है तो यह जीवात्मा कहलाती है। यह जीवात्मा ही सारे सांसारिक अनुभवों को अनुभूति-चेतना के रूप में ग्रहण करता है परन्तु यह आत्मा का केवल शरीरस्थित रूप है। जिस प्रकार 'ईश्वर', ब्रह्म अथवा परम आत्मा का प्रकृत रूप है उसी प्रकार जीव आत्मा का प्रकृत रूप है। ईश्वर ब्रह्म का वह रूप है जो माया के साथ सारे संसार का निर्माण कर उसमें स्थित है। माया के दो रूप हैं, एक वह जो संसार की उत्पत्ति (विक्षेप) करता है और दूसरा वह जो अज्ञान के द्वारा आवृत्त (आवरणरूप) करता है। शुद्ध चित् रूप ब्रह्म, माया के साथ इस प्रपंच के मध्य 'ईश्वर' के रूप में स्थित होता है और यही अविद्या के साथ जीव रूप में शरीर में स्थित होता है। माया 'अज्ञान' का शुद्ध सृष्टि-कर्त्ता रूप है और अविद्या विकृत अनुभूतिपरक जीवरूप है।

ब्रह्म और माया के सम्बन्धों की व्याख्या वेदान्त ने 'उपाधि' या प्रतिबिम्ब रूप और 'अवच्छेद' कल्पना से भी की है। प्रतिविम्ब कल्पना की व्याख्या करते हुए वेदान्त का कथन है कि सूर्य आकाश में अपने शुद्ध रूप में चमकता है, परन्तु उसका प्रतिबिम्ब अनेक प्रकार के जल में पड़ता है। जल के शुद्ध, अशुद्ध, आलोड़ित होने से सूर्य के बिम्ब में अनेक परिवर्तन और अनुरूपता, अशुद्धि आदि उत्पन्न होती है परन्तु इससे सूर्य की अपनी शाश्वत प्रभा प्रभावित नही होती। सूर्य के एक होते हुए भी, अलग-अलग स्थानों में इसके अनेक प्रकार के बिम्ब दिखाई देते हैं जो माध्यम की शुद्धता अशुद्धता के अनुसार उनकी प्रकृति के अनुकूल होते हैं। यही प्रकृत रूप है। ये रूप असत्य और अयथार्थ हैं, फिर भी सत्य प्रतीत होता है।

दूसरी कल्पना घटाकाश-प्रकोष्ठाकाश रूप है। एक ही आकाश घड़े में और प्रकोष्ठ मे स्थित है। घड़े का कक्ष में स्थित होने से आकाश के रूप में कोई अन्तर नही होता। वास्तव मे आकाश निस्सीम, असीम है, व्यापक है, घट में अवच्छिन्न नही है, फिर भी घड़े में या कमरे में, इसकी हम सीमित कल्पना से देखते हैं। जब तक घटपात्र है इसमें आकाश सीमित रहता है, यह कमरे में सीमित आकाश से भी भिन्न प्रतीत होता है, (परन्तु घटपात्र के समाप्त होते ही यह घटाकाश, महाकाश में लीन हो जाता है।)

प्रतिबिम्ब वादी वेदान्तियों में नृसिंहाश्रम मुनि के अनुयायियों का मत है कि जब शुद्ध 'चित्' माया मे अवस्थित होकर प्रकट होता है तो वह 'ईश्वर' रूप कहलाता है। वही चित् अविद्या के सम्पर्क में व्यक्ति या जीवरूप में प्रकट होता है। सर्वज्ञात्मा माया और अविद्या मे कोई भेद नहीं मानते। उनका मत है कि जब 'चित्' सारी अविद्या के कारण

रूप में स्थित होता है तो वह ईश्वर रूप धारण करता है। अविद्या से उत्पन्न अन्त करण मे जब चित् रूप प्रतिभासित होता है तब वह जीव रूप में दिखाई देता है।

जीव आत्मा का वह स्वरूप है जो अहं रूप में सारी सांसारिक अनुभूतियों आदि का भोग करता है। जीव के तीन स्वरूप हैं। सुषुप्ति अवस्था में, अन्त करण का कार्य समाप्त हो जाता है, अहंरूप निश्चल हो जाता है, तब यह स्थिति 'प्राज्ञ' या 'आनन्दमय' अवस्था कहलाती है। स्वप्नावस्था में जो सूक्ष्म शरीर के साथ संयुक्त रहता है, इस स्थिति में यह जीव की 'तैजस' अवस्था कही जाती है। जब मनुष्य जाग्रत अवस्था मे रहता है तब उसकी आत्मा का सम्बन्ध सारे स्थूल जगत् से रहता है, इस अवस्था मे आत्मा स्थूल और सूक्ष्म दोनो शरीरो के सम्पर्क में रहती है अत यह 'विश्व' रूप कहलाता है। इसी प्रकार आत्मा अपने शुद्ध रूप मे 'ब्रह्म', माया के सम्पर्क मे 'ईश्वर', जगत् के नियन्त्रणकारी के रूप मे पदार्थ अथवा सूक्ष्म प्रकृतितत्त्व मे स्थित होकर 'हिरण्यगर्भ' और स्थूल जगत् मे नियन्ता रूप मे स्थित 'विराट पुरुष' कहलाती है।

अविद्या से आवृत्त 'जीव' 'पारमार्थिक' (सत्) सत्ता से जाना जाता है, जब यही जीव अहम् और इन्द्रियों के सम्पर्क से अनेक व्यापारो में प्रवृत्त होता है तो 'व्यावहारिक' (प्रकृत) और स्वप्नावस्था में स्वप्नात्मा रूप में 'प्रातिभासिक' (माया) कहलाता है।

प्रकाशात्मा का मत है कि चूँकि अज्ञान एक ही है, दो टुकड़ों मे नहीं देखा जा सकता। अत जीव अज्ञान मे स्थित ईश्वर का ही स्वरूप है। माया के सम्पर्क मे ब्रह्मचित् ही ईश्वर कहलाता है, पुन अज्ञान रूप मे प्रतिफलित होकर 'जीव' कहलाता है। वास्तव में जीव ईश्वर से भिन्न और कोई चैतन्य ब्रह्म नही है; जब जीव अपनी सीमाओं से मुक्त हो जाता है तो वही फिर पुराने ब्रह्मरूप हो जाता है।

जो जीव-ब्रह्म के सम्बन्ध को अवच्छेद कल्पना मे देखते हैं उनका मत है कि प्रतिबिम्ब केवल उन वस्तुओं का ही सम्भव है जिनका कोई वर्ण या रूप हो। अत जीव 'चित् का अन्त करण द्वारा सीमित (अवच्छिन्न) रूप है। ईश्वर वह रूप है जो अन्त करण की सीमा से परे है। जीव के अनेक रूप अनेक अन्त करणों के कारण हैं। ये अन्त करण घट-घट मे व्याप्त जीव के अनेक रूप है जो जीव रूप में ईश्वर जाने जाते हैं। जीव सीमित रूप है, चित् सर्वव्यापक रूप है। परम सत्य केवल सत् चित् ब्रह्म है, यही वेदान्त दर्शन का मुख्य तत्त्व है। अनेक वेदान्ती विद्वानो ने जीव, ससार, ईश्वर आदि की अनेक रूपों मे कल्पना की है, परन्तु उन सब मे यही विचारधारा पायी जाती है कि ससार माया रूप भ्रान्तिमात्र है, ब्रह्म ही सत्य है, वही चित् है, वही आनन्द है।

वेदान्त में एक धारा एकजीववाद है जिसके अनुसार सारे ससार मे एक ही जीव और एक ही शरीर है। अनेक शरीर और अनेक जीव, एक भ्रान्त कल्पना के कारण दिखाई देते हैं। जब तक यह परम जीव सांसारिक अनुभूति-बन्धन में बँधा रहेगा, ये स्वप्न जीव और स्वप्न ससार इसी प्रकार चलते रहेंगे। जैसे यह सारा ससार और अनेक जीव स्वप्नवत् हैं, उसी प्रकार दु.ख से मुक्ति की कल्पना या मोक्ष भी स्वप्नवत् है, न ससार है,

न मोक्ष । एक विश्वजीव ही परम शाश्वत तत्त्व है, उस एक जीवपिंड के अनन्तर और कुछ भी सत्य नहीं है । यही 'एकजीव' सिद्धान्त है ।

इस सिद्धान्त के ठीक विपरीत कुछ अन्य वेदान्तियों का मत है कि संसार में प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी माया अर्थात् भ्रान्ति-कल्पना स्वयं उत्पन्न करता है; एक ही भ्रान्ति सबके लिए सत्य नहीं है । प्रत्येक मनुष्य की अपनी-अपनी कल्पना है, उसी के अनुसार वह संसार को इसके मिथ्या रूप मे देखता है । वास्तव में संसार में पार्थिव, भौतिक रूप में कुछ भी अवस्थित नहीं है । जैसे अन्धकार में रज्जु सर्प को देखकर मनुष्य भयभीत होकर इधर-उधर भागते हुए अपने-अपने भ्रान्ति-भय का अपनी कल्पना के अनुसार कथन करते हैं, परन्तु वास्तव में न कोई सर्प है न भय का कारण । परन्तु प्रत्येक की भय-कल्पना अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार है । इसी प्रकार संसार में प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी कल्पना और दृष्टि के अनुसार अपनी माया-सृष्टि की उत्पत्ति करता हुआ अपनी कल्पनाओं के अनुसार अपनी अनुभूतियों और सुख-दुःखादि की सृष्टि करता रहता है । वास्तव मे कोई पार्थिव, भौतिक जगत् नाम की वस्तु ही नहीं है । सारी सृष्टि अपने मन की ही है । मनुष्य अपने प्रत्यक्ष के साथ ही अपनी भ्रान्ति की सृष्टि कर लेता है । यह सिद्धान्त 'दृष्टि सृष्टि-वाद', सिद्धान्त कहलाता है । साधारण वेदान्त के मत के अनुसार वस्तुओं का पार्थिव अस्तित्व है जिनको हम इन्द्रियानुभूति के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं और यह पार्थिव जगत् अनुभवों की सामान्य भूमि है, अर्थात् अनुभवों का आधार एक सा है । यद्यपि यह सारे अनुभव अज्ञान के कारण होते हैं परन्तु अनुभवों के मूल इन्द्रियों द्वारा देखे जाने वाले पार्थिव पदार्थ हैं । ये भौतिक पदार्थ ही वे आधार हैं जिनको इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष देखा जाता है और जिनकी अनुभूति सभी जीवों को होती है । इसके विपरीत दृष्टिसृष्टिवादी वेदान्त का मत यह है कि वस्तुवादी पार्थिव जगत् का अपना कोई अस्तित्व नही है । इस सारे जगत् की सृष्टि अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार मनुष्य स्वयं कर लेता है । इस वाद की अपनी कोई वस्तुवादी ज्ञान मीमांसा नहीं है । केवल इतना ही कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव उसकी अविद्या के अनुसार होता है और पूर्व संस्कार भी इसी अविद्या के रूप हैं । यह वाद बौद्ध धर्म के 'विज्ञानवाद' से अधिक साम्य रखता है अन्तर केवल इतना है कि बौद्ध दर्शन किसी शाश्वत तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार नही करता और वेदान्त परम ब्रह्म की शाश्वत स्थिति मे विश्वास करता है, हमारा क्षणिक और भ्रान्तिमय सांसारिक प्रत्यक्ष का कारण माया है जो ब्रह्म के सत्य रूप को अपने आवरण में छिपाए रहती है ।

मानसिक और भौतिक घटनाक्रम इस दृष्टि से समान हैं कि ये दोनों ही अज्ञान के ही विभिन्न रूप हैं । अज्ञान के स्वरूप को समझना कठिन है । अज्ञान को हम अपनी चेतना के सूक्ष्म रूप से जानते हैं परन्तु इसको शब्दो मे प्रकट करना कठिन प्रतीत होता है । इसीलिए इसको अनिर्वचनीय कहा है । वेदान्त का कथन है कि यह जानते हुए भी कि तर्क और युक्ति के आधार पर सभी सांसारिक कल्पनाएँ निर्मूल और आधारहीन सिद्ध हो जाती हैं, यह निश्चित करना अत्यन्त जटिल है कि अज्ञान को किस प्रकार वर्णित किया जाए ।

अनादि काल से हम भ्रान्त कल्पनाओं के कारण स्वप्रकाशित सत् तत्त्व को नहीं देख पाते। हम बाह्य स्वरूपों और प्रकृति आदि के चक्र मे पड़कर उनमे छिपे हुए सत्य को दृष्टिगत नहीं करते। संसार में उत्पन्न नाना रूप और पार्थिव पदार्थों का प्रत्यक्ष भी हम अज्ञान के कारण सत् रूप मे कर बैठते हैं। हमारा अज्ञान हमे असत् को सत् और सत् को असत् रूप में देखने को बाध्य कर देता है। जैसे मिट्टी से बने अनेक पात्रों में, मिट्टी ही स्थायी सत् रूप है, अन्य आकृतियाँ मृतिका के ही अनेक रूप हैं, इसी प्रकार स्वप्रकाशित ब्रह्म के ही सत् तत्त्व मे सासारिक प्रपच की स्थिति है। कठिनाई यह है कि ब्रह्म को भी हम अज्ञान के अनेक रूपों के माध्यम से ही देख पाते हैं। सारे विश्व मे एक ही शाश्वत सत् स्थिति और अस्तित्व है, वही महान् सत् है और वह ब्रह्म है। अज्ञान का अनस्तित्व भी नही कहा जा सकता क्योंकि अज्ञान का अभाव नहीं है। परन्तु अज्ञान का भाव होते हुए भी एक सत् की अपेक्षा से अज्ञान का अस्तित्व असत् है। सत् जब अज्ञान को प्रकाशित करता है, तो उसका अर्थ यह है कि हम असत् को देख पाते हैं और उसके स्वरूप को समझ कर यह अनुभव करते हैं कि हम इन असत् अज्ञान रूपो को ही सत् मान बैठे हैं। यह अज्ञान शुद्ध चित् के सम्पर्क मे आकर ही स्पष्ट होता है जो इस 'चित्' को अमृत करता हुआ उसी के प्रकाश से दिखाई देता है। अत 'चित्' रूप आत्मा की सहायता के अभाव में जब हम अज्ञान को जानने का प्रयत्न करते हैं तो कठिनाई यह होती है कि हमारे ज्ञान का आधार सांसारिक माया है, और ज्ञान के अभाव में अज्ञान को जानना असम्भव है। अत हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि हमारी सारी मायानुभूति में अज्ञान का एक विशिष्ट स्थान है अथवा यह कहना चाहिए कि हमारी सारी काल्पनिक पार्थिव अनुभूतियो का आधार यह अज्ञान है। यदि अज्ञान की असत्ता है तो यह सत्ता रूप में कभी भी प्रकट नहीं होना चाहिए और यदि इसकी कोई सत्ता नहीं है तो यह सत्ता सदैव रहनी चाहिए जिसके कारण अज्ञान की समाप्ति की कल्पना अनुचित होगी। अत अज्ञान के लिए कहा गया है कि तत्वान्यत्वाभ्याम् अनिर्वाच्य, जिसका अर्थ है कि अज्ञान-तत्त्व या अतत्व के रूप मे अवर्णनीय है। यह अज्ञान सत् भी है क्योंकि यह हमारी सांसारिक अनुभूतियो का आधार है। पुन इसके अनेक रूपो का कोई तार्किक युक्ति-सगत वास्तविक आधार नही है, इसके सारे स्वरूपी भ्रान्त कल्पना-रूप और क्षणिक प्रकृति हैं, अत अपनी ही प्रकृति के अनुसार यह असत् भ है। हमारी चेतना में अज्ञान के रूप प्रकट भी होते हैं तो वे इतने स्वविरोधी होते हैं कि उनका समझना कठिन है, चेतना मे ही उन्हें समझा जा सकता है, इसके अतिरिक्त उनका बौद्धिक रूप, धारणा आदि सम्भव ही नहीं है। इस असत् रूप के प्रकाश मे ही दृष्टिसृष्टिवाद ने कहा है कि हमारे अनुभव अविद्या के कारण हैं, इनका कोई सर्वनिष्ठ पार्थिव आधार नहीं है। इस मत को वेदान्त सिद्धान्तत स्वीकार करता हुआ कहता है कि यह सत्य है परन्तु सासारिक व्यवहार की दृष्टि से (प्रतिकर्म व्यवस्था) हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि हमारी सारी अनुभूतियो की सामान्य आधारभूमि के रूप में पार्थिव जगत् की स्थिति है। इसी 'व्यवस्था' के आधार पर हम वेदान्त दर्शन की दृष्टि से हमारी अनुभूतियों की क्रिया को समझने का प्रयत्न करेंगे।

इस विषय को तीन रूपों में समझा जा सकता है। जैसे चित् के तीन स्वरूप हैं— प्रथम विश्वव्याप्त परम आत्म रूप है जो शुद्ध बुद्ध चित् रूप है। द्वितीय जीव या आत्मा रूप है जो शरीर में विद्यमान सीमित रूप का है, जो 'जीवसाक्षी' के रूप में प्रत्यक्षकर्त्ता है, जो संज्ञान का केन्द्र है, जिसमें ज्ञान-शक्ति निहित है। तीसरा स्वरूप अन्तःकरण या मन है जो हमारे अन्तर में अविद्या का केन्द्र है। जिस प्रकार वाह्य संसार में सारा पार्थिव जगत् अविद्या का स्वरूप है उसी प्रकार अन्तःकरण अविद्या का आधार है। अन्तःकरण या मन की अविद्यात्मक स्थिति, मनोदशा या मनोवृत्ति कहलाती है। अन्तःकरण हमारे इस जीवन के और पूर्व के जन्मों के संस्कारों को भी धारण करता है। अज्ञान-वृत्तियों की यह विशेषता है कि शुद्ध चित् रूप पर इनका 'अध्यास' (न्यास) इसी रूप में हो सकता है। इस रूप में ही ये जीवात्मा की विभिन्न साक्षी चेतना के रूप में पहचानी जा सकती है। अज्ञान चित् को छिपाए रहता है। चित् के द्वारा ही अज्ञान का ज्ञान और विनाश होता है। सरल शब्दों में यह कहना उचित होगा कि अन्तःकरण या मन की विभिन्न वृत्तियों का उदय हमारे अज्ञान रूपी विकार से उत्पन्न होता है। अविद्या-अज्ञान की वृत्तियों के कारण ही हम संसार के पार्थिव प्रपंच के सम्पर्क में आते हैं। अन्तःकरण की वृत्ति को जब हम वस्तु विशेष पर केन्द्रित करते हैं तो वह वृत्ति शरीर से मानों वाह्य जगत् में आकर (शरीर मध्यात्) वस्तु अनुरूप चेतना का निर्माण करती है, यह चेतना सदैव प्रकाशित चित् के रूप में उस वस्तु को प्रकाशित कर प्रकट करती है और इस प्रकार जीवात्मा उसको प्रकाशित भी करती है। चेतना के इस प्रकाश से उस वस्तु विशेष का अज्ञानावरण हट जाता है। उदाहरण के लिए इस अविद्याजनित संसार में घड़ा पार्थिव रूप में स्थित है। परन्तु जीवात्मा को उसका कोई बोध नहीं है अतः वह अज्ञानावरण से आवृत है। मनोवृत्ति को यदि घड़े की ओर केन्द्रित किया जाता है या हमारी वृत्ति घड़े की ओर चलायमान होती है तो इस वृत्ति के घड़े पर केन्द्रित होने से वह वृत्ति इस घड़े के रूप को ग्रहण कर 'चित्' रूप जीवात्मा से सम्पर्क करती है। चित् उस वृत्ति के रूप को प्रकाशित कर घड़े को ज्ञान रूप में ग्रहण करता है। अतः चित् के प्रकाश में घड़े के अज्ञान का आवरण निरावृत्त हो जाता है। इस सारे पार्थिव जगत् की पृष्ठभूमि में एक सत् ब्रह्म के रूप में स्थित है। ब्रह्मचित् का पार्थिव सत् रूप अन्तचित (अन्तश्चित्) के साथ सम्पर्क में आकर ज्ञान के प्रकाश में इन सारी वृत्तियों के माध्यम से पार्थिव वस्तुओं को प्रकट करता है। परन्तु अविद्या के कारण हम वाह्य जगत् के अधिष्ठान के रूप मे स्थित और प्रवाहित मूल सत् का दर्शन नहीं करते। परन्तु पार्थिव जगत् के प्रत्यक्ष में भी आन्तरिक दृष्टि से हम चित् के तीन रूप देखते है, प्रथम—सारे पार्थिव जगत् की पृष्ठभूमि मे स्थित चित् का रूप (2) जीवात्मा या प्रमाता (व्यक्ति) में स्थित चित् रूप (3) अन्त.करण की वृत्तियों में वृत्ति-चेतना के रूप में स्थित चित् रूप। इस प्रकार 'प्रत्यक्ष-प्रमा' (प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त सत्यज्ञान) स्वयं चित् है जो वृत्तियों के माध्यम से प्रवाहित होकर वाह्य पार्थिव जगत् में अन्तर्धारा के रूप में अवस्थित होकर महान् चित् के द्वारा प्रकाशित इस प्रपंच का दर्शन करती है। अन्ततोगत्वा तीनों चित् एक महान् शुद्ध ब्रह्म के माया रूप हैं।

वेदान्त में 'प्रमा' का अर्थ 'अबाधित (जिसका खण्डन नहीं किया गया है) ज्ञान की प्राप्ति है। प्राप्त ज्ञान की सत्यता उसी समय तक है जब तक इसको असत् सिद्ध नहीं किया जाता है। इस प्रकार यह सासारिक आभास जो इस समय सत्य प्रतीत होता है, ब्रह्म की सत्यता के बोध होने पर मिथ्या दिखाई दे सकता है। एकमात्र शाश्वत सत्य वह ही है जिसको कभी भी मिथ्या सिद्ध नही किया जा सकता। इस सारे सासारिक ज्ञान की वैधता की एक ही कसौटी है कि किसी समय यह सारा ससार असार हमें नि सत्व तो नहीं दिखाई देने लगेगा। इस दृष्टि से ब्रह्म ही इस ससार में स्थायी सत्य है। ब्रह्मज्ञान होते ही यह सारा ससार मिथ्या दिखाई देने लगता है।

हमे सुख-दु ख की आतरिक अनुभूति भी हमारे अन्त करण की वृत्तियो को आत्मा के समरूप मानने के कारण होती है। अन्त करण की वृत्ति को आत्मारूप मानकर हम कहते हैं कि 'मैं प्रसन्न हूँ' या 'मैं दु खी हूँ'। जब तक मनोवृत्ति एक सी ही स्थिति मे रहती है, हमको उस वस्तु या उस भावना-वृत्ति के परिवर्तन के साथ हमारी अनुभूति मे भी परिवर्तन हो जाता है। वेदान्त का मत है कि प्रत्यक्ष और अनुमान हमारी मनोवृत्ति के दो रूप हैं। वह इन दोनों को भिन्न 'जाति' के रूप मे नहीं मानते हैं। जब मैं यह कहता हूँ कि पर्वत पर अग्नि है, तो इस अनुमान मे मेरा अन्त करण पर्वत और धूम्र को प्रत्यक्ष रूप में देखता है और इनके सम्पर्क मे आकर इस रूप को ग्रहण करता है, परन्तु वह अग्नि को प्रत्यक्ष रूप में नही देखता अत मेरी मनोवृत्ति अपने दूसरे रूप में अग्नि का अनुमान करती है। इस प्रकार दोनों ही एक ही वृत्ति की दो दशाएँ हैं जिनमे चित्‌रूप निहित है। पार्थिव बाह्य जगत् के चित् का जब अन्तर्मन के चित् से तादात्म्य होता है तब यह भाव उत्पन्न होता है। इस तादात्म्य का अर्थ यह है कि वस्तु और व्यक्ति मे हमारी वृत्ति एक ही 'सत्य' का दर्शन करती है। अनुमान का 'सत्य' हमारी अन्त करण की प्रत्यक्ष-चेतना में पूर्व सस्कार के आधार पर परोक्ष रूप मे देखा जाता है। इस प्रकार मनोवृत्ति के द्वारा अन्त करण के सम्पर्क से विषय और विषयी के अभेद का ज्ञान करके किसी सत्य को आत्मसात् करना ही प्रत्यक्ष है। इससे कोई अन्तर नही पडता कि अन्त करण की वृत्ति के द्वारा उस 'वस्तु' को भौतिक रूप मे देखा जाता है अथवा दूरस्थ होने से वृत्ति-सम्पर्क किसी अन्य प्रकार से होता है। उदाहरण के लिए यदि देवदत्त नाम के व्यक्ति को पहले देखा जा चुका है और यदि कोई व्यक्ति शब्दो के द्वारा यह प्रकट करता है कि 'यह वही देवदत्त है' तो अन्त करण की वृत्ति का शब्दो के साथ देवदत्त पर केन्द्रित होने से, यह और वही से उसके सयोजन के कारण स्पष्ट हो जाता है कि यह देवदत्त का प्रत्यक्ष है। इस प्रकार शब्द-ज्ञान भी वेदान्त के अनुसार उस वस्तु का स्पष्ट प्रत्यक्ष है। इस वाक्य के द्वारा जिस देवदत्त की बात कही गई है, उसमे और पहले देखे हुए देवदत्त की कल्पना में अन्य कोई विशिष्ट ज्ञान के योग न होने से वेदान्त में इसे 'निर्विकल्प प्रत्यक्ष' माना जाता है क्योकि इन शब्दो के द्वारा कि 'यह देवदत्त है', अन्य किसी विचार का प्रश्न नहीं है और इस वाक्य से एक ही सम्पूर्ण कल्पना होती है। इसी प्रकार जब गुरु यह कहता है कि 'तुम ब्रह्म हो' तो इस वाक्य से उत्पन्न ज्ञान 'सविकल्प' नही है। व्याकरण की दृष्टि से इस वाक्य के दो भाग हैं जिनको

एक संयोजक के द्वारा संयुक्त किया गया है, परन्तु तात्पर्य दृष्टि से दोनों का तादात्म्य रूप सथापित किया गया है। अतः यह निर्विकल्प सत्य है। वेदान्त-दृष्टि प्रत्यक्ष में निर्विकल्प, सविकल्प भेद नही मानती, केवल शब्द-प्रत्यक्ष मे निर्विकल्प सविकल्प का अन्तर स्वीकार करती है। निर्विकल्प के लिए यह आवश्यक है कि वाक्य के द्वारा एक ही तथ्य का उल्लेख होना चाहिए, एकत्ववाची वाक्य ही निर्विकल्प है; अनेक कल्पनाओं या तथ्यों को प्रकाशित करने से वाक्य सविकल्प कहलाता है, उदाहरण के लिए राजपुरुष आ रहा है ('राजपुरुषः आगच्छति'), इस वाक्य में दो अवधारणाओं या तथ्यों पर प्रकाश डाला है, पहला राजपुरुष और दूसरी उसके आने की कल्पना पर, अतः यह 'सविकल्प' है।[1]

यहाँ यह वतलाना भी प्रासंगिक होगा कि वेदान्त कुमारिल के पट् प्रमाणों को स्वीकार करता है और मीमांसा की भाँति ज्ञान का 'स्वतः-प्रामाण्य' मानता है अर्थात् ज्ञान को स्वतः प्रमाण मानता है। वेदान्त की दृष्टि से भी ज्ञान के किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही है। ज्ञान स्वयं ही वैध है। परन्तु मीमांसा और वेदान्त की दृष्टि से प्रमा (ज्ञान) के अर्थों में थोड़ा अन्तर है। मीमांसा में प्रमा वह है जो हमें किसी कर्म की ओर प्रेरित करती है और उसका प्रामाण्य इसी में है कि हम किसी ज्ञान को प्राप्त कर उसे सत्य मानकर तदनुकूल कर्म करते हैं। जव तक तदनुकूल कर्म करने से हमारा ज्ञान मिथ्या सिद्ध नही होता हम उस ज्ञान को प्रामाणिक मानते हैं। वेदान्त में प्रमा का कर्म से कोई सम्वन्ध नही माना गया है। प्रमा वह है जो 'अवाधित' है, जिसे किसी ने असत्य सिद्ध नहीं किया है। मीमांसा के स्वतः प्रामाण्य की परिभाषा के साथ वेदान्त ने एक और उपाधि (शर्त) जोड़ दी है। वेदान्त के अनुसार वही ज्ञान सत्य और प्रामाणिक है जो अवाधित है और जो किसी दोप से दूपित नही है, अर्थात् यदि इन्द्रिय-दोप से कोई ज्ञान दूपित हो जाता है तो वह किसी के द्वारा असत्य सिद्ध नहीं किए जाने पर भी प्रामाणिक नही कहा जा सकता। पर इस शर्त (उपाधि) के अतिरिक्त वेदान्त न्याय के समान किसी अन्य उपाधि को महत्त्व नहीं देता (जवकि न्याय संवाद आदि अनेक तार्किक पुष्टियों को ज्ञान के प्रमाणन के लिए शर्त मानता है)। न्याय-दृष्टि से निश्चित परिस्थिति और उपाधि के अनुकूल होने पर ही ज्ञान की सत्यता को स्वीकार किया जा सकता है। न्याय ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य को स्वीकार नही करता। वेदान्त ने वीच का मार्ग चुना है। किसी वाह्य उपाधि के मानने से ज्ञान स्वतः प्रामाण्य नही कहा जा सकता। दोप की उपाधि को स्वीकार करने से यह शंका की जाती है कि यदि 'दोष न हो' इस उपाधि को माना जाता है तो फिर ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य नही रहता। वेदान्त का उत्तर है कि यह उपाधि निपेधात्मक है। अतः इसका भाव नही माना जा सकता। दोप का अभाव निश्चित स्वीकारात्मक उपाधि नही है, और इस अभाव की दृष्टि से ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य में कोई अन्तर नही आता। वेदान्त के लिए यह मार्ग उसके दर्शन की पूर्णता की दृष्टि से आवश्यक हो गया था। वेदान्त यह नही कह सकता था कि शुद्ध 'चित्' जो ज्ञान चैतन्य में प्रतिभासित होता

1 'वेदान्त-परिभाषा' और 'शिखामणि' देखिए।

है उसको किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता है, न वह यह कह सकता था कि सारे भौतिक स्वरूपो का ज्ञान वैध है। ऐसा कहने से यह सारा जगत् जिसे वह माया का आभास मात्र मानता है सत्य और वैध माना जायेगा। अत वेदान्त ने मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुए कहा कि हमारा सारा भौतिक ज्ञान अवैध और असत्य है क्योकि यह ज्ञान अविद्या-दोष से उत्पन्न होता है। साधारण क्षेत्र में भी वही ज्ञान सत्य और प्रामाण्य का अधिकारी है जो किसी इन्द्रियादि-दोष से मुक्त हो। यदि दोष का अभाव हो तो अन्य और कोई कारण नहीं है जो हमारे ज्ञान के स्वत प्रामाण्य को और उसकी सत्यता को अमान्य ठहरा सके।[1]

वेदान्त का भ्रान्ति सिद्धान्त

पूर्व अध्यायो मे मीमासा के इस मत का अध्ययन कर चुके हैं कि ज्ञान सत्य है। इसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही है। सम्पूर्ण ज्ञान इसीलिए प्रामाणिक है कि वह ज्ञान है--'यथार्था सर्वे विविदास्पदी भूता प्रत्यया प्रत्ययत्वात्।' भ्रान्ति के सम्बन्ध मे मीमांसा का कथन है कि देखी हुई वस्तु (शुक्ति) और जिस वस्तु की स्मृति के उदय होने से (रजत खड भ्रान्ति होती है, उनके भेद को न देखने के कारण भ्रान्ति होती है। यह भ्रान्ति तब तक सत्य रहती है जब तक कि प्रत्यक्षकर्त्ता सीपी को चाँदी के रूप मे उठाने को प्रस्तुत नही होता। जैसे ही वह उस सीपी को उठाता है, उसकी भ्रान्ति दूर हो जाती है। वेदान्त इस दृष्टिकोण का विरोधी है। उसका कथन है कि इस भेद के अप्रत्यक्ष से क्या अर्थ है। जिस वस्तु की स्मृति है उसके भिन्नत्व को न देखने से क्या तात्पर्य है। यदि यह कहा जाता है कि दोनो के असम्बन्धित होने के अप्रत्यक्ष से अर्थ है (अर्थात् इस तथ्य को नही देखा गया कि इसका चाँदी से कोई सम्बन्ध नही है) तो यह केवल अभाव का प्रत्यक्ष है जो दोनो पक्षों मे समान है और मीमासा मे अभाव का अर्थ स्पष्ट रूप से उस आधार या 'भूमि' का भाव विद्यमान होना है जिस पर अभाव माना जाता है। उदाहरणार्थ 'घड का भूमि पर अभाव है' का अर्थ भूमि की उपस्थिति या विद्यमानता अर्थात् भाव है। यदि इन दोनो में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है तो इससे अर्थ केवल इतना होगा कि 'चाँदी' और 'यह' है। यदि यह मान भी लिया जाए कि इन दोनों वस्तुओं के भेद को परिलक्षित नहीं किया गया तो इस निषेधात्मक स्थिति से कोई भी मनुष्य किसी प्रकार की कर्मप्रेरणा ग्रहण नही कर सकता। यदि यह कहा जाता है कि यह प्रत्यक्ष दोषपूर्ण था, या सामान्य प्रत्यक्ष था जिसके कारण ठीक से समझ मे नहीं आ सका कि यह चाँदी है या सीपी, तो भी इस ऊपरी साम्य से कोई व्यक्ति उसको चाँदी समझ कर कार्य नहीं करने लगता। जैसे यदि कोई व्यक्ति 'गवय' (जगली गाय) को देखता है वह यह सोचता है कि इसका साम्य गाय से है, परन्तु ऐसा सोच कर वह गवय के साथ वैसा व्यवहार नही करता है जैसा कि गाय के साथ करता है। इस प्रकार मीमांसा

1 'स्वत-प्रामाण्य' पर 'वेदान्त परिभाषा', 'शिखामणि' और 'मणिप्रभा' नामक ग्रन्थ तथा चित्सुख की कृतियाँ देखें।

के मत को किसी भी दृष्टि से देखा जाए वह तर्क-सम्मत नहीं दिखाई देता।[1] वेदान्त का मत है कि भ्रान्ति केवल आत्मपरक कल्पना नहीं है। भ्रान्ति उसी प्रकार वास्तविक घटना है जैसे वाह्य वस्तुओं का पार्थिव अस्तित्व है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि भ्रान्ति इन्द्रियादि-दोष से उत्पन्न होती है और वाह्य जगत् ऐसे किसी विशिष्ट दोष से उत्पन्न न होकर अविद्या-दोष से उत्पन्न होता है। वेदान्त के मतानुसार भ्रान्ति के क्रम में सर्व-प्रथम इन्द्रिय-दोष के कारण उपस्थित वस्तु के सम्बन्ध मे 'यह है' या 'इदंता' मनोवृत्ति का उदय होता है। पुनः मनोवृत्ति में और वस्तु मे 'चित्' प्रतिभासित होता है। इस 'चित्', के साथ संलग्न अविद्या में आन्दोलन होता है जिसका कारण वृत्तिदोष है। इस अविद्या की क्रिया और पूर्व स्मृति के संस्कार के संयोग से चाँदी का आभास होने लगता है इस प्रकार इन दो स्पष्ट क्रियाओं में एक मनोवृत्ति में चाँदी के रूप का पूर्व संस्कार के कारण उदय और दूसरा वास्तविक रजत खण्ड की माया-सृष्टि, इन दोनों का वोध 'साक्षी' चैतन्य (वह चित् जो प्रत्यक्ष कर्त्ता है) को होता है। इन दो क्रियाओं के वावजूद दोनों भिन्न क्रियाओं का आधार एक ही लगता है। 'यह' वही है, ऐसी धारणा होने से हमको एक ही वस्तु के सम्बन्ध में ज्ञान-भ्रान्ति होती है। इस सिद्धान्त की विशेषता यह है कि प्रत्येक चाँदी की भ्रान्ति की दशा मे एक अनिर्वचनीय रजत खण्ड की ऐसी 'माया-सृष्टि' होती है जिसका हम शब्दों मे सहज वर्णन नहीं कर सकते, जिसे वेदान्त ने स्वय 'अनिर्वचनीय' ख्याति कहा है। वेदान्त के अनुसार सत्ता ('सत्) के तीन रूप हैं— प्रथम 'पारमार्थिक सत्' (सत्ता) है जो शाश्वत, सम्पूर्ण, सर्वोपरि 'सत्' है। दूसरी 'व्यावहारिक सत्ता' है जा हमारे नित्य प्रति के सांसारिक व्यवहार का सत् है और तीसरी 'प्रातिभासिक सत्ता' है जिसकी स्थिति हमारी तात्कालिक भ्रान्ति मे है। 'व्यावहारिक' 'सत्', जव तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, तव तक हमारे सारे कर्मों में व्यवहार रूप में सत्य प्रतीत होता है। मनुष्य परम ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष के पूर्व ही इस व्यावहारिक अनुभूति की निस्सारता का अनुभव करता है। 'प्रातिभासिक सत्' अल्पकाल के लिए होता है क्योंकि इसका दोष हमारे साधारण व्यवहार-जगत् के अनुभवो मे ही प्रकट होता है। व्यावहारिक प्रत्यक्ष का दोष मोक्ष से पूर्व न तो ज्ञात हो पाता है, न निराकृत हो पाता है जवकि प्रातिभासिक प्रत्यक्ष इन्द्रियादि दोष से उत्पन्न प्रतिभास मात्र है। यही इन दोनो में अन्तर है। इसीलिए प्रातिभासिक सत्ता अत्यल्पकालिक होती है। जैसे व्यावहारिक जगत् अविद्या का भौतिक परिणाम है और हमारे मानसिक आत्मपरक कल्पना का विंव न होकर पहले से ही स्थित है इसी प्रकार दोष के कारण शुक्ति मे चाँदी की भ्रान्त सत्ता भी अविद्या का 'परिणाम' है। इस भ्रान्ति मे अविद्या और इन्द्रिय दोष के परिणामस्वरूप रजत खण्ड की 'अनिर्वचनीय' 'माया-सृष्टि' होती है। अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति मे शुक्ति की चेतना तो वही रहती है पर रजत की चेतना का हित इस भ्रान्ति

1. इस विषय पर 'विवरण-प्रमेय-संग्रह' और 'न्यायमकरन्द' 'अख्याति'-खण्डन प्रसंग में देखिए।

की पृष्ठभूमि मे अन्त करण का अविद्या-दोष से वृत्ति परिवर्तन माना जाता है। अविद्या दोष के परिणामस्वरूप ही यह भ्रान्ति होती है।

'चित्' की दृष्टि से यह भ्रान्ति केवल 'विवर्त' है और अविद्या की दृष्टि से 'परिणाम' है। विवर्त मे कार्य अथवा फल कारण के स्वरूप मे भिन्न होता है जैसे कारण रूप चित् भ्रान्ति (माया) से भिन्न है। परिणाम में कारण और कार्य का आन्तरिक तत्त्व एक ही होता है। अत अविद्या तत्त्व के अनुरूप ही रजत का माया प्रत्यक्ष है। एक शका यहाँ पर उत्पन्न होती है कि यदि अन्त करण की दोष-वृत्ति की पृष्ठभूमि मे स्थित चित' के रजत खण्ड की भ्रान्ति सत्ता मे स्थित चित् के सयोग के कारण उत्पन्न होती है तो इसका स्वरूप 'अहम्' पूर्ण होना चाहिए अर्थात् तब भ्रान्ति यह होनी चाहिए कि 'मैं भी रजत-खण्ड हूँ' जैसे हम यह कहते हैं कि "मैं सुखी हूँ' या 'मैं दु खी हूँ'। वेदान्त इसके उत्तर मे यह समाधान प्रस्तुत करता है कि पूर्व संस्कार का स्मृति आधार 'यह चाँदी है' यह कल्पना है परन्तु जब यह कहा जाता है कि 'मैं प्रसन्न हूँ" तब अह-वृत्ति के सयोग में प्रसन्नता का अनुभव किया जाता है, यहाँ पूर्व वृत्ति सस्कार का रूप अहपूर्ण है अत अह के प्रसग मे 'चित्' कार्यशील होता है। 'यह चाँदी है' इस पूर्व-कल्पना वृत्ति-सस्कार मे 'इदम्' रूप पर सस्कार आधारित है, अत दोनो अवस्थाओं में यद्यपि चित् का सयोग एक ही है, पर सस्कार के अनुसार अनुभूति का प्रसग 'अह' और 'इदम्' मे भिन्न है।

इसी प्रकार निद्रा-दोष से स्वप्नावस्था मे चित् पर इसी प्रकार के भ्रान्ति-जगत् का 'अध्यास' (आरोपण) होता है। स्वप्नानुभूतियो का आधार स्मृति नही हो सकती, क्योंकि स्वप्न मे मनुष्य देखता है कि 'मैं रथ पर सवार बादलों से ऊपर उड रहा हूँ"। स्वप्न मे सारी इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती है अत हमारा 'चित्' वस्तु के सम्पर्क मे नहीं आता या वेदान्त की भाषा मे वस्तु चित् की स्थिति का अभाव होता है। परन्तु स्थान, काल, वस्तु आदि की सारी अनुभूतियो का आरोपण (अध्यास) इस आन्तरिक शुद्ध 'चित्' पर होता है, अत. जाग्रतवस्था मे स्वप्नानुभूति का क्रम चलता रहना चाहिए। परन्तु वेदान्त का उत्तर है कि कोई भी अनुभूति का - क्षण उस समय तक ही रहता है जब तक उस ओर वृत्ति स्थिर रहती है। क्योंकि जाग्रत अवस्था मे अन्त करण भिन्न-भिन्न वृत्तियों मे परिवर्तित होता रहता है अत, यह सम्भव नहीं है कि स्वप्न की अनुभूति जाग्रत अवस्था में भी चलती रहे। इस प्रकार निद्रादोष की समाप्ति के साथ ही अनुभूति का क्रम समाप्त हो जाता है। यह इन स्वप्नानुभूतियों से निवृत्ति है। यह हो सकता है कि जो कुछ स्वप्न में देखा गया है उसका सस्कार स्मृति मे स्थित हो परन्तु अनुभव क्रम की समाप्ति हो जाती है। 'निवृत्ति' 'बाध' से भिन्न है। जिस सीपी को हम चाँदी के भ्रान्ति रूप मे देख रहे थे, जब उसके सही-रूप का ज्ञान हो जाता है तो वह भ्रान्ति की समाप्ति हो जाती है। यह भ्रान्ति की समाप्ति ही 'बाध' कहलाती है। जब हम सीपी को चाँदी के रूप मे देखते हैं तो हम चाँदी को सत् रूप में देखते हैं अर्थात् चाँदी ही दिखाई देने लगती है। चाँदी के लिए यह 'सत्' भावता भ्रान्ति नही है, यद्यपि चाँदी का अस्तित्व भ्रान्त सृष्टि है। इस प्रत्यक्ष मे शुक्ति का 'सत्' चाँदी के 'सत्' मे परिवर्तित होकर हमको शुक्ति पर

आधारित चाँदी की भ्रान्ति के रूप में दिखाई देता है। इस प्रकार चाँदी की भ्रान्ति में दो भ्रान्तियाँ निहित हैं। पहली अकथनीय चाँदी की उत्पत्ति है–(अनिर्वचनीय रजतोत्पत्ति) और दूसरी भ्रान्ति सीपी की 'सत्' स्थिति का इस 'अनिर्वचनीय' रजत-खण्ड मे न्यास या आरोपण है। इस आरोपण से हमने उस अनिर्वचनीय रजत-कल्पना को सत् रूप प्रदान कर दिया जो वास्तव मे शुक्ति का सत् रूप है। यही न्याय की 'अन्यथा ख्याति' है जिसको वेदान्त भी स्वीकार करता है। वेदान्त का कथन है कि जव इन्द्रियों के समक्ष दो भिन्न वस्तुएँ उपस्थित हों और जव एक के गुणों का दूसरी वस्तु में भ्रान्त प्रत्यक्ष किया जाए तो यह भ्रान्ति, 'अन्यथा ख्याति' भ्रान्ति कहलाती है। उदाहरण के लिए यदि एक स्फटिक (मणि) और जपापुष्प एक स्थान पर उपस्थित हों और यदि कोई यह कहता है कि लाल स्फटिक रखा है तो यह 'अन्यथा ख्याति' होगी। परन्तु यदि एक वस्तु मेरी इन्द्रियों के समक्ष उपस्थित है और अन्य नही है और फिर यदि उस वस्तु की भ्रान्ति होती है तो यह 'अनिर्वचनीय ख्याति' कहलाती है। वेदान्त की दृष्टि से 'अन्यथा ख्याति' की कल्पना भी आवश्यक है, क्योकि वेदान्त के अनुसार संसार के सत् की कल्पना का आधार ब्रह्म है जो शाश्वत सत् है और जो हमारे जीव चित् में सदैव हमारी सांसारिक अनुभूतियों को प्रकाशित करता है। अतः ब्रह्म के सत् को हम संसार मे स्थापित कर इस माया जगत् को सत्य मान लेते हैं। इस प्रकार यह सांसारिक प्रपंच केवल मायाभास है, इस आभास मे हम सत् ब्रह्म के गुणो को आरोपित कर देते हैं। यह ब्रह्म के गुणारोपण की ससार में 'अन्यथा ख्याति' है। इस सारे विश्व मे एक ब्रह्म ही सत्य और शाश्वत तत्त्व है।

वेदान्त का आचार-शास्त्र और मोक्ष-सिद्धान्त

वेदान्त के अनुसार जव योग्य पात्र अपने गुरु से यह दीक्षा प्राप्त कर लेता है कि 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'तुम ही वह ब्रह्म हो' तो उसे मोक्ष-ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह संसार निस्सार और थोथा दिखाई देने लगता है। वेदान्त के अध्ययन के लिए पात्रता-प्राप्ति के पूर्व निम्न गुणों की आवश्यकता है। प्रथम, जिसने वैदिक साहित्य, कोष, व्याकरण आदि सारे उपांगों सहित वेदो का अध्ययन किया हो। द्वितीय, जो पूर्वजन्मो में ओर इस जन्म में प्रार्थना, उपासना आदि 'नित्य कर्म' करता रहा हो। इसके साथ ही सोलह संस्कार आदि 'नैमित्तिक कर्मों' को भी यथाविधि करता रहा हो। जिसने अपनी स्वार्थमयी भावना पर विजय प्राप्त करली हो और जिसे स्वर्ग की भी कामना न रह गई हो। अतः जिसने सारे 'काम्यकर्मो' का भी परित्याग कर दिया हो। जिसने साथ ही 'निपिद्ध कर्मों' जैसे हिंसादि विचारो को भी अपने मन से निकाल दिया हो, जिससे उसका चित्त शुभ-अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्मों के वन्धन से मुक्त हो गया हो। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि नित्य और नैमित्तिक कर्मों से कर्म-वन्धन की उत्पत्ति नही होती। इस प्रकार जिसने अपने मन को उपर्युक्त चर्या से पवित्र कर लिया हो और जिसने निम्न चार गुणों को धारण कर लिया हो, वही वेदान्त साधना का अधिकारी पात्र माना जाता है। ये चार गुण इस प्रकार हैं—(1) शाश्वत और अशाश्वत (क्षणिक) का पूर्ण ज्ञान (2) इस पृथ्वी और स्वर्ग के सुखों की कामना का परित्याग (3) सारे सुखों के प्रति वितृष्णा और विराग तथा सत्य ज्ञान

की प्राप्ति के लिए उत्कट अभिलाषा (4) इन्द्रियों का सयम जिससे इन्द्रियाँ केवल सत्य ज्ञान की ओर प्रवृत्त हों—(दम)। इसके पश्चात् उसको चाहिए कि (क) वह 'उपरति' का अभ्यास कर पुन प्रवृत्त न हो। (ख) उपरति के साथ वह 'तितिक्षा' का अभ्यास करे (कष्ट-सहिष्णुता), जिससे उसे सर्दी-गर्मी आदि का कष्ट पीडित न करे। (ग) सत्य ज्ञान के प्रति निष्ठा और (घ) गुरु और उपनिषदों में श्रद्धा रखता हुआ (5) मोक्ष की उत्कट अभिलाषा से प्रेरित होकर उपनिषदों का 'श्रवण' अध्ययन और मनन (विचार) करे। इस प्रकार जीवन व्यतीत करता हुआ पुन, 'निदिध्यासन' की ओर प्रवृत्त हो जिसमें ध्यान-योग के द्वारा सारे ससार में, एक ब्रह्म की व्याप्ति के महान् सत्य को हृदयगम कर ब्रह्म-प्राप्ति का प्रयत्न करता रहे। अर्थात् यह विचार करे कि ब्रह्म के अनन्तर इस ससार मे कुछ नही है, ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित करने के लिए अपने आपको सुसज्जित करे। वेदान्त योग की क्रिया मे उन सारे तत्त्वो को स्वीकार करता है जो (साख्य) योग में आवश्यक हैं। अन्तर केवल इतना है कि सांख्य-योग में 'पुरुष' और प्रकृति के भेद को समझ पाने से मोक्ष की प्राप्ति होती है और वेदान्त में ब्रह्म के स्वरूप को सत्य मानकर उसकी अनुभूति से मोक्ष-प्राप्ति होती है। जिसने 'अह ब्रह्मास्मि'[1] का अनुभव कर लिया उसे फिर और कुछ जानने को नहीं रहता वह ससार के सारे माया-बन्धनों से मुक्त हो जाता है। वेदान्त का मत है कि श्रेय की प्राप्ति के हेतु वैदिक आदेशों का पालन कर कर्मकांड मे प्रवृत्त होना साधारण मनुष्यो के लिए उचित है। वाचस्पति मिश्र का विश्वास है कि वैदिक कर्मादेशों के पालन से सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए मनुष्य में पात्रता की वृद्धि होती है परन्तु उच्चतम लक्ष्य और ध्येय उपनिषदों की महान् शिक्षा के अनुसार सत्य-ज्ञान को प्राप्त कर जीव का ब्रह्मानन्द में लीन होना है। प्रकाशात्मा और उनके अनुयायियो का मत है कि वैदिक कर्मो के करने से न केवल पात्रता में वृद्धि होती है परन्तु सद्गुरु की कृपा प्राप्त होती है और साधना के मार्ग की सारी बाधाओं का अन्त हो जाता है।

अज्ञान के अल्प स्वरूप साधारण ज्ञान से ही नष्ट हो जाते हैं। परन्तु ब्रह्म-ज्ञान के उदय के साथ अज्ञान का मूल नाश हो जाता है। यद्यपि ब्रह्म ज्ञान का उदय भी इसकी प्रारम्भिक अवस्था में ज्ञान की एक अवस्था है परन्तु वह इतना विलक्षण है कि जब उसका उदय होता है तो ज्ञान की वह स्थिति भी जिसमें ब्रह्मज्ञान उदित होता है (और जो वृत्ति होने के कारण स्वय अज्ञान का ही स्वरूप है) उसके द्वारा नष्ट हो जाता है। जब वह स्थिति नष्ट हो जाती है तो अनन्त और असीम शुद्ध ब्रह्मज्ञान अपने पूर्ण प्रकाश मे चमकने लगता है। इसीलिए कहा गया है कि जिस प्रकार एक काष्ठ खड मे उद्भूत अग्नि पहले सारे नगर को जलाती है और फिर उस काष्ठ खड को भी जला देती है उसी प्रकार अतिम ज्ञान-स्थिति मे प्रकट हुआ ब्रह्मज्ञान समस्त मायामय दृश्य प्रतिभासो को तो नष्ट कर ही देता है, अन्त में उस अन्तिम ज्ञान स्थिति को भी नष्ट कर देता है।[2]

---

1 'वेदान्त सार' और 'अद्वैत-ब्रह्म सिद्धि' देखिए।

2 सिद्धान्तलेश।

मुक्ति की अवस्था वह होती है जिसमें विशुद्ध ब्रह्मज्ञान का प्रकाश अखंड चित्, सत् और आनन्द के घन रूप में विलक्षण रूप से चमकने लगता है और समस्त ज्ञान माया और भ्रम की तरह विलीन हो जाते हैं। जिस प्रकार इस प्रपंच की सारी सत्ता उस एक अखंड सत्ता का ही प्रतिफलन है उसी प्रकार सारे आनन्द भी उसी चरम आनन्द के स्वरूप है जिसका कुछ आभास हमें स्वप्न-रहित गहरी निद्रा से हो सकता है। ब्रह्म की सत्ता अन्य दृश्य सत्ताओं से पृथक् और अमूर्त धारणा मात्र नहीं है जैसा कि नैयायिकों की सत्ता (जाति के अर्थ में) होती है किन्तु वह यथार्थ और वास्तविक सत्ता है जो शुद्ध चित् और आनन्द के साथ अपने पूर्णत्व में प्रतिभासित होती है। सत् ही शुद्ध चित् और शुद्ध आनन्द है। अब, मुक्ति के समय अविद्या कहाँ जाती है इस प्रश्न का उत्तर देना उतना ही कठिन है जितना यह कि अविद्या कैसे प्रकट हुई और प्रपंच में कैसे व्याप्त है? यहाँ यह समझ लेना उचित होगा कि अनिर्वचनीय अविद्या का उद्भव स्थिति और विनाश भी अनिर्वचनीय है। वेदान्त की मान्यता है कि ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी कुछ समय तक शरीर रह सकता है, यदि व्यक्ति के पूर्वार्जित कर्म बचे रहें। अतः मुक्त व्यक्ति भी सामान्य साधक की भाँति चलता-फिरता रह सकता है, किन्तु वह मोक्ष प्राप्त कर चुकने के कारण नए कर्मों मे लिप्त नही होता, ज्यों ही पूर्व-कर्मों के फल पूर्ण होकर समाप्त हो जाते हैं त्योंही उसका शरीर भी मुक्त हो जाता है और उसके बाद उसका आगे जन्म नहीं होता क्योंकि चरम ज्ञान के उदय के कारण उसके अनादि पूर्वजन्मों के सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं, वह किसी भी मायात्मक ज्ञान मे लिप्त नही होता जिससे कि उसमें कोई ज्ञान कर्म या भावना पैदा हो सके, ऐसे व्यक्ति को जीवनमुक्त कहा जाता है अर्थात् जीते हुए भी मुक्त। उसके लिए समस्त प्रपंच समाप्त समझना चाहिए। वह स्वतः प्रकाश आत्मज्ञान स्वरूप हो जाता है और उस स्थिति मे अन्य समस्त स्थितियाँ विलीन (विलुप्त) हो जाती हैं।[1]

वेदान्त तथा अन्य भारतीय दर्शन शाखाएँ

वेदान्त न्याय के बिल्कुल विपरीत दिशा में जाने वाला दर्शन है और वह सशक्त तर्कवादो द्वारा उसका खण्डन करता है, स्वयं शंकर अपने वेदान्त का आरम्भ न्याय दर्शन के सिद्धान्तों मे विरोध और असंगतियाँ बताते हुए करते है जैसे कारण-सिद्धान्त, अणुवाद, समवाय सम्बन्ध, जाति का सिद्धान्त इत्यादि।[2] उसके अनुयायियो ने और भी बढ़-चढ़ कर न्याय का खण्डन किया जैसाकि श्रीहर्ष, चित्सुख, मधुसूदन इत्यादि के तर्कों में देखा जा सकता है। मीमांसा से इसका विभेद इस बात से स्पष्ट है कि इसने न्याय वैशेषिक के पदार्थ स्वीकार किए हैं किन्तु इसमें मीमांसा के प्रमाण (अनुमान, उपमिति, अर्थापत्ति, शब्द तथा अनुपलब्धियो) के यो मान लिए गए हैं। ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य और स्वतः प्रकाश होने के सिद्धान्त का जो वेदान्त ने माना है, मीमांसा भी समर्थन करती है। किन्तु कर्मकांड के

---

1. देखें, पंचदशी।
2. देखें, शंकर द्वारा न्यायमत का खंडन, शांकर भाष्य 11-2।

बारे मे मीमासा मे इसका मतभेद है और इस बात पर वेदान्त मे बडा शास्त्रार्थ हुआ है कि वेद-विहित कर्मकांड केवल सामान्य व्यक्तियो के लिए हैं किन्तु उनके स्तर से ऊपर उठे हुए व्यक्तियों के लिए वैदिक कर्मकाड की आवश्यकता नही क्योकि उन्हे चरम, ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करना है, कर्मकाड तो तब तक ही आवश्यक है जब तक, इन सबसे परे, ज्ञान काड के स्वाध्याय और वेदान्त-विद्या की साधना मे व्यक्ति नही लग जाता ।

सांख्य और योग के साथ वेदान्त का अधिक निकट सम्बन्ध है । यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि वेदान्त मे आत्म-शुद्धि इत्यादि वे सभी साधन स्वीकार किए हैं जो योग ने बतलाए थे । वेदान्त और सांख्य मे यह मुख्य अन्तर है कि सांख्य के अनुसार जगत् के कारणभूत तत्व, पुरुषो के समान, वास्तविक हैं । बाद मे जाकर वेदान्त ने भी सांख्य के समान यह मान लिया कि यह अनेक जगह माया को सत्व, रज और तम, इन तीन गुणो से बनी मानता है ।

वेदान्त ने यह भी माना कि इन तीन तत्त्वो के कारण माया के विभिन्न स्वरूप बन जाते हैं । वह ईश्वर को शुद्ध सत्व से बना चैतन्य मानता है । किन्तु वेदान्त मे सत्व, रज और तम गुणो के रूप मे माने गए हैं, सांख्य की तरह तत्त्वो के रूप मे नही । इसके अतिरिक्त दृश्य प्रपच-रूपी माया के अनेक रूपो के वर्णन के बावजूद उसे अनिर्वचनीय माना गया है और उसका स्वरूप सबसे विलक्षण बतलाया गया है । उसे नितांत अयथार्थ, शून्य भ्रमात्मक बताया गया है जिसका अस्तित्व केवल आभासात्मक है । प्रकृति को भी अनिर्वचनीय और अपरिभाष्य कहा गया है (उसके स्वरूप का सकेत करने के बावजूद उसे अलक्षण ही माना गया है) तथापि उसे तत्त्वों के समूह के रूप मे देखा गया है । उसे स्वरूप देने वाले तत्त्व जब तक आपस मे नहीं मिलते तब तक उसके कोई भी लक्षण या गुण प्रकट नही होते जिनसे उसका निर्वचन किया जा सके, अत उसे अलक्षण कहा गया । माया को अव्याख्येय और अनिर्वचनीय कहा गया । सांख्य के अनुसार आत्मा को अलग-अलग इकाई माना गया था जबकि वेदान्त मानता है कि कुल मिलाकर आत्मा एक है जो माया के कारण विभिन्न रूपो मे दिखती है । सांख्य जिस प्रकार अध्यास या भ्रम मानता है उस प्रकार वेदान्त मे भी है किन्तु सांख्य में अध्यास का स्वरूप, प्रकृति और पुरुष मे भेद न कर पाना माना गया है जबकि वेदान्त मानता है कि उसमें न केवल भ्रान्ति होती है किन्तु मिथ्या और अनिर्वचनीय धारणा भी । सांख्य मे कारणता सिद्धात वास्तविक रूपातरण के रूप में बतलाया गया है किन्तु वेदांत में सारी सृष्टि आभास मात्र है । यद्यपि इस प्रकार के अनेक विभेद हैं किन्तु ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता हैं कि सम्भवत उपनिषद् काल मे जब सांख्य और वेदान्त की दर्शन धाराएँ उद्भूत हुई थी उस समय लगभग समान स्रोतों से ही ये निकलीं, उनमे केवल प्रवृत्तियो का ही अन्तर था, किन्तु बाद मे जाकर उनमें स्पष्ट विभेद दिखलाई देने लगा । यद्यपि शकर ने यह सिद्ध करने का पूरा प्रयत्न किया है कि उपनिषदो में सांख्य के सिद्धात नही पाये जाते किन्तु उसके निर्वचनो और तर्कों से सहमत नहीं हुआ जा सकता । ज्यो-ज्यों उसके तर्को को हम देखते हैं, हमारी

यह धारणा बलवती होती जाती है कि सांख्य की मूल धारणाओं का स्रोत भी उपनिषदें ही रही होंगी। शंकर और उसके अनुयायी बौद्धों के तर्क की प्रतिपादन पद्धति का ही अनुसरण करते पाए जाते हैं। शंकर का 'ब्रह्म' नागार्जुन के शून्य के बहुत निकट लगता है। एक तत्त्व के रूप में शुद्ध सत्ता और शुद्ध असत् में भेद करना कठिन हैं। बौद्ध विज्ञानवाद के स्वयं-प्रकाशता सिद्धान्त पर शंकर का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है। विज्ञानभिक्षु आदि आचार्यों ने शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा है और इसमें बहुत सच्चाई मालूम होती है। मेरी भी यह मान्यता बनती है कि शंकर का दर्शन प्रमुखतः बौद्धों के विज्ञानवाद और शून्यवाद का सम्मिश्रण है जिसमें आत्मा के अमरत्व का सिद्धान्त जोड़ दिया गया है।